JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ
SAMSKRIT GRANTHA NO 17

JAINENDRA VYĀKARANAM

BY

PUJYAPĀDA DEVANANDI

WITH

JAINENDRA MAHĀVRITTI

OF

SHRI ABHAYANANDI



Editor

Pandit SHAMBHU NATH TRIPATHI, *Vyakaranacharya*

Assistant

Pandit, MAHADEO CHATURVEDI, *Vyakaranashastracharya*

Published By

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA KĀSHĪ

First Edition }
600 Copies. }

MARGSHIRSHA, VIR SAMVAT 2483
VIKRAMA SAMVAT 2013
NOVEMBER 1956

{ *Price*
{ *Rs. 15/-*

BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA KĀSHĪ

FOUNDED BY

SETH SHĀNTI PRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTI DEVĪ

BHĀRATĪYA JÑĀNA-PĪTHA MŪRTI DEVĪ
JAIN GRANTHAMĀLĀ

SAMSKRIT GRANTHA NO. 17

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC PHILOSOPHICAL,
PAURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS
AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAMSHA, HINDI,
KANNADA AND TAMIL ETC., WILL BE PUBLISHED IN
THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR
TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT
SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL ALSO BE PUBLISHED

General Editors

Dr. Hiralal Jain M. A., D. Litt.
Dr. A.N. Upadhye M.A., D. Litt.

Publisher

AYODHYA PRASAD GOYALIYA
Sec., BHARATIYA JNANA-PITHA
DURGAKUND ROAD, BANARAS

सम्पादकीय

जैन साहित्य जिस प्रकार साहित्यकी अन्य विविध धाराओंसे परिपुष्ट है, उसी प्रकार उसमें वैज्ञानिक व शास्त्रीय साहित्यकी भी कमी नहीं है। व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, गणित आदि विषयोंपर अनेक प्राचीन जैन ग्रन्थ पाये जाते हैं जो भारतीय साहित्यके अभिन्न अंग हैं और जिनका अध्ययन किये बिना किसी भी विषयका ज्ञान परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। किन्तु दुर्भाग्यत वह सब साहित्य अभी तक भी सुप्रकाशित व सुलभ नहीं किया जा सका। इस दिशामें भारतीय ज्ञानपीठ जो प्रयत्न कर रहा है वह स्तुत्य है।

भारतीय व्याकरण शास्त्रमें जैनेन्द्र व्याकरणका एक प्रमुख स्थान है। जैन साहित्यमें तो इसकी ख्याति है ही, किन्तु अन्य मतावलम्बी शास्त्रकारोंने भी उसका उल्लेख, शाकटायन और पाणिनि जैसे अतिप्राचीन और सुविख्यात वैयाकरणोंके साथ-साथ किया है। इसकी दो सूत्र परम्पराएँ पाई जाती हैं और उसपर बारह सहस्त्र श्लोक प्रमाण महावृत्ति भी उपलब्ध है। किन्तु यह इतिहास-प्रसिद्ध व्याकरण अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हो सका। लगभग चालीस वर्ष पूर्व काशीसे इसका एक संस्करण निकला था जिसमें इसके पाँच अध्यायोंमेंसे केवल तीन अध्याय ही प्रकाशित हुए थे। बहुत कालसे वह संस्करण भी अप्राप्य है। इस प्रकार जिज्ञासु संसार इस ग्रन्थकी परिपूर्ण आवृत्तिके लिए दीर्घकालसे तृषातुर हो रहा था। हर्षका विषय है कि इस महान् त्रुटिकी प्रस्तुत संस्करण द्वारा भले प्रकार पूर्ति हो रही है। इसमें पाठ-संशोधनार्थ काशी और पूनासे प्राप्त अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका उपयोग किया गया है और अभयनन्दि कृत पूरी महावृत्ति भी सम्मिलित है।

इस व्याकरणके सम्बन्धमें समस्त ज्ञातव्य विषयोंका परिचय इसके साथ प्रकाशित श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमीके लेख एवं विद्वद्वर डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवालकी भूमिकामें आ गया है। प्रेमीजीका लेख मूलत बहुत पहले, जब वह काशीका प्रथम संस्करण निकला था तब ही (सन् १९२१ में) लिखा गया था। इसका संशोधित रूप सन् १९४२ में उनके 'जैन साहित्य और इतिहास' शीर्षक संकलनमें प्रकाशित हुआ था। जिसका द्वितीय संस्करण सन् १९५६ में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत लेखमें इस समय तक इस ग्रन्थ व ग्रन्थकर्त्ताके विषयमें जो कुछ ऐतिहासिक बातें ज्ञात हो चुकी हैं उनका निर्देश आ गया है। डॉ० अग्रवाल जी व्याकरणशास्त्रके, विशेषत उसके ऐतिहासिक पक्षके, प्रकाण्ड पण्डित हैं, जिसका प्रमाण उनका 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ विद्यमान है। उन्होंने जैनेन्द्रमहावृत्तिके सूत्रों और उनकी महावृत्तिका सूक्ष्म आलोडन करके जो अनेक ऐतिहासिक तथ्य-रत्नोंका आविष्कार किया है वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी ओर हम पाठकोंका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित करना चाहते हैं।

हीरालाल जैन
आ० ने० उपाध्ये

•

ग्रन्थ-लागत

- ८७५-)॥ कागज़ २२ × २९ – २८ पौण्ड
  ४३ रीम १५ जिस्ता १० शीट
- १८२६) छपाई ७०॥ फार्म
- ५४०) जिल्द बँधाई
- ३२≡)। कवर कागज़
- २८) कवर छपाई

- ३६७१≡) सम्पादन
- २००) कार्यालय-व्यवस्था
- ७५०) भेंट आलोचना
- ४००) प्रूफ-संशोधन
- ७५) पोस्टेज ग्रन्थ भेंट भेजनेका
- ३५५०) कमीशन, विज्ञापन, बिक्री-व्यय आदि

कुल लागत ११९४७॥)

६०० प्रति छपी • लागत मूल्य १९॥=)॥ • मूल्य १५)

प्रति-परिचय

'मु०' प्रति

यह प्रति सरस्वतीभवन, काशीसे प्रकाशित हुई है। इसमें अध्याय ३ पाद २ सूत्र ६० तक ही छपे हैं।

'अ०' प्रति

यह भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इस्टीट्यूड पूनाकी प्रति है। इसमें पत्र सख्या ४०२, पङ्क्ति प्रति पृष्ठ १५ और अक्षर प्रति पङ्क्ति लगभग ४६ हैं। साइज साँची सुपर रायल। पुस्तकके अन्तमें लेखनकाल तथा लेखक आदिका नाम निम्न प्रकार है—

"फागणमासे शुक्लपक्षे तिथौ २ बुधवासरे संवत् १८८२ का। लीखकृतं माहतमा पनालाल वार्गा सवाई जयपुरका। लिखी आगरा मध्ये। लिपायत चम्पारामजी पुस्तक मथुराको।"

'ब०' प्रति

यह श्रीस्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय काशीकी प्रति है। इसमें कुल पत्र ४०३ हैं, प्रत्येक पृष्ठमें १० पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ३२ अक्षर हैं। प्रति पूर्ण है। पुस्तकके अन्तमें समय आदिका निर्देश निम्न प्रकार है—

"अथ संवत्सरस्मिन् विक्रमार्कसमयातीत सं० १६२६ वर्षे श्री मच्छालिवाहन शाके १६६४ प्रवर्तमाने उत्तरायने वशंततौ [?] आषाढमासे कृष्णपक्षे दशम्यां तिथौ शुक्रवासरे समाप्तमिति।·········गेन्द्रपुरी नगरमध्ये।"

'स०' प्रति

यह भी श्रीस्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय काशीकी ही प्रति है। इसमें पत्र सख्या ३९४ है। पत्र सख्या १ से २७० तक प्रतिपृष्ठ १३ या १४ पंक्तियाँ और प्रति पङ्क्ति लगभग २५ अक्षर है। उसके आगेके पत्र दूसरे लेखकके लिखे हुए प्रतीत होते हैं जिनमें प्रत्येक पृष्ठमें १६ पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ३४ अक्षर है। प्रति सुवाच्य तथा प्रायः शुद्ध है किन्तु इसके ३५० से ३९२ तक पत्र नहीं है। यह प्रति अध्याय ५ पाद १ सूत्र ३४ में जाकर समाप्त हो जाती है। इससे आगेके पत्र नष्ट प्रतीत होते हैं।

'द०' प्रति

यह प्रति भी श्रीस्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय काशीकी है। इसके २७५ पत्रोंमें अध्याय ४ पाद १ सूत्र १२५ तककी वृत्ति उपलब्ध है। इसके प्रारम्भके ४९ पत्रोंमें प्रतिपृष्ठ ११ पङ्क्तियाँ तथा प्रतिपङ्क्ति लगभग ३८ अक्षर हैं तथा उसके आगे पत्र सख्या ५० से २७५ तक प्रति पृष्ठ १२ पंक्तियाँ तथा प्रतिपङ्क्ति लगभग ४६ अक्षर हैं।

'पू०' प्रति

यह प्रति भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इस्टीट्यूड पूनाकी है। यह दो भागोंमें विभक्त है। प्रथम भागमें पत्र सख्या १ से ३१४ तक तथा दूसरेमें १ से ७४ तक है। इसके प्रत्येक पृष्ठमें १४ पङ्क्तियाँ और प्रत्येक पङ्क्तिमें लगभग ४२ अक्षर हैं। दूसरे भागमें चतुर्थ अध्यायके चतुर्थ पादका कुछ अन्तिम भाग तथा पञ्चम अध्याय पूर्ण है। लेखन काल आदिका परिचय लेखकके शब्दोंमें निम्नप्रकार है—

'पंडित जन सू बीनती है परोक्ष मम एह।
हीनाधिक लखि सोधियो हँसियो मति धरि नेह॥
मिति चैत्र-शुक्ल २ भौमवासरे शुभ सम्वत् १९३३ का।"

इन सभी प्रतियोंमें अध्याय ४ पाद ३ से पञ्चम अध्यायके अन्त तक बीच बीचमें कुछ सूत्रोंकी वृत्ति नहीं लिखी गई है जो यत्न करनेपर भी उपलब्ध न हो सकी और इसीलिए जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीके आधारसे इस क्रममें केवल सूत्रमात्रका निर्देश कर दिया गया है।

भूमिका

[लेखक—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

भारतवर्षमें व्याकरणशास्त्रका अध्ययन लगभग तीन सहस्र वर्षसे चला आ रहा है। भाषाके शुद्ध ज्ञानके लिए व्याकरणका महत्त्व सर्व सम्मतिसे स्वीकृत हुआ, अतएव व्याकरणको 'उत्तम विद्या' अर्थात् अन्य विद्याओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ कोटिमें माना गया। किसी भी भाषाके इतिहासमें धातु और प्रत्ययोंकी पहचान उस गौरवपूर्ण स्थितिकी सूचक है जिसमें सूक्ष्म दृष्टिसे भाषाके आन्तरिक संगठनका विवेक कर लिया जाता है, और शब्दोंकी उत्पत्ति और निर्माणकी जो प्राणवन्त प्रक्रिया है उसके रहस्यको आत्मसात् कर लिया जाता है। यों तो सभी मनुष्य अपनी अपनी मातृभाषामें बोलकर अपना अभिप्राय प्रकट कर लेते हैं, किन्तु व्याकरणकी प्रक्रियाका जन्म उस राजपथका निर्माण है जिसपर चलकर निर्भय भावसे हम भाषाके विस्तृत साम्राज्यमें जहाँ चाहें पहुँच सकते हैं और शब्दोंमें भावप्रकाशनकी जो अपरिमित क्षमता है उसको भी प्राप्त कर सकते हैं। संस्कृत वैयाकरणोंने संसारमें सर्वप्रथम इस प्रकारका महनीय कार्य किया। शब्दोंके विभिन्न रूपोंके भीतर जो एक मूल संज्ञा या धातु निहित रहती है उसके स्वरूपका निश्चय और प्रत्यय जोड़कर उससे बननेवाले क्रिया और संज्ञा रूपी अनेक शब्दोंकी रचना एवं प्रत्ययोंके अर्थोंका निश्चय—इस प्रकारके विविध विचारकी पद्धतिका जिस शास्त्रमें आरम्भ और विकास हुआ उसे शब्दविद्या या व्याकरणशास्त्र कहा गया।

संस्कृत साहित्यमें पाणिनिकी अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्रका सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन है। उसके लगभग चार सहस्र सूत्रोंमें लौकिक और वैदिक संस्कृतका जैसा अद्भुत विचार किया गया है, वह विलक्षण है। पाणिनिने संस्कृत व्याकरणका जो स्वरूप स्थिर किया उसीका विकास अनेक वृत्ति, वार्तिक, भाष्य, न्यास, टीका, प्रक्रिया आदिके रूपमें लगभग इस शती तक होता आया है। किन्तु पाणिनिके अतिरिक्त, पर मुख्यतः उन्हींकी निर्धारित पद्धतिसे और भी व्याकरण-ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। इस विषयमें एक प्राचीन श्लोक ध्यान देने योग्य है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः॥

होता है कि उन प्राचीन व्याकरणोंकी अधिकांश सामग्रीके आधारपर एवं स्वतः अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा लोकसे शब्द-सामग्रीका संग्रह करके पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीका निर्माण किया। वह शास्त्र लोकमें इतना महान् और सुविहित समझा गया [पाणिनीयं महत् सुविहितम्, भाष्य ४।२।६६] कि पाणिनिके उत्तर कालमें नये व्याकरणोंकी रचनाका क्रम एक प्रकारसे बन्द सा हो गया। उसके बाद व्याकरणका परिष्कार केवल वार्तिक, भाष्य और वृत्तियों द्वारा चलता रहा। कात्यायन जैसे प्रखर बुद्धिशाली आचार्यने पाणिनि व्याकरणपर लगभग सवा चार सहस्र वार्तिकोंकी रचना करके उस महान् शास्त्रके प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त की, पर कोई स्वतन्त्र व्याकरण रचनेका उपक्रम नहीं किया। इसी प्रकार भगवान् पतञ्जलिका महाभाष्य भी पाणिनीय व्याकरणकी सीमाके भीतर एक अद्भुत प्रयत्न था। पाणिनि लगभग पाँचवीं शती विक्रम पूर्वमें नन्द राजाओंके समयमें हुए थे। यह अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्यपर आश्रित जान पड़ती है जैसा कि हमने अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' नामक ग्रन्थमें प्रदर्शित किया है। अतएव यह स्पष्ट है कि पाणिनिके बाद लगभग एक सहस्र वर्षतक नूतन व्याकरणकी रचनाका प्रयत्न नहीं किया गया।

भारतीय साहित्यिक इतिहासका यह सुविदित तथ्य है कि कुषाण कालके लगभग संस्कृत भाषाको पुनः सार्वजनिक रूपमें साहित्यिक भाषा और राजभाषाका पद प्राप्त हुआ। कनिष्कके समयमें अश्वघोषके काव्योंकी रचना और रुद्रदामाके जूनागढ लेखसे यह स्पष्ट विदित होता है। वस्तुतः इस समय भाषाके क्षेत्रमें जो क्रान्ति घटित हुई उसका ठीक स्वरूप कुछ इस प्रकार था—ब्राह्मण साहित्यमें तो संस्कृत भाषाकी परम्परा सदासे अक्षुण्ण थी ही, पर उसके अतिरिक्त बौद्ध और जैन आचार्योंने भी संस्कृत भाषाको उन्मुक्त भावसे अपना लिया और उसके अध्ययनसे दोनोंने अपने अपने क्षेत्रमें विपुल साहित्यका निर्माण किया जिसमें किसी समय सहस्रों ग्रन्थ थे। कुषाण कालसे जो भाषा सम्बन्धी नया परिवर्तन आरम्भ हुआ था वह उत्तरोत्तर सबल होता गया, यहाँ तक कि लगभग चौथी-पाँचवीं शती ईस्वीमें संस्कृत भाषाको न केवल भारतवर्षमें अखण्ड राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, वरञ्च मध्य एशियासे लेकर हिन्द एशिया या द्वीपान्तर तकके देशोंमें पारस्परिक व्यवहारके लिए वह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बन गई।

इस पृष्ठभूमिमें शब्दविद्याका पुनः वह छूटा हुआ सूत्र आरम्भ हुआ और नये व्याकरणशास्त्र लिखे जाने लगे। स्वयं पाणिनीय व्याकरणों पर वामन जयादित्य कृत काशिका वृत्ति और जिनेन्द्रबुद्धि कृत न्यासकी रचना हुई। यह टीकाके मार्गसे प्राचीन व्याकरणका ही विशदीकरण था; किन्तु बौद्ध और जैन जो दो बड़े समुदाय संस्कृत भाषाकी नई शक्तिसे परिचित हो रहे थे, उन्होंने अपने अपने क्षेत्रमें दो नये व्याकरणोंका निर्माण किया। बौद्धोंमें आचार्य चन्द्रगोमी कृत चान्द्र व्याकरण और जैनोंमें आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र व्याकरण गुप्त युगमें अस्तित्वमें आये। ज्ञात होता है कि दोनोंकी ही रचना लगभग ५ वीं शती ईस्वीके उत्तरार्धमें हुई। चान्द्र व्याकरणकी स्वोपज्ञ वृत्ति में 'अजयद् जर्तो हूणान्' [१।२।८१] उदाहरणसे सिद्ध है कि पाँचवीं शतीके मध्यमें स्कन्दगुप्तने हूणोंपर जो बड़ी विजय प्राप्त की थी उसकी समकालीन स्मृति इस उदाहरणमें अवशिष्ट है। इससे चान्द्रव्याकरणके रचनाकाल पर प्रकाश पड़ता है। पूज्यपाद देवनन्दीने दो सूत्रोंमें प्रसिद्ध आचार्य, सिद्धसेन [वेत्तेः सिद्धसेनस्य, ५।१।७] और समन्तभद्र 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' [५।४।१४०] का उल्लेख किया है, ये दोनों देवनन्दीसे कुछ समय पूर्व हो चुके थे। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकरका समय भी सर्वथा निश्चित नहीं है, किन्तु अनुश्रुतिके अनुसार उन्हें विक्रमादित्यका समकालीन माना जाता है। विक्रमके नवरत्नोंकी सूचीमें जिस क्षपणकका उल्लेख है उन्हें विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर ही मानते हैं। श्री राइसने सिद्धसेनका समय पाँचवीं शतीके मध्यभागमें माना है, किन्तु चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य [३७५-४१३] और सिद्धसेनकी समसामयिकताका आधार यदि सत्य हो तो सिद्धसेनको चौथी शतीके अन्तमें मानना ठीक होगा। लगभग यही समय समन्तभद्रका होना चाहिए। श्री प्रेमीजीने अपने पाण्डित्यपूर्ण लेखमें देवनन्दीके

समयके विषयमें जो प्रमाण संगृहीत किये हैं उनकी सम्मिलित साक्षीसे भी यही सूचित होता है कि आचार्य देवनन्दी लगभग पाँचवीं शतीके अन्तमें हुए हैं। इस सम्बन्धमें एक विशेष प्रमाणकी ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इसके अनुसार संवत् ९९० में बने हुए दर्शनसार नामक प्राकृत ग्रन्थमें कहा है कि पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने दक्षिण मथुरामें ५२६ विक्रमीमें [४६९ ई०] द्राविड़ संघकी स्थापना की। इससे भी पूज्यपादका समय ५ वीं शतीके उत्तरार्धमें सिद्ध होता है। इसीका समर्थन करनेवाला एक अन्य प्रमाण है—कर्नाटक-कविचरित्र के अनुसार गंगवंशीय राजा अविनीत [वि० सं० ५२३] के पुत्र दुर्विनीत [वि० सं० ५३८, ईस्वी ४८१] आचार्य पूज्यपादके शिष्य थे अतएव पूज्यपाद ५ वीं शतीके उत्तरार्धके सिद्ध होते हैं। महाराज पृथिवीकोंकणके दानपत्रमें लिखा है—"श्रीमत्कोंकणमहाराजाधिराजस्याविनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन", अर्थात् अविनीतके पुत्र दुर्विनीतने शब्दावतारनामक ग्रन्थकी रचना की थी। जैसे प्रेमीजीने लिखा है शिमोगा जिलेकी नगर तहसीलके शिलालेखमें देवनन्दीको पाणिनीय व्याकरण पर शब्दावतार न्यासका कर्ता लिखा है। अनुमान होता है कि दुर्विनीतके गुरु पूज्यपादने वह ग्रन्थ रचकर अपने शिष्यके नामसे प्रचारित किया था।

जैनेन्द्र व्याकरण उस शृंखलाकी पहली कड़ी है जिसमें गुप्तकालसे लेकर मध्यकाल तक उत्तरोत्तर नये नये व्याकरणोंकी रचना होती चली गई। जैनेन्द्र [पाचवीं शती], चन्द्र [पाचवीं शती], शाकटायन [नवमी शती का पूर्वार्द्ध], सरस्वतीकण्ठाभरण [ग्यारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध] और प्रसिद्ध हैमशब्दानुशासन [बारहवीं शतीका पूर्वार्द्ध] इन सबने उन्मुक्त मनसे और अत्यन्त सौहार्द भावसे पाणिनीय व्याकरणकी मूल सामग्रीका अवलम्बन लिया। इनमें भी जैनेन्द्र-व्याकरणने भोजके सरस्वतीकण्ठाभरणको छोड़ कर अपने आपको पाणिनीय ग्रन्थोंके सबसे निकट रखा है। किसी भी प्रकरणके अध्ययनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैनेन्द्रने पाणिनि सामग्रीकी प्रायः अविकल रक्षा की है। केवल स्वर और वैदिक प्रकरणोंको अपने युगके लिए अनावश्यक न जानकर उन्होंने छोड दिया था। जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ताने पाणिनीय गणपाठकी बहुत सावधानीसे रक्षा की थी। मूल व्याकरणमें पाणिनिके गणसूत्रोंको प्रायः स्वीकार किया गया है। यद्यपि वैदिक शाखाओंवाले और गोत्र सम्बन्धी गणोंसे सिद्ध होनेवाले नामोंका जैन साहित्यके लिए उतना उपयोग न था, किन्तु जिस समय इस व्याकरणकी रचना हुई उस समय भाषाके विषयमें लोककी चेतना अत्यन्त स्वच्छ और उदार भावसे युक्त थी, अतएव जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रवृत्ति पाणिनि सामग्रीके निराकरणमें नहीं, वरन् उसके अधिकसे अधिक संरक्षणमें पाई जाती है। जैनेन्द्र व्याकरणके साथ उसका अलग गणपाठ किसी समय अवश्य ही रहा होगा, यद्यपि अब वह पृथक् रूपसे उपलब्ध न होकर अभयनन्दी कृत महावृत्तिके अन्तर्गत ही सुरक्षित है। कात्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यकी इष्टियोंमें जो नये नये रूप सिद्ध किये गये थे उन्हें देवनन्दीने सूत्रोंमें अपना लिया है, इस लिए भी यह व्याकरण अपने समयमें विशेष लोकप्रिय हुआ होगा। यह प्रवृत्ति काशिकामें भी किसी अंशमें आ गई थी और चन्द्र आदि व्याकरणोंमें भी बराबर पाई जाती है।

शास्त्रके तुलनात्मक अध्ययनके लिए जैनेन्द्रका यह वर्तमान संस्करण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा, विशेषतः गणपाठसे तुलनात्मक अध्ययनके लिए इस संस्करणका विशेष उपयोग हो सकेगा।

आचार्य अभयनन्दीकी महावृत्ति लगभग काशिकाके समान ही बृहत् ग्रन्थ है। इसके कर्ताने कात्यायनके वार्तिक और पतञ्जलिके भाष्यसे बहुत अधिक उपादेय सामग्रीका अपने ग्रन्थमें संकलन कर लिया है। महावृत्तिका काल आठवीं शताब्दीका प्रारम्भ माना जाता है और सम्भावना ऐसी है कि अभयनन्दीने काशिका वृत्तिका उपयोग किया था। वस्तुतः किसी भी पाठकसे यह तथ्य छिपा नहीं रह सकता कि अष्टाध्यायी और काशिकाका ही रूपान्तर जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी और उसकी महावृत्तिमें प्राप्त होता है। फिर भी काशिका और महावृत्तिकी सूक्ष्म तुलना करनेपर यह प्रकट हो जाता है कि अभयनन्दीने कुछ ऐसे उदाहरण दिये हैं जो काशिकामें उपलब्ध नहीं होते और फलस्वरूप ऐसी सामग्रीकी रक्षा की है जो काशिकासे प्राप्त नहीं हो सकती। उन्होंने जहाँ सम्भव हो सका वहाँ जैन तीर्थङ्करोंके, महापुरुषोंके, या ग्रन्थोंके नाम उदाहरणोंमें डाल दिये हैं। जैसे, सूत्र १।४।१५ के उदाहरणमें 'अनु शालिभद्रम् आढ्याः, अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः'; सूत्र १।४।१६ के उदाहरणमें 'उपसिंहनन्दिनं कवयः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः', सूत्र १।४।२० की वृत्तिमें 'आकुमारेभ्यो यशः समन्तभद्रस्य' सूत्र १।४।२२ की टीकामें 'अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति', सूत्र २।१।६८ की टीकामें 'भरतगुरवः, भुजबलिगुरवः', सूत्र १।३।१० की वृत्तिमें 'आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य' ऐसे उदाहरण हैं जो वृत्तिकारने मूलग्रन्थके अनुकूल जैन वातावरणका निर्माण करनेके लिए अपनी प्रतिभासे बनाये हैं। सूत्र १।३।५ की वृत्तिमें 'प्राभृतपर्यन्तमधीते' उदाहरण महत्त्वपूर्ण है, उसीके साथ 'सबन्धम् , सटीकम् अधीते' भी ध्यान देने योग्य है। यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृतसे तात्पर्य महाकर्मप्रकृति प्राभृतसे था जिसके रचयिता आ० पुष्पदन्त तथा भूतबलि माने जाते हैं [प्रथम-द्वितीय शती]। इसीका दूसरा नाम षट्खण्डागम प्रसिद्ध है। इसीका भागविशेष 'बन्ध' या महाबन्ध [महाधवल सिद्धान्तशास्त्र] था जिसके अध्ययनसे यहाँ अभयनन्दीका तात्पर्य ज्ञात होता है; अर्थात् उस समय भी विद्वानोंमें प्राभृत या षट्खण्डागमसे पृथक् महाबन्धका अस्तित्व था और दोनोंका अध्ययन जीवनका आदर्श माना जाता था। 'सटीकमधीते' में जिस टीकाका उल्लेख है वह धवला टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना वीरसेनने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतारके अनुसार महाकर्मप्राभृतपर आचार्य कुन्दकुन्दने भी एक बड़ी प्राकृत टीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। संभवतः वही टीका प्राभृत और बन्धके साथ पढ़ी जाती थी। इनके स्थान पर पाणिनि सूत्रके उदाहरणोंमें किसी समय इष्टि, पशुबन्ध, अग्नि, रहस्य नामक शतपथ ब्राह्मणके तत्तद् काण्डोंका अध्ययन विद्याका आदर्श माना जाता था। देवनन्दीने सूत्र १।४।३४ में जिन श्रीदत्त आचार्यका उल्लेख किया है उन्हें कुछ विद्वान् काल्पनिक समझते हैं, परन्तु अभयनन्दीकी महावृत्तिसे सूचित होता है कि श्रीदत्त कोई अत्यन्त प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनका लोकमें प्रमाण माना जाता है। 'इतिश्रीदत्तम्', यह प्रयोग 'इतिपाणिनि' के सदृश लोकप्रसिद्ध था। इसी प्रकार 'तच्छ्रीदत्तम्', 'अहोश्रीदत्तम्' प्रयोग भी श्रीदत्तकी लोकप्रियता और प्रामाणिकता अभिव्यक्त करते हैं [श्रीदत्तशब्दो लोके प्रकाशते; महावृत्ति १।३।५]। सूत्र ३।३।७६ पर 'तेन प्रोक्तम्' के उदाहरणमें अभयनन्दीने श्रीदत्तके विरचित ग्रन्थको श्रीदत्तीयम् कहा है। इससे ज्ञात होता है कि श्रीदत्तका बनाया कोई ग्रन्थ अवश्य था। सूत्र १।४।४ की वृत्तिमें 'शरदं मथुरा रमणीया, मासं कल्याणी काञ्ची' ये दोनों उदाहरण अभयनन्दीकी मौलिकता सूचित करते हैं। पाणिनि सूत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' [२।३।५] की काशिका वृत्तिमें 'मासं कल्याणी' उदाहरण तो है किन्तु 'मासं कल्याणी काञ्ची' यह ऐतिहासिक सूचना अभयनन्दीने किसी विशेष स्रोतसे प्राप्त की थी। जिस काञ्चीपुरीके मासव्यापी उत्सवोंकी विशेष शोभाकी ओर इस उदाहरणमें संकेत है वह महेन्द्रवर्मन्, नरसिंह वर्मन् आदि पल्लवनरेशोंकी राजधानीके सम्बन्धमें होना चाहिए। अतएव सप्तम शतीसे पूर्व यह उदाहरण भाषामें उत्पन्न न हुआ होगा। सूत्र ४।३।११४ की वृत्तिमें अभयनन्दीने माघके 'सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता' श्लोकका उद्धरण दिया है। माघके दादा सुप्रभदेव वर्मलातके मन्त्री

थे जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है। अतएव माघका समय सप्तम शतीका उत्तरार्ध होना चाहिए। उसके बाद ही अभयनन्दीने महावृत्तिका निर्माण किया होगा। सूत्र १।४।६९ पर 'चन्द्रगुप्तसभा' उदाहरण तो पाणिनीय परम्परामें प्राप्त होता है किन्तु उसके साथ काशिकामें जो 'पुष्यमित्रसभा' दूसरा उदाहरण है उसकी जगह महावृत्तिकारने 'सातवाहनसभा' उदाहरण रक्खा है। उसी प्रकार काशिकामें [२।४।२३] में केवल 'काष्ठसभा' उदाहरण है, किन्तु अभयनन्दीने 'पाषाणसभा और पक्वेष्टकासभा' ये दो अतिरिक्त उदाहरण दिये हैं। कहीं कहीं अभयनन्दीने काशिकाकी अपेक्षा भाष्यके उदाहरणोंको स्वीकार किया है। जैसे सूत्र १।४।१३७ में 'औद्दालकिः पिता, औद्दालकायनः पुत्रः' यह भाष्यका उदाहरण था जिसे बदलकर काशिकाने अपने समयके अनुकूल 'आर्जुनिः पिता, आर्जुनायनः पुत्रः' [काशिका २।४।६६] यह उदाहरण कर दिया था। 'आर्जुनायन' काशिकाकारके समयके अधिक सन्निकट था जैसा कि समुद्रगुप्तकी प्रयागस्तम्भ प्रशस्तिमें आर्जुनायनगणके उल्लेखसे ज्ञात होता है। कहीं कहीं महावृत्तिमें काशिकाकी सामग्रीको स्वीकार करते हुए उससे अतिरिक्त भी उदाहरण दिये गये हैं जो सूचित करते हैं कि अभयनन्दीकी पहुँच अन्य प्राचीन वृत्तियों तक थी, जैसे सूत्र १।४।८३ की वृत्तिमें 'उद्ध्यश्चैरावति' तो काशिकामें भी है किन्तु 'विपाट्चक्रभिदम्' [विपाशा और चक्रभिद् नदीका संगम] उदाहरण नया है। ऐसे ही सूत्र २।४।२९ में मयूरिकाबन्ध, क्रौञ्चबन्ध, चक्रबन्ध, कूटबन्ध उदाहरण महावृत्ति और काशिकामें समान हैं, पर चण्डालिकाबन्ध और महिषिकबन्ध उदाहरण महावृत्तिमें नये हैं। काशिकाका मुष्टिबन्ध महावृत्तिमें दृष्टिबन्ध और चोरकबन्ध चारकबन्ध हो गया है। सूत्र १।३।३६ में भी चारकबन्ध पाठ है। सूत्र ५।४।९६ 'पान देशे' की वृत्तिमें काशिकाके 'क्षीरपाणाः उशीनराः' को 'क्षीरपाणा आन्ध्राः' और 'सौवीरपाणा बाह्लीकाः' को 'सौवीरपाणा द्रविणाः' कर दिया है। 'द्रविणाः' द्रमिल या द्रमिडका रूप है। ये परिवर्तन अभयनन्दीने किसी प्राचीन वृत्तिके आधार पर या स्वयं अपनी रचनाके आधारपर किये होंगे। आन्ध्र देशमें दूध पीनेका और तामिल देशमें कॉजी पीनेका व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध रहा होगा। कहीं-कहीं महावृत्तिमें कठिन शब्दोंके नये अर्थ संग्रह करनेका प्रयास किया है इसका अच्छा उदाहरण सूत्र २।४।१६ का 'अपटक्षीण' शब्द है। पाणिनि सूत्र ५।४।७ की काशिका वृत्तिमें 'अषडक्षीणो मन्त्रः' उदाहरण है अर्थात् ऐसा मंत्र या परामर्श जो केवल राजा और मंत्रीके बीचमें हुआ हो [यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः]। 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः' के अनुसार राजा और मुख्य मंत्रीकी 'चार आँखों' या 'चार कानों' से बाहर जो मन्त्र चला जाता था उसके फूट जानेकी आशंका रहती थी। अभयनन्दीने काशिकाके इस अर्थको स्वीकार तो किया है, किन्तु गौण रीतिसे। उन्होंने 'अपटक्षीणो देवदत्तः' उदाहरणको प्रधानता दी है। अर्थात् कोई देवदत्त नामका व्यक्ति जिसने अपने पिता, पितामह और पुत्रमेंसे किसीको न देखा हो। अर्थात् जो स्वयं अपने पिता पितामहकी मृत्युके बाद उत्पन्न हुआ हो और स्वयं अपने पुत्र जन्मके कुछ मास पहले गत हो गया हो। इसके अतिरिक्त षंढको भी अपटक्षीण कहा है [येन वा कन्दुकेन हा क्रीडन सोऽप्येवमुक्तः]। या तो ये अर्थ अभयनन्दीके समयमें लोकप्रचलित थे या उनकी कल्पना है। महावृत्तिमें 'अपटक्षीण' का एक अर्थ मछली भी किया है पर उसमें खींचतान ही ज्ञात पड़ती है। सूत्र ३।४।१३८ में 'अवानयीन' शब्दके अर्थका भी महावृत्तिमें विस्तार है।

महावृत्ति सूत्र २।२।६७ में इतिहासकी विशेष महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित रह गई है। उसमें ये दो उदाहरण आते हैं—

यवनः साकेतम् , अरुणद् यवनो मध्यमिकाम् ।' इनमें शाकलके यवन राजाओं द्वारा किये हुए उन दो हमलोंका उल्लेख है जिनमेंसे एक पूर्वकी ओर साकेत पर और दूसरा पच्छिममें मध्यमिका पर। मध्यमिका चित्तौड़के पासका वह स्थान था जिसे इस समय नगरी कहते हैं और जहाँ खुदाईमें प्राप्त पुराने सिक्कों पर मध्यमिका नाम लिखा हुआ मिला है। ये हमले किस राजाने किये थे उसका नाम पतञ्जलिने नहीं दिया, किन्तु यूनानी इतिहासलेखकोंके वर्णनसे ज्ञात होता है कि उस राजाका नाम मिनन्डर था जिसे पाली भाषामें मिलिन्द कहा गया है। उसके सिक्कों पर तत्कालीन बोलचालकी प्राकृत भाषामें उसका नाम मेनन्द्र मिलता है। महा-वृत्तिके 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' इस उदाहरणमें दो महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। इसमें राजाका नाम महेन्द्र दिया हुआ है, पर हमारी सम्मतिमें इसका मूलपाठ 'मेनन्द्र' था। पीछेके लेखकोंने मेनन्द्र नामकी ठीक पहचान न समझ कर उसका संस्कृत रूप महेन्द्र कर डाला। इस उदाहरणसे संस्कृत साहित्यकी भारतीय साक्षी प्राप्त हो जाती है कि पूर्वकी ओर अभियान करनेवाले यवनराजका नाम मेनन्द्र या मिनन्डर था। यवनराज मेनन्द्रने पाटलिपुत्र पर दाँत गड़ा कर पहले धक्केमें मथुरा पर अधिकार जमाया और फिर आगे बढ़कर साकेतको छेंक लिया। साकेत पहुँचनेके लिए मथुराका जीतना आवश्यक था। अब यह सूचना पक्के रूपमें अभयनन्दीके उदाहरणसे प्राप्त हो जाती है। इससे यह भी पता लगता है कि काशिकाके अतिरिक्त भी अभयनन्दीके सामने पाणिनि व्याकरणकी ऐसी सामग्री थी जिससे उसे यह नया ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त हुआ। सूत्र १।३।३६ की वृत्तिमें आरण्यक पर्व १२६।८-१० का यह श्लोक पठित है—

उलूखलैराभरणैः पिशाची यदभाषत। एतत्तु ते दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तं तु द्रक्ष्यसि ॥

काशिका २।१।४५ में यह श्लोक किन्हीं प्रतियोंमें प्रक्षिप्त और किन्हींमें मूलके अन्तर्गत माना गया है, किन्तु महावृत्तिसे सिद्ध हो जाता है कि वह काशिकाके मूलपाठका भाग था। श्लोकके उत्तरार्धमें जो 'दिवा-नृत्तं रात्रौ नृत्तं' पाठ है उसका समर्थन महाभारतकी कुछ प्रतियोंसे होता है पर कुछ अन्य प्रतियोंमें 'वृत्त' पाठ है जैसा कि काशिकामें और महाभारतके पूना संस्करणमें भी स्वीकार किया गया है। आचार्य अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिको जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरणकी पुष्कल सामग्रीसे भर दिया है वह सर्वथा अभि-नन्दनके योग्य है। आशा है जिस समय काशिकावृत्ति, अभयनन्दीकृत महावृत्ति और शाकटायन व्याकरणकी अमोघवृत्ति इन तीनोंका तुलनात्मक अध्ययन करना सम्भव होगा तो यह बात और भी स्पष्ट रूपसे जानी जा सकेगी कि प्रत्येक वृत्तिकारने परम्परासे प्राप्त सामग्रीकी कितनी अधिक रक्षा अपने अपने ग्रन्थमें की थी। यह सन्तोषका विषय है कि इन कृतियोंने सावधानीके साथ प्राचीन सामग्रीको बचा लिया।

आचार्य देवनन्दीने पाणिनीय अष्टाध्यायीको आधार मानकर उसे पञ्चाध्यायीमें परिवर्तन करते समय दो बातोंकी ओर विशेष ध्यान रखा था—एक तो धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओंको भी जिनके कारण पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरणमें इतनी स्पष्टता और स्वारस्य आ सका था, इन्होंने बीजगणितके जैसे अतिसंक्षिप्त संकेतोंमें बदल दिया है जिनकी सूची परिशिष्टमें दे दी गयी है। दूसरे जितने स्वर सम्बन्धी और वैदिक प्रयोग सम्बन्धी सूत्र थे उनको आ० देवनन्दीने छोड़ दिया है। किन्तु ऐसा करते हुए इन्होंने उदारतासे काम लिया है, जैसे आनाय्य, धाय्या, सानाय्य, कुण्डपाय्य, परिचाय्य, उप-चाय्य, [२।१।१०४ १०५] ग्रावस्तुत् [२।२।१५६] आदि वैदिक साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंको रख लिया है। इसी प्रकार सास्य देवता प्रकरण [३।२।२१-२८] में शुक्र अपोनप्तृ, महेन्द्र, सोम, द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति, गृहमेध आदि गृह्यसूत्रकालीन देवताओंके नामोंको पाणिनीय प्रकरणके अनुसार ही रहने दिया है। प्रत्ययोंमें आनेवाले फ, ट, ख, छ घ और यु, वु, एवं उनके स्थानमें होनेवाले आदेशोंको भी ज्योंका त्यों रहने दिया है। [५।१।१. ५।१।२]। 'तेन प्रोक्तम्' प्रकरण [३।३।७६-८०] में वैदिक शाखाओं और ब्राह्मण ग्रन्थोंके नाम भी ज्योंके त्यों जैनेन्द्र व्याकरणमें स्वीकृत कर लिये गये हैं। कहीं कहीं जैनेन्द्रने उन परिभाषाओंको स्वीकार किया है जो प्राक् पाणिनीय व्याकरणोंमें मान्य थीं और जिनका

उल्लेख भाष्य या वार्तिकोंमें आया है। उदाहरणके लिए जैनेन्द्र सूत्र १।३।१०५ में उत्तरपदकी धुसंज्ञा मानी गई है। पतञ्जलिके महाभाष्यमें सूत्र ७।३।३ पर श्लोकवार्तिकमें धु पाठ है और वहां 'किमिदं घोरिति उत्तरपदस्येति' लिखा है। सूत्र ७।१।२१ के भाष्यमें अवुको अनुत्तरपदका पर्याय माना है पर कीलहार्न का सुझाव था कि वु का शुद्ध पाठ घु होना चाहिए। यह बात जैनेन्द्रके सूत्र १।३।१०५ 'उत्तरपदं घु' से निश्चयेन प्रमाणित हो जाती है। और अब भाष्यमें भी घु ही शुद्ध पाठ मान लेना चाहिए।

सबसे आश्चर्यकी बात यह है कि पाणिनिके 'पूर्वत्रासिद्धम्' [८।२।१] सूत्र और उससे सम्बन्धित असिद्ध प्रकरणको भी जो पाणिनिके शास्त्रनिर्माण कौशलका अद्भुत नमूना है, जैनेन्द्र व्याकरणमें 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र [५।३।२७] में स्वीकार किया है। तदनुसार जैनेन्द्रके साढे चार अध्यायोंके प्रति ग्रन्थके लगभग दो पाद असिद्ध शास्त्रके अन्तर्गत आते हैं। देवनन्दीने अपनी पञ्चाध्यायीमें पाणिनीय अष्टाध्यायीके सूत्रक्रममें कमसे कम फेरफार करके उसे जैसेका तैसा रहने दिया है। केवल सूत्रोंके शब्दोंमें जहाँ-तहाँ परिवर्तन करके सन्तोष कर लिया है। जैनेन्द्र और पाणिनीय व्याकरणोंकी तुलनात्मक पाद सारणीसे यह स्पष्ट हो जाता है। विशेष तुलनात्मक सूत्रसूची ग्रन्थके अन्तमें परिशिष्ट रूपमें दी गयी है।

जैनेन्द्र	पाणिनि	जैनेन्द्र	पाणिनि
१।१	१।१–२	३।३	४।३–४।४।१०६
१।२	१।३–४	३।४	५।१–५।२।४७
१।३	२।१–२	४।१	५।२।४८–५।३।११०
१।४	२।३–४	४।२	५।४
२।१	३।१	४।३	६।१–३
२।२	३।२	४।४	६।४
२।३	३।३	५।१	७।१–२।११३
२।४	३।४	५।२	७।२।११४–७।४
३।१	४।१	५।३	८।१–२
३।२	४।२	५।४	८।३–४

पूज्यपाद देवनन्दीने आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि नामक टीकाका निर्माण किया था जो ज्ञानपीठसे प्रकाशित हो चुकी है। उस ग्रन्थमें उन्होंने कई स्थलोंपर व्याकरणके सूत्रोंका उद्धरण दिया है। उनमें बिना पक्षपातके जैनेन्द्र सूत्रोंको भी और पाणिनीय सूत्रोंको भी उद्धृत किया गया है। उदाहरणके लिए अध्याय ४ सूत्र १६ की सर्वार्थसिद्धि टीकामें दो सूत्रोंका उल्लेख है—'तदस्मिन्नस्तीति'

दो शब्द

मुग्धबोध व्याकरणके रचयिता वोपदेवके नामसे एक श्लोक प्रसिद्ध है, यथा—

"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः॥"

इसमें मुख्य आठ व्याकरणोंके साथ जैनेन्द्र व्याकरणका भी उल्लेख है। इस समय यद्यपि इस व्याकरणका पूर्ण रूपसे अध्ययनाध्यापन आदिमें उपयोग नहीं दिखाई देता तथापि ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिसे इसका अपना विशेष महत्त्व है। इतना होने पर भी जैनेन्द्रव्याकरणका कोई प्रामाणिक संस्करण अद्यावधि उपलब्ध न हो सका। लाजरस कम्पनी बनारसकी ओरसे इसका प्रकाशन हुआ भी तो भी वह अध्याय ३ पाद २ सूत्र ६० तकका ही हो सका। और इसलिए इस ग्रन्थके सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर प्रकाशनकी आवश्यक्ता बनी रही।

लगभग ८-१० वर्ष भारतीय ज्ञानपीठके अधिकारियोंका ध्यान इस कमीकी ओर आकृष्ट हुआ। फलस्वरूप इसके सम्पादनका गुरुतर कार्य इसके अधिकारी विद्वान् श्री पं० शम्भुनाथ जी त्रिपाठी व्याकरणाचार्य सप्ततीर्थको सौंपा गया। श्री त्रिपाठीजीने इसका पूरा प्रामाणिक सम्पादन करनेका प्रयत्न तो किया किन्तु प्रेसमें देनेके पूर्व ही वे यहाँसे चले गये और उन्होंने यहाँ आनेका विचार ही त्याग दिया। तब भी ज्ञानपीठके सुयोग्य मन्त्री श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीयने अपने प्रयत्नमें कमी न आने दी। उन्होंने सूचित किया कि यदि त्रिपाठी जी यहाँ नहीं आ सकते हैं तो आप इसे उनके पास ले जाकर सम्पादन सम्बन्धी सारी बातें समझ लीजिए और इसे पूर्ण निर्दोष बनाकर प्रकाशनके लिए दे दीजिए। तदनुसार मैं त्रिपाठी जीके मूल निवासस्थान दोस्तपुर [फैजाबाद] भी गया किन्तु उनसे साक्षात् भेंट न हो सकनेके कारण मन्त्री जीकी सम्मतिसे मुझे ही इस कार्यमें लग जाना पड़ा। अभी तक सम्पादित होकर मेरे नामसे कोई ग्रन्थ प्रकाशित तो नहीं हुआ है फिर भी ज्ञानपीठमें रहते हुए मैंने जो सम्पादन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया है उसपर विश्वास करके मैंने माननीय मन्त्रीजी, श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री एवं डा० वासुदेवशरण अग्रवालके उत्साहपूर्ण आदेशसे यह कार्य अपने हाथमें ले लिया। 'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्' इस वचनके अनुसार यह शब्दशास्त्र अनन्त और अगाध है—इसका पार पाना कठिन है; फिर भी त्रिपाठी जी द्वारा किये गये सम्पादनरूप सेतुके रहनेसे उसपरसे चलनेमें मुझे विशेष कठिनाईका अनुभव नहीं करना पड़ा। इन सब प्रयत्नोंके फलस्वरूप जो भी कार्य हुआ है वह सामने है।

सम्पादनकी विशेषताएँ

यह तो पहले ही निर्देश कर आये हैं कि इसका सर्वप्रथम सम्पादन श्रीमान् त्रिपाठी जीने किया था। उन्होंने भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट पूना और स्याद्वाद विद्यालय काशीकी हस्तलिखित प्रतियों तथा लाजरस कम्पनी बनारसकी मुद्रित प्रतिके आधारसे प्रस्तुत संस्करणका सम्पादन किया है। प्रतियोंका परिचय ग्रन्थमें अन्यत्र दिया है। यद्यपि उपर्युक्त सभी प्रतियोंमें वृत्तिमें आये हुए सूत्रोंकी अध्याय व पादके अनुसार संख्याका उल्लेख नहीं किया है तथापि आवश्यक समझकर [ ] कोष्ठकमें उन्होंने उसका निर्देश कर दिया था जिसमें हमें बहुत कुछ संशोधन भी करना पड़ा है।

प्रायः सब प्रतियोंमें कुछ पाठ त्रुटित व अशुद्ध हो गये हैं। इस सम्बन्धमें वहाँ अशुद्ध पाठको वैसा ही रखकर उसके सामने अन्य ग्रन्थोंके आधारसे शुद्ध पाठ देनेका प्रयास किया गया है, यथा—'अनियता [नियतवृत्तय'] उत्सेधर्जाविन', 'दशोर [दृश्यमानेन] सम्भाव्यमानेन' [पृष्ठ १०३] आदि।

वृत्तिमें प्रायः वार्तिकों और परिभाषाओंका उल्लेख किया गया है। उनके परिज्ञानके लिए वार्तिकोंके अन्तमें [वा०] तथा परिभाषाओंके अन्तमें [प०] या [परि०] ऐसा संकेतात्मक निर्देश कर दिया है।

यह तो मानी हुई बात है कि श्रीमान् त्रिपाठीजीने इसके सम्पादनमें बहुत श्रम किया है तथापि हमें जो अन्य विशेषताएँ लानी पड़ी हैं उनका विवरण इस प्रकार है—

१. किसी भी उपलब्ध प्रतिमें अध्याय व पादके साथ सूत्रसंख्या नहीं दी गई थी, किन्तु आवश्यक समझकर हमने अध्याय तथा पादकी संख्याका प्रत्येक सूत्रके साथ उल्लेख कर दिया है।

२. अध्याय ४ तथा ५ मे अनेक स्थलों पर सूत्र तथा उनकी वृत्ति खण्डित है। हमने उन स्थलों पर मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीके अनुसार सूत्रपाठ देकर उसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया है।

३. श्री त्रिपाठीजीने परिशिष्ट तैयार नहीं किये थे जिनकी पूर्ति हमे करनी पड़ी है। जो परिशिष्ट दिये गये है वे ये है—[१] जैनेन्द्र सूत्रोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [२] जैनेन्द्र वार्तिकोंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [३] जैनेन्द्र परिभाषाओंकी अकारादि अनुक्रमणिका, [४] जैनेन्द्र गणपाठ सूची, [५] जैनेन्द्र संज्ञा सूची [इस सूचीमे विद्वानोंकी जानकारीके लिए जैनेन्द्र संज्ञाओंके साथ तत्समकक्ष पाणिनि संज्ञाओंका भी उल्लेख कर दिया है], [६] जैनेन्द्र तथा पाणिनिके सूत्रोंकी तुलनात्मक सूत्र सूची और [७] जैनेन्द्र धातुपाठ।

प्रत्याहार-विचार

उपलब्ध किसी भी प्रतिमे प्रत्याहार-सूत्रोंका उल्लेख नहीं मिलता। मालूम पड़ता है कि जैनेन्द्र व्याकरणमे लेखक-परम्पराकी भूलसे उनका उल्लेख होना छूट गया है, क्योंकि शब्दानुशासनके सूत्रोंमे प्रत्याहारोंका आश्रय लेकर शास्त्रोंकी प्रवृत्ति दिखलाई गई है। इस समय हमारे सामने दो प्रकारके प्रत्याहार सूत्र उपस्थित हैं-प्रथम पञ्चाध्यायीके आरम्भमे आये हुए और दूसरे शब्दार्णवचन्द्रिकाके आरम्भमे आये हुए।

पञ्चाध्यायीके प्रारम्भमें आये हुए प्रत्याहार-सूत्र ये हैं—

"अइउण् १। ऋलृक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरट् ५। लण् ६। ञमङणनम् ७। झभञ् ८। घढधष् ९। जबगडदश् १०। खफछठथचटतव् ११। कपय् १२। शषसर् १३। हल् १४।"

किन्तु शब्दार्णवचन्द्रिकामे आये हुए प्रत्याहार-सूत्रोंमे पञ्चाध्यायीके प्रत्याहार-सूत्रोंमे कुछ अन्तर है। यहाँ पर द्वैविध्यका ठीक तरहसे ज्ञान करानेके लिए शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रत्याहार सूत्र भी दिये जाते हैं—

"अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरलण् ५। ञमङणनम ६। झभञ् ७। घढधष् ८। जबगडदश् ९। खफछठथचटतव् १०। कपय् ११। शषस अं अः ≍क ≍प र् १२। हल् १३।"

शब्दार्णवके ये प्रत्याहार-सूत्र शाकटायनके प्रत्याहारसूत्रोंसे बहुत कुछ साम्य रखते हैं। जानकारीके लिए शाकटायनके प्रत्याहार-सूत्र भी यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"अइउण् १। ऋक् २। एओङ् ३। ऐऔच् ४। हयवरलञ् ५। ञमङणनम ६। जबगडदश् ७। झभघढधष् ८। खफछठथट् ९। चटतव् १०। कपय् ११। शषस अं अः ≍क ≍प र् १२। हल् १३।"

सात विभक्तियोंका विचार

साधारणतया पाणिनीय अष्टाध्यायी सूत्रपाठमे ७ विभक्तियोके लिए प्रथमा, द्वितीया, तृतीया आदि शब्दोंका ही निर्देश किया है। पृथक् किन्हीं सज्ञाओका निर्देश नहीं किया है, किन्तु जैनेन्द्रकारने 'विभक्ती' शब्दके प्रत्येक अक्षरको अलग करके स्वरके आगे 'प्' और व्यञ्जनके आगे 'आ' जोड़कर सात विभक्तियोंकी संज्ञा निर्दिष्ट की है: यथा—'वा' [प्रथमा], इप् [द्वितीया], भा [तृतीया], अप् [चतुर्थी], का [पञ्चमी], ता [षष्ठी] और ईप् [सप्तमी]। इस प्रकार 'विभक्ती' शब्दके आधारसे ही इन सज्ञाओंका उल्लेख अन्यत्र कहीं देखनेमे नहीं आता।

जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ

१. पाणिनीय अष्टाध्यायीमे वैदिक एव स्वरप्रक्रिया इन दो प्रकरणोके सूत्रोंका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है किन्तु जैनेन्द्रकारने इन दोनो प्रकारणोंके सूत्रोका उल्लेख नहीं किया है। क्योकि वैदिक शब्दो व प्रयोगोंकी सिद्धि और स्वरविधानका प्रश्न जैनेन्द्रकारके समक्ष उपस्थित नहीं था।

२. पाणिनीय व्याकरणमे एकशेष प्रकरणके सूत्रोका स्वतन्त्र रूपसे उल्लेख है। किन्तु जैनेन्द्रकार इस प्रकरणके सूत्रोंकी आवश्यकताका अनुभव नहीं करते हुए मालूम देते हैं। उन्होने इस प्रकरणको ध्यानमे रखकर 'स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः' इस सूत्रकी रचना की है। इससे विदित होता है कि उनका मत रहा है कि लोक-व्यवहारमे जो चीज आबाल वृद्ध प्रचलित है उसे सूत्रबद्ध निर्देश करके शास्त्रके कलेवरको बढाना उचित नहीं है। और इसी लिए उन्होने एकशेष प्रकरणको नहीं रखा है।

३. पाणिनीय व्याकरणसे सम्बद्ध स्वतन्त्र रूपसे चार प्रकरण मिलते है—लिङ्गानुशासन, पाणिनीय शिक्षा, धातुपाठ और गणपाठ। यह कह सकना तो कठिन है कि इन सबका निर्माण स्वय पाणिनिने किया होगा। उदाहरणार्थ—पाणिनीय शिक्षाको ही लीजिए। इसके प्रारम्भके प्रथम श्लोकमे कहा है—'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीय मत यथा।' अर्थात् पाणिनिके मतानुसार शिक्षाका निरूपण करते हैं। तथा इसी प्रकरणके अन्तमे एकाधिक बार पाणिनिके लिए नमस्कार भी किया गया है। इसलिए बहुत सम्भव है कि इस प्रकरणका सकलन पाणिनीय व्याकरणको आधार मानकर किसी अन्य समर्थ विद्वान्ने किया हो। स्वामी दयानन्द सरस्वतीने विक्रम सवत् १९३६ में 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के नामसे भाषानुवाद सहित एक पुस्तिका प्रकाशित की थी, उसमे उन्होंने किसी प्राचीन प्रतिके आधारसे पाणिनीय शिक्षा-सूत्रोका सकलन किया था। बहुत सम्भव है कि ये शिक्षासूत्र ही वर्तमान श्लोकबद्ध पाणिनीय शिक्षाके आधार रहे हो।

४. पाणिनीन लिङ्गानुशासनका समावेश अष्टाध्यायीमे नहीं किया गया है। उपलब्ध पाणिनीय लिङ्गानुशासनमे कुल १८१ सूत्र है। उनमे कुछ ऐसे भी सूत्र है जो अष्टाध्यायीमें भी उपलब्ध होते है, परन्तु अधिकतर सूत्र अष्टाध्यायीसे सम्बन्ध नहीं रखते। इन सूत्रोका निर्माण किसने किया यह प्रश्न विचारणीय है। बहुत सम्भव है कि पाणिनि व्याकरणमे शब्दसिद्धिके आधार पर अन्य किसी विद्वान्ने लिङ्गानुशासनको सूत्रबद्ध कर दिया हो।

जैनेन्द्र व्याकरणमे लिङ्गानुशासन तथा जैनेन्द्र शिक्षा नामके तो प्रकरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

५. 'भूवादयो धातव.' [१।३।१] 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' [२।४।७२] इत्यादि सूत्रों द्वारा गणशः प्रत्यय विधान तथा 'इदितो नुम धातोः' [७।१।५८], ह्मयन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' [७।२।५], 'रदश्च पञ्चभ्य.' [७।३।९८] आदि सूत्रो द्वारा अनुबन्ध तथा गणपाठका आश्रय लेकर धातुओसे कार्य विधान किया गया है। इसी प्रकार गणपाठका आश्रय लेकर भी प्रकृति-प्रत्ययका विधान किया हुआ है, । इससे यह सुनिश्चित है कि पाणिनिके समक्ष उनके स्वनिर्मित गणपाठ और धातुपाठ अवश्य ही विद्यमान थे।

यही स्थिति जैनेन्द्र धातुपाठ तथा गणपाठके विषयमे भी है। वहाँ भी 'भूवादयो धुः' [१।२।१] 'उञ्छ्रोच्यादिभ्यः' [१।४।१४५] 'इदितोनुम्' [५।१।३७] आदि सूत्रों-द्वारा धातुओंसे सज्ञा, प्रत्यय और आगम एवं आदेश आदिका विधान किया गया है। तथा गणपाठके निमित्तसे भी शास्त्र प्रवृत्ति देखी जाती है।

अतः सुनिश्चित है कि जैनेन्द्रके समक्ष भी अपने स्वरचित धातुपाठ तथा गणपाठ अवश्य रहे होंगे किन्तु कालक्रम वे आज अनुपलब्ध हो गये हैं।

६. पाणिनि व्याकरणमें उणादि-सिद्ध कार्योंके लिए "उणादयो बहुलम्" [३।३।१] सूत्र आता है। जैनेन्द्र व्याकरणमें भी इसी रूपमें इस सूत्रका उल्लेख है [२।२।१६]। इन दोनों मूल व्याकरणोंमें इस प्रकरणमें आये हुए प्रयोगोंकी सिद्धिके विषयमें इससे अधिक कुछ नहीं कहा गया है। मात्र जैनेन्द्र महावृत्तिमें इस सूत्रकी व्याख्या करते समय कुछ सूत्रोंके उल्लेखके साथ उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले प्रयोगोंके कतिपय प्रकार दिखलाये गये हैं। यह निश्चित कहना कठिन है कि जैनेन्द्र महावृत्तिमें ये उणादि सूत्र कहाँ से आये। यदि इन्हें जैनेन्द्रकारका माना जाय तो शका होती है कि पञ्चाध्यायीमें इनका सकलन क्यों नहीं हुआ? यद्यपि महावृत्तिमें उल्लिखित उणादि सूत्रोंमें कहीं-कहीं जैनेन्द्रव्याकरणकी सज्ञाओंका प्रयोग किया हुआ दिखाई देता है यथा 'अम् सर्वधुभ्यः' [पृष्ठ १७], पर जबतक कोई निश्चित आधार नहीं मिलता तबतक इन सूत्रोंको स्वय जैनेन्द्रकारका मान लेनेको मन नहीं होता। उणादि प्रकरणका सकलन करते हुए भट्टोजिदीक्षितने सिद्धान्तकौमुदीमें ७५५ सूत्र प्रमाण पञ्चपादी उणादि सूत्रोंकी सोदाहरण व्याख्या दी है। किन्तु पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें ये सूत्र उपलब्ध नहीं होते। उणादिका निर्देश करनेवाला 'उणादयो बहुलम्' [३।३।१] सूत्र अष्टाध्यायीमें उपलब्ध होता है किन्तु उसका सकलन भट्टोजिदीक्षितने उणादि प्रक्रियामें न करके उत्तर कृदन्तमें किया है। विद्वानोंका मत है कि ये उणादिसूत्र शाकटायन प्रणीत हैं जिनके समयका उल्लेख करते हुए श्रीयुधिष्ठिर मीमांसकने लिखा है कि 'इसका काल विक्रमसे लगभग ३१०० वर्ष पूर्व होगा'। [सस्कृत व्याकरणशास्त्रका इतिहास पृष्ठ ११६]

पातञ्जल महाभाष्यमें एक वाक्य मिलता है, यथा—'नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकः।'

इसका आशय यह है कि 'निरुक्तमें सभी सज्ञाशब्दोंको धातुज कहा है और व्याकरण शास्त्रमें शकटके पुत्र [शाकटायन] भी ऐसा ही कहते हैं।' इससे मालूम पड़ता है कि शाकटायन विरचित कोई ऐसा प्रकरण अवश्य रहा होगा जिसमें धातुओंके निमित्तसे प्रत्यय विधान करके सज्ञाशब्दोंकी सिद्धि की गई हो। वह प्रकरण उणादिके सिवा और क्या हो सकता है? उणादिके दशपादी तथा त्रिपादी पाठ भी उपलब्ध होते हैं। [विशेष विवरणके लिए इसी ग्रन्थमें प्रकाशित श्री युधिष्ठिर मीमांसकका 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके खिलपाठ' शीर्षक निबन्ध देखिए]।

श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने ज्ञानपीठके अनुरोधसे इसकी अनुसन्धानपूर्ण भूमिका लिखकर इसके महत्त्वको बढ़ानेकी कृपा की तथा इनके ही अनुरोधसे ऐतिहासिक सामग्रीकी पूर्णताके लिए श्री पं०

देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण

लेखक :– श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी

जैनेन्द्र और ऐन्द्र

मुग्धबोधकर्ता बोपदेवने जिन आठ वैयाकरणोंके नामोंका उल्लेख किया है, उनमें एक 'जैनेन्द्र' भी है[1]। ये जैनेन्द्र अथवा जैनेन्द्र व्याकरणके कर्त्ता कौन थे इस विषयमें इतिहासज्ञोंमें कुछ समय तक बड़ा विवाद चला था। डॉ० कीलहार्नने इसे जिनदेव अथवा भगवान् महावीरद्वारा इन्द्रके लिए कहा गया बतलाया[2] और इसके सुबूतमें उन्होंने कल्पसूत्रकी समयसुन्दरकृत टीका, और लक्ष्मीवल्लभकृत उपदेशमाला-कर्णिकाका यह उल्लेख पेश किया था कि जिनदेव महावीर जिस समय आठ वर्षके थे उस समय इन्द्रने शब्दलक्षणसंबंधी कुछ प्रश्न किये और उनके उत्तररूप यह व्याकरण बतलाया गया, इसलिए इसका नाम जैनेन्द्र पड़ा[3]।

श्वेताम्बरसम्प्रदायके और भी कई ग्रन्थोंमें इस प्रकारके उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्रकी विनयविजय-कृत सुबोधिका टीकामें लिखा है कि भगवान्‌को माता-पिताने पाठशालामें गुरुके पास पढ़नेके लिए भेजा है, यह जानकर इन्द्र स्वर्गसे आया और पण्डितके घर, जहाँ भगवान् थे वहाँ, गया। उसने भगवान्‌से पण्डितके मनमें जो जो सन्देह थे, उन सबको पूछा। जब सब लोग यह सुननेके लिए उत्कर्ण हो रहे थे कि देखें यह बालक क्या उत्तर देता है, तब भगवान् वीरने सब प्रश्नोंके उत्तर दिये, और तब 'जैनेन्द्र व्याकरण' बना।

परन्तु इस प्रसगके वे सब उल्लेख अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही हैं जिनमें भगवान्‌के उत्तररूप इस व्याकरणका नाम 'जैनेन्द्र' बतलाया है। प्राचीन उल्लेखोंमें इसका नाम जैनेन्द्रकी जगह 'ऐन्द्र' प्रकट किया है, जैसा कि आवश्यकसूत्रकी हारिभद्रीयवृत्तिके पृष्ठ १८२ में लिखा है[5]।

इसी प्रकार सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रके प्रथम प्रकाशमें लिखा है कि भगवान्‌ने

---

१. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः॥—धातुपाठ

२. इंडियन एन्टिक्वेरी १०, पृ० २५१।

३ यदिन्द्राय जिनेन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितम्। ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनम्॥

४ [शक्रः] यत्र भगवान् तिष्ठति तत्र पण्डितगेहे समाजगाम। आगत्य च पण्डितयोग्ये आसने भगवन्तमुपवेश्य पण्डितमनोगतान् सन्देहान् पप्रच्छ, श्रीवीरोऽपि बालोऽयं किं वक्ष्यतीत्युत्कर्णेषु सकललोकेषु सर्वाणि उत्तराणि ददौ, ततो 'जैनेन्द्रव्याकरणं' जज्ञे। यतः—

सक्को य तस्समक्खं भगवन्तं आसणे निवेसित्ता। सद्दस्स लक्खणं पुच्छे वागरणअवयवा इंदं॥

५ शक्रः तत्समक्षं लेखाचार्यसमक्षं भगवन्तं तीर्थकरं आसने निवेश्य शब्दस्य लक्षणं पृच्छति। भगवता च व्याकरणं अभ्यधायि। व्याक्रियन्ते लौकिक-सामायिकाः शब्दाः अनेन इति व्याकरणं शब्दशास्त्रम्। तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः, ततश्च ऐन्द्रं व्याकरणं संजातम्।

६ मातापितृभ्यामन्येद्युः प्रारब्धेऽध्यापनोत्सवे। आः सर्वज्ञस्य शिष्यत्वमितीन्द्रस्तमुपास्थितः॥ ५६॥
उपाध्यायासने तस्मिन्स्वामिनोपवेशितः। प्रणम्य प्रार्थितः स्वामी शब्दपारायणं जगौ॥ ५७॥
इदं भगवतेन्द्राय प्रोक्तं शब्दानुशासनम्। उपाध्यायेन तच्छ्रुत्वा लोकेष्वैन्द्रमितीरितम्॥ ५८॥

इन्द्रके लिए जो शब्दानुशासन कहा, उपाध्यायने उसे सुनकर लोकमे 'ऐन्द्र' नामसे प्रकट किया। अर्थात् इन्द्रके लिए जो व्याकरण कहा गया, उसका नाम 'ऐन्द्र' हुआ[1]।

प्राचीन कालमे इन्द्रनामक आचार्यका बनाया हुआ एक सस्कृत व्याकरण था[2]। उसका उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमे मिलता है। ऊपर दिये हुए बोपदेवके श्लोकमे भी उसका नाम है। हरिवंशपुराणके कर्त्ताने देवनन्दिको 'इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्यापिव्याकरणेक्षिणः' विशेषण दिया है। शब्दार्णवचन्द्रिकाकी ताड़पत्रवाली प्रतिमे, जो १३ वीं शताब्दीके लगभगकी लिखी हुई मालूम होती है, 'इन्द्रश्चन्द्रः शकटतनय' आदि श्लोकमे इन्द्रके व्याकरणका उल्लेख किया है। बहुत अधिक समय हुआ यह नष्ट हो गया है[3]। जब यह उपलब्ध ही नहीं है तब इसके विषयमे कुछ कहनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यद्यपि आजकलके समयमें इस बातपर कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं कर सकता है कि भगवान् महावीरने भी कोई व्याकरण बनाया होगा और वह भी मागधी या प्राकृतका नहीं, किन्तु ब्राह्मणोंकी खास भाषा सस्कृतका। तो भी यह निस्सन्देह है कि वह व्याकरण 'जैनेन्द्र' नहीं था। यदि बनाया भी होगा तो वह 'ऐन्द्र' ही होगा। क्योंकि हरिभद्रसूरि और हेमचन्द्रसूरि उसीका उल्लेख करते हैं, जैनेन्द्रका नहीं। जान पड़ता है, विनयविजय और लक्ष्मीवल्लभने पीछेसे 'ऐन्द्र' को ही 'जैनेन्द्र' बना डाला है। उनके समयमें भी 'ऐन्द्र' अप्राप्य था, इसलिए उन्होंने प्राप्य 'जैनेन्द्र' को ही भगवान् महावीरकी कृति बतलाना विशेष सुकर और लाभप्रद सोचा।

हरिभद्रसूरि विक्रमकी आठवीं शताब्दिके और हेमचन्द्रसूरि तेरहवीं शताब्दिके विद्वान् है जिन्होंने 'ऐन्द्र' को भगवान्का व्याकरण बतलाया है, परन्तु 'जैनेन्द्र' को भगवत्प्रणीत बतलानेवाले विनयविजय और लक्ष्मीवल्लभ विक्रमकी अठारहवीं शताब्दिमे हुए है।

भगवद्वाग्वादिनी

विनयविजयजीके इस उल्लेखका अनुसरण करके उनके कुछ समय बाद वि० स० १७९७ मे किसी विद्वान्ने साक्षात् महावीर भगवान्का बनाया हुआ व्याकरण तैयार कर दिया और उसका दूसरा नाम 'भगवद्वाग्वादिनी' रक्खा!

इस भगवद्वाग्वादिनीकी एक प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमे है, जो तर्क नगरस रत्नर्षि नामक लेखक द्वारा वि० सं० १७९७ मे लिखी गई थी। इसकी पत्रसंख्या ३०, और श्लोकसंख्या ८०० है। प्रति बहुत शुद्ध है। जैनेन्द्रका सूत्रपाठ मात्र है और वह सूत्रपाठ है जिसपर शब्दार्णवचन्द्रिका टीका लिखी गई है। इस वाग्वादिनीके आविष्कारकने शक्ति भर इस बातको सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि इसके कर्ता साक्षात् महावीर भगवान है, दिगम्बरी देवनन्दि नहीं। उनकी सब युक्तियाँ हमने इस ग्रन्थके अन्तमें उद्धृत कर दी

डॉ० कीलहार्नके इस भ्रमको सबसे पहले स्व० डॉ० के० बी० पाठकने दूर किया और अब तो जैनेन्द्र व्याकरण काफी प्रसिद्ध हो गया है।

देवनन्दि और पूज्यपाद

श्रवणबेल्गोलके शिलालेख न० ४० (६४) में लिखा है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ[1]।

मंगराज कविके शकसवत् १३६५ के शिलालेखसे भी यही दो नाम प्रकट होते हैं[2]।

जिनेन्द्रबुद्धि नामके एक और वैयाकरण हो गये हैं जिनका बनाया हुआ पाणिनि व्याकरणकी काशिका-वृत्तिपर एक न्यास है। वे बोधिसत्त्वदेशीयाचार्य या बौद्ध साधु थे।

देवनन्दिका संक्षिप्त नाम 'देव' भी था। जिनसेन[3] और वादिराजसूरिने[4] इन्हे इसी संक्षिप्त नामसे स्मरण किया है।

अनेक लेखकोने उन्हे केवल देवनन्दि नामसे और केवल पूज्यपाद नामसे स्मरण किया है और दोनों नामोंसे उन्हें वैयाकरण माना है।

महाकवि धनजयकी नाममालामे एक श्लोक है जिसमे पूज्यपादको लक्षण ग्रन्थ (व्याकरण) का कर्ता माना है[5]।

जैनेन्द्रकी प्रत्येक हस्तलिखित प्रतिके प्रारभमे जो श्लोक मिलता है, उसमे ग्रन्थकर्त्ताने 'देवनन्दितपूजेश' पदमे जो कि भगवान्का विशेषण है अपना नाम भी प्रकट कर दिया है[6]। सस्कृत प्राकृत ग्रन्थोके मगलाचरणोमे

---

१. यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुग यदीयम् ॥३॥
जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकविता जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दः सूक्ष्मधिय समाधिशतकं स्वास्थ्य यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

२. श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानी वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥ १५ ॥
धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभि. कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः।
जिनवद्बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः ॥ १६ ॥
श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमोपधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥ १७ ॥

३. कवीना तीर्थकृद्देव. किं तरां तत्र वर्ण्यते। विदुषा वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥ ५२ ॥
—आदिपुराण प्र० पर्व

४ अचिन्त्यमहिमा देव सोऽभिवंद्यो हितैषिणा। शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलंभिताः ॥१८॥
—पार्श्वनाथचरित प्र० सर्ग

५ प्रमाणमकलकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्। धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥ २० ॥

६. लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते। देवनन्दितपूजेशं नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

यह पद्धति अनेक विद्वानोंने स्वीकार की है[1]। इससे स्वय ग्रन्थकर्ताके वचनोसे भी जैनेन्द्रके कर्ता 'देवनन्दि' ठहरते हैं।

गणरत्नमहोदधिके कर्ता वर्धमान और हैम शब्दानुशासनके लघुन्यास बनानेवाले कनकप्रभ भी जैनेन्द व्याकरणके कर्ताका नाम देवनन्दि ही बतलाते है। अतः अब इस विषयमे किसी प्रकारका कोई सन्देह बाकी नहीं रह गया कि यह व्याकरण देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ है।

दो तरहके सूत्र-पाठ

जैनेन्द्र व्याकरणके मूल सूत्र-पाठ दो प्रकारके उपलब्ध है—एक तो वह जिसपर आचार्य अभयनन्दिकी 'महावृत्ति' तथा श्रुतकीर्तिकृत 'पञ्चवस्तु' नामकी प्रक्रिया है, और दूसरा वह जिसपर सोमदेवसूरिकृत 'शब्दार्णव-चन्द्रिका' और गुणनन्दिकृत 'प्रक्रिया' है। पहले प्रकारके पाठमे लगभग ३००० और दूसरेमे लगभग ३७०० सूत्र हैं, अर्थात् एकसे दूसरेमे कोई ७०० सूत्र अधिक हैं, और जो ३००० सूत्र है वे भी दोनोंमे एकसे नहीं हैं। अर्थात् दूसरे सूत्रपाठमे पहले सूत्र-पाठके सैकड़ों सूत्र परिवर्तित और परिवर्धित भी किये गये है। पहले प्रकारका सूत्र-पाठ पाणिनीय सूत्र-पाठके ढंगका है, वर्तमान दृष्टिसे वह कुछ अपूर्ण सा जान पड़ता है और इसी लिए महावृत्तिमे बहुतसे वार्तिक तथा उपसख्यान आदि बनाकर उसकी पूर्णता की गई दिखलाई देती है, जब कि दूसरा पाठ प्रायः पूर्ण-सा जान पड़ता है और इसी कारण उसकी टीकाओंमे वार्तिक आदि नहीं दिखलाई देते। दोनों पाठोंमे बहुत-सी संज्ञाएँ भी भिन्न प्रकारकी है।

इन भिन्नताओंके होते हुए भी दोनों पाठोंमे समानताकी भी कमी नहीं है। दोनोंके अधिकांश सूत्र समान हैं, दोनोंके प्रारभका मंगलाचरण बिलकुल एक है और दोनोके कर्ताओका नाम भी देवनन्दि या पूज्य-पाद लिखा हुआ मिलता है।

असली सूत्रपाठ

अब प्रश्न यह है कि इन दोनोंमेसे स्वय देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ असली सूत्रपाठ कौन-सा है?

हमारे खयालमे आचार्य देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ सूत्र-पाठ वही है जिसपर अभयनन्दिने अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समयतक तो ठीक समझा जाता रहा जब तक शाकटायन व्याकरण नहीं बना। शायद शाकटायनको भी जैनेन्द्रके होते हुए एक जुदा जैन व्याकरण बनानेकी आवश्यकता इसीलिए महसूस हुई कि जैनेन्द्र अपूर्ण है, और इसलिए बिना वार्तिकों और उपसख्यानों आदिके उसमें काम नहीं चल सकता, परन्तु जब शाकटायन जैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण बन चुका, तब जैनेन्द्र व्याकरणकी [illegible] त्रुटियाँ खटकने लगीं और उनमेसे आचार्य गुणनन्दिने उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनानेका प्रयत्न किया। इस प्रयत्नका फल ही यह दूसरा सूत्र-पाठ है जिसपर सोमदेवकी शब्दार्णव चन्द्रिका रची गई है। इन सूत्रपाठोंको [illegible] साथ देखनेसे मालूम पड़ता है कि गुणनन्दिके समय तक व्याकरण-सिद्ध जितने प्रयोग [illegible] सब उसमे मौजूद है और इसलिए उसके टीकाकारोंको वार्तिक आदि बनानेकी जरूरत नहीं पड़ी। अभयनन्दिकी महावृत्तिके ऐसे सैकड़ों वार्तिक हैं जिनके इस दूसरे पाठमें सूत्र ही बना लिये गये है।

१—शब्दार्णव-चन्द्रिकाके अन्तिम पद्यमें सुप्रसिद्ध गुणनन्दि आचार्यके शब्दार्णवमें प्रवेश करनेके लिए सोमदेवकृत वृत्तिको नौकाके समान बतलाया है।[1] इससे जान पड़ता है कि आचार्य गुणनन्दिके बनाये हुए व्याकरण ग्रन्थकी यह टीका है और उसका नाम शब्दार्णव है। इस टीकाका 'शब्दार्णव चन्द्रिका' नाम भी तभी अन्वर्थक होता है, जब मूल सूत्र ग्रन्थका नाम शब्दार्णव हो। हमारे इस अनुमानकी पुष्टि प्रक्रियाके अन्तिम श्लोकसे और भी अच्छी तरहसे हो जाती है[2] जिसका आशय यह है कि गुणनन्दिने जिसके शरीरको विस्तृत किया है, उस शब्दार्णवको जाननेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए तथा आश्रय लेनेवालोंके लिए यह प्रक्रिया साक्षात् नावके समान काम देगी। इसमें 'शब्दार्णव' को जो 'गुणनन्दितानितवपुः' विशेषण दिया है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। उससे साफ़ समझमें आता है कि गुणनन्दिके जिस व्याकरणपर ये दोनों टीकाएँ—शब्दार्णव-चन्द्रिका और प्रक्रिया—लिखी गई हैं उसका नाम 'शब्दार्णव' है और वह मूल (असली) जैनेन्द्र व्याकरणके संक्षिप्त शरीरको तानित या विस्तृत करके बनाया गया है।

शब्दार्णवचन्द्रिकाके प्रारम्भका मंगलाचरण भी इस विषयमें ध्यान देने योग्य है[3] जिसमें ग्रन्थकर्ताने भगवान् महावीरके विशेषणरूपमें क्रमसे पूज्यपादका, गुणनन्दिका और अपना (सोमामर या सोमदेवका) उल्लेख किया है, और इससे वे निस्सन्देह यही ध्वनित करते हैं कि मुख्य व्याकरणके कर्ता पूज्यपाद हैं, उसको विस्तृत करनेवाले गुणनन्दि हैं और फिर उसकी टीका करनेवाले सोमदेव (स्वयं) हैं। यदि यह चन्द्रिका टीका पूज्यपादके व्याकरणकी ही होती, तो मंगलाचरणमें गुणनन्दिका नाम लानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। गुणनन्दि उनकी गुरु-परम्परामें भी नहीं हैं, जो उनका उल्लेख करना आवश्यक होता। अतः यह सिद्ध है कि चन्द्रिका और प्रक्रिया दोनोंके ही कर्ता यह समझते थे कि हमारी टीकाएँ असली जैनेन्द्रपर नहीं किन्तु उसके 'गुणनन्दितानितवपु.' शब्दार्णवपर बनी हैं।

२—शब्दार्णव-चन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रिया[4] इन दोनों ही टीकाओंमें 'एकशेष' प्रकरण है, परन्तु अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति' वाले सूत्रपाठमें एकशेषको अनावश्यक बतलाया है—"स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः।" [१-१-९९] और इसीलिए देवनन्दि या पूज्यपादका व्याकरण 'अनेकशेष' कहलाता है। चन्द्रिका टीकाके कर्ता स्वयं ही "आदावुपज्ञोपक्रमम्" [१-४-११४] सूत्रकी टीकामें उदाहरण देते हैं "देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम्।" यह उदाहरण अभयनन्दिकृत महावृत्तिमें भी दिया गया है। इससे सिद्ध है कि शब्दार्णव चन्द्रिकाके कर्ता भी उसी व्याकरणको देवोपज्ञ या देवनन्दिकृत मानते हैं, जो अनेकशेष है, अर्थात् जिसमें 'एकशेष' प्रकरण नहीं है और ऐसा व्याकरण वही है जिसकी टीका अभयनन्दिने की है।

३—आचार्य विद्यानन्दि अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ २६५ में 'नैगमसंग्रह—' आदि सूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, "नयश्च नयौ च नयाश्च नया इत्येकशेषस्य स्वाभाविकस्याभिधाने दर्शनात् केषाञ्चित्तथा वचनोपलम्भाद्य न विरुध्यते।" इसमें स्वाभाविकताके कारण, एकशेषकी अनावश्यकता प्रतिपादन की है और यह अनावश्यकता जैनेन्द्रके वास्तविक सूत्र पाठमें ही उपलब्ध होती है। "स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भ" [१-१-९९] यह सूत्र शब्दार्णववाले पाठमें नहीं है, अतः विद्यानन्द भी पूर्वोक्त सूत्रवाले

---

१. श्रीसोमदेवयतिनिर्मितिमादधाति या नौः प्रतीतगुणनन्दितशब्दवार्धौ।
सेयं सताममलचेतसि विस्फुरन्ती वृत्तिः सदा नुतपदा परिवर्तिषीष्ट॥

२. सत्संधि दधते समासमभितः ख्यातार्थनामोन्नतं, निर्ञ्जात बहुतद्धितं कृतमिहाख्यात यशःशालिनम्।
सैषा श्रीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णव निर्णयं, नावित्याश्रयतां विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया॥

३ श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपपूजितपादयुग्मम्।
सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम्॥

४. इस प्रक्रियाका भी नाम 'शब्दार्णव-प्रक्रिया' होगा, जैनेन्द्र प्रक्रिया नहीं।

जैनेन्द्र-पाठके माननेवाले थे। पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिए कि उपलब्ध व्याकरणोंमे 'अनेकशेष' व्याकरण केवल देवनन्दिकृत ही है, दूसरा नहीं[1]।

४—तत्त्वार्थ-टीका 'सर्वार्थसिद्धि' के कर्ता स्वय पूज्यपाद या देवनन्दि है। इस टीकामे अध्याय ५, सूत्र २४ की व्याख्या करते हुए वे लिखते है, " 'अन्यतोऽपि' इति तसि कृते सर्वतः। ' और इसी सूत्रकी व्याख्या करते हुए राजवार्तिककार लिखते है, " 'दृश्यतेऽन्यतोऽपीति' तसि कृते सर्वेषु सर्वत इति भवति। " जान पड़ता है कि या तो सर्वार्थसिद्धिकारने इस सूत्रको सक्षेप करके लिखा होगा, या लेखकों तथा छपानेवालोंने प्रारम्भका 'दृश्यते' शब्द छोड़ दिया होगा। वास्तवमे यह पूरा सूत्र 'दृश्यतेऽन्यतोऽपि' ही है और यह अभयनन्दिवाले सूत्र पाठके अ० ४ पा० १ का ७९ वाँ सूत्र है। परन्तु शब्दार्णववाले पाठमे न तो यह सूत्र है और न इसके प्रतिपाद्यका विधानकर्ता कोई दूसरा सूत्र है। इससे सिद्ध है कि पूज्यपादका असली सूत्रपाठ वही है जिसमे उक्त सूत्र मौजूद है

५—भट्टाकलकदेवने तत्त्वार्थराजवार्तिकमे 'आद्ये परोक्षम्' [अ० १, सू० ११] की व्याख्यामे "सर्वादि सर्वनाम" [१-१-२५] सूत्रका उल्लेख किया है, इसी तरह पण्डित आशाधरने अनगारधर्मामृतटीका [अ० ७ श्लो० २४] मे "स्तोके प्रतिना" [१-३-३७] और "भार्थे [१-४-१४] इन दो सूत्रोंको उद्धृत किया है और ये तीनों ही सूत्र जैनेन्द्रके अभयनन्दिवृत्तिवाले सूत्रपाठमे ही है। शब्दार्णववाले पाठमे इनका अस्तित्व ही नहीं है। अत अकलकदेव और प० आशाधर इसी अभयनन्दिवाले पाठको ही माननेवाले थे। अकलकदेव वि० की आठवीं नौवीं शताब्दिके और आशाधर १३ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं।

६—प० श्रीलालजी शास्त्रीने शब्दार्णव-चन्द्रिकाकी भूमिकामे लिखा है कि "आचार्य पूज्यपादने स्वनिर्मित 'सर्वार्थसिद्धि' मे 'प्रमाणनयैरधिगमः' [अ० १ सू० ६] की टीकामे यह वाक्य दिया है—"नयशब्दस्याल्पाच्तरत्वात् पूर्वनिपात प्राप्नोति ? नैष दोष, अभ्यर्हितत्वात्प्रमाणस्य तत्पूर्वनिपात।" और अभयनन्दि वाले पाठमे इस विषयका प्रतिपादन करनेवाला कोई सूत्र नहीं है। केवल अभयनन्दिका 'अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति' वार्तिक है। यदि अभयनन्दिवाला सूत्र पाठ ठीक होता तो उसमे इस विषयका प्रतिपादक सूत्र अवश्य होता जो कि नहीं है। पर शब्दार्णववाले पाठमे 'अर्च्यम्' [१-३-११५] ऐसा सूत्र है जो इसी विषयको प्रतिपादित करता है। इसलिए यही सूत्र-पाठ देवनन्दिकृत है।" इसपर हमारा निवेदन यह है कि "अल्पाच्तरम्" [२-२-३४] यह सूत्र पाणिनिका है और इसके ऊपर कात्यायनका "अभ्यर्हितं च" वार्तिक तथा पतञ्जलिका 'अभ्यर्हितं पूर्वं निपतति" भाष्य है। इससे मालूम होता है कि पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि—टीकाके इस स्थलमे पाणिनि और पतञ्जलिके ही सूत्र तथा भाष्यको लक्ष्य करके उक्त विधान किया है। यह निश्चित है कि उन्होंने अपनी सर्वार्थसिद्धिमे अन्य वैयाकरणोंके भी मत दिये है और अनेक बार पतञ्जलिके महाभाष्यके वाक्य[3]।

सर्वार्थसिद्धि अ० ४ सूत्र २२ की व्याख्यामे लिखा है—"यथाहुः—द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानमिति।" इसकी अन्य पुरुषकी 'आहु' क्रिया ही कह रही है कि ग्रन्थकर्ता यहाँ किसी अन्य पुरुषका वचन दे रहे है। अब पतञ्जलिका महाभाष्य देखिए। उसमें १-१-७० के ५ वे वार्तिकके भाष्यमें ठीक यही वाक्य दिया हुआ है—एक अक्षरका भी हेरफेर नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धिकारने

सर्वार्थसिद्धि अ० ७ सूत्र १६ की व्याख्यामें लिखा है, "शास्त्रेऽपि 'अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायामित्येवमादिषु तदेव गृह्यते।" यह पाणिनिके ७-१-५१ सूत्रपर कात्यायनका पहला वार्तिक है। वहाँ "अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायाम्" इतने शब्द हैं और इन्हींको सर्वार्थसिद्धिकारने लिया है। यहाँ कात्यायनके वार्तिकको उन्होंने 'शास्त्र' शब्दसे व्यक्त किया है।

सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सूत्र ४ की व्याख्यामें 'नित्य' शब्दको सिद्ध करनेके लिए पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं, "नेः ध्रुवे त्यः इति निष्पादितत्वात्।" परन्तु जैनेन्द्रमें 'नित्य' शब्दको सिद्ध करनेवाला कोई सूत्र ही नहीं है, इसलिए अभयनन्दिने अपनी वृत्तिमें "ड्येस्तुट्" [३-२-८१] सूत्रकी व्याख्यामें "नेर्ध्रुवः इति वक्तव्यम्" यह वार्तिक बनाया है और 'नियत सर्वकाल भव नित्यं' इस तरह स्पष्ट किया है। जैनेन्द्रमें 'त्य' प्रत्यय ही नहीं है, इसके बदले 'य' प्रत्यय है। अतः सर्वार्थसिद्धिकारने पूर्वोक्त बात स्वनिर्मित व्याकरणको लक्ष्यमें रखकर नहीं कही है। अन्य व्याकरणोंके प्रमाण भी वे देते थे और यह प्रमाण भी उसी तरहका है।

कुछ स्थानोंमें उन्होंने अपने निजके सूत्र भी दिये हैं। जैसे पाँचवें अध्यायके व्याख्यानमें लिखा है "विशेषणं विशेष्येण' इति वृत्तिः।" यह जैनेन्द्रका १-३-५२ वाँ सूत्र है। यह सूत्र शब्दार्णव-चन्द्रिका [१-३-४८] वाले पाठमें भी है।

इन सब प्रमाणोंसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि जैनेन्द्रका असली सूत्र-पाठ वही है जिसपर अभयनन्दिकृत वृत्ति है। शब्दार्णव-चन्द्रिकावाला पाठ असली सूत्र पाठको सशोधित और परिवर्धित करके बनाया गया है और उसका यह सस्करण सभवतः गुणनन्दि आचार्यकृत है।

अब प्रश्न यह है कि जब गुणनन्दिने मूल ग्रथमें इतना परिवर्तन और सशोधन किया, तब उस परिवर्तित ग्रन्थका नाम जैनेन्द्र ही क्यों रक्खा? इसके उत्तरमें निवेदन है कि एक तो शब्दार्णव चन्द्रिका और जैनेन्द्र-प्रक्रियाके पूर्वोल्लिखित श्लोकोंसे गुणनन्दिके व्याकरणका नाम 'जैनेन्द्र' नहीं किन्तु 'शब्दार्णव' मालूम होता है। सम्भव है कि अर्ध दग्ध लेखकोंकी कृपासे इन टीका ग्रथोंमें 'जैनेन्द्र' नाम शामिल हो गया हो। दूसरे यदि 'जैनेन्द्र' नाम हो भी, तो ऐसा कुछ अनुचित नहीं है। क्योंकि गुणनन्दिका प्रयत्न कोई स्वतत्र ग्रथ बनानेकी इच्छासे नहीं किन्तु 'जैनेन्द्र' को सर्वांगपूर्ण बनानेकी सदिच्छासे है और इसीलिए उन्होंने जैनेन्द्रके आधेसे अधिक सूत्र ज्योंके त्यों रहने दिये है, तथा मगलाचरण आदि भी उसका ज्योंका त्यों रक्खा है।

जैनेन्द्रकी टीकाएँ

पूज्यपादस्वामीकृत असली जैनेन्द्रकी इस समय तक केवल चार ही टीकाएँ उपलब्ध हैं—१ अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति,' २ प्रभाचन्द्रकृत 'शब्दाम्भोजभास्करन्यास', ३ श्रुतकीर्तिकृत 'पचवस्तुप्रक्रिया' और ४ पं० महाचन्द्रकृत 'लघुजैनेन्द्र'। परन्तु इसके सिवाय इसकी और भी कई टीकाएँ होनी चाहिए। पचवस्तुके अन्तके श्लोकमें जैनेन्द्रशब्दागम या जैनेन्द्र व्याकरणको महलकी उपमा दी है। वह मूलसूत्ररूप स्तम्भोंपर खड़ा किया गया है, न्यासरूप उसकी भारी रत्नमय भूमि है, वृत्तिरूप उसके किवाड़ है, भाष्यरूप शय्यातल है, टीकारूप उसके माल या मजिल है और यह पचवस्तु टीका उसकी सोपानश्रेणी है। इसके द्वारा उक्त महलपर आरोहण किया जा सकता है[2]। इससे मालूम होता है कि पचवस्तुके कर्ताके समयमें इस व्याकरणपर १ न्यास, २ वृत्ति, ३ भाष्य और ४ कई टीकाएँ, इतने टीका-ग्रन्थ मौजूद थे।

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिकमें भी है "शास्त्रेऽपि अश्ववृषयोर्मैथुनेच्छायामित्येवमादौ तदेव कर्मारयायते।"

२ सूत्रस्तम्भसमुद्धृत प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षितिश्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुत भाष्योऽथ शय्यातलम्। टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमं प्रासादं पृथु पचवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात्॥

न्यास—उक्त टीकाओंमेसे 'न्यास' तो शायद स्वयं पूज्यपादका ही होगा जो अभी तक अनुपलब्ध है। शिमोगा जिलेकी नगर तहसील के ४६वें शिलालेखमें लिखा है कि पूज्यपादने एक तो (अपने व्याकरणपर) जैनेन्द्र-संज्ञक न्यास और दूसरा पाणिनि व्याकरण पर शब्दावतार नामक न्यास बनाया। इसके सिवाय वैद्यक-शास्त्र और तत्त्वार्थ-टीका भी लिखी।

यह निश्चय है कि पूज्यपाद केवल सूत्र-ग्रन्थ बनाकर ही न रह गये होंगे। अपनी मानी हुई अतिशय सूक्ष्म संज्ञाओं और परिभाषाओंका स्पष्टीकरण करनेके लिए उन्हें कोई टीका या वृत्ति अवश्य बनानी पड़ी होगी जिस तरह शाकटायनने अपने व्याकरणपर अमोघवृत्ति नामकी स्वोपज्ञटीका बनाई।

विद्यानन्दने अष्टसहस्री (पृष्ठ १३२) में 'प्यखे कर्मण्युपसंख्यानात्' यह वचन उद्धृत किया है। यह किसी व्याकरण ग्रन्थका वार्तिक है, परन्तु पाणिनिके किसी भी वार्तिकमें यह नहीं मिलता। अभयनन्दिकी महावृत्तिमें अवश्य ही "प्यखे कर्मणि का वक्तव्या" [४ १-२८] इस प्रकारका वार्तिक है, परन्तु अभयनन्दिकी वृत्ति विद्यानन्दसे पीछे की बनी हुई है, इसलिए विद्यानन्दने यह वार्तिक अभयनन्दिकी वृत्तिसे नहीं किन्तु अन्य ही किसी ग्रन्थसे लिया होगा।

भाष्य—जैनेन्द्रके भाष्यका अभी तक पता नहीं लगा।

आगे हम उपलब्ध टीकाग्रन्थोंका परिचय देते हैं—

१–महावृत्ति—इसकी एक प्रति पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूटमें मौजूद है और एक प्रति बम्बईके सरस्वती-भवनमें भी है। पूनेकी प्रतिमें इसकी श्लोकसंख्या १२००० के लगभग है। प्रारंभके ३१४ पत्र एक लेखकके लिखे हुए और शेष ७४ पत्र, चैत सुदी २ सं० १९३३ को किसी दूसरे लेखकके लिखे हुए हैं। प्रतिके दोनों ही भाग जयपुरके लिखे हुए मालूम होते हैं। कई स्थानोंमें कुछ पंक्तियाँ छूटी हुई हैं[3] और अन्तमें कोई प्रशस्ति आदि नहीं है[3]।

इस महावृत्तिके कर्ता अभयनन्दि मुनि हैं। उन्होंने न तो अपनी गुरुपरम्पराका ही परिचय दिया है और न ग्रन्थ रचनाका समय ही। परन्तु सूत्र ३–२–५५ की टीकामें एक जगह उदाहरण दिया है— "तत्त्वार्थवार्तिकमधीयते।" इससे मालूम होता है कि भट्टाकलंकदेवके बाद अर्थात् वि० की आठवीं नवीं शताब्दिके बादकी यह वृत्ति है—और पंचवस्तुके पूर्वोल्लिखित श्लोकमें इसी वृत्तिका उल्लेख जान पड़ता है, इसलिए श्रुतकीर्तिके अर्थात् विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके पहले किसी समयमें वे हुए हैं। जैनेन्द्रकी उपलब्ध टीकाओंमें यही टीका सबसे प्राचीन मालूम होती है।

२–शब्दाम्भोजभास्करन्यास–बम्बईके सरस्वती भवनमें इसकी दो अपूर्ण प्रतियाँ मौजूद हैं। एक प्रतिमें १४ वें पत्रसे २९९ तक और फिर ६२० वें पत्रसे ७०३ तकके ही पत्र हैं। १४ वें [illegible]

---

१. न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृ[illegible] ॥ यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपादस्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृ[illegible] ॥

२. नं० ४६० [illegible] और [illegible] सन् १८९५–९६ की रिपोर्ट।

३. ॐ नमः। श्रीमत्सर्वज्ञवीतरागेन्द्रचन्द्रनन्दनुमाप्रिगुरुभ्यो नमः।

अध्यायके पहले पादका १६ वाँ सूत्र है। यह प्रति बहुत प्राचीन और शुद्ध है परन्तु आगसे झुलसी हुई है। दूसरी प्रतिमे केवल तीन अध्याय है। इसकी श्लोक संख्या १२००० है। इससे जान पडता है कि सम्पूर्ण गन्थ १६००० के लगभग होगा।

अभयनन्दिकी वृत्तिसे यह बड़ा है और उससे पीछे बना है। इसमे महावृत्तिके शब्द ज्योके त्यों ले लिये गये हैं और तीसरे अध्यायके अन्तके एक श्लोकमे अभयनन्दिको नमस्कार भी किया है।

इसके कर्ता प्रभाचन्द्र हैं और वे प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके ही कर्ता मालूम होते हैं। क्योकि इसके प्रारंभमे ही यह कहा गया है कि अनेकान्तकी चर्चा उक्त दोनों ग्रन्थोंमे की गई है, इसलिए यहाँ नहीं करते। अवश्य ही इसमे उन्होने अपने ही ग्रन्थोंको देखनेके लिए कहा है, "अथ कोऽयमनेकान्तो नामेत्याह—अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यासामान्याधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकान्तः स्वभावो यस्यार्थस्यासावनेकान्तः, अनेकान्तात्मक इत्यर्थ. । तत्र च प्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पकल्पिताशेषविप्रतिपत्ति. प्रत्यक्षा-दिप्रमाणमेव प्रत्यस्तमयतीति (?) तद्धिततया तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानदिश्च यथा सिद्धयति तथा प्रपञ्चतः प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रतिरूपितमिह द्रष्टव्यम्।"

इसके मगलाचरणमे पूज्यपाद और अकलंकको नमस्कार किया गया है।

३—पंचवस्तु–भाडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमे इसकी दो प्रतियाँ मौजूद है, जिनमे एक ३००–४०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई है और बहुत शुद्ध है और दूसरी[३] सवत् १९२० की। पहलीपर लेखकका नाम और प्रति लिखनेका समय आदि नहीं है। इसके अन्तमे केवल इतना लिखा हुआ है—"कृतिरियं देवनद्याचार्यस्य परवादिमथनस्य ॥छ॥ शुभं भवतु लेखकपाठकयोः ॥ श्रीसंघस्य ॥"

दूसरी प्रति रत्नकरण्डश्रावकाचारवचनिका आदि अनेक भाषाग्रन्थोके रचयिता सुप्रसिद्ध पण्डित सदासुखजीके हाथकी सवत् १९१० की लिखी हुई है[४]।

यह टीका प्रक्रिया बद्ध है और बड़े अच्छे ढगसे लिखी गयी है। इसकी श्लोकसख्या ३३०० के लगभग है। प्रारभके विद्यार्थियोंके लिए बड़ी उपयोगी है।

इस ग्रन्थके आदि-अन्तमे कहीं भी कर्त्ताका नाम नहीं है। केवल एक जगह पाँचवे पत्रमे नाम आया है, जिससे मालूम होता है कि इसके रचयिता श्रुतकीर्ति हैं[५]।

---

१. नमः श्रीवर्धमानाय महते देवनन्दिने। प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥

२. नं० १०५६ सन् १८८७–९१ की रिपोर्ट।

३. न० ५९० सन् १८७५–७६ की रिपोर्ट। इस ग्रन्थकी एक प्रति परतापगढ (मालवा) के पुराने दि० जैनमन्दिरके भंडारमे भी है। देखो जैनमित्र ता० २६ अगस्त १९१५।

४ अब्दे नभश्चन्द्रविधिरिधराके शुद्धे सहस्यैम (?) युक् चतुर्थ्याम्।
सत्प्रक्रियाबन्धनिबन्धनेय सद्वस्तुवृत्तीरदनात्समाप्ता (?) ॥
श्रीमत्पुराणामधिपेशराज्ञि श्रीरामसिंहे विलसत्यलेखि।
श्रीमद्बुधेनेह सदासुखेन श्रीयुक्फतेलालनिजात्मबुद्ध्यै ॥
शब्दीयशास्त्र पठित न यैस्तैः स्वदेहसपालनभारवद्भिः।
कि दर्शनीयं कथनीयमेतद् वृथांगसंधावपलापवद्भिः ॥
यह प्रति भी प्रायः शुद्ध है।

५. नाम वेर-वर्ण-स्वर-चरणादीना संधीना बहूना संभवत्वात् संशयान. शिष्यः संपृच्छति स्म। परसन्धिरिति।

सज्ञान्दरप्रकृतिरजविसर्गजन्मा सधिस्तु पंचक इतीन्थमिहाहुरन्ये।
तत्र स्वरप्रकृतिरजविकल्पतोऽस्मिन्सधि त्रिधा कथयति श्रुतकीर्तिरार्यः ॥

कनड़ी भाषाके चन्द्रप्रभचरित नामक ग्रन्थके कर्ता अग्गल कविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बतलाया है–"इदु परमपुरुनाथकुलभूभृत्समुद्भूतप्रवचनसरित्सरिन्नाथ–श्रुतकीर्तित्रैविद्यचक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्तिश्रीमदग्गलदेवविरचिते चन्द्रप्रभचरिते—" इत्यादि। और यह चरित शक संवत् १०११ (वि० सं० ११४६) में बनकर समाप्त हुआ है। अतएव यदि श्रुतकीर्ति और श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्ती एक ही हों तो पञ्चवस्तुको भी अभयनन्दि महावृत्तिके पीछेकी–विक्रमकी बारहवीं शताब्दिके प्रारंभकी—रचना समझना चाहिए। नंदिसंघकी गुर्वावलीमें श्रुतकीर्तिको वैयाकरण-भास्कर लिखा है।

४—लघुजैनेन्द्र–इसकी एक प्रति अंकलेश्वर (भरोंच) के दिगम्बर जैनमन्दिरमें है और दूसरी अधूरी प्रति परतापगढ (मालवा) के पुराने दि० [2]जैनमन्दिरमें। यह अभयनन्दिकी वृत्तिके आधारसे लिखी गई है। पण्डित महाचन्द्रजी विक्रमकी इसी बीसवीं शताब्दिमें हुए हैं।[3] इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और भाषामें कई ग्रंथ लिखे हैं।

५—जैनेन्द्र-प्रक्रिया—यह प० वंशीधरजी न्यायतीर्थ न्यायशास्त्रीने हाल ही लिखी है। इसका केवल पूर्वार्ध ही छपकर प्रकाशित हुआ है।[4]

शब्दार्णवकी टीकाएँ

जैनेन्द्र सूत्र पाठके संशोधित परिवर्धित संस्करणका नाम–जैसा कि पहले लिखा जा चुका है—शब्दार्णव है। इसके कर्ता गुणनन्दि हैं। यह बहुत संभव है कि सूत्र-पाठके सिवाय उन्होंने इसकी कोई टीका या वृत्ति भी बनाई हो जो कि उपलब्ध नहीं है।

गुणनन्दि नामके कई विद्वान हो गये हैं। एक गुणनन्दिका उल्लेख श्रवणबेलगोलके ४२, ४३ और ४७ वें नम्बरके शिलालेखोंमें मिलता है। ये बलाकपिच्छके शिष्य और गृध्रपिच्छके प्रशिष्य थे। तर्क, व्याकरण और साहित्य शास्त्रोंके बहुत बड़े विद्वान् थे। इनके ३०० शास्त्रपारगत शिष्य थे और उनमें ७२ शिष्य सिद्धान्तशास्त्री थे। आदि पंपके गुरु देवेन्द्र भी इन्हींके शिष्य थे। कर्नाटक-कविचरितके कर्ताने इनका समय वि० संवत् ९५७ निश्चय किया है। क्योंकि इनके प्रशिष्य देवेन्द्रके शिष्य आदि पंपका जन्म वि० सं० ९५९ में हुआ था और उसने ३९ वर्षकी अवस्थामें अपने सुप्रसिद्ध कनड़ी काव्य भारतचम्पू और आदिपुराण निर्माण किये हैं। हमारा अनुमान है कि वे ही गुणनन्दि शब्दार्णवके कर्ता हैं।

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्यके कर्ता वीरनन्दिका समय शक संवत् ९०० के लगभग निश्चित होता है। क्योंकि वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरितमें उनका स्मरण किया है और वीरनन्दिकी गुरुपरम्परा इस प्रकार

---

१. त्रैविद्य श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणभास्करः।

है—१ श्री गुणनन्दि, २ विबुध गुणनन्दि, ३ अभयनन्दि और ४ वीरनन्दि। यदि पहले गुणनन्दि और वीरनन्दिके बीचमे हम ७८ वर्षका अन्तर मान लें, तो पहले गुणनन्दिका समय वही शक सवत् ८२२ या वि० स० ९५७ के लगभग आ जायगा। इससे यह निश्चय होता है कि वीरनन्दिकी गुरुपरम्पराके प्रथम गुणनन्दि और आदि पम्पके गुरु देवेन्द्रके गुरु गुणनन्दि एक ही होगे।

गुणनन्दि नामके एक और आचार्य शक सवत् १०३७ [वि० स० ११७२] मे हुए हैं जो मेघचन्द्र त्रैविद्यके गुरु थे।

शब्दार्णवकी इस समय दो टीकाएँ उपलब्ध है और दोनो ही सनातनजैनग्रन्थमालामे छप चुकी हैं— १–शब्दार्णवचन्द्रिका, और २–शब्दार्णव प्रक्रिया।

१-शब्दार्णव-चन्द्रिका—इसकी एक बहुत ही प्राचीन और अतिशय जीर्ण प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूटमे[१] है। यह ताड़पत्रपर नागरी लिपिमे है। इसके आदि-अन्तके पत्र प्रायः नष्ट हो गये है। छपी हुई प्रतिमे जो गद्य-प्रशस्ति है, वह इसमे नहीं है और अन्तमे एक श्लोक है जो पूरा नहीं पढा जाता—

इन्द्रश्चन्द्रः शकटतनयः पाणिनिः पूज्यपादो
यत्प्रोवाचापिशलिरमरः काशकृत्स्न······शब्दपारायणस्येति।

इसके कर्त्ता श्रीसोमदेव मुनि हैं। ये शिलाहार वशके राजा भोजदेव [द्वितीय] के समयमे हुए हैं और अर्जुरिका नामक ग्रामके त्रिभुवनतिलक नामक जैनमन्दिरमे—जो कि महामण्डलेश्वर गंडरादित्यदेवका बनवाया हुआ था। इसे शक सवत् ११२७ [वि० स० १२७२] मे बनाया है। यह ग्राम इस समय आजरें नामसे प्रसिद्ध है और कोल्हापुर राज्यमे है। वादीभवज्राकुश श्रीविशालकीर्ति पण्डितदेवके वैयावृत्यसे इस ग्रन्थकी रचना हुई है।

इस ग्रन्थके मगलाचरणके पहले श्लोकमे पूज्यपाद, गुणनन्दि और सोमदेव ये विशेषण वीर भगवान्को दिये हैं[२] और दूसरे श्लोकमे कहा है कि यह टीका मूलसघीय मेघचन्द्रके शिष्य नागचन्द्र (भुजंगसुधाकर) और उनके शिष्य हरिचन्द्र यतिके लिए बनाई गई[३]।

गुणनन्दिकी प्रशसा चुरादि धातुपाठके अन्तमे भी एक पद्यमे की गई है, जिसका अन्तिम चरण यह है— "शब्दब्रह्मा स जीयाद्गुणनिधिगुणनन्दिव्रतीशस्सुसौख्यः।" इसमे शब्दब्रह्मा विशेषण देकर गुणनन्दिको शब्दार्णव व्याकरणका कर्ता ही प्रकट किया गया है।

ये मेघचन्द्र आचारसारके कर्ता वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु ही मालूम होते हैं। इन्हे श्रवणबेल्गोलके न० ४७ के शिलालेखमे सिद्धान्तज्ञतामे जिनसेन और वीरसेनके सदृश, न्यायमे अकलकके समान और व्याकरणमे साक्षात् पूज्यपादसदृश बतलाया है। श्रवणबेल्गोलके न० ५० और ५२ नम्बरके शिलालेखोसे मालूम होता है कि इनका स्वर्गवास शक सवत् १०३७ [वि० स० ११७२] मे और उनके शुभचन्द्रदेव नामक शिष्यका स्वर्गवास शक सवत् १०६८ [वि० स० १२०३] मे हुआ था। इसके सिवाय उनके दूसरे शिष्य प्रभाचन्द्रदेवने शक स० १०४१ [वि० स० ११७६] मे एक महापूजाप्रतिष्ठा कराई थी। जब सोमदेवने शब्दार्णवचन्द्रिका मेघचन्द्रके प्रशिष्य हरिचन्द्रके लिए शक स० ११२७ [वि० स० १२६२] मे बनाई थी, तब मेघचन्द्रका समय वि० स० ११७२ के लगभग माना जा सकता है।

---

१. न० २५ सन् १८८०–८८ की रिपोर्ट।

२ "श्रीपूज्यपादममल गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपपूजितपादयुग्मम्।
सिद्ध समुन्नतपद वृषभ जिनेन्द्र सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम्॥ १॥

३ श्रीमूलसघजलजप्रतिबोधभानोर्मेघेन्दुदीक्षितभुजङ्गसुधाकरस्य।
राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकरस्य वृत्ति रेभे हरीन्दुयतये वरदीक्षिताय॥ २॥

नागचन्द्र नामके दो विद्वान् हो गये है, एक पम्प रामायणके कर्ता नागचन्द्र जिनका दूसरा नाम अभिनव पम्प था, और दूसरे लब्धिसारटीकाके कर्ता नागचन्द्र। पहले गृहस्थ थे और दूसरे मुनि। अभिनव पम्पके गुरुका नाम बालचन्द्र था जो मेघचन्द्रके सहाध्यायी थे और दूसरे स्वय बालचन्द्रके शिष्य थे। इन दूसरे नागचन्द्रके शिष्य हरिचन्द्रके लिए यह वृत्ति बनाई गई है। इन्हे जो 'राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकर' विशेषण दिया है उससे मालूम होता है, कि ये सिद्धान्तचक्रवर्ती या टीकाकार होगे।

२—शब्दार्णव-प्रक्रिया—यह जैनेन्द्र प्रक्रियाके नामसे छपी है, परन्तु वास्तवमे इसका नाम शब्दार्णव-प्रक्रिया ही है। हमे इसकी कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिल सकी। जिस तरह अभयनन्दिकी वृत्तिके बाद उसीके आधारसे प्रक्रियारूप पचवस्तु टीका बनी है, उसी प्रकार सोमदेवकी शब्दार्णव चन्द्रिकाके बाद उसीके आधारसे यह प्रक्रिया बनी है। प्रकाशकोने इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि प्रकट किया है, परन्तु जान पड़ता है कि इसके अन्तिम श्लोकमे गुणनन्दिका नाम देखकर ही भ्रमवश इसके कर्त्ताका नाम गुणनन्दि समझ लिया है[२]।

इनमेसे पहले पद्यसे यह स्पष्ट है कि गुणनन्दिके शब्दार्णवके लिए यह प्रक्रिया नावके समान है और दूसरे पद्यमे कहा है कि सिंहके समान गुणनन्दि पृथ्वीपर सदा जयवन्त रहे। यदि इसके कर्त्ता स्वय गुणनन्दि होते तो स्वय ही अपने लिए यह कैसे कहते कि वे गुणनन्दि सदा जयवन्त रहे? अतः गुणनन्दि ग्रन्थकर्त्तासे कोई पृथक् ही व्यक्ति है जिसे वे श्रद्धास्पद समझते है।

तीसरे पद्यमे भट्टारकशिरोमणि श्रुतकीर्ति देवकी प्रशसा करता हुआ कवि कहता है कि वे मेरे मनरूप मानसरोवरमे राजहसके समान चिरकालतक विराजमान रहे। इसमे भी ग्रन्थकर्त्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे श्रुतिकीर्तिदेवके कोई शिष्य होंगे और सभवतः उन श्रुतिकीर्तिके नहीं जो पचवस्तुके कर्त्ता है। ये श्रुतिकीर्ति पचवस्तुके कर्त्तासे पृथक् जान पड़ते है। क्योंकि इन्हे प्रक्रियाके कर्त्ताने 'कविपति' बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं। ये वे ही श्रुतिकीर्ति मालूम होते है जिनका समय प्रो० पाठकने शक सवत् १०४५ या वि० स० ११८० बतलाया है[३]। श्रवणबेलगोलके जैन गुरुओने 'चारुकीर्ति पडिताचार्य' का पद शक सवत् १०३२ के बाद धारण किया है और पहले चारुकीर्ति इन्हीं श्रुतकीर्तिके पुत्र थे[४]। श्रवणबेल्गोलके १०८ वें शिलालेखमे इनका जिक्र है और इनकी बहुत ही प्रशसा की गई है।

प्रक्रियाके कर्त्ताने इन्हे भट्टारकोत्तम और श्रुतकीर्तिदेवयतिप लिखा है और उस लेखमे भी यतिपति लिखा है। अत. ये दोनों एक मालूम होते है। आश्चर्य नहीं जो इनके पुत्र और शिष्य चारुकीर्ति पण्डिताचार्य ही इस प्रक्रियाके कर्त्ता हों।

देवनन्दिका समय

देवनन्दिने अपने किसी ग्रन्थमे न तो कोई रचना-तिथि दी है और न अपनी गुरुपरम्परा। इसलिए उनके समयका निर्णय उनके ग्रन्थोके उल्लेखो तथा दूसरे साधनोंसे ही करना पड़ेगा।

जैनेन्द्र व्याकरणके 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' [५-१-७] सूत्रमे सिद्धसेनका मत दिया है और प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजीने सिद्धसेनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है[1]। उनके लेखका सारांश आगे दिया जाता है—

"जैसलमेरके जैन भण्डारमे विशेषावश्यक भाष्यकी जो अतिशय प्राचीन प्रति मिली है उसके अंतमे ग्रन्थकार जिनभद्र गणिने स्वय ही ग्रन्थ-रचना-काल दिया है। और उसके अनुसार उक्त ग्रन्थ वि० स० ६६६ मे वल्लभीमे समाप्त हुआ है। उन्होंने अपने इस विशेषावश्यक भाष्यमे और द्वितीय लघुग्रन्थ विशेषणवतीमे सिद्धसेन और मल्लवादिके उपयोगाभेद-वादकी विस्तृत समालोचना की है। मल्लवादि सिद्धसेनके सन्मतितर्कके टीकाकार है। इससे सिद्ध होता है कि मल्लवादि और सिद्धसेन जिनभद्रगणिसे क्रमशः पूर्व और पूर्वतर है। मल्लवादिके विनष्टमूल द्वादशार नयचक्रके जो प्रतीक उसके विस्तृत टीकाग्रन्थमे मिलते है उनमे सिद्धसेन दिवाकरके उल्लेख तो हैं, परन्तु जिनभद्रगणिके नहीं है। इससे फलित होता है कि मल्लवादि जिनभद्रसे पहले हुए हैं और मल्लवादिने सिद्धसेनके सन्मतितर्कपर टीका लिखी थी, इसका निर्देश आचार्य हरिभद्रने किया है। अतः यह सिद्ध है कि सिद्धसेन मल्लवादिसे पहले हुए है। इसलिए मल्लवादिको विक्रमकी छठी शताब्दिके पूर्वार्धमे माना जाय, तो सिद्धसेनका समय पाँचवीं शताब्दि ठीक लगता है।

"सिद्धसेनके मतके अनुसार 'विद्' धातुमे 'र' का आगम होता है, भले ही वह सकर्मक हो। उनकी नवीं द्वात्रिंशतिकाके २२वें पद्यमे 'र' आगमवाला 'विद्रते' प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक अकर्मक विद् धातुमें 'र' आगम मानते हैं जब कि सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक विद् धातुमें 'र' आगमवाला प्रयोग किया है। इसके सिवाय पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके [अ० ७ सूत्र १३] मे सिद्धसेनकी तीसरी द्वात्रिंशिकाके १६ वें पद्यकी 'उक्त च' शब्दके साथ "वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते" पक्ति उद्धृत की है। द्वात्रिंशिकामे यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते
शिवं च न परोपमर्दपु [प] रुपस्मृतेर्विद्यते।
वधायतनमभ्युपैति च परानन्निघ्नमपि
त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रथ[श]महेतुरुद्योतितः ॥१६॥

"पूज्यपाद देवनन्दिका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध माना जाता है। परन्तु मेरी समझमे अभी इसपर और भी गहराईसे विचार होनेकी जरूरत है। यदि सिद्धसेनको देवनन्दिसे पूर्ववर्ती अथवा उनका वृद्धसमकालीन माना जाय, तो भी उनका समय पाँचवीं शताब्दिसे अर्वाचीन नहीं जान पड़ता।"

सिद्धसेनसे देवनन्दि कितने बादके हैं, इसका निर्णय करनेके लिए देवसेनके दर्शनसारसे भी कुछ सहायता मिल सकती है। यह ग्रन्थ उन्होंने वि० स० ९९० मे धारानगरीमे निवास करते हुए पूर्वाचार्योकी बनाई हुई गाथाओंका एकत्र सचय करके—'पुव्वाइरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ' लिखा गया है। अर्थात् इस ग्रन्थकी गाथाऐं देवसेनसे भी पहलेकी है और इस दृष्टिसे उनकी प्रामाणिकता अधिक है। उसके अनुसार श्री पूज्यपादका शिष्य पाहुडवेदि वज्रनन्दि द्राविड सघका कर्ता हुआ और तब दक्षिण मथुरा [मदुरा] मे

---

१ देखो भारतीय विद्या, भाग ३, अंक ५ में 'श्री सिद्धसेन दिवाकरनां समयनो प्रश्न' शीर्षक लेख।

नागचन्द्र नामके दो विद्वान् हो गये है, एक पम्प रामायणके कर्ता नागचन्द्र जिनका दूसरा नाम अभिनव पम्प था, और दूसरे लब्धिसारटीकाके कर्ता नागचंन्द। पहले गृहस्थ थे और दूसरे मुनि। अभिनव पम्पके गुरुका नाम बालचन्द्र था जो मेघचन्द्रके सहाध्यायी थे और दूसरे स्वय बालचन्द्रके शिष्य थे। इन दूसरे नागचन्द्रके शिष्य हरिचन्द्रके लिए यह वृत्ति बनाई गई है। इन्हें जो 'राद्धान्ततोयनिधिवृद्धिकर' विशेषण दिया है उससे मालूम होता है, कि ये सिद्धान्तचक्रवर्ती या टीकाकार होंगे।

२—शब्दार्णव-प्रक्रिया—यह जैनेन्द्र प्रक्रियाके नामसे छपी है, परन्तु वास्तवमे इसका नाम शब्दार्णव-प्रक्रिया[1] ही है। हमें इसकी कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिल सकी। जिस तरह अभयनन्दिकी वृत्तिके बाद उसीके आधारसे प्रक्रियारूप पचवस्तु टीका बनी है, उसी प्रकार सोमदेवकी शब्दार्णव-चन्द्रिकाके बाद उसीके आधारसे यह प्रक्रिया बनी है। प्रकाशकोंने इसके कर्ताका नाम गुणनन्दि प्रकट किया है, परन्तु जान पड़ता है कि इसके अन्तिम श्लोकमे गुणनन्दिका नाम देखकर ही भ्रमवश इसके कर्त्ताका नाम गुणनन्दि समझ लिया है[2]।

इनमेसे पहले पद्यसे यह स्पष्ट है कि गुणनन्दिके शब्दार्णवके लिए यह प्रक्रिया नावके समान है और दूसरे पद्यमे कहा है कि सिंहके समान गुणनन्दि पृथ्वीपर सदा जयवन्त रहे। यदि इसके कर्त्ता स्वयं गुणनन्दि होते तो स्वय ही अपने लिए यह कैसे कहते कि वे गुणनन्दि सदा जयवन्त रहे? अतः गुणनन्दि ग्रन्थकर्त्तासे कोई पृथक् ही व्यक्ति है जिसे वे श्रद्धास्पद समझते है।

तीसरे पद्यमे भट्टारकशिरोमणि श्रुतकीर्ति देवकी प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है कि वे मेरे मनरूप मानसरोवरमे राजहंसके समान चिरकालतक विराजमान रहें। इसमें भी ग्रन्थकर्त्ता अपना नाम प्रकट नहीं करते हैं, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि वे श्रुतिकीर्तिदेवके कोई शिष्य होंगे और संभवतः उन श्रुतिकीर्तिके नहीं जो पचवस्तुके कर्त्ता है। ये श्रुतिकीर्ति पचवस्तुके कर्त्तासे पृथक् जान पड़ते है। क्योकि इन्हे प्रक्रियाके कर्त्ताने 'कविपति' बतलाया है, व्याकरणज्ञ नहीं। ये वे ही श्रुतिकीर्ति मालूम होते है जिनका समय प्रो० पाठकने शक सवत् १०४५ या वि० स० ११८० बतलाया है[3]। श्रवणबेल्गोलके जैन गुरुओंने 'चारुकीर्ति पंडिताचार्य' का पद शक संवत् १०३२ के बाद धारण किया है और पहले चारुकीर्ति इन्हीं श्रुतकीर्तिके पुत्र थे[4]। श्रवणबेल्गोलके १०८ वे शिलालेखमे[5] इनका जिक्र है और इनकी बहुत ही प्रशसा की गई है।

प्रक्रियाके कर्त्ताने इन्हे भट्टारकोत्तस और श्रुतकीर्तिदेवयतिप लिखा है और इस लेखमे भी भट्टारकयति लिखा है। अतः ये दोनों एक मालूम होते है। आश्चर्य नहीं जो इनके पुत्र और शिष्य चारुकीर्ति पण्डिताचार्य ही इस प्रक्रियाके कर्त्ता हों।

---

१. छपी हुई प्रति के अन्तमे "इति प्रक्रियावतारे कृद्विधिः समाप्त.। समाप्तेयं प्रक्रिया।" इस तरह छपा है। इससे भी इसका नाम जैनेन्द्र-प्रक्रिया नही जान पडता।

२. सत्संधि दधते समासमभितः ख्यातार्थनामोन्नतं निर्व्रातं बहुतद्धितं कृतमिहाख्यातं यशःशालिनम्।
सैषा श्रीगुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवं निर्णयं नाविव्याश्रयता विविक्षुमनसां साक्षात्स्वयं प्रक्रिया ॥१॥
दुरितमदेभनिशुम्भकुम्भस्थलभेदनक्षमोग्रनखैः। राजन्मृगाधिराजो गुणनन्दी भुवि चिरं जीयात् ॥२॥
सन्मार्गे सकलसुखप्रियकरे संज्ञापिते सद्गने दिग्वासस्सु चरित्रवानमलकः कान्तो विवेकी प्रिय।
सोऽयं यः श्रुतकीर्तिदेवयतिपो भट्टारकोत्तंसको रंरम्यान्मम मानसे कविपतिः सद्राजहंसश्चिरम् ॥३॥

३. देखो 'सिस्टिम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६७।

४. देखो 'कर्नाटक जैन कवि' पृष्ठ २०।

५. तत्र सर्वशरीरिरक्षाकृतमतिर्विजितेन्द्रियः। सिद्धशासनवर्द्धनप्रतिलब्धकीर्तिकलापकः ॥२२॥
विश्रुतश्रुतकीर्तिभट्टारकयतिस्समजायत। प्रस्फुरद्वचनामृतांशुविनाशिताखिलहत्तमा ॥२३॥

देवनन्दिका समय

देवनन्दिने अपने किसी ग्रन्थमे न तो कोई रचना-तिथि दी है और न अपनी गुरुपरम्परा। इसलिए उनके समयका निर्णय उनके ग्रन्थोके उल्लेखो तथा दूसरे साधनोंसे ही करना पड़ेगा।

जैनेन्द्र व्याकरणके 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' [५-१-७] सूत्रमें सिद्धसेनका मत दिया है और प्रज्ञाचक्षु प० सुखलालजीने सिद्धसेनका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है[1]। उनके लेखका सारांश आगे दिया जाता है—

"जैसलमेरके जैन भण्डारमे विशेषावश्यक भाष्यकी जो अतिशय प्राचीन प्रति मिली है उसके अंतमे ग्रन्थकार जिनभद्र गणिने स्वयं ही ग्रन्थ-रचना-काल दिया है। और उसके अनुसार उक्त ग्रन्थ वि० सं० ६६६ मे वल्लभीमें समाप्त हुआ है। उन्होने अपने इस विशेषावश्यक भाष्यमे और द्वितीय लघुग्रन्थ विशेषणवतीमें सिद्धसेन और मल्लवादिके उपयोगाभेद-वादकी विस्तृत समालोचना की है। मल्लवादि सिद्धसेनके सन्मतितर्कके टीकाकार है। इससे सिद्ध होता है कि मल्लवादि और सिद्धसेन जिनभद्रगणिसे क्रमशः पूर्व और पूर्वतर है। मल्लवादिके विनष्टमूल द्वादशार नयचक्रके जो प्रतीक उसके विस्तृत टीकाग्रन्थमे मिलते है उनमे सिद्धसेन दिवाकरके उल्लेख तो हैं, परन्तु जिनभद्रगणिके नहीं है। इससे फलित होता है कि मल्लवादि जिनभद्रसे पहले हुए हैं और मल्लवादिने सिद्धसेनके सन्मतितर्कपर टीका लिखी थी, इसका निर्देश आचार्य हरिभद्रने किया है। अतः यह सिद्ध है कि सिद्धसेन मल्लवादिसे पहले हुए हैं। इसलिए मल्लवादिको विक्रमकी छठी शताब्दिके पूर्वार्धमे माना जाय, तो सिद्धसेनका समय पाँचवीं शताब्दि ठीक लगता है।

"सिद्धसेनके मतके अनुसार 'विद्' धातुमे 'र' का आगम होता है, भले ही वह सकर्मक हो। उनकी नवीं द्वात्रिंशतिकाके २२वें पद्यमे 'र' आगमवाला 'विद्रते' प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक अकर्मक विद् धातुमें 'र' आगम मानते हैं जब कि सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक विद् धातुमें 'र' आगमवाला प्रयोग किया है। इसके सिवाय पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके [अ० ७ सूत्र १३] मे सिद्धसेनकी तीसरी द्वात्रिंशिकाके १६ वे पद्यकी 'उक्तं च' शब्दके साथ "वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते" पंक्ति उद्धृत की है। द्वात्रिंशिकामे यह पूरा पद्य इस प्रकार है—

वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते
शिवं च न परोपमर्दपु[प] रुपस्मृतेर्विद्यते।
वधायतनमभ्युपैति च परानिघ्नमपि
त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रथ[श]महेतुरुद्योतितः ॥१६॥

"पूज्यपाद देवनन्दिका समय विक्रमकी छठी शताब्दीका पूर्वार्ध माना जाता है। परन्तु मेरी समझमे अभी इसपर और भी गहराईसे विचार होनेकी जरूरत है। यदि सिद्धसेनको देवनन्दिसे पूर्ववर्ती अथवा उनका वृद्धसमकालीन माना जाय, तो भी उनका समय पाँचवीं शताब्दिसे अर्वाचीन नहीं जान पड़ता।"

सिद्धसेनसे देवनन्दि कितने बादके हैं, इसका निर्णय करनेके लिए देवसेनके दर्शनसारसे भी कुछ सहायता मिल सकती है। यह ग्रन्थ उन्होने वि० सं० ९९० मे धारानगरीमे निवास करते हुए पूर्वाचार्योकी बनाई हुई गाथाओंका एकत्र संचय करके—'पुव्वाइरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ' लिखा गया है। अर्थात् इस ग्रन्थकी गाथाएँ देवसेनसे भी पहलेकी है और इस दृष्टिसे उनकी प्रामाणिकता अधिक है। उसके अनुसार श्री पूज्यपादका शिष्य पाहुडवेदि वज्रनन्दि द्राविड संघका कर्ता हुआ और तब दक्षिण मथुरा [मदुरा] मे

1 देखो भारतीय विद्या, भाग २, अंक ५ में 'श्री सिद्धसेन दिवाकरनां समयनी प्रश्न' शीर्षक लेख।

वि० स० ५२६ मे यह महामिथ्याती सघ उत्पन्न हुआ। वज्रनन्दि चूँकि देवनन्दिके शिष्य थे, इसलिए इस सघ-स्थापना-कालके लगभग या दस बीस वर्ष पहले देवनन्दिका समय माना जा सकता है। सिद्धसेनके पूर्वोक्त निश्चित किये हुए समयसे भी यह असगत नहीं जान पड़ता।

प० युधिष्ठिर मीमासकने 'सस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास[2]' लिखा है। उन्होने जैनेन्द्रके 'वेत्ते सिद्धसेनस्य' सूत्रपरसे अनुमान किया है कि सिद्धसेनका कोई व्याकरण ग्रन्थ अवश्य होगा। उज्ज्वलदत्तकी उणादि सूत्र वृत्तिमे 'क्षपणक' के नामसे एक ऐसा सूत्र उद्धृत है जिससे प्रतीत होता है कि क्षपणकने भी उणादि सूत्रोंपर कोई व्याख्या लिखी थी और उससे यह भी सभावना होती है कि क्षपणकने अपने शब्दानुशासनपर भी कोई वृत्ति रची होगी। मैत्रेयरक्षितने तत्रप्रदीपमे भी क्षपणकके व्याकरणका उल्लेख किया है।

बहुतसे विद्वानोंकी राय है कि ज्योतिर्विदाभरणमे[3] बतलाये हुए विक्रमके नौ रत्नोंमे जो क्षपणक है, वही सिद्धसेन है और गुप्तवशके चद्रगुप्त (द्वितीय) ही विक्रमादित्य है। इतिहासज्ञ विन्सेंट स्मिथके अनुसार चन्द्रगुप्तका समय वि० सं० ४३२ से ४७० तक है और इस तरह सिद्धसेनका समय जो प० सुखलालजीने विक्रमकी पाँचवीं शताब्दि निश्चित किया है, और भी पुष्ट हो जाता है।

हेब्बुरुके दानपत्रमे गंगवशी महाराजा अविनीतके पुत्र दुर्विनीतको "शब्दावतारकारः देवभारतीनिबद्ध-बृहत्कथः किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकार.[4]" ये तीन विशेषण दिये हैं जिनका अर्थ होता है—शब्दावतारके कर्ता, पैशाचीसे सस्कृतमे गुणाढ्यकी बृहत्कथाको रचनेवाले और किरातार्जुनीय काव्यके पन्द्रह सर्गों के टीकाकार। इन विशेषणोंमे कोई ऐसी बात नहीं जिससे यह प्रकट हो कि देवनन्दि दुर्विनीतके शिक्षागुरु थे या उनके समकालीन थे। परन्तु चूकि शिमोगा जिलेके नगर ताल्लुकेके ४६ वें शिलालेखमे[5] पूज्यपादको पाणिनीयके शब्दावतारका कर्ता बतलाया है, इसलिए दुर्विनीतके साथ लगे हुए "शब्दावतारकार" विशेषणसे कुछ विद्वानोंको भ्रम हो गया और दोनोंको समकालीन समझकर गुरु-शिष्यका सम्बन्ध खड़ा कर दिया है। दुर्विनीतका राज्यकाल वि० स० ५३९ से शुरू होता है, इसलिए इसीके लगभग पूज्यपादका समय मान लिया गया, परतु मैसूरके आस्थान विद्वान् प० शान्तिराज शास्त्रीने भास्करनन्दिकृत तत्त्वार्थटीकाकी प्रस्तावनामे इस भ्रमको स्पष्ट कर दिया है। इसलिए भले ही पूज्यपाद देवनन्दि दुर्विनीतके राज्यकालमे रहे हो, परन्तु केवल इस दानपत्रसे वह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

जैनेन्द्र व्याकरणके एक और सूत्र "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" [४-४-१४०] मे सिद्धसेनके ही समान आचार्य समन्तभद्रका उल्लेख है, जिससे समन्तभद्रका देवनन्दिसे पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है, परन्तु साथ ही

---

१. सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारणो दुट्ठो। णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो॥
पचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिणमहुरा-जादो दाविडसंघो महामोहो॥

२. प्रकाशक—भारतीय साहित्यभवन, नवाबगज, दिल्ली।

३. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासा। ख्यातो वराहमिहिरो नृपते. सभायाः रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

४. मैसूर एण्ड कुर्ग गैजेटियर, प्रथम भाग पृ० ३७३.

५. इस शिलालेखका वह 'न्यास जैनेन्द्रसंज्ञ' आदि पद्य इससे पहले पृष्ठ २३ पर उद्धृत किया है।

६ बौद्धाचार्य चन्द्रकीर्तिने "समन्तभद्र" नामका एक व्याकरण लिखा था और चन्द्रकीर्ति धर्मकीर्तिसे भी पूर्ववर्ती है। १७ वीं शताब्दिमे लिखे हुए बौद्ध धर्मके इतिहासमे जो तिब्बती भाषामे है, और जिसका अंग्रेजी अनुवाद हो गया है इस बातकी सूचना मिलती है। प० श्री दलसुख मालवणियाने अपने एक पत्रमें मुझे यह लिखा है।

सर्वार्थसिद्धि टीकाके 'मोक्षमार्गस्य नेतार' आदि मगलाचरण पर समन्तभद्रने 'आप्तमीमासा' नामक ग्रन्थ लिखा है। इससे जान पड़ता है कि दोनो समकालीन एक दूसरेका आदर करनेवाले है और एक दूसरेके ग्रन्थोंसे सुपरिचित होनेके कारण ही यह संभव हुआ है कि देवनन्दि अपने जैनेन्द्र व्याकरणमें समन्तभद्रका व्याकरणविषयक मत देते हैं और समन्तभद्र देवनन्दिकी सर्वार्थसिद्धिके मगलाचरणपर अपनी आप्तमीमासा निर्माण करते है।

आचार्य विद्यानन्दने अपनी आप्तपरीक्षाके अन्तमे लिखा है—

श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्,
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै॥ १२३॥

अर्थात् प्रकाशमान रत्नोके उद्भवस्थान तत्त्वार्थशास्त्र रूप अद्भुत समुद्रके उत्थान या बढावके आरम्भकालमे शास्त्रकार (देवनन्दि) ने तीर्थके तुल्य जो प्रसिद्ध और अति यशस्वी स्तोत्र (मोक्षमार्गस्य नेतार आदि) बनाया और जिसकी स्वामि (समन्तभद्र) ने मीमासा की, उसीका अपनी शक्तिके अनुसार सत्यवाक्यार्थसिद्धिके लिए विद्यानन्दने बड़े आदरके साथ कथन किया।

इसमे यह बिल्कुल स्पष्ट रूपसे कह दिया गया है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' इस मगलाचरण पर ही आप्तमीमासा रची गई है और उसीपर विद्यानन्द परीक्षा (आप्तपरीक्षा) लिखते है।

परन्तु उक्त पद्यमे जो 'शास्त्रकारै' पद पड़ा हुआ है, उसपर एक बड़ा भारी विवाद खड़ा कर दिया गया है और उसका अर्थ किया जाता है—तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति, जब कि वास्तवमे मोक्षमार्गस्य नेतार आदि मगलाचरण सर्वार्थसिद्धिका है। मूल तत्त्वार्थसूत्रका नहीं। क्योंकि यदि यह मगलाचरण तत्त्वार्थसूत्रका होता तो उसकी टीका सभी दिगम्बर श्वेताम्बर टीकाकार जो प्राचीन है—अवश्य करते[1]। और कोई न करता तो देवनन्दि पूज्यपाद तो [सर्वार्थसिद्धिमे] अवश्य करते। सर्वार्थसिद्धि टीकाका पहला सस्करण स्व० पं० कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवेने प्रकाशित किया था। उसमे इसे टीकाके मगलाचरणके रूपमे ही दिया है और भूमिकामे भी उन्होंने इसे टीकाका ही बतलाया है। शोलापुरके प० वशीधरजी शास्त्रीके सस्करणमे भी यह टीकाका है और यह सस्करण उन्होंने आगरेकी तीन प्राचीन प्रतियोंके आधारसे सम्पादित किया है। उसमेकी एक प्रतिको तो वे ५०० वर्ष पुरानी बतलाते हैं। अकलकदेव और विद्यानन्दने भी राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमे इसकी टीका नहीं की है, श्वेताम्बर टीकाकार सिद्धसेन और हरिभद्र आदिने भी नहीं की। तत्त्वार्थसूत्रपाठ [मूल] की भी अधिकाश लिखित प्रतियाँ इस मंगलाचरणसे रहित है। सनातनग्रन्थमाला प्रथम गुच्छक, जैननित्यपाठसग्रह आदि मुद्रित प्रतियोंमे भी यह नहीं है[2]। तत्त्वार्थसारमे भी, जो तत्त्वार्थका एक तरहसे पल्लवित पद्यानुवाद है, अमृतचन्द्रने इस मगल पद्यका अनुवाद नहीं किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह मगलाचरण सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्ता पूज्यपाद देवनन्दिका है, इसीपर समन्तभद्रने आप्तमीमासा और विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाकी रचना की।

---

१ दिगम्बर टीकाकारोंमे श्रुतसागर और भास्करनन्दिने 'मोक्षमार्गस्य' आदिकी टीका की है। इनमें श्रुतसागर विक्रमकी सोलहवी शताब्दिके अन्तमें हुए हैं और भास्करनन्दि १२–१४ वी शताब्दिमें।

२ जिन पोथियों या गुटकोंमे मूल तत्त्वार्थसूत्र लिखा मिलता है, उसमे इस मगलाचरणके साथ ही प्राय "त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं" आदि सस्कृत पद्य और भगवती आराधनाके प्रारम्भकी 'सिद्धे जयप्पसिद्धे' आदि दो गाथाएं भी लिखी रहती हैं और इनके बाद 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' शुरू होता है। पाठकरने वाले लोग नित्यपाठ करते है, उन्होंने यह परम्परा चला दी है।

अतएव समन्तभद्र और देवनन्दि छठी शताब्दिके है और समकालीन है। सिद्धसेन उनके पूर्ववर्त्ती हैं।

जैनेन्द्रोक्त अन्य आचार्य

पाणिनि आदि वैयाकरणोने जिस तरह अपनेसे पहलेके वैयाकरणोके नामोका उल्लेख किया है, उसी तरह जैनेन्द्रसूत्रोंमे भी नीचे लिखे पूर्वाचार्योका उल्लेख मिलता है—

१ राद् भूतबलेः [३-४-८३], २ गुणे श्रीदत्तस्याख्रियाम् [१-४-३४], ३ कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य [२-१-९९], ४ रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य [४-३-१८०], ५ वेत्तेः सिद्धसेनस्य [५-१-७], ६ चतुष्टयं समन्तभद्रस्य [५-४-१४०]।

जहाँतक हम जानते है इन छहों आचार्योमेसे शायद किसीने भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं लिखा है। इनके ग्रन्थोंमे कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको लक्ष्य करके उक्त सब सूत्र रचे गये है। शाकटायनने भी इसीका अनुकरण करके तीन आचार्योके मत दिये है।

१—भूतबलि—भूतबलिका ठीक-ठीक समय निश्चित करना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीर नि० स० ६८३ के बाद हुए है।[1]

२—स्वामी समन्तभद्र[2] और **३—सिद्धसेन** प्रसिद्ध है।

४—श्रीदत्त—विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे श्रीदत्तके 'जल्पनिर्णय' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है। मालूम होता है कि ये बड़े भारी वादि-विजेता थे[3]। आदिपुराणके कर्ता जिनसेनसूरिने भी इनका स्मरण किया है। सभव है[4] ये श्रीदत्त दूसरे हो और जल्प-निर्णयके कर्त्ता दूसरे, तथा इन्हीं दूसरेका उल्लेख जैनेन्द्रमे किया गया हो।

५—यशोभद्र—आदिपुराणमे यशोभद्रका स्मरण करते हुए कहा है कि विद्वानोकी सभामे जिनका नाम कीर्तन सुननेसे ही वादियोंका गर्व खर्व हो जाता है।[5]

६—प्रभाचन्द्र—आदिपुराणमे जिनसेन स्वामीने प्रभाचन्द्र कविकी स्तुति की है, जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना की थी। हरिवशपुराणमे भी इनका स्मरण किया गया है। ये कुमारसेनके शिष्य थे।

उपलब्ध ग्रन्थ

जैनेन्द्रके सिवाय पूज्यपादके केवल पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हुए है।

१—सर्वार्थसिद्धि—आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बर सम्प्रदायकी उपलब्ध टीकाओंमे सबसे पहली टीका।

२—समाधितंत्र। इसमे लगभग १०० श्लोक है, इसलिए इसे समाधिशतक भी कहते हैं।

३—इष्टोपदेश—यह केवल ५१ श्लोकोंका छोटा सा ग्रन्थ है। प० आशाधरने इसपर एक सस्कृत टीका लिखी है।

४—दशभक्ति [सस्कृत]—प्रभाचन्द्राचार्यने अपने क्रियाकलापमे इसका कर्त्ता पूज्यपाद या पादपूज्यको बतलाया है। परन्तु इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता।

१-२. इसके लिए प्रो० हीरालालजीकी धवलाकी 'भूमिका' और पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका 'स्वामी समन्तभद्र' देखिए।

३ द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्व-प्रातिभगोचरम्। त्रिषष्टेर्वादिना जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये॥

४. श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये। कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने॥४५॥

५. विदुष्विणीषु ससत्सु यस्य नामापि कीर्तितम्। निखर्वयति तद्गर्वं यशोभद्रः स पातु नः॥४६॥

५—सिद्धप्रियस्तोत्र—निर्णयसागरकी काव्यमाला [सप्तमगुच्छ] मे छप चुका है। २६ पद्योंमे चौबीस तीर्थङ्करोंकी स्तुति है।

अनुपलब्ध ग्रन्थ

शब्दावतार न्यास और जैनेन्द्र न्यास—पूज्यपादका पाणिनि व्याकरणपर 'शब्दावतार' नामका न्यास है और जैनेन्द्रपर स्वोपज्ञ न्यास भी है।

वैद्यक ग्रन्थ—शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णवके 'अपाकुर्वन्ति' आदि श्लोकके 'काय' शब्दसे ध्वनित होता है कि पूज्यपादका कोई वैद्यक ग्रन्थ होगा[1]।

सार-संग्रह—धवला [वेदनाखड पु० ९ पृ० १६७] के एक उद्धरणके आधारसे 'सारसग्रह' नामक एक और ग्रन्थके होनेका अनुमान है—"तथा सारसग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तु-नोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय इति।" यह कोई न्याय या सिद्धान्तका ग्रन्थ जान पड़ता है।[2] उक्त वाक्यका 'पूज्यपाद' किसी अन्य पूज्य आचार्यका विशेषण भी हो सकता है।

'जैनाभिषेक' नामके एक और ग्रन्थका जिकर श्रवणबेल्गोलके शिलालेख न० ४० के 'जैनेन्द्रं निज-शब्द भागमतुल' आदि श्लोकमे किया गया है।

इस लेखके लिखनेमें हमे श्रद्धेय मुनि जिनविजय और प० बेचरदास जीवराजकी न्याय-व्याकरण-तीर्थसे बहुत अधिक सहायता मिली है। इसलिए हम उक्त दोनों सज्जनोंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। मुनि महोदयकी कृपासे हमको जो साधन सामग्री प्राप्त हुई है यदि न मिलती तो यह लेख शायद ही इस रूपमे पाठकोंके सम्मुख उपस्थित हो सकता।

परिशिष्ट १

पूज्यपाद-चरित

कनड़ी भाषाके इस चरितको चन्द्रय्य नामक कविने जो कर्नाटक देशके मलयनगरकी 'ब्राह्मणगली' के रहनेवाले थे। दुःषम कालके परिधावी संवत्सरकी आश्विन शुक्ल ५, शुक्रवार, तुलालग्नमे समाप्त किया है। चरितका साराश यह है—

---

१. अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवः। कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते॥

पूनेके भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूटमें 'पूज्यपादकृत वैद्यक' नामका एक ग्रन्थ है, परन्तु वह आधुनिक कनड़ीमे लिखा हुआ कनड़ी भाषाका ग्रन्थ है। उसमें न कहीं पूज्यपादका उल्लेख है और न वह उनका बनाया हुआ है। "वैद्यसार' नामका एक और ग्रन्थ अभी जैन-सिद्धान्त-भास्करमें प्रकाशित हुआ है, पर वह भी उनका नहीं है।

विजयनगरके राजा हरिहरके समयमें एक मंगराज नामके कनडी कवि हुए है। वि० सं० १४१६ के लगभग उनका अस्तित्व-काल है। स्थावर विषोकी प्रक्रिया और चिकित्सापर उनका खगेन्द्रमणिदर्पण नामका ग्रन्थ है। वे उसमें अपनेको पूज्यपादका शिष्य बतलाते हैं और यह भी कि यह ग्रन्थ पूज्यपाद वैद्यक ग्रन्थसे संगृहीत है। अभी हाल ही शोलापुरसे उग्रादित्याचार्यका 'कल्याणकारक' नामका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें भी अनेक जगह 'पूज्यपादेन भाषितः' कहकर पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख किया गया है। उग्रादित्य राष्ट्रकूट अमोघवर्षके समयके बतलाये गये हैं, परन्तु हमे इसमें सन्देह है। इसकी प्रशस्तिकी भी बहुत सी बातें सन्देहास्पद हैं जिनपर विचार होनेकी आवश्यकता है।

२ इसके लिए प्रो० हीरालालजी जैन लिखित धवला (पुस्तक १) की भूमिकाके पृष्ठ ६०-६१ देखिए।

कर्नाटक देशके 'कोले' नामक ग्रामके माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणीसे पूज्यपादका जन्म हुआ। ज्योतिषियोंने बालकको त्रिलोकपूज्य बतलाया, इस कारण उसका नाम पूज्यपाद रक्खा गया। माधवभट्टने अपनी स्त्रीके कहनेसे जैनधर्म स्वीकार कर लिया। भट्टजीके सालेका नाम पाणिनि था उसे भी उन्होंने जैनी बननेको कहा, परन्तु प्रतिष्ठाके खयालसे वह जैनी न होकर मुडीगुड ग्राममें वैष्णव सन्यासी हो गया। पूज्यपादकी कमलिनी नामक छोटी बहिन हुई, वह गुणभट्टको व्याही गई, और गुणभट्टको उससे नागार्जुन नामक पुत्र हुआ।

पूज्यपादने एक बगीचेमें एक साँपके मुँहमें फँसे हुए मेंडकको देखा। इससे उन्हें वैराग्य हो गया और वे जैन साधु बन गये।

पाणिनि अपना व्याकरण रच रहे थे। वह पूरा न हो पाया था कि उन्होंने अपना मरण-काल निकट आया जान कर पूज्यपादसे कहा कि इसे तुम पूरा कर दो। उन्होंने पूरा करना स्वीकार कर लिया।

पाणिनि दुर्ध्यानवश मरकर सर्प हुए। एक बार उसने पूज्यपादको देखकर फूत्कार किया, इसपर पूज्यपादने कहा, विश्वास रक्खो, मैं तुम्हारे व्याकरणको पूरा कर दूँगा। इसके बाद उन्होंने पाणिनि व्याकरणको पूरा कर दिया।

इसके पहले वे जैनेन्द्र व्याकरण, अर्हत्प्रतिष्ठालक्षण और वैद्यक ज्योतिष आदिके कई ग्रन्थ रच चुके थे।

गुणभट्टके मर जानेसे नागार्जुन अतिशय दरिद्री हो गया। पूज्यपादने उसे पद्मावतीका एक मन्त्र दिया और सिद्ध करनेकी विधि भी बतला दी। उसके प्रभावसे पद्मावतीने नागार्जुनके निकट प्रकट होकर उसे सिद्ध-रसकी वनस्पति बतला दी।

इस सिद्ध-रससे नागार्जुन सोना बनाने लगा। उसके गर्वका परिहार करनेके लिए पूज्यपादने एक मामूली वनस्पतिसे कई घड़े सिद्ध-रस बना दिया। नागार्जुन जब पर्वतोंको सुवर्णमय बनाने लगा, तब धरणेन्द्र-पद्मावतीने उसे रोका और जिनालय बनानेको कहा। तदनुसार उसने एक जिनालय बनवाया और पार्श्वनाथकी प्रतिमा स्थापित की।

पूज्यपाद पैरोंमें गगनगामी लेप लगाकर विदेहक्षेत्रको जाया करते थे। उस समय उनके शिष्य वज्रनन्दिने अपने साथियोंसे झगड़ा करके द्राविड़ संघकी स्थापना की।

नागार्जुन अनेक मन्त्र तन्त्र तथा रसादि सिद्ध करके बहुत ही प्रसिद्ध हो गया। एक बार दो सुन्दरी स्त्रियाँ आईं जो गाने नाचनेमें कुशल थीं। नागार्जुन उनपर मोहित हो गया। वे वहीं रहने लगीं और कुछ समय बाद ही उसकी रसगुटिका लेकर चलती बनीं।

पूज्यपाद मुनि बहुत समयतक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देव-विमानमें बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थोंकी यात्रा की। मार्गमें एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई थी, सो उन्होंने एक शान्त्यष्टक बनाकर ज्योंकी त्यों कर ली। इसके बाद उन्होंने अपने ग्राममें आकर समाधिपूर्वक मरण किया।

इस चरितपर कोई टीका टिप्पणी करना व्यर्थ है। इस तरहके न जाने कितने मनगढन्त और ऊलजलूल किस्से हमारे यहाँ इतिहासके नामसे चल रहे हैं।

परिशिष्ट २

हेब्बूरका दानपत्र

श्रीमन्माधवमहाधिराज, तस्य पुत्र अविच्छिन्नाश्वमेधावभृथाभिषिक्तः श्रीमत्कदम्बकुलगगनगभस्तिमालिन. श्रीमत्कृष्णवर्ममहाराजस्य प्रियभागिनेय. जनार्दनदेवताङ्घ्रिपर्यङ्क एवाधिगतराज्य विद्वत्कविकाञ्चननिकषोपलभूत· असम्भावनमितसमस्तसामन्तमण्डल. अविनीतनामा श्रीमत्कोङ्गणिमहाराज. तस्य पुत्र पुन्नाटराज-प्रियपुत्रिकापुत्र. विजृम्भमाणशक्तित्रयोपनमितसमस्तसामन्तमण्डल अन्वयाल [illegible]

मुखमखहुतप्रधानपुरुषपशूपहारः विघसविहस्तीकृतकृतान्ताभिमुखः शब्दावतारकारः देवभारतीनिबद्धबृहत्कथ. किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारः दुर्विनीतनामा······ —४सूर एण्ड कुर्ग गैजेटियर, प्रथम पृ० ३७२

परिशिष्ट ३

[भगवद्वाग्वादिनीका विशेष परिचय]

इसके प्रारंभमे पहले 'लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य' आदि प्रसिद्ध मंगलाचरणका श्लोक लिखा गया था। परन्तु पीछेसे उसपर हरताल फेर दी गई है और उसकी जगह यह श्लोक और उत्थानिका लिख दी गई है—

ओं नमः पार्श्वाय

त्वरितमहिमदूतामंत्रितेनाद्भुतात्मा, विषममपि मघोना पृच्छता शब्दशास्त्रम्।
भृतमदरिपुरासीद् वादिवृन्दाग्रणीनां परमपदपटुर्यः स श्रिये वीरदेवः॥

अष्टवार्षिकोऽपि तथाविधभक्ताभ्यर्थनाप्रगुणः स भगवानिदं प्राह-सिद्धिरनेकान्तात्। १-१-१।

इसके बाद सूत्रपाठ शुरू हो गया है। पहले पत्रके ऊपर मार्जिनमे एक टिप्पणी इस प्रकार दी है जिसमे पाणिनि आदि व्याकरणोंको अप्रामाणिक ठहराया है—

"प्रमाणवदस्यामुपेक्षणीयानि पाणिन्यादिप्रणीतसूत्राणि स्यात्कारवादिप्रदूरत्वात्परिव्राजकादिभाषितवत् अप्रमाणानि च कपोलकल्पनामलिनानि हीनमातृकत्वात्तद्वदेव।"

इसके बाद प्रत्येक पादके अन्तमे और आदिमे इस प्रकार लिखा है जिससे इस सूत्र-पाठके भगवत्प्रणीत होनेमें कोई सन्देह बाकी न रह जाय—

"इति भगवद्वाग्वादिन्यां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः। ओंनमः पार्श्वाय। स भगवानिदं प्राह।"

सर्वत्र 'नमः पार्श्वाय' लिखना भी हेतुपूर्वक है। जब ग्रन्थकर्ता स्वयं महावीर भगवान् हैं तब उनके ग्रन्थमे उनसे पहलेके तीर्थंकर पार्श्वनाथको ही नमस्कार किया जा सकता है। देखिए, कितनी दूरतक विचार किया गया है!

आगे अध्याय २ पाद २ के 'सह्‌वह्‌चल्यपतेरिः' [६४] सू॰ पर निम्न प्रकार टिप्पणी दी है और सिद्ध किया है कि यदि यह व्याकरण भगवत्कृत न हो तो फिर सिद्धहैमके अमुक सूत्रकी उपपत्ति नहीं बैठ सकती—

"इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति। 'सह्‌वह्‌चल्यपतेरिर्धाजकृसृजक्षमेः कीलिट् चवत्-डौ सासहिवावाहचाचलिपापति, ससिचाक्रिदधिधज्ञिनेर्माति सिद्धहैमसूत्रस्याऽन्यथानुपपत्तेः। शर्ववर्मपाणिन्योस्तु आदन्तोऽपधालोपिन क्ङिच १, आधृगमहनजनः किकिनौ लिट् चेति २।"

इसके बाद ३-२-२२ सूत्रपर इस प्रकार टिप्पणी दी है—

"कथं न ह्यच प्राग्भरतेष्वादि सेत्रादिनियापि शिक्षाविशेषाः।
कुमारशब्दः प्राच्यानामारिवनं मासमूचिवान्।
मैथुनं तु भिषक्तंत्रे वाचकं मधुसर्पिषः॥
इत्याद्यन्यथानुपपत्तेरिति बौद्धिकतिमिरोपलक्षणम्।"

इसके बाद ३-४-४२ सूत्र [स्तेयार्हत्यम्] पर फिर एक टिप्पणी दी है—

'इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति। अर्हतस्तोन्त च १, सहाद्वा २, सखिवणिग्दूताद्य. ३, स्तेनान्नलुक् चे ४, ति सिद्धहैमसूत्रान्यथानुपपत्तेः। पाणिन्यादौ त्वार्हत्यशब्दं प्रति सूत्राभावात्। कथं सारस्वतीकारमते तदाह्निः। ऐन्द्रानुसारादर्हतशब्दश्चेति पश्य।

फिर ३-४-४० सूत्र [रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य] पर एक टिप्पणी है। इसमे बौद्धों या दिगम्बरियोका खण्डन किया गया है—

"इदं शब्दानुशासनं भगवत्कर्तृकमेव भवति। रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य सूत्रस्य प्रक्षेपता स्फुटत्वात्। अतो बौटिकतिमिरोपलक्षणे—

देवनन्दिमतां मोहः प्रक्षेपरजसोऽपि चेत्।
चिराय भवता रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य जीव्यताम्॥
पद्योत्तरः कः स्वचानासीः प्रभेन्दोः नग्न यस्य यः [१]।
विस्मयो रमयेः शिष्या स तं चेद्देवनन्दिनम्॥ इति।

विक्रमाद्गुणयुगाब्दे ४०६ देवनन्दी, ततो गुणनन्दि-कुमारनंदि-लोकचंद्रानंतरं मुनिरैयुगाब्दे प्रथम-प्रभाचन्द्र इति बौटिके।"

इसी तरह ४-३-७ [वेत्तेः सिद्धसेनस्य] सूत्रपर लिखा है—

"वेत्तेः सिद्धसेनस्य, चतुष्टयं समंतभद्रस्य प्रक्षेपेऽर्वाच्यता स्फुटत्वात्, रात्रेः प्रभाचन्द्रस्य वदिति बौटिकतिमिरोपलक्षणे।"

अन्तमें ५-४-६५ [शश्छोमि] सूत्रपर एक टिप्पणी दी है जिसमें पाणिनि आदि वैयाकरणोंकी असर्वज्ञता सिद्ध की गई है—

"प्रयोगाशातना माभूदनादिसिद्धा हि प्रयोगाः। ज्ञानिना तु केवलं ते प्रकाश्यन्ते न तु क्रियन्ते इति। अतएव शश्छोटीति पाणिनीयसूत्र वर्गप्रथमेभ्यः शकारः स्वरयवरपरः शकाश्छकारं नवेति शर्ववर्मकर्तृककालापकसूत्रानुसारि। अत एव पाणिन्याद्योऽसर्वज्ञा इति सिद्धम्। अतएव तेषां तत्त्वत आप्तत्वाभाव इति सिद्धिः। नव्यः प्रभृतीनिसूत्रे निर्जरसैर्मुख्या यदि युक्तिस्ते मस्करिणैव भवत्कृतमास्ते न तु सारस्वत-वाग्देव्या। शश्छोटिप्रमुखैः सूत्रैस्तच्छ्रुप्रभृतिपदादर्शी कालापकाद्युपजीवी पाणिनिरजिनत्वं प्रति नाऽयक्तः।"

जहाँ सूत्रपाठ समाप्त होता है, वहाँ लिखा है:—

इत्यारयद्भगयानर्हन्स्तुत्वेन्द्रस्तु मुदं वहन्।
वादिवक्त्राब्जचन्द्रः स्वमदिराभिमुखोऽभवत्॥

आगे ग्रन्थ-प्रशस्ति देखिए—

"ओं नमः सकलकलाकौशलपेशलशीलशालिने पार्श्वाय पार्श्वपार्श्वाय। स्वस्ति तत्प्रवचनसुधासमुद्रलहरीस्नायिभ्यो महामुनिभ्यः। परिसमाप्तं च जैनेन्द्रं नाम महाव्याकरणम्। तदिदं श्रीवीरप्रभुर्सर्वोने पृच्छते प्रकाशयांचकार। सपादलक्षव्याख्यानकपरमतमदाश्वकारापहारपरममिति। नमः श्रीमच्चरमपरमेश्वरपादप्रसादविशदस्याह्लादनयसमुपासनगुणकोटिसत्कोटिकगणाविर्भूतचिद्विभूतिविमलचन्द्रचान्द्रकुलविपुलबृहत्तपोनिगमनिर्गतनागपुरीयस्वच्छगच्छसमुत्थमुख्यविपार्श्वचन्द्रशाखासुखाकृतसुकृतसुकृतिवररामेन्दूपाध्यायचारुचरणारविन्दरजोराजीमधुकरानुकरवाचकपदवीपवित्रितात्तयचन्द्रचरणेभ्यः समुर्धा रत्नचन्द्रम्। श्रीवीरात २२६७ विक्रमनृपात्तु सं० १७६७ फाल्गुनसितत्रयोदशी भौमे तक्षकाख्यपुरस्थेन रत्नर्षिणा दर्शनपावित्र्याय लिखित चिरं नंद्यात्।"

ग्रन्थके पहले पत्रकी खाली पीटपर भी कुछ टिप्पणियाँ हैं और उनमें अधिकांश वे ही हैं जो ऊपर दी जा चुकी हैं। शेष इस प्रकार हैं—

ओं नमः पार्श्वाय

जैनेन्द्रमैन्द्रत सिद्धहैमतो जयहेमवत्। प्रकृतन्यंतरद्रत्वान्नान्यतामेतुमर्हति॥ अथ।
इन्द्रश्चंद्र काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः। पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ हि शाब्दिकाः॥
इति (?) चतुर्थी तद्धितानुपलक्षणात्।

---

१ यह 'बौटिकमततिमिरोपलक्षण' नामका कोई ग्रन्थ है और सम्भवतः श्वाम्बरोंमें रत्नोंका ही बनाया हुआ है।

यदिन्द्राय जिनेन्द्रेण कौमारेऽपि निरूपितं । ऐन्द्रं जैनेन्द्रमिति तत्प्राहुः शब्दानुशासनं ॥

यदावश्यकनिर्युक्तिः—

पह तं अम्मापिअरो जाणित्ता अहियअट्ठवासं तु ।
कयकोउअलंकारं लेहायरिअस्स उवणिति ॥
सक्को अ तस्समक्खं भयवंतं आसणे निवेसित्ता ।
सद्दस्य लक्खणं पुच्छे वागरणं अवयवा इदं ॥ इति ॥

तदवयवाः केचन उपाध्यायेन गृहीताः । ततश्चैन्द्रं व्याकरणं संजातमिति हरिभद्रः ॥

यत्तु देवनन्दिबौटिकं पूज्यपाद

इतीच्छंतस्तद्गुरुकाः पूज्यपादस्य लक्षणं ।
द्विसंधानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ।

इति धनंजयकोपात्तदयुक्तं । नेति चेत्कथं जैनेन्द्रमिति । द्वादशस्वरमध्यमिति चेन्न इतरोपपदस्याभावात् । जैनकुमारसम्भववद्गतिरिति चेन्न । कुमारवदिद्रं प्रति श्लेषाभावात् थारीतिकतद्धितभावाच्च तर्हि

लक्ष्मीरात्यंतिकी यस्य निरवद्यावभासते । देवनंदितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयंभुवे ॥

का गतिरिति चेत् ।

लक्ष्मीरात्यंतिकीपद्यनुपद्मेशस्य कितरां । ऐन्द्रत्वयजि तत्त्वार्थे मोक्षमार्गस्य पद्यवत् ॥
मिबादयश्चेत्प्रथमं यदि हैमत्वपेक्ष्यते ।
कालापकादि न तथा पट्वैन्द्रं महते कृति. ॥

पूर्वत्र । मिप् वस् मस् १ सिप् थस् थ २ तिप् तस् झि ३ इड् वहि महि १ थस् आथां ध्वं २ त आताम् झङ् ३ इति ।

आख्यातरीति प्रति देवराजे मित्वस्मसो यः पितः रादितोदाः ।
जीवं प्रपन्नाहममात्य विश्वे तत्त्वादिमं स्वां कतिमात्मनाथं ॥

तर्हि सिद्धसेनादिविशेषोऽपि दुर्निवार इति चेन्न

जातामात्रोपि चिद्वीर्यं प्रत्यात्मशरणोऽसि यः ।
जनताका वराकीयं परात्मन् वीर तत्पुर ॥

इति बौटिकमततिमिरोपलक्षणस्य तुर्येऽवकाशे इन्द्र जिनेन्द्रौ प्रत्युत्तरिणौ यदतोऽटातद्धिततस्त्वमसिमिदिट् टारेयमद्वैन्द्र जैनेन्द्रं व्याकरणानां । सिद्धिमनेकांतादिच्छो अः × क × पाहं त्यतथारीते हैमार्गीकृतवर्मनुप्रक्षेपार्यविजेयचिरंजीया इति प्रसन्नचन्द्रोत्पले [?]

---

१ इसके बाद ४-३-७ सूत्रकी टिप्पणी जैसा ही लिखा है और फिर ३-४-४० सूत्रकी टिप्पणीके 'देवनन्दिनतां' आदि दो श्लोक दिये हैं ।

२ इसके बाद ५-४-६५ सूत्रकी टिप्पणी दी है ।

शीर्ण हो जायँ। ईंट पत्थरोंसे बने भौतिक कृतियोंको बचाने अथवा उनके उद्धारकी चिन्ताकी अपेक्षा इन सांस्कृतिक और बौद्धिक कृतियोंका बचाना, उनका उद्धार करना परम आवश्यक है। जो विद्वान् महानुभाव, धनी मानी श्रेष्ठीवर्ग तथा संस्थाएँ इस कार्यमें लगी हुई हैं वे देश, जाति तथा धर्मकी वास्तविक सेवा कर रही है। देशके स्वतन्त्र हो जाने पर युगयुग उपार्जित प्राचीन वाङ्मयकी रक्षाका भार मुख्यतया राज्यको ही वहन करना चाहिए, परन्तु सम्प्रति हमारे नेता इस ओर उदासीन हैं।

उपलब्ध जैन व्याकरण

जैन आचार्यों-द्वारा लिखे गये ६, ७ व्याकरण इस समय उपलब्ध हैं। उनमेंसे केवल तीन व्याकरण प्रमुख हैं—जैनेन्द्र, शाकटायन और सिद्धहैम। इनमें आचार्य देवनन्दी, अपर नाम पूज्यपाद, इतर नाम जिनेन्द्रबुद्धि द्वारा प्रोक्त जैनेन्द्र व्याकरण सबसे प्राचीन है।

इन प्रमुख तीन व्याकरणोंके ग्रन्थ भी अभी तक पूरे प्रकाशित नहीं हुए। सबसे अधिक हैम व्याकरणके ग्रन्थ प्रकाशमें आये हैं[1]। शाकटायन व्याकरण केवल चिन्तामणि नामक लघुवृत्ति सहित प्रकाशित हुआ है [परिशिष्टमें मूल गणपाठ, लिङ्गानुशासन तथा धातुपाठ भी छपे हैं]। सूत्रकारकी स्वोपज्ञ अमोघ महावृत्ति अभी तक लिखित रूपमें ही क्वचित् उपलब्ध होती है[2]। जैनेन्द्र व्याकरण भी तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके ६० वें सूत्र तक अभयनन्दी विरचित महावृत्ति सहित कुछ वर्ष पूर्व लाजरस कम्पनी काशीसे प्रकाशित हुआ था [अब वह भी दुर्लभ है]। यह प्रथम अवसर है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशीने इस भारी कमीको पूर्ण करनेका बीड़ा उठाया और वह उसे अभयनन्दीकी महावृत्ति सहित प्रकाशित कर रहा है।

जैनेन्द्रसे प्राचीन व्याकरण

आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनमें निम्न ६ पूर्ववर्ती आचार्योंका उल्लेख किया है—

१—गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् [१ । ४ । ३४]
२—कृवृषिमृजा यशोभद्रस्य [२ । १ । ९९]
३—राद् भूतबलेः [३ । ४ । ८३]
४—रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य [४ । ३ । १८०]
५—वेत्तेः सिद्धसेनस्य [५ । १ । ७]
६—चतुष्टयं समन्तभद्रस्य [५ । ४ । १४०]

इन छः आचार्योंमेंसे किसीका भी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। अनेक विद्वानोंको इन आचार्योंके व्याकरण-शास्त्र-प्रवक्तृत्वमें भी सन्देह है। जैसा कि जैन इतिहास-विशेषज्ञ श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' [पृष्ठ १२०] में लिखा था—

"इन छः आचार्योंमेंसे किसीका भी कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं है। परन्तु जान पड़ता है इनके अन्य ग्रन्थोंमें कुछ भिन्न तरहके शब्द प्रयोग किये गये होंगे और उन्हींको व्याकरण सिद्ध करनेके लिए ये सब सूत्र रचे गये हैं[3]।"

---

१ सम्प्रति हैम व्याकरणकी केवल लघुवृत्ति सुप्राप्य है, अन्य सभी मुद्रित ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो गये। इनका पुनर्मुद्रण अत्यन्त आवश्यक है।

२ यह महावृत्ति भी शीघ्र ही भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे ही प्रकाशित होगी।

३ यद्यपि माननीय प्रेमीजीने इस विचारकी निस्सारताको समझकर अपने ग्रन्थके द्वितीय संस्करणमें उक्त अंश निकाल दिया, पुनरपि कितनोंकी ऐसी धारणा अभी भी है। उनके विचारोंके प्रतिनिधि रूपमें उक्त पंक्तियाँ उद्धृत की हैं।

पं० फूलचन्द्र सि० शा० ने भी सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामे लगभग इसी मतका प्रतिपादन किया है।[1]

पाणिनीय व्याकरणमे स्मृत शाकल्य आपिशलि शाकटायन आदि १० प्राचीन शाब्दिकोंके विषयमे भी अनेक विद्वानोंकी ऐसी ही धारणा है।

हमारे विचारमे इस प्रकारकी धारणाओंका मूलकारण भारतीय प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके विषयमे पाश्चात्य विद्वानों-द्वारा समुत्पादित अविश्वासकी भावना और अनर्गल कल्पनाएँ ही है।

हम अपने 'संस्कृत व्याकरण-शास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमे पाणिनिसे पूर्ववर्ती आपिशलि काशकृत्स्न और भागुरि आदि अनेक शाब्दिक आचार्योंके सूत्र, धातु और गणके वचन उद्धृत[2] करके सिद्ध कर चुके है कि पाणिनिसे प्राचीन आचार्योंके भी पाणिनिके समान ही सर्वांगपूर्ण व्याकरण थे।[3] अब तो काशकृत्स्न व्याकरणका समग्र धातुपाठ चन्नवीर कवि कृत कन्नड टीकासहित प्रकाशमे आ गया है। उसमे काशकृत्स्न शब्दानुशासनके लगभग १४० सूत्र भी उपलब्ध हो गये हैं।[4] ये [धातुपाठ तथा सूत्र] न केवल उनके सर्वाङ्गपूर्ण होनेके, अपितु पाणिनीय व्याकरणसे अधिक विस्तृत होनेके भी प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादके शब्दानुशासनमे उद्धृत प्राचीन वैयाकरणोंके विषयमे भी हमारी यही धारणा है कि उन आचार्योंने भी अपने-अपने शब्दानुशासन रचे थे। उन्हींके शब्दानुशासनोंसे आचार्य पूज्यपादने उनके मतोंका संग्रह किया। इसके विपरीत कल्पना करना पूज्यपाद जैसे प्रामाणिक आचार्यको मिथ्यावादी कहना है [आः शान्तं पापम्]। जब हमने पाणिनिसे पूर्ववर्ती अनेक शाब्दिक आचार्योंके बहुतसे वचन प्राचीन ग्रन्थोमे ढूँढ लिये, यहाँ तक कि आद्य शब्दतन्त्र-प्रणेता इन्द्रके भी 'अथ वर्णसमूहः', 'अर्थः पदम्' दो सूत्र उपलब्ध कर लिये,[5] ऐसी अवस्थामे हमे पूर्ण निश्चय है कि यदि जैन वाङ्मयका सावधानता पूर्वक अवगाहन किया जाय तो इन आचार्योंके शब्दानुशासनोंके सूत्र भी अवश्य उपलब्ध हो जायँगे।

आचार्य सिद्धसेनका व्याकरण-प्रवक्तृत्व—आचार्य सिद्धसेनके व्याकरणविषयक मतका उल्लेख आचार्य पूज्यपादने तो किया ही है; उसके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते है जिनसे उनके व्याकरण प्रवक्ता होने की पुष्टि होती है। यथा—

---

१ सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ५१।

२. देखो 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' के तत्तत् प्रकरण।

३ श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने "पाणिनि कालीन भारतवर्ष [हिन्दी संस्करण] पृष्ठ ५ पं० २२, २३ पर पाणिनिपूर्ववर्ती व्याकरणोंको बिना किसी प्रमाणके एकाङ्गी लिखा है। पृष्ठ २६ पं० ६ पर गणपाठकी सामग्रीको पाणिनिकी मौलिक देन बताया है। परन्तु पृष्ठ ३१ पं० १६, १६ में भर्तृहरिके प्रमाणसे पाणिनि-पूर्ववर्ती आपिशलिके गणपाठकी सत्ता भी स्वीकार की है। डा० कीलहार्नका भर्तृहरि कृत महाभाष्य टीका सबधी लेख हमे सुलभ नही हुआ। अतः नही कह सकते कि उसमें आपिशल गणपाठका उल्लेख था वा नहीं। परन्तु हमने अपनी भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीकाकी प्रतिलिपिके आधारसे 'सं० व्या० शास्त्रका इतिहास' पृष्ठ १०२ पर आपिशल गणपाठका उल्लेख किया है। तथा इसी ग्रन्थके पृष्ठ २७४–२७८ पर महाभाष्यटीकाके इतिहासोपयोगी सभी वचन एकत्रित कर दिये है।

४. इन सूत्रोंका प्रकाशन हम शीघ्र ही कर रहे हैं।

५. सं० व्या० शा० का इतिहास पृष्ठ ६२। महाभाष्य मराठी अनुवाद प्रस्तावना खण्ड [भाग ७, सन् १९५४] पृष्ठ १२०, १२६ पर श्री पं० काशीनाथ अभ्यङ्करजीने हमारे द्वारा प्रथमतः [सन् १९५१] प्रकाशित दोनो सूत्रोंका उल्लेख किया है। दूसरे सूत्रका पाठ भी हमारे द्वारा परिष्कृत ही स्वीकार किया है। लेखकने अन्यत्र भी हमारे ग्रन्थकी पर्याप्त दुर्लभ सामग्री स्वीकार की है, परन्तु हमारे ग्रन्थका कहीं निर्देश नहीं किया।

१. अभयनन्दी जैनेन्द्र १।४।१६ की वृत्तिमें एक उदाहरण देता है—'उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः' अर्थात् सब वैयाकरण सिद्धसेनसे हीन है।

इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि अभयनन्दी आचार्य सिद्धसेनको न केवल वैयाकरण ही मानता है, अपितु उस कालतक प्रसिद्ध वैयाकरणोंमें उसे सर्वश्रेष्ठ कहता है।

जैनेन्द्र व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दीने जिस शब्दानुशासनका प्रवचन किया वह लोकमें जैनेन्द्र-नामसे विख्यात है।

इस शब्दानुशासनका जैनेन्द्र नाम क्यों पड़ा, आचार्य पूज्यपादका काल कौन सा है, जैनेन्द्र व्याकरण का मूल सूत्रपाठ कौन सा है, इसपर कितने व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये और आचार्य पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरणके अतिरिक्त और कितने ग्रन्थ लिखे इत्यादि विषयोंपर हम यहाँ विशेष चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि इन विषयोंपर माननीय श्री प० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' ग्रन्थमें विस्तारसे लिखा है [यही अंश पुनः परिष्कृत करके इस ग्रन्थके आदिमें पृष्ठ१७-३७ तक छपा है]। पश्चात् हमने भी अपने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्रका इतिहास' ग्रन्थमें विस्तारसे विवेचना की है[1] [हमने श्री प्रेमीजीके ग्रन्थसे पर्याप्त सामग्री ली है]। इसलिए हम यहाँ केवल उतना ही अंश लिखेंगे, जो उक्त दोनों लेखोंके पश्चात् परिज्ञात हुआ है।

जैनेन्द्र नामका कारण—इस शब्दानुशासनको सर्वत्र जैनेन्द्र नामसे स्मरण किया है। इसके नाम करणके सम्बन्धमें श्री प्रेमीजीने जैनग्रन्थोंसे जो कथाएँ उद्धृत की हैं, वे प्राय. ऐतिहासिक तत्त्वरहित हैं। श्री प्रेमीजी भी उक्त कथाओंसे सन्तुष्ट नहीं हैं। हमारे विचारमें इस नामकरणका निम्न कारण है—

आचार्य देवनन्दीका एक नाम जिनेन्द्रबुद्धि भी था जैसा कि श्रवणबेलगोलके ४० वें शिलालेखमें लिखा है—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ॥२॥
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥३॥

अर्थात्—आचार्यका प्रथम नाम देवनन्दी था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

जिस प्रकार 'पदेषु पदैकदेशान्' नियम अथवा 'विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लं वक्तव्यम्' [४।१।१३६] वार्तिकके अनुसार प्राचीन ग्रन्थकार देव[2] अथवा नन्दी[3] नामसे देवनन्दीको स्मरण करते हैं, उसी प्रकार जिनेन्द्र एक देश भी जिनेन्द्रबुद्धि अपरनाम देवनन्दीका वाचक है। अतः 'जैनेन्द्र' की व्युत्पत्ति होगी—**जिनेन्द्रेण प्रोक्तं जैनेन्द्रम्**। अर्थात् जिनेन्द्र=जिनेन्द्रबुद्धि=देवनन्दी द्वारा प्रोक्त व्याकरण।

आचार्य देवनन्दीका काल और उसका निश्चायक नूतन प्रमाण—आचार्य देवनन्दीके कालके विषयमें ऐतिहासिकोंका परस्पर वैमत्य है। यथा—

१—कीथ अपने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' में लिखता है—

The जैनेन्द्र व्याकरण ascribed to the Jinendra realy written by पूज्यपाद देवनन्दी perhaps was Composed C. 678. P. 432.

---

१ देखो पृष्ठ २२३-२२८ तथा ४२१-४३१।

२ जिनसेन तथा वादिराज सूरि 'देव' नामसे स्मरण करते हैं। देखो श्री प्रेमीजीका लेख, यही ग्रन्थ, पृष्ठ १६, टि० ३,४।

३ इसके उद्धरण आगे लिङ्गानुशासनके प्रकरणमें देंगे।

अर्थात्—जैनेन्द्र व्याकरण सन् ६७८ [=७३५ वि०] के समीप लिखा गया।

२—श्री प्रेमीजीने अनेक प्रमाण उपस्थित करके देवनन्दीका काल सामान्यतया विक्रमकी षष्ठ शताब्दी निश्चित किया है। [देखो इसी ग्रन्थके साथ मुद्रित उनका लेख]।

३—श्री आई० एस० पवतेने अपने 'स्ट्रक्चर आफ दी अष्टाध्यायी' मे लिखा है—

'महामहोपाध्याय नरसिंहाचार्यने कर्णाटक कवि चरितके प्रथम भागके प्रथम संस्करणमे पूज्यपादको ईस्वी सन् ४७० [=५२७ वि०] मे बताया है और दूसरे संस्करणमे सन् ६०० [=६५७ वि०] का। परन्तु मुझे २१।१२।१९२२ को लिखे एक पत्रमे लिखा है कि पूज्यपाद ४५० ई० [=५०७ वि०] के आसपास है'[1]।

४—हमने अपने व्याकरण शास्त्रके इतिहासमे श्री प्रेमीजी द्वारा उद्धृत प्रमाणोके आधारपर आचार्य पूज्यपादका काल विक्रमकी षष्ठ शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना था। अब हम उसे ठीक नहीं समझते।

विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्व—अब हमे जो नूतन प्रमाण उपलब्ध हुआ है, उसके अनुसार आचार्य पूज्यपाद विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्ववर्ती है, यह निश्चित होता है।

कात्यायनने एक विशिष्ट प्रकारके प्रयोगके लिए नियम बनाया है—परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये [महा० ३।२।१११]। अर्थात्—ऐसी घटना जो लोकविज्ञात हो, प्रयोक्ताने उसे न देखा हो, परन्तु प्रयोक्ताके दर्शनका विषय सम्भव हो [अर्थात् वह घटना प्रयोक्ताके जीवन-कालमे घटी हो] उस घटनाको कहनेके लिए भूतकालमे लङ् प्रत्यय होता है।

पतञ्जलिने महाभाष्यमे इस वार्तिकपर उदाहरण दिये है—अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्। वार्तिकके नियमानुसार साकेत[=अयोध्या] और माध्यमिका [=चित्तौड़ समीपवर्ती नगरी ग्राम] पर वह लोकप्रसिद्ध आक्रमण पतञ्जलिके जीवनकालमे हुआ था। प्रायः सभी ऐतिहासिक इस विषयमे सहमत है।

इसी प्रकारका नियम पाणिनिसे उत्तरवर्ती प्रायः सभी व्याकरण-ग्रन्थोमे उपलब्ध होता है और उसका उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार प्राचीन उदाहरणोके साथ साथ स्वसमकालिक किन्हीं महती घटनाओका भी प्रायः निर्देश करते है। यथा—

अजयद् जर्तो हूणान्। चान्द्र[2]
अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्। जैनेन्द्र० [२।२।९२]
अदहदमोघवर्षोऽरातीन्। शाकटायन [४।३।२०८]
अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तिम्। हैम० [५।२।८]

इनमे अन्तिम दो उदाहरण सर्वथा स्पष्ट है। आचार्य पाल्यकीर्ति [शाकटायन] महाराज अमोघवर्ष और आचार्य हेमचन्द्र महाराज सिद्धराजके कालमे विद्यमान थे। इसमे किसीको विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु चान्द्रके जर्त और जैनेन्द्रके महेन्द्र नामक व्यक्तिको इतिहासमे प्रत्यक्ष न पाकर पाश्चात्य मतानुयायी विद्वानोने जर्तको गुप्त और महेन्द्रको मेनेन्द्र–मिनण्टर बनाकर अनर्गल कल्पनाएँ की हैं। इस प्रकारकी कल्पनाओंसे इतिहास नष्ट हो जाता है। हमारे विचारमे जैनेन्द्रका 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' पाठ सर्वथा ठीक है, उसमे किञ्चिन्मात्र भ्रान्तिकी सम्भावना नहीं है। आचार्य पूज्यपादके कालकी यह ऐतिहासिक घटना इतिहासमे सुरक्षित है।

१. देखो, स्ट्रक्चर आफ दी अष्टाध्यायी, भूमिका, पृष्ठ १२।

२. यद्यपि ये उदाहरण क्रमशः धर्मदास तथा अभयनन्दीकी वृत्तिसे दिये है, परन्तु इन वृत्तिकारोंने ये उदाहरण चन्द्र और पूज्यपादकी स्वोपज्ञ वृत्तिसे लिये है।

महेन्द्र और उसका मथुरा-विजय—जैनेन्द्रमे स्मृत महेन्द्र गुप्तवंशीय कुमारगुप्त है। इसका पूरा नाम महेन्द्रकुमार है। जैनेन्द्रके 'विनापि निमित्त पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्' [४।१।१३६] वार्तिक अथवा 'पदेपु पदैकदेशान्' नियमके अनुसार उसीको महेन्द्र अथवा कुमार कहते थे। उसके सिक्कोपर श्री महेन्द्र, महेन्द्रसिंह, महेन्द्रवर्मा, महेन्द्रकुमार आदि कई नाम उपलब्ध होते है।[1]

तिब्बतीय ग्रन्थ चन्द्रगर्भ सूत्रमे लिखा है—"यवनों पल्हिको शकुनो [कुशनो] ने मिलकर तीन लाख सेनासे महेन्द्रके राज्यपर आक्रमण किया। गङ्गाके उत्तरप्रदेश जीत लिये। महेन्द्रसेनके युवा कुमारने दो लाख सेना लेकर उनपर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। लौटनेपर पिताने उसका अभिषेक कर दिया।"[2]

चन्द्रगर्भ सूत्रका महेन्द्र निश्चय ही महाराज कुमारगुप्त है और उसका युवराज स्कन्दगुप्त। मञ्जु श्री मूलकल्प श्लोक ६४६ मे श्री महेन्द्र और उसके सकारादि पुत्र [स्कन्दगुप्त] को स्मरण किया है।[3]

चन्द्रगर्भ-सूत्रमे लिखित घटनाकी जैनेन्द्रके उदाहरणमे उल्लिखित घटनाके साथ तुलना करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके उदाहरणमे इसी महत्त्वपूर्ण घटनाका सकेत है। उक्त उदाहरणसे यह भी विदित होता है कि विदेशी आकान्ताओने गङ्गाके आस पासका प्रदेश जीतकर मथुराको अपना केन्द्र बनाया था। इस कारण महेन्द्रकी सेनाने मथुराका ही घेरा डाला था।

महाभाष्य, शाकटायन तथा सिद्ध हैम व्याकरणोमे निर्दिष्ट उदाहरणोके प्रकाशमे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त अपर नाम महेन्द्र कुमारके समकालिक है। पाश्चात्यमतानुसार कुमारगुप्तका काल वि० स० ४७०–५१२ [=४१३–४५५ ई०] तक था। अतः पूज्यपादका काल अधिक-से अधिक विक्रमकी ५ वीं शतीके चतुर्थ चरणसे षष्ठ शताब्दीके प्रथम चरण तक माना जा सकता है, इसके पश्चात् नहीं। भारतीय ऐतिहासिक काल-गणनानुसार गुप्तकाल इससे कुछ शताब्दी पूर्व ठहरता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' उदाहरणमे महेन्द्रको मेनेन्द्र=मिनण्डर समझना भारी भ्रम है।

जैनेन्द्र शब्दानुशासन

अब हम जैनेन्द्र व्याकरणके सम्बन्धमे सक्षेपसे लिखते है—

जैनेन्द्र शब्दानुशासनका परिमाण—जैनेन्द्र शब्दानुशासनमे ५ अध्याय, २० पाद और ३०६७ सूत्र [प्रत्याहार सूत्रोके विना] है।

जैनेन्द्रका प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ—आचार्य पूज्यपादके समय निश्चय ही पाणिनीय और चान्द्र शब्दानुशासन विद्यमान थे। पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनकी रचना पाणिनीय शब्दानुशासनके आधार पर की है, यह पाणिनीय चान्द्र तथा जैनेन्द्र शब्दानुशासनोकी सूत्र-रचना और प्रकरण विन्यासकी तुलनामे स्पष्ट है[4]। कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि पूज्यपादने चान्द्र शब्दानुशासनसे भी कुछ सहायता ली है।

जैनेन्द्रमे प्रत्याहार सूत्रोंका सद्भाव—अभयनन्दीकी महावृत्तिके साथ 'अ इ उ ण्' आदि प्रत्याहार सूत्र उपलब्ध नहीं होते, परन्तु जैनेन्द्र शब्दानुशासनके मूल पाठमे वे अवश्य विद्यमान थे। इसके निम्न हेतु हैं।

क—जैनेन्द्र सूत्रपाठमे जहाँ अनेक वर्णोंका निर्देश करना होता है, वहाँ सर्वत्र पाणिनीय अनुशासन के समान प्रत्याहारोंका प्रयोग किया है। यथा—अच् [१।१।५६], इक् [१।१।१७], यण् [१।१।४५],

---

१. श्री प० भगवद्दत्तजी कृत भारतवर्ष का इतिहास [स० २००३], पृष्ठ ३५८।

२. वही, पृष्ठ ३५४।

३ महेन्द्रनृपवरो मुख्य. सकाराद्यो मत. परम्।

४. जैनेन्द्र और पाणिनीय सूत्रोंकी तुलनात्मक सूची इस ग्रन्थके अन्तमे छपी है।

ऐच् [१ । १ । १५], एङ् [१ । १ । ७०] । ये प्रत्याहार पाणिनीय प्रत्याहारोंके समान हैं । किस प्रत्याहारमें कितने वर्णोंका निर्देश समझना चाहिए अथवा प्रत्याहार कैसे बनाया जाता है, इसका नियम प्रदर्शक "अन्त्येनेतादिः" सूत्र जैनेन्द्र शब्दानुशासन [१ । १ । ७३] में विद्यमान है। इस सूत्र द्वारा अच् प्रत्याहारोंका परिज्ञान तभी सम्भव है, जब ग्रन्थके आरम्भमें पाणिनीय ग्रन्थवत् प्रत्याहार सूत्र पठित हों। अन्यथा 'अन्त्येनेतादिः' सूत्र तथा इसकी वृत्ति कभी समझमें नहीं आ सकती।

ख—जैनेन्द्र १ । १ । ४८ पर अभयनन्दी लिखता है—'रन्त इति लणो लकारेण प्रश्लेषनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम्।' अर्थात् 'रन्त' इस निर्देशमें लण् सूत्रके लकारमें पठित अकारसे र प्रत्याहार लिया गया है। "लण्" यह पाणिनिके समान प्रत्याहार सूत्र ही है।

ग—अभयनन्दी १ । १ । ३ सूत्रकी वृत्तिके अनन्तर उदाहरण देता है—'अ इ उ ण्—णकार'। अर्थात् 'अ इ उ ण्' सूत्रमें 'ण्' इत् संज्ञक है।' यहाँ भी पाणिनिके समान 'अ इ उ ण्' सूत्रको उद्धृत किया है।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र व्याकरणके आरम्भमें भी प्रत्याहार सूत्र थे। हमने प्रत्याहार-सूत्रोंके विषयमें इस महावृत्तिके सम्पादक महोदयसे पूछा था कि किसी हस्तलेखमें ये सूत्र मिलते हैं, अथवा नहीं। श्री सम्पादकजीने २६ । ६ । ५६ के उत्तरमें लिखा—"प्रत्याहार सूत्रोंका पाठ किसी भी हस्तलिखित प्रतिमें उपलब्ध नहीं है। मुद्रित जैनेन्द्र पञ्चाध्यायी तथा शब्दार्णव चन्द्रिकामें कुछ हेर फेरके साथ पाणिनीय व्याकरण सदृश [अ इ उ ण् आदि] दो प्रकारके सूत्रपाठ मिलते हैं।"

हमारा विचार है कि प्रत्याहार सूत्रोंकी व्याख्याकी आवश्यकता न समझकर[1] अभयनन्दीने इनकी व्याख्या नहीं की। अव्याख्यात होनेके कारण महावृत्तिके हस्तलेखोंमें इनका अभाव हो गया। अथवा यह भी सम्भव है—जैसे अन्यत्र कई स्थानों पर सूत्रोंकी वृत्ति उपलब्ध नहीं होती,[2] उसी प्रकार इन प्रत्याहार-सूत्रोंकी भी व्याख्या नष्ट हो गई और व्याख्याके न रहने पर महावृत्तिके हस्तलेखोंमें सूत्र पाठका भी अभाव हो गया। जो कुछ भी कारण उनके अभावका हो, परन्तु इतना निस्सन्दिग्ध है कि अभयनन्दी जैनेन्द्र प्रत्याहार-सूत्रोंसे परिचित था।

सूत्रपाठके पाठान्तर—महावृत्तिके साथ जो जैनेन्द्रसूत्र पाठ छपा है उसमें तथा अभयनन्दीकी व्याख्यामें उद्धृत सूत्र पाठमें कतिपय पाठान्तर उपलब्ध होते हैं। कई पाठान्तर अभयनन्दीकी वृत्तिके गम्भीर अनुशीलनसे विदित होते हैं, यथा—

क—अभयनन्दी ने १।१।८५ की व्याख्यामें ५।१।७९ का पाठ उद्धृत किया है—'वदव्रज' इत्यादिनैप्। परन्तु ५।१।७९ पर सूत्रपाठ छपा है—'व्रजवदल्वोऽतः' [इस पर वृत्ति अप्राप्त है]।

ख—जैनेन्द्र १।२।११४ सूत्रका मुद्रित पाठ है—साधकतमं करणम्। इसकी व्याख्यामें अभयनन्दी लिखता है—'पुंलिङ्गनिर्देशः किमर्थः ? परिक्रयणम् [१।२।११२] इत्यनवकाशया संप्रदानसंज्ञया बाधा मा भूत्।' अर्थात्—पुलिंग निर्देश क्यों किया ...।

इस सूत्र में दो पद हैं। दोनों ही नपुसक लिङ्ग पढ़े हैं। ऐसी अवस्थामें न तो शंका ही उपपन्न होती है और न उसका समाधान ही। क्योंकि 'नव्याध्य आसम्' [१।२।६१] सूत्रानुसार नपुसक लिंगसे निर्दिष्ट संज्ञा अनवकाश संज्ञासे बाध होता है। अतः 'करण' संज्ञाका नपुसकसे निर्देश होनेके कारण अनवकाश सम्प्रदान संज्ञा [१।२।११२] से निश्चय ही बाध होगा। इस कारण प्रतीत होता है अभयनन्दीका सूत्रपाठ "साधकतमं करणः" था, जो पीछेसे विकृत हो गया। 'करणः' पुल्लिंग निर्देश होनेपर ही

---

१. शाकटायनकी चिन्तामणि वृत्तिमें भी प्रत्याहार सूत्र व्याख्यात नहीं है।

२. पृष्ठ २८८, २९७, ३२८।

'पुल्लिंगनिर्देशः किमर्थः' यह शका तथा उसका समाधान उत्पन्न हो सकता है। पुंल्लिग निर्देश [करण.] होनेपर अनवकाश सप्रदान सज्ञासे भी करण सज्ञाकी बाधा नहीं होगी और 'शतेन परिक्रीतः' प्रयोग भी उपपन्न हो जाएगा।

जैनेन्द्रमें एक विवेचनीय स्थल—जैनेन्द्र व्याकरण लौकिक भाषाका व्याकरण है। इसलिए उसमे स्वर और वैदिक प्रक्रियाका अश छोड़ दिया है। प्रथमाध्यायके प्रथम पादमे आचार्यने तीन सूत्र पढे हैं—**कौवैतौ, उञः, ऊम्** [२४-२६] [यहाँ शुद्ध पाठ 'ॐ' चाहिए] इन सूत्रोंके पाठ तथा इनकी वृत्तिमे प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग विषय लोकभाषा है। परन्तु इनका वास्तविक प्रतिपाद्य विषय वैदिक [पदपाठ] है। यह बात पाणिनिके '**संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे, उञः ॐ**' [१।१।१६-१७] सूत्रोमे स्पष्ट है। पाणिनिने प्रथम सूत्रमे वैदिक सम्प्रदायके पारिभाषिक 'अनार्ष इति' का निर्देश किया है [इसकी अनुवृत्ति अगले सूत्रमे भी जाती है]। पदकारो द्वारा पदपाठमे प्रगृह्य आदि सज्ञाका निदर्शन करानेके लिए मन्त्रसे बहिर्भूत जिस 'इति' शब्दका प्रयोग किया जाता है वह अनार्ष इतिकरण कहाता है। इसीको उपस्थित भी कहते हैं। इस शब्दका व्यवहार भी पाणिनिने ६।१।१२९ मे किया है। ये सज्ञाएँ प्रातिशाख्यग्रन्थोमे प्रसिद्ध हैं। पदपाठमे अनार्ष इतिकरणका प्रयोग कहाँ करना चाहिए इसका प्रतिपादन प्रातिशाख्योमे विस्तारसे किया है। ऋग्वेदके पदपाठमे शाकल्यने प्रगृह्य सज्ञक [जैनेन्द्रके अनुसार 'दि' सज्ञक] पदसे परे सर्वत्र इति शब्दका प्रयोग किया है। यथा—**अग्नि इति** [ऋ० ५।४५।४], **मेथेते इति** [ऋ० १।११३।३] **युष्मे इति** [ऋ० ४।१०।८], **वायो इति** [ऋ० १।२।१], **ॐ इति** [ऋ० १।२४।८], **गौरी इति** [ऋ० ६।१२।३]। पाणिनिने शाकल्यके मतका अनुवाद अपने शास्त्रमे किया है। इससे स्पष्ट है कि जैनेन्द्रके उक्त सूत्रो-द्वारा प्रतिपाद्य विषय भी वैदिक नियमोके अन्तर्गत आता है। इसलिए आचार्यको चाहिए था कि उसने जैसे पाणिनिके "**शे**" [१।१।१३] और "**इदूतौ च सप्तमी**" [१।१।१८] सूत्रोके प्रतिपाद्य विषयके लिए सूत्र रचना नहीं की, वैसे ही इनका भी समावेश न करता। समावेश करनेसे विदित होता है कि आचार्यने इन सूत्रोके प्रतिपाद्य विषयको लौकिक समझा है। परन्तु लोकमे **वाया इति ऊँ इति** ऐसे प्रयोग उपलब्ध नहीं हैं।

भूलका कारण—इस भूलका कारण भगवान् पतञ्जलिकी पाणिनीय उञः ऊँ [१ १ । १७] सूत्रकी व्याख्या है। पतञ्जलिने शाकल्य ग्रहणको विकल्पार्थ मानकर और उञः ऊँ का योग-विभाग करके '**वायो इति वायविति, वाय इति, ऊँ इति उ इति विति**' इतने काल्पनिक रूप बनाये हैं। पतञ्जलिने भी पारिभाषिक 'अनार्ष इति' को '**लौकिक इति**' मान लिया, ऐसा प्रतीत होता है, परतु है यह समस्त प्राचीन वैदिक साम्प्रदायके विपरीत।[1] इस विषयमें भाष्यकार पतञ्जलिका अनुकरण करनेसे ही जैनेन्द्रमें यह भूल हुई प्रतीत होती है।

जैनेन्द्रके सम्बन्धमें एक भ्रम—जैनेन्द्र शब्दानुशासनके सम्बन्धमे भ्रम है कि जैनेन्द्र ही प्रथम व्याकरण है जिसमे एकशेष प्रकरण नहीं है। इसका कारण महावृत्तिमे निर्दिष्ट '**देवोपज्ञमनेकशेष व्याकरणम्**' [१।४।९७] उदाहरण है। हमने स० व्या० शास्त्रका इतिहास'मे [पृष्ठ ४२८] इस भ्रमका निराकरण किया है। जैनेन्द्रसे प्राचीन चान्द्रमे भी एकशेष प्रकरण नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि और जैनेन्द्र शब्दानुशासनका पौर्वापर्य—आचार्य पूज्यपादने तत्त्वार्थ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि नामक व्याख्यामे कहीं पाणिनीय शब्दानुशासनके और कहीं स्वरचित शब्दानुशासनके सूत्र यत्र तत्र उद्धृत किये हैं। इससे विदित होता है कि जैनेन्द्र शब्दानुशासनकी रचना आचार्यने सर्वार्थसिद्धिसे पूर्व की थी।

---

१ इसकी विशद विवेचनाके लिए देखो हमारे द्वारा सम्पादित 'अष्टाध्यायीप्रकाशिका' का 'उञ ऊँ' [१ । १ । १७] सूत्र।

स्वनिर्मित 'का' संज्ञाका निर्देश किया है। इससे भी उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है [सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० ...]

जैनेन्द्र शब्दानुशासनके खिल[1] पाठ

वैयाकरण वाङ्मयमें शब्दानुशासन पद केवल सूत्रपाठके लिए प्रयुक्त होता है। सूत्रपाठको लघु बनानेके लिए उससे सम्बद्ध विस्तृत विषयोंको सूत्रकार जिन ग्रन्थोंमें संगृहीत करते हैं वे शब्दानुशासनके खिल अथवा परिशिष्ट कहाते हैं। प्रायः प्रत्येक शब्दानुशासनके धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन ये चार खिल होते हैं। इन्हें मिलाकर व्याकरणकी पञ्चपाठी बनती है। जैनेन्द्र व्याकरण के भी ये चार खिल थे [उणादि और लिङ्गानुशासन उपलब्ध नहीं है]।

धातुपाठ—आचार्य देवनन्दी प्रोक्त धातुपाठका मूल ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया। गुणनन्दी प्रोक्त शब्दार्णव व्याकरण [जैनेन्द्रका परिवर्धित संस्करण] का चन्द्रिका टीकासहित जो संस्करण काशीसे छपा है, उसके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ भी मुद्रित है। वह धातुपाठ जिनेन्द्र [पूज्यपाद] प्रोक्त मूल रूपमें है अथवा शब्दार्णवके समान परिवर्धित है, यह हम नहीं कह सकते। अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र धातुपाठके अनेक सूत्र[2] उद्धृत हैं उनकी मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठकी तुलनासे कुछ परिणाम निकाला जा सकता है। परन्तु सम्प्रति मेरे पास मुद्रित जैनेन्द्र धातुपाठ नहीं है। अतः मैं इसके निर्णयमें इस समय असमर्थ हूँ।

मैं इसी वर्ष ६ अगस्तको काशीमें भारतीय ज्ञानपीठके व्यवस्थापक तथा महावृत्तिके सम्पादक महोदयोंसे मिला था [यह मेरा प्रथम मिलन था] और उन्हें ग्रन्थके अन्तमें जैनेन्द्र धातुपाठ छापनेका सुझाव दिया था। दोनों महानुभावोंने बड़ी सहृदयतासे मेरे सुझावको स्वीकार किया और वह इस ग्रन्थके अन्तमें दिया जा रहा है [अभी छपा मेरे पास नहीं पहुँचा]।

धातुपारायण—आचार्य हेमचन्द्रने स्वीय लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें पृष्ठ १३२ पं० २० पर नन्दिधातुपारायण तथा पृष्ठ १३३ पं० २३ पर नन्दिपारायण उद्धृत किया है। इस नामके साथ हैमधातुपारायण नामकी तुलनासे प्रतीत होता है कि यह आचार्य देवनन्दीका अपने धातुपाठ पर स्वोपज्ञ विवरण रहा होगा।

गणपाठ—जैनेन्द्र गणपाठ अभयनन्दीकी महावृत्तिमें यथास्थान सन्निविष्ट है, पृथक् छपा नहीं मिलता।

उणादिसूत्र—जैनेन्द्र उणादिसूत्रका कोई हस्तलेख अभी तक हमारी दृष्टिमें नहीं आया। महावृत्तिके सम्पादकजीसे भी इसके विषयमें पूछा था। उन्होंने २६।६।५६ के पत्रमें लिखा—"उणादि सूत्र तथा परिभाषाओंका भी संकलन कहीं नहीं उपलब्ध हो सका। लिङ्गानुशासन भी जैनेन्द्रका अनुपलब्ध ही है।"

अभयनन्दीकी महावृत्तिमें अनेक उणादि सूत्र उद्धृत हैं। कुछ प्राचीन पञ्चपादीसे पूर्णतया मिलते हैं, कुछमें पाठान्तर है। अनेक सूत्र ऐसे भी हैं जिनमें प्रत्यक्ष जैनेन्द्र संज्ञाओंका प्रयोग हुआ है। इसलिए यह निश्चित है कि जैनेन्द्र प्रोक्त उणादि सूत्र भी थे। उदाहरणके लिए हम कुछ सूत्र उद्धृत करते हैं। यथा—

१ काशिका १।२।२ में खिल शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त है।

२ प्राचीन परम्परानुसार 'भू सत्तायाम्' एध वृद्धौ' आदि वाक्य सूत्र माने जाते हैं। द्रष्टव्य-अस्मत्सम्पादित क्षीरतरङ्गिणी, पृष्ठ १, टि० २।

१—तनोतेर्डउः सन्वच्च । पृष्ठ ३ ।
२—अस् सर्वधुभ्यः । पृष्ठ १७ ।
३—कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् । पृष्ठ ११८ ।
४—वृतृवदिहनिकमिकपिभ्यः सः । पृष्ठ ११८ ।
५—अण्डो जृकुसृवृडः ।[1] पृष्ठ ११९ ।
६—गमेरिन् । पृष्ठ ११९ ।
७—आङि णित् । पृष्ठ ११९ ।
८—भुवश्च । पृष्ठ ११९ ।

जैनेन्द्र उणादि सूत्रोंका आधार—जिस प्रकार आचार्य पूज्यपादने अपने शब्दानुशासनके प्रवचनमें पाणिनीय शब्दानुशासनका प्रधान आश्रय लिया, उसी प्रकार उणादि सूत्रोंके प्रवचनमें भी निश्चय ही किसी प्राचीन उणादिको मुख्य आधार बनाया होगा। जैनेन्द्र उणादि पाठके उपलब्ध न होनेसे यद्यपि हम निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि आचार्यने किस प्राचीन उणादि पाठको मुख्यता दी, पुनरपि हमारा अनुमान इस प्रकार है—

पाणिनीय सम्प्रदायसे सबद्ध मुख्यतया दो प्रकारके उणादि पाठ उपलब्ध होते हैं। एक है पञ्चपादी और दूसरा दशपादी।[2] पञ्चपादी-पाठ भी रामायण महाभारत आदि ग्रन्थोके समान अनेक शाखाओंमें विभक्त है। एक है औत्तर पाठ, दूसरा पश्चिमोत्तर, तीसरा दाक्षिणात्य। उज्ज्वलदत्त तथा तदाश्रित भट्टोजिदीक्षित आदिकी वृत्तियाँ औत्तरपाठ पर है [उज्ज्वलदत्त वगीय था, अतः इसे वाङ्ग पाठ भी कह सकते है]। श्वेत वनवासी तथा नारायणकी वृत्ति दाक्षिणात्य पाठ पर है। क्षीरस्वामी अपनी क्षीरतरङ्गिणीमें पश्चिमोत्तर पाठको उद्धृत करता है [इसे काश्मीर पाठ कह सकते है]। दशपादी पाठ पञ्चपादीके सम्भवतः पश्चिमोत्तर पाठके आधार पर रचा गया है। पञ्चपादी पाठका भी मूल कोई त्रिपादी पाठ प्रतीत होता है।[3] उणादिके ये सभी पाठ आचार्य पूज्यपादसे प्राचीन हैं। अभयनन्दीने १।१।७५ सूत्रकी वृत्तिमें एक जैनेन्द्र उणादि सूत्र उद्धृत किया है—"अस् सर्वधुभ्यः"।

पञ्चपादीका औत्तरपाठ—सर्वधातुभ्योऽसुन् । [उज्ज्वल० ४।१८८]
" " दाक्षिणात्य पाठ—असुन् [श्वेत० ४।१९४]
" " पश्चिमोत्तर पाठ—असुन् [क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ९३ प० १६[4]]
दशपादीका पाठ असुन् [९।४९]

इन सब सूत्रोंकी तुलनासे स्पष्ट है कि जैनेन्द्र उणादि पाठका मुख्य उपजीव्य औत्तर पाठ है जिसमें जैनेन्द्रके 'सर्वधुभ्य.' समान 'सर्वधातुभ्य.' पद विद्यमान है। अन्यपाठो में 'सर्वधातुभ्यः' पद है ही नहीं—

उणादि सूत्र व्याख्या—आचार्य देवनन्दी कृत उणादि सूत्र व्याख्याका हमें कोई साक्षात् प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ, परन्तु जिस प्रकार आचार्यने अपने धातुपाठकी तथा लिङ्गानुशासनकी व्याख्या[5] की उसी प्रकार उणादिकी व्याख्या भी अवश्य रची होगी।

---

१. महावृत्तिका मुद्रित पाठ है—'अण्डः। जृकुसृवृड.'। यह अशुद्ध है। तुलना करो—'अण्डन् कृसृभृवृज.' [पञ्चपादी उ० १।११८ ॥ द० उ० ५।६ ॥] सूत्र से।

२. हमने इसका अनेक हस्तलेखोंके आधारपर सम्पादन किया है। सरस्वती भवन ग्रन्थमाला काशीसे [१९४२ में] यह प्रकाशित हुआ है।

३. हमने दशपादी उणादिके उपोद्घातमें दोनो पाठो तथा इनकी वृत्तियोंका संक्षिप्त इतिहास १९४२ में लिखा था। उस समय पञ्चपादीके इतने विभिन्न पाठका बोध हमें नहीं था। उणादि सूत्र और उनकी व्याख्याओंका विस्तृत इतिहास हम अपने स० व्या० शास्त्रका इतिहासके दूसरे भागमें लिखेंगे।

४. क्षीरतरङ्गिणीके सम्पादनके प्रारम्भमें हमें इसका ज्ञान नहीं था, अत हमने वहाँ दशपादीके पते दिये हैं।

५. लिङ्गानुशासनकी व्याख्याका वर्णन आगे करेंगे।

लिङ्गानुशासन—आचार्य देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासनका कोई ग्रन्थ हमारी दृष्टिमें नहीं आया, परन्तु जैनेन्द्र लिङ्गानुशासन था अवश्य। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—वामन अपने लिङ्गानुशासनके अन्तमें प्राचीन आचार्य प्रोक्त लिङ्गानुशासनोंका निर्देश करता हुआ लिखता है—व्याडिप्रणीतमथ वाररुचं सचान्द्रं जैनेन्द्रलक्षणगतं विविधं तथाऽन्यत्। लिङ्गस्य लक्ष्म······ ॥ ३० ॥ इसमें जैनेन्द्र लिङ्गानुशासनका उल्लेख स्पष्ट है।

२—अभयनन्दी अपनी महावृत्ति १।४।१०८ में लिखता है—गोमयकषायकार्षापणकुतपकनाटशंखादि-पाठादवगमः कर्तव्यः। अर्थात् गोमय आदि शब्द जिनमें उभयलिंगता देखी जाती है, उनका ज्ञान पाठसे कर लेना चाहिए।

यहाँ पाठसे अभिप्राय लिङ्गानुशासनका ही है, क्योंकि 'पुंसि चार्धर्चाः' [१।४।१०८] सूत्र पर पाणिनिके समान जैनेन्द्रमें कोई गण नहीं है। अतः इनका पाठ लिङ्गानुशासनमें ही सम्भव हो सकता है।

३. आचार्य हेमचन्द्रने अपने लिङ्गानुशासनके स्वोपज्ञ विवरणमें नन्दीके नामसे एक पाठ उद्धृत किया है—"आमरं तु भवेच्छुक्लं चौद्रं तु कपिलं भवेत्"—इति नन्दी। पृष्ठ० ८५ पंक्ति २५।

हमारे विचारमें यह पाठ देवनन्दीके लिङ्गानुशासनका है और पूर्वोल्लिखित नियमके अनुसार यहाँ नन्दी शब्दसे देवनन्दीका ग्रहण है। हर्षवर्धनीय लिङ्गानुशासनके सम्पादक प० वेङ्कट राम शर्माने अपनी निवेदनामें २३ प्राचीन लिङ्गानुशासनोंका उल्लेख किया है।[1] उसमें सख्या १८ पर 'नन्दिकृत लिङ्गानुशासन' का निर्देश है। इससे भी हमारे विचारकी पुष्टि होती है कि आचार्य हेमचन्द्र द्वारा नन्दी-नामसे स्मृत आचार्य देवनन्दी ही है।

लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था—हैमलिङ्गानुशासन विवरणमें उदधृत पूर्व वचनसे प्रतीत होता है कि देवनन्दी प्रोक्त लिङ्गानुशासन छन्दोबद्ध था।

लिङ्गानुशासन-व्याख्या—आचार्य देवनन्दीने अपने लिङ्गानुशासनपर कोई व्याख्या भी लिखी थी। हेमचन्द्र अपने लिङ्ग विवरणमें लिखता है—"**नन्दिनः गुणवृत्तेस्त्वाश्रयलिङ्गता स्वादुरोदनः, स्वाद्वी पेया, स्वादु पयः।**' आचार्य हेमचन्द्रने यह पङ्क्ति अथवा अभिप्राय निश्चय ही जैनेन्द्रलिङ्गानुशासनकी व्याख्यासे लिया होगा।

व्याकरणके अन्य ग्रन्थ

पूर्वलिखित धातुपाठ, गणपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन इन ४ खिलोंके अतिरिक्त जैनेन्द्र शब्दा-नुशासनसे सम्बन्ध रखनेवाले न्यूनातिन्यून तीन ग्रन्थ और थे। उनके नाम है—वार्तिकपाठ, परिभाषा पाठ, शिक्षा।

वार्तिक-पाठ—अभयनन्दीकी महावृत्तिमें जैनेन्द्र शब्दानुशासनसे संबन्ध रखनेवाले बहुतसे वार्तिक व्याख्यात हैं। ये वार्तिक किसके हैं, यह अज्ञात है। इसी प्रकार महावृत्तिमें समस्त वार्तिक व्याख्यात है अथवा उसमें काशिकाके समान अधिक उपयोगी वार्तिकोंका ही सन्निवेश है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जैनेन्द्र वार्तिक पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें नहीं आया।

आर्य श्रुतकीर्तिने अपनी पञ्चवस्तुप्रक्रियाके अन्तमें जैनेन्द्रशब्दानुशासनपर रचे गये किसी भाष्य ग्रन्थकी रचना की है। यह भाष्य इस समय अनुपलब्ध है। स्वयं आचार्य पूज्यपादने भी अपने शब्दानुशासनपर एक न्यास लिखा था, वह भी अप्राप्य है। अतः जैनेन्द्रसे सम्बद्ध वार्तिक पाठकी रचना किसने की यह अज्ञात है।

वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं है—महावृत्तिमें व्याख्यात वार्तिक अभयनन्दी विरचित नहीं हैं, क्योंकि उसने स्थान-स्थानपर पातञ्जल महाभाष्यके समान वार्तिकोंका निराकरण करके सूत्र-द्वारा कार्यका

[1] [illegible] पृष्ठ ११ पर, [illegible] पृष्ठ २४ पर।

निर्वाह दर्शाया है। यथा—उदित्कार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यं भवती, अतिभवती, दाधि। नैतद् वक्तव्यम्'' ...। पृष्ठ १५। यदि वार्तिक अभयनन्दी विरचित होते तो वह स्वय अनर्थक वार्तिक रचकर उनका खण्डन न करता। इतना ही नहीं, अभयनन्दीसे पूर्ववर्ती विद्यानन्द[1] जैनेन्द्र महावृत्ति १।४।३७ मे पठित 'प्यखे का वक्तव्या' वार्तिकका अष्टसहस्री [पृष्ठ १३२] मे 'प्यखे कर्मण्युपसंख्यानात्' इस रूपमे अर्थतः अनुवाद करता है। 'प्य, ख' ये जैनेन्द्रके पारिभाषिक प्रयोग हैं।

अभयनन्दीकी वृत्तिमे वार्तिकोंके व्याख्यात होने तथा अष्टसहस्रीमे उद्धृत होनेसे इतना तो निश्चय है कि ये अभयनन्दीसे प्राचीन है। हमारा विचार है कि व्याकरण सबधी अन्य ग्रन्थोंके समान वार्तिकपाठ भी आचार्यने स्वय रचा होगा।

परिभाषा-पाठ—परिभाषाएँ व्याकरण शास्त्रका महत्त्वपूर्ण भाग है। परिभाषाएँ दो प्रकार की है। कुछ सूत्रकार द्वारा स्वय सूत्रोमे पठित होती है। यथा—इको गुणवृद्धी [अष्टा० १।१।३] इक्स्तौ [जैनेन्द्र० १।१।१७]। कुछ सूत्रसे बहिर्भूत होती हुई भी सूत्रकार-द्वारा स्वीकृत होती है। पाणिनीय व्याकरणसे सबद्ध परिभाषाएँ व्याडिकृत मानी जाती हैं।[2] भाष्यकार पतञ्जलिने अनेक परिभाषाओंको सूत्रोंसे ज्ञापित किया है, अनेकको वे बिना ज्ञापकके प्रमाण मान लेते है। अभयनन्दीकी महावृत्तिमे अनेक परिभाषाएँ उद्धृत है[3]। कतिपय परिभाषाओंके ज्ञापक भी लिखे है। इन परिभाषाओंका पाठ पाणिनीय परिभाषाओंके समान होते हुए भी स्वतन्त्रानुसार परिवर्तित है। जैनेन्द्र सबद्ध परिभाषाओंका प्रवक्ता कौन है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। परिभाषा पाठका स्वतन्त्र ग्रन्थ हमारे देखनेमे नहीं आया।

परिभाषाओंकी व्याख्या—इन जैनेन्द्र परिभाषाओंकी व्याख्या भी किसी प्राचीन ग्रन्थकारने की थी। अभयनन्दी १।१।६१ पर लिखता है—सन्निपातपरिभाषाया अनित्यतां वक्ष्यति। यहाँ 'वक्ष्यति' क्रियाका कर्ता कौन है, यह अज्ञात है। परन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व किसीने परिभाषाओंकी व्याख्या रची थी। इस प्रकारका विचार परिभाषा वृत्तिमे ही सम्भव हो सकता है।

आचार्य हेमचन्द्रने अपने व्याकरणसे सबद्ध परिभाषाओंकी स्वयं ही रचना की और स्वय ही उनकी व्याख्या की। इसी प्रकार आचार्य पूज्यपादने भी स्वय परिभाषा पाठ और उसकी व्याख्या लिखी हो यह सम्भव हो सकता है।

शिक्षा—अभयनन्दीने १। १। २ की वृत्तिमे लगभग ४० शिक्षासूत्र उद्धृत किये है। ये अधिकांशमे आपिशल शिक्षासूत्रोसे मिलते हैं[4]। पुनरपि इनका प्रवचन जैनेन्द्र व्याकरणकी प्रक्रियानुसार किया हुआ है, यह दोनोकी तुलनासे स्पष्ट है। यद्यपि ये जैनेन्द्र सम्बन्धी शिक्षासूत्र किसके द्वारा प्रोक्त है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, तथापि जैसे आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमीने अपने अपने शब्दानुशासनोंसे सम्बद्ध शिक्षासूत्रोंका प्रवचन किया। इसी प्रकार सम्भव है आचार्य देवनन्दीने इन शिक्षासूत्रोंका भी प्रवचन किया हो। इसका विशेष वर्णन हम 'शिक्षाका इतिहास' नामक ग्रन्थमे करेंगे [पाण्डुलिपि प्रायः तैयार हो चुकी है।

---

१. देखो, श्री प्रेमीजीका 'देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' लेख, यही ग्रन्थ पृष्ठ ?४।

२ सं० व्या० शा० का इतिहास पृष्ठ २०?।

३ देखो महावृत्ति पृष्ठ ४५५, ४५६। इस सूचीमे कुछ परिभाषाएँ रह गई है। यथा—पृष्ठ १? पर उद्धृत—'अनुबन्धकृतमनेकान्त्य न'' परिभाषा।

४ देखो हमारे द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित 'शिक्षा सूत्राणि' [आपिशल, पाणिनीय तथा चान्द्र]।

आचार्य पूज्यपादके अन्य ग्रन्थ

श्री प० नाथूरामजी प्रेमीने अपने लेखमे आचार्य पूज्यपादके निम्न ग्रन्थोका उल्लेख किया है—

उपलब्ध ग्रन्थ—१. सर्वार्थसिद्धि, २. समाधितन्त्र ३. इष्टोपदेश, ४. दशभक्ति ।

अनुपलब्ध, परन्तु ज्ञात ग्रन्थ—१. शब्दावतार न्यास, २. जैनेन्द्र न्यास, ३. वैद्यक ग्रन्थ [नाम अज्ञात], ४. सार-संग्रह, ५. जैनाभिषेक ।

वैद्यक ग्रन्थके सम्बन्धमे नये प्रमाण—१. आचार्य पूज्यपाद रचित वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख श्री प्रेमीजीके लेखके पृष्ठ १९, टि० १ पर उद्धृत श्रवणबेलगोलके ४० वें शिलालेखके चतुर्थ श्लोकके तृतीय चरणके 'स्वास्थ्य यदीयम्' पदोंमे भी मिलता है ।

२. जैन आचार्य उग्रादित्य-विरचित कल्याणकारक नामक ग्रन्थमे भी पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका निर्देश है ऐसा ज्ञात हुआ है [स्वयं नहीं देखा] ।

आचार्य पूज्यपादका नूतन परिज्ञात ग्रन्थ-छन्दःशास्त्र—आचार्यने छन्दःशास्त्र पर भी कोई ग्रन्थ लिखा था, इसकी सूचना श्रवणबेलगोलके ४० वे शिलालेखके चौथे श्लोकके तृतीय चरणके 'छन्दः' पदसे मिलती है । श्री प्रेमीजीसे इसका सकेत रह गया प्रतीत होता है। जैनेन्द्र छन्दःशास्त्रका विस्तृत वर्णन हम अपने 'छन्दःशास्त्रका इतिहास' मे करेंगे । यह लिखा जा रहा है ।

इस प्रकार आचार्य पूज्यपादके व्याकरणातिरिक्त उपलब्ध और अनुपलब्ध ग्रन्थोकी सख्या १० हो जाती है ।

हमारे विचारानुसार आचार्य विरचित जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी निम्न ग्रन्थ थे—

जैनेन्द्र सूत्रपाठ, जैनेन्द्रन्यास, धातुपाठमूल, धातुपारायण, गणपाठ, उणादिसूत्र, लिङ्गानुशासन, लिङ्गानुशासन व्याख्या, वार्तिकपाठ, परिभाषापाठ और शिक्षासूत्र ।

सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठके अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थोको ढूँढनेका प्रबल प्रयत्न होना चाहिए । ये ग्रन्थ निश्चय ही किन्हीं जैन ग्रन्थागारोमे छिपे पडे होंगे । उनका उद्धार परम आवश्यक है । धातुपाठ और गणपाठके हस्तलेखोंको भी उपलब्ध करनेका प्रयत्न करना चाहिए । जिससे इनकी पाठशुद्धिमे सहायता मिले ।

जैनेन्द्रके व्याख्याग्रन्थ

जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर अनेक ग्रन्थ लिखे गये । उनमेसे जैनेन्द्रन्यास, भाष्य, अभयनन्दीकी महावृत्ति, प्रभाचन्द्रका शब्दाम्भोजभास्कर न्यास, पञ्चवस्तु, लघुजैनेन्द्र और जैनेन्द्र प्रक्रिया नामक ग्रन्थोका उल्लेख श्री प० नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' नामक लेखमे किया है । इनमेसे न्यास और भाष्य ग्रन्थ इस समय अनुपलब्ध है । उपलब्ध ग्रन्थोमे अभयनन्दीकी वृत्ति ही सबसे प्राचीन है ।

अभयनन्दीसे प्राचीन अनेक वृत्तियाँ—अभयनन्दीने महावृत्तिके आरम्भमे एक श्लोक लिखा है—

> यच्छब्दलक्षणमसुव्रजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः ।
> तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनि समस्तम् ॥

अर्थात्—कठिनताने पार पाने योग्य जिस शब्दलक्षणको दरिद्रोंने व्याख्या करनेमे स्पष्ट नहीं किया, उस सम्पूर्ण शब्दलक्षणको अभयनन्दी मुनि सबके हृदयोको प्रिय लगनेवाले सुन्दर वाक्योंसे स्पष्ट करता है ।

इस श्लोकके पूर्वार्द्धसे स्पष्ट है कि अभयनन्दीसे पूर्व इस जैनेन्द्र शब्दानुशासनपर ऐसी अनेक टीकाएँ बन चुकी थीं, जिनमे इसकी पूर्ण स्पष्ट व्याख्या नहीं थी । ये व्याख्याएँ लघुवृत्तिके रूपमे थीं, यह 'दरिद्रैः' पदसे व्यक्त होता है ।

अभयनन्दीका काल—अभयनन्दीका काल विवादास्पद है । डाक्टर बेल्वेल्करने अपने 'सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर' मे अभयनन्दीका काल सन् ७५० [वि० ८०७] माना है [पैराग्राफ ३०] । अभयनन्दीकी

महावृत्ति ३।२।५५ में भट्ट अकलक [जिनका काल ८०० विक्रम माना जाता है] के तत्त्वार्थवार्तिक का उल्लेख है। इससे यह वृत्ति उसके बाद की है, यह निश्चित है। हमने अपने स० व्या० शास्त्रका इतिहास ग्रन्थमें अभयनन्दीका काल विक्रम सवत् १०००-१०५० के मध्यमें लिखा है [पृष्ठ ४२६]। अभी इस विषयमें अनुसधानकी आवश्यकता है।

अभयनन्दीकी महावृत्ति—जैनेन्द्र व्याकरणके वाङ्मयमें महावृत्तिका वही गौरवपूर्ण स्थान है जो पाणिनीय व्याकरणमें काशिका का है। यह महावृत्ति काशिकासे भी अधिक विस्तृत है। इसका ग्रन्थ परिमाण १२ सहस्र श्लोक है। ग्रन्थकारने अपनी वृत्तिके सम्बन्धमें पूर्वनिर्दिष्ट श्लोकमें जो लिखा है वह पूर्णतया सत्य है, उसमें यत्किंचित् अतिशयोक्ति नहीं है।

अभयनन्दीका पाण्डित्य—निश्चय ही अभयनन्दी व्याकरण शास्त्रमें परम निपुण थे। उनका व्याकरण विषयक-ज्ञान केवल जैनेन्द्र तक सीमित नहीं था, अपितु पाणिनीय व्याकरणमें भी उनकी अप्रत्याहत गति थी। यह इस वृत्तिके सूक्ष्म अध्ययनसे पदे-पदे स्पष्ट होता है। महावृत्तिमें कई स्थल उनके व्याकरण विषयक अभूतपूर्व पाण्डित्यका निदर्शन कराते हैं। यथा १।२।९६ सूत्रकी व्याख्यामें "प्रविनय्य" प्रयोगकी सिद्धिके सम्बन्धमें जो विचार किया है, वह हमें अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ।

महावृत्तिके उपजीव्य ग्रन्थ—यद्यपि अभयनन्दीने अपनी महावृत्तिकी रचनामें निस्सन्देह जैनेन्द्र न्यास, प्राचीन लघु वृत्तियाँ, पातञ्जल महाभाष्य आदि सभी ग्रन्थोंसे सहायता ली है, तथापि सूत्र व्याख्या शैली और वाक्य विन्यासमें काशिकावृत्तिका प्रभाव अधिक प्रतीत होता है।

पतञ्जलिके पदचिह्नोंपर—[क] पतञ्जलिने जिस प्रकार पाणिनि और कात्यायनके प्रति सम्मान-की भावना रखते हुए उनके सूत्र तथा वार्तिककी सूक्ष्म विवेचना करते समय पाणिनि और कात्यायनके गौरवसे प्रभावित हुए बिना अपना निर्णय प्रकट किया है, उसी प्रकार अभयनन्दी मुनिने भी अनेक स्थलों पर जैनेन्द्र वार्तिकोंका निष्प्रयोजनत्व दर्शाया है। यथा—पृष्ठ १५ पर "उगित् कार्यम्' तथा पृष्ठ २९ पर 'दाणश्च सा' वार्तिक का।

[ख] जैसे पतञ्जलिने पाणिनीय सूत्रोंसे साक्षात् असिद्ध प्रयोगोंका साधुत्व दर्शानेके लिए योगविभाग रूपी कौशल दिखाया है। उसी प्रकार अभयनन्दीने भी योगविभाग द्वारा अनेक पदोंका साधुत्व दर्शानेका प्रयत्न बहुत स्थानोंपर किया है।

महावृत्तिकी एक महती विशेषता—महावृत्तिकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें पाणिनि पतञ्जलि चन्द्र तथा पूज्यपाद द्वारा असगृहीत प्राचीन व्याकरण नियमोंका यत्र तत्र सग्रह उपलब्ध होता है। यथा [१।२।१]—

'भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते। इको यणिभर्व्यवधानमनेकेषामिति संग्रह।'[1]

अर्थात्—'भूवाद्यो धुः' [१।२।१] सूत्रमें 'भू+आदयो' के मध्यमें वकारका निर्देश व्याकरणका लक्षण बतलानेके लिए रखा गया है। अनेक आचार्योंके मतमें 'इक् से परे यण्का व्यवधान होता है'[2], इस लक्षणका सग्रह वकारसे दर्शाया है।

---

१. कलकत्ताके श्री पं० क्षितीशचन्द्र जी चट्टोपाध्यायने 'टेक्निकल टर्म्स आफ संस्कृत ग्रामर' [पृष्ठ ७१] में इस कारिका तथा महावृत्तिमें आगे व्याख्यान को चरणोंका पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है—"भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थं प्रयुज्यते। व्यवधानमिको यण्भिर्वायुवन्नरयोरिव ॥ नवो वार्थं वर्त्तन्ते वर्णोणादिके इति। भूवादय इति ज्ञेया भूवोऽर्था वाद्योऽथवा।"

२. इस सन्धि तथा इससे पदसिद्धि प्रक्रियापर पडनेवाले प्रभावके लिए हमारा सं० व्या० शा० का इतिहास, पृष्ठ २१–२८ विशेष रूपसे देखना चाहिए।

हमारी दृष्टिमे अभीतक सबसे प्राचीन यही ग्रन्थ है, जिसमे यण्व्यवधान सन्धि का साक्षात् उल्लेख किया है।[1] आगे वृत्तिकारने महाभाष्योक्त वकारके मगलार्थत्वका खण्डन किया है। हमारे विचारमे 'मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' ऐसमे पतञ्जलिका 'मगल' का वह भाव नहीं है जो जनसाधारणमे प्रसिद्ध है। अपितु यहाँपर अध्येता छात्रोंका मगल अभिप्रेत है। इसकी व्याख्याम स्पष्ट कहा है—अध्येतारश्च मंगलार्था यथा स्युः। अध्येताओंका मगल लक्षण जानसे ही सम्भव है।[2]

महावृत्ति मध्यमध्यमे त्रुटित—यद्यपि महावृत्तिका यह संस्करण पाँच हस्तलेखोके आधार छपा है, परन्तु इसमे अनेक स्थलोंपर कई कई सूत्रोंकी व्याख्या खण्डित है। देखो पृष्ठ २८८, ३१७, ३५८। इससे स्पष्ट है कि ये पाँचों हस्तलेख किसी एक ही मूल प्रतिकी प्रतिलिपियाँ है। अतः इसकी पूर्तिके लिए अन्य हस्तलेख प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

जैनेन्द्र व्याकरण तथा महावृत्तिका मुद्रण

आजसे ४६ वर्ष पूर्व काशीकी लाजरस कम्पनीकी ओरसे सन् १९१० मे महावृत्ति सहित जैनेन्द्र व्याकरणका मुद्रण आरम्भ हुआ था। इसके सम्पादक थे, विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी। इसका मुद्रण तृतीय अध्यायके द्वितीय पादके ६०वें सूत्र तक ही होकर रह गया। तब से यह परमोपयोगी ग्रन्थ अधूरा ही रहा। यह परम सौभाग्यका विषय है कि भारतीय ज्ञानपीठ काशीने इस ग्रन्थरत्नको प्रकाशमे लानेका महान् प्रयत्न किया। उसीका यह फल है कि ४६ वर्षके अनन्तर यह ग्रन्थ पूरा छपकर प्रकाशमे आया है। इसके लिए उक्त सस्था अत्यन्त धन्यवादकी पात्र है। इस सस्थाने इसी प्रकारके अनेक दुर्लभ ग्रन्थोंका प्रकाशन करके समस्त भारतीयो, विशेषकर जैनमतानुयायियोका महान् उपकार किया है। हमारी यही कामना है कि यह सस्था भविष्यमे भी इसी प्रकार अपना कार्य करनेमे समर्थ हो, दिन दूनी रात चौगुनी फले फूले।

महावृत्तिका नूतन संस्करण—भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित महावृत्तिका यह संस्करण निस्सन्देह महान् परिश्रमका फल है। इसके सम्पादनमे ५ हस्तलेखोसे सहायता ली गई है। इतना प्रयत्न करनेपर भी इसके सम्पादनमे कुछ कमियाँ रह गई हैं। उनकी ओर भी सकेत कर देना हम उचित समझते है, जिससे आगामी सस्करणमे उसका परिमार्जन हो सके।

क—अनेक स्थानोपर उद्धृत जैनेन्द्र सूत्रोंके पते देने रह गये है। यथा—पृष्ठ ११ पं० २—जेरिति दीत्वम्—'जेः' ४।२।२३४ का सूत्र है, यहीं पृष्ठ प० १३—शास इत्येवमादिषु—'शास' यह ४।४।२३ का प्रतीक है।

ख—वृत्तिमे उद्धृत उद्धरणोंके पते देने रह गये। यथा—पृष्ठ २४ पङ्क्ति २६—'एति जीवन्तमानन्दः'। यह रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ३४ श्लोक ६ का तृतीय चरण है। पृष्ठ ११६ प० ६ पर निर्दिष्ट 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टे' कारिका महाभाष्य ३।३।१ की है। इसी प्रकार १।२।१२१ सूत्रपर उद्धृत कारिकाएँ भी महाभाष्य की है।

ग—कई स्थानोपर कुछ अधिक सावधानता वर्ती जाती तो अनेक पाठ ठीक हो सकते थे। यथा—पृष्ठ ११६ प० ८ पर मुद्रित 'अग्रट्रः। जूकृसूवृट.' पाठ 'अग्रड्रो जूकृसृवृड.' चाहिए। पृष्ठ ८ प० ५-६—'कृतः। कृतवान्। भूतवर्तमाने ···· ।यहाँ 'कृत'। कृतवान्। "तः" [२।२।८५] भूत इति वर्तमाने·····"

---

१ यद्यपि शाकटायन लघुवृत्ति [पृष्ठ २२] में यह नियम उल्लिखित है। उसका काल अनिश्चित है। सर्वोपवृत्तिमें इसका उल्लेख है या नहीं यह हमें ज्ञात नहीं।

२. महाभाष्यकी पंक्तिका यह अभिप्राय हमें महावृत्तिके प्रमाणसे ही समझमे आया।

पाठ चाहिए। 'भूत इति वर्तमाने' आदि पदो द्वारा जिस सूत्रकी वृत्ति लिखी है वह, 'तः' [२।२।८५] सूत्र यहाँ त्रुटित है।

घ - अनेक स्थानोपर वृत्तिमें उद्धृत जैनेन्द्र सूत्र तथा परिभाषा आदिको भिन्न टाइपमे करना रह गया है।

ङ—कहीं कहीं सम्पादकीय टिप्पणियोमें भी भूल प्रतीत होती है। यथा—पृष्ठ १९ प० १९ पर [४ अन्यथा अनिदित इति उङः खस्य प्रतिषेधः स्यात।] पर टिप्पणी है—४. कोष्ठ स्थित. पाठोऽप्रासगिक इव भाति। "अलुङः—क्ङित्यनिदित." इत्यस्यात्राप्रवृत्तेः। प्रतीत होता है यह पङ्क्ति पाणिनीय व्याकरण की प्रक्रियाकी भ्रान्तिसे लिखी गई है। 'हन्स्+त' इस अवस्थामे 'त' के परे रहने पर 'यत्स्ये तदादि गु.' [जै० १।२।१०२] सूत्रसे 'हन् स्' की 'गु' [पाणिनीय अग] सज्ञा है। जैनेन्द्र प्रक्रियानुसार २।१।३८ सूत्रमे 'सि' प्रत्यय होता है, उसका इकार इत् है। गुके इदित् होनेसे 'हलुङः क्ङित्यनिदित' [४।४।२३] सूत्रकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसकी प्रवृत्ति न होनेसे उङ् [=उपधा] के 'न्' का लोप नहीं हो सकता। अतः कोष्ठान्तर्गत पङ्क्ति सर्वथा शुद्ध है।

इन सब कमियोने रहने पर भी जो सस्करण प्रकाशित हुआ है, वह निस्सन्देह महान् प्रयत्नका फल है। प्रथमबार इतना सुन्दर सस्करण प्रकाशित हो गया, यह महान् सतोषकी बात है।

ग्रन्थके सम्पादनमें कितना परिश्रम पड़ता है, यह भी भुक्तभोगी ही जान सकता है। हाँ, ग्रन्थको सर्वाङ्गसुन्दर बनानेका लक्ष्य तथा उसके लिए सर्वविध प्रयत्न सम्पादकका अवश्य होना चाहिए। तत्पश्चात् जो कार्य हो जाय उससे सन्तुष्ट रहते हुए अगले सस्करणको सर्वात्मना श्रेष्ठ बनानेका प्रयत्न होना चाहिए।

जैनेन्द्रमहावृत्तिः

आचार्यदेवनन्दिप्रणीतम्

जैनेन्द्र-व्याकरणम्

अभयनन्द्याचार्यकृतमहावृत्तिसहितम्

देवदेवं जिनं नत्वा सर्वसत्त्वाभयप्रदम्।
शब्दशास्त्रस्य सूत्राणां महावृत्तिर्विरच्यते ॥ १ ॥
यच्छब्दलक्षणम[१]सुव्रजपारमन्यैरव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः।
तत् सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यैर्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥ २ ॥

शिष्टाचारपरिपालनार्थमादाविष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलमिदमाहाचार्यः—

लक्ष्मीरात्यन्तिकी यस्य निरवद्याऽवभासते।
देवनन्दितपूजेशे नमस्तस्मै स्वयम्भुवे ॥

लक्ष्मीः श्रीः। सैव विशिष्यते—अन्तमतिक्रान्तः कालोऽत्यन्तः तत्र भवा आत्यन्तिकी अविनश्वरी आत्मस्वभावाधीना केवलज्ञानादिविभूतिरित्यर्थः। अवद्याद् गर्ह्यान्निष्क्रान्ता निरवद्या निर्दोषा, अवभासते शोभते, यस्य भगवतः, यस्येति सर्वनामपदस्य सामान्यवाचित्वेऽपि अन्यस्यैवंविधा श्रीर्न सम्भवतीति पारिशेष्यादर्हद्भट्टारकस्य ग्रहणम्। यच्छब्दाभिहितोऽर्थस्तच्छब्देन परामृश्यत इति तस्मै देवनन्दितपूजेशे स्वयम्भुवे नमः। 'अस्तु' इत्यध्याहारः, देवाः सुराः तैर्नन्दिता अभिवर्द्धिता सा चासौ पूजा च तस्याः, 'ईष्टे' इति क्विपि इति देवनन्दितपूजेट्, तथा स्वयमात्मना भवतीति स्वयम्भूः। नमःशब्दयोगे सर्वत्र ङेर्भवति।

लोके प्रसिद्धसाधुत्वानां शब्दानामन्वाख्यानार्थमिदमारभ्यते। अन्वाख्यानञ्च प्रकृत्यादिविभागेन सामान्यविशेषवता लक्षणेन शब्दानां व्युत्पादनम्। तच्च शब्दार्थसम्बन्धमन्तरेण न सम्भवति। शब्दार्थसम्बन्धसिद्धिः अनेकान्ताधीनेत्यत आह—

सिद्धिरनेकान्तात् ॥१।१।१॥ प्रकृत्यादिविभागेन व्यवहाररूपा श्रोत्रग्राह्यतया परमार्थतोपेता प्रकृत्यादिविभागेन च शब्दानां सिद्धिः अनेकान्ताद्भवतीत्यर्थाधिकार आ शास्त्रपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः। अस्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वसामान्यतानानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यादिकोऽनेकः अन्तः स्वभावो यस्मिन् भावे सोऽयमनेकान्तः अनेकात्मा इत्यर्थः। तस्यावग्रहेहावायधारणात्मकं प्रत्यक्षं तद्व्यवहारान्यथानुपपत्तेरितीदमनुमानञ्च स्वरूपम्। यथास्ति नास्ति नित्यानित्यादीनां परस्परविरुद्धानां 'कथमेकाधिकरण्यमतद्धर्मरूपता च ?' यथा अनन्तरेण हेतौ अन्वयव्यतिरेकिणौ जनके सति वा जन्यमानरूपस्वापेक्षयोः सहकारित्वासहकारित्वयोः। तथा हेतौ स्वरूपसिद्धापेक्षया स्वपक्षे सत्त्वं अनागतभागकार्यापेक्षया, अत्रापि तर्हि स्वरूपपररूपापेक्षयाऽस्तित्वनास्तित्वे द्रव्यपर्यायापेक्षया च नित्यानित्यत्वे, द्रव्यपर्याययोश्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धिरित्यास्तां विस्तरः। अनेकान्तसिद्धिरेव शब्दानां, हेतौ क्वापि भवति। तेनानित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यादि सिद्धम्।

---

१. इत्यत्र। २. तस्मै नमः इति शेषः। ३. सम्बन्धान्तरेण अ०, मु०। ४. 'प्रकृत्यादिविभागेन' इत्यत्र। ५. -नैकधापि-मु०। ६. जन्यपोरपि मु०। ७ च भागा-अ०। ८. पञ्चस्वपि।

उत्तरत्र त्वे[1]कदेशाद्व्यवायोऽ[2]धिकार इति। वक्ष्यति—"सस्थानक्रियं स्वम्" [१।१।२] इति। एतच्च वस्तुना साधर्म्य-वैधर्म्यात्मकेऽनेकान्ते सत्युपपद्यते। तथा हि अकाराकारयोः ह्रस्वदीर्घकालभेदेन वैधर्म्येऽपि तुल्यस्थान[3]करणत्वेन साधर्म्यमस्तीति स्वसञ्ज्ञाव्यवहारः सिध्यति। यदि हि साधर्म्यमेव स्यात्, तदास्तित्वेनेवान्यैरपि धर्मैः साधर्म्ये सर्वमेकं प्रसज्येत। यदि च वैधर्म्यमेव, तदा कस्यचिदस्तित्वमपरस्य नास्तित्वमन्यस्य चान्यत्[4] स्यात्। "अधु मृत्" [१।१।५] इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवच्छब्दरूपं मृत्सञ्ज्ञकमनेकान्तात् सिध्यति। तथा हि—विभक्त्यन्तस्य च शब्दस्य प्रयोगादर्थे ज्ञानमुत्पद्यत इति सङ्घाता अर्थवन्तो दृष्टाः, तदवयवानामप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवत्ता ज्ञायते। वृक्षावित्यत्र, विसर्जनीयाभावादेकत्वार्थो निवृत्तः, औकारभावाद् द्वित्वं जातम्। अकारान्तवृक्षशब्दान्वयाज्जातिरन्वयिनी प्रतीयते। अन्वयव्यतिरेकौ च[5] भावाद्येकान्तवादे न स्तः। तथा "ध्यपाये ध्रुवमपादानम्" [१।२।११०] इत्यादिषट्कारकी नित्यक्षणिकपक्षयोर्नोपपद्यते व्यपायध्रौव्याद्यभावात्। उक्तं च—

"इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो
व्ययोयमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम।
अयं सुहृदयं द्विषन्[6] प्रयतदेशकालाविमा-
विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः॥"

सस्थानक्रियं स्वम् ॥ १।१।२ ॥ स्थानं ताल्वादि, क्रिया स्पृष्टतादिका। समाना स्थाने क्रिया यस्य, सामर्थ्यात् स्थानमपि समानं लभ्यते। अथवा समानं स्थानक्रियं यस्य, समानस्येति योगविभागात् सादेशः, तत् सस्थानक्रियं स्वसञ्ज्ञं भवति। आत्मलाभमापद्यमाना वर्णास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं वर्णोत्पत्तिस्थानमित्यर्थः। तदष्टविधम्—

"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥"[7] इति।

द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुरान्तरः परिस्पन्दः क्रिया। सा चतुर्विधा—स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृतता ईषद्विवृतता चेति। ध्वनावुत्पद्यमाने यया स्थानानि स्पृशति सा स्पृष्टता। मनाक् स्पर्शे ईषत्स्पृष्टता। दूरेण स्पर्शे विवृतता। समीपेन स्पर्शे ईषद्विवृतता। कस्य पुनः किं स्थानम्? अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः। हविसर्जनीया-वुरस्यावेकेषाम्। जिह्वामूलीयो जिह्व्यः। सर्वमुखस्थानमवर्णमेके मन्यन्ते। इशयच्वेदैतस्तालव्याः। एदैतौ कण्ठतालव्यावेकेषाम्। उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः। ओदौतौ कण्ठोष्ठ्यावेकेषाम्[8]। वकारो दन्तोष्ठ्यः। सृक्क[9]स्थानमेके वाञ्छन्ति। ऋटुरषा मूर्धन्याः। रेफो दन्तमूल्य एकेषाम्। लृतुलसा दन्त्याः। नासिक्योऽनुस्वारः। यमङञणनाः स्वस्थानाः। नासिकास्थाना एकेषाम्। तेषां स्वसञ्ज्ञाप्राप्तिर्दोषः। स्पृष्टिः स्पृष्टं स्पृष्टानुगतं करणं कृतिरुच्चारणमेषामिति स्पृष्टकरणा वर्ग्याः। ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तःस्थाः। ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः। विवृतकरणाः स्वराः। तेभ्य एदोतौ विवृततरौ। तेन दध्येतत् मध्वोदनमिति स्वेऽको दीर्घाभावः। ताभ्यामैदौतौ विवृततरौ। तेन दिश्यैन्द्रया मध्वौपवम्। ताभ्यामवर्णः इति। तेन पित्रर्थः, दध्यत्र, मध्वत्र। अन्ये संवृतमकारमिच्छन्ति लोके। शास्त्रव्यवहारे तु विवृतम्। एतच्चायुक्तम्, लोकशास्त्रयोरुच्चारणप्रत्यभिज्ञानात्। अयं च प्रपञ्चश्चिन्तनीयः। स्वरेभ्यो विवृततराः[10]आवर्णश्च इति। इत्यस्यापि निर्देशे न दोषं पश्यामः। अ अ अ इत्ययमकार उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितः। स प्रत्येकं सानुनासिकोऽननुनासिकः[11]। एवं दीः, एवं पः। एवमष्टादशप्रभेदोऽवर्णः तथा इवर्णः, तथा उवर्णः, तथा ऋवर्णः, तथा लृवर्णः। कथं लृकारो द्विमात्रः? अशक्तिजानुकरणार्थतया। सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति, तान्यतो द्वादशप्रभेदानि। अन्तःस्था यवला द्विप्रभेदाः नासिक्येतरभेदात्। एवमर्थ[12]

---

१. उत्तरसूत्रैक-ब० उत्तरसूत्रैकदेशाद्व्यवायो-मु०। २ अनुवृत्तिरित्यर्थः। ३. -करणता-अ०, स०, ४. -न्यत। अधु ब०, मु०। ५ च भावाद्येकान्त-मु०। ६ प्रतिपु स्थिर इति पाठः। ७ पा० शि० १३। ८. पाणिनीयानाम्। ९ ओष्ठप्रान्तयोः सृक्कम्। १० अवर्णश्च ब०, स०, मु०। ११ -र, एवं प, एवं दी, अ०, ब०, स०। १२.-मन चै-अ०।

चैतेऽणसु पठ्यन्ते । अण् स्व गृह्णातीति यथा स्यात् । रेफोष्मणा स्वा न सन्ति । वर्ग्यः स्ववर्ग्येण स्वसञ्ज्ञो भवति । उदाहरण—लोकाग्रम् । मुनीशः । स्थानग्रहण किम् ? कचटतपाना समानक्रियाणा भिन्नस्थानाना मा भूत् । तर्ता तर्प्तुमिति । अत्र "झरो झरि स्वे" [५।४।१३६] इति पकारस्य तकारे ख प्रसज्येत । क्रियाग्रहण किम् ? इचुयशाना समानस्थानाना भिन्नक्रियाणा मा भूत् । तत्र को दोषः ? अरुश्श्च्योततीत्यत्र "झरो झरि स्वे" [५।४।१३६] इति शकारस्य चकारे ख प्रसज्येत । "ऋकारऌकारयोः स्वसञ्ज्ञा वक्तव्या" [वा०] । पितृ ऌकारः पितृकारः । स्वप्रदेशाः "स्वेऽको दी." [४।३।८८] इत्येवमादयः । शास्त्रलाघवार्थं सञ्ज्ञाकरणम् ।

हलोऽनन्तराः स्फः ॥ १।१।३ ॥ हलोऽनन्तराः विजातीयैरज्भिरव्यवहिताः सम्बद्धोच्चारणाः स्फसञ्ज्ञा भवन्ति । समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिराश्रीयते । तेन प्रत्येक स्फसञ्ज्ञा न भवति । हल इति जात्यपेक्षो बहुत्वनिर्देशः । तेन द्वयोर्बहूना च स्फसञ्ज्ञा । शर्म-कर्मेति रमौ । इन्द्रश्चन्द्र इति न्द्राः । हल इति किम् ? तितउः । "तनेर्डउः सन्वच्च" इति डउः । अत्राकारोकारावनन्तरौ स्फान्तत्वं प्रसज्येत । अनन्तरा इति किम् ? पचति पनसम् । आद्य रूप प्रत्युदाहरण पनसमित्यत्र "स्फादेः स्कोऽन्ते च" [४।३।४६] इति सख स्यात् । स्फ इति वर्णपिण्डेन सञ्ज्ञाकरण किम् ? एवरूपः समुदायः स्फसञ्ज्ञो यथा स्यादित्येवमर्थम् । स्फप्रदेशाः "स्फेरुः" [१।२।१००] "लिङस्फात् किन्" [१।१।७९] इत्येवमादयः ।

नासिक्यो ङः ॥१।१।४॥ नासिकाया भवो वर्णो ङसञ्ज्ञो भवति । नासिकायाश्चावर्णनगरयोर्नसादेशो ये विहितः । अमङणना उदाहरणम् ।[1] परस्पर स्वसञ्ज्ञा स्यात् इति[2] चेत् ; नैवम् , स्वस्थानप्रभवा एवामी । उपचारान्नासिक्यत्वम् । यथा मुखप्रभवोऽपि स्वर उपचाराद्दशे भवो वश्य इत्युच्यते । तथापि सति मुख्येऽनुस्वारे नासिक्ये कथमुपचरितग्रहणम् । तस्य ङसञ्ज्ञाया प्रयोजन नास्तीत्यग्रहणम् । ङसञ्ज्ञाकार्य शान्तो दान्त इति "ङस्य क्विझलोः ङिति" [४।४।१३] इति दीत्वम् । नासिक्य इति किम् ? ततम् । "अनुदात्तोपदेश" [४।४।२७] इत्यादिना ङखञ्ज[3] प्रसज्येत । पक्वः पक्ववान् इत्यत्र "ङस्य क्विझलोः" [४।४।१३] इति दीत्व स्यात् । वत्वस्य चासिद्धत्वात् "अनुदात्तोपदेश" [४।४।२७] इत्यादिना[4] ङख च प्रसज्येत ।

अघु मृत् ॥१।१।५॥ धुवर्जितमर्थवच्छब्दरूप मृत्सञ्ज भवति । घोरर्थवतः पर्युदासाच्चा [द]र्थवत्त्व लभ्यते । अर्थश्चाभिधेयो भावाभावरूप. । तत्र भावरूपो जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदेन चतुर्विधः । गौः । शुक्लः । पाचकः । इति । अद्रव्यविवक्षाया जात्यादिनार्थवत्त्वम् । द्रव्याभिधाने तु द्रव्यगुणलिङ्गसङ्ख्याकर्मादयो व्यपदिश्यन्ते । तेषा द्योतनार्थं टाबादय. स्वादयश्चोत्पद्यन्ते । एव डित्थो डवित्थः । कुण्ड पीठम् । अभावरूपाभिधाने अभावो विनाश. । शशविषाणम् । अघ्विति किम् ? अहन् । मृत्वे नख स्यात् ।[5] पर्युदासादर्थवदिति किम् ? धन वनम् । नकारावधेर्मृत्सञ्ज्ञाया नख प्रसज्येत । लूः पूरिति वव्यन्तस्य धुत्वेऽपि कृदन्तत्वान् मृत्सञ्ज्ञा । मृत्प्रदेशाः "ङ्याम्मृदः" [३।१।१] इत्येवमादयः ।

कृद्धृत्सः ॥१।१।६॥ कृदन्त हृदन्त ससञ्ज्ञकञ्च मृत्सञ्ज भवति । कृत्—ज्ञाता । ज्ञातव्यम् । हृत्—प्राजापत्य. । आकम्पनि । स—जिनधर्म' । साधुवृत्तम् । "सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः"[6] [परि०] 'नियमश्च विधि. स. प्रतिषेधफल.'[7] इति त्यान्तेषु कृद्धृदन्तस्यैव मृत्सञ्ज्ञा । इह मा भूत् । असिचन् । अभवन् । उत्पन्नाना स्वादीनामेव नादिनियम इत्यस्मिन् दर्शने स्वाद्युत्पत्तिः स्यात् । इह च काण्डे कुड्ये रमते राजकुलमिति "म्रो नपि" [१।१।७] इति मृत्स्याप्यादेश स्यात् । सग्रहणमपि नियमार्थम् । अर्थवत्सघाताना समजकस्यैव मृत्सञ्ज्ञा, वाक्यस्य मा भूत् । साधुर्मनो मते इति, "सुपो धुमृदो." [१।४।१४२] इति सुप उप् प्रसज्येत । सग्रहणात् तुल्यजातीयस्यैव समुदायस्य वाक्यस्य निवृत्ति., न प्रवृत्तिसमुदायस्य । तेन "वा सुपो बहुःप्राक्तु"[४।१।१२७]इति बहौ केऽपि[8] च कृते नञ्कृता कुमारिका उष्ट्रैः पटतीति मृत्त्व न निवर्तते । ननु च "सुप्तिङन्तं पदम्" [१।२।१०३]

१ -सन्दधो-इति पाठः । २.-ति नै-अ० । ३. सम्प्रय-इति सुवचम् । ४.-ना चु खं च मु० । ५ स्यात् । सर्थवत्पर्यु-अ०, स० ।—न् । अर्थवतः पर्यु-ब० । ६. न्यायसं० । ७. मुखप्रतिषेधफलमि-इ०, स० । ८. मते । ९. -कचि कृ-मु० ।

इत्यत्रान्तग्रहणादन्यत्र "संज्ञाविधौ त्यग्रहणात्तदन्तविधिर्नास्ति" [परि०] इत्युक्तं तत्कथं कृदन्तहृदन्तग्रहणम् ? नायं संज्ञाविधिः। पूर्वेण विहिताया मृत्संज्ञाया नियमोऽयम्। अथवा "सात्" [५।४।७७] इति पत्वप्रतिषेधादिह तदन्तविधिर्ज्ञायते। अन्यथा सादित्येतस्य केवलस्य मृत्त्वे "नाद्यन्ते" [५।४।७६] इत्यनेनैव प्रतिषेधः सिद्धः स्यात्। अथ "कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्" [परि०] इति कृद्ग्रहणं समुदायविषयं न नियमार्थम्। तेन देवदत्तेन कृतमित्यादेः समुदायस्य मृत्त्वात् "सुपो धुमृदोः" [१।४।१४२] इति सुपः उप् प्रसज्येत। नैष दोषः, "साधनं कृता बहुलम्" [१।३।२६] इत्यस्यानर्थक्यप्रसङ्गात्। सर्वशब्दानां व्युत्पत्तिरस्तीत्यस्मिन् पक्षे, पूर्वसूत्रे नास्त्युदाहरणं, संज्ञार्थमेव तत्।

प्रो नपि ॥१।१।७॥ मृदिति वर्तमानमर्थात्तान्तं सम्पद्यते। प्रादेशो भवति नपि वर्तमानस्य मृदः। नबिति नपुंसकलिङ्गस्य संज्ञा पूर्वेषाम्। श्रियमतिक्रान्तमतिश्रि। अतिरि। अतिवधु कुलम्। अतितनु जलम्। ईकारैकारौ तालव्यौ। ऊकारौकारौ च ओष्ठ्यावस्माकम्, ततः "स्थानेऽन्तरतमः" [१।१।४७] इति परिभाषया अन्त्यस्याचः प्रादेशः। नपीति किम् ? राजकुमारी। अग्रणीः। मृद इति किम् ? रमते कुलम्। नन्वलिङ्गत्वादाख्यातस्यात्र प्रादेशाप्राप्तिरत एवात्रापि न प्रादेशः काण्डीभूतमिति। इह तर्हि मा भूत्। काण्डे तिष्ठतः, कुड्ये तिष्ठत इति। अत्र मृदधिकाराद् मृदमृदोरेकादेशो मृद्वन्न भवति।

स्त्रीगोर्नीचः ॥ १।१।८ ॥ न्यग्भूतो यः स्त्रीत्यः गोशब्दश्च तदन्तस्य मृदः प्रादेशो भवति। स्त्री इति स्वरितचिह्नितनिर्देशात् स्त्रियामित्येवविहितस्य त्यस्य ग्रहणम्। निष्कौशाम्बिः। निर्मथुरः। उभयगतिरिह शास्त्रे। तेन एकविभक्तित्वादप्रधानत्वाच्च शास्त्रीयं लौकिकं च न्यक्त्वं गृह्यते। "त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेः" इतीयं परिभाषा स्त्रीत्यग्रहणान्नेष्यते। तेन—अतितिलपीडनिः। अतिराजकुमारिः। चित्रगुः। श्वेतगुः। [1]वोक्तत्वादप्रधानत्वाच्च न्यक्त्वम्। स्त्री इति स्वरितचिह्नितग्रहणं किम् ? अतिलक्ष्मीः। अतिश्रीः। नीच इति किम् ? साधुविद्या। सुगौः। इह राजकुमारीपुत्रः सुगोकुलमिति यदपेक्षं न्यक्त्वं तत्प्रति तदन्तत्वं नास्तीति न प्रादेशः। मृद इत्यधिकारः किमर्थः ? कुमारीपुत्रः गोकुलम् "वोक्तं न्यक्" [१।३।९३] इति प्रादेशः प्रसज्येत। "ईयसो बसे प्रतिषेधो वक्तव्यः" (वा०) बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य बहुश्रेयसी पुरुषः। विद्यमानश्रेयसी। मान्तो विधिरनित्य इति "ऋन्मोः" [४।२।१५३] इति कबपि न भवति।

हृदुप्युप् ॥ १।१।९ ॥ स्त्रीग्रहणं नीच इति चानुवर्तते। हृदुपि सति स्त्रीत्यस्य नीच उब्भवति। आमलकम्। कुवलम्। बदरम्। आमलक्या अवयवः फलम्। "नित्यं वृद्धशरादेः" [३।३।१०६] इति मयट्। इतराभ्यां "प्राग् द्रोरण्" [३।१।६८] तयोः "उप् फले" [३।३।१२१] इत्युप्। स्त्रीत्यस्य पूर्वेण प्रादेशे प्राप्ते उबनेन क्रियते। तस्य "परेऽचः पूर्वविधौ" [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद् "यस्य ङ्यां च" [४।४।१२६] इत्यकारस्य खं प्राप्तमीविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधान्न भवति। एवं पञ्चेन्द्रः। पञ्चशष्कुलः। पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य "हृदर्थ-" [१।३।४६] इति षसः "संख्यादी रश्च" [१।३।४७] इति रसंज्ञः, "प्राग्द्रोरण्" [३।१।६८] इति, तस्य "रस्योबनपत्ये" [३।१।७४] इत्युप्। स्त्रीत्यस्यापि "सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यभावः" [परि०] इत्यानुको निवृत्तिः। पञ्चभिः शष्कुलीभिः क्रीतः आर्हाठ्णः "राद्वुबखौ"[३।४।२६] इत्युप्। हृदिति किम् ? गार्गीपुत्रः[2]। उप इत्यत्र। उपीति किम्। गार्गी त्वम्। नीच इत्येव—अवन्ती। कुन्ती। कुरूः। अवन्तेरपत्यं स्त्री "द्विकुरुनाद्यजादकोशलान्ञ्यः" [३।१।१५३] इति ञ्यः। तस्य "कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्" [३।१।१५७] इत्युप्। "इतो मनुष्यजातेः" [३।१।५५] इति ङी। "ऊङुतः" [३।१।५६] इति ऊ। अत्र उपि सतीत्युच्यमाने प्रसज्येत।

इद् गोण्याः ॥१।१।१०॥ इकारादेशो भवति गोण्या हृदुपि सति। पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः पञ्चगोणिः। दशगोणिः। आर्हाठ्णो "राद्वुबखौ" [३।४।२६] इत्युपि कृते स्त्रीत्यस्य पूर्वेणोपि प्राप्ते अनेन इकारः। गोण्या इति सूत्रे प्रकृतप्रादेशेन सिद्धे इद्वचनं किम् ? क्वचिदन्यत्रापि यथा स्यात्। पञ्चभिः सूचीभिः क्रीतः पञ्चसूचिः। सप्तसूचिः।

1. वोक्त-मु०। 2. गार्गीपुत्रः ब०।

आकालोऽच् प्र-दी-पः ॥१।१।११॥ आ इति माञिकद्विमाञिकत्रिमात्राणां संहितया निर्देशः। प्र-दी-प इति "सुपेऽस्मिन् सुब्व्यवहितः" [५।२।११४] इति जसः स्थाने सुः। आ आ आ३ इत्येवं काल इव कालो यस्य सोऽच् यथासंख्यं प्र दी प इत्येवंसंज्ञो भवति। अकालः—दधि। मधु। पितृ। आकालः—खट्वा। गौरी। वामोरूः। आ३ कालः—आगच्छ भो माणवक जिनदत्ता३ इत्यादयः। कालग्रहणं प्रत्येकं परिमाणार्थम्। ततः अकाल इति विशेषणात् गिजकालयोर्दीर्घयोर्ग्रहणं न भवति। अज्ग्रहणं किमर्थम्? व्यञ्जनानां संघातनिवृत्त्यर्थम्। प्रतक्ष्य। तितउच्छत्रमिति। प दी पप्रदेशाः "प्रो नपि [१।१।७] इत्येवमादयः।

अचश्च ॥१।१।१२॥ परिभाषेयम्। अचः स्थाने ते प दी पसंज्ञका भवन्ति। "प्रो नपि" [१।१।७] इति। अतिनु। अतिरि। इत्यतो विशेषणविशेष्यभाव इति अजन्तस्य प्रादेशः। अच इति किम्? सुवाक् घृत-कुलम्। इतः प्रो न भवति। "दीरकृद्गे" [५।२।१२४] इति। चीयते। स्तूयते। अच इति किम्? भिद्यते। "हसित्याग्मदोदीः" [५।२।७२] इत्यत्र ग्रहणमात्रेण शमादिनाम् विशिष्यत इत्यनजन्तस्यापि दीत्वम्। शाम्यति। गाणादेः प इत्यत्रापि ग्रहणमात्रेण विना अविशिष्यते। आगच्छ भो माणवक जिनदत्ता३। अच इति किम्? भार्गवीरत्। तकारस्य मा भूत्। चकारः किमर्थः? यथाविधौ नियमार्थः। इह मा भूत्। द्योः। पन्थाः। राः। द्युभ्याम्। द्युभिः।

उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ ॥१।१।१३॥ अजिति वर्तते। उच्चैरुपलभ्यमानोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति। नीचै-रुपलभ्यमानोऽनुदात्तसंज्ञो भवति। स्थानकृतमुच्चत्वं नीचत्वं च गुणः शब्दस्य विशेषणम्। समान एव स्थाने ऊर्ध्व-भागनिष्पन्नोऽच् उदात्तसंज्ञो भवति, नीचभागनिष्पन्नोऽनुदात्त इति। "नित्याः शब्दार्थसंबन्धाः" इति येरिष्यते तेषां निरवयवस्य नित्यस्य शब्दस्य अवयवोपचयापचयाभावात् उदात्तादिव्यपदेशो न घटते, सावयवत्वे च तेषामनित्यत्वं प्राप्नोति। न च नित्यस्य स्थानकरणव्यापारविशेषादिविशेषः प्रतिज्ञायते। क्षणिकपक्षेऽपि नैका-नितान्तरजातिरस्ति यामपेक्ष्योच्चैरयं नीचैरिति परस्परापेक्षो व्यवहारो भवेत्। तस्मादुक्तमनेकान्तमाश्रित्योदा-त्तादयः समर्थनीयाः। न च लोकप्रतीतेषु शब्देषु विभागेनोदात्तादयः प्रतीयन्ते केवलं शास्त्रे व्यवहारार्थं प्रति-ज्ञायन्ते। भू इति उदात्तत्वादिट्। भविता। एध स्पर्ध इत्येतयोरन्त्योऽनुदात्त इति "अनुदात्तेतो दः" [१।२।६] इति दो भवति। एधते। स्पर्धते। उदात्तानुदात्तप्रदेशेषु उच्चनीचगुणविशिष्टस्य ग्रहणं प्रत्येतव्यम्।

व्यामिश्रः स्वरितः ॥१।१।१४॥ उच्चनीचगुणव्यामिश्रोऽच् स्वरितसंज्ञो भवति। पच यज इत्यन्तस्य स्वरितत्वात् "जस्वरितेतः कर्त्रभिप्राये फले" [१।२।६८] इति दो भवति। पचते। यजते। स्वरितप्रदेशाः "स्वरितेनाधिकारः" [१।२।५] इत्येवमादयः।

आदैप् ॥१।१।१५॥ प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिराश्रीयते। प्रत्येकमादैचां वर्णानामैप्संज्ञा यथा भवति। परिशेषात् वाक्यपरिसमाप्तिर्ज्ञायते। तथा हि नानर्थकमिदमाचार्यप्रामाण्यात्। शब्दानुशासनमपि न भवति, ... स्पष्टत्वात्। सूत्रस्यापि ... सिद्धम्। नापि पूर्वापरप्रयोगनियमार्थम्। "सार्वेऽस्मे" [५।१।७७] इत्यत्र यथापि प्रयोगदर्शनात्। ... समुदायार्थमपि न संभवति। "खयश्चात् [ख्वयवाप्तोः]" [५।२।१६] "आयो इति" [५।१।१४४] "नायो रात्" [४।२।१०२] "गुजेरप्" [५।२।१] इति च उभयदर्शनात्। विशे-षणविशेष्यभावोऽपि पीतपटार्थयोर्यथा नीलोत्पलवत्। एवमन्यस्यार्थस्यासंभवात् ... विशेषणतया तत्सामान्येन संज्ञा। तद्भावितानामु-

१. ... प-दी-पसंज्ञानिवृत्त्यर्थं। २ 'क्ष' इत्यस्य व्यञ्जनसमुदायस्य 'प्र' संज्ञायां सत्यां ... प्रसज्येत। ३ तितउच्छत्रमित्यत्र 'तउ' इति त-उसंघातस्य दीसंज्ञायां 'घा पदस्य' [५।१।११९] इति विभाषया लुक् प्रसज्येत। ४. विशेष्यते अ०, ब०, स०। ५. परिशेषा–ब०। ६. सावयवत्व–स०। ७ 'नायो रात्' अ०, ब०, स०। सूत्रं च नोपलभ्यते। 'नावो रात्' इत्युपलभ्यते परन्तु नोचितमिदम्। प्रत्युत ... "ह्रस्वो नादेः" [५।१।८३] इति प्रतिभाति।

इति प्रकृतिभावः । ईदूदेदिति किम् ? वृक्षावत्र । तपकरणमसन्देहार्थम् "मणीवादिषु नेष्यते" मणीव । दम्पतीव । रोदसीव शोभेते । "संज्ञाविधौ त्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति" इति अशुक्ले शुक्ले सम्पन्ने शुक्लयास्ता वत्रे इति त्यत्ते त्याश्रयन्यायेन दिसंज्ञा न भवति ।

दमः ॥१।१।२१॥ एदिति निवृत्तम् । दकारस्य स्थाने यो मकारस्तस्मात्परावीदूतौ दिसंज्ञौ भवतः । अमी आसते । अमी अत्र । अमू आसते । अमू अत्र । "वहावीरेतः" [५।२।८६] इति मत्वमीत्वं च । "दादुर्दो मोऽदसोऽसे." [५।३।८८] इति मत्वम् । द्विमात्रस्य औकारस्य द्विमात्र ऊकारः । आश्रयान्मकारादीना सिद्धिः । द इति किम् ? शम्यत्र । दाडिम्यत्र । म इति किम् ? द इति तान्निर्देशपक्षे तेऽत्रेत्यत्र दकारादेशस्य परेणादेपि कृते स्थानिवद्भावात्तद्भावाच्च दिसंज्ञा प्रसज्येत । कानिर्देशपक्षे चतुष्पद्यर्थ इत्यत्र स्यात् । ईदूदित्येव । इमेऽत्र । एकयोगनिर्दिष्टानामेकदेशोऽनुवर्तते निवर्तते चैकदेश इति एद्ग्रहणं निवृत्तमिति । अन्यथा अमुकेऽत्रेत्यत्रानुवर्तनसामर्थ्यादुकारककाराभ्यां व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्याद्दिसंज्ञा प्रसज्येत ।

निरेकाजनाङ् ॥१।१।२२॥ निसंज्ञ एकाच् अनाङ् दिसंज्ञो भवति । अ अपेहि । इ इन्द्रं पश्य । उ अपसर । निरिति किम् ? चकारात्र । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतेस्त्यस्य च विभागः । अपायिना ह्यनुबन्धलिङ्गेन निरनुबन्धादकाराद् भिद्यते णल् । एकश्चासावच्च एकाजिति किम् ? प्रश्नाति । अनाङिति किम् ? आ उदकान्तात् । ओदकान्तात् । टित्करणं येष्वर्थेषु ङिदयं वर्तते तत्र प्रतिषेधो यथा स्यादन्यत्र दिसंज्ञैव भवति ।

"ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥"

यथाक्रमम् । आ उष्णम् ओष्णम् । आ इहि एहि । आ उदकान्तात् ओदकान्तात् । आ अर्भकेभ्यः आर्भकेभ्यः । आर्भकेभ्यो यशः प्रतीतम् । वाक्यपूरणे स्मरणे चार्थे ङित्त्वाभावाद्दिसंज्ञा । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् ।

ओत् ॥१।१।२३॥ अनेकाजर्थ आरम्भः । ओदन्तो निर्दिसंज्ञो भवति । अहो इति । उताहो इति । अत्र ओदिति प्रधानम् । वचनात्तु प्रधानेनापि तदन्तविधिः । तेनेह लाक्षणिकत्वान्न भवति । अदोऽभवत् । तिरोऽभवत् । अनुपदेशोऽदः [१।२।१३१] "तिरोऽन्तर्धौ" [१।२।१४०] इति निसंज्ञा । इह तु गौणत्वान्न भवति । अगौगौः सम्पन्नो गोभवत् । "च्विडाजूर्यादि." [१।२।१३२] इति निसंज्ञा । गौणत्वाद्वाहीके गोशब्दस्य पञ्चभेदादिवार्थमिति चेत् ? सामान्येन सत्त्वतस्य पदस्य प्रयोगाददोषः ।

कौ वेतौ ॥१।१।२४॥ किनिमित्तो य ओकारस्तदन्त इतौ परतो वा दिसंज्ञो भवति । पटो इति । पटविति । साधो इती । साधविती । काविति किम् ? गवित्ययमाह । गौरिति वक्तव्यमशक्त्या गो इत्युक्तमनुक्रियतेऽनेनान्ताभरणात् । अनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षायामसत्यर्थवत्त्वे विभक्त्यनुत्पादः । इताविति किम् ? पटोऽत्र ।

उञः ॥१।१।२५॥ ऊँमित्येतस्य वा दिसंज्ञा भवतीतो परतः । उ इति, विति । "निरेकाजनाङ्" [१।१।२२] इति नित्यं दिसंज्ञा प्राप्ता । सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? अहो इति । उताहो इति । निसघातपक्षे निरनुबन्धस्य मा भूत ।

ऊम् ॥१।१।२६॥ उञः ऊँमित्ययमादेशो भवतीतो परत. । इति द्विमात्रो नासिक्यो दिसंज्ञकश्च ऊँ इति पाठपठितोऽपि निरसंज्ञोऽस्ति तस्यैतदेव प्रयोगो यथा स्यादित्यारम्भ. ।

दाधा भ्वपित् ॥१।१।२७॥ दा धा इत्येवरूपा धवो भुसंज्ञका भवन्ति पितौ वर्जयित्वा । दारूपाश्च-

---

१.-दानका—अ०, स०, मु० । २.अकारेण ह्यर्थः । ३. योगे निर्दि—अ० । ४.-को दे-स० । ५. निरिति ग्रहणे कस्मान्न भवतीत्यत आह-अपायिनेत्यादि । ६. लिङ्गेन निरनुबन्धलिङ्गेन निर-अ०, मु० । एतत्सर्वमपि एष पाठ । ७. एव-मु० । ८. तेन विना मर्यादा । ९. तेन सहाभिविधिः । १०. माङि-अ०, ब०, स० । ११. सत्त्वतस्य ब० ।

दाहरणम्—नाडायनः । दैवदत्तिः । औपगवः । अतद्भाविनानाम्—मालामयम् । रैमयम् । नौमयम् । विकारार्थे "नित्यं दुशरादेः"[३।३।१०६] इति मयट् । आदिति तपरकरणमैजर्थम् । तादपि परस्तपर इति । तेन तवैषा महौषधिरित्यादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः । "आदैजैप्" [१।१।१५] इत्यत्र "सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्टः" इति जसः स्थाने सुः । ऐप्प्रदेशाः "मृजेरैप्" [५।२।१] इत्येवमादयः ।

अदेङेप् ॥ १।१।१६ ॥ अदेङो वर्णाना प्रत्येकमेपित्येपा सज्ञा भवति । अत्राप्यतद्भाविताना तद्भावितानामदेडामेप्सज्ञा । अतद्भावितानाम्—पचन्ति । पचे । एधन्ते । "एप्यतोऽपदे" [४।३।८४] इति पररूपम् । तद्भावितानाम्—कर्ता । तरति । चेता । स्तोता । ऋकारस्यैवैप्प्रसङ्गे स्थानतोऽन्तरतमौ अकाराकारौ भवतः । तौ च प्रसज्यमानावेव रन्तौ । अदिति तपरकरणं दी-पनिवृत्त्यर्थमेङर्थं च । तेन मालेय खट्वोढा इत्यत्र त्रिमात्रचतुर्मात्राणां[1] निवृत्तिः । एप्प्रदेशाः "मिदेरेप्" [५।२।७६] इत्येवमादयः ।

इकस्तौ ॥ १।१।१७ ॥ परिभाषेयम् । ऐवैपौ सज्ञया विधीयमानौ इक एव स्थाने भवतः । स्थानिनियमोऽय न विधिनियम इति । कुत एतत् ? "सक्थ्यस्थिदध्यक्ष्णाम्" [५।१।५४] इतीको निर्देशात्, एवैपोर्लक्षणान्तरेण विधानाच्च । प्रत्यासत्तेः पूर्वमेवुदाहरण वक्ष्यति । "गाऽगयो."[५।२।८१] । करोति । नयति । भविता । "सावैस्मे"[५।१।७७]। अकार्षीत् । अनैषीत् । अहौषीत् । इच्छातो विशेषणविशेष्यभाव. ।"मिदेरेप्" इत्यत्र गृह्यमाणेन मिदादिना इग्विशेष्यते । तेनानन्त्यस्य भवति । "जुसि" [५।२।८०] "गाऽगगो." [५।२।८१] इति च गृह्यमाणमिका विशेष्यते इतीगन्तस्य भवति । इक इति किम् ? आत्सन्ध्यक्षरव्यञ्जनाना मा भूत् । यानम् । ग्लायति । उम्भिता । अजित्यत्रानुवर्तनादैवेपोः सम्बन्धे सिद्धे 'तौ'ग्रहण सज्ञाविधाने नियमार्थम् । द्यौः । पन्थाः । सः । यत्र स्थानी निर्दिश्यते तत्र नेद व्याप्रियते । यथा "ञ्णित्यच."[५।२।३] इति ।

नधुखेऽगे ॥ १।१।१८ ॥ प्रतिषेधसामर्थ्यादेकदेशे धुर्वर्तते । धोः ख यस्मिन्नगे स धुखः । तन्निमित्तौ वैवेपौ न भवतः । लोलुवः । पोपुवः । मरीमृजः । यङन्तेभ्यः पचाद्यच् । "यङोऽचि" [१।४।१४४] इति यङ उप् । अतः[2] खात् प्रागेव च यङ उबेषितव्यः । अन्यथा देर्घ इत्यत्र अ[3]खमजादेश इति कृत्वा तस्य स्थानिवद्भावात् "दीङोऽचि क्ङिति युट्" [४।४।६२] इति युट् प्रसज्येत । धुग्रहण किम् ? लूञ्—लविता । खविधिर्बलवानिति प्रागेव धुसज्ञाया अनुबन्धनाशः । अत्रागनिमित्त ख नास्तीति[4] द्व्यङ्गवैकल्य नाशङ्कनीयम् । यतो धुग्रहणे सति वसो लभ्यते धोः ख यस्मिन्निति । वसेन अग इत्यस्य विशेषण किम् ? क्नूयी, क्नोपयति । अत्र पुकमाश्रित्य यख नागनिमित्तमिति न प्रतिषेधः । [6]पसे तु प्रसज्येत । अग इति किम् ? रोरवीति । गनिमित्त एऽभवत्येव । अत्रापि[7]यङ्खमगनिमित्त[8] न भवतीति द्व्यङ्गवैकल्य न मन्तव्यम्, यतोऽगग्रहणे सति धुखनिमित्तत्व लभ्यते । इक इत्येव । अभाजि । रागः ।

क्ङिति ॥ १।१।१९ ॥ गिति किति ङिति च निमित्तभूते यावैवेपौ प्राप्नुतस्तौ न भवतः । गिति—"ग्लाभूजिस्थः क्स्नुः"[9] [२।२।११५] इति, भूष्णुः । जिष्णुः । किति—चितम् । स्तुतम् । भिन्नम् । मृष्टम् । ङिति—चिनुतः । चिन्वन्ति । मृष्टः । मृजन्ति । इक इत्येव । कामयते । अचिनवमित्यत्र लङो ङित्वात्कस्मान्न प्रतिषेधः, "सूभवत्योर्मिङि" [५।२।८६] इति । अभूत्[10] । भवतेर्हलादौ मिङ्येप्रतिषेधवचन ज्ञापक ङितो लकारस्यादेशो ङिन्न भवतीति । यासुटो ङित्करण च ज्ञापकम् ।

ईदूदेद्द्विर्दिः ॥ १।१।२० ॥ ईत् ऊत् एत् इत्येवमन्तो यो द्विः स दिसज्ञो भवति । अग्नी इति । वायू इति । खट्वे इति । तद्वदित्यनेन द्विरद्वे श्चैकादेशो द्विग्रहणेन गृह्यत इतीदाद्यन्तश्च भवति व्यपदेशिवद्भावेन । मुख्यरूपेणाय द्विरेकारान्तः । पचेते इति । पचेथे इति । सत्या दिसज्ञायाम् "प्रकृत्याऽचि दिपा." [४।३।१०२]

---

१. अनिवृ-अ०, ब०, म० । २ अकारस्येत्यर्थः । ३ अकारनाश इत्यर्थः । ४ अत्रस्थानिता-देश इत्यर्थः । ५. विध्यगवे-ब० । ६ वसे तु अ०, ब०, मु० । ७. यङ् स-अ०, ब०, म० । ८ 'अगनिमित्तं न' इत्यत्र 'अनिमित्तं न' इति पाठ स्वरस. । ९. 'क्स्नु' मु० । १०. अभूत् इत्यस्य 'सूभवत्योर्मिङि' इत्यत. पूर्वमेव पाठो युक्त । 'अभूत्' इत्यस्याग्रे 'इत्यत्र' इत्यपि योज्यम् ।

इति प्रकृतिभावः। ईदूदेदिति किम् ? वृत्तावत्र। तपकरणमसन्देहार्थम् "मणीवादिषु नेष्यते" मणीव। दम्पतीव। रोदसीव शोभेते। "संज्ञाविधौ त्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति" इति अशुक्ले शुक्ले सम्पन्ने शुक्लयास्तावत्ते इति त्यते त्याश्रयन्यायेन दिसंज्ञा न भवति।

मः ॥१।१।२१॥ एदिति निवृत्तम्। दकारस्य स्थाने यो मकारस्तस्मात्परावीदूतौ दिसंज्ञौ भवतः। अमी आसते। अमी अत्र। अमू आसते। अमू अत्र। "बहावीरेतः" [५।२।८६] इति मत्वमीत्व च। "दादुदौं मोऽदसोऽसे." [५।३।८८] इति मत्वम्। द्विमात्रस्य औकारस्य द्विमात्र ऊकारः। आश्रयान्मकारादीनां सिद्धिः। द इति किम् ? शम्यत्र। दाडिम्यत्र। म इति किम् ? द इति तानिर्देशपक्षे तेऽत्रेत्यत्र दकारादेशस्य परेणादेपि कृते स्थानिवद्भावात्तद्भावाच्च दिसंज्ञा प्रसज्येत। कानिर्देशपक्षे चतुष्पद्यर्थ इत्यत्र स्यात्। ईदूदित्येव। इमेऽत्र। एकयोग निर्दिष्टानामेकदेशोऽनुवर्तते निवर्तते चैकदेश इति एद्ग्रहण निवृत्तमिति। अन्यथा अमुकेऽत्रेत्यत्रानुवर्तनसामर्थ्यादुकारककाराभ्यां व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्याद्दिसंज्ञा प्रसज्येत।

निरेकाजनाङ् ॥१।१।२२॥ निसंज्ञ एकाच् अनाङ् दिसंज्ञो भवति। अ अपेहि। इ इन्द्र पश्य। उ अपसर। निरिति किम् ? चकारात्र। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतेस्त्यस्य च विभागः। अपायिना ह्यनुबन्धलिङ्गेन निरनुबन्धादकाराद् भिद्यते णल्। एकश्चासावच्च एकाजिति किम् ? प्रश्नाति। अनाङिति किम् ? आ उदकान्तात्। ओदकान्तात्। ङित्करणं येष्वर्थेषु ङिदय वर्तते तत्र प्रतिषेधो यथा स्यादन्यत्र दिसंज्ञैव भवति।

"ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥"

यथाक्रमम्। आ उष्णम् ओष्णम्। आ इहि एहि। आ उदकान्तात् ओदकान्तात्। आ अर्भकेभ्यः आर्भकेभ्यः। आर्भकेभ्यो यशः प्रतीतम्। वाक्यपूरणे स्मरणे चार्थे ङित्त्वाभावाद्दिसंज्ञा। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्।

ओत् ॥१।१।२३॥ अनेकाजर्थ आरम्भः। ओदन्तो निर्दिसंज्ञो भवति। अहो इति। उताहो इति। अत्र ओदिति प्रधानम्। वचनात्तु प्रधानेनापि तदन्तविधिः। तेनेह लाक्षणिकत्वान्न भवति। अदोऽभवत्। तिरोऽभवन्। अनुपदेशेऽद. [१।२।१३६] "तिरोऽन्तर्धौ" [१।२।१४०] इति निसंज्ञा। इह तु गौणत्वान्न भवति। अगौर्गाः सम्पन्नो गोभवत्। "च्विडाजूर्यादि." [१।२।१३२] इति निसंज्ञा। गौणत्वाद्वाहीके गोशब्दस्य पथमेनादिकार्यमिति चेत् ? सामान्येन सत्त्वे तस्य पदस्य प्रयोगाददोषः।

कौ चेतौ ॥१।१।२४॥ किर्निमित्तो य ओकारस्तदन्त इतौ परतो वा दिसंज्ञो भवति। पटो इति। पटविति। साधो इती। साधविती। काविति किम् ? गवित्ययमाह। गौरिति वक्तव्यमशक्त्या गो इत्युक्तमनुक्रियतेऽनेनान्ताभरणात्। अनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षायामसत्यर्थवत्त्वे विभक्त्यनुत्पादः। इताविति किम् ? पटोऽत्र।

उञः ॥१।१।२५॥ उञित्येतस्य वा दिसंज्ञा भवतीतौ परतः। उ इति, विति। "निरेकाजनाङ्" [१।१।२२] इति नित्य दिसंज्ञा प्राप्ता। सानुबन्धकनिर्देशः किमर्थः ? अहो इति। उताहो इति। निसंघातपक्षे निरनुबन्धस्य मा भूत्।

ऊम् ॥१।१।२६॥ उञः ऊँमित्ययमादेशो भवतीतौ परतः। इति द्विमात्रो नासिक्यो दिसंज्ञकश्च ऊँ इति पाठपठितोऽपि निसंज्ञकोऽस्ति तस्येतावेव प्रयोगो यथा स्यादित्यारम्भः।

दाधा भ्वपित ॥१।१।२७॥ दा धा इत्येवरूपा धवो भुसंज्ञका भवन्ति पितौ वर्जयित्वा। दारूपाश्च-

---

१.-पासंज्ञा—अ०, स०, मु०। २.अकारेण इत्यर्थः। ३. योगे निर्दि—अ०। ४.-को दे-स०। ५. निरिति ग्रहणे कस्मान्न भवतीत्यत आह-अपायिनेत्यादि। ६. लिङ्गेन निरनुबन्धलिङ्गेन निर-अ०, मु०। परस्मैपदीन एष पाठ.। ७. एव-मु०। ८. तेन विना मर्यादा। ९. तेन सहाभिविधिः। १०. माङ्दि-ब०, द०, स०। ११. संस्कृतस्य ब०।

त्वारः । प्रणिददाति । दाण् । प्रणिदाता । प्रणिदयते । प्रणिद्यति । धारूपौ द्वौ । प्रणिदधाति । प्रणिधयति । दैपः पित्करणं ज्ञापकम् । अत्र प्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रीयते । सुमंज्ञाकार्यं "नेर्गदनद" [५।४।१००] इत्यादिना णत्वं "सुमा" [४।४।६४] इत्यादिना हलीत्वं च । दीयते । धीयते । धीत वत्सेन । अपिदिति किम् ? दायते वर्हिः । अवदायते भाजनम् । सुप्रदेशाः "सुस्थोः" [१।१।६१] इत्येवमादयः ।

क्तक्तवतू तः ॥१।१।२८॥ क्तश्च क्तवतुश्च तसंज्ञौ भवतः । रूपसंज्ञेयम् । कृतः । कृतवान् । भूत इति वर्तमाने इति क्तक्तवतुरूपौ त्यौ भवतः । कारितः । कारितवान् । "ते सेटि" [४।४।५४] इति णेः खम् । भिन्नः । भिन्नवान् । "द्रान्तस्य तो नः" [५।३।५६] इति नत्वम् । ककारः कित्कार्यार्थः । उकार उगित्कार्यार्थः । तप्रदेशाः "ते सेटि" [४।४।५४] इत्येवमादयः ।

संज्ञाः खुः ॥१।१।२९॥ संज्ञाशब्दवाच्योऽर्थः खुसंज्ञो भवति । खुप्रदेशाः "सावन्यपदार्थे" [१।३।१८] इत्येवमादयः ।

भावकर्म डिः ॥१।१।३०॥ भावकर्मशब्दवाच्योऽर्थो डिसंज्ञो भवति । डिप्रदेशाः "जिडौ" [२।१।६२] इत्येवमादयः । तत्र भावकर्मणोर्ग्रहणं प्रत्येतव्यम् ।

शि घम् ॥१।१।३१॥ शि इत्येतद्घसंज्ञं भवति । शि इति नपुंसके जश्शसोरादेशस्यार्थवतो ग्रहणम् । कुण्डानि तिष्ठन्ति । कुण्डानि पश्य । घप्रदेशाः "घेऽकौ" [४।४।६] इत्येवमादयः ।

सुडनपः ॥१।१।३२॥ सुडिति प्रत्याहारेण स्वौजसमौटां ग्रहणम् । सुट् घसंज्ञो भवति नपुंसकलिङ्गा-दन्यस्य । राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । "घेऽकौ" [४।४।६] इति दीत्वम् । सुडिति किम् ? राज्ञः पश्य । अनप इति किम् ? सामनी । वेमनी । अनप इति पर्युदासात् [2]स्त्रीपुंसम्बन्धिनः सुटो घसंज्ञा नपुंसके न विधिर्न प्रतिषेधः । तत्र पूर्वेण जश्शसोरादेशस्य शेर्घसंज्ञा भवत्येव । ननु व्यक्तं स्त्रीपुंसग्रहणमेव कर्तव्यम् ? एवं तर्ह्यनप इति निर्देशात् सापेक्षस्यापि नञः[3] समविधिर्भवतीति ज्ञाप्यते । तेन अश्राद्धभोजी अलवणभोजीत्येवमादयः सिद्धाः ।

कतिः संख्या ॥ १।१।३३ ॥ कतिशब्दः संख्यासंज्ञो भवति । कतिकृत्वः । कतिधा । कतिकः । किं परिमाणमेषां "किमः" [३।४।१६२] "संख्यापरिमाणे डतिश्च" [३।४।१६३] इति डतिः । कति वारान् भुङ्क्ते । कतिभिः प्रकारैः । कतिभिः क्रीत इति । यथाक्रमं "संख्यायाः ध्वैभ्यावृत्तौ कृत्वस्" [४।२।२४] "संख्याया विधार्थे धा" [४।१।१०६] "संख्यायाः कोऽतिशत." [३।४।१६] इति क इत्येते भवन्ति । ननु प्रदेशेषु संख्याग्रहणेनान्वर्थविज्ञानात् संख्यायतेऽनयेति कृत्वा कतिशब्दस्यापि ग्रहणे सिद्धे किमर्थमिदम् ? नियमार्थम् । अनियमितेषु कतिशब्दस्यैव संख्यारूपता । तेन भूरिप्रभृतादीनां निवृत्तिः. "संख्यायाः गुणोऽबहुगणात" [४।२।६६] इत्यत्र बहुगणयोः प्रतिषेधाद्भवति संख्याग्रहणम् । बहुकृत्वः । गणकृत्वः । वपुल्यमद्वयोर्न संख्यात्वम् । "वतोर्वट्" [३।४।२०] इति वचनं ज्ञापकं भवति वत्वन्तस्य संख्याग्रहणेन ग्रहणम् । तावतिकः । तावत्कः । संख्याप्रदेशाः "संख्याया कोऽतिशत." [३।४।१६] इत्येवमादयः ।

ष्णान्तेत् ॥ १।१।३४ ॥ कतिः संख्येति वर्तते । षकारनकारान्ता संख्या कतिशब्दश्च इत्संज्ञा भवति । ष्णान्तेति पदस्य संख्यापेक्षः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । कतेरनुवर्तनसामर्थ्यादित्संज्ञा । षट् । पञ्च । सप्त । कति तिष्ठन्ति । "उविलः" [५।१।१६] इति जस उप् । ष्णान्तेति संख्याविशेषणं किम् ? विप्रुषः पामान इति अल-ग्रहणं असंनिर्देशेन संख्याप्रतिपत्त्यर्थमौपदेशिकार्थं च । तेन शतानीत्यादौ न भवति । इत्प्रदेशाः "उविलः" [५।१।१६] इत्येवमादयः ।

सर्वादिः[4] सर्वनाम ॥ १।१।३५ ॥ सर्वादयः शब्दाः प्रत्येकं सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । सर्वे । सर्वस्मै । सर्वेषाम् । स्त्रियाम्—सर्वस्यै । विश्वे । विश्वस्मै । उभशब्दस्य "सर्वनाम्नो भा" [१।४।३६] इत्यसमर्थः पाठः ।

---

१. जिडौ-अ०, स० । २. स्त्रीपुंसम्बन्ध-अ०, स० । ३. नपः ब० । ४.-या अन्या-मु० । ५.-दि स-मु० । ६.-मो भावत्वे-ब० । -मो भावत्वे-स० ।

उभाभ्यां हेतुभ्याम्। उभयोर्हेत्वोर्वसति। द्विवचनटाप्परश्चायम्। उभौ पक्षौ। उभे कुले। उभे विने। उभे। उभयस्मिन्। उभयेषाम्। जसि "प्रथमचरम" [१।१।४१] आदिविकल्पात् पूर्वनिर्णयेनायमेव विधिः। उभये इति। डतरडतम इति त्यौ। कतरस्मै। इतर अन्य अन्यतर। इतरस्मै। अन्यस्मिन्। अन्यतरस्मै। त्व उभये इति। डतरडतम इति त्यौ। त्वे। त्वेषाम्। नेम। नेमस्मिन्। जसि वक्ष्यमाणो विकल्पः। नेमे। नेमाः। समशब्द' इत्यय शब्दोऽन्यवाची। त्वे। त्वेषाम्। नेम। नेमस्मिन्। समे। समस्मिन्। अन्यत्र यथासंख्यं समाः। समे देशे तिष्ठतीति भवति। सिमः। सिमस्मै। सर्वशब्दस्यार्थे। समे। समस्मिन्। अन्यत्र यथासख्य समाः। समे देशे तिष्ठतीति भवति। सिमः। सिमस्मै। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्" "स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्"[4] "अन्तरं बहिर्योगोप-संव्यानयोः" त्यद् तद् यद् एतद् अदस् इदम् एक द्वि। अलविधि प्रति द्विपर्यन्तास्त्यदादयः। युष्मद् अस्मद् भवत् किम्।[1] त्यदादीना यत्परं तत्तदुभयवाचि। सर्वनामेत्यन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् संज्ञोपसर्जनाना न भवति। सर्वो नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय देहि। अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्तस्मै अतिसर्वाय। "पूर्वपदात् खावगः" [४।४।८७] इति णत्व न भवति।[3] सर्वनामप्रदेशाः "आम्यात्सर्वनाम्नः" [४।१।३४] इत्येवमादयः।

वा दिक्सवे ॥१।१।३६॥ दिगुपदिष्टे से वसञ्ज्ञके सर्वादीनि वा सर्वनामसञ्ज्ञकानि भवन्ति। "न वे" [१।१।३७] इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम्। दक्षिणपूर्वस्यै। दक्षिणपूर्वायै। उत्तरपूर्वस्यै। उत्तरपूर्वायै। दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालमिति विग्रहे "दिशोऽन्तराले" [१।३।८८] इति वसः। "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" [वा०] इति पूर्वपदस्य पुवद्भावः। उत्तरपदस्य "स्त्रीगोर्नीचः" [१।१।८] इति प्रः। पुनष्टाप्। प्रतिपदोक्तस्य दिक्सस्य ग्रहणादिह नास्ति विकल्पः। दक्षिणैव पूर्वा अस्य मुग्धस्य दक्षिणपूर्वाय देहि। दक्षिणा च सा पूर्वा च सा त्रासिन्नपि विग्रहे परत्वात् "दिशोऽन्तराले" [१।३।८८] इतीय प्राप्तिर्न राज्ञा दण्डवारितेति कर्तव्यमेवेदं सूत्रम्। दिग्ग्रहणं किम्? "न वे" इति प्रतिषेध वक्ष्यति तस्य प्रतिषेधस्यास्य च विकल्पस्य विषयज्ञापनार्थम्। सग्रहणं किम्? साधिकारविहिते वसे विकल्पो यथा स्यादातिदेशिके मा भूत्। दक्षिणदक्षिणस्मै देहि। "आबाधे" [४।३।८] इति द्वित्वम्। वसवदतिदेशश्च "न वे" इत्यत्रापीदं सग्रहणमनुवर्तते तेनापि न प्रतिषेध। वग्रहणं किम्? दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्। द्वन्द्वे विकल्पो मा भूत्। ननु प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणमनोक्त ततो "द्वन्द्वे" [१।१।३९] इत्येव प्रतिषेधः सिद्धः। उत्तरार्थं[6] तर्हि वग्रहणम्।

न वे ॥१।१।३७॥ वसे सर्वादीनि सर्वनामसज्ञानि न भवन्ति। द्व्यन्याय। त्र्यन्याय। "सर्वनामसंख्ययोः" इति वहात्वेन पूर्वनिपातः संख्याया एव[6]। प्रियविश्वाय। प्रियोभयाय। इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकमत्र तदन्तविधिरस्तीति। तेन परमसर्वस्मै इत्यत्रापि सर्वनामसंज्ञा। ननु सर्वनामसंज्ञायामन्वर्थविज्ञानात्संज्ञोपसर्जननिवृत्तिरुक्ता सर्वोपसर्जनश्च वस इति सर्वनामसंज्ञाया' प्राप्त्यभावात्सूत्रमिदमनर्थकम्। नानर्थकमेतत्, प्रयोजनसद्भावात्। त्वकं पिताऽस्य मकं पिताऽस्य त्वत्कपितृकः। मत्कपितृकः। वसावयवस्य सर्वनामसंज्ञाविरहादग्मा भूत्। कुत्साद्यर्थे के परत. "त्यदोश्च" [४।१।१२७] इति त्वमादेशौ। स इत्येव। एकैकस्मिन्। "एको बवत्" [४।३।७] इत्यातिदेशिके वसे प्रतिषेधो मा भूत्। वाशेषकारे पुनर्वग्रहणं वसगर्भे द्वन्द्वेऽपि नित्यप्रतिषेधार्थम्। वस्त्रान्तरगृहान्तरा इति।

भासे ॥१।१।३८॥ भासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति। मासपूर्वाय। संवत्सरपूर्वाय। मासेन पूर्वः। "पूर्वादयस्तसा" [१।३।२८] आदिसूत्रेण भास.। सः इति वर्तमाने पुन. सग्रहणं भासार्थे वाक्येऽपि तत्संज्ञाप्रतिषेधार्थम्। मासेन पूर्वाय। तृत्ये च "पूर्वावर" [१।३।२८] इत्यादि भासे यद् वाक्यं तत्र प्रतिषेधो न। "साधन कृता बहुलम्" [१।३।२१] इति भासे। त्वयका कृतम्। मयका कृतम्। अन्यथा त्वत्केन कृत मत्केन कृतमित्यनिष्टं स्यात्। त्वयका मयकेति पूर्व त्वमादेशौ। तत. सुबन्तादक्। तथा ह्यग्विधौ वक्ष्यति। मृदः सुपः इति च प्रत्ययानुवर्तते। अभिधानतश्च व्यवस्था। तत्र मृदः प्राक् सुपोऽग्भवति। युष्मकाभिः। अस्मकाभिः।

---

१. एकशेषनादिनो हि "त्यदादीनान्मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते" इति वचनेन परस्य पूर्वार्थप्रतिपादकत्वमुपगच्छन्ति। पर "त्यदादीनां यद्यत्परं तत्तदुभयवाचि" इत्यर्थकशेषमकृत्वैवायमाचार्य एकशेषप्रयोजनं निर्दिशति। २. 'सर्वनामसंज्ञा' इति शेष.। ३. सौत्रत्वात् इति शेष.। ४. 'प्रदाय' मु०। ५ "न वे" सूत्रपंक्तिस्थ.। ६. 'एव' मु०।

युष्मकासु । अस्मकासु । युवकयोरावकयोरिति । क्वचित्तु सुबन्तस्याक् । त्वयका । मयका । त्वयकि । मयकि ।

द्वन्द्वे ॥१।१।३९॥ द्वन्द्वे मे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । कतरकतमाय । कतरकतमात् । कतरकतमानाम् ।

वा जसि ॥१।१।४०॥ द्वन्द्वे मे सर्वादयः सर्वनामसंज्ञा वा भवन्ति । कतरकतमे । कतरकतमाः । पूर्वेण नित्यप्रतिषेधः प्राप्तः । जसीत्याधारनिर्देशाज्जसि कार्ये शीभावो विभाष्यते । अक् तु पूर्वेणैव प्रतिषिद्धः । यदि जसि परतस्तत्संज्ञा विकल्प्येत तदा संज्ञापक्षेऽग्भवेत्, कतरकतमके इत्यनिष्टं प्रसज्येत । कुत्साद्यर्थविवक्षायां तु के सति तद्व्यवधानान्न शीभावः । अतः कतरकतमका इति सिध्यति । न च केऽपि सति स्वार्थिकत्वं प्रकृतिग्रहणेन ग्रहणम् । अन्यथा सर्वादौ डतरडतमग्रहणमनर्थकं स्यात्, सर्वनाम्न एव तयोर्विधानात् ।

प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः ॥१।१।४१॥ प्रथमादयः शब्दा जसि वा सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । प्रथमे, प्रथमाः । चरमे, चरमाः । तय इति त्यग्रहणं तेन वचनात्संज्ञाविधावपि तदन्तविधिः । द्वाववयवावस्य-मिति द्वितये, द्वितयाः । "संख्याया अवयवे तयट्" [३।३।१६४] इति तयट् । एकदेशविकृतस्यानन्य-त्वाद्विकल्पः द्वये द्वयाः । उभये । अयमुभयशब्दः सर्वादित्वान्नित्यं सर्वनामसंज्ञः । अल्पे, अल्पाः । अर्धे, अर्धाः । कतिपये, कतिपयाः । नेमे, नेमाः । नेमशब्दस्य प्राप्तेऽन्येषामप्राप्ते विभाषा । अत्रापि जसः कार्यं प्रति विकल्पः । कुत्साद्यर्थे के कृते तेन व्यवधानात्पक्षेऽपि सर्वनामसंज्ञा न भवति । तेन प्रथमका इत्यादि सिद्धम् ।

पूर्वादयो नव ॥१।१।४२॥ पूर्वादयो नव सर्वादौ व्यवस्थिता जसि वा सर्वनामसंज्ञा भवन्ति । तथा हि— "पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्" "स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्" "अन्तरं बहिर्योगोप-संव्यानयोः" इति । पूर्वे, पूर्वाः । परे, पराः । अवरे, अवराः । दक्षिणे, दक्षिणाः । उत्तरे, उत्तराः । अपरे, अपराः । अधरे, अधराः । व्यवस्थायामिति किम् ? दक्षिणा इमे गायकाः । अपरा वादिनः । नात्र दिग्देशकाल-कृतोऽवधिनियमो व्यवस्था प्रतीयते, किं तर्हि ? प्रावीण्यमन्यार्थता च । असंज्ञायामिति किम् । उत्तराः कुरवः । व्यवस्थायामपीयं संज्ञा । तेषां स्वे शिष्याः स्वाः । यदा ज्ञातिधनयोः संज्ञारूपेण वर्तते स्वशब्दस्तदा नास्ति सर्व-नामसंज्ञा । उल्मुकानीव स्वा दहन्ति । विद्यमाना अपि स्वा न दीयन्ते । अन्तरे गृहाः । अन्तरा गृहाः ।

विदुषः पश्य । शास्त्रान्तरेण भूतो यणः स्थाने[1] इक् स जितञ्ज्ञो यथा "जः" [४।३।६४] इति परपूर्वत्वम् , जेरिति दीत्वम् । हूतः । गृहीतः । यदि यणः स्थाने इक् भाव्यमानो जितञ्ज इहापि स्यात् , अदुहितराम् । अदुहु-भ्याम् । अदुहुवा । दुह आत्मकर्मणि लङ् । "स्नोश्च जिश्च" [२।१।४६] इति जियकोः प्रतिषेधः । शप् तलोप् । अत लस्य स्थाने इट् वकारस्य स्थाने उदूठौ ? ततश्च "जः" [४।३।६४] इति परपूर्वत्वं "०लः" [४।४।२] इति दीत्वं च प्रसज्येत । नाय दोषः, भाविन्या संज्ञया विधीयमानस्यको जित्वात् । "कार्यकाल संज्ञापरिभाषम्" इति । जिप्रदेशाद् "वे व्यस्य पुत्रपत्योजः" [४।३।६] इत्येवमादयः

ता स्थाने ॥१।१।४६॥ येयमनुसूत्रमुच्चारिता ता सा स्थान एव ज्ञातव्या । बहवो हि तार्थाः । स्वस्वामि-सम्बन्धसमीपसमूहविकारावयवस्थानादयः । तेषु प्राप्तेषु नियमः क्रियते—अन्यार्थसम्प्रत्ययो मा भूदिति । नित्य-शब्दार्थसम्बन्धविवक्षायां स्थानशब्दः प्रसङ्गवाची । प्रसङ्गश्च प्राप्तार्हत्वं स्वार्थप्रत्यायकावसरो वा । यथा गुरोः स्थाने शिष्य उपचर्यते इति गुरोः प्रसङ्ग इति गम्यते । एवमस्तेः स्थाने प्रसङ्गे भूः । भविता । भवितुम् । भवितव्यम् । ब्रूञः प्रसङ्गे वचिर्भवति । वक्ता । वक्तुम् । वक्तव्यम् । अनित्यशब्दार्थसम्बन्धविवक्षायामपकर्ष-वाची स्थानशब्दः । यथा गोः स्थाने अश्वं बध्नाति । एवमस्तेः स्थानेऽपकर्षे भूर्भवति । अस्तेरनन्तरमस्तेः समीप इत्येवमादयो निवर्तिता भवन्ति । यत्र तानिर्देशे सम्बन्धविशेषो न निर्ज्ञातस्तत्रेयं परिभाषोपतिष्ठते । शास इत्येवमादिषु तु भागो य उङ् तत्रेत्यवयवयोगो निज्ञात इति नेय व्याप्रियते ।

स्थानेऽन्तरतमः ॥१।१।४७॥ अन्तरः प्रत्यासन्नः । स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम एवादेशो भवति । आन्तर्यं च शब्दस्य स्थानार्थगुणप्रमाणतः । स्थानतः—लोकागम् । "स्वेऽको दी." [४।३।८८] इति कण्ठ्य एवाकारो दीर्भवति । अर्थतः—वतण्डस्यापत्य स्त्री "वतण्डात्" [३।१।६७] इति यञ् । तस्य "स्त्रिया-लुप्" [३।१।६८] इत्युप् । वतण्डी चासौ युवतिश्च वातण्ड्ययुवतिः । "पोटायुवतिस्तोक" [१।३।६०] आदि सूत्रेण समास, "म्युक्तपुंस्कः" [४।३।१४६] आदिना पुंवद्भावः प्राप्तो "जातिश्च" [४।३।१५३] इति प्रतिषिद्धः "पुंवद्जातीयदेशीये" [४।३।१५४] इति । अर्थतो वातण्ड्यशब्दो भवति । गुणतः—पाकः । त्यागः । अल्पप्राणस्य घोषवतस्तादृश एव । प्रमाणतः—अमुष्मै । अमूभ्याम् । प्रस्य प्रः । दीसंज्ञकस्य दी । स्थान इति वर्तमाने पुनः स्थानग्रहणं यत्रानेकमान्तर्यं सम्भवति तत्र स्थानत एव भवतीति । चेता । स्तोता । प्रमाणतोऽकारः प्राप्तः स्थानतोऽन्तरतमावेकारौकारौ च । तत्र पुनः स्थानग्रहणात्स्थानकृतमेवान्तर्यं बलीय इत्यकारौकारौ भवतः । तमग्रहणं किम् ? वाग्घसति । हकारस्य पूर्वस्वत्वे सोष्मणस्सोष्मा द्वितीयः प्राप्तो नादवतो नादवांस्तृतीयः । तमग्रहणात् सोष्मा नादवांश्च स चतुर्थो भवति ।

रन्तोऽणुः ॥१।१।४८॥ उः स्थानेऽण् प्रसज्यमान एव रन्तो भवति । लक्षणान्तरेण विधीयमान एवाण् विधानबलेन तल्लक्षणक प्रतिपद्यमानेन[2] रन्तो भाव्यत इत्यर्थः । अकर्तरीति निर्देशात्सर्वादेशो न भवति । कर्ता । किरति । गिरति । द्वैमातुरः । भरतः । शातमातुरः । द्वयोर्मात्रोरपत्यं [शतमातुरपत्यम्] 'तस्यापत्यम्' [३।१।७७] इत्यणि परतो "मातुरुत्सङ्ख्यासम्भद्रादेः" [३।१।१०४] इत्युकारादेशः । उरिति किम् ? नेयम् । पन्था । अणिति किम् ? मातापितरौ । सौधातकिः । आनङ्अकङौ सघातावेतौ । नार्णौ । [illegible] स्थान एव रन्त ? यो हि द्वयोस्तन्निर्दिष्टयोः स्थाने भवति सोऽन्यतरेणापि व्यपदिश्यते । [illegible] पुत्र । नार्णः पुत्र । अत्राप्लृकारयोः सवर्णत्वम् । तेन तवल्कारः । कथ लन्तत्वम् ? रन्त इति लणो लाकारान्तरेण प्रश्लेषनिर्देशात् प्रत्याहारग्रहणम् । तेनादोषः ।

---

१. स्थाने [illegible] इ-मु० । २. [illegible]वसरो वा अ०,स०। ३. उरन्तस्य मु० । ४. "रन्तोऽणुः" सूत्र [illegible] । ५. एनेनेति भेद । ६.–[illegible] शतमातृणामपत्यं तस्या, अ०, ब०, स० ।

अन्तेऽलः ॥१।१।४९॥ तानिर्दिष्टस्य य उच्यते विधिः सोऽन्ते वर्तमानस्यालः स्थाने भवति। "ता स्थाने"[1] इति तास्थाने निर्ज्ञातस्यानेनान्ते उपसंहारः क्रियते। टित्किन्मितस्त्ववयवसम्बन्धतानिर्दिष्टस्य विधीयमाना अन्तस्य न भवन्ति। "इद् गोण्याः" [१।१।१०] पञ्चगोणिः। दशगोणिः। अन्त्यस्येद् भवति। ननु "पुंसीदोऽन्" [४।१।१६६] इति वर्तमाने "हलि खम्" [४।१।१७१] इतीद्रूपस्य योऽन्त्यस्तस्य प्राप्नोति। "नानर्थकेऽन्तेऽलो विधिः" इति न भवति। "ता स्थाने" इत्यस्य योगस्य किं प्रयोजनम्? यत्तानिर्दिष्टस्तस्य स्थाने आदेशो यथा स्यादधिकस्य मा भूत्। "पादः पत्" [४।४।११६] इति। द्विपदः पश्य। पादन्तस्य न भवति।

ङित् ॥१।१।५०॥ ङितः सर्वेऽनेकालः। ङिच्च आदेशोऽनेकाल् सोऽन्तेऽलः स्थाने भवति। वक्ष्यति "युष्मदस्मदोऽकञ् खञ्" [३।२।१२१] यौष्माकीणः। आस्माकीनः। दकारस्याकञ्। अकारोच्चारणसामर्थ्यात्स्वरूपाभावः। "सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय" ङिदेवानेकालन्त्यस्य स्थाने। अतोऽन्यः सर्वस्य। "अस्तिब्रूजोर्भूवची" [१।४।१२४] इत्येवमादयः सर्वादेशाः।

परस्यादेः ॥१।१।५१॥ परस्य कार्यं शिष्यमाणमादेरलः स्थाने वेदितव्यम्। क्व च परस्य कार्यम्। यत्र कानिर्देशेन "ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः [१।१।६०] इति परस्य ताप्रक्लृप्तिः। "ईदासः"[४।१।१४२] आसीनो भुङ्क्ते। द्व्यन्तरोपसर्गेभ्योऽप ईत्" [४।३।२०२] द्वीपः। अन्तरीपः। समीपः।

शित्सर्वस्य ॥१।१।५२॥ शिदादेशः सर्वस्य स्थाने वेदितव्यः। "जश्शसोः शिः" [४।१।१७] धनानि तिष्ठन्ति। वनानि पश्य। इदमेव ज्ञापकमनुबन्धकृतमनेकाल्त्वं न भवतीति। तेन "दिव उत्" [४।३।१०८] इत्येवमादिषु सर्वादेशो न भवति। ण अल् णालिति प्रश्लेषनिर्देशाण्णालादयः सर्वादेशाः। "अष्टाभ्य औश्" [४।१।१८] इति "परस्यादेः" इतीमं बाधित्वा शित्त्वेन परत्वाद्वा सर्वादेशः।

टिदादिः ॥१।१।५३ टिद्यः स तान्निर्दिष्टस्यादिर्भवति। "वलाद्यगस्येट्"[2] [४।१।८४] लविता। लवितुम्। लवितव्यम्। "ता स्थाने" इत्यस्यायमपवादः। "चरेष्टः" [२।२।२१] इत्येवमादौ तानिर्देशाभावान्नादौ विधिः। अथवा "मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन् बाधन्ते" इति "ता स्थाने" इत्यस्यैव बाधो[3] न तु त्यपरत्वस्य।

किदन्तः ॥१।१।५४ किद्यः स तानिर्दिष्टस्यान्तो भवति। मुण्डो भीषयते। जटिलो भीषयते। भियो णिच् हेतुभयार्थे। "ईतः पुग्नित्यम्" [४।३।४६] इति पुक्। "णेर्भीस्मेर्हेतुभये" [१।२।६४] इति दः। पूर्वोक्तपरिहाराद् "आतः कः" [२।२।३] इत्येवमादिषु नातिप्रसङ्गः।

परोऽचो मित् ॥१।१।५५ अन्त इति वर्तते। अर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः। मिद्यः स तानिर्दिष्टस्यान्त्यादचः परो भवति। अन्तग्रहणानुवृत्तेर्हलन्तस्यापि भवति। अन्यथा अच इति विशेषणम्, तेन तदन्तविधि[illegible] स्वयमेव लभ्येतेति वक्ष्यति। "इदितो नुम्" [५।१।३७] नन्दिता। नन्दितुम्। नन्दितव्यम्। व्यपदेशिवद्भावादत्रान्त्यत्वम्। "रुधितुदादिभ्यां श्नम्शौ" [२।१।७३] रुणद्धि। भिनत्ति। "ता स्थाने" [१।१।४९] "त्यः" [२।१।१] "परः" [२।१।२] इत्यनयोरयमपवादः। "मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते" इत्यनिया परिभाषा "तृणह" [५।२।६०] इति निर्देशात्।

स्थानीवादेशोऽनल्विधौ ॥१।१।५६॥ स्थाने प्रसङ्गोऽस्यास्तीति स्थानीव भवत्यादेशः। स्थान्याश्रयेषु कार्येष्वनलाश्रयेषु स्थान्यादेशयोर्नानात्वात् स्थानिकार्यमादेशे न प्राप्नोतीत्यतिदिश्यते। धुगु[illegible] गुर्भ[illegible]-पदगादेशाः प्रायः प्रयोजयन्ति। घोरादेशो धुरिव भवति। अस्तेर्भूभावे धोर्विहितास्तव्यादयः सिद्धाः। भवितव्यम्। भवितुम्। गोरादेशो गुरिव भवति। त्रयाणाम्। "गोः" [४।४।१] "नामि" [४।४।२] इति दीर्घत्वम्। कृदादेशः कृदिव। प्रकृत्य। प्रहृत्य। प्यादेशे कृते पिति तुगिष्यते। हृदादेशो हृदिव। अदोऽर्दानीति आदिश्च।

1. नानुबन्धेति परिभाषा एतत्सामर्थ्याद्विज्ञप्ता। 2. "बाधा" अ०, ब०, स०। 3. तानिर्देशाभावादित्यर्थः।

शालाकिकः "प्राग्यद्ठण्" [३।३।१२६] इकादेशे कृते "कृद्वृत्साः" [१।१।६] इति मृत्संज्ञा सिद्धा। सुप्रादेशः सुबिव। वृक्षाय। ङेर्यादेशेऽपि "सुपि" [५।२।९७] इति दीर्त्वं सिद्धम्। मिङादेशो मिङिव। बभूवतुः। बभूवुः। अतुस्युसि च कृते "सुम्मिङन्तं पदम्" [१।२।१०३] इति पदसंज्ञाया पदस्येति रित्व सिद्धम्। पदादेशः पदमिव भवति। ग्रामो वः स्वम्। ग्रामो नः स्वम्। वस्नसोः कृतयोः पदस्येति रित्वं सिद्धम्। गादेशो ग इव। अचिनुतम्। ङित्वादेप्रतिषेधः। इवेति किम्? स्थानी आदेशस्य सञ्ज्ञेति मा विज्ञायि। अत्र को दोषः? "आटो यमहनः" [१।२।२३] इति वधेरेव दविधिः स्याद्धन्तेस्त्वाश्रयस्य न स्यात्। इवग्रहणादुभयत्र भवति। आहत। आवधिष्ट। आदेशग्रहणं किम्? विकारमात्रेऽपि यथा स्यात्। पचतु। पचन्तु। मिङन्तं पद सिद्धम्। अनल्विधाविति किम्? द्यौः। पन्थाः। स्वः। द्युपथित्यदादेशा न स्थानिवद् भवन्ति। स्थानिवद्भावे "हल्ङ्याप:" [४।३।२६] इति सोः ख प्रसज्येत। अलः परो विधिरयं प्राप्तः। क इष्ट इत्यत्रेकारस्य स्थानिवद्भावे हशि रेरुत्व प्रसज्येत। अलि विधिरयम्। प्रदीव्येति क्त्वाल्यस्य स्थानिवद्भावे "वलाद्यगस्येट्" [५।१।८४] प्रसज्येत। अल. स्थाने विधिरयम्। अलाश्रयो विधिः अल्विधिः। शाकपार्थिवादिवन्मयूरव्यंसकादित्वात्स. ।

परेऽचः पूर्वविधौ ॥१।१।५७॥ आदेश. स्थानीवेति वर्तते। अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वविधौ कर्तव्ये स्थानीव भवति। पटुमाचष्टे पटयति। णिनिमित्तस्य स्थानिवद्भावात् "उङोऽतः" [५।२।४] इत्यैन्न भवति। अवधीत्। अगनिमित्तस्यातः खस्य स्थानिवद्भावात् "अतोऽनादेर्वैः" [५।१।८३] इति हलन्तलक्षण ऐविकल्पो न भवति। पूर्वेण "अनल्विधौ" [१।१।५६] इति प्रतिषेध उक्तेऽल्विध्यर्थमिदम्। परे इति किम्? वैयाघ्रपद्यः। पादस्य खमजादेशः परनिमित्तो न भवतीति पद्भावे स्थानीव न भवति। युवतिर्जायाऽस्य युवजानिः। जायाया निङ्न परनिमित्तक इति "वलि व्योः खम्" [४।३।५५] न प्रतिबध्नाति। अच इति किम्? प्रगत्य। ण्ये परतो टस्य ख परनिमित्त प्रस्य तुकि कर्तव्ये स्थानीव न भवति। पूर्वविधाविति किम्? नेयेय.। निधेरपत्य "द्व्यचः" [३।१।११०] "इतोऽनिञः" [३।१।१११] इति ढणि परविधौ कर्तव्ये आत्वस्य न स्थानिवद्भावः। अन्यथा व्यचो ढण् न स्यात्। हे गौः। परविधौ सुखे कर्तव्ये ऐपो न स्थानिवद्भावः। अचोऽनादिष्टात् पूर्वविधौ स्थानिवद्भावः। इह मा भूत्। अचीकरत्। अजीहरत्। अत्र हि "णौ कच्युट."[५।२।११५] इति प्रादेशे कृते द्वित्वे च प्रादेशस्य स्थानिवद्भावात् "णौ कच्यनक्खे सनूवत्" [५।२।११०] इति सन्वद्भावो न प्राप्नोति। आदिष्टादेषोऽचः पूर्व इति स्थानिवद्भावाद्भवति। वाय्वोरध्वर्य्वोरित्यत्र यखविधि प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् "वलि व्यो. खम्" [४।३।५५] इति यखं प्राप्नोति। कर्तव्योऽत्र यत्न.।

न पदान्तद्वित्ववरेयखस्वानुस्वारदीचर्विधौ ॥१।१।५८॥ पदान्तादिविधिष्वजादेशः स्थानीव न भवति। पूर्वेण प्राप्तस्य स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधोऽयम्। पदान्तविधौ—कौ स्तः। कानि सन्ति। अतः परनिमित्तमावादेशे यणादेशे च कर्तव्ये स्थानीव न भवति। अथ नात्र नियमः पूर्वविधेः। स्तः कौ, सन्ति कानि इत्यपि प्रयोगात्। आदिष्टाच्चाचः पूर्वमोकारादि। इद तदुदाहरणम्—अभिपन्ति। निषन्ति। द्वित्वविधौ—दध्यत्र। मध्वत्र। यणादेशस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् "अनचि" [५।४।१२७] इति धकारस्य द्वित्व सिद्धम्। "असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे" इति स्थान्तस्य ख न भवति। वरविधौ—यायावरः। यातेर्यङन्तात् "यो वरः" [२।२।१५७] इति वरे कृतेऽतः खस्यागनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधाद्यखे च कृते अकारस्य स्थानिवद्भावात् "इटि चान्तम्" [४।४।६३] इत्यात्वं न भवति। ईविधौ—आमलकम्। पञ्चदाच्छिः।

---

१. पदत्वात् "ससजुषो रि" इति रित्वं सिद्धमित्यर्थः। २. व्याघ्रस्येव पादावस्येति वसे "खम्पादस्याहस्त्यादे." इत्यत. खे ततोऽपत्यार्थे "गर्गादेर्यञ्" इति यञि "पादः पत्" इति पदादेशे ऐचि वैयाघ्रपद्य इति। ३. "द्वौ यलोपे च लोपाजादेश एव न स्थानिवत्" इत्येवंरूपो यत्न.।

आमलक्या अवयवः फलं "नित्यं द्रुशरादेः" [३।३।१०९] इति मयट्। तस्य "उप्फले" [३।३।१२१] इत्युप्। "ह्रदुप्युप्" [१।१।६] इति स्त्रीप्रत्ययस्योप् परनिमित्तकस्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् "यस्य ङ्यां च" [४।४।१३६] इत्यलं न भवति। पञ्चभिर्गार्गीभिः क्रीतः "राढुक्खौ" [३।४।२६] इति ठण उपि स्त्रीप्रत्ययोप्। तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादिकारस्य ख न भवति। खविधौ—कण्डूतिः। कण्डूयतेः "क्तिच्क्तौ खौ" [२।३।१५०] इति क्तिचि कृतेऽतः खस्याग्निमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् "वलि व्योः खम्" [४।३।५५] इति यख भवति। ऊडादेशं प्रति स्थानिवद्भावः स्यादिति चेद् भवतु। द्यूतौ। शद् भविष्यति। ततः स्नेऽको दीत्वम्। योऽनादिष्टात्पूर्वं इति न्यायात्पुनरूडादेशो न भवति। खविधौ—शिण्डि। पिण्डि। श्नस खस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधादत्रानुस्वारस्य परस्वत्वं भवति। अनादिष्टादचः पूर्वस्थानी नकारस्तस्मै वाय विधिः। अनुस्वारविधौ—शिपन्ति। पिपन्ति। "नश्चापदान्तस्य झलि" [५।४।८] इत्यनुस्वारे कर्तव्ये नकारः "श्नसः खम्" [४।४।१०१] इत्यनादिष्टादचः पूर्व इत्यल न स्थानिवद्भवति। दीविधौ—प्रतिदीनः। प्रतिदीना। अनः खस्य परनिमित्तस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् "हल्यमकुछुरः" [५।३।८६] इत्यनुवृत्तौ "उदि" [५।३।८७] इति दीत्वं सिद्धम्। वकारो हल्परोऽस्त्येव वचनात्। चर्विधौ—जक्षतुः। जक्षुः। "गमहनजनखनघसोऽनङि क्ङिति" [४।४।६३] इत्युडः ख घकारस्य चत्वे कर्तव्ये स्थानीव न भवति। गिर्योरिति[१] प्रकृतिपूर्वत्वेनान्तरङ्गे दीत्वे कर्तव्ये यणादेशोऽसिद्धः।

द्वित्वेऽचि ॥१।१।५९॥ नवान्तद्वित्वेत्यतो द्वित्वग्रहणमनुवर्तते। तत्कार्यविशेषणम्। द्वित्वनिमित्ते ऽच्यजादेशो द्वित्वे कर्तव्ये स्थानीव भवति। रूपातिदेशोऽयम्। आदुङ्णिखान्त स्यायाद्यादेशाः प्रयोजनम्। आत्खम्—पपतुः। पपुः। "इटि चात्खम्" [४।४।६३] इत्यात्खस्य स्थानिवद्भावादेकाचो लिटि द्वित्वं सिद्धम्। उङः खम्—जग्मतुः। जग्मुः। "गमहनजनखनघसोऽनङि" [४।४।६३] इत्युङः खस्य स्थानिवद्भावाद् द्वित्वं भवति। णिखम्—आटिटत्। लुङि कचि णिखे च कृते णिखस्य स्थानिवद्भावादचः[२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति। अन्तःस्थादेशः—चक्रतुः। चक्रुः। यणादेशस्य स्थानिवद्भावादेकाचो द्वित्वं भवति। अयाद्यादेशाः—अह निनय निनाय। अह लुलव लुलाव। अयाद्यादेशानां स्थानिवद्भावादस्य णलि नैन, लोलौ इति द्वित्वं भवति। द्वित्वनिमित्त इति किम्? दुद्यूषति। ऊठि यणादेशो धोर्न तु द्वित्वनिमित्तमिति स्थानिवद्भावो न भवति। अचीति किम्? जेघ्रीयते। देध्मीयते। यङि द्वित्वनिमित्ते घ्राध्मोरीकारादेशः स्थानीव न भवति। द्वित्वे कर्तव्य इति किम्? जग्ले। मम्ले। धोराकारस्यावस्थानं न भवति।

ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः ॥१।१।६०॥ ईबिति यत्र निर्दिश्यते तत्र पूर्वस्याव्यवहितस्य कार्यं भवति। केति यत्र निर्दिश्यते तत्र परस्याव्यवहितस्य कार्यं भवति। ताप्रकृतिर्भवतीत्यर्थः। इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थः। ईप्केति इमे सञ्ज्ञे द्वयो[३]र्विभक्त्योः प्रत्यायिके प्रसिद्धे। ताभ्यामितिशब्दः परः प्रयुज्यमानो विभक्तिप्रतिपाद्यो योऽर्थस्तं प्रत्याययति। ईप्या यत्र निर्दिश्यते, कार्यो यत्र निर्दिश्यत इत्यर्थः। ईबर्थनिर्देशः "अचीको यण्" [४।३।६५] दध्युदकम्। मध्वियत्। अव्यवाय इति किम्? धर्मविदत्र। कार्यनिर्देशः—अत्यात्। ददति। दधति। अव्यवाय इति किम्? चिकीर्षन्ति। शपा व्यवायाज्झेरदादेशो न भवति।

नाशः खम् ॥१।१।६१॥ नाशोऽनुपलब्धिरभावोऽप्रयोग इत्यनर्थान्तरम्। एतैः शब्दैः प्रतिपाद्यमानस्यार्थस्य खमित्येषा सञ्ज्ञा भवति। इतिकरणोऽनुवर्तते। तेन नाशार्थस्य सञ्ज्ञा लभ्यते। स्थानिग्रहणं चानुवर्तते। प्रसङ्गवांश्च स्थानी। तेन प्रसक्तस्य नाशः खसञ्ज्ञो भवति। भाविनो नाशस्य सञ्ज्ञा ... नीति नतरतरा ... वक्ष्यति "वलि व्योः खम्" [४।३।५५] दालरः। कारोरः। 'क्षुद्र...यो वा' [३।१।१२०] ... दूण्। "इटि चात्खम्" [४।४।६३] पिपम्। जग्यात्। खप्रदेशाः "वलि व्योः खम्" [४।३।५५] इत्येवमादयः।

१. खमि-प्रत्ययेन अ०, म०। २ पतिर्दीना अ०, म०। ३ पतिर्दीने अ०, म०। ४ प्राप्ते "गिरि" इत्यत्र पूर्वभागस्य "गिर्" इत्यस्यापेक्षत्वेनेत्यर्थः। ५. -चाद्याचो द्वि-प०। ६ आयाद्यादे-स०।

उबुजुस् ॥१।१।६२॥ तस्यैव नाशस्य उप् उच् उस् इत्येताः सञ्ज्ञा भवन्ति। सञ्ज्ञासङ्करप्रसङ्ग इति चेत् उप् उच् उस् सञ्ज्ञाभिर्भावितस्य नाशस्य एताः पृथक् सञ्ज्ञास्तेनादोषः। "नोमता गोः" [१।१।६४] इति प्रतिषेधो ज्ञापकः खसञ्ज्ञाया अत्र समावेशो भवति। ततः पञ्च सप्तेति त्याश्रयं पदत्वं सिद्धम्। "क्सस्याचि त्यम्" [५।२।६६] इति वर्तमाने "वोष् दुहदिह" [५।२।७०] आदिसूत्र उच्वचनं ज्ञापकमुबुजुसः सर्वस्य स्थाने भवन्ति नान्त्यस्य। एता अपि भाविन्यः सञ्ज्ञाः। उदाहरणम्—पञ्चशष्कुलम्। पञ्चभिः शष्कुलीभिः क्रीतम्। "राद्‌यवखौ" [३।४।२६] इत्यार्हीयस्य ठण उप्। ततो "ह्रदुप्युप्" [१।१।६] इति ङीलस्योप्। जुहोति। बिभेति। "उच् जुहोत्यादिभ्यः" [१।४।१४२] इति शप उच्। ततः उचि द्वित्वम्। पञ्चालानां निवासो जनपद इत्यागतस्याण "जनपदे उस्" [३।२।६१] इत्युस्। ततो "युक्तवदुसि लिङ्गसंख्ये" [१।१।६८] इति लिङ्गसंख्यातिदेशः। उबुजुस्प्रदेशाः "ह्रदुप्युप्" [१।१।६] इत्येवमादयः।

त्यखे त्याश्रयम् ॥१।१।६३॥ त्यस्य खे कृतेऽपि त्याश्रयं कार्यं भवति। सुम्मिङ् क्विप्यङ् णिसानि प्रायः प्रयोजयन्ति। सुपः खम्—धर्मवित्। सोः खेऽपि पदसञ्ज्ञा भवति। मिङः खम्—अधोक्। "हल्ङ्याप" [४।३।५६] इति तिपः खेऽपि पदसञ्ज्ञायामेत्वघत्वभष्भावजश्त्वचर्त्वानि भवन्ति। क्विपः खम्—अग्निचित्। क्विपो नाशेऽपि तुक्। यङः खम्—पापचीति। यङो नाशेऽपि द्वित्वादिकार्यं भवति। णिसम्—कारयते। हारयते। णेरभावेऽप्यैप् भवति। प्रथमं त्यग्रहणं किम्? आम्नीत। आङ् पूर्वाद्‌म्नेर्विध्यादिलिङ्। "आटो यसहन." [१।२।२८] इति दः। "लिङोऽनन्त्यसखम्" [४।१।१२८] इति सीयुडेकदेशस्य सकारस्य खेऽपि त्याश्रयं कार्यं झलि किदिति टस्य ख न भवति। द्वितीयं त्यग्रहणं किम्? वर्णाश्रयं मा भूत्। गवे हितम् गोहितम्। त्यखे सत्यपि अचीति वर्णाश्रया अवादयो न भवन्ति।

नोमता गोः ॥१।१।६४॥ उमता वचनेन नाशिते त्ये यो गुस्तस्य त्याश्रयं न भवति। मृष्टः। पुष्टः। गुणाभावैपौ न भवतः। गर्गा इति बहुत्वविवक्षायां यञोऽपि कृते तदाश्रयं आदरैप् न भवति। गोरिति किम्? पापक्ति। जरीगृहीति। द्वित्व निश्च भवतः। नोमतेति योगविभागः। तेन गोरन्यत्रापि क्वचि-त्याश्रयं न भवति। परमवाचः। परमवाचा। अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वात्कुत्वं प्राप्तं नोमतेति प्रतिषिध्यते।

अन्त्यादयच्टि ॥१।१।६५॥ अच इति जातिनिर्देशः। निर्धारणे च ता। समानजातीयस्यैव लोके निर्धारणं प्रसिद्धमिति द्वितीयमज्ग्रहणं लभ्यते। अचां योऽन्त्योऽच् तदादि शब्दरूपं टिसंज्ञं भवति। धर्मविदत्र इच्छब्दः। कानभुदत्र उच्छब्दः। आताम्, आथामित्यत्र उच्छब्दः। पचेते। पचेथे "टिद्‌टेरे" [२।४।६५] इति टेरेत्वम्। अत्र पचे इति व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम्। टिप्रदेशाः "टिद्‌टेरे" [२।४।६५] इत्येवमादयः।

उपान्त्यालुङ् ॥१।१।६६॥ अलामन्त्यस्य समीपोऽल् उङ्सञ्ज्ञो भवति। अन्त्यग्रहणादलां समुदायो लभ्यते। अल्समुदायापेक्षया यन्त्योऽल् भवति न केवलः। पच् इत्यकारः। भिद् इतीकारः। पाचकः। भेदकः। उपान्त्य इति किम्? व्यवहितस्यान्त्यस्य च मा भूत्। अलिति किम्? समुदायस्य मा भूत्। उङ्प्रदेशाः "इलोऽनः" [५।२।४] "युट्" [५।२।८३] इत्येवमादयः।

येनालि विधिस्तदन्तादयोः ॥१।१।६७॥ येन शब्देन यो विधिर्विधीयते स तदन्तस्य भवति। अलि यो विधिः स तदादौ भवति। "योऽचोऽरासुयुव" [२।१।८४] इत्यचो यविधिर्विधीयत इत्यजन्ता-द्भवति। चेयम्। जेयम्। केवलाद्व्यपदेशिवद्भावेन। एयम्। अध्येयम्। "आतः कः" [२।२।३] इत्या-कारान्तात्। गोदः। कम्बलदः। "सञ्ज्ञा-विधौ न तदन्तविधिः" [वा०]। सविधौ—सूत्रपरमश्रित इति ईप्सो न भवति। सविधौ—सूत्रनटस्यापत्यं सौत्रनाडिः। "नडादेः फण्" [३।१।८८] इति फण न भवति। "उगित्कार्यं वर्णकार्यं च तदन्तादपि भवतीति वक्तव्यम्" [वा०] भवती। अतिभवती[1]। दाक्षि[2]। नैतद्वक्तव्यम्।

१. कार्यं तद-अ०, ब०, स०। २. वती। नैत—अ०, ब०, स०।

सुपा श्रितादयो विशेष्यन्ते न तु श्रितादिभिः किञ्चिद्विशेषणेन च तदन्तविधिः। मृदा नडादयो विशेष्यन्ते न नडादिभिर्मृदः। उगिता च वर्णेन मृद् विशेष्यते। अलीति वर्णनिर्देशः। अलि यो विधिः स तदादौ भवति। "श्नुधुभ्रुवां य्वोरचीयुवौ" [४।४।७२] चिक्षियतुः। चिक्षियुः। व्यपदेशिवद्भावेन केवलेऽपि तदादित्वम्। चिक्षिये। येनेति करणे भा। विधिशब्दः कर्मसाधनः।

अद्वाद्यैब्दुः ॥ १।१।६८ ॥ अद्विति जातिनिर्देशो निर्धारणे चेप्। अचु आदिभूतोऽच् ऐप् यस्य समुदायस्य स दुसञ्ज्ञो भवति। ऐतिकायनस्य[1] शिष्य ऐतिकायनीयः "दोश्छ" [३।२।९०] इति छः। आम्रगुप्तस्यापत्यमाम्रगुप्तायनिः ... "द्वित्कुरुनाद्यजादकोशलात्ञ्य." [३।१।१५३] इति ञ्यः। इवर्णा असिन्देशे सन्ति "वुञ्छणकठेल" [३।२।६०] आदिसूत्रे अरीहणादित्वाद् वुञ्। औपगवके जातो औपगवकीय. "दोः कखोङः" [३।२।११७] इति छः। अद्विति किम्? हलामविवक्षार्थम्। औपगवीयः। कापटवीयः। जात्यपेक्षया बहुत्व किम्? द्व्यच एकाचश्च दुसञ्ज्ञा यथा स्यात्। मालामयम्। वाङ्मयम्। आदिरिति किम्? सभामन्नयने जातः साभासन्नयनः। छः प्रसज्येत। ऐबिति किम्? दत्तस्याय दात्तः। दुप्रदेशाः "दोश्छ." [३।२।९०] इत्येवमादयः।

त्यदादि ॥१।१।६९॥ त्यदादीनि शब्दरूपाणि दुसञ्ज्ञानि भवन्ति। अद्वादिरिति नेहाभिसम्बध्यते। यद्यभिसबध्येत तदोपसर्जनत्वे सत्यपि वचनात्तदादेरेव दुसञ्ज्ञा स्यान्न केवलानामिति। त्यदीयः। तदीयः। तदा-पत्य त्यादायनिः। मादायनिः। "वा वृद्धाद् दोः" [३।१।१४४] इति फिञ्। त्यदादिः सर्वादेरन्तर्गण आ परिसमाप्तेः।

एङ् प्राग्देशे ॥ १।१।७० ॥ अद्वादेरिति वर्तते। एङ् यस्याचामादिस्तद् दुसञ्ज्ञ भवति प्राचो देशाऽभिधाने। एणीपचने जात एणीपचनीयः। एव गोनर्दीयः। भोजकटीयः। एङिति किम्? आहिच्छत्र.। कान्यकुब्जः। प्राग्ग्रहणं किम्? देवदत्तो नाम वाहीकेषु ग्रामस्तत्र भवो दैवदत्तः। देश इति किम्? गोमती नाम नदी तस्या भवो गौमतः। "वा नाम्नः" [१।१।७१] इति यदा दुसञ्ज्ञा नास्ति तदेदमुक्तम्। "भिन्नलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामोऽपुरम्" [१।४।८३] इति ज्ञापकान्नदी देशग्रहणेन न गृह्यते। शरावती नाम नदी तस्याः पूर्वो देशः प्राग्देशः। उत्तरस्तूदीचा देशः।

वा नाम्नः ॥ १।१।७१ ॥ पुरुषैर्व्यवहाराय सङ्केतितः शब्दः सञ्ज्ञा नाम। नामधेयस्य वा दुसञ्ज्ञा भवति। पद्मनन्दीयम्। पाद्मनन्दिनम्। देवदत्तीयम्। दैवदत्तम्। नाम्न इति किम्? देवैर्दत्त इति य क्रियानिमित्तको देवदत्तशब्दस्तस्य काश्यादिषु पाठाट्ठञ्ञावेव भवत.। वेति व्यवस्थितविभाषा। तेन घृतप्रधानो रौढिः घृतरौढिः। सञ्ज्ञेयम्। तस्य शिष्या घृतरौढीया.। एवमोदनपाणीयाः। वृद्धाम्भीयाः। वृद्धकाश्यपीयाः। नित्य दुसञ्ज्ञा। "जिह्वाकात्यहरितकात्ययोर्न भवत्येव" [वा०] जैह्वाकाताः। हारितकाताः।

अणुदित् स्वस्यात्मनाऽभाव्योऽतपरः ॥ १।१।७२ ॥ अण् उदिच्च गृह्यमाण. स्वस्य ग्राहको भवति आत्मना सह भाव्यमान तपर च वर्जयित्वा। इदमण्ग्रहण परेण णकारेण। "ऋतः स्फादेरेप्"[५।२।१२२] इति तपरनिर्देशाज्ज्ञायते। "यस्य ङ्यां च" [४।४।१३६] दाक्षिः। चौलि.। दत्य। कौमार। "भस्य च्वौ" [५।२।१४१] शुक्लीभवति। मालीभवति। उदित्—"स्तो: श्चुना श्चु:" [५।४।११९] "ष्टुना ष्टुः" [५।४।१२०]। अभाव्य इति किम्? भाव्यन्ते उत्पाद्यन्ते त्यादेशादितिनिमित्तस्ते स्वस्य ग्राहका न भवन्ति। "अस्त्यात्" [२।३।८४] "त्यदादेर." [५।१।१६१] टित्—लविता। कित्—चकार। मित। "सृजिदृशोरम्" [४।३।२१]। अतपर इति किम्? भिस्सोऽत ऐस्" [५।१।८]। वृक्षै.। मालाभिरित्यत्र न भवति। तकार इत्यस्य सोऽय निदिति सिद्धे परग्रहणमुभयार्थम्। नः परोऽस्मात्परस्मादपि परस्य

---

१. इतिकस्यापत्यं पुमान् ऐतिकायन। नडादे फगिति फक्। ३ अस्यार्थोऽयं। ४ वृद्धाम्भीया

परः। इदमेव ज्ञापकं सविधौ केति योगविभागोऽस्ति। "आदैगैप्"। [१।१।१५] "अदेङेप्" [१।१।१६] तपरत्वादैजेङादिषु त्रिमात्रचतुर्मात्राणां निवृत्तिः। "अभाव्योऽतपरः" इति पृथग्भावानुच्चारणं किम्? कश्चिद्भाव्योऽपि स्वं गृह्णातीति ज्ञापनार्थम्। अमूभ्याम्। सज्ञासूत्रमिदं न परिभाषा। सा हि नियमार्था भवति। न चाणुदिता स्वस्यास्वस्य च ग्रहणं प्राप्तं येन स्वस्यैवेति नियमः स्यात्।

अन्त्येनेतादिः ॥१।१।७३॥ अन्त्येनेत्सञ्ज्ञकेन गृह्यमाण आदिस्तन्मध्यपतितानां ग्राहको भवत्यात्मना सह। आद्यन्तौ सम्बन्धिशब्दौ। अतः सामर्थ्यादाद्यन्तव्यतिरेकेण तन्मध्यपाति वस्तु प्रत्येकं सञ्ज्ञित्वेनाश्रितम्। अ इ उ इत्येतेषां प्रत्येकमणिति सञ्ज्ञा। एवमक् अच् अट् इत्येवमादयः। अन्त्येनेति किम्? सुडित्यत्र सादिना टा इत्येतस्य टकारेण ग्रहणं मा भूत्। अन्त्येनेतीदमेव ज्ञापकं सहार्थे गम्यमानेऽपि भा भवति।

असंख्यं झिः[1] ॥१।१।७४॥ सङ्ख्या एकत्वादिका सा यस्य न विद्यते तदसङ्ख्यं झिसंज्ञं भवति। एकत्वादिनिबन्धना विभक्त्युत्पत्तिरसङ्ख्यादप्राप्ता "सुपो झेः"[१।४।१२०] इति वचनाद्भवति। के पुनरसंख्याः? स्वर्। अन्तर्। प्रातर्। सनुतर्। पुनर्। सायम्। नक्तम्। अस्तम्। वस्तोः। दिवा। दोषा। ह्यः। श्वः। कम्। शम्। योर्मयः (?) च[2]। न। अन्नम्। विहायसा। रोदसी। ओम्। भूः। भुवः। स्वस्ति। समया। निकषा। अन्तरा। बहिस्[3]। साम्प्रतम्। अद्धा। सत्यम्। इद्धा। मुधा। मृषा। वृथा। मिथ्या। मिथो। मिथु। मिथुनम्। मिथस्। अनिशम्। मुहुः। अभीक्ष्णम्। मङ्क्षु। झटिति। उच्चैस्। अवश्यम्। सामि। साचि। विष्वक्। अन्वक्। आनुषक्। साजक्[4]। द्राक्। प्राक्। ऋधक्। पृथक्। धिक्। हिरुक्। ज्योक्। मनाक्। शनैः। ईषत्। जोषम्। तूष्णीम्। कामम्। निकामम्। प्रकामम्। आरात्। अरम्। वरम्। परम्। चिरम्। तिरः। नमः। स्वयम्। भूयः। प्रायः। प्रबाहुकम्। आर्यहलम्। कुः। अलम्। बलवत्। अतीव। सुष्ठु। दुष्ठु। ऋते। सपदि। साक्षात्। सनात्। सना। आशु। सहसा। युगपत्। उपांशु। पुरा। पुरतः। पुरस्तात्। पुरः। इत्येवंप्रकाराः, निसञ्ज्ञकाश्च सर्वे "च, वा, ह, अह" एवम्प्रभृतयो हृतश्च तसादयस्तत इत्यादयश्च्व्यर्थाः, कृतः सुमाम्तुमादयः क्त्वाणमादेशश्चेति। हसश्चेति केचित्पठन्ति, तत्तु चिन्त्यम्। उपाग्निकमित्यकोऽसम्भवा[5]त्। उपकुम्भमन्यम् इति सुमो दर्शनात्। उपकुम्भीकृत्येति ईत्वविधानाच्च। सामान्यविषया झिसञ्ज्ञा। विशेषविषया निसञ्ज्ञा। असङ्ख्यग्रहणं किम्? यत्रासङ्ख्यत्वं प्रतीयते तत्र झिसंज्ञा। उच्चैः। परमोच्चैः। अस्ति। स्वस्ति। उपसर्जने मा भूत्। अत्युच्चैः। अत्युच्चैसौ। अत्युच्चैसः। अत्यस्तिः। झिप्रदेशाः "सुपो झेः" [१।४।१२०] इत्येवमादयः।

गाङ्कुटादेरञ्णिन्ङित् ॥१।१।७५॥ गाङित्येतस्मात् कुटादिभ्यश्च धुभ्यः परेऽञ्णितस्त्या ङितो भवन्ति। विनापि वतमतिदेशो गम्यते। गाङिति व्याख्यानादिङादेशो गृह्यते। कुटादिस्तुदादेरन्तर्गणो यावत् वृत्शब्द इति। गाङ्—अध्यगीष्ट। अध्यगीषाताम्। अध्यगीषत। लुङ्लृङोर्वेति इङो गाङादेशः। "सुमा" [४।४।६५] आदिसूत्रेणेत्वम्। कुटादि—कुटिता। कुटितुम्। कुटितव्यम्। पुटिता। पुटितुम्। पुटितव्यम्। व्यचेरनसि कुटादित्वम्—विचिता। विचितुम्। विचितव्यम्। अनसीति किम्? उरुव्यचाः। "अस् सर्वधुभ्यः" इत्यस्। अञ्णिदिति किम्? उत्कोटयति। उत्कोटो वर्तते। ङितीव ङिद्वत्। ईवन्ताद्वदर्थो गम्यते। तेन उच्चुकुटिषति इत्यत्र "ङनुदात्तेतो दः" [१।२।६] इति दो न भवति।

इड्विजः ॥१।१।७६॥ अन्त्येनेतादिरित्यत आदिरिति वर्तते। विजेर्धोरुत्तर इडादिस्त्यो ङि[6]द्भवति। उद्विजिता। उद्विजितुम्। उद्विजितव्यम्। इटिति किम्? उद्वेजनम्। उद्वेजनीयम्। विज इति किम्? लविता।

१."झि" मु०। २. "च नाम्नो" इति अ०, ब०, स०, पुस्तकेषु, तत्र "च" "न" "श्राम्" "नो" इति पदच्छेदो युक्त। ३. 'बहिर्' अ०, ब०, स०। ४. "भाजक्" इति अ०। "ताजक्" इति स०। "साजक्" इति च०मुद्रितयो.। परमयं शब्दभेदोऽन्वेष्यमाणोऽन्यव्याकरणकोशेषु च नोपलब्धः। ५ असम्भवादिति मुद्रितम्। ६. "ङिद्वद्भ—अ०, ब०, स०।

वोर्णोः ॥१।१।७७॥ ऊर्णोतेः पर इडादिल्यो[1] वा ङिद्भवति। प्रोर्णुविता। प्रोर्णविता। अप्राते[2] विकल्पोऽयम्। दसञ्ज्ञके तु लङ इटि परत्वान्नित्यो विधिः। प्रौर्णुवि। अञ्णिदित्येव। णिचदिटि—प्रोर्णावियते। इडादिरित्येव। प्रोर्णवनम्। प्रोर्णवनीयम्।

गोऽपित् ॥ १।१।७८ ॥ अपिद् गसंज्ञको ङिद्भवति। कुरुतः। कुर्वन्ति। चिनुतः। चिन्वन्ति। मृष्टः मृजन्ति। ग इति किम्? कर्ता। मार्ष्टा। अपिदिति किम्? करोति। मार्ष्टि। अपिदिति प्रसज्यप्रतिषेधः। यद्येवं तुदानि लिखानीत्यत्र पिदपितोरेकादेशः [3]पिद्भवतीति "ब्युङः" [४।२।८३] एप्प्रसङ्गेन। नात्र दोषः लोडादेशस्य पित्त्वं न चाटः[4]। अथवाय पर्युदासः। इह तर्हि च्यवन्ते प्लवन्त इति परापेक्षपिदपितोरेकादेशस्य पितोऽन्यत्वमस्तीत्येप्रतिषेधः प्रसज्येत। नैष दोषः—"वार्णाद् गावं बलीयः" इति, प्रागेवैकादेशादेप्।

लिडस्फात्कित् ॥ १।१।७९ ॥अपिदित्येव। अस्फान्तात्परोऽपिल्लिट् किद्भवति। बिभिदतुः। बिभिदुः ममृजतुः। ममृजुः। लिडिति किम्? यष्टा। अस्फादिति किम्? ममन्थतुः। ममन्थुः। ननु ग्रन्थिवग्रन्थिमेत्यत्रास्फाद्विहितो लिट्। नैवम्। नुम्विधावुपदेशग्रहणाश्रयणात्। एवञ्च कुण्डा हुण्डेत्यत्र "सरोर्हल" [२।३।८५] इति अस्त्यो भवति। अपिदित्येव। बिभेदिथ। ङिदिति वर्तमाने किद्ग्रहणं किम्? ईजतुः। ईजुः। ङिति जिर्न स्यात्। अयमेव किद्विषयः। ववृते, ववृधे इत्यत्र परत्वादेपि कृते स्फान्तत्वमिति चेन्, उक्तवाचित्वात्परशब्दस्येत्यदोषः। अस्फादिति प्रसज्यप्रतिषेधः। न चेत् स्फान्ताद्विहित इति पर्युदासे हि हलन्तादेव लिट् कित् स्यात्। "वोर्णोः" [१।१।७७] इत्यतो वेति व्यवस्थितविभाषाऽनुवर्तते। ततः श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जिभ्योऽपि किद्भवतीत्येके। श्रेथतुः। श्रेथुः। ग्रेथतुः। ग्रेथुः। देभतुः। देभुः। परिषस्वजे। परिषस्वजाते। समीधे। समीधाते। समीधिरे।

मृडमृदगुधकुषवदवसः क्त्वा ॥१।१।८०॥ मृड मृद गुध कुष वद वस इत्येतेभ्यः पर क्त्वा त्यः किद्भवति। मृडित्वा। मृदित्वा। गुधित्वा। कुषित्वा। उदित्वा। उषित्वा। सिद्धे विधिरारभ्यमाणो नियमार्थः। तुल्यजातीयस्य च नियमः। सेट् क्त्वा तुल्यजातीयः, तेन मृडादिभ्य एव क्त्वा सेट् किद्भवति नान्येभ्यः। देवित्वा। सेवित्वा। वर्तित्वा। सेडिति विशेषणं किम्? भुक्त्वा। मुक्त्वा। मृडादिभ्यः क्त्वेव किद्भवतीति[5] विपरीतो नियमो नाशङ्कनीयः। एवं हि "क्लिशः" [१।१।८१] इति कित्त्ववचनमनर्थकं स्यात्, प्रतिषेधाभावात्। गुधिकुष्योस्तु "व्युडोऽवो हलः संश्च" [१।१।८७] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठः।

क्लिशः ॥ १।१।८१ ॥ क्लिशः परः क्त्वा सेट् किद्भवति। क्लिशित्वा। पूर्वेण नियमेन कित्त्वे निवर्तिते "व्युडोऽवो हलः संश्च" [१।१।८७] इति विकल्पः प्राप्तः। पूर्वे[6]सूत्रे इष्टतोऽवधारणार्थं योगान्तरम्।

मुषग्रहिरुदविदः संश्च ॥१।१।८२॥ मुष ग्रहि रुद विद इत्येतेभ्यः परः सश्च (सन्)क्त्वा च सेट् किद्भवति। मुमुषिषति। जिघृक्षति। रुरुदिषति। विविदिषति। मुषित्वा। गृहीत्वा। [7]रुदित्वा। विदित्वा। अमृडादिनियमान्निवृत्तौ विध्यर्थमितरेषां "व्युडोऽवो हलः संश्च" [१।१।८७] इति विकल्पे प्राप्ते वचनम्।

झलिकः ॥१।१।८३॥ क्त्वेति निवृत्तम्। अन्त्येनेतादिरित्यत आदिरिति वर्तते। इगन्ताद्धोः परो झलादिः सन्किद्भवति। सामर्थ्यात्सन्निहितस्य धोरिका तदन्तविधिः। चिचीषति। निनीषति। रुरूषति। चिकीर्षति। लुलूषति। यदि सनि दीर्घवचनसामर्थ्यान्मात्रिकद्विमात्रिकयोरभावः सिद्ध इत्यन्यानर्थक्यम्। निरवकाशं तर्हि न स्यात्। [8]जीप्सति। एतस्मिंस्तु सति चिचीषत्यादिषु सावकाशं दीर्घत्वं परत्वादिगन्तेन बाध्यते। झलादिरिति किम्? शिशयिषते। इक इति किम्? पिपासति। सन्नित्येव। कर्ता।

१.-दि. ल्यो" ब०, स०, मु०। २ -प्तविक-अ०। ३ पिद्वद् भ—अ०, ब०, स०। ४ ट्याट अ०। ५.-वति विप—अ०, ब०, स०। ६ पूर्वे सूत्रे मु०। ७ रुदित्वा इति नास्ति अ० ब० स० पुस्तके। ८. ज्ञीप्सतीति अ०, ब०, स०।

हलन्तात् ॥ १।१।८४ ॥ सन् झलिक इति[1] वर्तते । अन्तशब्दः[2] समीपवचनः । इकोऽन्तः समीपो यो हल तदन्ताद्धोर्झलादिः सन्किद् भवति । बिभित्सति । बुभुत्सते । विवृत्सति । अन्तग्रहण किम् ? यियक्षति । जिर्न भवति । नात्रेक्समीपाद्धलः परः सन् । एव वा सूत्रार्थः । इकः परो हलन्तो हलवयवो यो धुस्तस्मादुत्तरो झलादि. सन्किद्भवति । अन्तग्रहण स्पष्टार्थमुक्तमस्मिन् व्याख्याने । इक इति कानिर्देशः किम् ? यियक्षति । झलित्येव । विविद्धपते । "निरेकाजनाङ्" [१।१।२२] इत्यत्र एकग्रहण ज्ञापकमुक्तम्, "अन्यत्र वर्णग्रहणे जातिग्रहणमिति ।" तेनेह हलग्रहणेन भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययनिमित्त हल् जातिर्गृह्यते । ततो धिप्सतीति सिद्धम् ।

सिलिङ् दे ॥ १।१।८५ ॥ सनिति निवृत्तम् । झलिकः हलन्तादिति च वर्तते । सिश्च लिङ् च दे इको हलन्तात्परो झलादी कितौ भवतः । सेरेव दपरत्व विशेषण न लिङोऽसम्भवात् । द एव हि लिङ् झलादिः । अभित्त । अबुद्ध । भित्सीष्ट । भुत्सीष्ट । द इति किम् ? अस्राक्षीत् । अद्राक्षीत्[3] । कित्त्वे सृजिदृशोरमागमो न स्यात् । "वदव्रज (व्रजवद)" [५।१।७९] इत्यादिनैप् । इक इत्येव । अयष्ट । यक्षीष्ट । जिः प्रसज्येत । हलन्तादित्येव । अचेष्ट । चेषीष्ट । एप्न स्यात् । झलादिरित्येव । अवर्तिष्ट । वर्तिषीष्ट । एप्न स्यात् ।

उः ॥ १।१।८६ ॥ अतेर्व्याख्यानादग्रहणम् । ऋवर्णान्ताद्धोः परौ सिलिङौ दे झलादी कितौ भवतः । अकृत । अहृत । कृषीष्ट । हृषीष्ट । द्विमात्रस्य ।[4]अस्तीर्ष्टाम् । स्तीर्षीष्ट । "लिङ्स्योर्दे" [५।१।९०] इत्यनिट्पक्षे द्रष्टव्यम् । झलादिरित्येव । अस्तरिष्ट । स्तरीषीष्ट ।

गमो वा ॥ १।१।८७ ॥ गमेर्धोः परौ सिलिङौ दे झलादी वा कितौ भवतः । समगत । सङ्गसीष्ट । वा गम. कित्त्वे "अनुदात्तोपदेश" [४।४।३७] इत्यादिना ङख "प्राद् गोः" [५।३।४५] इति सेः खम् । पक्षे—समगस्त । सङ्गसीष्ट ।

हनः सिः ॥ १।१।८८ ॥ हन्तेर्धोः परः सिर्दे किद्भवति । आहत । आहसाताम् । आहसत । सेः कित्त्वान्ङस्य खम् । [[5]अन्यथा अनिदित इति ङः खस्य प्रतिषेधः स्यात् ।] पुनः सिग्रहण लिङ्निवृत्त्यर्थम् । दग्रहणमनुवर्तते । एव नित्यो वधादेश इति इह [6]प्रयोजन नास्ति ।

यमः सूचने ॥ १।१।८९ ॥ यमेर्धोः सूचनेऽर्थे वर्तमानात्परः सिर्दे किद्भवति । सूचन गन्धनमाविष्करणमित्यर्थः । उदायत । उदायसाताम् । उदायसत । अकर्मकत्वे "आङो यमहनः" [१।२।२३] इति दः । सूचन इति किम् । आयस्त कूपाद्रज्जुम् । सकर्मकत्वे "समुदाङ्यमोऽग्रन्थे" [१।२।७०] इति दः ।

वोपयमे ॥ १।१।९० ॥ उपयमो दारस्वीकारः । उपयमेऽर्थे वर्तमानाद्यमेर्धोः परः सिर्दे वा किद्भवति । उपायत कन्याम् । उपायस्त कन्याम् । "स्वीकृतावुपाद्यम." [१।२।५१] इति दः । इयमप्राप्ते विभाषा । सूचनेऽपि परत्वान्न पूर्वविप्रतिषेधेन पूर्वेण नित्यो विधिः ।

घुस्थोरि. ॥ १।१।९१ ॥ द इति वर्तते । घुसज्ञकाना स्था इत्येतस्य च धोरिकारोऽन्तादेशो भवति सौ सिच दे किन् । अदित । अधित । उपास्थित । "प्राद्" [५।३।४८] इति सेः खम् । सन्निपातपरिभाषाया अनित्यता ज्ञाप्यते । तिष्ठते. "उपान्मन्त्रकरणे" [१।२।२०] "घे." [१।२।२१] इति दः । इत्वचनसामर्थ्यादेशो निवृत्तिः. सिरिति निवृत्तिग्रहणमुत्तरार्थमनुवर्तमान सेरपि विशेषणम् ।

---

१ इति च वर्तते अ०, ब०, स० । अत्र च शब्दोऽप्यर्थकः । २. अन्तःशब्दः ब० । ३. अद्राक्षीत् इति मुद्रितपुस्तके नास्ति । ४. कोष्ठकस्थितः पाठोऽप्रासंगिक इव भाति । "हलुङः [illegible]" इत्यस्यानन्तरं [illegible] । ५. हन्धोर्दे "हनो वध लिङि" इति नित्यवधादेशविधानात् "हन सि" इत्यत्र लिङनुवृत्तेः प्रयोजन नास्ति कित्वप्रयुक्त-नख-रूप-फलस्य लिङि नित्ये वधादेशेऽभावात् । ६ -पद विहितम् । तः सेट्—अ०, ब०, स० ।

मेकत्वमिन्द्रियाणां[1] स्वातन्त्र्ये बहुत्वम्। सविशेषणस्यात्मविवक्षैव। अहं देवदत्तो ब्रवीमि। अहं साधुर्ब्रवीमि। युष्मदि गुरावुभयविवक्षा। त्वं मे गुरुः। यूयं मे गुरवः। एतच्च शब्दशक्ति[2]स्वाभाव्यात्। फल्गुनीप्रोष्ठपदाना[3] नक्षत्रे द्वयोर्बहुत्वं वेति न वक्तव्यम्। कथं कदा पूर्वे फल्गुन्यौ कदा पूर्वाः फल्गुन्यः। कदा पूर्वे प्रोष्ठपदे कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः ? यदा फल्गुनीसमीपगते चन्द्रमसि फल्गुनीशब्दो विवक्ष्यते तदा बहुत्वमन्यदा द्वित्वम्।

स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः ॥१।१।१००॥ स्वभावत एव शब्द एकशेषमनपेक्ष्य एकत्वद्वित्वबहुत्वेषु वर्तते। अत एवैकशेषानारम्भः। एकत्वादीनां प्रकृत्युपात्तानामभिव्यक्तये विभक्त्युपादानम्। यथा एको द्वौ बहवः पञ्च सप्तेति। एवं वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः। अथ प्रत्यर्थं शब्दनिवेशान्नै-केनानेकस्याभिधानं तत्रानेकार्थाभिधानेऽनेकशब्दत्वं प्रसक्तमत एकशेषः। अत्रोच्यते—यदि भिन्नेष्व-भिन्नाभिधानप्रत्ययहेतुर्जातिः शब्दार्थः। तस्याः प्रत्यायने एक एव शब्दः समर्थः। अथ द्रव्यं शब्दार्थः। तच्चानेकं व्यावृत्ताभिधानबुद्धिलिङ्गम्। तस्याभिधित्सायामनेकशब्दत्वे प्राप्त एकशेष इति। एतदप्ययुक्तम्। अवशिष्टः शब्दो निवृत्त[4]शब्दस्य यद्यर्थमभिधत्ते तदास्य द्वित्वेऽपि वृत्तिरिति किमेकशेषेण। अथ नाभिधत्ते तदा पश्चादपि स एवार्थः। कथमनेकं[5]त्रार्थे वृत्तिः ? सरूपाणां द्वन्द्वनिवृत्त्यर्थमेकशेष इत्यपि नास्त्यनभिधानात्। न हि भवति द्वौ च द्वौ च द्वाविति। अथ विरूपशब्दार्थ एकशेषः। तथाहि—"वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः." [पा० सू० १।२।६५] 'अपत्यमन्तर्हितं वृद्धम्'। एवकारो भिन्नक्रमः। विशेषो वैरूप्यम्। वृद्धः शिष्यते यूना सह वचने वृद्धयुवलक्षण एव यदि विशेषः समानायां प्रकृतौ। गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ। दाक्षिश्च दाक्षायणश्च दाक्षी। वृद्ध इति किम् ? औपगवश्चानन्तर औपगविश्च युवा औपगवौपगवी। गार्गिगार्ग्यायणौ। यूनेति किम् ? गर्गश्च गार्ग्यश्च गर्गगार्ग्यौ। तल्लक्षण एवेति किम् ? गार्ग्यवात्स्यायनौ। अत्र प्रकृतिविशेषोऽप्यस्ति। एवकारः किमर्थः। भागवित्तिभागवित्तिका। भागवित्तेरपत्यं युवा। "दोण्ण् सौवीरेषु प्रायः" [३।१।१२६] इत्यत्र क्षेपस्यापि भावान्न तल्लक्षण एव। विशेष इति किम् ? वैदश्च वृद्धो वैदश्च युवा वैदवैदौ। तल्लक्षणवैरूप्याभावात् द्वन्द्वो भवत्येव। "स्त्री पुंवच्च" [पा० सू० १।२।६६] स्त्री वृद्धा यूना सह वचने शिष्यते पुंवद्भावश्चास्या भवति तल्लक्षण एव यदि विशेषः। गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ। दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी। नेदं द्वयं वक्तव्यम्। जीवति वंश्ये वृद्धं द्वयमभिधत्ते। अजीवति वृद्धयूनोर्द्वन्द्वो नास्त्यनभिधानात्। जीवति वंश्ये वृद्धा स्त्रीं युवानञ्च सामान्येन वृद्धशब्द एवाभिधत्ते। द्वन्द्वस्य चानभिधानम्। यदपि पुमान् स्त्रिया सह वचने शिष्यते तल्लक्षण एव यदि विशेषः। कठश्च कठी च कठौ। मयूरश्च मयूरी च मयूरौ। प्राणिधर्मयोः स्त्रीपुंसयोर्ग्रहणादिह न भवति। नदनदीपती। घटघटीसरावोदञ्चनादि। तल्लक्षण इत्येव। कुक्कुटमयूर्यौ। एवकार इत्येव। इन्द्रेन्द्राण्यौ। भवभवान्यौ। पुंयोगलक्षणोऽप्यत्र विशेषः। इदमपि जातिमात्रविवक्षया सिद्ध्यति। द्वन्द्वस्य चानभिधानम्। अभिधाने द्वन्द्वोऽस्ति। नदनदीपतिः। ब्राह्मणवत्सा ब्राह्मणी(ण)वत्सौ। भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्यां शिष्यत इति न वक्तव्यम्। भ्राता च स्वसा च भगिनी वा भ्रातरौ। पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ। अपत्यमात्रविवक्षया द्वन्द्वानभिधानञ्च। इदं तर्हि वक्तव्यम्। नपुंसक[10]मन पुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यान्तल्लक्षण एव यदि विशेष इति। शुक्लञ्च वस्त्रं शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च शाटी तदिदं शुक्लम्। तानीमानि शुक्लानि। नेदं न्याय्यं, त्रिषु लिङ्गेषु नपुंसकस्य प्रसादो प्राधान्यात्। तेन (नपुंसक...)

1.—याणां बहु—अ०, ब०, म०। 2—क्तिस्व [भा]वात्। फल्गु—अ०। 3 "फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे" पा० सू० १।२।६०। 4. मन्यर्थशब्द—अ०। 5.—धाने प्रत्य—अ०। 6—नन्य द्वा'—अ०, ब०, स०। 7—कार्थे वृ—स०। 8 'पुमान् [स्त्रि]या'' पा० सू० १।२।६७। इत्यभिलक्ष्य खण्डयति। 9. "भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्" पा० सू० १।२।६८। इति खण्डयति। 10. "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" इति पा० सू० १।२।६९।

सामान्यविशेषापेक्षया च वचनभेदः। पिता[1] मात्रा श्वशुरः श्वश्र्वाऽन्यतरस्यामित्यपि न वक्तव्यम्। सामान्यविवक्षया पितरौ श्वशुराविति। द्वन्द्वोऽप्यस्ति। मातापितरौ। श्वश्रूश्वशुरौ। श्वश्रूशब्दः स्त्रियामेव निपातितः। "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्।" [पा० सू० १।२।७२] सर्वैरिति त्यदादिभिरन्यैश्च सहवचने त्यदादीनि शिष्यन्त इत्येतदपि नास्ति। त्यदादीनामन्यापेक्षया सामान्यवाचित्वम्। त्यदादिषु च यद्यत्पर तत्तत्सामान्यवाचीति तत्प्रयोगो युक्तः। स च देवदत्तश्च तौ। कश्च देवदत्तश्च कौ। स च यश्च यौ। अथात्र कस्य लिङ्गम्। स च स्थाली च कुण्डञ्च। स च देवदत्ता च[2] कुण्डं चेति। उच्यते—द्वन्द्वा[3]पवादोऽयम्। द्वन्द्वे चान्त्यलिङ्गम्। अत्रापि तदेव युक्तम्। इद चापि न वाच्यम्। "ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री" [पा० सू० १।२।७३] ग्राम्या ये पशवस्तेषा सङ्घेषु स्त्री शिष्यते अतरुणाश्चेद् ग्राम्यपशवः। गावश्च स्त्रियो गावश्च पुमांसः गाव इमाः। अजा इमाः। ग्राम्यग्रहण किम्। आरण्यानां मा भूत्। रुरव इमे। पृषत इमे। पशुग्रहण किम्। ब्राह्मणा इमे। सङ्घेष्विति किम्? एतौ गावौ चरतः। अतरुणेष्विति किम्? वत्सा इमे। वर्करा इमे। कथ नेदं वक्तव्यम्? लिङ्गमशिष्य लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति। अन्यथा अश्वा इमे इत्येवमादिषु एकशेषेषु अनिष्टं स्त्रीलिङ्ग प्रसज्येत

इत्यभयनन्दि[4]मुनिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।

भूवादयो धुः ॥ १।२।१ ॥ भू इत्येवमादयः शब्दाः प्रत्येकं धुसञ्ज्ञा भवन्ति। भू एध स्पर्द्ध इत्यादि। धोरित्यधिकृत्य लडादिर्विधिः कार्यम्। भवति। एधते। स्पर्द्धते। आदिशब्दो व्यवस्थावाची। तेन आणवयत्या[5]दीनां निरासः[7]। अर्थपदोपलक्षितानाञ्च व्यवस्था। ततो धुसमानशब्दानां यावामादिवित्येवमादीनां सर्वनामविकल्पप्रतिषेधस्वर्गादिवाचिनामग्रहणम्। भूशब्द आदिरेषामिति वसे भ्वादय इति प्राप्नोति। नैवम्। "भूवादीनां वकारोऽयं लक्षणार्थः प्रयुज्यते। इको यण्भिर्व्यवधानमेवेषामिति संग्रहः"। तेन त्रियम्बकं यजामहे वायुवम्ब्वोरित्यादि सिद्धम्। "भुवो वार्थं वदन्तीति" भवतेः सम्पदादिपाठात्क्विप्। भुव भवन क्रिया वदन्तीति बहुलवचनादण्यन्तादपि वदेरौणादिके इञि कृते भूवादयः। अस्मिन् पक्षे शिष्टप्रयोगादाणवयत्यादीनां[6] क्षेपः[7]। "भ्वर्था वा वादयः स्मृताः।" अथवा वा गतिगन्धनयोरित्यस्मात्पर आदिशब्दः। भुवो वादयो वाच्यवाचकभावसम्बन्धे ता भ्वर्थ इत्यर्थः। ये तु वकारो मङ्गलार्थ इति पठन्ति[8]। त इदं वाच्याः। यद्याधिक्याद्वकारो मङ्गलमतिप्रसङ्गः स्यात्। एतेन तत् शान प्रत्युक्तम्। मङ्गलाभिधेयश्च वकारो नाममालादिषु न पठ्यते। वृत्तौ गर्णानिपातश्च चिन्त्यः। धुप्रदेशाः "धोर्यङ् क्रियासमभिहारे" [२।१।१६] इत्येवमादयः।

अकर्मको धिः ॥ १।२।२ ॥ अकर्मको धुर्धिसञ्ज्ञो भवति। "कर्त्राप्यम्" [१।२।१२०] इत्यादिना लक्षणेन विहित कर्म तदविवक्षित वा नास्या (नास्त्यस्य वाऽ) कर्मकः। धिप्रदेशाः "अनोधेः" [१।२।४५] इत्येवमादयः।

कार्यार्थोऽप्रयोगीत् ॥ १।२।३ ॥ शास्त्रेऽन्यस्य कार्यार्थमाश्रीयते प्रयोगे च न श्रूयते यः स इत्सञ्ज्ञो भवति। अइउण् णकारः। ञिमिदा स्नेहने, टुनदि समृद्धौ, डुकृञ् करणे इत्यादिषु ञिटुडवो डेडस्यादिषु एकारः। कार्यार्थ इति किम्? कुलात्खः कुलीनः। परमकुलीन इत्यत्र खकारस्याऽप्रयोगित्वात् "खित्यमेर्मु-

---

१. "पिता मात्रा, श्वसुरः श्वश्वा" पा० सू० १।२।७०,७१ इत्यभिलक्ष्य खण्डयति। २.-त्ता च। स च कु-अ०, स०। ३. इदमेकशेषवादिनां मते संगच्छते। एकशेषानारम्भवादिना वृत्तिकृता तु "लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य" इति वाच्यम्। ४.-न्दिविर-अ०, व०, स०। ५. आणपयत्या-अ०, स० आण्वयत्या-द०। ६.-दाणपय-अ०, व०, स०। ७. निरास इत्यर्थः। ८. "भूवादीनां वकारोऽयम्मंगलार्थः प्रयुज्यते" (१।३।१ पा० म० भा०) इति खण्डनपरः सन्दर्भः।

मचः" [४।३।१७६, १७७] इति मुम् प्रसज्येत। अप्रयोगीति किम्? परमकुलीनः। ईनादेशः कार्यमिति मुम् स्यात्। ननु कार्यार्थोऽप्रयोगी च खः कथं नेत्सञ्ज्ञा? उभयविशेषणोपादानात्। अन्यस्य कार्यार्थो भूत्वा योऽप्रयोगीत्यदोषः। अन्वर्था चेयमित्संज्ञा। एति गच्छति नश्यतीत् तेन "तस्य लोपः" [पा. सू. १।३।९] इति न वक्तव्यम्। प्रयोगानुसारेणाप्रयोगित्वावगतेः। प्रतिपत्तिगौरवमिति चेत् "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" [पा० सू० १।३।२] इत्यनुनासिकत्वमपि प्रयोगादेवावसीयत इति समानम्। इत्प्रदेशाः "ट्विदादिः" [१।२।४३] इत्येवमादयः।

यथासंख्यं समाः ॥ १।२।४ ॥ यथासख्य यथाक्रम समाः शिष्यमाणा भवन्ति[1]। यथासख्य "यावद्यथा-वधृत्यसादृश्ये" [१।३।६] इति हसः। समास्तुल्याः। तुल्यत्वञ्च द्विष्ठमत. पूर्वोद्दिष्टानामनुद्दिष्टा. समा ज्ञेयाः। "मिप्थस्थतसोऽम्र्तंतताम्" [२।४।८२] प्रथमसख्यस्य मिपः प्रथमसख्योऽम् इत्येवमादि योज्यम्। समा इति किम्? "सङ्ख्याङ्कलक्षणघोषेऽन्यजिजामण्" [३।३।६५] सङ्ख्यादयश्चत्वारोऽर्था अनादयन्त्य, वेगम्या सङ्ख्यादिषु चतुर्ष्वर्थेष्वञतादण् भवति, तथा यञन्तादिञन्ताच्च। समशब्दस्य सर्वार्थे युक्तार्थे च सर्वनाम-सञ्ज्ञोक्ता न तुल्यार्थे।

स्वरितेनाधिकारः ॥ १।२।५ ॥ स्वरितेन लिङ्गेनाधिकारो वेदितव्यः। "त्य." [२।१।१] "पर." [२।१।२] "ङ्याम्मृदः" [३।१।१] इत्येवमादिः। स्वरित इति आचार्यप्रतिज्ञाया लिङ्गम्। "व्यामिश्र स्वरितः" [१।१।१४] इत्यस्याचो धर्मत्वेन "रो रि" [५।४।१८] इत्येवमादिषु हल्त्वसम्भवादग्रहणम्। अधि कारो विनियोगो व्यापार इत्यर्थः। स्वरितेनेति योगविभागाद्यथासख्यमपि स्वरितेन ज्ञेयम्।

ङनुदात्तेतो दः ॥ १।२।६ ॥ ङकारेतोऽनुदात्तेतश्च धोर्द एव भवति। ङितः। षूङ्। सूते। शीङ्। शेते। इङ्। अधीते। अनुदात्तेतः। आस। आस्ते। वस। वस्ते। चक्ष। आचष्टे। चक्षेर्ङित्करणमनर्थकम्। अनुदात्तेत्त्वाद्युच्। विचक्षणः। "लः कर्मणि च भावे च धेः" [२।४।४४] इति धोर्लकारा विहिताः। तद् द्वारेण दविधौ मविधौ च प्राप्ते प्रकृतिनियमोऽयम्। ङनुदात्तेतो द एव भवति। दस्त्वनियतः। सोऽन्यस्मोऽपि प्राप्तः। "मम्" [१।२।७५] इति द्वितीयो नियमः। यत्र मश्च दश्च प्राप्नोति तत्र ममेव भवति। यदि त्य-नियमः स्याद् ङनुदात्तेत एव दो भवति नान्येभ्यस्तदान्यत्र मस्य सिद्धत्वात् "मम्" [१।२।७५] इति सूत्र-मनर्थकं स्यात्। तदारम्भादिष्टावधारणं सिद्धम्। किञ्च त्यनियमे हि ङनुदात्तेतोऽपि म प्राप्नोति तन्निवृत्त्यर्थं शेषान्ममिति शेषग्रहणं कुर्यात्। तदकरणं च ज्ञापकं प्रकृतिनियमस्य।

ङौ ॥ १।२।७ ॥ ङिरिति भावकर्मणोः सञ्ज्ञा। ङौ द एव भवति। आस्यते भवता। सुप्यते भवता। भावस्यैकत्व युष्मदस्मदर्थाऽसम्भवश्च। कारकेभ्यः पृथग्भूतो धोरर्थ. स्वप्रधानको भावः। एति जीवन्तमानन्द इत्यत्र आनन्दो वाह्य एतेः कर्तृत्वेन विवक्षित इति[2] दो न भवति। कर्मणि। क्रियते कटः। कर्मकर्तरि। लूनो केसरः[3]। भिद्यते कुसूलः स्वयमेव। अर्थनियमोऽयम्। दस्तु कर्तर्यपि प्राप्तः स ममित्यनेन नियमेन निवर्तितः। यदि ङावेव दो भवतीति त्यनियमः स्याद् भावकर्मणोरनियतत्वान्मेऽपि प्राप्ते तन्निवृत्त्यर्थं शेषात् कर्तरि ममित्युच्येत शेषाऽकरणं[4] ज्ञापकमर्थनियमस्य। एवं प्रकृतिनियमेऽर्थनियमे च सति "मम्" [१।२।७५] इत्यत्र कर्तृग्रहणं शेषग्रहणञ्च प्रत्याख्यातम्।

कर्तरि ञे ॥ १।२।८ ॥ कर्त्तरि ञार्थे दो भवति। "कर्मव्यतिहारे ञः" [२।३।७६] इति ञो विहितस्तत्सहचरितः[5] कर्मव्यतिहारो ञार्थः। कर्मव्यतिहारश्च कर्मग्रहणसामर्थ्यात् क्रियाव्यतिहारः। अन्यस्य योग्या क्रिया यदान्यः करोति तदिष्टा चेतरस्तदा क्रियाव्यतिहारः। व्यतिलुनीते[6]। व्यतिपुनीते। आरम्भसामर्थ्यात्

१.-न्ति। यायामद्द्भ्या यथा—अ०, ब०, म०। २. इत्यत्र दो अ०, ब०। ३. केसरः अ०, ब०, स०। ४ उत्तरवाक्यस्वारस्येन शेषाकरणं ज्ञापकं प्रकृतिनियमस्य, कर्तृग्रहणाकरणं ज्ञापक-मर्थनियमस्येति पाठो युक्त.। ५. समहचरित इत्यर्थ.। ६. व्यतिलुनते। व्यतिपुनते अ०, ब०।

कर्तर्येव सिद्धे कर्तृग्रहणमुत्तरार्थम् "न गतिहिंसार्थेभ्यः" [१।२।६] इति। कर्तरि कर्मव्यतिहारे विहितस्य दस्य प्रतिषेधो यथा स्यादिह मा भूत्। व्यतिभूयते सेनया। व्यतिगम्यन्ते ग्रामाः। व्यतिहन्यन्ते दस्यवः। क्रियाव्यतिहार इति किम्? पारिभाषिककर्मव्यतिहारे मा भूत्। देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति।

न गतिहिंसार्थेभ्यः ॥ १।२।६ ॥ गत्यर्थेभ्यो हिंसार्थेभ्यश्च धुभ्यो ञार्थे दो न भवति। व्यतिगच्छन्ति। व्यतिधावन्ति। हिंसार्थेभ्यः। व्यतिहिंसन्ति। व्यतिभिन्दन्ति। व्यतिछिन्दन्ति। व्यन्तिपिपति। बहुवचननिर्देशो हसादिसंग्रहणार्थः। व्यतिहसन्ति। व्यतिजल्पन्ति। व्यतिपठन्ति। व्यतिकथयन्ति। "हवहोरपतिषेधो वक्तव्यः" [वा०] सम्प्रहरन्ते राजानः। व्यतिवहन्ते नद्यः। गतिहिंसयो प्रतिषेधो गतिहिंसाहेतौ न भवति। व्यतिगमयन्ते। व्यतिभेदयन्ते।

परस्परान्योन्येतरेतरे ॥ १।२।१० ॥ परस्पर अन्योन्य इतरेतर इत्येतेषु प्रयुक्तेषु ञार्थे दो न भवति। परस्परस्य व्यतिलुनन्ति। अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति। इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति। व्यतिभ्यां द्योतितेऽपि कर्मव्यतिहारे परस्परादिपदप्रयोगो द्वावपूपौ भक्षयेति यथा। परस्परादिशब्दाना कथं सिद्धिः। द्वित्वप्रकरणे कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वित्वम्। "सवच्च बहुलम्" [वा०] इति वक्ष्यति।

निविशः ॥ १।२।११ ॥ नि इति स्वरूपस्य ग्रहणं न निसञ्ज्ञाया। निपूर्वाद्विशो दो भवति। निविशते। निविशेते। निविशन्ते। लावस्थायामडागमः। तद्भक्तो न व्यवधायकः। न्यविशत। "मम्" [१।२।७५] इति मं प्रातम्। सनिर्देशः समर्थार्थः। सामर्थ्यञ्च योगिना। तेनेह न भवति। मधुनि विशन्ति भ्रमराः। अनर्थकत्वाद्वा।

परिव्यवक्रियः ॥१।२।१२॥ परि वि अव इत्येवंपूर्वात् क्रीणातेर्दो भवति। परिक्रीणीते। विक्रीणीते। अवक्रीणीते। अकर्त्राप्ये फले विधिरयम्। अनर्थकत्वादिह न भवति। उपरि क्रीणाति। गवि क्रीणाति। अपचाव क्रीणीव। क्री इति अनुकरणम्। अनुकार्येणार्थवत्त्वान्मृत्वे सति स्वादिविधिः। "प्रकृतिवदनुकरणम्" इति धुत्वातिदेशादिरादेशः। उत्तरत्र जेरिति निर्देशात् वत्करणादपि स्वाश्रयोऽपि क्वचिदेव।

विपराजेः ॥१।२।१३॥ वि परा इत्येवंपूर्वाज्जयतेर्दो भवति। विजयते। पराजयते। अत्रापि सनिदशः समर्थस्य गेर्ग्रहणार्थः। तेनेह न भवति। बहुविजयति वनम्। पराजयति सेना।

आङो दोऽव्यसने ॥१।२।१४॥ व्यसनं विकसनं विवरणं वा। अन्येषा दारूपाणा व्यसने वृत्तिर्नास्ति। आङ्पूर्वाद्ददातेरव्यसनेऽर्थे दो भवति। विद्यामादत्ते। अकर्त्राप्ये फले प्रापणार्थमिदम्। अव्यसनमिति किम्? आस्यं व्याददाति। पिलकं व्याददाति। विपादिका व्याददाति। "स्वाङ्गकर्मकादिति वक्तव्यम्" [वा०] इह मा भूत्। व्याददते पिपीलिका पतङ्गमुखम्। यद्यकर्त्राप्ये फले प्राप्तस्याव्यसन इति प्रतिषेधः कर्त्राप्ये फले व्यसने दः प्राप्नोति। नैवम्। अव्यसन इति योगविभागाद् येन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः। आङिति ङित्करणं किम्? आ ददात्यसौ भिक्षामिदानीमहमस्मार्षम्। आङिति योगविभागः। तेन स्थः प्रतिज्ञाने दो भवति। शब्दमातिष्ठन्ते। "गमयतेः कालहरणे" [वा०] आगमयस्व तावद्देवदत्त। "नुप्रच्छिभ्याञ्च" [वा०]। आनुते शृगाल। आपृच्छते गुरुमिति तिङम्।

क्रीडोऽनुपर्याङः ॥१।२।१५॥ अनु परि आङ् इत्येवंपूर्वान् क्रीडो दो भवति। अनुक्रीडते। परिक्रीडते। आक्रीडते। गिलाहर्षाद्यनोर्गेरेव ग्रहणादिह न भवति। माणवकमनु क्रीडति। माणवकेन सहेत्यर्थः। "साधे [१।४।१४] इत्यनुना योग इप् गितिसञ्ज्ञाप्रतिषेधश्च। "शिक्षेर्जिज्ञासायां दो वक्तव्य." [वा०] धनुषि शिक्षते। विद्यासु शिक्षते। धनुषि शिक्षते। कर्मविवक्षाया विद्याः शिक्षाचक्रे। "हरतेर्गतिताच्छील्ये [वा०] पैतृकमश्वा अनुहरन्ते मातृकं गाव। मातुरागतम् "ऋतष्ठञ्" [३।३।४२] इति ठञ।

१. धातु हवि इप-द०। २. अपरा स०। ३. -मावित्ते अ०, व०, स०।

गतिताच्छील्य इति किम् ? मातरमनुहरन्ति । "शप उपलम्भन इति च वक्तव्यम्" [वा०] वाचा शरीरस्पर्शनमुपलम्भः । देवदत्ताय शपते । उपलम्भन इति किम् ? शपति ।

समोऽकूजे ॥१।२।१६॥ सम्पूर्वात् क्रीडोऽकूजेऽर्थे दो भवति । सक्रीडते । सक्रीडेते । सक्रीडन्ते । अकूज इति किम् ? सक्रीडन्ति शकटानि । अव्यक्तं शब्दं कुर्वन्तीत्यर्थः ।

स्थोऽवविप्राच्च ॥१।२।१७॥ अव वि प्र इत्येवंपूर्वात् सम्पूर्वाच्च तिष्ठतेर्दो भवति । अवतिष्ठते । वितिष्ठते । प्रतिष्ठते । सन्तिष्ठते ।

ज्ञीप्सास्थेयोक्तौ ॥१।२।१८॥ परपरितोषार्थमात्मरूपादिप्रकाशनं ज्ञीप्सा । स्थीयतेऽस्मिन् निर्णयरूपेणेति स्थेयः । बहुलवचनादधिकरणे यः । ज्ञीप्साया स्थेयोक्तौ च तिष्ठतेर्दो भवति । ज्ञीप्सायाम्–तिष्ठते कन्या छात्रेभ्यः । तिष्ठते ब्राह्मणी छात्रेभ्यः । स्वाभिप्रायप्रकाशनेनात्मानं रोचयतीत्यर्थः । ज्ञीप्सनक्रियया कर्मत्वव्यपदेशभाजा छात्राणामुपेयत्वात् सम्प्रदानत्वम् । स्थेयोक्तौ–देवदत्ते तिष्ठते । त्वयि तिष्ठते । मयि तिष्ठते । संशयान्निश्चयं करोतीत्यर्थः ।

उद ईहे ॥१।२।१९॥ उत्पूर्वात्तिष्ठतेरीहार्थे वर्तमानाद्दो भवति । गेहे उत्तिष्ठते । धर्मे उत्तिष्ठते । घटत इत्यर्थः । ईह इति किम् ? अस्माद् ग्रामाच्छतमुत्तिष्ठति । उत्पद्यत इत्यर्थः । ईह इति ईहतेः पर्यायग्रहणात् गम्यमानायामीहाया न भवति । आसनादुत्तिष्ठति । उत्तिष्ठति सेना । अस्माद् ग्रामाद्विष्टिः[2] (?) । पञ्च पुरुषा उत्तिष्ठन्ति ।

उपान्मन्त्रकरणे ॥१।२।२०॥ उपपूर्वात्तिष्ठतेर्मन्त्रकरणे दो भवति । जगत्योपतिष्ठते । त्रिष्टुभोपतिष्ठते । मन्त्रकरण इति किम् ? भर्तारमुपतिष्ठति भार्या यौवनेन । उपादिति योगविभागः । तेन देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिषु दो भवति । देवपूजायाम्–सीमन्धरमुपतिष्ठते । सङ्गतिकरणे–रथिकानुपतिष्ठते । मित्रकरणे–महामात्रानुपतिष्ठते । सङ्गतिकरणमुपश्लेषः । मित्रकरणं मानसः सम्बन्धः । पथि–अयं पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते । "वा लिप्सायामिति वक्तव्यम्" [वा०] । भिक्षुको दातृ[3]कुलमुपतिष्ठते । उपतिष्ठति वा ।

घेः ॥१।२।२१॥ अकर्मको घिरिति । उपपूर्वात्तिष्ठतेर्घेर्दो भवति । यावद्भुक्तमुपतिष्ठते । यावदोदन[4]मुपतिष्ठते । भोजने भोजने ओदने ओदने उदीक्षत इत्यर्थः । घेरिति किम् ? स्वामिनमुपतिष्ठति ।

व्युत्तपः ॥१।२।२२॥ घेरिति वर्तते । वि उदित्येवम्पूर्वात्तपतेर्घेर्दो भवति । वितपते । ज्वलतीत्यर्थः । उत्तपते । घेरित्येव । उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । वितपति पृथ्वीमादित्यः । दहतीत्यर्थः । व्युद इति किम् ? निष्टपति । दीप्यत इत्यर्थः । "स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] वितपते पाणिम् । उत्तपते पाणिम् । आत्मीयमङ्गं स्वाङ्गं न पारिभाषिकं तेनेह न भवति । वितपति परपाणिम् । उत्तपति देवदत्तो यज्ञदत्तस्य पृष्ठम् ।

आङो यमहनः ॥१।२।२३॥ आङ्पूर्वाभ्यां यम हन इत्येताभ्यां घिभ्यां दो भवति । आयच्छते । दीर्घो[5] भवतीत्यर्थः । आहते । आघ्नाते । आघ्नते । यमः कर्त्रभिप्राये फले "समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे" [१।२।७०] इति दः सिद्धोऽन्यत्रेदम् । घेरित्येव । आयच्छति रज्जुम् । आहन्ति पापम् । "स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] । आयच्छते पाणिम् । आहते वक्षः । स्वाङ्गादिति किम् ? परकीयाङ्गे कर्मणि मा भूत् । आहन्ति शिरः परकीयम् ।

---

१. रीहेऽर्थे अ०, ब०, स० । २. अ० स० पुस्तकयोः "विष्टि" इति पाठः । ब० मु० पुस्तकयोः "द्विष्टिः" इति । परं "विष्टिः" इति पाठः प्रतिभाति । विष्टिश्च कर्मकृत् "आज्ञूभेतनयोर्विष्टि कर्मकृन्नरकेऽपि" इति शाश्वतवचनात् । पूर्ववाक्याच्चात्र "उत्तिष्ठति" इत्यध्याहारः । 'गृष्टिः' इत्यपि पाठः सम्भवति । गृष्टिश्च सकृत्प्रसूता गौः । ३. दातृकु–अ० । ४.–दानोद–अ० । ५. दीर्घोभव–अ०, स० ।

समो गमप्रच्छिस्वृच्छिश्रुविद्दृशः ॥१।२।२४॥ धेरिति वर्तते। सम्पूर्वेभ्यो गम्-प्रच्छि-स्वृ-ऋ-ऋच्छि-श्रु-विद्-दृश्-इत्येतेभ्यो दो भवति। सङ्गच्छते। सम्पृच्छते। सस्वरते। ऋ इति ऋच्छतेरियर्तेश्च ग्रहणम्। समृच्छते। समियृते। समरिष्यते। ऋच्छतेरनादेशस्य ग्रहणम्। आदेशस्य ऋग्रहणेन सिद्धत्वात्। समृच्छिष्यते। सशृणुते। विदेरादादिकस्य ग्रहणं मर्वाङ्गस्साहचर्यात्। संवित्ते। संपश्यते। धेरित्येव। सङ्गच्छति सुहृदम्। संवेत्ति धर्मम्। "गेरस्यत्यूह्योर्वेति वक्तव्यम्" [वा०]। निरस्यते। निरस्यति। समूहति। समूहते।

निसंव्युपाद् ह्वः ॥१।२।२५॥ पुनः संग्रहणाद्धेरिति निवृत्तम्। नि-सं-वि-उप इत्येवम्पूर्वात् ह्वयतेर्दो भवति। निह्वयते। संह्वयते। विह्वयते। उपह्वयते। ह्वयतेरात्वेन विकृतनिर्देशेऽपि प्रकृतिग्रहणम् "न व्यो लिटि" [४।३।३६] इति निर्देशात्।

आङः स्पर्द्धे ॥१।२।२६॥ स्पर्द्धः पराभिभवेच्छा। आङ्पूर्वात् ह्वयतेः स्पर्द्धविषये दो भवति। मल्लो मल्लमाह्वयते। छात्रश्छात्रमाह्वयते। स्पर्द्धयाह्वानं करोतीत्यर्थः। स्पर्द्ध इति किम्? गामाह्वयति।

गन्धनाऽवक्षेपसेवाऽन्यायप्रतियत्नप्रकथोपयोगे कृञः ॥१।२।२७॥ गन्धनं सूचनम्। अवक्षेपो भर्त्सनम्। सेवा संश्रयः। अविधिना प्रवृत्तिरन्यायः। अविद्यमानार्जनं विद्यमानसंस्कारो वा प्रतियत्नः। प्रबन्धेन कथनं प्रकथा। उपयोगो धर्मादिनिमित्तो व्ययः। गन्धनादिष्वर्थेषु वर्तमानात् कृञो दो भवति। गन्धने—उत्कुरुते अयमिमम्। सूचयतीत्यर्थः। अवक्षेपे—श्येनो वर्तिकामुपकुरुते। भर्त्सयतीत्यर्थः। सेवायाम्—गणकानुपकुरुते। सेवत इत्यर्थः। अन्याये—परदारानुपकुरुते। न्यायमनपेक्ष्य तेषु प्रवर्तत इत्यर्थः। प्रतियत्ने—एधोदकस्योपस्कुरुते। "प्रतियत्ने कृञः" [१।४।६०] इति कर्मणि ता। "उपात्प्रतियत्नवैकृत०" [४।३।११२] इत्यादिना सुट्। प्रकथायाम्—जनापवादान् प्रकुरुते। उपयोगे—शतं प्रकुरुते। धर्मार्थं विनियुङ्क्त इत्यर्थः। एतेष्विति किम्? कटं करोति। आविष्करोतीत्यत्र आविः शब्द एव गन्धने वर्तते न करोतिः। अपकारप्रयुक्तं वा सूचनं गन्धनमित्यदोषः।[1]

प्रसहनेऽधेः ॥१।२।२८॥ प्रसहनमभिभवः। अधिपूर्वात्कृञः प्रसहनेऽर्थे दो भवति। शत्रूनधिकुरुते। वादिनोऽधिकुरुते। अभिभवतीत्यर्थः। प्रसहन इति किम्? अधिकरोति। अकर्त्राप्ये फले ममेव भवति।

शब्दकर्मणो वेः ॥१।२।२९॥ कर्मेह कर्त्राप्यम्। विपूर्वात् करोतेः शब्दकर्मकाद्दो भवति। ध्वाङ्क्षो विकुरुते स्वरान्। क्रोष्टा विकुरुते स्वरान्। शब्दकर्मण इति किम्? विकरोति कटम्। शब्दग्रहणेन शब्दविशेषाः स्वरादयो गृह्यन्ते। तेनेह न भवति। विकरोति शब्दम्। विकरोत्यनुवाकम्। विकरोत्यध्यायमसावह्वा।

धे ॥१।२।३०॥ विपूर्वात्करोतेर्धेर्दो भवति। विकुर्वते सैन्धवाः। साधुदान्ताः। ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते। "तृप्त्यर्थे योगे उपसंख्यानम्" [वा०] इति करणे ता।

सम्मानोत्सञ्जनोपनयनज्ञानभृतिगणनव्यये नियः ॥१।१।३१॥ सम्मानः पूजनम्। उत्सञ्जनमुत्क्षेपः। उपनयनमाचार्यकरणम्। ज्ञानमवगमः। भृतिर्वेतनादानम्। ऋणशुल्कादिनियातनं गणनम्। व्ययो धर्मादिष्वपि विनियोगः। सम्मानादिषु यथासम्भवं विशेषणेषु नयतेर्धेर्दो भवति। सम्मान—नयते चार्वी स्याद्वादे। चार्वी बुद्धिस्तद्योगादाचार्योऽपि तथोक्तः। विनेयेषु प्रतिपादनेन सम्मानं करोतीत्यर्थः। उत्सञ्जने—बालमुन्नयते। उत्क्षिपतीत्यर्थः। उपनयने—माणवकमुपनयते। आत्मनः शिष्यभावेन माणवकं प्रापयतीत्यर्थः। ज्ञाने—नयते चार्वी तत्त्वार्थे। तत्त्वपदार्थान् निश्चिनोतीत्यर्थः। भृतौ—कर्मकरानुपनयते। वेतनादानेन पुष्णातीत्यर्थः। गणने—मद्राः करं विनयन्ते। निर्यातयन्तीत्यर्थः। व्यये—शतं विनयते। सहस्रं विनयते। एतेष्विति किम्? अजां नयति ग्रामम्।

---

1. अत्र गन्धनस्य वर्तमानत्वेन दो वक्तव्य इत्याशङ्कायामुत्तरद्वयम्।

कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तौ ॥१।२।३२॥ नयतेः कर्ता लकारवाच्यः। रूपाद्यात्मिका मूर्तिः। कर्तृस्थे कर्मणि मूर्तिवर्जिते सति नयतेर्दो भवति। क्रोधं विनयते। हर्षं विनयते। श्रमं विनयते। शमयतीत्यर्थः। अत्र कर्तृस्थत्वात्कर्मणः कर्त्राऽप्यफलता कर्मता। तेन कर्त्राप्ये क्रियाफले सिद्धेऽपि दे नियमार्थमेतत्। कर्तृस्थ इति किम्? देवदत्तो जिनदत्तस्य क्रोधं विनयति। कर्मणीति किम्? बुद्ध्या विनयति। अमूर्ताविति किम्? गडुं विनयति।

किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे ॥१।२।३३॥ किरतेर्दो भवति हर्षजीविकाकुलायकरण इत्येतेषु गम्यमानेषु। हर्षे—अपस्किरते वृषभो हृष्टः। जीविकायाम्—अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी। कुलायो निवासः—कुलायकरणे—अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी। "चतुष्पाच्छकुनिष्वपाद्धर्षादौ" [४।३।११९] इति सुट्।

वृत्तिसर्गतायने क्रमः ॥१।२।३४॥ वृत्तिरविघातः। सर्ग उत्साहः। तायनं पृथूभावः। वृत्त्यादिष्वर्थेषु वर्तमानात् क्रमेर्दो भवति। वृत्तौ—नयेष्वस्य क्रमते बुद्धिः। न प्रतिबध्यत इत्यर्थः। सर्गे—क्रमते जैनेन्द्राध्ययनाय। उत्सहत इत्यर्थः। तायने—नास्मिन्मूढे शास्त्राणि क्रमन्ते। न तायन्त इत्यर्थः। एतेष्विति किम्? क्रामति। "क्रमो मे" [४।२।७४] इति दीत्वम्।

परोपात् ॥१।२।३५॥ वृत्तिसर्गतायन इति वर्तते। पर-उप-इत्येवम्पूर्वात् क्रमेर्दो भवति। पराक्रमते। उपक्रमते। सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय परोपाभ्यामेव नान्यस्माद्देः। अनुक्रामति। वृत्त्यादिष्वित्येव। पराक्रामति। उपक्रामति।

ज्योतिरुद्गतावाङः ॥१।२।३६॥ आङ्पूर्वात् क्रमेर्ज्योतिषामुद्गमनेऽर्थे दो भवति। आक्रमते सूर्यः। आक्रमते चन्द्रमाः। आक्रमन्ते ज्योतींषि। ज्योतिरुद्गताविति किम्? आक्रामति धूमो हर्म्यतलम्। आक्रामति माणवकः कुतपमित्यत्रोद्गतिरपि नास्ति।

वेः स्वार्थे ॥१।२।३७॥ स्वार्थः पादविक्षेपः। विपूर्वात् क्रमेः स्वार्थे दो भवति। (अश्वः) सुष्ठु विक्रमते। साधु विक्रमते। विक्रमणमश्वादीनां शिक्षाविशेषाद् गतिविशेषः। स्वार्थ इति किम्? विक्रामति जिनसन्धिः। स्फुटतीत्यर्थः।

प्रादारम्भे ॥१।२।३८॥ आरम्भः प्रथमं कर्म। प्रपूर्वात् क्रम आरम्भे दो भवति। प्रक्रमते भोक्तुम्। परोपादित्यत उपादिति वर्तते। उपक्रमते भोक्तुम्। आरभते भोक्तुमित्यर्थः। आरम्भ इति किम्? पूर्वेद्युः प्रक्रामति। अपरेद्युरुपक्रामति। पूर्वस्मिन्नहनि यदनेन गतं तदपरस्मिन्नागच्छतीत्यर्थः।

वाऽगेः ॥१।२।३९॥ अगेः क्रमो वा दो भवति। क्रमते। क्रामति। इयमप्राप्ते विभाषा। वृत्त्यादिषु पूर्वेण नित्यो विधिः। अगेरिति किम्? सङ्क्रामति।

ज्ञोऽपह्नवे ॥१।२।४०॥ अपह्नवोऽपलापः। अपह्नवेऽर्थे जानातेर्दो भवति। शतमपजानीते। सहस्रमपजानीते। अपह्नव इति किम्? [1]किंचिदपि जानासि।

घेः ॥१।२।४१॥ जानातेर्घेर्दो भवति। सर्पिषो जानीते। दध्नो जानीते। सर्पिषा दध्ना चोपायेनान्नं सम्पश्यत इत्यर्थः। "ज्ञोऽस्वार्थे करणे" [१।४।२८] इति करणे ता। अकर्त्राप्ये फले इद दविधानम्। घेरिति किम्? स्वरेण पुत्रं जानाति।

सम्प्रतेरस्मृतौ ॥१।२।४२॥ स्मृतिराध्यानं चिन्तनं वा। सम्प्रतिपूर्वाज्जानातेरस्मृत्यर्थे दो भवति। शतं सञ्जानीते। शतं प्रतिजानीते। अस्मृताविति किम्? मातुः सञ्जानाति। पितुः सञ्जानाति। "स्मृत्यर्थदयेशां कर्मणि" [१।४।२१] इति ता।

दीप्त्युपोक्तिज्ञानेहविमत्युपमन्त्रणे वदः ॥१।२।४३॥ दीप्तिः प्रकाशनम्। उपोक्तिः ... उपसान्त्वनमित्यर्थः। ज्ञानं पदार्थावगमः। ईहो यत्नः। नानामतिर्विमतिः। उपमन्त्रणं रहस्युपच्छन्दनम्। दीप्त्या-

---

[1] न त्वं किञ्चिद्—अ०, स०।

[illegible]
क्षेत्रे वदते। को यतत इत्यर्थः। विमतौ—गेहे विवदन्ते। [3]गोष्ठे विवदन्ते। विचित्र भाषन्त इत्यर्थः। उपमन्त्रणे—कुलभार्यामुपवदते। परदारानुपवदते। अनुकूलयतीत्यर्थः। एतेष्विति किम्? वदति देवदत्तः।

व्यक्तवाक्समुक्तौ ॥१।२।४४॥ व्यक्तवाचो व्यक्तवर्णत्वान्मनुष्यादय· प्रसिद्धाः। सम्भूय वचन समुक्तिः। व्यक्तवाचा समुक्तौ गम्यमानाया वदतेर्दो भवति। सम्प्रवदन्ते ग्राम्याः। सम्प्रवदन्ते साधवः। सम्भूय भाषन्त इत्यर्थः। व्यक्तवागिति किम्? सम्प्रवदन्ति कुक्कुटाः। समुक्ताविति किम्। देवदत्तो वदति जिनदत्तम्।

अनोर्धेः ॥१।२।४५॥ अनुपूर्वाद् वदतेर्धेर्दो भवति। अनुवदते जिनदत्तो देवदत्तस्य। अनुः सादृश्ये पुनरर्थे वा। धेरिति किम्? पूर्वमुक्तमनुवदति। व्यक्तवाक्समुक्तावित्येव। अनुवदन्ति वीणाः।

वा विवादे ॥१।२।४६॥ विवादो विप्रलापस्तत्र वर्तमानाद्वदतेर्वा दो भवति। विप्रवदन्ते सावत्सराः। विप्रवदन्ति सावत्सराः। विप्रवदन्ते वादिनः। विप्रवदन्ति वादिनः। युगपद्विरुद्ध वदन्तीत्यर्थः। व्यक्तवाग्ग्रहणमनुवर्तते। ततो व्यक्तवाक्समुक्ताविति नित्ये प्राप्ते विकल्पः। विवाद इति किम्? सम्प्रवदन्ते साधवः। व्यक्तवागित्येव। सम्प्रवदन्ति शकुनयः। समुक्तावित्येव। सम्प्रवदन्ति वादिनः क्रमेण।

गोऽवात् ॥१।२।४७॥ अवपूर्वाद्गिरतेर्दो भवति। अवगिरते। अवगिरेते। अवगिरन्ते। गृणातेरवपूर्वस्य प्रयोगो नास्ति। अवादिति किम्? गिरति। निगिरति?

प्रतिज्ञाने समः ॥१।२।४८॥ प्रतिज्ञानमभ्युपगमः प्रतिज्ञानेऽर्थे सम्पूर्वाद्गिरतेर्दो भवति। अनेकान्तात्मक वस्तु सङ्गिरते। शत सङ्गिरते। प्रतिज्ञान इति किम्? सङ्गिरति।

उच्चरोऽधेः ॥१।२।४९॥ उत्पूर्वाच्चरतेरधेर्दो भवति। गुरुवचनमुच्चरते। उत्क्रम्य चरतीत्यर्थः। अधेरिति किम्? धूम उच्चरति। उदूर्ध्वं गच्छतीत्यर्थः।

समो भया ॥१।२।५०॥ सम्पूर्वाच्चरतेर्भान्तेन योगे दो भवति। रथेन सञ्चरते। अश्वेन सञ्चरते। भान्ते प्रयुक्ते दो भवति, न तु गम्यमाने। भायुक्तादिति किम्? त्रींल्लोकान् सञ्चरति जिनधर्मः। अत्र स्वात्मनेति करण गम्यमानम्। "दाणश्च सा चेदचर्थेऽशिष्टव्यवहारे इति वक्तव्यम्" [वा०] सम्पूर्वाद्दाणो भायोगे दो भवति सा चेदचर्थे भा। इदमेव ज्ञापकमशिष्टव्यवहारे भाऽपि भवतीति। दास्या सम्प्रयच्छते। वृषल्या सम्प्रयच्छते कामुकः। सम इति सम्बन्धे ता। तेन प्रशब्देन व्यवधान न भवति। अचर्थ इति किम्? पाणिना सम्प्रयच्छति। नेद वक्तव्यम्। कर्मव्यतिहारे द.। सहार्थे च भा द्रष्टव्या।

स्वीकृतावुपाद्यमः ॥१।२।५१॥ पाणिग्रहणमविरोधो वा स्वीकृतिः। उपपूर्वाद्यमः स्वीकृतावर्थे दो भवति। कन्यामुपयच्छते। भार्यामुपयच्छते। स्वीकृताविति किम्? परभार्यामुपयच्छति।

श्रुस्मृदृशः सनः ॥१।२।५२॥ श्रु-स्मृ-दृश-इत्येतेभ्य सन्नन्तेभ्यो दो भवति। शुश्रूषते गुरुम्। सुस्मूर्षते पूर्ववृत्तम्। दिदृक्षते देवम्। श्रुदृशिभ्यामकर्मकाद्व्यवस्थाया "समो गम्यृच्छि०" [१।२।२६] इत्यादिना दो विहितस्तत्र "सनः पूर्ववत्" [१।२।५८] इत्येव द सिद्ध [illegible]। [illegible]

ज्ञः ॥१।२।५३॥ जानाते [illegible] दो भवति। [illegible] "धे" [१।२।४१] "अपह्नवे ज्ञः" [१।२।६७] इति [illegible]। [illegible]
[१।२।७१] इत्य [illegible] पूर्ववत्सन इति [illegible]।

चिकित्सा वैद्यः । चिकित्सेति वैद्यकग्रन्थः । कर्त्राप्ये इत्येव । सयच्छति उद्यच्छति आयच्छति परस्य वनम् । "आङो यमहनः" [१।२।२३] इत्यनेन धेर्दविधानमुक्तम् ।

ज्ञोऽगेः ॥१।२।७१॥ जानातेरगिपूर्वाद्दो भवति कर्त्राप्ये फले । गा जानीते[1] । अगेरिति किम् ? स्वर्गलोकं प्रजानाति । कर्त्राप्ये फले इत्येव । परस्य गा जानाति ।

णिचः ॥१।१।७२॥ णिजन्ताद्दो भवति कर्त्राप्ये फले । कटं कारयते । ओदनं पाचयते । लक्षेः[2] स्वरितेत्करणाज्ज्ञायते हेतुमण्णिचो ग्रहणमिदम् । कर्त्राप्ये फल इत्येव । परस्य कटं कारयति ।

पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृद्धेट्वद्वसः ॥१।२।७३॥ णिच इति वर्तते । पा दमि आङ्यम आङ्यस परिमुह रुचि-नृत्-धेट् वद् वस इत्येतेभ्यो णयन्तेभ्यः कर्त्राप्ये फले दो भवति । पाययते । दमयते । आयामयते । "यमोऽपरिवेषणे" इति मित्सञ्ज्ञाप्रतिषेधात् प्रो न भवति । आयासयते । परिमोहयते । रोचयते । नर्तयते । धापयते । वादयते । वासयते । पाधेटोरणर्थत्वान्नातिवद्योश्चल्यर्थत्वात् "चल्याद्यर्थात्" [१।२।८४] इति म प्राप्तम् । अन्येषाम् "अणौ धेः प्राणिकर्तृकात्" [१।२।८५] इति । तत आरम्भः ।

वा वाग्गम्ये ॥१।२।७४॥ वागिति नेदं पारिभाषिकस्य "ईषाऽत्र वाक्" [२।१।७६] इत्यस्य ग्रहणं किं तर्हि वाक्छब्दः । पदान्तरमित्यर्थः । वाग्गम्ये कर्त्राप्ये फले वा दो भवति । स्वं धान्यं पुनीते । स्वं धान्यं पुनाति । पड्भिर्योगैर्नित्यं दे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

मम् ॥१।२।७५॥ नियमार्थम्[3] । यस्मान्म दश्च प्राप्नोति तस्मान्ममेव भवति । पूर्वेण प्रकरणेन प्रकृतिनियमः कृतो दस्त्वनियत इत्युभयप्राप्तिरस्ति । याति । वाति । प्रविशति । आक्रामति धूमः । टो द एव भवतीति अर्थनियमो व्याख्यातः । ततः कर्त्तरि मं द्रष्टव्यम् । यदि वा "कर्त्तरि जे" [१।२।८] इत्यतः कर्त्तरि तेनेह न भवति । गम्यते । रम्यते ।

परानुकृञः ॥१।२।७६॥ परा अनु इत्येवपूर्वात् कृञो म भवति । गन्धनादिषु दः प्राप्तस्तदपवादोऽयम् । पराकरोति । अनुकरोति । कर्त्राप्ये फले ममेव भवति । कस्मान्न नियमः । तत्रापूर्वो विधिरस्तु नियमो वास्तित पूर्व एव विधिर्भवति ।

प्रत्यभ्यतिक्षिपः ॥१।२।७७॥ प्रति अभि अति इत्येवम्पूर्वात् क्षिपो म भवति । प्रतिक्षिपति । अभिक्षिपति । अतिक्षिपति । स्वरितेत्वाद्दः प्राप्तः । एतेभ्य इति किम् ? आक्षिपते ।

प्रवहः ॥१।२।७८॥ प्रपूर्वाद्वहतेः कर्त्राप्ये फले म भवति । प्रवहति[4] ।

मृषः परेः ॥१।२।७९॥ परिपूर्वान्मृषतेर्म भवति । परिमृष्यति । परिमृष्यतः । परिमृष्यन्ति । [illegible] केचिदनुवर्तयन्ति । परिवहति । परेरिति किम् । मृष्यते परीषहान्[5] साधुः ।

व्याङ्श्च रमः ॥१।२।८०॥ वि आङ् इत्येवम्पूर्वात् परिपूर्वाच्च रमेर्म भवति । विरमति । आरमति । परिरमति । अनुदात्तेत्वाद्दः प्राप्तः । एतेभ्य इति किम् । रमते । अभिरमते ।

उपात् ॥१।२।८१॥ उपपूर्वाच्च रमेर्म भवति । भार्यामुपरमति । पृथग्योग उत्तरार्थः ।

वा धेः ॥१।२।८२॥ उपपूर्वाद्रमेर्धेर्वा म भवति । यावद्भुक्तमुपरमति[6] । उपरमते । निवर्तत इत्यर्थः । विरिरंसतीत्यत्र पूर्वस्य दनिमित्ताभावात् "सनः पूर्ववत्" [१।२।८८] इति दो न भवति ।

बुध्युधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रोर्णेः ॥१।२।८३॥ कर्त्राप्ये [illegible] इति द प्राप्तेऽयमारम्भः । बुध युध नश जन इङ् प्रु द्रु स्रु इत्येतेभ्यो णयन्तेभ्यो म भवति । चेतनाव [illegible] न" [१।२।८५] [illegible] इति धो

१ जानीते । अरवं जानीते । अगे—अ० [illegible] २. [illegible] स्वरितेत्करणादित्यर्थः । ३. नियमोऽयम् अ० [illegible] स० । ५. "परिषहान्" अ० । ६. "यावद्भुक्त [illegible]

इति सिद्धे अप्राणिकर्तृकार्थं ग्रहणम्। प्रवत्यादीनामचल्यद्यर्थम्। बोधयति पद्मम्। योधयति काष्ठानि। नाशयति पापम्¹। जनयति पुण्यम्। अध्यापयति शास्त्रम्। प्रावयति ग्रामम्। प्रापयतीत्यर्थः। द्रावयति लोहम्। वितापयतीत्यर्थः। स्रावयति तैलम्। स्यन्दयतीत्यर्थः।

चल्यद्यर्थात् ॥१।२।८४॥ णेरिति वर्तते। चलेरर्थः कम्पनम्। अदेरर्थोऽभ्यवहारः। चल्यर्थेभ्योऽद्यर्थेभ्यश्च धुभ्यो ण्यन्तेभ्यो म भवति। चल्यर्थेभ्यः—चलयति। चोपयति। कम्पयति। "कम्पने चलेः" (?) इति मित्सञ्ज्ञाया प्रादेशः। अद्यर्थेभ्यः—निगारयति। भोजयति। आशयति। सर्वत्राद्यर्थकार्यमदेर्नेष्यते। आदयन्ते² देवदत्तेन। इह पय उपयोजयते देवदत्तेनेति भक्षणार्थाभावान्म न भवति। सकर्मकार्थमप्राणिकर्तृकार्थञ्च सूत्रम्।

अणौ धेः प्राणिकर्तृकात् ॥१।२।८५॥ अण्यन्तावस्थाया यो धुर्धिः प्राणिकर्तृकस्तस्माण्ण्यन्तान्मं भवति। आस्ते देवदत्तः। आसयति देवदत्तम्। शेते देवदत्तः। शाययति देवदत्तम्। अणाविति किम्? चेतयमान प्रयोजयति। चेतयते। ननु च "णिचः" [१।२।७२] इत्यत्र हेतुमण्णिचो ग्रहण व्याख्यातम्। अणाविति तस्याय प्रतिषेधः। तेनात्र म भवत्येव चेतयतीति। इद तर्हि प्रत्युदाहरणम्। आरोहयमाण प्रयोजयति आरोहयते। अथवाऽणाविति धेर्विशेषणम्। अणौ यो धिस्तस्य ग्रहण यथा स्यात्। अन्यथा धिग्रहणे ण्यन्तविशेषणे इहैव म स्याच्चेतयमान प्रयोजयति चेतयति। आसयति इत्यादौ न स्यात्। धेरिति किम्? कट कुर्वाण प्रयोजयति कारयते। प्राणिकर्तृकादिति किम्? शुष्यन्ति व्रीहयः। शोषयते व्रीहीनातपः। "प्राण्योषधिवृक्षेभ्योऽवयवे च" [३।३।१०३] इति पृथग्निर्देशादिह शब्दशास्त्रे वनस्पतिकायाः प्राणिग्रहणेन न गृह्यन्ते।

क्यषो वा ॥१।२।८६॥ क्यषन्ताद्वा म भवति। वावचनसामर्थ्यात् पक्षे दोऽपि भवति। अपटत्पटद्भवति पटपटायति। पटपटायते। "अव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाच्" [४।२।६१] इति डाच्। "डाचि" इति द्वित्वम्। "त्रो डाचि नित्यम्" [४।३।८७] इति तकारस्य पररूपत्वम्। टिखम्। "डाज्लोहितात्क्यष्" [२।१।११] इति क्यष्। एवमलोहितो लोहितो भवति लोहितायते।

द्युद्भ्यो लुङि ॥१।२।८७॥ कृपूपर्यन्ता द्युतादयः। वेति वर्तते। द्युतादिभ्यो वा म भवति लुङि परतः। व्यद्युतत्। व्यद्योतिष्ट। अलुटत्। अलोटिष्ट। मविधिपक्षे "द्युतुषादिक्लित्सर्त्तिशास्त्यर्तेर्ङः" [२।१।४८] इत्यङ्। यद्यपि मेऽङ्विधानसामर्थ्यान्मविधिर्लब्धस्तथाप्यनुदात्तेत्करण लुङोऽन्यत्र सावकाशमिति नित्यं मं स्यादिति विकल्पार्थं वचनम्। लुङीति किम्? द्योतते। द्युता सहचरिता इतरेऽपि तयोच्यन्त इति बहुवचननिर्देशः।

स्यसनोर्वृद्भ्यः ॥१।२।८८॥ द्युतादिष्वन्तर्भूता वृतादयः। वृतादिभ्यो वा म भवति स्ये सनि च परतः। वर्त्स्यति। अवर्त्स्यत्। विवृत्सति। वर्तिष्यते। अवर्तिष्यत। विवर्तिषते। एव वृध सृध स्यन्दू इत्येते योज्याः। मविधौ "न वृतादेः" [५।१।१०७] इतीट्प्रतिषेधः।

लुटि च क्लृपः ॥१।२।८९॥ क्लृपेर्लुटि स्यसनोश्च वा म भवति। कल्प्ता। कल्प्तारौ। कल्प्तारः। कल्प्स्यति। अकल्प्स्यत्। चिक्लृप्सति³। कल्पितारः। कल्पिष्यते। अकल्पिष्यत। चिकल्पिषते। क्लृपेर्वृतादित्वादेव स्यसनोर्विकल्पे सिद्धे चकारेणानुकर्षणमसन्देहार्थम्। क्लृप इति लत्व किमर्थम्? ऋकारस्थस्य रेफभागस्य रेफग्रहणेन ग्रहण यथा स्यात्। क्लृप्तः। क्लृप्तवान्। मातृणाम्। पितृणाम्। लत्वे णत्वञ्च सिद्धम्।

स्पर्द्धे परम् ॥१।२।९०॥ स्पर्द्धे पर कार्यं भवति। द्वयोः प्रसङ्गयोरन्यार्थयोरेकस्मिन् युगपदुपनिपाते स्पर्धः स्पर्द्धः। "यञ्यतो दीः" [४।२।६६] "सुपि" [४।२।६७] इति दीत्वस्यावकाशः। देवाभ्याम्। वृक्षाभ्याम्। "बहौ झल्येत् [४।२।६८] इत्यस्यावकाशः। देवेषु। वृक्षेषु। इहोभय प्राप्नोति देवेभ्य इति। सूत्रविन्यासे परमेव भवति। अप्रवृत्तौ पर्याये वा प्राप्ते वचनम्। "कार्यकाल सञ्ज्ञापरिभाषम्" [परि०]इति। यावन्ति

१. पापम्। जनयति पापम्। जन—ब०, स०। २.'आदयते' अ०,ब०, स०। ३. चिक्लृप्सति। कल्प्ता। कल्पितारौ। कल्पितारः—अ०, ब०

कार्याणि तावद्धा सूत्रस्य भेद इति विधिर्नियमश्चेदं सूत्रम्। यत्र परस्मिन्कार्ये कृते "पुनः प्रसंगविज्ञानात्" पूर्वं तत्र विधिः। यत्र परमेव कार्यं दृश्यते "सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव" [परि०] इति तत्र नियमः। तद्यथा द्वित्वस्यावकाशः। बेभिद्यते। जेरवकाशः। विचति। वेविच्यते इति परत्वाज्जौ कृते पुनः प्रसङ्गाद् द्वित्वम्। "जश्शसो शिः" [४।१।१७] इत्यस्यावकाशः। कुण्डानि। "ङेसुटोरम्" [४।१।२४] इत्यस्यावकाश.। यूय राजानः। इह यूय गुरुकुलानि इति पर एवाम्भावः। अतुल्यबलयोः स्पर्द्धा न भवति। उत्सर्गापवाद. परनित्यविचारणे भवेन्नित्यम्। नित्यात्तथान्तरङ्गम्। तस्मादप्यनवकाश यत्। एकार्थयोरपि नास्ति विरोधः। धोर्विहितास्तव्यादयः पर्यायेण भवन्ति।

नब्वाध्य आसम् ॥१।२।९१॥ नपा निर्दिष्टो बाध्यो भवति आ साधिकारपरिसमाप्ते रित्येषोऽधिकारो वेदितव्यः। लोके संज्ञासमावेशो दृष्टः इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति। शास्त्रेऽपि त्यः कृद् व्य इति। "शेषोऽग एव" [२।४।६४] इत्यवधारणाज्ज्ञापयति इहापि संज्ञासमावेशः स्यादिति यत्नः क्रियते। यत्र नपः समावेश इष्यते तत्र चशब्दोपादानमस्ति। यथा "यश्चकाश्रये" [१।२।४४] इति। वक्ष्यति "प्रो घि च" [१।२।९९] विदि[1]। भिदि। "स्फे रुः" [१।२।१००]। शिद्धि। भिद्धि। नपा निर्दिष्टा धिसंज्ञा रुसंज्ञया बाध्यते समावेशे हि अततर्द[2]दित्यत्र "धौ कच्यनक्खे सन्वत्" [४।२।१६०] इति कच्परे[3] धौ परतः सन्वद्भाव प्रसज्येत। अविव्रजदित्यत्र वेर्दीर्त्वं स्यात्। नबिति किम्? बाभ्रव्यः। पुल्लिङ्गा गुसंज्ञा पुल्लिङ्गया भसंज्ञया न बाध्यते।

य्वौ स्त्र्याख्यौ मुः ॥१।२।९२॥ स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ। "प्रे" [२।२।४] इति नियमादप्राप्त. "सुपि" [२।२।७] इति योगविभागात्कः। यावीकारोकारौ स्त्र्याख्यौ तदन्त शब्दरूप मुसंज्ञं भवति। "सुम्मिङन्तं पदम्" [१।२।१०३] इत्यत्रान्तग्रहणमन्यत्र संज्ञाविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधार्थमिह नाश्रीयते "आमीयुवो." [१।२।९४] इति नियमारम्भात्। य्वाविति यणादेशादूकारो द्विमात्रस्तत्साहचर्यादीकारोऽपि द्विमात्रः। ईकार.- कुमारी। गौरी। लक्ष्मीः। ऊकारः-ब्रह्मबन्धूः। वामोरूः। यवागूः। "अण्[4] मोः" [५।२।१०७] इत्यादि मुसंज्ञाकार्यम्। य्वाविति किम्? मात्रे। दुहित्रे। स्त्र्याख्याविति किम्? हे ग्रामणीः। हे खलपूः। नेमौ स्त्रियमेवाचक्षाते। आख्याग्रहणं किम्? शब्दार्थे स्त्रीत्वे यथा स्यात् पदान्तरगम्ये मा भूत्। ग्रामण्य स्त्रियै। खलप्वे स्त्रियै। उभयलिङ्गानामिप्वसनिप्रभृतीना शब्दार्थ एव स्त्रीत्वम्। इत्वे अग्नये स्त्रियै। तथा गुणशब्दाना पट्व्यै स्त्रियै। इदमाख्याग्रहणस्य प्रयोजनम्। कुमारीमिवात्मानमाचरति (कुमारीवाचरति) "आचारे सर्वमृद्भ्यः क्विप्" इति क्विप्। कुमार्यै देवदत्ताय। लक्ष्मीमतिक्रान्ताय अतिलक्ष्म्यै। प्रागेव मुसंज्ञा वृत्ता तदन्तान्मुकार्यं भवति। इह अतिकुमारये देवदत्ताय। प्रादेशे कृते "अनल्विधौ" [१।१।५६] इति प्रतिषेधान्मुकार्यं न भवति।

स्त्री ॥१।२।९३॥ स्त्रीशब्दश्च मुसंज्ञो भवति। "आमीयुवोः" [१।२।९४] "वा" [१।२।९५] "ङिति प्रश्च" [१।२।९६] इति नियमविकल्पयोः सामान्येन पुरस्तादयमपवादः। हे स्त्रि। स्त्रीणाम्। स्त्रियै। प्रादेशनुड्डाडागमाः सिद्धाः।

आमीयुवोः ॥१।२।९४॥ आमि परत इयुवोः स्थानिनौ य्वौ स्त्र्याख्यौ मुसंज्ञौ भवतः। सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः, आम्येव मुसंज्ञा नान्यत्र। हे श्रीः। हे भ्रूः। इयुवोरिति किम्? प्रध्यै। वर्षाभ्वै।

वा ॥१।२।९५॥ वा[5] मुसंज्ञा भवतीत्यामीयुवो.। श्रीणाम्। श्रियाम्। भ्रूणाम्। भ्रुवाम्।

ङिति प्रश्च ॥१।२।९६॥ य्वोर्[6] प्र. स्त्र्याख्य इयुवोश्च स्थानिनौ यौ य्वौ तेषां ङिति वा मुसंज्ञा भवति। कृत्यै। कृतये। धेन्वै। धेनवे। पक्षे "स्त्रमत्वि" [१।२।९७] इति गुसंज्ञा। "श्रोर्ङिति

1 'छिदि' अ०, ब०, म०। २.-तततृ। अतरतृदित्य-अ०, म०। ३. कच्परौ प-अ०।
४. 'माण्मो.' म०। ५.-डागमाटागमा सिद्धा -अ०, ब०, म०। ६. 'वा च मु-ब०, म०।

[१।२।१०६] एप्। इयुवो। श्रियै। श्रिये। भ्रुवै। भ्रुवे। स्त्र्याख्यावित्येव। अग्नये। अतिकृतये। अतिश्रिये। अतिभ्रुवे देवदत्ताय। य्वौ य्वोः प्र इति किम्? मात्रे। दुहित्रे।

स्वसखि ॥१।२।९७॥ प्रो य्वोरिति वर्तते। य्वोः प्रस्सुसञ्ज्ञो भवति सखिशब्दं वर्जयित्वा। असखीति प्रतिषेधात् सिद्धौ प्रेति निर्देशाच्चास्त्र्याख्यस्य स्त्र्याख्यस्य च प्रस्येह ग्रहणम्। अग्नये। वायवे। स्त्र्याख्यश्च यो मुसञ्ज्ञो न भवति तस्य ग्रहणम्। कृतये। धेनवे। मुसञ्ज्ञाविषये "नब्वाध्य आसम्" [१।२।९१] इति सुसंज्ञा बाध्यते। कृत्याम्। धेन्वाम्। असखीति किम्[1] सख्युः। सख्यौ। असखीति पर्युदासोऽयम्। तेन शोभनः सखा सुसखा। अतिसखा। अतिसखेरागच्छति। अतिसखेः स्वम्। सखिशब्दादन्यत्वमस्तीति सुसञ्ज्ञा। मृद्ग्रहणेन तदन्तविधिरिति वा[2]। य्वोः प्र इत्येव। पित्रे। मात्रे। सुप्रदेशाः "सोर्ङिति" [५।२।१०६] इत्येवमादयः।

पतिः से ॥१।२।९८॥ पतिशब्दः स एव सुसञ्ज्ञो भवति। प्रजापतिना। प्रजापतये। पतिरेव स इति कस्मान्न नियमः। एवं हि "द्वन्द्वे सुः" [१।३।९८] इति पूर्वनिपातवचनमनर्थकं स्यात् द्वन्द्वे पतिरिति ब्रूयात्। न ह्यन्यस्य से सुसञ्ज्ञासम्भवः। अपि चानेकप्राप्तावेकस्य नियम इति वचनमनर्थकं स्यात्। पटुमृदुगुप्तपट्व इति। स इति किम्? पत्या। पत्ये।

प्रो घि च ॥१।२।९९॥ प्र इति मात्रिकस्य सञ्ज्ञा। प्रो घिसञ्ज्ञो भवति। भेत्ता। बोद्धा। घीति नपा निर्देशः किमर्थः? पुल्लिङ्गया रुसञ्ज्ञया बाधा यथा स्यात्। प्रयोजनमग्रे वक्ष्यते। चशब्दः सञ्ज्ञान्तरसमावेशार्थः। घि च भवति यच्चान्यत्प्राप्नोति तच्च भवति। इह प्रविनय्य गत इति सुसञ्ज्ञासमावेशः। विश्च ना च विनयौ तावाचष्टे णिच्। "णाविष्ठवन्मृदः" [४।४।१४६] इति इष्ठवद्भावः। टिखम्। प्रशब्देन योगः। त्वचः प्यादेशे णिते प्राप्ते घिसञ्ज्ञाया सत्या "प्ये घिपूर्वात्"[४।४।५६] इति णेरयादेशः सिद्धः। सुसञ्ज्ञायाश्च पूर्वनिपातः। अन्यथेकारोकाराभ्यामन्यत्र सावकाशा घिसञ्ज्ञा इकारोकारविषयत्वादनवकाशया सुसञ्ज्ञया बाध्येत।

स्फे रुः ॥१।२।१००॥ प्र इति वर्तते। स्फसञ्ज्ञे परतः प्रो रुसञ्ज्ञो भवति। कुण्डा। हुण्डा। स्पर्धा। नुम्विधावुपदेशाश्रयणात्प्रागेव नुम्। "सरोर्हलः" [२।३।८५] इति अस्त्यः। "अजाद्यतष्टाप्" [३।१।४]।

दी ॥१।२।१०१॥ दीरिति द्विमात्रस्य सञ्ज्ञा। दीश्च रुसञ्ज्ञो भवति। ईहाञ्चक्रे। लिटि परतः "सरोरिजादेः" [२।१।३२] इत्याम्। शेषम् "आम्वत्तत्कृञः" [१।२।५६] इत्यत्रोक्तम्। रुरिति पुल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः? ईकारोकारविषयया मुसञ्ज्ञया बाधा मा भूत्। द्वयोः समावेशे हे परमवाणी३क इत्यत्र "मुन्मोः" [४।२।१५३] इति मुसञ्ज्ञाश्रयः कप्। रुसञ्ज्ञाश्रयो "अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः" [५।३।९४] इति प्लविधिश्च सिद्धः।

यत्ये तदादि गु ॥१।२।१०२॥ यो हि यस्मात्त्यः स तस्येत्युच्यते। यस्य धोर्मृदो वा त्यः यत्यस्तस्मिन् परतस्तदादिशब्दरूपं गुसञ्ज्ञं भवति। केवलायाः प्रकृतेर्व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम्। दोग्धि। जुहोति। पाचयति। कुण्डानि। गुकार्यमैविडागमो नुमागमश्च। जसि "नोङः" [४।४।५] इति दीत्वञ्च। यदिति सामान्यनिर्देशार्थम्। अन्यथा तदादीति न लभ्येत तथा च त्ये सति पूर्वमात्रस्य गुसञ्ज्ञा स्यात्। तत्र को दोषः? इह न्यविशत प्राविशदिति सर्वत्राडागमः स्यात्। यत्य इति यच्छब्देन त्यस्य विशेषणं किम्? अस्यापत्यमिः। औपगव इ परेऽत्र आदैप् स्यात्। अतस्य स्थानिवद्भावाद् व्यवधानमिति चेत् योऽनादिष्टादचः पूर्वस्तं प्रति स्थानिवद्भावात्। [illegible] पूर्वो निष्पन्नस्य पदस्य पदान्तरेणाभिसम्बन्धात्। यत्य इति ईम्निर्देशः

१. 'निर्देशात्' इत्यस्य 'अनुवृत्तेः' इत्यर्थः। प्रसङ्गस्वारस्यात्। २. 'वा' अनित्यमित्यर्थः।
३. नोङ इत्यस्मिन्ननुवर्तमाने 'घेऽक्ङौ' इति दीः।

किमर्थः ? यत्स्तदादि गुरित्युच्यमाने यस्य त्यः सम्भवति तस्यान्यस्मिन्नपि शब्दे गुसंज्ञा स्यात्। तथा च निमि इदं स्त्र्यर्थे सुवे इद भ्वर्थम्। इयुवौ प्रसज्येयाताम्। तदादिवचन किमर्थम् ? यत्रानेकस्त्यः सम्भवति तत्र तदादेर्गु संज्ञा यथा स्यात्। करिष्यति। कुण्डानि। स्यान्तस्य सनुमकस्य च गुसंज्ञाया "यन्यतो दीः"[१।१।६६] "धेऽकौ"[४।४।६] इति दीत्वं सिद्धम्। गुरिति पुल्लिङ्गनिर्देशो भपदसंज्ञासमावेशार्थः। इह वाभ्रव्य इति गुसंज्ञाश्रय आदैरैप्। भसंज्ञाश्रयः "कद्रूवो रोऽस्वयम्भुवः" [४।४।१३४] इति ओकारः। इह च यनुः पदसमस्य याजुष्कः। गुसंज्ञाश्रय आदैरैप् "स्वादावधे" [१।२।१०६] इति पदत्वे पदसंज्ञाश्रयाणि रिसत्वषत्वानि सिद्धानि। नपुंसकलिङ्गा चेद् गुसंज्ञा होतुरपत्यं हौत्र इत्यत्र सावकाशा सती पदसंज्ञया बाध्येत।

सुम्मिङन्तं पदम् ॥१।२।१०३॥ "नः क्ये" [१।२।१०४] इति नियमारम्भात् सुमिति प्रत्याहार ग्रहणं नेपो वहोः। मिङा साहचर्याद्वा। सुबन्तं मिङन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति। सूपकारः पचति। पदसंज्ञाश्रयो रित्वादिविधिः। खरि सादेशविधिश्च भवति। ननु सुम्मिङौ त्यौ। त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहण-मित्यन्तग्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्र संज्ञाविधौ तदन्तविध्यभावज्ञापनार्थम्। तेन हृपत्तीर्णेत्यत्र क्तान्तस्य "क्तक्तवतू" [१।१।२८] इत्यनेन तसंज्ञा नास्तीति "द्रान्तस्य तो नः" [५।३।५६] इत्येष विधिर्पदकारापेक्षया न भवति। इह च कुमारीगौरितरा "तादी भः" [४।१।११७] इत्यनेन तरान्तस्य भसंज्ञा नास्तीति "भरूप०" [४।३।१५५] इत्यादिना प्रादेशो न भवति। पदमिति नपा निर्देशो भसंज्ञया बाधा यथा स्यादित्येवमर्थः। अन्यथा राज्ञः राजन्य इत्यत्र भसंज्ञाश्रयमनोऽखं पदसंज्ञाश्रयं नखञ्च स्यात्। पदप्रदेशाः "पदस्य" [५।३।१४] इत्येवमादयः।

नः क्ये ॥१।२।१०४॥ क्य इति क्यच्क्यङ्क्यषामविशेषग्रहणम्। क्ये परतो नान्तस्य पदसंज्ञा भवति। राजानमिच्छति राजीयति। राजेवाचरति राजायते। अचर्म चर्म भवति चर्मायते। पदत्वे सति नखं सिद्धम्। "नखं सुब्विधि कृत्तुकि" [५।३।२८] इति नियमादन्यत्र सिद्धमिति "क्यचि" [५।२।१४२] इतोत्वं "दीरकृद्गे" [५।२।१३४] इति दीत्वञ्च भवति। "त्यखे त्याश्रयम्" [१।१।६३] इति पदत्वे सिद्धे नियमार्थमिदम्। नान्तमेव क्ये पदसंज्ञं भवति नान्यत्। वाच्यति। शुच्यति[५]। कुत्वं न भवति। नान्तस्यैवेति विपरीतो नियमो नाशङ्कनीयः। "अकौ" [५।३।३०] इति कौ नखप्रतिषेधात् ज्ञायते पदत्वे हि नखप्राप्तिः।

सिति ॥१।२।१०५॥ सिति त्ये परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति। भवतोऽयं भवदीयः। "भवतष्ठण्छसौ" [३।२।६१] इति छस्। "यचि भः" [१।२।१०७] इति पदसंज्ञाया बाधिताया पुनरारम्भः। ऊर्णा अस्यास्तीति ऊर्णायुः। "ऊर्णाहंशुभंम्यश्च युस्" [४।१।६२] इति युस्। "यस्य ङ्याञ्च [४।४।१३६] इति खं न भवति। अहंयुः। अहयुः। शुभंयुः। शुभयुः। "वा पदान्तस्य" [५।४।१३३] इति परसवर्णः।

स्वादावधे ॥१।२।१०६॥ अध इति प्रतिषेधाद्वाया एकस्य सोर्ग्रहणम्। स्वादौ धवर्जिते परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति। राजभ्याम्। राजभिः। राजत्वम्। राजता। अध इति किम् ? राजानौ। राजानः। यद्येवं ... त्यत्रापि प्रतिषेधः स्यात्। नैवं शङ्क्यम्। अध इति पर्युदासोऽयं धादन्यत्र पदसंज्ञा विधीयते। ... भविष्यति। यद्येवं सुवाचौ सुवाच इत्यत्रान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वं प्राप्नोति। अस्तु तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधः। राजेत्यत्र "अकौ" [५।३।३०] इति प्रतिषेधात् ज्ञायते सौ पदसंज्ञा भवति। एवमप्यध इति अनन्तरस्य ... विधेः प्रतिषेधोऽयं सुवाचौ सुवाच इत्यत्र पूर्वेण प्राप्तिरस्त्येव। कर्तव्योऽत्र यत्नः। "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ त्यलक्षणं न भवतीति।

यचि भः ॥१।२।१०७॥ स्वादावध इति वर्तते। यकारादावजादौ च स्वादौ धवर्जिते पूर्वं भसंज्ञं भवति। गार्ग्यः। वात्स्यः। दाक्षिः। प्लाक्षिः। पूर्वेण पदसंज्ञा प्राप्ता भत्वाद् "यस्य ङ्याञ्च" इति खम्। "नखोऽनि

१. अुवे अ०, ब०, स०। २. भ्वर्थम्-अ०, ब०, स०। ३. इति नास्ति-अ०, स०।
४. न सम्भ-अ०। ५. शुच्यति ब०, स०।

मनुषां वत्युपसङ्ख्यानम् । [वा०] नभसा तुल्य वर्तते इति नभस्वत् । अङ्गिरस्वत् । मनुष्वत् । वृष्णो वस्वश्वयोर्भसंज्ञेति केचित् । वृष्णो वसुः वृषण्वसुः । वृषणश्वः ।

मत्वर्थे स्तौ ॥१।२।१०८॥ मत्वर्थे त्ये परतः सकारान्त तकारान्तञ्च भसंज्ञ भवति । तपस्वी । यशस्वी । "विन्नस्मायामेधास्रजः" [४।१।४७] इति विन् । मतोर्विशेषणत्वेऽपि मत्वर्थग्रहणेन ग्रहणम् । यथा देवदत्तशालापण्डिता आनीयन्तामित्युक्ते देवदत्तो विशेषणभूतोऽपि यदि पण्डितः सोऽपि आनीयते । भास्वान् । विद्युत्वान् । मरुत्वान् । स्ताविति किम् ? राजवद् गृहम् ।

कारके ॥१।२।१०६॥ कारक इत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः कारक इत्येवं तद्वेदितव्यम् । कारक निर्वर्तक हेतुर्वा । कस्य ? क्रियायाः । का च क्रिया ? ध्वर्थः । कारक इति निर्धारणलक्षणेयमीप् । जात्यपेक्षैकवचनम् । सौत्रो वा निर्देशः । कारकेषु यद्ध्रुव तदपादान, यः कर्मणोपेयोऽर्थः स सम्प्रदानमित्यादि योज्यम् । वक्ष्यति "ध्यपाये ध्रुवमपादानम्" । [१।२।११०] ग्रामादागच्छति । स्वर्गादवरोहति । अपायक्रियाया ग्रामोऽपि निर्वर्त्तकः देवदत्तोऽपि । ध्रुवत्वाद् ग्रामोऽपादानम् । कारक इति किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति । कुड्यस्य पिण्डः पतितः । अपायक्रियाया निर्वर्तकत्वेन वृक्षः कुड्यञ्च न विवक्षितम् । "अकथितञ्च" [१।२।१२१] अपादानादिभिरकथित च कारकं कर्मसंज्ञ भवति । आचार्यं धर्मं पृच्छति । कारक इति किम् ? आचार्यस्य शिष्य धर्मं पृच्छति । आचार्यस्य शिष्यविशेषणत्वादकारकत्वम् । यदा कारकञ्चाकारकञ्च सर्वमकथितमप्रतिपादितमित्यर्थस्तदेदं प्रत्युदाहरणम् । असङ्कीर्तितमिति व्याख्याने कारकमेव लभ्यते । प्रदेशेषु कारकाभिधानेऽपादानादीना ग्रहणम् ।

ध्यपाये ध्रुवमपादानम् ॥१।२।११०॥ धीर्बुद्धिः । प्राप्तिपूर्वको विश्लेषोऽपायः । धिया कृतो ऽपायो ध्यपायः । धीप्राप्तिपूर्वको विभाग इत्यर्थः । धीग्रहणे ह्यसति कायप्राप्तिपूर्वक एवापायः प्रतीयेत धीग्रहणेन सर्वः प्रतीयते । ध्रुवमविचलम्, अवधिभूत वा । ध्यपाये साध्ये यद् ध्रुव तदपादानसंज्ञं भवति । ग्रामादागच्छति । ग्रामो देवदत्त नानुपतति इति ध्रुवः । अथवा अपायात्प्रागपि ग्रामः । अपायेऽपि ग्राम एव । देवदत्तस्त्वपाये ग्रामग्रहणेन न गृह्यत इति ग्रामो ध्रुवः । एवमश्वाद् धावतः पतितः । गच्छतः सार्थादवहीनः । देवदत्तो जिनदत्तादागतः । मेषौ परस्परतोऽपसर्पतः । शृङ्गाच्छरो जायते । गङ्गा हिमवतः प्रभवति । इह ग्रामान्नागच्छतीति पूर्वमपादानसंज्ञा पश्चात्प्रतिषेधः । धियाऽपायस्य विशेषणं किम् ? अधर्माज्जुगुप्सते । प्रेक्षापूर्वकारी दुःखहेतुरधर्म इति बुद्ध्या सप्राप्य ततो निवर्तत इति अपादानत्वम् । एवमधर्माद्विरमति प्रमाद्यति । व्याघ्राद्बिभेति । चौरेभ्यस्त्रायते । अध्ययनात् पराजयते । न शक्नोतीत्यर्थः । यवेभ्यो गा वारयति । अकार्यात्सुतं वारयति । कूपादन्ध वारयति । उपाध्यायादन्तर्द्धत्ते । भय सञ्चिन्त्य निवर्तत इत्यर्थः । विवक्षातः कारकाणि भवन्ति । उपाध्यायादधीते । उपाध्यायाच्छृणोति । अविवक्षाया नटस्य शृणोति । ग्रन्थिकस्य शृणोति । ध्रुवमिति किम् ? अरण्ये बिभेति । नात्र भयावधिभूतमरण्य किं तर्हि चौरा. । नपा निर्देशः किमर्थः । वक्ष्यमाणाभिः संज्ञाभिर्बाधा यथा स्यात् । धनुषा विध्यति । पुलिङ्गया करणसंज्ञया बाधात् । कांस्यपात्र्या भुङ्क्ते । पुलिङ्गाऽधिकरणसंज्ञैव । धनुर्विध्यतीति कर्तृसंज्ञा । इह गा दोग्धि पय इति परत्वात्कर्मसंज्ञा । अपादानप्रदेशाः "काऽपादाने" [१।४।३७] इत्येवमादयः ।

कर्मणोपेयः सम्प्रदानम् ॥१।२।१११॥ उपपूर्वादिटो ये कृते उपेय इति भवति । कर्मणा य उपेयोऽर्थस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति । उपाध्यायाय गा ददाति । देवाय बलिं प्रयच्छति । कर्मणेति किम् ? गत्वा उपाध्यायं भजति । सम्प्रदानमित्यन्वर्थसंज्ञाकरणात् ददात्यर्थानां धूना द्रव्येण कर्मणा उपेयोऽर्थः सम्प्रदानमिति । तेनेह न भवति । देवदत्तस्य वस्त्रं दर्शयति । मित्रस्य कार्यं कथयति । अजा नयति ग्रामम् । सम्यक् प्रदानं सम्प्रदानमिति चाभिप्रायः । तेनेह न भवति । प्लतः पृष्ठ ददाति । रजकस्य वस्त्रं ददाति । राज्ञो दण्ड ददाति । इह कथं सम्प्रदानं निरस्यते । युद्धाय सन्नह्यति । तिष्ठते ब्राह्मणी छात्रेभ्यः ? तादर्थ्यात् सिद्धम् । अथवा

कथञ्चिद्विवक्षितभेदाभिः सन्दर्शनप्रार्थनाऽव्यवसायक्रियाभिः क्रियापि व्याप्या सती कर्मतयोपेयत्वात् सम्प्रदानत्वम्। तेनेहापि भवति। रोचते देवदत्ताय मोदकः। स्वदते देवदत्ताय मोदकः। पुष्पेभ्यः स्पृहयति। मित्राय कथयति। मित्राय क्रुध्यति। मित्राय द्रुह्यति। मित्राय ईर्ष्यति। मित्रायासूयति। मित्राय कुप्यति। कोपादन्यत्र क्रुधादीनां प्रार्थनादिभिः क्रियाविशेषैर्भेदो न विवक्षित इति क्रियायाः कर्मव्यपदेशो नास्ति। भार्यामीर्ष्यति। औषध द्वेष्टि। शप उपलम्भनेऽर्थे भेदः। देवदत्ताय शपते। ह्नुङ आत्मनिह्नवे भेदः। मित्राय ह्नुते। अन्यत्र मित्र ह्नुते। राधीक्ष्योर्दैवालोचने। पुत्राय राध्यति। पुत्राय ईक्षते। अन्यत्र पुत्रस्य राध्यति। पुत्रमीक्षते। यत्र च प्रत्याङ्पूर्वं श्रृणोतिरभ्युपगमे वर्तते। देवदत्ताय प्रतिश्रृणोति। अनुप्रतिपूर्वश्च गृणातिर्यदि कथयितुः प्रोत्साहने वर्तते। आचार्याय अनुगृणाति। आचार्याय प्रतिगृणाति। इह भेदाभेदविवक्षा। देवदत्ताय श्लाघते। देवाय प्रणमति। **गत्यर्थानां चेष्टायामसम्प्राप्तावुभे** [वा०]। यथा ग्रामाय गच्छति। ग्राम गच्छति। ग्रामाय व्रजति। ग्राम व्रजति। चेष्टायामिति किम्? मनसा पाटलिपुत्र गच्छति। असम्प्राप्ताविति किम्? पन्थान गच्छति। भार्यां गच्छति। अन्यत्राभेदविवक्षैव। कट करोति। ओदन पचति। शास्त्र पठति। "सयोगेश्च क्रुधिद्रुहोः" [वा०] मित्रमभिक्रुध्यति। मित्रमभिद्रुह्यति। "सिद्धिरनेकान्तात्" [१।१।१] इत्यतो भेदाभेदोभयविवक्षा प्रत्येतव्या। परेषामपि प्रतिपत्तिगौरव तुल्यम्। क्व क्रियाया व्याप्यत्वमिष्ट क्व च नेति दुर्बोधम्।

धारेरुत्तमर्णः ॥१।२।११२॥ ऋणे उत्तम उत्तमर्णः। निपातनात् सविधिः। धारयतेरुत्तमर्णो योऽर्थस्तत्कारक सम्प्रदानसज्ञ भवति। देवदत्ताय गां धारयति। उत्तमर्ण इति किम्? देवदत्ताय शत धारयति दरिद्रः।

परिक्रयणम् ॥१।२।११३॥ परिक्रीयतेऽनेनेति परिक्रयणम्; तत्कारक सम्प्रदानसज्ञ भवति। शताय परिक्रीतः। सहस्राय परिक्रीतः। साधकतमत्वात् करणसज्ञा प्राप्ता।

साधकतमं करणम् ॥१।२।११४॥ क्रियायामतिशयेन साधक साधकतमम्, तत्कारक करणसज्ञ भवति।

"दानेन भोगं दयया सुरूपं ध्यानेन मोक्षं तपसेष्टसिद्धिम्।
सत्येन वाक्यं प्रशमेन पूजा वृत्तेन जन्माग्र्यमुपेति मर्त्यः॥"

तमग्रहण किमर्थम्? यथा रूपप्रस्तावे अभिरूपाय कन्या देयेत्युक्तेऽभिरूपतमायेति। एवमिहापि कारकाविकारादकारके सज्ञाप्रवृत्तिर्नास्तीति 'साधक करणम्' इत्युक्तेऽपि साधकतममिति गम्यते तदेतत् तमग्रहणज्ञापकमन्यत्र तमग्रहणेन विना प्रकर्षो न लभ्यते। तेना "आधारोऽधिकरणं" [१।२।११६] इत्यनेन मुख्यामुख्यसयोगेऽधिकरण सिद्धम्। तिलेषु तैलम्। गङ्गायां घोषः। साधकतमस्याविवक्षाया स्वातन्त्र्याद्वनुविध्यतीति भवति। पुल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः? परिक्रयणमित्यनवकाशया सम्प्रदानसञ्ज्ञया बाधा मा भूत्। शतेन परिक्रीतः। वचनात् प्राप्ति भवति। शताय परिक्रीतः। "दिवः कर्म" [१।२।११५] इत्यत्र च समावेशो यथा स्यात्। अक्षैर्दीव्यति।

दिवः कर्म ॥१।२।११५॥ दिवेः साधकतम कारक कर्मसञ्ज्ञ भवति। अक्षान् दीव्यति। [illegible] दीव्यति। नपा निर्देशात् करणत्वमपि।

आधारोऽधिकरणं ॥१।२।११६॥ आध्रियतेऽस्मिन् क्रियेत्याधारः। इहमेव निपातनात् [illegible] घञ। आधारो यस्तत् कारकमधिकरणसञ्ज्ञं भवति। यत्र च कर्तृकर्मणोरधिकरणसज्ञा प्राप्ता [illegible] त्वात् क्रियायाः। एव तर्हि कर्तृकर्मणोः क्रियाश्रययोरधिकरणादावोऽभिमत। [illegible] तमग्रहणेन [illegible]

---

१. 'इहाक' विध्यति' अ०, ब०, म०।

स्थाप्याधारस्याधिकरणत्वम्। कर्तृकर्मणोः सत्यपि क्रियाधारत्वेऽनवकाशत्वात् कर्तृकर्मसञ्ज्ञे भविष्यतः। भेदविवक्षायामधिकरणत्वमपि। अशनक्रिया देवदत्ते वर्तते। विक्लेदन तण्डुलेषु।

"औपश्लेषिकवैषयिकाऽभिव्यापक इत्यपि। आधारस्त्रिविधः प्रोक्तः कटाकाशतिलेषु च॥"

औपश्लेषिकः—कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। वैषयिकः—आकाशे शकुनयः। गङ्गायां घोषः। गुरौ वसति। यदधीना यस्य स्थितिः स तस्याधारः। अभिव्यापको विभागाप्रतीतेः। तिलेषु तैलम्। दधनि सर्पिः। अधिकरणप्रदेशाः "ईदधिकरणे च" [१।४।४४] इत्येवमादयः।

कर्मैवाऽधिशीङ्स्थाऽसः॥१।२।११७॥ अधिपूर्वाणां शीङ् स्था आस् इत्येषामाधारो यस्तत् कारक कर्मसञ्ज्ञमेव भवति। ग्राममधिशेते। पर्वतमधितिष्ठति। प्रासादमध्यास्ते। एवकारः पुल्लिङ्गाऽधिकरणसज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थः। कर्मप्रदेशाः "कर्मणीप्" [१।४।२] इत्येवमादयः।

वसोऽनूपाध्याङः॥१।२।११८॥ अनु उप अधि आङ् इत्येवम्पूर्वस्य वसतेराधारो यस्तत् कारक कर्मसज्ञ भवति। ग्राममनुवसति। गिरिमुपवसति। गृहमधिवसति। वनमावसति। इह कथ ग्रामे उपवसति। भोजननिवृत्तिं करोतीत्यर्थः? अत्रापि त्रिरात्रादेराधारस्य कर्मत्व प्रतीयते।

अभिनिविशश्च॥१।२।११९॥ अभिनि इत्येवपूर्वस्य विशतेराधारो यस्तत् कारकं कर्मसज्ञ भवति। ग्राममभिनिविशते। गेहमभिनिविशते। चकारात् क्वचिदधिकरणसज्ञाऽपि भवति। या या सज्ञा यस्मिन्नभिनिविशते। अर्थेष्वभिनिविष्टः। कल्याणेऽभिनिवेशः।

कर्त्राप्यम्॥१।२।१२०॥ कर्त्रा क्रियया यदाप्य तत् कारक कर्मसज्ञ भवति। कर्तृग्रहणादाप्यग्रहणसामर्थ्याद्वा क्रिया लभते। तत्र कर्म।

"प्राप्य विषयभूतं च निर्वर्त्यं विक्रियात्मकम्। कर्तुश्च क्रियया व्याप्यमीप्सितानीप्सितेतरत्॥"

आप्यलक्षणत्व सर्वत्र विद्यते। प्राप्यम्—ग्राम गच्छति। आदित्य पश्यति। विषयभूतम्-जैनेन्द्रमधीते। हिमवन्त शृणोति। निर्वर्त्यम्—घट करोति। ओदन पचति। विक्रियात्मकम्—काष्ठानि दहति। घट भिनत्ति। ईप्सितम्-गुड भक्षयति। ओदन भुङ्क्ते। अनीप्सितम्—ग्राम गच्छन् व्याघ्र पश्यति। कण्टकान् मृद्नाति। अनुभयम् ग्राम गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति। कर्त्रेति किम्? माषेष्वश्व बध्नाति। अश्वेन कर्मणा भक्षणक्रियया माषाणामाप्याना कर्मसज्ञा मा भूत्। अथ सर्वाणि कारकाणि कर्त्राऽप्यन्त इति कर्मसंज्ञा प्राप्नोति? नैष दोषः। सर्वेषु कारकेष्वाप्येषु आप्यग्रहणसामर्थ्यादाप्यतमे सप्रत्ययः। तेन करणादिषु न भवति। पयसा ओदन भुङ्क्ते। इह कथ कर्मत्व गेह प्रविशतीति? आधारस्याविवक्षया।

अकथितञ्च॥१।२।१२१॥ अकथितमसङ्कीर्तितम्। अपादानादिभिर्विशेषकारकादिभिरकथित च यत् कारक तत् कर्मसज्ञ भवति। अकथितमप्रधानमिति गृह्यमाणे इह देवदत्ताद् गा याचत इत्यप्रधानतयाऽपादानसज्ञा कर्मसज्ञया बाध्येत।

"दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना॥"

दुहि—गां दोग्धि पयः। गोः कारकमपादानत्वेनासङ्कीर्तितमपायस्याविवक्षितत्वात्। गोरप्याप्यत्वेन सिद्ध कर्मत्वमिति चेत् परिगणनार्थमिदं वक्तव्यम्। इह मा भूत्। नटस्य शृणोति श्लोकम्। याचि—माणवक [illegible] याचते। याचनमात्रेणापायस्याविवक्षितत्वात्। रुधि—गामवरुणद्धि व्रजम्। सतोऽप्याधारस्याविवक्षा। [illegible] यथा। प्रच्छि—आचार्य धर्म पृच्छति। प्रश्नमात्रेणापायस्याविवक्षा। भिक्षि-देवदत्त गा भिक्षते। चिञ्—वृक्षमवचिनोति फलानि। उपयोगनिमित्त प्रयोगनिमित्तम्। अथवा उपयोगो दुग्धादि तन्निमित्त [illegible]। इहापि तर्हि स्यात्। पाणिना कांस्यपात्र्यां दोग्धि। पाण्यादिकमप्युपयोगनिमित्तमित्याह।

अपूर्वविधौ—यस्य पूर्वो विधिर्नोक्तः। इह तु पूर्वमेव करणसञ्ज्ञा अधिकरणसञ्ज्ञा च विहिता। ब्रुविशास्योर्गुणेन च क्रियया कर्मणा वा यत् सचते सम्बध्यते तदकीर्तितमित्युक्तमाचार्येण। ब्रुवि—माणवक धर्मं ब्रूते। शासि—माणवक धर्ममनुशास्ति। माणवकस्य सम्प्रदानत्वेनाविवक्षा। अकथितमिति किम्? देवदत्तात् गा याचते। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेनम् "कालभावाध्वगन्तव्याः[1] कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणामिति" लब्धम्। काले[2]—मासमास्ते। सवत्सर वसति। भावे[3]—गोदोह स्वपिति। अध्वा च स गन्तव्यश्चेति इच्छया विशेषणत्वम्। क्रोशमास्ते। क्रोश स्वपिति। देशोऽपि कर्मसज्ञ इति केचित्। कुरूनास्ते। कुरून् स्वपिति। अथ नीवहिहरतिकृषि[4]जयत्यादयो द्विकर्मका उपलभ्यन्ते। तेषा कथ द्विकर्मकत्व प्रधानाप्रधानकर्मणोः सामान्येनाऽप्यत्वात्। अजा नयति ग्रामम्। भार वहति ग्रामम्। भार[5] हरति ग्रामम्। शाखा कर्षति[6] ग्रामम्। देवदत्तो जिनदत्त शत जयति। देवदत्तो ग्राम शत दण्डयति। अय तु विशेषः—

"प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्। अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः॥"

नीयते अजा ग्रामम्। उह्यते भारो ग्रामम्। ह्रियते भारो ग्रामम्। कृष्यते शाखा ग्रामम्। जीयते जिनदत्तः शतम्। दण्ड्यते जिनदत्तः शतम्। अप्रधाने कर्मणि दुहादीनाम्। दुह्यते गौः पय.। याच्यते माणवको गाम्। अवरुध्यते गा व्रजः। पृच्छ्यते आचार्यो धर्मम्। भिक्ष्यते देवदत्तो गाम्। अवचीयते वृक्षः फलानि। उच्यते माणवको धर्मम्। शिष्यते[7] माणवको धर्मम्। ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण इति उत्तर सूत्रेणाऽण्यन्तावस्थाया यः कर्ता ण्यन्तावस्थाया कर्मतामापन्नः प्रयोज्यस्तस्याभिधाने लादीनाहुः। बोध्यते माणवकः शास्त्रम्। गम्यते माणवको ग्रामम्। भोज्यते माणवक ओदनम्। आस्यते माणवको मासम्। अध्याप्येते[8] माणवकौ जैनेन्द्रम्। ननु ण्यन्तेषु धुषु ण्यन्तवाच्यया क्रियया प्रेषणाऽध्येषणलक्षणया यदाप्यते तत् प्रधान कर्म। अवयवक्रियया यदाप्यते तदप्रधानम्। एव च सति प्रधानकर्मण्यभिधेये लादीनाहुरित्यनेनैव सिद्धत्वादनर्थकमिद ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण इति? नानर्थक समुच्चयार्थमेतत् प्रधाने कर्मणि लादयो भवन्त्यप्रधाने च। तेन बोध्यते माणवक धर्मः। भोज्यते माणवकमोदनः। अध्याप्यते माणवक जैनेन्द्रः। अकर्मणा गत्यर्थाना च प्रधान एव कर्मणि लादयः। आस्यते माणवको मासम्। आस्यते माणवको गोदोहम्। गम्यते माणवको ग्रामम्। प्राप्यते माणवको ग्रामम्।

ज्ञागम्यद्यर्थधेरणि कर्ता णौ॥१।२।१२२॥ ज्ञार्थाना गम्यर्थानामद्यर्थाना धीनाञ्च धूनामण्यन्ताना यः कर्ता स णौ सति कर्मसज्ञो भवति। ज्ञार्थानाम्—जानाति माणवको धर्मम्। ज्ञापयति माणवक धर्मम्। बुध्यते माणवको धर्मम्। बोधयति माणवक धर्मम्। पश्यति माणवको ग्रामम्। दर्शयति माणवक ग्रामम्। गम्यर्थानाम्—गच्छति माणवको ग्रामम्। गमयति माणवक ग्रामम्। याति माणवको ग्रामम्। यापयति माणवक ग्रामम्। अद्यर्थानाम्—भुङ्क्ते ओदन माणवक.। भोजयति माणवकमोदनम्। अश्नाति माणवक ओदनम्। आशयति माणवकमोदनम्। धीनाम्—आस्ते माणवकः। आसयति माणवकम्। शेते माणवकः। शाययति माणवकम्। अत्रापि पूर्ववण्णिजन्तवाच्यया क्रियया प्रेषणाध्येषणलक्षणया आप्यत्वात् कर्मसज्ञा सिद्धा। यद्यपि स्वातन्त्र्यमाप्यत्वञ्चास्ति तथापि कर्मैवेत्यवधारणात् कर्तृसज्ञा न भवतीति। एव सिद्धे नियमार्थमिद तेषामेवाणौ कर्ता ण्यन्ते कर्मसज्ञो भवति नान्येषाम्। पचत्योदन देवदत्त.। पाचयत्योदन देवदत्तेन। अणि कर्तेति किम्? गमयति देवदत्तो जिनदत्तम्। तमन्यः प्रयुङ्क्ते। गमयति देवदत्तेन जिनदत्तम्। नयत्यादय. प्रापणार्था न गत्यर्थास्तेनेह कर्मसज्ञा न भवति। अजा नयति देवदत्त.। नाययति देवदत्तेन। भार

1. गन्तव्यः क-मु०, ब० । २ काल: अ०, म० । ३. भाव. अ०, म० । ४. कृषा-मु० ।
५. जिनदत्तो ग्रामं भारं हरति अ०, ब०, म० । ६ कर्षति अ०, ब०, म० । ७. 'शिष्यते माणवको धर्मम्' इति ब० पुस्तके नास्ति । ८. अध्याप्यते माणवको जैनेन्द्रम् अ०, ब०, स० ।

वहति वाहीकः। वाहयति वाहीकेन। यदा गत्यर्थतासंभवस्तदा भवति कर्मसंज्ञा। वहन्ति बलीवर्दा यवान्। वाहयन्ति बलीवर्दान् यवान्। प्रवहत्युदकं देवदत्तः। प्रवाहयत्युदकं देवदत्तम्। "अद्यर्थेषु अदिखाद्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः [वा०] अत्ति देवदत्तः। आदयति देवदत्तेन। खादयति (खादति) देवदत्तः। खादयति देवदत्तेन। अथवा "सर्वमद्यर्थकार्गमदेर्न भवतीति वक्तव्यमधिकरणे तद्विधिं मुक्त्वा" [वा०] आदयते माणवकेन। "चल्यद्यर्थात्" [१।२।८४] ममपि न भवति। "भक्षिरहिंसार्थः कर्मसंज्ञो न भवतीति वक्तव्यम्" [वा०] भक्षयति पिण्डीं देवदत्त.। भक्षयति पिण्डीं देवदत्तेन। अहिंसार्थस्येति किम्? भक्षयति बलीवर्दो यवम्। भक्षयति बलीवर्द यवम्। अत्र हिंसाऽस्ति। वनस्पतिकायाना प्राणित्वात्। प्रकृतेन कर्मणा अकर्मका इह गृह्यन्ते तेन विग्रहणे कालादिकर्मणः कर्ता कर्मसंज्ञो भवति। आस्ते मास देवदत्तः। आसयति मास देवदत्तम्। आस्ते गोदोह देवदत्तः। आसयति गोदोह देवदत्तम्। आस्ते क्रोशं देवदत्तः। आसयति क्रोश देवदत्तम्।

शब्दे च ॥१।२।१२३॥ शब्दे कर्मभावेन क्रियाभावेन च यो धुर्वर्तते तस्याण्यन्तस्य कर्ता णौ कर्मसंज्ञो भवति। शब्दकर्मणः—शृणोति देवदत्तः शब्दम्। श्रावयति देवदत्तं शब्दम्। उपलभते देवदत्तः शब्दम्। उपलम्भयति देवदत्त शब्दम्। अधीते माणवकस्तर्कम्। अध्यापयति माणवक तर्कम्। शब्दक्रियस्य—जल्पति देवदत्तः। जल्पयति देवदत्तम्। विलपति देवदत्तः। विलापयति देवदत्तम्। चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेन ह्वयत्यादिषु न भवति। ह्वयति देवदत्तः। ह्वाययति देवदत्तेन। क्रन्दति देवदत्तः। क्रन्दयति देवदत्तेन।

हृक्रोर्न वा ॥१।२।१२४॥ हृ कृ इत्येतयोरण्यन्तयोर्यः कर्ता स ण्यन्तयोर्न वा कर्मसंज्ञो भवति। न वेति निर्देशात् प्राप्ते चाप्राप्ते च विकल्पः। प्राप्ते—अभ्यवहरति देवदत्तः। अभ्यवहारयति देवदत्त देवदत्तेनेति वा। विहरति देवदत्तः। विहारयति देवदत्त देवदत्तेनेति वा। विकुर्वते सैन्धवाः। विकारयन्ति सैन्धवान् सैन्धवैरिति वा। अत्रार्थगम्यर्थे विभजाया पूर्वेण प्राप्तिः। अप्राप्ते—हरति माणवको भारम्। हारयति माणवक माणवकेन वा। करोति कट देवदत्तः। कारयति कट देवदत्त देवदत्तेन वा। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थोऽनुवर्तते। तेन अभिवदिदृश्योर्दविषये विकल्पः। अभिवदति गुरु देवदत्तः। अभिवादयते गुरु देवदत्त देवदत्तेन वा। पश्यन्ति भृत्या राजानम्। दर्शयते भृत्यान् भृत्यैरिति वा। "णिचः" [१।२।७२] इति दविधि.।

स्वतन्त्रः कर्ता ॥१।२।१२५॥ स्वतन्त्र आत्मप्रधानः। क्रियासिद्धौ स्वतन्त्रो योऽर्थस्तत् कारकं कर्तृसंज्ञ भवति। देवदत्तः पचति। देवदत्तेन कृतम्। प्रेषितः करोतीत्यत्रापि स्वातन्त्र्य गम्यते। अनिच्छापामकरणात्। इह स्थाली पचतीति स्वातन्त्र्य विवक्षितम्।

तद्योजको हेतुः ॥१।२।१२६॥ योजकः प्रेरकः, तस्य स्वतन्त्रस्य योजको योऽर्थस्तत् कारकं हेतुसंज्ञ भवति। पुल्लिङ्गकर्तृसंज्ञासमावेशात् कर्तृसंज्ञ च। कारयति। भोजयति। हेतुत्वात् "हेतुमति" [२।१।२४] इति णिच्। कर्तृत्वाल्लकारवाच्यता। गौणस्यापि योजकस्य हेतुत्वम्। भिक्षा वासयति। कारीषोऽग्निरध्यापयति। तद्योजक इति वचन ज्ञापक "तृजकाभ्यां" [१।३।७८] "कर्तरि" [१।३।७९] इत्यस्य तत्प्रतिषेधस्यानित्यत्वम्।

निः ॥१।२।१२७॥ अधिकारोऽयम्। "प्राग्धोस्ते" [१।२।१४९] इत्यत प्राक्। यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो निसंज्ञास्ते वेदितव्या। वक्ष्यति चादिरसत्त्वे। च वा ह अह एव। निरिति पुल्लिङ्गनिर्देशः किमर्थः? [illegible] यथा स्यात्। निप्रदेशाः "निरेकाजनाट्" [१।१।२८] इत्येवमादयः।

चादिरसत्त्वे ॥१।२।१२८॥ सीदत अस्मि लिङ्गसख्ले इति सत्त्वम्। लिङ्गसंख्यावद् द्रव्यमित्यर्थः। [illegible] न चेद् द्रव्ये वर्तन्ते। च वा ह अह एव एवम् नूनम् शश्वत् सूपत् कूपन् कुवित्

नेत् चेत् चण् कच्चित् यत्र नह हन्त माकिम् नकिम् माङ्। ङकारो "माङि लुङि" [ ] इति विशेषणार्थः। अङिति माशब्दे माऽभवत् मा भविष्यति। न नञ्। ञकारो "नञ्" [१।३।६८] इति विशेषणार्थः। नहि वाच त्वाक ननु च त्वे[1] तु[2] द्वे न्वै नु वै रुवै रे[3]वै श्रौषट् वौषट् वषट् स्वाहा स्वधा श्रोम् तथाहि खलु किल अथ अवस् स असि अ इ उ ऊ ऋ लृ ए ऐ ओ औ उञ् मुञ् आदह आतङ वेलायां मात्रायाम् यावत् यथा किम् यत् तत् यदि पुरा धिक् हें[4] हौ[5] पाट् प्याट् उताहो आहो अथो[6] अभो मानो ननु नाना मन्ये असि ब्रूहि हिनु तु इति इव वत चन[7] धावत एवं आ आं शं हिकम् हिरुक् शुभम् सुकम् शुकम् तुकम् नहि कम् ऋतम् सत्यम् अद्धा नो हि मुधा न चेत् जातु कथम् ऋते कुत्र अपि (अपि) आदह आवहन् भोस् श्वित्[8] वाह्य संवत् दिष्ट्या पशु युगपत् फट सह अनुष्वक् ताजक् नाजक अङ्ग पुत्र अये अरे गो वट् वेट[9] वाट् उं श्वकित् मर्या ईप[10] कीम् सीम् गिविभक्तीस्वरप्रतिरूपकाश्च। गिप्रतिरूपका अवदत्तमित्यादौ। दुर्नीतं दुर्नय इति णत्वं न भवति। असत्त्व इति किम्? अस्यापत्यमिरिति।

प्रादिः ॥१।२।१२९॥ प्रादयो निसंज्ञा भवन्त्यसत्त्वे। प्रपराऽपसमन्विदुर्व्याङ्न्यधयोऽप्यतिसूदभयश्च। प्रतिना सह लक्षयितव्याः पर्युपयोरपि लक्षणमत्र। असत्त्व इत्येव। विप्रातीति विप्रः। परजयति सेना। पृथक्करणमुत्तरार्थम्। प्रादीनामेव गिसंज्ञा यथा स्याच्चादीनां मा भूत्। उत्तरत्र प्रादिग्रहणे क्रियमाणे अक्रियायोगे निसंज्ञा न स्यात्। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्।

क्रियायोगे गि ॥१।२।१३०॥ क्रियायोगे प्रादयो गिसंज्ञा भवन्ति। प्रणमति। परिणायकः। "गेरसेऽपि विकृते" [५।४।६८] इति णत्वं सिद्धम्। क्रियायोग इति किम्? प्रगता नायका अस्माद्देशात् प्रनायको देशः। नन्वत्रापि क्रियाऽस्ति। योगग्रहणसामर्थ्यात् यत्क्रियायुक्तास्तं प्रति गितिसंज्ञा भवति। गमिक्रियया चात्र योगः। "मरुच्छब्दस्योपसंख्यानम्"। मरुत्तः। "गेस्तोऽचः" [५।२।१४६] इति अनजन्तत्वेऽप्युपसंख्यानसामर्थ्यात्तादेशः। "प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः" [४।१।२८] इति निर्देशादड्विषये श्रतो गित्वम्। "तिरोऽन्तर्द्धौ" [१।२।१४] इति निर्देशादन्तःशब्दस्यापि क्यादिविषये।

ति ॥१।२।१३१॥ तिसंज्ञाश्च प्रादयो भवन्ति क्रियायोगे। प्रकृत्य। प्रस्तुत्य। तिसंज्ञाया "तिकुप्रादयः" [१।३।८१] इति पसः। "प्यस्तिवाक्से त्त्वः" [५।१।३१] इति प्यादेशः। पुल्लिङ्गा गिसंज्ञा समाविशति। अभिषिच्य। प्रणम्य। पत्वणत्वे सिद्धे। योगविभागः किमर्थः? उत्तरत्र तिसंज्ञैव यथा स्यात् गिसंज्ञा मा भूत्। इह ऊरीस्यादिति। "गिप्रादुर्भ्यां यच्यस्तेः" [५।४।६८] इति पत्वं स्यात्।

च्विडाजूर्यादिः ॥१।२।१३२॥ च्व्यन्तो डाजन्त ऊरीप्रभृतयश्च शब्दाः क्रियायोगे तिसंज्ञा भवन्ति। अशुक्लं शुक्लं कृत्वा शुक्लीकृत्य। डाच्—अपटत् पटत् कृत्वा पटपटाकृत्य। कृभ्वस्तियोगे च्विडाचौ विहितौ। तत्साहचर्यादूर्यादीनामपि कृभ्वस्तिभिरेव योगे तिसंज्ञा भवति। ऊर्यादिषु च्व्यर्थो न सम्भवति। ऊरीकृत्य। उररीकृत्य। ऊरीभूय। उररीभूय। ऊरीउररीशब्दावङ्गीकरणे विस्तारे च। पापीशब्दो विनाश माधुर्ये मारणे विलापे च। तालीआतालीशब्दौ वर्णे। वेताली वैरूप्ये। धूसीशब्दः कान्तौ वाञ्छायां च। मसमसाप्रभृतयो ध्वसक्लाभ्रसक्ला एते हिंसायाम्। गुलुगुधाशब्दौ पीडायाम्। सजूः सहार्थे। फलू फली विक्ली अक्ली [illegible] विकारे। आलम्बी आलोष्टी केवाशी केवाली वर्णाली मन्ममा मसमसा एते हिंसायाम्। श्रौषट् वौषट् स्वाहा

---

१. त्वै ब० । २. तुवे स० । तुवै ब०, म० । ३. रै अ०, ब० । ४. हे अ० । ५. है म० । ६. अबो अ०, ब०, म० । ७. चन । ध । वत अ० । वन । ध । वन म० । वत । धवत । म० । ८. भो श्वित् अ० । ९. वाट अ० । १०. इप् अ० ।

स्वधा एते दानार्थाः। चादिषु च पाठादक्रियायोगेऽपि निसञ्ज्ञा। प्रादुस् श्रत् आविस्। प्रादुःकृत्य। प्रादुर्भूय। श्रद्धाय। आविर्भूय। आविःशब्दः साक्षादादौ च पठ्यते। तस्य "वा कृञि" [१।२।१४१] इति करोतियोगे तिसञ्ज्ञाविकल्पः। आविष्कृत्य। आविष्कृत्वा।

अनितावनुकरणम् ॥१।२।१३३॥ अव्यक्तो व्यक्तो वा शब्दोऽनुक्रियतेऽनेनेत्यनुकरणम्। अनितिपरमनुकरणं क्रियायोगे तिसञ्ज्ञं भवति। [१]खाट्कृत्य। पटत्कृत्य। अनिताविति किम्? खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत्। खाट्छब्दस्य धोः प्राक् प्रयोगः सविधिश्च प्रसज्येत। "ध्वादेः षः सः" [४।३।४३] इत्यत्र सुबधुष्ठीवतिष्वष्कतिष्टप्रायतीनां प्रतिषेध उक्तः।

सदादरानादरयोः ॥१।२।१३४॥ आदरः सम्भ्रमः। अवज्ञानमौदासीन्य वाऽनादरः। सच्छब्द आदरानादर इत्येतयोरर्थयोस्तिसञ्ज्ञो भवति। आदरे-सत्कृत्य। अनादरे-असत्कृत्य। अनादर इत्यर्थनिर्देशात् सच्छब्दस्य तदन्तविधिरिष्टः। तेनेहापि भवति। परमसत्कृत्य। तिसञ्ज्ञायां निसञ्ज्ञासमावेशः। निसंज्ञस्यासत्त्वत्वाभिन्नमञ्ज्ञा। आदरानादरयोरिति किम्? सत्कृत्वा काण्ड गतः। विद्यमान कृत्वेत्यर्थः।

भूषाऽपरिग्रहेऽलमन्त ॥१।२।१३५॥ अलमन्तरित्येतौ शब्दौ भूषायामपरिग्रहे चार्थे यथासंख्यं तिसञ्ज्ञौ भवत। अलङ्कृत्य। भूषयित्वेत्यर्थ। अन्तर्हत्य। मध्ये हत्वेत्यर्थः। भूषाऽपरिग्रह इति किम्? अल कृत्वा। अन्तर्हत्वा मूषिका गताः। पर्याप्तं कृत्वेत्यर्थः। परिगृह्येत्यर्थः। "तिरोऽन्तर्द्धौ" [१।२।१४०] इति ज्ञापकादन्तःशब्दस्य गिसञ्ज्ञाऽपि। अङ्विधिणत्वेषु प्रयोगदर्शनात्। अन्तर्द्धा। अन्तर्द्धिः। [२]अन्तर्णयः।

कणेमनः श्रद्धाघाते ॥१।२।१३६॥ श्रद्धाघातोऽभिलाषनिवृत्तिः। कणेमनःशब्दौ श्रद्धाघातेऽर्थे तिसञ्ज्ञौ भवत.। कणेशब्द ईदन्तप्रतिरूपको निसञ्ज्ञोऽभिलाषातिशये वर्तते। मनःशब्दोऽपि तत्साहचर्यादिह तादृशः। कणेहत्य भुङ्क्ते। मनोहत्य भुङ्क्ते। श्रद्धाघात इति किम्? तन्दुलावयवे कणे हत्वा गतः। मनो हत्वा गतः। चेतो हत्वेत्यर्थ.।

पुरोऽस्तं भिः ॥१।२।१३७॥ पुरस् अस्तमित्येतौ भिसञ्ज्ञौ क्रियायोगे तिसंज्ञौ भवतः। पुरःशब्दः "पूर्वाधरावराणां पुरधवोऽसि" [४।१।१०३] इत्यत्र साधितः। अस्तंशब्दोऽनुपलब्धौ वर्तते। पुरस्कृत्य गतः। अस्तङ्गत्य पुनरुदेति। "नमःपुरसास्त्योः" [५।४।२१] इति सत्वम्। भिरिति किम्? पूः पुरौ पुरः कृत्वा गतः। अस्त कृत्वा काण्ड गतः।

गत्यर्थवदेऽच्छ ॥१।२।१३८॥ भिरिति वर्तते। अच्छशब्दो भिसंज्ञ गत्यर्थे वदतौ च तिसंज्ञो भवति। अच्छगत्य। अच्छगम्य। "ल्ये" [४।४।३८] "वा म." [४।४।३९] इति वा मस्य खम्। अच्छोद्य। अच्छशब्दो दृढार्थे आभिमुख्ये च वर्तते। भिरित्येव। उदकमच्छं गत्वा।

अनुपदेशेऽद ॥१।२।१३९॥ अवचनात्मिका प्रतिपत्तिरनुपदेशः। अदःशब्दोऽनुपदेशे तिसंज्ञो भवति। अदःकृत्य। अनुपदेश इति किम्? अदः कृत्वा गतः। एतत् कृत्वा गत इति परस्य कथयति।

तिरोऽन्तर्द्धौ ॥१।२।१४०॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धाने तिसञ्ज्ञो भवति। तिरोभूय। अन्तर्द्धाविति किम्? तिरो भूत्वा स्थित। तिर्यग्भूत्वा स्थित इत्यर्थ.।

वा कृञि ॥१।२।१४१॥ तिरःशब्दोऽन्तर्द्धौ कृञि वा तिसञ्ज्ञो भवति। प्राप्ते विकल्पः। तिरस्कृत्य। तिरः कृत्य। "तिरसो वा" [५।४।३०] इति सत्वम्। अन्तर्द्धावित्येव। तिरः कृत्वा काष्ठ गतः।

उपाजेऽन्वाजे ॥१।२।१४२॥ उपाजे अन्वाजे ईदन्तप्रतिरूपकावेतौ कृञि वा तिसञ्ज्ञौ भवतः। उपाजेकृत्य। उपाजे कृत्वा। अन्वाजेकृत्य। अन्वाजे कृत्वा। दुर्बलस्य भग्नस्य वा बलाधानं कृत्वेत्यर्थः।

---

१. खाट्कृत्य ब०, द०, स०। २. खाडिति अ०, द०, स०। ३. अन्तर्णीयः अ०।

साक्षादादिः ॥१।२।१४३॥ वेति वर्तते। साक्षात्प्रभृतीनि शब्दरूपाणि कृञि वा तिसंज्ञानि भवन्ति। "च्विडाजूर्यादिः" [१।२।१३२] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या च्विग्रहणमर्थपरमनुवर्तते। तेन च्व्यर्थे तिसंज्ञाविकल्पोऽयम्। साक्षात्कृत्य। साक्षात्कृत्वा। मिथ्याकृत्य। मिथ्याकृत्वा। यदा च्विरुत्पद्यते तदा "च्विडाजूर्यादिः" इत्यनेन नित्यं तिसंज्ञा भवति। साक्षात्। मिथ्या। चिन्ता। भद्रा। रोचना। लोचना। अमा। आस्था। श्रद्धा। आस्रा। प्राजर्या। प्राजरुहा। बीजर्या। बीजरुहा। ससर्या। अर्थे। लवणम्। उष्णम्। शीतम्। उदकम्। आर्द्रम्। तिसन्नियोगे लवणादीनां मकारान्तत्वं निपात्यते। अग्नौ। वशे। विकमने। विकम्पने। विहसने। अग्नौप्रभृतय ईबन्तप्रतिरूपका निपातनं वा। वेति व्यवस्थितविभाषानुवर्तनाल्लवणादीनां च्व्यन्तानां मकारौकारनिपातनं न भवति। लवणीकृत्य। वशीकृत्य। नमस्। प्रादुराविःशब्दौ ऊर्यादिष्वपि पठ्येते। तयोः कृञि विकल्पार्थं इह पाठः।

मनस्युरस्यनत्याधाने ॥१।२।१४४॥ मनसिउरसिशब्दौ ईबन्तप्रतिरूपकौ निपातनं च। अत्याधानमुपश्लेषः। मनसि उरसि इत्येतौ अनत्याधानेऽर्थे कृञि वा तिसंज्ञौ भवतः। उरसिकृत्य। उरसि कृत्वा। मनसिकृत्य। मनसि कृत्वा। निश्चित्येत्यर्थः। अनत्याधान इति किम्? उरसि कृत्वा पाणिं शेते।

मध्ये पदे निवचने ॥१।२।१४५॥ अनत्याधान इति वर्तते। मध्ये पदे निवचने इत्येते शब्दाः कृञि वा तिसंज्ञा भवन्ति अनत्याधाने। एकारान्तता पूर्ववद्वेदितव्या। मध्येकृत्य। मध्ये कृत्वा। पदेकृत्य। पदे कृत्वा। निवचने इति वचनाभावे वर्तते। निवचनेकृत्य। निवचने कृत्वा। अनत्याधान इत्येव। हस्तिनः पदे कृत्वा हस्तमास्ते।

हस्ते पाणौ स्वीकृतौ तिः ॥१।२।१४६॥ हस्ते पाणौ इत्येतौ स्वीकृतावर्थे कृञि तिसंज्ञौ भवतः। हस्तेकृत्य। पाणौकृत्य। भार्यां कृत्वेत्यर्थः। स्वीकृताविति किम्? हस्ते कृत्वा कार्षापणं गतः। नात्र दारस्वीकारः। पुनस्तिग्रहणं नित्यार्थम्।

प्राध्वं बन्धे ॥१।२।१४७॥ प्राध्वमिति मकारान्तो भिन्नसंज्ञः शब्द आनुलोम्ये वर्तते। प्राध्वंशब्दः कृञि तिसंज्ञो भवति बन्धो निमित्तं चेत्। प्राध्वंकृत्य। बन्धनिमित्तमानुलोम्यमिह प्राध्वंकरणम्। बन्ध इति किम्? प्रगतमध्वानं प्राध्वं कृत्वा शकटं गतः। "तिकुप्रादयः" [१।३।८१] इति षसः। "गोरतन" [४।२।८७] इति सान्तोऽकारः। प्रतिपदोक्तपरिभाषानाश्रयणे प्रत्युदाहरणमिदम्।

जीविकोपनिषदावौपम्ये ॥१।२।१४८॥ उपनिषद्रहस्यम्। जीविका उपनिषदित्येतौ शब्दावौपम्येऽर्थे कृञि तिसंज्ञौ भवतः। जीविकाकृत्य। उपनिषत्कृत्य। जीविकामिव उपनिषदमिव कृत्वेत्यर्थः। औपम्य इति किम्? जीविका कृत्वा गतः।

प्राग्धोस्ते ॥१।२।१४९॥ प्रयोगनियमोऽयम्। ते गितिसंज्ञा धोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः। तथा चोदाहृतम्। ते इति वचनं किमर्थम्। अनन्तराणां तीनां गीनां च ग्रहणार्थम्।

लो मम् ॥१।२।१५०॥ नवानां लकाराणामनुबन्धापाये ल इति सामान्येन निर्देशः। लादेशो मसंज्ञो भवति। मिप् वस् मस् सिप् थस् थ तिप् तस् झि शतृ। तथा निर्देशः पुल्लिङ्गता दसंज्ञया बाधा मा स्यात्। समावेशे हि आक्रमत आदित्य। मसंज्ञत्वं इत्यत्र "क्रमो मे" [५।२।७४] दीर्घ "गमेरिण्मि" [२।१।१०६] इति इट् प्रसज्येत। शतरि मसंज्ञा मावकाशेति मिट् तु तदरमागमाभिमतादिभि ... नाशङ्कनीयम्। "सार्वेम्मे" [५।१।७७] इति वचनं ज्ञापकं मिटो मसंज्ञाऽपि भवतीति।

इडानं दः ॥१।२।१५१॥ इडिति प्रत्याहार इडित्यतः प्रभृति आ ङकार ... । इड् च आनश्च दसंज्ञौ भवतः। इड् इट् महि वहि आथाम् ... आतान् झट्। आन ... ।

मिङस्त्रिशोऽस्मद्युष्मदन्याः ॥१।२।१५२॥ मिङो ... च त्रीणि त्रीणि वचनानि अस्मद्युष्मदन्य इति एकसंज्ञानि भवन्ति। मिप् वस् मस् अस्मद्। सिप् थस् थ युष्मद्। तिप् तस् झि अन्यः।

दानामपि। इट् वहि महि इत्यस्मद्। थास् आथा ध्वमिति युष्मद्। त आतां झदित्यन्यः। मिङ इति किम्? अनुत्तरस्य दस्य मस्य च ग्रहणार्थम्। त्रिश इति "संख्यैकाद्वीप्सायाम् [४।२।४८] इति शस्।

साधने स्वार्थे ॥१।२।१५३॥ अस्मदादयोऽन्वर्थसंज्ञा अनुवर्तन्ते। लस्येत्यधिकृत्याविशेषेण मिङादयो विहितास्तन्नियमोऽयम्। स्वस्यार्थः स्वोऽर्थो वा स्वार्थस्तस्मिन् स्वार्थे साधनेऽस्मदादयो वेदितव्याः। अस्मत्पदस्यार्थे साधनेऽस्मत्त्रिकं युष्मत्पदस्यार्थे साधने युष्मत्त्रिकमाभ्यामन्यस्यार्थे साधनेऽन्यत्त्रिकं भवति। अस्मदाद्यर्थाना साधनत्वे सति नियमोऽयम्। ततोऽस्मदादिपदानामनुप्रयोगे सत्यसति चास्मदादयो भवन्ति। अह पचामि। आवा पचावः। वय पचामः। पचामि। पचावः। पचामः। त्व पचसि। युवा पचथः। यूय पचथ। पचसि। पचथः। पचथ। स पचति। तौ पचतः। ते पचन्ति। पचति। पचतः। पचन्ति। एव दविधावपि योज्यम्। भावेऽस्मद्युष्मदर्थयोरभावात् भावस्य चाभ्यामन्यत्वादेकत्वाच्च तस्मिन् साधनेऽन्य एव भवति। आस्यते भवता। ग्लायते भवता। यत्रास्मदाद्यर्था युगपत् साधन तत्र क इष्यते? पूर्वनिर्णयमेव यः पूर्वः। अत्र किमस्मदर्थ एव साधनेऽस्मद् भवतीत्यवध्रियते आहोस्विदस्मदर्थे साधनेऽस्मदेव भवतीति। उभयथाऽप्यदोषः सर्वेषा नियतत्वात्। ननु द्वितीये पक्षे त्वया (मया) कुर्वाणेनेत्यत्र दोषः। नैवम्। त्रिकापेक्षया नियमो न साधनापेक्षया।

प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च ॥१।२।१५४॥ मन्य इति मन्यतेरेकदेशः। ब्रूते इति वाक्। मन्यो वाक् यस्य प्रहासस्य तस्मिन् मन्यवाचि प्रहासे गम्यमाने युष्मद्भवति मन्यतेश्चास्मद्भवति एकवच्च। नास्मयुष्मदोर्व्यत्ययार्थोऽयमारम्भः। एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता। एहि मन्यसे रथेन यास्यामीति प्राप्तम्। एवमेहि मन्ये ओदन भोक्ष्यसे न हि भोक्ष्यसे भुक्तः सोऽतिथिभिः। द्वित्वबहुत्वविवक्षायामपि मन्यतेरेकवद्भावो भवति। एव मन्ये रथेन यास्यथ न यास्यथेति। प्रहास इति किम्? एहि मन्यसे ओदन भोक्ष्य इति सुष्ठु मन्यसे साधु मन्यसे।

एकद्विबह्वश्चैकशः ॥१।२।१५५॥ यान्यस्मद्युष्मदन्यसञ्ज्ञाना सञ्ज्ञित्वेनोपात्तानि षट् त्रिकाणि तान्येकश एक द्वि बहु इत्येवमसंज्ञानि भवन्ति। मिब्नित्येकः। वसिति द्विः। मसिति बहुः। एव शेषेषु योज्यम्। अस्मदादिलिङ्गा पुल्लिङ्गा एकादिभिः सह समाविशन्ति।

सुपश्च ॥१।२।१५६॥ त्रिश इति वर्तते। सुपश्च त्रिकाणि एकद्विबहुसंज्ञानि भवन्त्येकशः। सु इत्येकः औ इति द्विः। जसिति बहुः। एव शेषेषु त्रिकेषु नेयम्। उभयत्र चशब्द "साधने स्वार्थे" [१।२।१५२] इत्यस्यानुकर्षणार्थः। एकार्थे साधने एको मिब्भवति। द्व्यर्थे द्विर्वस्। बह्वर्थे बहुर्मस्। एवं मिङ्क्षु सुप्सु च योज्यम्। ननु च "साधने स्वार्थे" इत्येतन्मिङ उपपद्यते यतः साधनं कारक क्रियाया निर्वर्तक क्रिया च धात्वर्थः। धोश्च मिङो विहिता इति साधनवाचित्वोपपत्तेः। सुपस्त्वक्रियावाचिनो ङ्याप्मृदो विधीयन्त इति तत्र साधने स्वार्थे इत्येतन्न घटते। नैष दोषः। अक्रियावाचिनोऽपि विधीयमानाः सुपः क्रियावाचिपदान्तरमाकाङ्क्षन्ति। पदान्तरवाच्याया क्रियायाः साधनभावोपपत्तेः सुप्स्वपि "साधने स्वार्थे" इत्ययं व्यवहारो युज्यते। देवदत्त पचति देवदत्तौ पचत। देवदत्ता पचन्ति। यत्रापि क्रियापद न प्रयुज्यते वृक्षः प्लक्ष इति तत्राप्यस्ति भवतीति पर. सन्निहितस्तदपेक्षया व्यवहारः। मिङः सामान्येन धुमात्राद्विधीयन्ते सुपश्च मृन्मात्रात्ते पा सकरेण प्राप्तौ नियमोऽयम्। सोऽनियमोऽर्थनियमो वा। एकार्थ एव साधन एको भवति द्व्यर्थ एव साधने द्विर्भवति बह्वर्थ एव साधने बहुर्भवतीति सोऽनियमः। एकार्थे साधने एक एव भवति द्व्यर्थे द्विरेव भवति बह्वर्थे बहुरेव भवतीत्यर्थनियमः। सोऽनियमपक्षे "सुपो के" [१।४।१५०] इति वचन ज्ञापकमेकत्वादीनामभावेऽप्युत्पद्यन्ते भेः सुप इति। अर्थनियमपक्षे एकत्वादयो नियतात्त्यान्न व्यभिचरन्ति त्याः पुनरनियता एकत्वादीनामभावे व्यतिरेकेण नियतेभ्यो भवन्ति। तत्र "सुपो के:" [१।४।१५०] इत्युपि कृते सुबन्त पद भवति।

यावद्यथावधृत्यसादृश्ये ॥१।३।६॥ प्रसक्तस्य परिमाणमवधृतिः । सादृश्यं तुल्यता । यावत् यथा इत्येतौ शब्दाववधृति असादृश्य इत्येतयोरर्थयोः सुपा सह यथासंख्य हसो भवति । यावदमत्र यावदवकाशमति-थीन् भोजय । यावन्त्यमत्राणि तावतो भोजयेत्यवधार्यते । यथावृद्ध साधूनर्चय । यथापटु । यथाख्यानकम् । वृद्धानतिक्रमेणेत्यर्थः । उत्तरपदार्थानतिवृत्तिर्यथाशब्दस्यार्थो वीप्सा सादृश्यञ्च । अवधृत्यसादृश इति किम् ? यावद् दत्त तावद्भुक्तम् । यथा देवदत्तस्तथेन्द्रदत्तः । पूर्वेणैव यथार्थे हसे सिद्धे सादृश्ये प्रतिषेधार्थमिह यथाशब्दो पादानम् । गुणक्रियाछायासादृश्ये हसो वक्तव्यः [वा०] गुणः—यथाशक्ति । यथाबलम् । क्रिया—यथोपदेशम् । छाया—यथासुखम् । न वक्तव्यम् । अत्राप्युत्तरपदार्थानतिवृत्तिर्गम्यते ।

स्तोके प्रतिना ॥१।३।७॥ भीति निवृत्तम् । स्तोक मात्रा । स्तोकेऽर्थे प्रतिना सह सुबन्त हसो भवति । सूपस्य मात्रा सूपप्रति । शाकप्रति । स्तोक इति किम् ? वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् । लक्षणेऽत्र प्रतिशब्दो वर्तते ।

परिणाऽक्षशलाकासंख्याः ॥ १।३।८ ॥ अक्षशब्दः शलाकाशब्दः सख्या च परिणा सह हसो भवति । परिणाक्षशलाकासख्यमिति सिद्धे बहुवचननिर्देशादिष्टसंग्रहो लब्धो वेति सिंहावलोकनाद्वा । अक्षादयो यदा भान्ता एकत्वञ्चाक्षशलाकयोः पूर्वोक्तस्यान्यथावृत्तौ परिशब्दो यदा वर्तते कितवव्यवहारविषये तदा वृत्तिरि-ष्यते । तथाहि पञ्चिका नाम द्यूत यत्र पञ्चाक्षाः शलाका वा पात्यन्ते पञ्चस्वेकरूपासु पातयिता जयत्यन्यथा पाते जीयते । अक्षेणेद न तथा वृत्त यथा पूर्वं जये । अक्षपरि । शलाकापरि । सख्या—एकपरि । द्विपरि । त्रिपरि । चतुःपरि । परिणेति किम् ? सुबन्तमात्रे मा भूत् । अक्षादय इति किम् ? पाशकेनेद न तथा वृत्तम् । एकत्वेऽक्षशलाकयोरिति किम् ? अक्षाभ्या न तथा वृत्तम् । कितवव्यवहार इति किम् ? अक्षेणेद न तथा वृत्त शकटे ।

वा ॥१।३।९॥ वेत्ययमधिकारः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तद्वा भवतीति वेदितव्यः । इत उत्तर. ग्रहि-धिर्वा भवति पक्षे वाक्यमपि साधु भवति । पूर्वस्तु सर्वविधिर्नित्यः । तेनास्वपदेन तत्र विग्रहो ज्ञेयः ।

पर्यपाङ्बहिरञ्चवः कया ॥१।३।१०॥ परि अप आङ् बहिस् अञ्चु इत्येते सुबन्ताः कान्तेन सह वा हसो भवति । परित्रिगर्तं वृष्टो देवः । वाक्यपक्ष परेर्वर्जने वा वचनमिति वा द्वित्वम् । परि परि त्रिगर्तेभ्यः । परि त्रिगर्तेभ्यः । अप त्रिगर्तेभ्यः । "वर्जनेऽपपरिभ्याम् [१।४।२१] । इति का । आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः । पाटलिपुत्रात् । आकुमार यशः समन्तभद्रस्य । आ कुमारेभ्य. । "काङ्मर्यादावचने" [१।४।२०] । इति मर्यादाभिविध्योः का । बहिर्ग्रामम् । बहिर्ग्रामात् । इदमेव ज्ञापक बहि.शब्दयोगे का भवति । अञ्चु । प्राग्ग्रामम् । प्राग्ग्रामात् । प्राची दिग् रमणीया इति विगृह्य "दिक्छब्देभ्यो वा केभ्योऽस्तादिग्देशयो काल" [४।१।६२] इति अस्तात् । तस्य "अञ्चेरप्" [४।१।६६] इत्युप् । "सुपो भेः" [१।४।१५०] इति सुप उप् । पदत्वात् कुत्वम् । तेन योगे ता प्राता ता वाधित्वा दिक्छब्दत्वात् का प्राता ता वाधित्वा "ताऽतसर्थ तेन" [१।४।२६] इति ताया प्राप्तायाम् "अञ्चुत्रु" [१।४।२८] इति का भवति । कयेति किम् ? परिगतः । अपगतः । वर्जनार्थाभावात् का नास्तीति "निकुप्रादय" [१।३।८१] इति नित्य हसो भवति ।

लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती ॥१।३।११॥ लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् । तद्वाचिना सुबन्तेन सह अभि प्रतिशब्दावाभिमुख्ये वर्तमानौ वा हसो भवति । अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति । प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । अग्निमभि पतन्ति । अग्निं प्रति पतन्तीति वाक्यम् । अत्राग्निना चिह्नेन शलभपातो लक्ष्यते । "भागेऽभानुप्र-लक्षणेऽभिना" [१।४।११] इप् । "भागे चानुप्रतिपरिणा" [१।४।१२] इति चेप् । लक्षणेनेति किम् ? स्रुघ्न प्रति गत । दिङ्मोहात्तेनैव पुनरागत इत्यर्थ । आभिमुख्य इति किम् ? अभ्यङ्का गाव । अभिनवा प्रतिनवोऽङ्को यासामिति । यद्यपि पूर्वपदार्थप्रधानो हसस्तथाप्यर्थविशेषाभावाद्व्यपदेशोऽपि स्यात् । अभिप्रती इति किम् ? येनाग्निस्तेन गत । येनेत्यग्निना सह हसो न भवति ।

यत्समयाऽनुः ॥१।३।१२॥ समयावाची अनुशब्द उपचारात् समया। यस्य समया यत्समया। मुख्येन समयाशब्देन योगाभावादिम्न भवति। अत एव "न ङित" [१।४।७२] इत्यादिनाऽपि न तासप्रतिषेध.। अनुर्यत्समयावाची तेन लक्षणभूतेन सह वा हसो भवति। अनुवन गतोऽशनिः। वनमनुगत इति वाक्यम्। "भाने चानुप्रतिपरिणा" [१।४।१२] इति लक्षणा इप्। वनेन समीपस्थमशनिगमन लक्ष्यते। "ङि विभक्त्यभ्यास-" [१।३।५] इत्येव सिद्धे विकल्पार्थ वचनम्। यत्समयेति किम् ? वृक्षमनु विद्योतते।

आयामिना ॥१।३।१३॥ अनुरिति वर्तते। लक्षणेनेति च। अनुनाऽऽयामिना लक्षणभूतेन सह वा हसो भवति। द्वयोः पक्षग्रहीनयोर्दीर्घयोर्योगेऽनुः प्रयुज्यमान उभयोर्दीर्घत्वमाह। तत्र प्रसिद्धेनाऽऽयामेन लक्षणेनातिशनेन दीर्घेण वा हसवृत्तिर्भवति। अनुगङ्ग वाराणसी। अनुशोन पाटलिपुत्रम्। वाक्यमपि साधु भवति। गङ्गामन्वायता वाराणसी। नद्यायामेन पत्तनायामो लक्ष्यते। लक्षणे इप्। अथवा "हेतावनुना" [१।४।१३]। 'भाऽर्थे" [१।४।१४] इतीप्। गङ्गया सहायतेत्यर्थः।

तिष्ठद्ग्वादीनि च ॥१।३।१४॥ तिष्ठद्गु इत्येवमादीनि च शब्दरूपाणि हसशानि भवन्ति। समुदाया एते हसगाः कार्यार्थं (कार्यार्थाः) पाठादेव निपात्यन्त इत्यर्थः। तिष्ठद्गु कालविशेषेऽन्यपदार्थे। तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहाय तिष्ठद्गु। "त्यगो"[५।१।१२७]इति लटः शत्रादेशो निपातनाद्वा। 'स्त्रीगोर्नीचः"[१।१।८] इति प्रादेशः। वहन्ति गावो यस्मिन् काले वहद्गु। आयतीगवम्। पूर्वपदस्य निपातनात् पुवद्भावाभावो ऽकारश्च सान्तो निपात्यते। खलेबुसम्। निपातनादीपोऽलुप्। लूनयवम्। लूयमानयवम्। लूयन्ते यवा यस्मिन् काले त्यगोरिति लटः शानादेशः। पूतयवम्। पूयमानयवम्। संहृतयवम्। संह्रियमाणयवम्। संहृतबुसम्। संह्रियमाणबुसम्। एते कालविशेषेऽन्यपदार्थे उक्ता.। समभूमिसमपदातिशब्दौ पूर्वपदार्थप्रधानौ समत्व भूमेः समत्व पदातेरिति। उत्तरपदार्थप्रधाने तु समा भूमिः समभूमिरिति षस एव। हसे पूर्वपदस्य केचिन्मकारान्तत्वमपीच्छन्ति। समम्भूमि। समम्पदाति। सुषमम्। विषमम्। निष्षमम्। दुष्षमम्। अवरसमम्। समशब्देन पूर्वपदार्थप्राधान्ये हसः अत्र शोभनत्व समस्येत्येवमादिवाक्यमभ्यूह्यम्[१]। उत्तरपदार्थप्राधान्ये तु षसः। समाशब्दः संवत्सरवाचि। तेन वक्ष्यमाणो हसः। आयतीसमा। आयतीसमम्। पापसमम्। पुण्यसमम्। केचित्तु समशब्देनैव भासमिच्छन्ति। आयत्या सममायतीसमम्। प्रगतमह्नः प्राह्नम् (प्राह्णम्)। उत्तरपदार्थप्राधान्ये षसः। प्राह्णे (हे) कल्याणनामानावुदितौ तिष्यपुनर्वसू। प्ररथम्। प्रमृगम्। प्रदक्षिणम्। अपदक्षिणम्। सम्प्रति। असम्प्रति। इच्–दण्डादण्डि। मुसलामुसलि। "ज इच्"[४।२।१२८] इति इच् सान्तः। "अन्यस्यापि" [४।३।२३२] इति पूर्वपदस्य दीत्वम्। चशब्दोऽवधारणार्थ.। तिष्ठद्ग्वादीन्येव नान्यैः सह वृत्ति लभन्ते। परम तिष्ठद्गु। "सन्महत्परमो०" [१।३।५६] इत्यादिना षसो न भवति।

पारे मध्ये तया वा ॥१।३।१५॥ पारे मध्ये शब्दौ तान्तेन सह हसो भवति वावचनात्तासोऽपि। प्रकृतेन पाक्षिकत्वेन वाक्यस्य साधुत्वमभ्यनुज्ञायते। हसंन्नियोगेन वानयोरेकारान्तता निपात्यते। पार गङ्गायाः। मध्य गङ्गायाः। पारेगङ्गम्। मध्येगङ्गम्। तासपक्षे गङ्गापारम्। गङ्गामध्यम्।

सङ्ख्या वंश्येन ॥१।३।१६॥ विद्याजन्मादिकृत. सन्तानो वंश.। तत्र भवो वंश्यः। सङ्ख्या वंश्यवाचिना सह हसो भवति। द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणस्य। अत्र सम्बन्धे ता। यदा व्याकरणसम्बन्धेन विवक्षा वर्तिता द्वौ मुनी तावेव व्याकरणमिति द्वौ मुनी वंश्यौ द्विमुनि व्याकरणमिति तदा-सामानाधिकरण्य भवति। एव सप्तकाशि। त्रिकोशलम्। एकाधयस्य वसस्य चापवादोऽयम्।

नदीभिश्च ॥१।३।१७॥ बहुवचननिर्देशादर्थस्येद ग्रहणम्। नदीवाचिभि. शब्दैः सह सङ्ख्या हसो भवति। पञ्च सिन्धवः समाहृताः पञ्चसिन्धु। सप्तगङ्गम्। द्वियमुनम्। तिस्रो गोदावर्यः समाहृताः त्रिगोदावरम्। "एकोदकपाण्डुपर्यायो भूमेर्नः सान्त दृश्यते। गोदावर्याश्च नद्याश्च सङ्ख्याया उत्तरे यदा॥" इति

१–वाक्यमभ्यूह्यम् स०, द०, स०।

अस्त्यः सान्तो भवति। नदीशब्दोऽपि नदीवचन इति तेनापि वृत्तिः। पञ्चनदम्। अत्राऽन्त्यः सान्तः। चकारः किमर्थः? समाहारे यथा स्यादिह मा भूत्। द्वीरावतीको देशः। एका नदी एकनदी।

खावन्यपदार्थे ॥१।३।१८॥ सङ्ख्येति निवृत्तम्। नदीभिरिति वर्तते। अन्यपदार्थे खुविषये नदीभिः सह सुबन्तं हसो भवति। उन्मत्तगङ्गं देशः। लोहितगङ्गम्। शनैर्गङ्गम्। तूष्णीगङ्गम्। अत्र वृत्तिरनेन सञ्ज्ञा गम्यत इति सामर्थ्यान्नित्यः सविधिः। उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् देशे इति सादृश्यमात्रेणार्थकथनं यथा गौरित्यस्यार्थे गच्छतीति। खाविति किम्? शीघ्रा गङ्गा यस्मिन् देशे स शीघ्रगङ्गो देशः। अन्यपदार्थे इति किम्? कृष्णावेण्णा। कृष्णावेण्णा नाम नदीविशेषलक्षणः।

षम् ॥१।३।१९॥ अधिकारोऽयं प्राग् बसात्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः षसञ्ज्ञः सो भवति इत्येवं वेदितव्यम्। वक्ष्यति "इसच्छ्रितातीतपतितगतात्यस्तैः" [१।३।२१]। धर्मं श्रितो धर्मश्रितः। षसञ्ज्ञानिर्देशः किमर्थः? इह वीरपुरुषको ग्राम इति पूर्वापरप्रथमादिसूत्रेण प्राप्तः स्वपदार्थविषयत्वादन्तरङ्गः षसो बहिरङ्गेन बसेन बाध्यो यथा स्यात्। उत्तरपदार्थप्रधानत्वं षसस्याभिधानवशात्।

इपा च प्राप्तापन्ने ॥१।३।२०॥ इबन्तेन सह प्राप्तापन्ने शब्दरूपे षसो भवति। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः। आपन्नो जीविकामापन्नजीविकः। "स्त्रीगोर्नीचः" [१।१।८] इति प्रादेशः। चकारः किमर्थः? अकारादेशसमुच्चयार्थः। प्राप्ता जीविका प्राप्ताजीविका। आपन्ना जीविकामापन्नाजीविका। प्रपन्नार्थमिदं सूत्रम्। अनेनाप्येतत् सिध्यति। यदा कर्मणि क्तस्तदा प्राप्ता जीविका येनेति विग्रहो यदा कर्तरि तदा प्राप्ता जीविकां य पुरुषमिति।

इसच्छ्रितातीतपतितगतात्यस्तैः ॥१।३।२१॥ तच्छब्देन प्राप्तापन्नयोर्ग्रहणम्। इबन्तं श्रित अतीत पतित गत अत्यस्त इत्येतैश्च सह षसो भवति। जीविकां प्राप्तो जीविकाप्राप्तः। सुखापन्नः। धर्मश्रितः। संसारमतीतः संसारातीतः। नरकं पतितो नरकपतितः। मोक्षं गतो मोक्षगतः। तुहिनमत्यस्तस्तुहिनात्यस्तः। इबिति पदं सूत्रे वानिर्दिष्टं "वोक्तं न्यक्" [१।३।९३] इति न्यक्सञ्ज्ञं तस्य वृत्तौ "पूर्वम्" [१।३।९७] इति पूर्वनिपातः। महान्तं धर्मं श्रित इति सापेक्षत्वाद्वृत्त्यभावः। यदा महांश्चासौ धर्मश्च महाधर्म इति तदा महाधर्मश्रित इति भवति।

स्वयं क्तेन ॥१।३।२२॥ स्वयमित्येतत् भिन्नसञ्ज्ञं क्तान्तेन सह षसो भवति। इत्यभिप्रायोऽस्माभिरादिमं योगमुत्क्षुत्य गच्छति। स्वयन्धौतौ पादौ। स्वयगुता। "कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्।" स्वयं विलीनमाज्यम्। ऐकपद्यं प्रयोजनम्। स्वयंधौतस्येदं स्वायंधौतम्।

खट्वाऽक्रमे ॥१।३।२३॥ आचार्यासनं खट्वा। उत्पथगमनमक्रमः। खट्वाशब्द इबन्तः क्तान्तेन सह षसो भवति अक्रमे। खट्वारूढो जाल्मः। खट्वाश्रितः। खट्वाप्लुतः। सर्व एते अविनीतपर्यायाः। गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वा आरोढव्या तदन्यथाकरणमक्रमोऽत्र प्रतीयते। अत्रापि वृत्तिपसञ्ज्ञा गम्यत इति नित्यः सविधिः। वाक्यं सादृश्यमात्रेण। अक्रम इति किम्? खट्वामारूढोऽध्यापकोऽध्यापयति।

सामि ॥१।३।२४॥ सामि इत्यर्द्धवाचि भिन्नसञ्ज्ञं तद् सुबन्तं क्तान्तेन षसो भवति। सामिकृतम्। सामिभुक्तम्। सट् घाताद्वृद्धुत्पत्तिः प्रयोजनम्। इबिन्दुपेक्षया गच्छति।

सुखम् । अत्यन्तरमणीयम् । सर्वरात्रकल्याणी । सर्वरात्रशोभना । "कालाध्वन्यविच्छेदे" [१।४।४] इतीप् ।

भा गुणोक्त्याऽर्थेनोनैः ॥१।३।२७॥ भान्त गुणोक्त्या अर्थशब्देन गुणवाचिभिश्च शब्दैः सह षसो भवति । शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः । "गुणवचनाद्रुप्" [वा० ४।१।२३]" इति मतोरुप् । एव गिरिणा काणः गिरिकाणः । मदेन पटुर्मदपटुः । कुसुमैः सुरभिः कुसुमसुरभिः । कार्यकारणभावलक्षणमत्र सामर्थ्यं शङ्कुलादिकृतत्वात् खण्डत्वादीनाम् । उक्तिग्रहणं किमर्थम् ? उच्यते इत्युक्तिः । गुणेनोक्तिर्गुणोक्तिः । गुणद्वारेण यो वर्तते शब्दो वर्तते तेन वृत्तिर्यथा स्यात् केवलेन गुणेन मा भूत् । मदेन पाटवम् । वृत्तेन पाटवम् । अर्थेन-धान्येनार्थो धान्यार्थः । पुण्येनार्थः पुण्यार्थः । अर्थशब्दोऽत्र प्रयोजनवाची । ऊनैः—माषेणोनो माषोनः । माषविकलम् । एतैरिति किम् ? गोभिर्वपावान् । अस्त्यत्र कार्यकारणभावः । गोभिः कृतत्वाद्वपावत्त्वस्य । इह कस्मान्न भवति ? अक्ष्णा काणः । असामर्थ्यात् । नात्र काणत्वमक्षिकृतमन्येन केनापि काणः कृतः । केवलमक्ष्णा काणत्वयुक्तो लक्ष्यते । इह कस्मान्न भवति । दध्ना पटुः । घृतेन पटुः । अनभिधानात् ।

पूर्वावरसदृशकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णसमैः ॥१।३।२८॥ पूर्व अवर सदृश-कलह-निपुण-मिश्र-श्लक्ष्ण सम इत्येतैः सह भान्त षसो भवति । मासेन पूर्वो मासपूर्वः । सवत्सरपूर्वः । मासावरः । सवत्सरावरः । अस्मादेव वचनात् । हेतौ वा । पित्रा सदृशः पितृसदृशः । "भाऽतुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः" [१।४।७६] इति भा । विद्यया सदृशो विद्यासदृशः । असिना कलहोऽसिकलहः । वाचा निपुणो वाङ्निपुणः । गुडेन मिश्रा गुडमिश्राः । तिलमिश्रा धानाः । वाचा श्लक्ष्णो वाक्श्लक्ष्णः । जिह्वाश्लक्ष्णः । मात्रा समो मातृसमः । कुलेन समः कुलसमः ।

साधनं कृता बहुलम् ॥१।३।२९॥ साधन कारकं तत् कृदन्तेन बहुलं षसो भवति । कर्तृ—अहिना हतोऽहिहतः । करणम्—विषेण हतो विषहतः । "कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ।" (नखैर्निर्भिन्नः) नखनिर्भिन्नः । तथा देवदत्तेन नखनिर्भिन्नः देवदत्तनखनिर्भिन्नः । कर्म—ग्राम गमी ग्रामगमी । ओदन बुभुक्षुरोदनबुभुक्षुः । अपादानम्—ग्रामनिर्गतः । अधर्मजुगुप्सुः । सम्प्रदानम्—पादाभ्यां ह्रियते पादहारको भूपः । अधिकरणम्—गले चोप्यते गलचोपकः । "युट्ण्या बहुलम्" [२।३।६४] इति बहुलवचनादुभयत्र कर्मणि णवुच् । क्वचिन्न भवति । दात्रेण लूनवान् । परशुना छिन्नवान् । व्याप्तेरधिकार्थवचन इष्यते । कुक्कुटैः सम्पात्याः कुक्कुटसम्पात्या ग्रामाः । अश्वखरताकथनम् । काकपेया नदी । श्वलेह्यः कूपः । कण्टकसञ्चेय ओदनः । बाष्पच्छेद्यानि तृणानि । क्वचिन्न भवति । काकैः पातव्याः । काकैः पानीया नदी । क्वचिदधिकार्थाभावेऽपि । तुसोपेन्ध्यम् । तृणोपेन्ध्यम् । पूर्वसूत्रेण कारकविभक्तीलक्षण सावधानमस्यैव प्रपञ्चः । साधनमिति किम् ? भिक्षाभिरुषितः । हतो भा । कृद्ग्रहणं किम् ? कृदन्तेनैव वृत्तिर्यथा स्यात् सुबन्तेन मा भूत् । अभ्रविलिप्ती । "क्तादल्पे" [३।१।१४] इत्यत्र वचनात् तद्विधे सिद्धः । सुप्पुलिङ्गयुक्ताद्भवति ।

भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणव्यञ्जने ॥१।३।३०॥ मिश्रणव्यञ्जनवाचिना सुबन्तेन भक्ष्यान्नवाचिभ्यां यथासंख्यं षसो भवति । गुडेन मिश्रा धाना गुडधानाः । वृत्तौ क्रियाया अन्तर्भावादप्रयोगः । एव गुडपृथुकाः । व्यञ्जनम्—दध्ना उपसिक्त ओदनो दध्योदनः । घृतोदनः ।

तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ॥१।३।३१॥ तस्मै इद तदर्थम् । अवन्त तदर्थेनार्थशब्देन च बल्यादिभिश्च सहितं इत्येतैः सह षसो भवति । रथाय दारु । रथदारु । कुण्डलाय हिरण्यम् । कुण्डलहिरण्यम् । इह तदर्थग्रहणं प्रकृतिविकारभावे तदर्थेन वृत्तिः । विकृतिः प्रकृत्या सह इत्यर्थः । इह न भवति । रन्धनाय स्थाली । अवहननायोलूखलम् । इदमेव ज्ञापकं तादर्थ्ये अम् भवति । कथमश्वघासो हस्तिविधेति ? षष्ठीसमासः । अर्थेन नित्य वृत्तिः । ब्राह्मणार्थं पयः । ब्राह्मणार्थम् । त्रिलिङ्गता लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य । आतुरार्था

१. मार्थम् । मि॰ इदम्, पित्रर्थम् । त्रिलि-ता० ।

यवागूः । आतुरार्थः सूपः । देवाय बलिः देवबलिः । गृहबलिः । तादर्थ्ये अप् । गोभ्यो हितं गोहितम् । अश्वहितम् । हितयोगे इदमेव ज्ञापकमपः । गोभ्य. सुखं गोसुखम् । "अप् चाशिष्या" [२।४।७७] इत्यादिना अप् । गोभ्यो रक्षितं गोरक्षितम् । तादर्थ्येऽप् ।

का भीभिः ॥१।३।३२॥ बहुवचनादर्थविज्ञानम् । कान्तं भीवचनैः सह पसो भवति । वृकेभ्यो भीः वृकभीः । वृकेभ्यो भीतो वृकभीतः । वृकेभ्यो भयं वृकभयम् । वृकेभ्यो भीतिः वृकभीतिः । मुक्तयुत्तरार्थं पूर्वस्याय प्रपञ्चः ।

मुक्तापेतापोढपतितापत्रस्तैः प्रायः ॥१।३।३३॥ मुक्त-अपेत-अपोढ-पतित-अपत्रस्त इत्येतैः सह कान्तं प्रायः पसो भवति । भवान्मुक्तो भवमुक्तः । पापापेतः । सुखापोढः । स्वर्गपतितः । तरङ्गापत्रस्तः । सर्वत्रापादाने का । प्राय इति किम्? प्रासादात् पतितः । भोजनादपत्रस्त इत्येवमादौ न भवति ।

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्तेन ॥१।३।३४॥ स्तोक-अन्तिक-दूर इत्येवमर्थाः शब्दाः कृच्छ्रशब्दश्च कान्ताः क्तान्तेन सह पसो भवति । स्तोकान्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्यासादागतः । दूरादागतः । विप्रकृष्टादागतः । कृच्छ्रान्मुक्तः । कृच्छ्राल्लब्धः । "स्तोकार्थकृच्छ्रेभ्योऽपादाने का" । दूरान्तिकार्थेभ्य इनेति का । "कायाः स्तोकादेः" [४।३।१२१] इत्यनुप् ।

ईप्शौण्डैः ॥१।३।३५॥ ईबन्तं शौण्डादिभिः सह पसो भवति । शौण्डैः सहचरिताः शौण्डाः । अक्षेषु प्रसक्तः शौण्डोऽक्षशौण्डः । पानशौण्डः । वृत्तौ प्रसक्तिक्रियाया अन्तर्भावादप्रयोगः । सर्वत्राधिकरणे ईप् । शौण्ड, धूर्त, कितव, व्याड, सवीत, समीरण, अन्तर् वने अन्तर्वनान्तः । अधि राशि अधि राजाधीनम् । "अषडक्षाशितङ्ग्वधियोः" [४।२।१६] इति खः । यदा पूर्वपदार्थप्राधान्यं विभक्त्यर्थश्च तदा हसः । अन्तर्वणम् । अधिस्त्रि । पण्डित । कुशल । चपल । निपुण ।

सिद्धशुष्कपक्वबन्धैः ॥१।३।३६॥ सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्ध इत्येतैरीबन्तं पसो भवति । काम्पिल्ये सिद्धः काम्पिल्यसिद्धः । साङ्काश्यसिद्धः । ऊरु शुष्कः । ऊरुशुष्कः । छायाशुष्कः । कुम्भीपक्वः । स्थालीपक्वः । चक्रबन्धः । चारकबन्धः । "साधनं कृता" [१।३।२६] इत्यस्यैव प्रपञ्चः ।

ऋणे व्यैः ॥१।३।३७॥ ईबन्तं व्यान्तैः सह पसो भवति ऋणे गम्यमाने । मासदेयमृणं मासदेयम् । मासैकदेशे मासशब्दः । अधिकरणे ईप् । एवं संवत्सरदेयम् । नियोगतः कार्यमृणम् । तेनेदमपि मासे पूर्वाह्णे [illegible] ज्ञेयम् । प्रातरध्येयम् । अत्र यत्यान्तेनैवाभिधानादिह न स्यात् । मासे दातव्यम् । मासे दानीयम् । ऋण इति किम्? मासे देया भिक्षा ।

खौ ॥१।३।३८॥ खुविषये ईबन्तं सुबन्तेन सह पसो भवति । अरण्येतिलकाः । वृत्तिपदेन संज्ञा गम्यते इति नित्यः सविधिः । "ईपोऽद्बलः" [४।३।१२७] इत्यनुप् । एवमरण्येमाषकाः । वनेकशेरुकाः । [illegible]जकाः । पूर्वाह्णे स्फोटकाः । कूपेपिशाचिकाः ।

क्तेनाहोरात्रभेदाः ॥१।३।३९॥ भेदा अवयवाः । क्तान्तेन सह अहोरात्रभेदा ईबन्ताः पसो भवति । पूर्वाह्णकृतम् । अपराह्णकृतम् । पूर्वरात्रभुक्तम् । अपररात्रभुक्तम् । भेदग्रहणं किम्? "[illegible] *पिशाची यदभापत । एतत्तु ते दिवा नृत्तं रात्रौ नृत्तन्तु द्रक्ष्यसि ।*"

तत्र ॥१।३।४०॥ क्तेनेति वर्तते । तत्रेत्येतत् क्तान्तेन सह पसो भवति । तत्रकृतम् । [illegible] । तत्रपीतम् । ऐकपद्यं प्रयोजनम् ।

रकपूर्वस्यापि ।'' अवतप्तेनकुलस्थित त एतत् । कार्येष्वनवस्थितत्व तवेदमित्यर्थः । ''पे कृति बहुलम्'' [४।३।१३२] इत्यनुप् । एवमुदकेविशीर्णं भस्मनिहुतम् । निष्फल तवेदमित्यर्थः ।

ध्वाङ्क्षे ॥१।३।४२॥ क्तेनेति निवृत्तम् । क्षेप इति वर्तते । बहुवचनादर्थनिर्देशः । ध्वाङ्क्षवाचिभिः सुबन्त षसो भवति क्षेपे । तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः । वृत्ताविवार्थस्यान्तर्भावः । तीर्थकाकः । श्राद्ध-वायसः । अनवस्थित एवमुच्यते । ध्वाङ्क्षैरित्यर्थनिर्देशात्तत्सदृशानामपि ग्रहणमिति केचित् । तीर्थश्वा । तीर्थसारमेयः । तीर्थशृगालः । क्षेप इति किम् ? तीर्थे ध्वाङ्क्षो वास्यते ।

पात्रेसमितादयश्च ॥१।३।४३॥ क्षेप इति वर्तते । पात्रेसमितादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपातिताः षसञ्ज्ञा भवन्ति क्षेपे । पात्रे एव समिताः पात्रेसमिताः । पात्रेबहुलाः । न कचित्कार्ये इति क्षेपो गम्यते । निपातनादनुप् । उदुम्बरे मशक इव उदुम्बरमशकः । उदुम्बरकृमिः । कूपकच्छपः । अवटकच्छपः । कूपमण्डूकः । उदपानमण्डूकः । नगरकाकः नगरवायसः । एतेष्विवार्थो वृत्तावन्तर्भूतः । मातरिपुरुषः । अयुक्तकारीत्यर्थः । पिण्डीशूरः । निरुत्साह इत्यर्थः । गेहेक्ष्वेडी । गेहेनर्दी । गेहेनर्त्ती । गेहेविजिती । गेहेव्याडः । गर्भेतृप्तः । गर्भेदृप्तः । आखनिकबकः । गोष्ठेशूरः । गोष्ठेविजिती । गोष्ठेक्ष्वेडी । गेहेशूरः । गेहेमेही । गेहेदासः । गोष्ठेपटुः । गोष्ठेपण्डितः । गोष्ठेप्रगल्भः । कर्णेचुरुचुराः । चकारोऽवधारणार्थः । पात्रेसमितादय एव न वृत्त्यन्तर लभन्ते । परमाः पात्रेसमिताः । अत एव क्तान्तेनापीह वृत्तिः सार्थिका अन्यथा 'क्षेपे' [१।३।४१] इत्यनेनैव सिद्धा स्यात् ।

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलं यश्चैकाश्रये ॥१।३।४४॥ एकाश्रयः समानाधिकरणम् । पूर्वकालवाचि-एकसर्व-जरत् पुराण-नव केवल इत्येते सुबन्ता एकाश्रये सति सुबन्तेन सह यसंज्ञः सो भवति षसं ज्ञश्च । पूर्वः कालो यस्य स पूर्वकालः । सम्बन्धिशब्दत्वादपरकालेन तस्य वृत्तिः । पूर्वं स्नाताः पश्चादनुलिप्ता स्नातानुलिप्ता । कृष्टसमीकृतम् । छिन्नपरूढम् । दग्धप्ररूढम् । एकशाटी । एकचर्या । एकभिक्षा । सर्वदेवाः । सर्वपदार्थाः । जरद्धस्ती । जरद्गवः । पुरा भव पुराणम् । ''सायञ्चिरम्प्राह्णेप्रगेऽव्ययात्तनट्'' [३।२।१३६] इति तनट् । अत एव निपातनात्तखम् । पुराणान्नम् । पुराणशास्त्रम् । नवान्नम् । केवलमसहाय ज्ञान केवलज्ञानम् । विशेषणवृत्तेरय प्रपञ्चः । चशब्दः षसञ्ज्ञासमावेशार्थः । [illegible] राजपुरुषादौ [illegible] षसञ्ज्ञा नाप्येत । मोष्टिका गौ मोष्टकगवी । ''स्त्र्युक्तपुंस्क'' [४।३।१४६] [illegible] ''न हृत्कोप'' [४।३।१४६] इति प्रतिषिद्धो यसञ्ज्ञया ''पुंवद्यजातीयदेशीये'' [४।३।१५४] इति पुंवद्भावः । [illegible] ''गोरटुपि'' [४।२।६४] इति टः सान्तः । इत उत्तरमेकाश्रयाधिकारो यावत् ''मयूरव्यंसकादयश्च'' [१।३।६६] इति । एकाश्रय इति किम् ? एकस्या शाटी ।

दिक्संख्ये खौ ॥१।३।४५॥ दिग्वाचि संख्यावाचि च सुबन्तमेकाश्रये सुबन्तेन सह षसो भवति [illegible] । पूर्वेषुकामशमी । अपरेषुकामशमी । पूर्वकृष्णमृत्तिका । अपरकृष्णमृत्तिका । दक्षिणपञ्चालाः । उत्तरपञ्चालाः । संख्या—पञ्चाम्राः । पञ्चवटा । सप्तर्षयः । खाविति किम् ? दक्षिणा ग्रामाः । पञ्च [illegible] ।

हृदर्थयुसमाहारे ॥१।३।४६॥ दिक्संख्ये इति वर्तते । हृदर्थविषये यौ परतः समाहारेऽभिधेये [illegible] सुबन्तेन सह षसो भवति । दिक् । हृदर्थे—पूर्वस्या शालाया भवः षसे कृते समुदायात् [illegible] [३।१।८४] [illegible] । पौर्वशालः । आपरशाल । यौ—पूर्वा शाला प्रिया अस्य पूर्वशालाप्रियः । [illegible] । पूर्ववत्स्त्र पुंवद्भावः । दिशा समाहारो नास्ति । क्रियागुणा-[illegible] । संख्या । हृदर्थे—पञ्चभिः शष्कुलीभिः क्रीतः पञ्चशष्कुलः । अनेन

१. [illegible] । २.—[illegible] । दशं टिरिटिराः । कर्णे—अ०, ब०, स० ।

पसे कृते तस्य "संख्यादी रश्च" [१।३।४७] इति रसंज्ञायां आर्हीयस्य टणो "रादुवखौ" [३।४।२६] इत्युप्। "हृदुप्त्युप्" [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप्। पञ्चानां नापितानामपत्यं पाञ्चनापितिः। "रस्योवनपत्ये" [३।१।७४] इति वचनं ज्ञापकं हृदर्थेऽपि से हृदुत्पत्तिर्भवति। अौ-पञ्च गावो धनमस्येति पञ्चगवधनः। अत्रानन्तरमापेक्षया "गोरहृदुपि" [४।२।६४] इति टः सान्तः सिद्धः। द्वेऽहनी जातस्य द्व्यहजातः। "पुम्योऽह्नोऽतः" [४।२।९०] इत्यह्नादेशः। समाहारे-पञ्च पूलाः समाहृताः पञ्चपूली। अनेन पसः। उत्तरसूत्रेण रसंज्ञाया "रात्" [३।१।२५] इति ङीविधिः। कथं पञ्चनगरी ? अत्रापि क्रियागुणापेक्षया समाहारोऽस्ति। लब्धा शोभना चेति गम्यते समाहारस्यैकत्वादेकवचनम्। ननु समाहारः समूहः स तु हृदर्थ एव न पृथक् समाहार निर्देशात्। समूहार्थस्य त्यस्यानुपपत्तिः पञ्चानां कुमारीणां समाहारः पञ्चकुमारि। त्योत्पत्तौ हि "रस्योवनपत्ये" [३।१।७४] इत्युप् प्रसज्येत। ततश्च "हृदुप्त्युप्" [१।१।६] स्त्रीत्यस्योप् स्यात्।

संख्यादी रश्च ॥१।३।४७॥ हृदर्थत्रयसमाहार इत्यत्र संख्यादिर्यः स उक्तः स रसंज्ञो भवति हृदर्थे। द्वावनुयोगौ वेत्त्यधीते वा द्व्यनुयोगः[१]। "रस्योवनपत्ये" [३।१।७४] इत्यण उप्। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः। अौ-पञ्च नावः प्रिया अस्य पञ्चनावप्रियः। "नावो रात्" [४।२।१०२] इति टः सान्तः। समाहारे-पञ्चपूली। चशब्दः पसंज्ञासमावेशार्थः। द्वे अङ्गुली समाहृते द्व्यङ्गुली। "पेऽङ्गुलेर्भिः संख्यादेः" [४।२।८८] इति अः सान्तः। "रात्" [३।१।२५] इति ङीविधिश्च सिद्धः।

कुत्स्यं कुत्सनैः ॥१।३।४८॥ कुत्स्यवाचि सुबन्तं कुत्सनवाचिना पसो भवति। वैयाकरणखसूचिः। प्रत्यासत्तेः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्य कुत्सायामयं संविधिः। रूपसिद्धि पृष्टो निःप्रतिभः सन् यः स सूचयति वीक्षते स खसूची। खसूचित्वं कुत्सनम्। विशेषणस्य परनिपातार्थ आरम्भः। एवं क्षत्रियभीरुः। श्रोत्रियकितवः। भिक्षुविटः। मीमांसकदुर्दुरूढः। कुत्स्यमिति किम् ? वैयाकरणः कितवः। न हि वैयाकरणत्वं कितवत्वेन कुत्स्यते। कुत्सनैरिति किम् ? कुत्सितो ब्राह्मणः।

पापाणके कुत्स्यैः ॥१।३।४९॥ पापाणकशब्दौ कुत्सनवचनौ कुत्स्यवचनैः पसो भवति। पापकुलालः। अणकनापितः। पूर्वयोगेन कुत्स्यस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते परनिपातार्थ आरम्भः।

सामान्येनोपमानम् ॥१।३।५०॥ उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यम्। उपमीयते परिच्छिद्यते अनेन सादृश्येनार्थ इत्युपमानम्। उपमानवाचि सुबन्तं सामान्यवाचिना सुबन्तेन सह पसो भवति। निराधारं सामान्यं न प्रतीयत इति सामान्यधर्मेण विशिष्टं यदुपमेयं तेनात्र वृत्तिः। शस्त्रीव श्यामा शस्त्रीश्यामा देवदत्ता। शस्त्रीशब्दः श्यामगुणमुपादाय देवदत्तायां वर्तत इति एकार्थया वृत्तिर्न विरुध्यते। मृगीव चपला मृगचपलेति पुंवद्भावश्च भवति। एवं कुमुदश्येनी हंसगमनी न्यग्रोधपरिमण्डला दूर्वाकाण्डश्यामा सरकाण्डगौरी। सामान्येनेति किम् ? फला इव तण्डुलाः। पर्वता इव बलाहकाः। उपमानमिति किम् ? [illegible]

विशेषणं विशेष्येणेति ॥१।३।५२॥ एकाश्रय इति वर्तते। यत् सामान्याकारेण प्रवृत्तं सत् अनेकप्रकाराधारभूत वस्तु प्रकारान्तरेभ्यो व्यावर्त्यैकत्र प्रकारे अवस्थापयति तद्विशेषणम्। अनेकप्रकाराधारभूत वस्तु विशेष्यम्। विशेषणं विशेष्यवाचिना सह षसो भवति। कृष्णश्च स कम्बलश्च स कृष्णकम्बलः। लोहिता च सा शाटी च सा लोहितशाटी। अर्द्धञ्च तत् पिप्पली च सा अर्द्धपिप्पली। यदा पिप्पल्यवयवे पिप्पलीशब्दस्तदेयं वृत्तिरेकाश्रयाधिकारात्। यदा समुदाये वर्तते तदा पिप्पल्यर्द्धमिति तासः। भिन्नैकदेशे भिन्नाशब्दः। द्वितीया भिन्ना द्वितीयभिन्ना। तृतीयभिन्ना। चतुर्थभिन्ना। तुर्यभिन्ना। इह भिन्नाद्वितीयमिति तासो नोपपद्यते। "ङ्दूगुणतृप्तार्थरण" [१।३।७५] आदिप्रतिषेधस्य बलीयस्त्वात्। कायैकदेशे कायशब्दः। पूर्वः कायः पूर्वकायः। अपरः कायः अपरकायः। उत्तरकायः। एवं मध्याह्नः। सायाह्नः। पूर्वं कायस्येति अवयवसम्बन्धे तासानभिधानं पूर्वं कायादिति प्राप्नोति। विशेषणविशेष्ययोरन्यतरस्य ग्रहणेऽपि सम्बन्धिशब्दत्वादुभयोः प्रतिपत्तिरिति द्वयनिर्देशो व्यर्थः? नैवम्; यत्र पूर्वोत्तरपदयोः प्रत्येकं विशेषणविशेष्यभावस्तत्र यथा स्यादिह मा भूत्। वृक्षः शिंशपा। शिंशपा हि वृक्षार्थं न व्यभिचरतीति न तस्या विशेष्यत्वम्। यदा शिंशपादिशब्दाः फलादिष्वपि वर्तन्ते तदोभयोर्विशेष्यत्वे सविधिर्भवत्येव। शिंशपावृक्षः। पलाशवृक्षः। उभयोर्विशेषणत्वे कस्य पूर्वनिपात इति चेत् प्रधानद्रव्यापेक्षयान्वर्थस्य नीचो गुणस्य पूर्वनिपातः। यद्यप्युत्पलादिशब्दो जातिशब्दस्तथापि जातिर्द्रव्यस्योत्पत्तेः प्रभृत्याविनाशादात्मभूता प्रतीयत इति जातिनिमित्तः शब्दो द्रव्यशब्दो व्यवस्थाप्यते। अत एव विशेष्यत्वमुत्तरपदार्थस्य द्रव्यद्वारेण जातेरनीलत्वादनाधेया[1]तिशयत्वाच्च, सामानाधिकरण्यं तु जात्यपेक्षया जातेर्भेदाभेदविवक्षा अनेकान्ताधिकारात्लभ्यते। विशेषणमिति किम्? तक्षकः सर्पः। सञ्ज्ञैषा। अस्य विशेष्यत्वमेव न विशेषणत्वम्। विशेष्येणेति किम्? लोहितस्तक्षकः। तस्य[2] लोहितत्वाव्यभिचारादविशेष्यत्वम्। इतिशब्दः किमर्थो यत्र लोके विवक्षा तत्र यथा स्यात्। इह न भवति रामो जामदग्न्यः। अर्जुनः कार्तवीर्यः। इह कृष्णसर्पः लोहिताहिः लोहितशालिरित्येवमादिषु सञ्ज्ञाशब्देषु नित्यः सविधिः। वाक्यं तु सादृश्यमात्रेण। नीलोत्पलादिषूभयम्। नीलमुत्पलं नीलोत्पलम्। इहेच्छया विशेषणत्वम्। खञ्जकुण्टः। कुण्टखञ्जः।

पूर्वाऽपरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराः ॥१।३।५३॥ पूर्व-अपर प्रथम-चरम जघन्य-समान-मध्य मध्यम-वीर इत्येते एकाश्रये सुपा सह समस्यन्ते षसो भवति। पूर्वपुरुषः। अपरपुरुषः। प्रथमपुरुषः। चरमपुरुषः। जघन्यपुरुषः। समानपुरुषः। मध्यपुरुषः। मध्यमपुरुषः। वीरपुरुषः। एवमाद्यनुक्रमणं [illegible]प्रपञ्चार्थं। उपसर्जनानां परोपसर्जनार्थम्, प्रधानानां परप्रधानार्थञ्च। इह सूत्रे पूर्वशब्दो वीरशब्द-[illegible]पसर्जनं तयोर्वृत्तौ परत्वात् वीरशब्द उपसर्जनम्। वीरपूर्वः। 'वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत्' [१।३।५७] इह [illegible] नागशब्दः प्रधानं "पोटायुवति" [१।३।६०] इत्यत्र प्रवक्तृशब्दः प्रधानं तयोर्वृत्तौ परत्वात् प्रवक्ता प्रधानम्। नागप्रवक्ता।

श्रेण्यादि कृतैः ॥१।३।५४॥ श्रेण्यादयः कृतादिभिः सह एकाश्रये षसो भवति। वैषम्याद्यथासङ्ख्यं न भवति। [illegible] च्व्यर्थग्रहणं कर्तव्यं न कर्तव्यमितिशब्दानुवृत्तेस्तत्रैव वृत्तिः। अश्रेणयः श्रेणयः कृताः [illegible]। [illegible] ऊकाः कृताः ऊककृताः। च्व्यर्थादन्यत्र श्रेणयः कृताः। करोतेरनेकार्थत्वाद्-[illegible]। निष्ठेन [illegible] परत्वात् 'तिकुप्रादयः' [१।३।८०] इति [illegible]। [illegible]। [illegible] ऊक पूग कुन्दुम राशि निचय विषय विशिष्ट निर्धन देव इन्द्र [illegible] पटु पण्डित कुशल चपल निपुण इति श्रेण्यादिः। [illegible]। [illegible] उक्त समाम्नात समाख्यात समान्नात सम्भावित अवधारित ससेवित [illegible]। [illegible]सम्बन्धोऽत्र न विशेषणविशेष्यभाव इति।

1. [illegible], तस्य भावः, तत्त्वात्। 2. तक्षकस्य अ०, ब०।

विसमाप्तौ क्तोऽनञ् ॥१।३।५५॥ विगता समाप्तिः विसमाप्तिः। ईषन्निष्पत्तिरित्यर्थः। ननञ् क्तान्त विसमाप्तौ सामर्थ्यात् क्तान्तेन समस्यते षसो भवति। एकस्या हि क्रियाया विसमाप्तिर्भवति न क्रियाभेद इति सामर्थ्यम्। क्तान्तस्यानञिति प्रतिषेधान्नञ्पूर्वेणापि क्तान्तेन सविधिः। कृतञ्च तदकृतञ्च कृताकृतम्। कृतभागसम्बन्धात् कृतम्। अकृतभागसम्बन्धात्तदेवाकृतम्। एव भुक्ताभुक्तम्। पीतापीतम्। अशितानशितम्। क्लिष्टाक्लिशितम्। "क्लिशस्तक्त्वो." [५।१।९८] इति वेट्। मुक्तविमुक्तम्। पीतनिपीतम्। कृतापकृतम्। विसमाप्ताविति किम्? सिद्धं चाभुक्तं च। क्रियाभेदे विसमाप्तिर्नास्ति एकस्याः समाप्तत्वादपरस्या अननुष्ठानात्। क्त इति किम्? कर्तव्यं तदकर्तव्यं च। अनञिति किम्? अकृतं न तत्कृतञ्च। ननु कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यैव ग्रहणमनञिति किमर्थम्? नञ्पूर्वेणापि नृत्यर्थमिति शेषः। इः गतप्रत्यागतः यातानुयात इत्येवमादिषु "पूर्वकालैक" [१।३।४४] इत्यादिना षसः।

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टं पूज्येन ॥१।३।५६॥ सत्-महत्-परम-उत्तम-उत्कृष्ट इत्येते सुबन्ताः पूज्यवचनेन सह समस्यन्ते षसो भवति। सश्च सः पुरुषश्च सत्पुरुषः। महापुरुषः। परमपुरुषः। उद्गततम. उत्तमः। अत एव निपातनात् "किमेत्तिङ्व्ययघादाम्वद्रव्ये" [४।२।२०] इत्याम् न भवति। उत्तमपुरुषः। उत्कृष्टपुरुषः। पूज्येनेति वचनादत्र सदादयः पूजावचना ज्ञातव्याः। पूज्येनेति किम्? उत्कृष्टो गौ.। कर्दमादुद्धृत इत्यर्थः।

वृन्दारकनागकुञ्जरैस्तत् ॥१।३।५७॥ पूज्येनेति वर्त्तमानमर्थवशाद्वान्त सपद्यते। वृन्दारकादिभिः सह तत् पूज्यवाचिसुबन्तं समस्यते षसो भवति। तदित्यनेन पूज्यवचनेनाभिसम्बन्धात् वृन्दारकादयः पूजावचना गृह्यन्ते। गौश्चासौ वृन्दारकश्च गोवृन्दारकः। पुन्नागः। गोकुञ्जरः। अश्वकुञ्जरः। व्याघ्रादेराकृतिगणत्वात् "व्याघ्रैरुपमेयेऽव्ययोगे" [१।३।५१] इत्येव सिद्धे सामान्यप्रयोगेऽपि यथा स्यादित्यारम्भः। गोनागो बलवान्। तदिति किम्? शोभना शीमा फणा अस्य सुशीमो नागः।

कतरकतमौ समर्थौ ॥१।३।५८॥ किंशब्दात् "कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतर" [४।१।१४७] "वा बहूनां जातिप्रश्ने डतमः" [४।१।१४८] तयोः परतष्टिले कृते कतरकतमशब्दौ सिद्ध्यतः। समर्थौ समानार्थावेकार्थावित्यर्थः। तौ सुबन्तेन सह समस्येते षसो भवति। कदा चानयोः समानार्थता यदा जातिप्रश्ने तौ व्युत्पाद्येते तदा तयोः समानार्थत्वम्। कतरश्च स गार्ग्यश्च कतरगार्ग्यः। कतमगार्ग्यः। कतरकठः। कतमकठः। वृद्ध चरणैः सहेति जातिवाचित्वम्। समर्थाविति किम्? कतरो भवतोर्देवदत्तः। द्रव्यप्रश्नोऽयम्। समर्थग्रहणं हि कतरस्यैव विशेषणं डतरस्याविशेषेण विधानात्। कतमस्य जातिप्रश्न एव तैर्विधानात्। अतः कतमो भवता देवदत्त इति व्याप्त्युदाहरणमनुपपन्नम्। कतरकतमयोः प्रश्ने विहितयोः सविधिना न गार्ग्यादिविशेष्यत्वप्रसङ्गेति वचनम्।

च इभ्यपोटा । इभ्येति जातिशब्दः । स्त्री भूत्वा राज्यपालनार्थं या पुंवेषेण युज्यते सा पोटा । यापि गर्भं एव दास्यं गता साऽपि पोटा । "स्त्युक्तपुंस्क" [४।३।१४६] इत्यादिना पुंवद्भावे प्राप्ते "जातिश्च" [४।३।१५३] इति प्रतिषिद्धे "पुंवद्यजातीयदेशीये" [४।३।१५४] इति पुंवद्भावः । एवमार्यपोटा । युवतिस्तरुणी । इभ्य-युवतिः । क्षत्रियुवतिः । अग्निश्च स स्तोकञ्च तदग्निस्तोकम् । दधि च तत् कतिपयञ्च दधिकतिपयम् । स्तोककतिपयशब्दावेकार्थे । सकृत्प्रसूता गृष्टिः । गौश्च सा गृष्टिश्च गोगृष्टिः । धेनुरभिनवप्रसवा । गोधेनुः । वशा वन्ध्या । गोवशा । वेहत् गर्भघातिनी । गर्भधारिणीत्यन्ये । गोवेहत् । महता वत्सेन या दुह्यते सा वष्कयिणी । गोवष्कयिणी । प्रवक्ता उपाध्यायः । कठप्रवक्ता । कठश्रोत्रियः । अध्यापकोऽध्येता । कठा-ध्यापकः । कठधूर्तः । बुद्धिमानित्यर्थः । धूर्तग्रहणमिहाकुत्सार्थम् । अथवा आश्रयिषु कुत्सितेषु तद्भवति । आश्रयेषु तु कुत्स्येषु इदम् । ब्राह्मणधूर्तः क्षत्रियधूर्त इति यदा हि ब्राह्मणत्वमाश्रयि कुत्स्यते तदा तेनैव सिद्ध सविधानम् । यदा तु तद्युक्तो देवदत्तः कुत्स्यते तदर्थमिदम् । जातिरिति किम् ? देवदत्तः प्रवक्ता । देवदत्त-शब्दस्याजातिवचनत्वादवृत्तिः । जातेर्विशेष्यायाः पूर्वनिपातार्थ आरम्भः ।

चतुष्पाद्गर्भिण्या ॥१।३।६१॥ जातिरिति वर्तते । चत्वारः पादा यस्याः सा चतुष्पाद्गवादिजातिः । "सुसंख्यादेः" [४।२।१४०] इत्यकारस्य खम् । चतुष्पाज्जातिर्गर्भिणीशब्देन सहैकाश्रये समस्यते षसो भवति । गौश्च सा गर्भिणी च गोगर्भिणी । अजगर्भिणी । "पुंवद्यजातीयदेशीये" [४।३।१५४] इति पुंवद्भावः । चतुष्पादिति किम् ? ब्राह्मणी गर्भिणी । जातिरित्येव । कालाक्षी गर्भिणी । स्वस्तिमती गर्भिणी । चतुष्पदः संज्ञैषा । न तु जातिः । विशेष्यस्य पूर्वनिपातार्थं वचनम् ।

प्रशंसोक्त्या ॥१।३।६२॥ जातिरिति वर्तते । उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । प्रशंसाशब्देन सह जातिवाचि सुबन्तं समस्यते षसो भवति । गौश्च स प्रकाण्डश्च तत् गोप्रकाण्डम् । प्रशस्तो गौरित्यर्थः । एवमश्वप्रकाण्डम् । गोमतल्लिका[1] । अश्वमचर्चिका । गोकुमारी । गोतल्लजकः । अभिधा जातिरित्येव । देवदत्ता कुमारी ।

युवा खलतिपलितवलिनजरद्भिः ॥१।३।६३॥ खलति पलित वलिन जरदित्येतैरेकाश्रयैर्युवशब्दः समस्यते षसो भवति । युवा खलतिः युवखलतिः । युवतिः खलती युवखलती । युवा पलितः युवपलितः । युवतिः पलिता युवपलिता । वलयोऽस्य सन्ति वलिनः । पामादित्वान्नः । युवा वलिनः युववलिनः । युवतिर्व-लिना युववलिना । "जृषोऽतृ" [२।२।८७] इति अतृत्ये कृते जरदिति भवति । युवा जरन् युवजरन् । युवति-र्जरती युवजरती । "मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ।" "पुंवद्यजातीयदेशीये" [४।३।१५४] इति पुंवद्भावात् तिशब्दस्य निवृत्तिः ।

क्ष्यतुल्याख्या अजात्या ॥१।३।६४॥ क्ष्यान्तास्तुल्याख्याश्च अजातिवाचिना सह समस्यन्ते षसो भवति । परनिपातः फलम् । भोज्यञ्च तदुष्णञ्च भोज्योष्णम् । भोज्यलवणम् । पानीयशीतम् । हरणीयपूर्णो घटः । तुल्याख्याः । तुल्यश्च स श्वेतश्च स तुल्यश्वेतः । सदृशश्वेतः । तुल्यमहान् । सदृशमहान् । अजात्येति किम् ? भोज्य ओदनः । तुल्यो वैश्यः । इह तुल्यसन्निति पूज्यत्वाभावात् परत्वाद्वानन सः । इह कथमेकाश्रया-र्थानि पद्मानि [illegible] ततो विशेषणलक्षणः सः । यदि सारङ्गादिशब्दा जातिवचना जातेः [illegible] विशेषणविशेष्यभावः । कृष्णश्वेतः । श्वेतकृष्णः ।

कुमारः श्रमणादिभिः ॥१।३।६५॥ कुमारशब्दः श्रमणादिभिः सह समस्यते षसो भवति । कुमा-रश्चासौ नटः । [illegible] मौलिकः । अध्यापकादिभिरुभयथा समस्यते । कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणा ।

१ —मतल्लिका । अश्वमतल्लिका । गोमचर्चिका । गोकुमा- अ० ।—ल्लिका । अश्वमतल्लिका । अश्वम-ब० ।

कुमारी प्रव्रजिता कुमारप्रव्रजिता। कुमारश्च स अध्यापकश्च स कुमाराध्यापकः। कुमारी अध्यापिका कुमाराध्यापिका। श्रमणा प्रव्रजिता कुलटा गर्भिणी तापसी बन्धकी दासी एते स्त्रीलिङ्गाः। अध्यापक अभिरूपक पटु मृदु पण्डित कुशल चपल निपुण।

मयूरव्यंसकादयश्च ॥१।३।६६॥ मयूरव्यंसकादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपातिताः षसंज्ञा भवन्ति। विशिष्टावंसावस्य व्यंसः। इवार्थे कः। व्यंसको मयूरो मयूरव्यंसकः। छत्रव्यंसकः। कम्बोजमुण्डः। यवनमुण्डः। एतेषु परनिपातः प्रयोजनम्। "एहीडादयोऽन्यपदार्थे।" एहीडमिति यत्र कर्मणि एहि यवैरिति एहीडम्। "हियवं वर्तते। एहिवाणिजेति यस्यां क्रियायां सा एहिवाणिजा। प्रेहिवाणिजा"। एहिस्वागता। अपेहिस्वागता। एहिद्वितीया। अपेहिद्वितीया। प्रोहकटमस्यां प्रोहकटा। प्रोहकर्दमा। उद्धमचूडा। आहरचेला। आहरवसना। आहरवितता। भिन्धिप्रलवणा। उद्धर उत्सृजेति यस्यां सा उद्धरोत्सृजा। उद्धमविधमा। उद्धरविसृजा। उत्पतनिपता। उत्पचनिपचा। आख्यातमाख्यातेन सिद्धेऽप्यसातत्यार्थं वचनम्। उच्चैश्च अवाक्च उच्चावचम्। उच्चैश्च नीचैश्च उच्चनीचम्। आचितञ्चोपचितञ्च आचोपचम्। आचितपराचितस्य आचपराचम्। निश्चितप्रचितस्य निश्चप्रचम्। अकिञ्चनम्। स्नात्वाकालकः। पीत्वास्थिरकः। भुक्त्वासुहितः। प्रोष्यपापीयान्। उत्पत्यणकला जाता। निपत्यरोहिणी जाता। निपत्यश्यामा जाता। अपेहिप्रघसा वर्तते। इहपञ्चमी। इहद्वितीया। 'जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति।'' जहि जोडमित्याह जहिजोडः। उज्जहिजोडः। जहिस्तम्बः। बहुलमिति किम्? पचौदनम्। "आख्यातमाख्यातेन सातत्ये।" अश्नीतपिबता वर्तते। पचतभृज्जता। खादतमोदता। खादाचामाः। आहरविवसा। आहरनिष्किरा। अविहितलक्षणः षसंधानमिह द्रष्टव्यम्। तेन शाकप्रधानः पार्थिवः शाकपार्थिवः। कुतपसौश्रुतः। अजातौल्वलिः। वृतगौडीया। ओदनपाणिनीया इत्येवमादि सिद्धम्। चकारोऽवधारणार्थः। परमो मयूरव्यंसकः। वृत्त्यन्तरं न भवति।

काला मेयैः ॥१।३।६७॥ कालवाचिनः शब्दा मेयैः परिच्छेद्यैः सह समस्यन्ते षसो भवति। मा इति सम्बन्धात् काला मानवचना गृह्यन्ते। यद्यपि मुख्यं मानत्वं व्यवहारकालस्य मासादेर्न सम्भवति तथापि वचनात् परिच्छेदहेतुत्वमात्र साधर्म्यमुपादायोपचारात् कालः परिमाणम्। मासादयो जातादिसम्बन्धिनीमादित्यगतिं परिच्छिन्दन्तीति जातस्यापि परिच्छेदहेतव उच्यन्ते। एकाश्रय इति निवृत्तम्। मासो जातस्य मासजातः। संवत्सरजातः। तासापवादोऽयम्। काला इति बहुवचननिर्देशः किमर्थः? द्वे अहनी जातस्य द्व्यहजातः। त्रिपदोऽपि षसो यथा स्यात्। "हृदर्थय समाहारे" [१।३।४६] इत्यनन्तरंमे "राजाहःसखिभ्यष्टः" [४।२।९३] इति टः। "एभ्योऽह्नोऽह्नः" [४।२।९०] इति अह्नादेशः। यदा द्वयोरह्नोः समाहार इति विग्रहस्तदा "न समाहारे" [४।२।९१] इत्यह्नादेशप्रतिषेधः सिद्धः। द्व्यह्नो जातस्य द्व्यहजातः। त्र्यहजातः।

नञ् ॥१।३।६८॥ नञ् सुपा सह समस्यते षसो भवति। अब्राह्मणः। अधर्मः। अगौः। अगौः। नेयं पूर्वपदार्थप्रधाना वृत्तिरलिङ्गत्वमसंख्यत्वप्रसङ्गात्। किञ्च पूर्वपदप्रधानो हस उक्तः। ... कमिति। अन्यपदार्थप्राधान्ये तु अवर्षा हेमन्त इत्यत्र प्रादेशादि प्राप्नोति। अन्यतरपदार्थप्रधानत्वे वृत्तिः। ... वमगामानयेत्युक्तेऽगोमात्रस्यानयनं स्यात्। अथ स्वयमेव निवृत्तिपदार्थको गोशब्दः स नञा ... सति न कस्यचिदानयनं स्यात्। नायं दोषः। द्वावपि गोशब्दौ प्रवृत्तनिमित्तौ निवृत्तनिमित्तौ ... सारूप्यात्तयोर्भेदापरिज्ञाने निवृत्तपदार्थकस्य द्योतनार्थं नञः प्रयोगः ... "नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः'' [परि०] इति वचनात्। अन्यपदार्थे ... अशालिको देशः। असमासे नञोऽनित्य विशेषणार्थः। ... मा भूत्।

गुणोक्त्येषद् ॥१।३।६९॥ उच्यते गुणोक्तिः शब्दः। गुणवचनेन सह ईषच्छब्दः ... भवति। ईषत्कडारः। ईषत्पिङ्गलः। ईषद्विकटः। ईषदुन्नतः। ईषद्रक्तः। ईषद्गौरः। ...

1. वणिजा। प्रेहिवणिजा। ... -अ०, ब०, मु०। २. निपत्यश्यामा मु०।

जनम्। गुणोक्त्येति किम्? ईषत्कारकः। ईषद्गार्ग्यः। जात्येकार्थसमवायिक्रियागुणापेक्षया जातेरपि वृद्धिहानी।

ता ॥१।३।७०॥ तान्त सुबन्तेन सह षसो भवति। मोक्षमार्गः। स्वर्गसुखम्। राजपुरुषः।

कृति ॥१।३।७१॥ कृत्प्रयोगे या ता तदन्त सुपा सह षसो भवति। "न प्रतिपदम्" [१।३।७३] इति प्रतिषेध वक्ष्यति। तस्यायं पुरस्तान्निरासः। इध्मनां व्रश्चनः इध्मव्रश्चनः। पलाशशातनः। अविलवन.। श्मश्रुकर्त्तनः। करणे युट्। "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति ता।

याजकादिभिः ॥१।३।७२॥ याजकादिभिश्च सह तान्त समस्यते षसो भवति। पूर्वेण प्राप्तः तृजकाभ्या कर्त्तरीति प्रतिषिद्धः पुनरनेन षसः। देवाना याजको देवयाजकः। साधूना पूजकः साधुपूजकः। याजक पूजक परिचारक परिवेषक स्नापक अध्यापक उद्वर्त्तक उत्सादक होतृ भर्तृ रथगणक पत्तिगणक।

न प्रतिपदम् ॥१।३।७३॥ प्रतिपद विहिता या ता तदन्त न समस्यते। शेषलक्षणा ता मुक्त्वा सर्वाऽन्या ता प्रतिपदविधाना। सर्पिषो ज्ञानम्। पयसो ज्ञानम्। "ज्ञो स्वार्थे करणे" [१।४।५८] इति ता। इहापि धर्मानुस्मरणम्। धर्मचिन्तनमिति। "स्मृत्यर्थदयेशां कर्मणि" [१।४।५९] इत्यनेन शेषलक्षणा तानूद्यते। वनस्वामी। वनेश्वरो विद्यादायाद इत्येवमादिषु "स्वामीश्वर०" [१।४।४७] आदि सूत्रे चकारेण शेषलक्षणा ता समुच्चीयते।

निर्धारणे ॥१।३।७४॥ निर्धारणे या ता तदन्त न समस्यते। जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य निष्कृष्य धारण पृथक्करण निर्धारणम्। क्षत्रियो मनुष्याणा शूरतमः। श्यामा नारीणा दर्शनीयतमा। कृष्णा गवा सम्पन्नक्षीरतमा। धावन्तोऽध्वगाना क्षिप्रतमाः। क्षत्रियादिशब्देन सह वृत्तिर्न भवति। "यतश्च निर्धारणम्" [१।४।४६] इति चकारेण शेषलक्षणायास्तायाः समुच्चयः। प्रतिपदविधानत्वे हि पूर्वेणैव सिद्धः प्रतिषेध इतीदमनर्थक स्यात्। इह पुरुषेश्वर इति शेषलक्षणा ता विवक्षिता न निर्धारणलक्षणा।

डड् गुणतृप्तार्थसत्तव्यैकद्रव्यैः ॥१।३।७५॥ डदन्त गुणार्थ तृप्तार्थ सत्सज्ञ तव्य एकद्रव्य इत्येतैः सह तान्त न समस्यते। तस्य पूरणे डडित्यतः प्रभृति तमटष्टकारेण डडिति प्रत्याहारः। चक्रधराणा पञ्चमः। तीर्थङ्कराणा षोडश। बलदेवाना नवमः। समुदायसमुदितसम्बन्धे शेषलक्षणा ता। गुणार्थः—बलाकायाः शौक्ल्यम्। काकस्य कार्ष्ण्यम्। कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम्। गुणगुणिसम्बन्धे ता। "एङि पररूपम्" [४।३।८१] इत्यत्र परस्य रूप पररूपमिति वृत्तिपद ज्ञापक यो गुणद्वारेण पूर्वं द्रव्ये वृत्तो भवत्यन्ते गुणमाह तेन गुणशब्देनेह प्रतिषेधः। यस्तु सर्वदा गुणवचनस्तेन वृत्तिर्भवत्येव। हस्तिरूपम्। कपित्थरसः। चन्दनगन्धः। अग्निस्पर्श। गुणशब्देनेह लोकप्रसिद्धा रूपरसगन्धस्पर्शा गुणा अभिप्रेताः। ततस्तद्विशेष्यैरयं प्रतिषेधः, तेन यत्नगौरव सूत्रलाघव वरणपाटव वचनप्रामाण्यं गोविंशतिरित्येवमादिषु न प्रतिषेधः। वृषलस्य धाष्टर्यमित्यत्र इष्टेरनभिधानम्। तृप्तार्थ—फलाना तृप्तः। सक्तूना पूर्ण.। फलाना सुहितः। सक्तूना प्रीतः। "तृप्त्यर्थे तूपसख्यानम्" [वा०] इति ता। सदिति शतृशानयोः सज्ञा। चोरस्य द्विषन। "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८]

कुमारी प्रव्रजिता कुमारप्रव्रजिता । कुमारश्च स अध्यापकश्च स कुमाराध्यापकः । कुमारी अध्यापिका कुमाराध्यापिका । श्रमणा प्रव्रजिता कुलटा गर्भिणी तापसी बन्धकी दासी एते स्त्रीलिङ्गाः । अध्यापक अभिरूपक पटु मृदु पण्डित कुशल चपल निपुण ।

मयूरव्यंसकादयश्च ॥१।३।६६॥ मयूरव्यंसकादयश्च शब्दा गणपाठादेव निपातिताः षसंज्ञा भवन्ति । विशिष्टावंसावस्य व्यंसः । इवार्थे कः । व्यंसको मयूरो मयूरव्यंसकः । छत्रव्यंसकः । काम्बोजमुण्डः । यवनमुण्डः । एतेषु परनिपातः प्रयोजनम् । **"एहीडादयोऽन्यपदार्थे ।"** एहीडमिति यत्र कर्मणि एहि यवैरिति एहीडम् । "हियवं वर्तते । एहिवाणिजेति यस्यां क्रियायां सा एहिवाणिजा । प्रेहिवाणिजा¹ । एहिस्वागता । अपेहिस्वागता । एहिद्वितीया । अपेहिद्वितीया । प्रोहकटमस्यां प्रोहकटा । प्रोहकर्दमा । उद्धमचूडा । आहरचेला । आहरवसना । आहरवितता । भिन्धिप्रलवणा । उद्धर उत्सृजेति यस्यां सा उद्धरोत्सृजा । उद्धमविधमा । उद्धरविसृजा । उत्पतनिपता । उत्पचनिपचा । आख्यातमाख्यातेन सिद्धेऽप्यसातत्यार्थं वचनम् । उदक्च अवाक्च उच्चावचम् । उच्चैश्च नीचैश्च उच्चनीचम् । आचितञ्चोपचितञ्च आचोपचम् । आचितपराचितस्य आचपराचम् । निश्चितप्रचितस्य निश्चप्रचम् । अकिञ्चनम् । स्नात्वाकालकः । पीत्वास्थिरकः । भुक्त्वासुहितः । प्रोष्यपापीयान् । उत्पत्यपाकला जाता । निपत्यरोहिणी जाता । निपद्यश्यामा² जाता । अपेहिप्रघसा वर्तते । इहपञ्चमी । इहद्वितीया । **' जहि कर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तारं चाभिदधाति ।''** जहि जोडमित्याह जहिजोडः । उज्जहिजोडः । जहिस्तम्बः । बहुलमिति किम् ? पचौदनम् । **"आख्यातमाख्यातेन सातत्ये ।"** अश्नीतपिबता वर्तते । पचतभृज्जता । खादतमोदता । खादाचामाः । आहरविवसा । आहरनिष्किरा । अविहितलक्षणं सन्निधानमिह द्रष्टव्यम् । तेन शाकप्रधानः पार्थिवः शाकपार्थिवः । कुतपसौश्रुतः । अजातौल्वलिः । घृतरौढीयाः । ओदनपाणिनीया इत्येवमादि सिद्धम् । चकारोऽवधारणार्थः । परमो मयूरव्यंसकः । वृत्त्यन्तरं न भवति ।

काला मेयैः ॥१।३।६७॥ कालवाचिनः शब्दा मेयैः परिच्छेद्यैः सह समस्यन्ते षसो भवति । मेयैरिति सम्बन्धात् काला मानवचना गृह्यन्ते । यद्यपि मुख्यं मानत्वं व्यवहारकालस्य मासादेर्न सम्भवति तथापि वचनात् परिच्छेदहेतुत्वमात्रं साधर्म्यमुपादायोपचारात् कालः परिमाणम् । मासादयो जातादेः सम्बन्धिनीमादित्यगतिं परिच्छिन्दन्तीति जातस्यापि परिच्छेदहेतव उच्यन्ते । एकाश्रय इति निवृत्तम् । मासो जातस्य मासजातः । संवत्सरजातः । तासापवादोऽयम् । काला इति बहुवचननिर्देशः किमर्थः ? द्वे अहनी जातस्य द्व्यह्नजातः । त्रिपदोऽपि षसो यथा स्यात् । **"द्व्यर्थं समाहारे"** [१।३।४६] इत्यवयवषसे **"राजाहःसखिभ्यष्टः"** [४।२।६३] इति टः । **"एभ्योऽह्नोऽह्नः"** [४।२।६०] इति अह्नादेशः । यदा द्वयोरह्नोः समाहार इति विग्रहस्तदा **"न समाहारे"** [४।२।६१] इत्यह्नादेशप्रतिषेधः सिद्धः । द्व्यहो जातस्य द्व्यहजातः । त्र्यहजातः ।

नञ् ॥१।३।६८॥ नञ् सुपा सह समस्यते षसो भवति । अब्राह्मणः । अधर्मः । अगर्दभः । अगौः । नेयं पूर्वपदार्थप्रधाना वृत्तिरलिङ्गासंख्यत्वप्रसङ्गात् । किञ्च पूर्वपदप्रधानो हस उक्तः । अमक्षिकमिति । अन्यपदार्थप्राधान्ये तु अवर्षा हेमन्त इत्यत्र प्रादेशादि प्राप्नोति । अस्तूत्तरपदार्थप्रधानेयं वृत्तिः । यो वमगामानयेत्युक्तेऽगोमात्रस्यानयनं स्यात् । अथ स्वयमेव निवृत्तिपदार्थको गोशब्दः स नञा केवलं द्योत्यते । एवं सति न कस्यचिदानयनं स्यात् । नायं दोषः । द्वाविह गोशब्दौ प्रवृत्तपदार्थको निवृत्तपदार्थकश्च । सारूप्यात्तयोर्भेदापरिज्ञाने निवृत्तपदार्थकस्य द्योतनार्थं नञः प्रयोगः प्रतिषेधे सत्युत्तरपदार्थसदृशो वृत्त्यर्थो जातः । **"नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः"** [परि०] इति वचनात् । अन्यपदार्थं तु पश्चाद्वक्ष्यामि । अशालिको देशः । नकारो नञोऽनिन्यत्र विशेषणार्थः । वामनपुत्रादिष्वनादेशो मा भूत् ।

गुणोक्त्येषद् ॥१।३।६९॥ उच्यते इत्युक्तिः शब्दः । गुणशब्देन सह ईषच्छब्दः समस्यते षसो भवति । ईषत्कडारः । ईषत्पिङ्गलः । ईषद्विकटः । ईषदुन्नतः । ईषद्रक्तः । ईषत्पीतः । द्रव्यगतिः ...

---

१. वाणिजा । अपेहिवाणिजा । एहिस्वा-अ०, ब०, स० । २. निपण्णश्यामा मु० ।

जनम् । गुणोक्त्येति किम् ? ईषत्कारकः । ईषद्गार्ग्यः । जात्येकार्थसमवायिक्रियागुणापेक्षया जातेरपि वृद्धिहासौ ।

ता ॥१।३।७०॥ तान्त सुबन्तेन सह षसो भवति । मोक्षमार्गः । स्वर्गसुखम् । राजपुरुषः ।

कृति ॥१।३।७१॥ कृत्प्रयोगे या ता तदन्त सुपा सह षसो भवति । "न प्रतिपदम्" [१।३।७३] इति प्रतिषेध वक्ष्यति । तस्याय पुरस्तान्निरासः । इध्मना व्रश्चनः इध्मव्रश्चनः । पलाशसातनः । अविल-वन. । श्मश्रुकर्त्तन. । करणे युट् । "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति ता ।

याजकादिभिः ॥१।३।७२॥ याजकादिभिश्च सह तान्त समस्यते षसो भवति । पूर्वेण प्राप्तः तृज-काभ्या कर्त्तरीति प्रतिषिद्ध' पुनरनेन पसः । देवाना याजको देवयाजकः । साधूना पूजकः साधुपूजकः । याजक पूजक परिचारक परिवेषक स्नापक अध्यापक उद्वर्त्तक उत्सादक होतृ भर्तृ रथगणक पत्तिगणक ।

न प्रतिपदम् ॥१।३।७३॥ प्रतिपद विहिता या ता तदन्त न समस्यते । शेषलक्षणा ता मुक्त्वा सर्वाऽन्या ता प्रतिपदविधाना । सर्पिषो ज्ञानम् । पयसो ज्ञानम् । "ज्ञो स्वार्थे करणे" [१।४।५८] इति ता । इहापि धर्मानुस्मरणम् । धर्मचिन्तनमिति । "स्मर्थदयेशां कर्मणि" [१।४।५९] इत्यनेन शेषलक्षणा तानू-द्यते । वनस्वामी । वनेश्वरो विद्यादायाद इत्येवमादिषु "स्वामीश्वर०" [१।४।४७] आदि सूत्रे चकारेण शेषलक्षणा ता समुच्चीयते ।

निर्धारणे ॥१।३।७४॥ निर्धारणे या ता तदन्त न समस्यते । जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य निष्कृष्य धारण पृथक्करण निर्धारणम् । क्षत्रियो मनुष्याणा शूरतमः । श्यामा नारीणा दर्शनीयतमा । कृष्णा गवा सम्पन्नक्षीरतमा । धावन्तोऽध्वगाना क्षिप्रतमाः । क्षत्रियादिशब्देन सह वृत्तिर्न भवति । "यतश्च निर्धा-रणम्" [१।४।४१] इति चकारेण शेषलक्षणायास्तायाः समुच्चयः । प्रतिपदविधानत्वे हि पूर्वेणैव सिद्धः प्रति-षेध इतीदमनर्थक स्यात् । इह पुरुषेश्वर इति शेषलक्षणा ता विवक्षिता न निर्धारणलक्षणा ।

डड् गुणतृप्तार्थसत्तव्यैकद्रव्यैः ॥१।३।७५॥ डदन्त गुणार्थं तृप्तार्थ सत्संज्ञ तव्य एकद्रव्य इत्येतैः सह तान्त न समस्यते । तस्य पूरणे डडित्यतः प्रभृति तमट्टकारेण डडिति प्रत्याहारः । चक्रधराणा पञ्चमः । तीर्थङ्कराणा षोडश. । बलदेवाना नवमः । समुदायसमुदितसम्बन्धे शेषलक्षणा ता । गुणार्थः—बलाकायाः शौक्ल्यम् । काकस्य कार्ष्ण्यम् । कण्टकस्य तैक्ष्ण्यम् । गुणगुणिसम्बन्धे ता । "एङि पररूपम्" [४।३।८१] इत्यत्र परस्य रूप पररूपमिति वृत्तिपद ज्ञापक यो गुणद्वारेण पूर्व द्रव्ये वृत्तो भवत्यन्ते गुणमाह तेन गुण-शब्देनेह प्रतिषेध. । यस्तु सर्वदा गुणवचनस्तेन वृत्तिर्भवत्येव । हस्तिरूपम् । कपित्थरसः । चन्दनगन्धः । अग्नि-स्पर्श. । गुणशब्देनेह लोकप्रसिद्धा रूपरसगन्धस्पर्शा गुणा अभिप्रेताः । ततस्तद्विशेष्यैरयं प्रतिषेधः, तेन यत्न-गौरव लाघव वस्त्रपाटव वचनप्रामाण्य गोविंशतिरित्येवमादिषु न प्रतिषेधः । वृषलस्य धाष्टर्यमित्यत्र इक्षुरसनिपानम् । तृप्तार्थ —फलाना तृप्त । सक्तूना पूर्ण. । फलाना सुहितः । सक्तूना प्रीतः । "तृप्त्यर्थे तृप-करणानाम्" [वा०] इति ता । सदिति शतृशानचौ. तत्र । चोरस्य द्विषन् । "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति कर्तरि ता प्राप्ता "न निष्ठा०" [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धः । "द्विषः शतुर्वा वचनम्" [वा०]

त्पलस्येति । गुणगुणिसम्बन्धे सविधिर्भवति । एकद्रव्येण गुणगुणिविवक्षा नास्तीति विशेषणवृत्तिरपि न भवति । भिन्ना प्रतिषेधो वक्तव्यः । देवदत्तस्य साक्षात् । देवदत्तस्योपरि ।

कर्मणि च ॥१।३।७६॥ चकारोऽवधारणार्थः । कर्मण्येव या ता विहिता तदन्तं सो न भवति । आश्चर्यो गवा दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन । साधु खलु पयसः पानं जिनदत्तेन । "युट्" [२।३।६७] इति नभावे युट् । "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इत्युभयत्र ताया प्राप्ताया "द्विप्राप्तौ परे" [१।४।६६] इति कर्मण्येव भवति । कर्तरि तु भा । कर्मण्येवेति किम् ? इध्मव्रश्चनः ।

कर्तरि क्तेन ॥१।३।७७॥ कर्तरीति ताया विशेषणम् । कर्तरि या ता विहिता तदन्तं क्तान्तेन सो न भवति । असिन्नास्यते स इदमेषामासितम् । इदमेषां यातम् । इदमेषां भुक्तम् । तयोरेव भावकर्मणोः क्ते प्राप्ते "ध्रिगत्यर्थाच्च" [२।४।५८] "अधिकरणे चाद्यर्थाच्च" [२।४।५६] इति अधिकरणे क्तः । अधिकरणस्योक्तत्वात् । इदमित्येतस्मादीम्नास्ति "मिडैकार्थे वा" [१।४।५४] इति वैव भवति । "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति ता प्राप्ता "न क्तिवलोक" [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा "क्तस्याधिकरणे" [१।४।७०] इत्यनेन एषामिति कर्त्तरि ता । एवं राज्ञां मतः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां पूजितः "मतिबुद्धिपूजार्थाच्च" [२।२।१६६] इत्यनेन वर्तमाने काले क्तो नियम्यते । स चेह कर्मणि कारके विहितः "कर्तृकर्मणो कृति" [१।४।६८] इति कर्तरि ता प्राप्ता "नक्तित०" [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा भवतीत्यनेन सूत्रेण प्रत्यवस्थाप्यते । अथ यदा सकर्मकेभ्योऽधिकरणे क्तस्तदा कर्तृकर्मणोरनुक्तत्वात् "क्तस्याधिकरणे" [१।४।७०] इत्यनेन या ता कर्तरि तस्याः प्रतिषेधः सिद्धः कर्मणि या ता तस्याः कथं वृत्तिप्रतिषेधः । इदमोदनस्य भुक्तमिति । नैष दोषः । कर्मणि चेति वर्तते तेनेह कर्त्तरि कर्मणि च ता क्तान्तेन न समस्यते । इह शेषलक्षणा ता । छात्रहसितम् ।

तृजकाभ्यां योगे ॥१।३।७८॥ कर्तरि या ता तदन्तेन सो न भवति । तृचैव कर्तुरुक्तत्वात् । तद्योगे कर्तरि ता नास्ति । तृज्ग्रहणमुत्तरार्थम् । भवत आसिका । भवतः शायिका । भवतोऽग्रेगामिका । "पर्यायार्हर्णोत्पत्तौ वुण्" [२।३।६२] इति भावे स्त्रीलिङ्गे वुण् । "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति कर्तरि ता । कर्तरीत्येव । इक्षुभक्षिका मे धारयसि । पूर्ववद्वुण् । अत्रेक्षुशब्दात् कर्मणि ता "कृति" [१।३।७१] इति ता सः । म इति सम्प्रदानमेतत् ।

कर्तरि ॥१।३।७९॥ कर्तरि यो तृजकौ ताभ्यां सह तान्त न सो भवति । अपां स्रष्टा । पुरां भेत्ता । वज्रस्य भर्ता । याजकादिषु पतिपर्यायो भर्तृशब्दः । यवानां लावकः । सक्तूनां पायकः । कर्तरीति शक्यमकर्तुं तृचोऽकस्य च कर्तरि विधानात् । नन्वकस्य भावेऽपि विधानमस्ति । सत्यम् । तद्योगे कर्तरि विहितायास्तायाः पूर्वेण वृत्त्यभावः सिद्धः सामर्थ्यादिह कर्तरि विहितस्याकस्य ग्रहणम् । तदेतत्कर्तृग्रहणं ज्ञापकं पूर्वप्रतिषेधो नित्यः अयमनित्यस्तेन तीर्थकर्तारमर्हन्तमित्येवमादि सिद्धम् । तृनन्तेन वा "साधनं कृता" [१।३।२१] इति सः ।

क्रीडाजीविकयोर्नित्यम् ॥१।३।८०॥ नेति निवृत्तम् । तृचः क्रीडाजीविकयोरसम्भवान्नानुवृत्तिः । क्रीडायां जीविकायाञ्च तान्तमकेन सह नित्यं षसो भवति । क्रीडायाम्—उद्दालकपुष्पभञ्जिका । भावे खुविषये वुण् । "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति कर्मणि ता । जीविकायाम्—दन्तलेखकः । नखलेखकः । अवस्करसूदकः । क्रीडायां कृतीति विकल्पः प्राप्तः । जीविकायां कर्तरीति प्रतिषेधः प्राप्तः । क्रीडायां आरम्भादेव नित्यं सिद्धं नित्यग्रहणं जीविकार्थमुत्तरार्थञ्च ।

तिकुप्रादयः ॥१।३।८१॥ तिसंज्ञाः कुशब्दः प्रादयश्च समर्थेन नित्यं षसो भवति । ऊरीकृत्य । ऊरीकृतम् । पटपटाकृत्य । प्रादिसाहचर्यात् कुशब्दो भिसंज्ञो गृह्यते । कुत्सितो ब्राह्मणः कुब्राह्मणः । ईषन्मधुरं कामं

कारात् । ननु भेऽत्र स विशेषणं विशेष्येणेतिशब्दस्य क्वचिदन्यत्रापि विवक्षितत्वात् समासार्थं चेनत्रे-तिशब्दयत्नेन सः । विशेषणवृत्तिस्तु न गुणगुणिवद्भावे विशेषणवृत्तेरप्यनर्थकत्वात् ।"

धुरम्। "क्रियायोगे गि ति" [१।२।१२०-१२१] इति प्रादयोऽपि क्रियायोगे तिसंज्ञा अक्रियायोगार्थं प्रादिग्रहणम्। स्वती पूजार्थकम्। शोभनः पुरुषः सुपुरुषः। अतिपुरुषः। अतिशयेन स्तुतं सुस्तुतम्। अतिक्रमेण स्तुतमतिस्तुतम्। दुः पापाद्यर्थे। पापः पुरुषो दुष्पुरुषः। कृच्छ्रेण कृतं दुष्कृतम्। आङीषदाद्यर्थे। ईषत्कडार आकडारः। क्रियायोगे आबद्धमाभरणम्। प्रादय एवमात्मका यत्र क्रियापदं प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः। यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधना क्रियामाहुरिति। "प्रादयो गताद्यर्थे च वया" [वा०] प्रगत आचार्यः प्राचार्यः। वृत्तिविषये प्रशब्दो गतशब्दस्यार्थ ससाधनमभिधत्ते। एवं प्रवृद्धो गुरुः प्रगुरुः। प्रपितामहः। सङ्गतार्थः समर्थः। "अत्यादय क्रान्ताद्यर्थे इपा" [वा०] अतिक्रान्तः खट्वामतिखट्वः। उत्क्रान्तो वेलामुद्वेलः। "अवादय. क्रुष्टाद्यर्थे भया" [वा०] अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः। परिणद्धो वीरुद्भिः परिवीरुत्। "पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे ङपा"[वा०] परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः। उद्युक्तः सग्रामाय उत्सग्रामः। पर्यादिराकृतिगण इत्येके। अल कुमारिः। "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे कया" [वा०] निःक्रान्तः कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः। अपगतः शाखाया अपशाखः। लक्षणादिष्वर्थेष्वनभिधानादवृत्तिः। वृक्ष प्रति विद्योतते।

वागमिङ् ॥१।३।८२॥ वाक्संज्ञममिङन्तं समर्थेन नित्य षसो भवति। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः। शरलाव.। अमिङिति किम्? एधानाहारको व्रजति। "वुण्तुमौ क्रियायां तदर्थायाम्" [२।३।८] इति वुण्। अमिङिति प्रतिषेधवचन ज्ञापकमनयोर्योगयोः "सुप्सुपा"[१।३।२] इति नाभिसंबध्यते। एवञ्च सत्येतल्लब्धम् "तिवाकारकाणां प्राक् सुबुत्पत्तेः कृद्भिः सविधि." [परि०] इति। इह माषवापिणी। व्रीहिवापिणी स्त्री। कृदन्तेन वृत्तौ "मृदन्तनुमविभक्त्याम्" [२।४।९५] इति णत्व सिद्धम्। अन्यथा सुबुत्पत्तिः स्त्रीत्येन बाध्येत। अश्वक्रीती च प्रयोजनम्। यदि सुबुत्पत्ते. प्राक् तिवाकारकाणां कृता वृत्तिः। अदःकृत्य तमोपहः राजश्रित इत्यत्र पूर्वस्य पदकार्य न स्यात्। "कायाः स्तोकादे:" [४।३।१२१] इत्येवमादि अनुब्विधानं चानर्थकं क्वचिदेव टीविधिणत्वादिविषये ज्ञापकात् सिद्धिः।

भिनाऽमैव ॥१।३।८३॥ पूर्वेण सिद्धे नियमोऽयम्। भिसंज्ञकेनामन्तेनैव वागमिङ् षसो भवति। स्वादुङ्कार भुङ्क्ते। लवणङ्कारं भुङ्क्ते। स्वाद्वर्थेषु वाक्षु "स्वादुमि णम्" [२।४।१२] इति णम् भवति। स्वादुमीति निर्देशात्त्यसन्नियोगे मान्तता निपात्यते। अमैवेति किम्? कालो भोक्तुम्। समयो भोक्तुम्। "कालसमयवेलासु तुम्वा" [२।३।१४३] इति तुम्। आरम्भादेव नियमः सिद्धः। भिनैवेति विपरीतावधारणे व्यावर्त्य नास्तीत्येवकारः किमर्थः? अमैव यत् सह निर्दिष्ट वाक्सज्ञ तस्य वृत्तिर्यथा स्यात्। अमा चान्येन च यत् सह निर्दिष्ट तस्य मा भूत्। अग्रे भोज गच्छति। अग्रेभुक्त्वा। प्रथमम्भोजम्। पूर्वं भोजम्। "वाग्रे प्रथमपूर्वे" [२।४।१०] इति क्त्वाणमौ विहितौ। भिनेति विस्पष्टार्थम्। व्यावर्त्याभावात्।

वा भादि ॥१।३।८४॥ "उपदंशो भायाम्" [२।४।३३] इत्यतः प्रभृति वाक्सज्ञ भादीत्युच्यते। भादीनि वाक्संज्ञानि अमा सह वा समस्यन्ते षसो भवति। मूलकोपदंशं भुङ्क्ते। "उपदंशो भायाम्" [२।४।३३] इति णम्। पार्श्वोपपीडम्। पार्श्वेनोपपीडं पार्श्वे उपपीड शेते। "ईपि चोपपीडरुधकर्षः" [२।४।३५] इति णम्। अमन्तेनेत्येव। पर्याप्तो भोक्तुम्। प्रभुर्भोक्तुम्। "पर्याप्तिवचने अलमर्थे" [२।४।४१] इति तुम्। एवकारो नानुवर्तते तेन भादिषु यदमा सह निर्दिष्ट वाक्सज्ञ यदमा चान्येन च सह निर्दिष्टं तदपि समस्यते। उच्चैःकारमाचष्टे उच्चैःकार "क्वावनिष्टोक्तौ कृञः क्वाणमौ" [२।४।४४] इति णम्।

क्त्वा ॥१।३।८५॥ क्त्वान्तेन सह वा भादि समस्यते षसो भवति। उच्चैःकृत्याचष्टे। उच्चैः कृत्वा। भादीत्येव। प्रदेशान्तरपाठो वृत्तिर्न भवति। अल कृत्वा। अग्रे भुक्त्वा।

अर्थग्रहणं किमर्थम् ? यावता शब्दे कार्यस्यासम्भवादर्थे कार्यं विज्ञास्यते। अन्यपदार्थस्य ये लिङ्गसङ्ख्ये ते यथा स्यातामित्येवमर्थम्। बहुयवं कुलम्। बहुयवा भूमिः। बहुयवौ। बहुयवाः। वाविभक्त्यन्ते अन्यपदार्थे वृत्तिर्न भवत्यनभिधानात्। अनेकग्रहणं बहूनामपि प्रापणार्थम्। सामानाधिकरण्याभावेऽपि बसो भवति। कण्ठेकालः। उरसिलोमा। उच्चैर्मुखो देवदत्तः। अस्तिक्षीरा गौः। भ्रौनामसङ्ख्यत्वादसामानाधिकरण्यम्। इहाभिधानाभावान्न भवति। पञ्चभिर्भुक्तमस्य। सामानाधिकरण्येऽप्यनभिधानम्। पञ्च भुक्तवन्तोऽस्य। नपा निर्देशः किमर्थः ? उन्मत्तगङ्गम्। लोहितगङ्गम्। "खावन्यपदार्थे" [१।३।१८] इति हस एव भवति। इह वीरपुरुषको ग्राम इति परत्वाद्बसः पसस्य बाधकः। शस्त्रीश्यामा देवदत्तेत्येवमादिषु "यश्चैकाश्रये" [१।३।४४] इति प्रकृतमस्ति तेन बसस्य बाधः। "प्रादयो गताद्यर्थे बया" [वा०] इत्येवमादि वार्त्तिकवचनं प्रमाणम्। तेन निष्कौशाम्बिरित्येवमादिषु बसो न भवति। "ईबुपमानपूर्वस्य द्युखं वक्तव्यम्" [वा०] उदरे स्थितो मणिरस्य उदरेमणिः। "पे कृति बहुलम्" [४।३।१३२] इति ईपोऽनुप्। उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्रमुखः। उपमानावयवत्वादुष्ट्रोऽप्युपमानम्। इह केशचूडः सुवर्णालङ्कारो देवदत्तः इति केशसम्भारे केशशब्दः। सुवर्णविकारे सुवर्णशब्दो वर्तते। सङ्गतार्थः समर्थ इति निर्देशादेवजातीयस्य वा लुग् द्रष्टव्यम्। प्रपतितपर्णः प्रपर्णः। अविद्यमानभार्यः अभार्यः।

संख्येये संख्यया भ्यासन्नादूरसंख्यम् ॥१।३।८७॥ सङ्ख्येये या सङ्ख्या वर्तते तया भि आसन्न अदूर इत्येतानि सङ्ख्या च बसो भवति। अनन्यार्थार्थं वान्तेऽप्यन्यपदार्थे प्रापणार्थञ्च। समीपे दशानामिमे उपदशाः। उपविंशाः। समीपप्राधान्ये तु हसः। आसन्ना दशानामिमे आसन्नदशाः। आसन्नविंशाः। अदूरदशाः। अदूरचत्वारिंशाः। द्वौ वा त्रयो वा इमे द्वित्राः। त्रयो वा चत्वारो वा इमे त्रिचतुराः। "नन्वृविसूपत्रिभ्यश्चतुरः" [४।२।७९] इति अस्त्यो निपात्यते। त्रिर्दश इमे त्रिदशाः। वृत्त्यैवाभ्यावृत्तेरुक्तत्वात् सुचोऽप्रयोगः। सङ्ख्यासञ्ज्ञाविधानेऽधिकशब्दस्यापि सङ्ख्यात्वमुक्तम्। अधिका दशानामिमेऽधिकदशाः। सङ्ख्येय इति किम् ? अधिका विंशतिर्गवाम्। संख्ययेति किम् ? पञ्च पदार्थाः। भ्यासन्नादूरसङ्ख्यमिति किम् ? पार्थिवाः पञ्च।

दिशोऽन्तराले ॥१।३।८८॥ दिक्छब्दाः सुबन्ता अन्तरालवचने बसञ्ज्ञकः सो भवति। अन्तराल एव यथा स्यादिति नियमार्थ आरम्भः। दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं दक्षिणपूर्वा। "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुंवद्भावः" [वा०] इति पुंवद्भावः। उत्तरपदस्य "स्त्रीगोर्नीचः" [१।१।८] इति प्रादेशः। अन्तरालदिशः स्त्रीत्वात् पुनष्टाप्। अनेकमित्यनुवर्त्तनात् न्यक्सञ्ज्ञाया द्वयोः पर्यायेण पूर्वनिपातः। एवं दक्षिणपरा। उत्तरपरा। उत्तरपूर्वा। प्रसिद्धानां दिक्छब्दानां ग्रहणादिह न भवति। वारुण्याश्च कौबेर्याश्च दिशोरन्तरालम्।

तत्रेदमिति सरूपे ॥१।३।८९॥ तत्रेति ईबन्ते द्वे सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे बसो भवति। इतिकरणात् ग्रहणविशिष्टे युद्धे विवक्षा। केशेषु केशेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तं केशाकेशि। कचाकचि। "ज इच्" [४।२।२८] इति इच् सान्तः इजिति तिष्ठद्ग्वादौ हसंज्ञार्थं पठ्यते। "अन्यस्यापि" [४।३।२३०] इति पूर्वपदस्य दीत्वम्। अत्र सापेक्षत्वात् पूर्वेण वृत्तिर्न प्राप्नोति। सरूपे इति किम् ? केशेषु च कचेषु च गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तम्।

तेन ॥१।३।९०॥ इदमिति सरूपे इति वर्तते। तेनेति भान्ते सरूपे इदमित्येतस्मिन्नर्थे बसो भवति। इतिकरणानुवृत्तेर्यत्तेनेति निर्दिष्टं प्रहरणं चेत्तद्भवति। दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तं दण्डादण्डि। मुसलामुसलि। सरूपे इत्येव। दण्डैश्च कमण्डलुभिश्च प्रहृत्येदं युद्धं वृत्तम्। योगविभाग उत्तरार्थः।

सहेति तुल्ययोगे ॥१।३।९१॥ तुल्ययोगः समानक्रियादियोगः। तेनेति वर्तते। सह इत्येतत् सुबन्तं तुल्ययोगे वर्तमानं तेनेति भान्तेन सह समस्यते बसो भवति। सह छात्रेण सच्छात्र आगतः। सपुत्रः।

सपुत्रः। "वा नीचः" [४।३।१९०] इति सहशब्दस्य सादेशः। तुल्ययोग इति किम्? प्रत्यह सह शावेन भार वहति रासभी। विद्यमानताऽत्र सहार्थः। आद्येनैव सिद्धे हसनिवृत्त्यर्थं कप्रभावार्थञ्च वचनम्। इति-शब्दो योगविभागार्थः। तेनातुल्ययोगेऽपि क्वचिद्धसः का च। तेन सकर्मकाच्चरेर्दो भवति। सपक्षको वादी ब्रूत इत्यादि सिद्धम्। अत्र हि चरेरेव देन योगो न कर्मणः। तथा वादिन एव च तेन योगो न पक्षस्य।

चार्थे द्वन्द्वः ॥१।३।९२॥ चकृतोऽर्थश्चार्थः। तस्मिन् वर्तमानमनेकं सुबन्त द्वन्द्वसञ्ज्ञः सो भवति। चत्वारश्चार्थाः। समुच्चयोऽन्वाचय इतरेतरयोगः समाहारश्चेति। तत्रानियतक्रमयौगपद्याना द्वयादिवस्तूनामेक त्राध्यारोपः समुच्चयः। यथा "गामश्व पुरुषं पशुमहरहर्नयमानो वैवश्वतो न तृप्यति, सुरया इव दुर्मदी।" गुणप्रधानभावमात्रविशिष्टः समुच्चय एवान्वाचयः। यथा भिक्षामट गा चानयेति। इतरेतरयोगसमाहारावपि समुच्चयस्य भेदौ। परस्पर सापेक्षाणामवयवभेदानुगत इतरेतरयोगः। अनपेक्षिता अवयवभेदाः सहतिप्रधानाः समाहाराः। आद्ययोश्चमन्तरेणापि क्वचित् प्रयोगात्। असामर्थ्याच्च नास्ति सविधिः। इतरेतरयोगे। प्लक्ष-न्यग्रोधौ छाया कुरुतः। समाहारे प्लक्षन्यग्रोधं सिध्यति। वाक्त्वचम्। वाग्दृषदम्। छत्रोपानहम्। इह द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशद्गणितेत्येवमादिषु समाहारेऽपि लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति नपुंसकत्वाभावः। द्वन्द्व-प्रदेशः "द्वन्द्वाच्चुदहषो टार्थे" [४।२।१०८] इत्येवमादयः।

वोक्तं न्यक् ॥१।३।९३॥ सत्लक्षणसूत्रेषु वानिर्दिष्ट न्यक्सञ्ज्ञ भवति। तस्य प्रयोजन पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपातः। अधिस्त्रि। अधिकुमारि। भ्रीति वोक्तम्। कष्टश्रितः। इबिति वोक्तम्। शङ्कुलाखण्डः। भेति वोक्तम्। एव सर्वत्र बोद्धव्यम्। वसेऽनेक सुबन्त तस्य पूर्वनिपातनियममुत्तरत्र वक्ष्यति। इह राज्ञः पुरुष क्षित इति यत् प्रति यदप्रधान तत् प्रति तन्न्यक्सञ्ज्ञं भवति। कथमय विभागो लभ्यते। न्यगितीय-मन्वर्थसञ्ज्ञा। नीचैरञ्चतीति न्यगप्रधानमित्यर्थः।

एकविभक्ति ॥१।३।९४॥ विभक्तिशब्दः पूर्वाचार्यैष्टो निर्दिष्टः एका विभक्तिर्यस्य तन्न्यक्सञ्ज्ञ भवति। निष्कौशाम्बिः। निर्मधुरः। "परम्" [१।३।९५] इत्यनेन परनिपातार्थमेतत्। प्रादेशस्तु "स्त्रीगो-र्नीच." [१।१।९] इत्यत्र अन्वर्थस्य नीचः समाश्रयणात् सिद्धः।

परम् ॥१।३।९५॥ एकविभक्ति न्यक्सञ्ज परं प्रयोक्तव्यम्। पूर्वमित्यनेन पूर्वनिपाते प्राप्तेऽपवादः। इह धर्म श्रित.। धर्मं श्रितेन धर्मश्रिताय इत्येवमादिषु "वोक्तम्" [४।३।१९०] इत्यनेनैव न्यक्सञ्ज्ञा भव-त्यविवाशत्वाततस्तदाभयः पूर्वनिपातः।

राजदन्तादौ ॥१।३।९६॥ राजदन्तादिषु न्यक् परं प्रयोक्तव्यम्। उत्तरसूत्रैः प्राप्तस्य पूर्वनिपातस्या-पवादोऽयम्। दन्ताना राजा राजदन्तः। वनस्याग्रे अग्रेवणम्। गणपाठादनुप्। लिप्तवासित नग्नमुषितम् सिक्तसंमृष्ट सिक्तसमृष्ट भृष्टलुञ्चितम् अर्पितोप्तम् उत्सगाढमेतेषु पूर्वकालस्य परनिपातः। उलूखलमुसल तण्डुलकिण्वम्। आरग्वायनिबन्धकी। चित्ररथबाह्लीकम्। अवन्त्यश्मकम्। शूद्रार्यम्। स्नातकराजानौ। विष्वक्सेनार्जुनौ। अक्षिभ्रुवम्। दारगवम्। शब्दार्थौ। धर्मार्थौ। कामार्थौ। अत्तु व्यत्ययोऽपि। सर्वशब्दौ। अर्थधर्मौ। अर्थकामौ। वैयाकरणमतम्। भोजवाजौ। गोपालधानीपूलासम्। पूलास-ककरण्डम्। उशीरबीजम्। सिञ्जास्थम्। शिलाक्षी। चित्रास्वाती। भार्यापती। जायापती। जम्पती। दम्पती। जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च निपात्यते। पुत्रपती। पुत्रपशू। केशश्मश्रुः। शिरोबिन्दु। सर्पिर्मधुनी। मधुसर्पिषी। आद्यन्तौ। अन्तादी। गुणवृद्धी। वृद्धिगुणौ।

पूर्वम् ॥१।३।९७॥ न्यगिति वर्तते। न्यक्सञ्ज पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। वाक्यवद् वृत्तावनियमो मा भूदि-त्यारम्भः। उदाहरणानि। ... पुरुषस्येति तत्र कस्य न्यक्त्व न्यगित्यन्वर्थसञ्ज्ञा-श्रयणादप्रधानस्य।

---

१. सर्वत्रहस्त ब०, स०।

द्वन्द्वे सुः ॥१।३।९८॥ द्वन्द्वे से स्वन्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। मुनिगुप्तौ। पट्टगुप्तौ। अनेकप्राप्तावनियमेन मुनिपट्टगुप्ताः। पट्टमुनिगुप्ताः। पट्टगुप्तमुनयः। न्यगित्यन्वर्थसंज्ञा। द्वन्द्वे च न कस्यचिदप्राधान्यमित्यप्राप्ते पूर्वनिपात इदं सूत्रम्।

अजाद्यत् ॥१।३।९९॥ अजादि अदन्तं शब्दरूपं द्वन्द्वे से पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। इन्द्रचन्द्रौ। उष्ट्रखरम्। उष्ट्रशशम्। इह इन्द्राग्नी। इन्द्रवायू इति सुलक्षणात् परत्वादनेन पूर्वनिपातः। उभयत्र वायोः प्रतिषेध इति आनङ् न भवति। बहुष्वनियमेन इभरथाश्वम्। अश्वरथेभम्। तपरकरणं किम्? वृक्षाश्वे। अश्वावृक्षौ।

अल्पाच्तरम् ॥१।३।१००॥ अल्पाच्तरं शब्दरूपं द्वन्द्वे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। धवखदिरौ। धवाश्वकर्णम्। "बहुष्वनियमः" [वा०]। वीणादुन्दुभिशङ्खाः। शङ्खदुन्दुभिवीणाः। "ऋतुनक्षत्राणां समानाक्षराणामानुपूर्व्येण वक्तव्यम्" [वा०]। शिशिरवसन्तौ। हेमन्तशिशिरवसन्ताः। अश्विनीभरण्यः। कृत्तिकारोहिण्यः। समानाक्षराणामिति किम्? ग्रीष्मवसन्तौ। "द्व्यक्षरस्य पूर्वनिपातो वक्तव्यः" [वा०]। कुशकाशम्। तृणकाष्ठम्। "वर्णानामानुपूर्व्येण" [वा०]। ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः। "भ्रातुश्च ज्यायसः" [वा०] युधिष्ठिरार्जुनौ। "संख्याया अल्पीयसो वाच्यिकायाः" [वा०] द्वित्राः। एकादश। नवतिशतम्। "अभ्यर्हितस्य च" [वा०]। मातापितरौ। श्रद्धामेधे। दीक्षातपसी।

ईब्विशेषणे बे ॥१।३।१०१॥ ईबन्तं विशेषणं च बसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। बसे अनेकं सुबन्तं न्यक्संज्ञमित्यनियमे प्राप्तेऽयमारम्भः। कण्ठेकालः। उरसिलोमा। उदरेमणिः। वहेगडुः। "अकामेऽमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गम्" [४।३।१३१] इत्यनुप्। चित्रगुः। लम्बकर्णः। "सर्वनामसंख्ययोः पूर्वनिपातो वक्तव्यः" [वा०]। सर्वं श्वेतमस्य सर्वश्वेतः। सर्वगौरः। द्विशुक्लः। द्विकृष्णः। सर्वनामसंख्ययोः परस्पर वृत्तिः। वाक्ये संख्यायाः परत्वात् पूर्वनिपातः। द्व्यन्यः। त्र्यन्यः। "वा प्रियस्य" [वा०]। प्रियदधिः। दधिप्रियः। कथं गडुकण्ठः। गडुशिराः। आहिताग्न्यादिषु द्रष्टव्यः।

तः ॥१।३।१०२॥ तान्तं बसे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। कृतकटः। भिक्षितभिक्षः। अवमुक्तोपानत्कः। तान्तस्य विशेषणत्वेनाविवक्षितत्वात् पूर्वेण न सिध्यति। कथं क्वचिज्जातिकालसुखादिभ्यश्च तान्तस्य परप्रयोगः (जात.)। सारङ्गजग्धी। पलाण्डुभक्षिती। कालात्—मासजाता। संवत्सरजाता। सुखादिभ्यश्च—सुखं जातं यस्याः सुखजाता। दुःखजाता। वाऽऽहिताग्न्यादिषु व्यवस्थयेद भविष्यति। प्रहरणार्थेभ्यः परे वेपौ वक्तव्ये। उद्यतोऽसिरनेन अस्युद्यतः। मुसलोद्यतः। असिः पाणावस्य असिपाणिः। दण्डपाणिः। कथमुद्यतगदः। उद्यतासिः। इदमपि वेति सिंहावलोकनात्।

वाऽऽहिताग्न्यादौ ॥१।३।१०३॥ आहिताग्न्यादिषु बसे तान्तं वा पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। आहिताग्निः। अग्न्याहितः। एवं जातपुत्रः। जातदन्तः। जातश्मश्रुः। तैलपीतः। घृतपीतः। मद्यपीत.। ऊढभार्यः। अर्थंगतः। आकृतिगणोऽयम्। तेनेष्टयो न वक्तव्याः।

ये कडाराः ॥१।३।१०४॥ ये कडारादयो वा पूर्वं प्रयोक्तव्याः। कडारश्च स भद्रश्च स कडारभद्रः। भद्रकडारः। विशेषणस्य "वोक्तं न्यक्" [१।३।९३] पूर्वनिपातः प्राप्तो विभाष्यते। कडार गडुल कूट काण खञ्ज कुण्ट खोड खलति गौर वृद्ध भिक्षुक पिङ्गल तनु नट बधिर।

उत्तरपदं द्यु ॥१।३।१०५॥ से यदुत्तरपदं तद्द्युसंज्ञं भवति। पञ्चगवधनः। द्यौ परतः "द्वन्द्व (र्थे) द्यु समाहारे" [१।३।४६] इति पूर्वस्य स) संज्ञाया ट. सान्तः सिद्धः। एवं द्वे अरत्नी जातस्य द्व्यरत्निजातः। "काष्ठा मेये:" इति समुदायस्य पसंज्ञा द्यौ परत. पूर्वस्यापि पसंज्ञाया टः सान्त.।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

अनुक्ते ॥१।४।१॥ अनुक्त इत्ययमधिकारः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम अनुक्त इत्येव तद्वेदितव्यम्। स्वार्थद्रव्यलिङ्गानि ङिकौ मृदर्थ इति अस्मिन् दर्शने स्वार्थिकाष्टाबादयः सङ्ख्याकर्मादयो विभक्त्यर्थाः। एवं च "कर्मणीप्" [१।४।२] इत्येवमादीना "साधने स्वार्थे" [१।२।१२३] इत्येतस्य च गुणप्रधानभावेनैक्यता। स्वार्थैकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिष्वनुक्तेष्विबादयो भवन्ति। अथवा अनुक्तकर्माद्याश्रयेष्वेकत्वादिष्विबादयो भवन्ति। इह परिसङ्ख्यानमिति केचित्। मिङकृद्धृत्सैरनुक्ते कर्मादाविति। वक्ष्यति "कर्मणीप्" [१।४।२]। कटं करोति। ओदनं भुङ्क्ते। अनुक्ते इति किम्? क्रियते कटः। मिङोक्तं कर्म। कृतः कटः। कृतोक्तं कर्म। धादिको देवदत्तः। "श्राद्धं भुक्तं ठोऽनेन" [४।१।१८] इति ठः। हृतोक्तः कर्ता। शतेन क्रीतः। "शता-दस्वार्थेऽस्ते ठयौ" [३।४।१८] इति य.। हृतोक्तं करणमिति। कर्तरि करणे च भा न भवति। प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्राप्तोदको ग्रामः। सेन कर्मोक्तम्। मिङकृद्धृत्सैरिति परिसङ्ख्यानं किम्? कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम्। अत्र कटशब्दादुत्पद्यमानया इपा उक्ते कर्मणि भीष्मादिभ्य इम्न स्यात्। तदेतत्परिगणनमयुक्तम्। कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि न ह्यसौ कटमात्रे सन्तोषं करोतीत्यनेकं कर्म गृह्यते। समुदायस्य चामूर्त्त्वात् प्रत्य-वयवाद्विभक्त्युत्पत्तिः। इह आसने आस्ते शयने शेते इति अन्यो ह्यधिकरणप्रत्ययः सामान्येन युटाऽभिहितो अन्यश्च विशेषरूपेण विभक्त्योच्यते इति न दोषः।

कर्मणीप् ॥१।४।२॥ कर्मणि कारके अनुक्ते इब् विभक्तिर्भवति। कटं करोति। ग्रामं गच्छति। आदित्यं पश्यति। अविशेषेण ङ्याम्मृदः स्वादयो वक्ष्यन्ते। तन्नियमोऽयं कर्मादिष्वेव इबादयो भवन्ति। इबादयो नियताः। कर्मादयस्त्वनियताः। तेषु ताऽपि प्राप्नोति। तत इदमुच्यते "ता शेषे" [१।४।२७] इति शेषे ता भवति[1] नोक्ते कर्मादौ।

अन्तरान्तरेण योगे ॥१।४।३॥ प्रतिपदोक्तत्वादिहान्तरान्तरेणशब्दौ निसञौ ताभ्या योगे इब्विभ-क्तिर्भवति। अन्तरा गन्धमादनं माल्यवन्तञ्च कुरवः। कुरुविशेषणत्वेन ताया प्राप्तायामिब्विधीयते। कुरु-शब्दार्थे वर्तमानात् मृदर्थातिरेकाभावात् इम्न भवति। अन्तराशब्दो मध्यमाधेयप्रधानं ब्रूते। अन्तरेणशब्दः तद्विनार्थे च। अन्तरेण सौमनसं विद्युत्प्रभञ्च देवकुरवः। मोक्षमन्तरेण नात्यन्तिकं सुखम्। निसञ्ज-योर्ग्रहणादिह न भवति। अन्तरायां पुरि वसति। किं ते धात्रवाणां सालङ्कायनानां चान्तरेण गतेन। योग इति किम्? अन्तरा तक्षशिलाञ्च पाटलिपुत्रञ्च सुघ्नस्य प्राकारः। ननु पदविधिरयं अन्तराशब्दे सामर्थ्यात् सुघ्नान्तरादिह भविष्यति योगग्रहणमनर्थकम्। क्वचिदन्यैरपि योगे यथा स्यादित्येवमर्थम्। "अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेपूपसङ्ख्यानम्" [वा०] अभितो ग्रामम्। परितो ग्रामम्। समया ग्रामम्। निकषा ग्रामम्। हा देवदत्तम्। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्। "उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु। इतद्वित्वेष्विपा योगस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते" [वा०] उभयतो ग्रामम्। सर्वतो ग्रामम्। धिग्देवदत्तम्। उपर्यादिष्विति सूत्रोपलक्षणम्। सामीप्येऽधोऽध्युपरि ["उपर्यध्यधसः सामीप्ये"] [४।३।५] इति कृते द्वित्वे ग्रहणम्। अधोऽधो ग्रामम्। उपर्युपरि ग्रामम्। अध्यधि ग्रामम्। "अन्यत्रापि दृश्यते" [वा०] पिता धर्मं कुरु तुभ्यम्। अपि शब्दान च दृश्यते। हा तात हा पुत्र वत्सल।

कालाध्वनोर्व्याप्तौ [2] ॥१।४।४॥ अविच्छेदोऽत्यन्तसंयोगः। द्रव्यगुणक्रियाभिः कार्त्स्न्येन कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगः। कालाध्वनोरविच्छेदे वर्तमानयोः सञोरिब् भवति। अन्यत्वाश्रुतत्वात् कालाध्वना-विच्छेदेऽभिधानानां प्राप्तायां तदभिधानात् सम्बन्धलक्षणायां तायां प्राप्तायामयं विधिः। कालस्य द्रव्येण योगे—मासं गुडधानाः। संवत्सरं दीर्घेदनम्। गुणेन—मासं मधुरा रमणीया। मासं कल्याणी काञ्ची। क्रियया—मासमधीते। संवत्सरमधीते। अध्वनो द्रव्येण योगे—क्रोशं निम्ना। योजनं वनराजिः। गुणेन—

१ षष्ठ्यन्ते विवक्षार्दा नेष्यते। २.-ध्वात्यन्तसंयोगे मु०। ३.-द्विम्न भवति ब०, स०।

क्रोश कुटिला नदी। योजनं दीर्घः पर्वतः। क्रियया—क्रोशमधीते। योजनमधीते। अविच्छेद इति किम्? मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः।

सिद्धौ भा ॥१।४।५॥ अविच्छेद इति वर्तते। सिद्धिः क्रियाफलनिष्पत्तिः। अविच्छेदे यौ कालाध्वानौ तद्वाचिभ्या भा भवति सिद्धौ गम्यमानायाम्। मासेन प्राभृतमधीतम्। योजनेन प्राभृतमधीतम्। सिद्धाविति किम्? मासमधीत प्राभृत न चानेनावधारितम्। नात्र क्रियाफलनिष्पत्तिरस्ति पूर्वेण इवेव भवति।

क्रियामध्ये केपौ ॥१।४।६॥ कालाध्वनीति वर्तते। क्रिययोर्मध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्या केपो विभक्ती भवतः। अद्य भुक्त्वा मुनिद्व्यहाद्भोक्ता द्व्यहे भोक्ता। इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशाद् विध्यति क्रोशे विध्यति लक्ष्यम्। चापाच्छरस्य निर्गमन धानुष्कावस्थान वा एका क्रिया द्वितीया व्यधनक्रिया तयोर्मध्ये क्रोशशब्दात्ता प्राप्ता।

सुः[1] पूजायां न गिति ॥१।४।७॥ सुशब्दः पूजायामर्थे गिसज्ञस्तिसज्ञश्च न भवति। सुसिक्त भवता। सुसिक्तं भवता। गिसंज्ञाश्रयं पत्व न भवति। तिसज्ञाप्रतिषेधे यद्यपि तिसज्ञाश्रयः सविधिर्न भवति, तथापि प्रादिलक्षणो भविष्यति। स्वती पूजायामिति वचनात्। सुसिच्य गतः। तस्मादुत्तरार्थ तिसज्ञाप्रतिषेधवचनम्। पूजायामिति किम्? सुषिक्त किं तवाऽत्र।

अतिक्रमे चातिः[2] ॥१।४।८॥ अतिक्रम आधिक्यम्। अतिक्रमे पूजायाञ्चातिशब्दो गितिसज्ञो न भवति। अतिसिक्तमेव भवता। अतिस्तुतमेव भवता। गितिसज्ञाश्रयः प्रादिलक्षणश्च सविधिर्न भवति। अतिसिक्त्वैव गतः। पूजायाम्—अतिसिक्तमतिस्तुत भवता। स्वती पूजायामिति प्रादिलक्षण. सविधि.। अतिसिच्य गतः। "प्यस्तिवाक्से क्त्वः" [२।१।२१] इत्यत्र तिग्रहणमुपलक्षण प्रादिमेऽपि प्यादेशः।

पदार्थसंभावनाऽनुज्ञागर्हासमुच्चयेऽपिः[3] ॥१।४।९॥ अप्रयुज्यमानस्य पदस्यार्थ. पदार्थः। सभावनं सामर्थ्याविष्करणम्। अनुज्ञा अभ्युपगमः। गर्हा निन्दा। एकत्रानेकस्य नियोजन समुच्चय'। एतेष्वर्थेष्वपिर्गितिसंज्ञो न भवति। पदार्थे—सर्पिषोऽपि स्यात्। पयसोऽपि स्यात्। बिन्दु, स्तोक मात्रा चेत्यस्यार्थेऽपिशब्दः। सम्बन्धे च ता। सभावने—अपि सिञ्चेन्मूलकसहस्रम्। अपि स्तुयाद्राजानम्। अनुज्ञायाम्—अपि सिञ्च। अपि स्तुहि। अतिसर्गे लोट्। गर्हायाम्–धिग् ब्राह्मणमपि सिञ्चेत्पलाण्डुम्। अपि स्तुयाद्वृषलम्। "अनवक्लृप्त्यमर्षे" [२।३।१२१] इति लिङ्। समुच्चये–अपि सिञ्च। अपि स्तुहि। सिञ्च च स्तुहि चेत्यर्थः। गिसज्ञाश्रय षत्वादिकार्य न भवति।

अधिपरी अनर्थकौ ॥१।४।१०॥ अनर्थकावनर्थान्तरवाचिनौ। अधि परि इत्येतौ अनर्थकौ गितिसज्ञौ न भवतः। कुतोऽध्यागतः। कुतः पर्यागतः। गितिसज्ञाश्रय सविधान न भवति। "प्राग्धोम्ने" [१।२।१४६] इति प्रयोगनियमश्च न भवति। इह च पर्यानद्धमिति णत्व न भवति।[4]

वीप्सेत्थम्भूतलक्षणेऽभिनेप् ॥१।४।११॥ न गितिगिति वर्तते योग इति च। वीप्सा इत्थम्भूत लक्षण इत्येतेष्वर्थेषु अभिना योगे इब्विभक्ती भवति गितिसज्ञाप्रतिषेधश्च। वीप्सायाम्—वृक्ष वृक्षमभि सिञ्चति। इत्थम्भूते—साधुर्देवदत्तो मातरमभिस्थित। इत्थम्भावोऽभिना गम्यते। लक्षणे—वृक्षमभिविद्योतते।[5] वृक्षमभिविद्योतने। गितिसज्ञाप्रतिषेधात् षत्व "प्राग्धोम्ने" [१।२।१४६] इति नियमश्च न भवति।

भागे चानुप्रतिपरिणा ॥१।४।१२॥ भागेऽथ वीप्सेत्थम्भूतलक्षणेषु च अनु प्रति परि इत्येतैर्योगे इब् भवति गितिसज्ञाप्रतिषेधश्च। भागोऽशः। यदत्र मामनुस्यात् मा प्रति स्यात् मा परि स्यात् तद्दीयताम्। वीप्सायाम्—वृक्ष वृक्षम् अनुसिञ्चति प्रतिसिञ्चति परिसिञ्चति। इत्थम्भूते—साधुर्देवदत्त

---

१. सु अ०, मु०। २. चाति अ०, स०। ३. येऽपि म०। ४. पर्यानद्धमिति अ०, ब०, म०। ५. वृक्षमभिसिञ्चति अ०, ब०, म०।

नुस्थितः मातर प्रति मातर परि। लक्षणे—वृक्षमनुसिञ्चति प्रतिसिञ्चति परिसिञ्चति। वृक्ष प्रति विद्योतते। एतेष्विति किम्? ओदन परिषिञ्चति। अनुप्रातिपरिणेति किम्? यदत्र मामभिष्यात्। अभेर्भागे गितिसज्ञा भवत्येव तगित्वात् सकर्मकत्व कर्मणीप् षत्व च भवति।

हेतावनुना ॥१।४।१३॥ हेतावर्थे अनुना योगे इब्विभक्ती भवति गितिसज्ञाप्रतिषेधश्च। जिनस्य ज्ञानोत्पत्तिमन्वागमन्सुराः। सुराणामागमनस्य जिनज्ञानोत्पत्तिर्हेतुः। एव शान्तिचरितपङ्कप्रसारणमनु प्रावर्षत् पर्जन्यः। यदपि इत्थम्भूते लक्षणे वार्थेऽनुना योगे सिद्धैवेप् तथापि येन नाप्राप्तन्यायेन शेषलक्षणाया-[illegible] सोऽपवादः। हेत्वर्थे तु परत्वाद्भा प्रसज्येत तद्बाधनार्थमिदम्।

भार्थे ॥१।४।१४॥ भार्थः सहशब्दस्यार्थः। भार्थेऽनुना योगे इब् भवति गितिसज्ञाप्रतिषेधश्च। नदीमन्ववसिता सेना। नदीमन्ववसिता नगरी। नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः। एव पर्वतमन्ववसिता सेना।

हीने ॥१।४।१५॥ अनुनेति वर्तते। हीनार्थे द्योत्ये अनुना योगे इब् भवति गितिसज्ञाप्रतिषेधश्च। उत्कृष्टापेक्षया हीनो भवतीति सामर्थ्यादुत्कृष्टादिप्। अनु शालिभद्रमाढ्याः। अनु समन्तभद्रं तार्किकाः।

उपेन ॥१।४।१६॥ हीनार्थे उपेन योगे इब् भवति न गितिसज्ञा च। उपसिंहनन्दिनं कवयः। उपसिद्धसेन वैयाकरणाः।

ईबधिके ॥१।४।१७॥ ईब्विभक्ती भवति अधिकार्थे द्योत्ये उपेन योगे। उप खार्या द्रोणः। उपनिष्के कार्षापणम्। यस्मादधिक मृदर्थातिरेकात्तत ईप्।

ईश्वरेऽधिना ॥ १।४।१८ ॥ ईश्वरशब्द ईश्वरेशितव्यसम्बन्धमुपलक्षयति। ईश्वरे द्योत्ये अधिना योगे ईब्विभक्ती भवति न गितिसज्ञा च। उत्तरसूत्राद्वेति विभाषाऽवलोकते। तत ईश्वरादीशितव्याच्च पर्यायेणेप्। अधि मेरीश्वरे कुरवः। अधि कुरुषु मेघेश्वरः। इह विभक्त्यर्थे हस. कस्मान्न भवति विभक्तीशब्देन तत्र कारक [illegible]। ईश्वरेशितव्यसम्बन्धश्चात्र न तु कारकम्।

वा कृञ्यधिः ॥१।४।१९॥ ईश्वर इति वर्तते। अधिशब्दः करोतौ वा गितिसज्ञो भवति। [illegible] [illegible]। ईश्वर कृत्वेत्यर्थः। अत्र कर्मणीप्। पुनरधिग्रहण गितिसज्ञाप्रतिषेधार्थमेव [illegible]।

[illegible] मर्यादावचने ॥१।४।२०॥ काविभक्ती भवति आङा योगे मर्यादावचने गितिसज्ञाप्रति-[illegible]। [illegible] [illegible]। आ मथुरायाः। मर्यादायामिति सिद्धे वचनग्रहणमभिविधिसग्रहा-[illegible]। [illegible] [illegible]। मर्यादावचन इति किम्? ईषदर्थे क्रियायोगे च मा भूत्। [illegible]। [illegible]।

वर्जनेऽपपरिभ्याम् ॥१।४।२१॥ विवक्षितेनासम्बन्धो वर्जनम्। वर्जनेऽर्थे अप परि इत्येताभ्या [illegible] गितिसज्ञाप्रतिषेधश्च। अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः। "परेर्वर्जने" [४।३।४] इति वा [illegible]। [illegible] इति किम्? ओदन परिषिञ्चति।

यतः प्रतिदानप्रतिनिधी प्रतिना ॥१।४।२२॥ प्रतिदान प्रतिदा प्रतिनिधीयत इति प्रतिनिधिः [illegible] प्रतिदानं यतश्च प्रतिनिधिस्तत. काविभक्ती भवति न गितिसज्ञा च। [illegible]

संप्रदानेऽप् ॥१।४।२३॥ सप्रदाने कारके अव्विभक्ती भवति। त्रिपृष्ठाय स्वयप्रभामदात्। क्रिययाऽपि कर्मभूतया यदाप्यते तदपि सप्रदानमुक्तम्। देवदत्ताय रोचते। पत्ये शेते। श्वभ्यो वर्षति। भिक्षुकेभ्यो वर्षति। तदर्थेन सविधिवचन ज्ञापक तादर्थ्येऽप् भवतीति। रथाय दारु। रन्धनाय स्थाली। अवहननायोलूखलम्।

ध्वर्थवाचः कर्मणि स्थानिनः ॥१।४।२४॥ ध्वर्थः क्रिया। ध्वर्थो वागस्य स ध्वर्थवाक्। तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य धोः कर्मणि कारके अव्विभक्ती भवति। यत्र यस्यार्थः प्रयोगमन्तरेण प्रतीयते स तत्र स्थानी। एधेभ्यो व्रजति। अत्र आहर्तुमित्येतत्तुमन्तं पद स्थानि। तदेव च ध्वर्थवाक्। कर्मणीपोऽपवादोऽयम्। तादर्थ्येन सिद्धमिति चेत् स्थानिनो यथा स्यात् प्रयुज्यमानस्य मा भूत् इत्येवमर्थमिदम्। ध्वर्थवाच इति किम्? प्रविश पिण्डीम्। प्रविश तर्पणम्। अस्त्यत्र भक्षय सिञ्चेति च स्थानी न तु ध्वर्थवाक्। कर्मणीति किम्? एधेभ्यो व्रजति शकटेन। स्थानिन इति किम्? एधानाहर्तुं व्रजति।

तुमर्थाद्भावे ॥१।४।२५॥ तुमा समानाऽर्थस्तुमर्थः। तुमर्था भावे वर्तमानो यस्त्यस्तदन्तान्मृदोऽप् भवति। "वुण्तुमौ क्रियायां तदर्थायाम्" [२।३।८] इति वर्तमाने भावे "भाववाचिनः" [२।३।६] इति वक्ष्यति तेषा घञादीनामिह ग्रहणम्। पाकाय व्रजति। मतये व्रजति। पुष्टये व्रजति। अत्र तदर्थाया क्रियाया त्यस्य विधानात् तादर्थ्य तेनैवोक्तमिति तादर्थ्ये अप् न प्राप्नोति। तुमर्थादिति किम्? पाकः। त्यागः। भा इति किम्? कारको व्रजति।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगे ॥१।४।२६॥ नमस् स्वस्ति स्वाहा स्वधा अल वषट् इत्येतैर्योगे अव्विभक्ती भवति। नमो देवेभ्यः। स्वस्ति प्रजाभ्यः। आशीर्विवक्षाया कुशलार्थैर्योगे ताऽपो प्राप्ते ताभ्या पूर्वनिर्णयेनायमेव नित्यो विधिः। स्वस्त्यस्तु गोभ्यः। स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयात्। स्वाहा इन्द्राय। स्वाहा अग्नये। स्वधा पितृभ्यः। अल मल्लो मल्लाय। अलमिति पर्याप्त्यर्थाना ग्रहणम्। "तस्मै प्रभवति" [३।४।६४] इति निर्देशात्। प्रभुर्मल्लो मल्लाय। समर्थो मल्लो मल्लाय। अन्यत्राऽपि कस्मान्न भवतीति? कन्यामलङ्कुरुते। अल रोदनेन। "वाग्विभक्तेः कारकविभक्ती[1] बलीयसी" इति कर्मणीप्। करणे भा भवति। वषडग्नये। वषडिन्द्राय। यागग्रहण किम्? नमो जिनानामायतनेभ्यः। ननु ङ्याम्मृदः स्वादयो विहिताः। तदन्तविषयोऽय नियमः पदविधिः। ततोऽसामर्थ्यादेव जिनशब्दान्न भविष्यति योगग्रहणमनर्थकम्। अन्यैरपि योगे यथा स्यात् इत्येवमर्थम्। "हितशब्दयोगे उपसख्यानम्" [वा०] अरोचकिने हितम्। "क्लृप्यर्थधुप्रयोगेऽवक्तव्या" [वा०] मूत्राय प्रकल्पते यवागूः। मूत्राय सपद्यते। मूत्राय जायते। भिन्नविकारापत्तौ चेद वक्तव्यम्। अभेदे मूत्र सपद्यते यवागूरिति वंव भवति। विकारग्रहण किम्? देवदत्तः सपद्यते यवागूः। मूत्रं संपद्यते यवाग्वाः। "उत्पातेन ज्ञाप्यमानेऽवक्तव्या" [वा०]।

"वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय भवेत्सिता॥"

तेनैतत् सर्व लब्धम्।

प्रकुप्यगर्हे मन्यकर्मण्यजावे वा ॥१।४।२७॥ प्रकुप्यगर्हाऽतिरायतिरस्कारः। प्रकुप्यगर्हे गम्ये मन्यतेः कर्मणि जीववर्जिते वा अव्विभक्ती भवति। न त्वा तृणं मन्ये। न त्वा तृणाय मन्ये। न त्वा बुसं मन्ये। न त्वा बुसाय मन्ये। प्रकुप्येति किम्? काष्ठं त्वा मन्ये। लाष्ठं त्वा मन्ये। न त्वा नाव मन्ये। यावत्तीर्णं नाव्यम्। न त्वा अन्नं मन्ये। यावद् भुक्तं नादन्। गर्हे इति किम्? इन्द्रनीलाय पाषाणः

1.-विभक्तिर्-अ०, ब०, स०।

धिकगुणं मन्ये। प्रशंसेयम्। उभयग्रहणं किम्? अश्मानं दृषदं मन्ये। स्वरूपकथनमेतत्। मन्यग्रहणं किम्? न त्वा तृणं चिन्तयामि। विकरणनिर्देशः किम्? न त्वा तृणं मन्वे। अजीव इति किम्? न त्वां श्वानं मन्ये। न त्वां शृगालं मन्ये। अगर्हवाचित्वाद् युष्मदस्मदादेरब्विभक्ती न भवति।

संज्ञो भा ॥१।४।२८॥ कर्मणीति वर्तते। सपूर्वस्य जानातेः कर्मणि भा भवति। मात्रा संजानीते। मातरं संजानीते। पित्रा संजानीते। पितरं संजानीते। "संप्रतेरस्मृतौ" [१।२।४२] इति दः। वेति व्यवस्थित-विभाषाऽनुवर्तते। तेन दविषये भाविकल्पः। स्मृत्यर्थे मविधिः। तत्र मातुः संजानाति। मातरं संजानाति। "स्मृत्यर्थदयेशां कर्मणि" [१।४।५१] इत्यत्र ताविकल्पं वक्ष्यति। कृत्प्रयोगे परत्वात् "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति तैव भवति। मातुः संज्ञाता।

कर्तृकरणे भा ॥१।४।२९॥ कर्त्तरि करणे च कारके भाविभक्ती भवति। देवदत्तेन भुक्तम्। जिन-दत्तेन भुक्तम्। करणे—दात्रेण लुनाति। भेति वर्तमाने पुनर्भाग्रहणं किम्? प्रकृत्यादिभ्यो यथा स्यात्। प्रकृत्याऽभिरूपः। प्रकृत्या दर्शनीयः। प्रायेण वैयाकरणः। काश्यपोऽस्ति गोत्रेण। समेन धावति। विषमेण धावति। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति। पञ्चकेन पशून् क्रीणाति। सहस्रेण अश्वान् क्रीणाति।

सहार्थेन ॥१।४।३०॥ योग इति मण्डूकप्लुत्याऽनुवर्तते। सहशब्दार्थेन योगे भाविभक्ती भवति। प्रधानस्य मृदर्थातिरेकाभावादप्रधाने भवति। पुत्रेण सहागतः। पुत्रेण सह पिङ्गलः। पुत्रेण सह धनवान्। अत्र प्रधानाप्रधानयोः क्रियागुणद्रव्यसम्बन्धे सति सहयोगः। अर्थग्रहणं किम्? पुत्रेण सार्द्धमागतः। पुत्रेण समम्। पुत्रेण साकम्। पुत्रेणामा। *"तस्य द्रोणस्य संग्रामः सारणेन गदेन च। युगपत् कोपकामाभ्यां मनीषिण इवाभवत्"*। विनाऽपि सहशब्देन तदर्थप्रत्ययमात्रे च भवति। "अन्त्येनेताऽऽदिः" [१।१।७३] अन्त्येन सह आदिरित्यर्थः। योग इत्येव। शिष्येण सहोपाध्यायस्य गौः। पुत्रेण सह स्थूलो ग्रामे। उपाध्याय शब्दस्य ग्रामशब्दस्य च नास्ति सहशब्देन योगः।

येनाङ्गिविकारेत्थम्भावौ ॥१।४।३१॥ अङ्गिविकारः शरीरविकृतत्वम्। अनेन प्रकारेण भवनमि-त्थंभावः। क्वचिदेव छात्रादौ प्रकारे वृत्तिरित्यर्थः। येनाङ्गिनो विकार इत्थम्भावश्च लक्ष्यते ततो भाविभक्ती भवति। अक्ष्णा काणः। पाणिना कुणिः। पादेन खञ्जः। इत्थम्भावेऽपि—भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्। [illegible]लया परिव्राजकमद्राक्षीत्। सहार्थेनेत्यस्याविवक्षायामिदं द्रष्टव्यम्। अङ्गिविकारेत्थम्भावाविति किम्? अक्षि काणमस्य। वृक्षं प्रति विद्योतते।

हेतौ ॥१।४।३२॥ हेताविल्यर्थनिर्देशः। हेतावर्थे भा [च] भवति तद्वाचिनः। अन्नेन वसति। धनेन कुलम्। विद्यया यशः। इह लौकिकफलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुर्गृह्यते। "तद्योजको हेतुः" [१।२।१२६] तेन न पारिभाषिकस्य प्रयोगे सिद्धैव भा। उत्तरसूत्रे त्वविशेषेण हेतोर्ग्रहणं द्रष्टव्यम्।

पञ्चम्यऽकर्त्तरि ॥१।४।३३॥ हेताविति वर्तते। कर्तृवर्जिते ऋणे हेतौ काविभक्ती भवति। भापवा-दोऽयम्। शताद् बद्धः। सहस्राद् बद्धः। उत्तमर्णोऽत्र कर्ता। अकर्तरीति किम्? बद्धस्त्वया देवदत्तः। नाऽहं बध्नामि। शतं मे धारयति। शतेन बद्धः। बन्धितस्त्वया देवदत्तः। नाऽहं बन्धयामि। शतं मे धारयति। [illegible]। कथं देवदत्तेन शतेन बन्धितः। एकस्य हेतुकर्तृत्वमपरस्य प्रयोज्यकर्तृत्वमित्यदोषः। वेति [illegible]। तेन हेतौ काऽपि भवति। कृतकत्वादनित्यः। अनुपलब्धेर्नास्तीति।

गुणे श्रीदत्तस्याऽस्त्रियाम् ॥१।४।३४॥ हेताविति वर्तते। अस्त्रीलिङ्गे गुणे हेतौ श्रीदत्तस्याचा-[illegible] काविभक्ती भवति। अन्येषां मतेन हेताविति भा। जाड्याद् बद्धः। जाड्येन बद्धः। पारिख्यात्यान्मुक्तः।

पारिख्यात्येन मुक्तः । गुण इति किम् ? धनेन कुलम् । अस्त्रियामिति किम् ? बुद्ध्या मुक्तः ।

ता हेतौ ॥१।४।३५॥ हेताविति शब्दनिर्देशोऽयं हेत्वर्थस्य तु प्रकृतत्वात् । हेतुशब्दे प्रयुक्ते हेत्वर्थे ता भवति । अन्नस्य हेतोर्वसति । अध्ययनस्य हेतोर्वसति । भिक्षाया हेतोर्वसति । हेतुशब्दोऽपि हेत्वर्थे वर्तते । तस्मादपि ता । सामानाधिकरण्याद्वा ।

सर्वनाम्नो भा च ॥१।४।३६॥ हेतुशब्दे प्रयुक्ते सर्वनाम्नो भाविभक्ती ता च । केन हेतुना वसति । कस्य हेतोर्वसति । येन हेतुना वसति । यस्य हेतोर्वसति । पूर्वेण तायामेव प्राप्तायामयमारम्भः । अथवा चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन निमित्तकारणप्रयोजनहेतुषु प्रयुक्तेषु सर्वासां प्रायो दर्शनमित्येतल्लब्धम् । किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन वसति । कस्मै निमित्ताय वसति । कस्मान्निमित्तात् । कस्य निमित्तस्य । कस्मिन्निमित्ते वसति । एवं कारणप्रयोजनहेतुषूदाहार्यम् । प्रायोग्रहणादिह्न भवति ।

काऽपादाने ॥१।४।३७॥ अपादाने कारके काविभक्ती भवति । ग्रामादागच्छति । आचार्यादधीते । रथात् पतितः । केति योगविभागादन्यत्राऽपि भवतीति । तेनेदं बहु वक्तव्यं न भवति । "ल्यब्लोपे कर्मणि का वक्तव्या" [वा०] प्रासादमारुह्य प्रेक्षते । प्रासादात् प्रेक्षते । प्रासादाच्छृणोति । "अधिकरणे ल्यपो का वक्तव्या" [वा०] आसने उपविश्य प्रेक्षते । आसनात् प्रेक्षते । शयनात् प्रेक्षते । "प्रश्नाख्यानयोश्च का वक्तव्या" [वा०] किं देवदत्तो व्याकरणात् कथयति ? आख्याने—व्याकरणात् कथयति । "यतश्चाध्वकालपरिच्छेदस्तत का वक्तव्या" [वा०] गवेधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि । कार्तिक्या आग्रहायणी मासे । "कायुक्तात् परादध्वनो वा वेप् च वक्तव्ये" [वा०] गवेधुमतः साङ्काश्यं चत्वारि योजनानि, चतुर्षु योजनेषु ।

दिक्छब्दाऽन्याऽरादितरर्तेऽञ्च्वाहियुक्ते ॥१।४।३८॥ दिक्छब्द अन्य आरात् इतर ऋते अञ्चु आ आहि इत्येतैर्युक्ते काविभक्ती भवति । दिक्छब्द—इयमस्याः पूर्वा । इयमस्या उत्तरा । शब्दग्रहणं किम् ? दिशि दृष्टो यः शब्दो देशकालवृत्तिनाऽपि तेन योगे यथा स्यात् । पूर्वा ग्रामात् । उत्तरा ग्रामात् । पूर्वो ग्रीष्माद्वसन्तः । अन्यदित्यर्थग्रहणम् । अन्यो देवदत्तात् । व्यतिरिक्तो देवदत्तात् । भिन्नो देवदत्तात् । अर्थान्तरं देवदत्तात् जिनदत्तः । देवदत्ते मृदर्थातिरेकात् ताया प्राप्ताया का विधीयते । आराच्छब्दो भिन्नजो दूरेऽन्तिके च वर्तते तद्योगे "दूरान्तिकार्थैस्ता च [१।४।४२] इति अस्मिन् प्राप्ते काविधिः । आराद् गृहात् क्षेत्रम् । आराद् देवदत्तात् पीठम् । इतरो निर्दिश्यमानप्रतियोग्यर्थः । इतरो देवदत्तात् । ऋते इति भिन्नजं पदम् । ऋते धर्मात् कुतः सुखम् । अञ्चु । प्राग्ग्रामात् । प्राची दिग्रमणीया । इत्येवमादयः आगतस्य अस्तातः "अञ्चेर्लुप्" [४।१।९६] इत्युप् । अस्य दिक्छब्दत्वेऽपि "ताऽतसर्थं त्येन"[१।४।३९] इति ता प्राप्ता तदपवादोऽयम् । आ दक्षिणा ग्रामात् । उत्तरा ग्रामात् । आहि । दक्षिणाहि ग्रामात् । उत्तराहि ग्रामात् । अस्तादर्थे "दक्षिणादा" [४।१।१००] 'आहि च दूरे" [४।१।१०१] "उत्तराच्च" [४।१।१०२] इति आआहि त्यौ । अत्रापि "ताऽतसर्थं त्येन [१।४।३९] इति ता प्राप्ता । "अवयवयोगे प्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०] पूर्वान्ग्रामस्यागमन्त्रयस्व ।

ताऽतसर्थं त्येन ॥१।४।३९ ॥ वक्ष्यति दक्षिणोत्तराभ्यामतस् । तत्समानार्थेन त्येन युक्ते ता विभक्ती भवति । दक्षिणतो ग्रामस्य । उत्तरतो ग्रामस्य । उपरि ग्रामस्य । उपरिष्टाद् ग्रामस्य । उपर्युपरिष्टात्शब्दौ अतसर्थे निपातितौ । पुरो ग्रामस्य । पुरस्ताद् ग्रामस्य । "पूर्वावराधराणां पुरवधोऽस्' [४।१।१०३] "अस्ताति" [४।१।१०४] इति च पुरादेशः ।

---

१ "गवेधुमत" इत्यारभ्य गवेधुमत इत्यन्तं पूर्वम् अ० पुस्तके नास्ति । २ [illegible] अ० । ३. उत्तरं ग्रामात् अ० ।

इवेनेन॥१।४।४०॥ इब्विभक्ती भवति एनेन योगे। दक्षिणेन विजयार्धं वसति। "दक्षिणोत्तराधरादात्" [४।१।१८] इत्यधिकृत्य। "ह्वैनोऽदूरेऽकायाः" [४।१।६६] इति अस्तादर्थे एन इत्ययं त्यः। पूर्वसूत्रे नेति योगविभागादनेन योगे तापि भवति इति केचित्। दक्षिणेन ग्रामस्य। उत्तरेण ग्रामस्य।

पृथग्विनानानाभिर्भा वा ॥ १।४।४१ ॥ पृथग्विना नाना इत्येतैर्युक्ते वा भाविभक्ती भवति। पृथग्देवदत्तेन। पृथग्देवदत्तात्। विना देवदत्तेन। विना देवदत्तात्। नाना देवदत्तेन। नाना देवदत्तात्। पक्षे अन्यार्थत्वात् कापि भवति। अथ पृथगादयोऽसहायार्थे वर्तन्ते नान्यार्थे। एव तर्ह्यधिकारात् का एष्टव्या। नयाणा ग्रहण पर्यायनिवृत्त्यर्थम्। हिरुग्देवदत्तस्य। "करणे स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयेभ्योऽसत्त्ववचनेभ्यो भाके वक्तव्ये" [वा०] स्तोकेन मुक्तः। स्तोकान्मुक्तः। अल्पेन मुक्तः। अल्पान्मुक्तः। कृच्छ्रेण मुक्तः। कृच्छ्रान्मुक्तः। कतिपयेन मुक्तः। कतिपयान्मुक्त.। असत्त्ववचनेभ्य इति किम्? स्तोकेन विषेण हतः। नेद वक्तव्यम्। विवक्षातः कारकाणि भवन्ति इत्युभय सिद्धम्। "क्रियाविशेषणविवक्षायां भाके न भवतः" [वा०] स्तोकं चलति। अल्पं जल्पति।

दूरान्तिकार्थैस्ता च ॥१।४।४२॥ वेति वर्तते। दूरार्थैरन्तिकार्थैश्च युक्ते ताविभक्ती भवति का च। दूरं ग्रामस्य। दूरं ग्रामात्। विप्रकृष्ट ग्रामस्य। विप्रकृष्टेन ग्रामात्। अन्तिकं ग्रामस्य। अन्तिकं ग्रामात्। अभ्यास ग्रामस्य। अभ्यास ग्रामात्।

तेभ्य इप् च ॥१।४।४३॥ तेभ्यो दूरान्तिकार्थेभ्य इब्विभक्ती भवति का च। दूरं ग्रामस्य। दूराद् ग्रामस्य। विप्रकृष्ट ग्रामस्य। विप्रकृष्टाद् ग्रामस्य। अन्तिकं ग्रामस्य। अन्तिकाद् ग्रामस्य। समीपं ग्रामस्य। समीपाद् ग्रामस्य। काऽनुवर्तनादेव सिद्धा। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेन भापि भवति। दूरेण ग्रामस्य। अन्तिकेन ग्रामस्य। असत्त्ववचनेभ्य इति वक्तव्यम्। इह मा भूत्। दूरात् पथ आगतः। दूरस्य पथः शम्बलम्। अन्तिका ग्रामा.। यद्यसत्त्ववचनेभ्य इत्युच्यते इब्विधानमनर्थकम्। लिङ्गमशिष्य लोकाश्रयत्वात्। नपुंसके सोरम्भावेन सिद्धम्। इद प्रयोजन "सपूर्वाया वाया." [५।३।२३] इत्येष विकल्पो मा भूत्। ग्रामो दूरं ना पश्यति। ग्रामो दूरं मः पश्यति।

ईर्वाधिकरणे च ॥१।४।४४॥ ईविभक्ती भवति अधिकरणे कारके दूरान्तिकार्थेभ्यश्च। कटे आस्ते। शयने शेते। दूरान्तिकार्थेभ्य.। दूरे ग्रामस्य। विप्रकृष्टे ग्रामस्य। अन्तिके ग्रामस्य। समीपे ग्रामस्य। "क्तस्येन्विषयस्य कर्मणीप् वक्तव्या" [वा०] अधीती व्याकरणे। अधीतमनेन व्याकरणमित्यस्मिन्नर्थे "इष्टादे." [४।१।२२] इतीन्। एवमाम्नाती छन्दसि। परिगणिती ज्योतिषि। "निमित्तात् कर्मसंयोगे ईप् वक्तव्या" [वा०] "चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्। केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥" नेद वक्तव्यम्। ईविति योगविभागात् सिद्धम्।

यद्भावाद्भावगतिः ॥१।४।४५॥ भाव. क्रिया। ईविति वर्तते। यस्य भावाद्भावान्तरगतिर्भवति तत्र ईप् भवति। गोषु दुह्यमानासु गत.। दुग्धास्वागत। अत्र प्रसिद्धेन गोदोहनभावेन गमनक्रिया लक्ष्यते। एव अग्निषु हूयमानेषु गत.। हुतेष्वागत। इद मदरमानेष्वामेषु गत पक्वेष्वागत.। सामर्थ्याज्ज्ञातेष्विति [illegible]। भावादिति किम्? यो जटाभिः स भुङ्क्ते। जटा लक्ष्यम्। पुनर्भावग्रहण किम्? यो भुक्तवान् स [illegible]।

ता चाऽनादरे ॥१।४।४६॥ अनादरोऽवज्ञा। यद्भावाद् भावान्तरगतिर्भवति तत्र ताविभक्ती भवति ईप् चानादरे गम्यमाने। देवदत्तस्य क्रोशतः प्राव्राजीत्। देवदत्ते क्रोशति प्राव्राजीत्। रुदतः प्राव्राजीत्। रुदति प्राव्राजीत्। अनादरेण क्रोशनेन प्रव्रजनभावो लक्ष्यते।

---

१. '[illegible]' म०। २. "ग्रामो दूरं ना पश्यति" इति भ० पुस्तके नास्ति।

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥१।४।४७॥ स्वामिन् ईश्वर अधिपति दायाद साक्षिन् प्रतिभू प्रसूत इत्येतैर्युक्ते तेपौ विभक्त्यौ भवतः। गवां स्वामी। गोषु स्वामी। गवामीश्वरः। गोष्वीश्वरः। गवामधिपतिः। गोष्वधिपतिः। दायमादत्ते दायादः। "म्रे" [२।२।४] इति नियमादन्यस्मिन् गान्प्राप्ते के अत एव निपातनात् कः। गवा दायादः। गोषु दायादः। गवा साक्षी। गोषु साक्षी। गवा प्रतिभूः। गोषु प्रतिभूः। गवा प्रसूतः। गोषु प्रसूतः। चकारः किमर्थः ? तेपोरनुवर्तनार्थः। अन्यथा पूर्वत्र चानुकृष्टाया ईपोऽनुवृत्तिर्न स्यात्। उत्तरसूत्रयोरपि चकारस्येदमेव फलम्। प्रसूतयोगे ईबेव प्राप्ता इतरैर्योगे ता प्राप्ता।

कुशलायुक्तेन चासेवायाम् ॥१।४।४८॥ आसेवा मुहुर्मुहुः सेवा तात्पर्यं च[1]। कुशल आयुक्त इत्येताभ्या युक्ते आसेवाया गम्यमानाया तेपौ विभक्त्यौ भवतः। कुशलो विद्याग्रहणस्य। कुशलो विद्याग्रहणे। आयुक्तस्तपश्चरणस्य आयुक्तस्तपश्चरणे। आसेवायामिति किम् ? आयुक्तो गौः शकटे। आकृष्य युक्त इत्यर्थः। अधिकरणलक्षणेयमीप्।

यतश्च निर्धारणम् ॥१।४।४९॥ जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करण निर्धारणम्। यतश्च निर्धारण ततस्तेपौ विभक्त्यौ भवतः। मनुष्याणा क्षत्रियः शूरतमः। मनुष्येषु क्षत्रियः शूरतम। नारीणा श्यामा दर्शनीयतमा। नारीषु श्यामा दर्शनीयतमा। अध्वगाना धावन्तः शीघ्रतमाः। अध्वगेषु धावन्तः शीघ्रतमाः। प्रपञ्चार्थमिद समुदाये अवयवोऽन्तर्भूतः। अधिकरणविवक्षायामीप् सिद्धा अवयव सम्बन्धविवक्षाया तापि सिद्धा अत एवापादाने कापि भवति। गोभ्यः कृष्णा निर्धार्यते[2] इति।

विभक्ते का ॥१।४।५०॥ यतश्च निर्धारणमिति वर्तते। भिन्नजातीयात् समुदायाद्गुणादिना पृथक्करणं विभक्तनिर्धारणं तत्र का विभक्ती भवति। पूर्वेण तेपोः प्राप्तयोरयमपवादः। माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः। दर्शनीयतराः। अयमस्मादधिकः। अयमस्माद्विलक्षणः। इदमपि प्रपञ्चार्थम्। पाटलिपुत्रकाणामवधिभावेन बुद्धिं प्राप्तानामपादानत्वमस्ति।

साधुनिपुणेनार्चायामीबप्रतेः ॥१।४।५१॥ साधु निपुण इत्येताभ्या युक्ते अर्चाया गम्यमानायामीब्विभक्ती भवति प्रतिशब्दस्याप्रयोगे। मातरि साधुः। पितरि साधुः। भ्रातरि निपुणः। पितरि निपुणः। तात्पर्यादोऽयम्। अर्चायामिति किम् ? साधुर्निपुणो वाऽमात्यो राज्ञः। अप्रतेरिति किम् ? साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति। प्रतिग्रहणमगितिसंज्ञानामभिपर्यन्तानामुपलक्षणम्। मातरमभि। मातरं परि। मातरमनु। [illegible] पितरि। अनिपुणो मातरि। प्रज्ञाप्रयुक्तसाधुनिपुणप्रतिषेधोऽयम्। असमर्थस्यापि नञ सर्वविधिरस्ति।

प्रसितोत्सुकाभ्यां भा च ॥१।४।५२॥ प्रसित उत्सुक इत्येताभ्या युक्ते भाविभक्ती भवति। ईप् च। केशैः प्रसितः। केशेषु प्रसितः। प्रसक्त इत्यर्थः। केशैरुत्सुकः। केशेषूत्सुकः। पक्षे भार्थमिदम्। ईबधिकरणत्वादेव सिद्धा।

उसि भे ॥१।४।५३॥ ईबनुवर्तते भा च। उसिविषये भवाचिनि भेपौ विभक्त्यौ भवतः। "नाम्न: काल:" [३।२।४] इत्यागतस्याणः "उसभेदे" [३।२।५] इत्युसि कृते यदा भवाची शब्द काले वर्तते तदा तस्माद्भा च ईप् च भवत इत्यर्थः। पुष्येण पायसमश्नीयात्। पुष्ये पायसमश्नीयात्। मघाभिः पललौदनम्। मघासु पललौदनम्। उसीति किम् ? मघासु ग्रहः। नात्र मघाशब्दः काले वर्तते। भ इति किम् ? पञ्चालेषु वसति। पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः तेषा निवासः पञ्चालाः। निवासार्थे आगतस्याणः "जनपदे उस" [३।२।६१] इत्युस्। इह कस्मान्न भवति ? अद्य पुष्यः। सिद्धेकार्थत्वात्। [illegible] ईबधिकारे सूत्रारम्भसामर्थ्यात्। अत्राप्यधिकरणत्वादीप् सिद्धा पक्षे भार्थं वचनम्। [illegible] यथा स्थाल्या पचति तद्वद् प्रपञ्चार्थम्।

---

१. वा अ०, ब०, स०। २. निर्धार्यन्ते अ०, ब०, स०।

मिङैकार्थे वा ॥१।४।५४॥ मिङन्तेन पदेन एकार्थे वर्तमानान्मृदो वा विभक्ती भवति। गौश्चरति। कुमारी तिष्ठति। ओदनः पच्यते। खारी मीयते। एकः। द्वौ। बहवः। इत्यत्रोक्तेष्वप्येकत्वादिषु वा भवतीत्युक्तप्रायम्। च वा ह उच्चैरित्येवमादिषु अनर्थकेषु च प्रादिषु मिङन्तेनेकार्थत्वाभावेऽपि 'सुपो म्रेः'' [१।४।१२०] इति ज्ञापकाद्भवति। भावे वर्तमानेन मिङन्तेन स्वभावादन्येनैकार्थत्वं नास्ति। आस्यते देवदत्तेन। नन्वेकत्वादिविशिष्टेषु कर्मादिषु कर्मादिविशिष्टेषु वा एकत्वादिषु इत्यादिना नियमात् परिशेषात् वृक्षः प्लक्ष इत्येवमादिषु वादिषु च "ङयाम्मृदः'' [३।१।१] इत्यनेनैव वायाः सिद्धत्वादनर्थकमिदम्? नानर्थकम्। एकद्विबहुवचनाना व्यतिकरनिवृत्यर्थं वायास्तायाश्च विषयभेदार्थं चेदम्। विसर्जनीयो विभाषा सन्देहनिवृत्त्यर्थम्।

सम्बोधने बोध्यम् ॥१।४।५५॥ सम्बोधनमभिमुखीकरणम्। सम्बोधने या वा तस्या बोध्यमित्येषा संज्ञा। सम्बोधनेऽपि मिङैकार्थत्वमस्ति इति पूर्वेण वाविधानम्। हे देवदत्त आगच्छ। हे देवदत्तौ। हे देवदत्ताः। हे पचन्। हे पचमान। "सम्बोधने'' [२।२।१०३] इति शतृशानौ। बोध्यसंज्ञाप्रयोजनम् "बोध्यमसद्वत्'' [४।३।२४] इत्येवमादि।

एकः किः ॥१।४।५६॥ बोध्यसंज्ञाया वाया एकवचनं किसंज्ञं भवति। हे कन्ये। हे वटो। किप्रदेशा "केरेङः'' [४।३।२७] इत्येवमादयः।

ता शेषे ॥१।४।५७॥ कर्मादिकारकाणामविवक्षा कर्मादिभ्योऽन्यो वा मृदर्थातिरेकः स्वस्वामिसंबन्धादिः शेषः। ता विभक्ती भवति शेषे अर्थविशेषे। नटस्य शृणोति। ग्रन्थिकस्य शृणोति। स्वस्वामिसम्बन्धसमीपसमूहविकारावयवस्थानादयस्तार्थाः। राज्ञः स्वम्। मद्राणां राजा। देवदत्तस्य समीपम्। यवानां राशिः। यवानां धानाः। देवदत्तस्य हस्तः। गोः स्थानम्। शेषग्रहणं किम्? इबादयो नियताः कर्मादयस्त्वनियतास्तेभ्यस्ता मा भूत्।

ज्ञोऽस्वार्थे करणे ॥१।४।५८॥ स्वार्थोऽवबोधनं तत्पर्युदस्यतो जानातेरस्वार्थे वर्तमानस्य करणे ताविभक्ती भवति। सर्पिषो जानीते। पयसो जानीते। सर्पिषा करणभूतेन अवेक्षते प्रवर्तते वा इत्यर्थः। "ज्ञोऽपह्नवेः'' [१।२।४] इति दविधिः। करणस्य शेषत्वविवक्षायामविवक्षाया च तैव भवति। अस्वार्थ इति किम्? स्वरेण पुत्रं जानाति।

स्मर्यर्थदयेशां कर्मणि ॥१।४।५९॥ शेष इति वर्तते। स्मृ इत्यनेन समानार्थाना धूनां दय ईश इत्येतयोश्च कर्मणि शेषत्वेन विवक्षिते ता विभक्ती भवति। मातुः स्मरति। पितुरध्येति। सर्पिषो दयते। सर्पिष ईष्टे। कर्मणीति किम्? मातुर्गुणैः स्मरति। शेष इत्येव। मातरं स्मरति। यद्येवं नार्थोऽनेन "ता शेषे'' [१।४।५७] इत्येव सिद्धम्। लादेशे "न म्कि'' [१।४।७२] इति प्रतिषेधोऽपि "कर्तृकर्मणोः कृति'' [१।४।६८] इत्येतस्याः प्राप्तेरनन्तरत्वात्। नापि "प्रतिपदम्'' इति सविधिप्रतिषेधार्थम्। नेयं प्रतिपदविधाना ता। वृत्तिरपि दृश्यते। अर्थानुस्मरणं धर्मानुचिन्तनम्। एवं तर्हि कर्मणः शेषत्वेन विवक्षितत्वादकर्मकत्वोपपत्तेर्लव्यक्तखार्थाः भावे सिद्धा भवन्ति। मातुः स्मर्यते। मातुः स्मर्तव्यम्। सकर्मकविवक्षाया कर्मणि भवन्ति। माता स्मर्यते। माता स्मर्तव्या।

प्रतियत्ने कृञः ॥१।४।६०॥ करोतेः कर्मणि ताविभक्ती भवति प्रतियत्ने गम्यमाने। असतोऽर्थस्य प्रादुर्भावाय सतो गुणान्तराधानाय समीहा प्रतियत्नः। एधो दकस्योपस्कुरुते। काण्ड गुणस्योपस्कुरुते। "गन्धनावक्षेप०'' [१।२।२७] आदिना द०। प्रतियत्न इति किम्? कटं करोति बुद्धया। शेष इत्येव। एधो दकमुपस्करते।

रुजर्थस्य भाववाचिनोऽज्वरिसन्ताप्योः ॥१।४।६१॥ रुजर्थाना धूना भावकर्तृकाणा कर्मणि ता विभक्ती भवति ज्वरिसन्तापी वर्जयित्वा। चोरस्य रुजति रोगः[1]। रुजर्थस्येति किम्? एति जीवन्तमानन्दः।

1. रोगः। वृषलस्यामयति रोग.। रुज—अ०, व०, स०

गत्यर्थोऽसौ। भाववाचिन इति किम् ? श्लेष्मा मधुराशिनं रुजति। अज्वरिसन्ताप्योरिति किम् ? आग्नेन ज्वरयति ज्वरः। घटादित्वात् प्रादेशः। अत्याशिनं सन्तापयति ज्वरः। शेष इत्येव। चोरं रुजति रोगः।

आशिषि नाथः ॥१।४।६२॥ आशीःक्रियस्य नाथः कर्मणि ता विभक्ती भवति। सर्पिषो नाथते। पयसो नाथते। सर्पिर्मे भूयात् इत्यर्थः। "आशिषि नाथः" इत्युपसंख्यानेन दविधिः। आशिषीति किम्? माणवकमुपनाथति अङ्ग पुत्राधीष्वेति। शेष इत्येव। सर्पिर्नाथते।

जासनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् ॥१।४।६३॥ जास निप्रहण नाट क्राथ पिष इत्येतेषां हिंसाक्रियाणां कर्मणि ता विभक्ती भवति। "जस ताडने" इति चौरादिकः। चोरस्योज्जासयति। वृषलस्योज्जासयति। 'जसु मोक्षणे' इत्येतस्य दैवादिकस्याहिंसार्थत्वादग्रहणम्। जास इति कृतदीत्वोच्चारणं किम्? प्रादेशे मा भूत्। दस्युमजीजसम्। निप्रहण इति निप्रयोः समुदितयोः व्यस्तयोर्विपर्यस्तयोर्ग्रहणम्। चोरस्य निप्रहन्ति[1]। चोरस्य निहन्ति। चोरस्य प्रहन्ति। चोरस्य प्रणिहन्ति। नट अवस्यन्दने चुरादिः। चोरस्योन्नाटयति। दीत्वोच्चारणं किम्? दस्युमनीनटत्। "क्रथ क्नथ क्लथ हिंसार्थाः" "हेतुमति" [२।१।२४] इति णिच्। चोरस्योत्क्राथयति। दीत्वं हि किम्? दस्युमचिक्रथत्। घटादित्वेऽपि निपातनादुडः प्रादेशबाधनार्थं च। चोरस्य पिनष्टि। वृषलस्य पिनष्टि। हिंसायामिति किम्? धानाः पिनष्टि। शेष इत्येव। चौरं निहन्ति। रुजर्थत्वादेषामपीति चेदभावकर्तृकार्थं वचनम्। चोरस्योज्जासयति राजा।

व्यवहृपणोः सामर्थ्ये ॥१।४।६४॥ सामर्थ्ये समानार्थत्व व्यवहृ पण इत्येतयोः सामर्थ्ये स्तुतिकर्मणि ता भवति क्रयविक्रये द्यूते च सामर्थ्यम्। शतस्य व्यवहरते। सहस्रस्य व्यवहरते। सहस्रस्य पणते। आय कस्मान्न भवति गुपादिभिः साहचर्यात् भौवादिकस्य स्तुत्यर्थस्य तत्र ग्रहणम्। इह तु तौदादिकस्यानुदात्तेतः। सामर्थ्य इति किम्? शलाका व्यवहरति। गणयतीत्यर्थः। देवान् पणयति। शेष इत्येव। शतं व्यवहरति। सहस्रं पणते।

दिवश्च ॥१।४।६५॥ "व्यवहृपणोः सामर्थ्ये" [१।४।६४] इति वर्तते। दिवश्च व्यवहृपणिसमाना र्थस्य कर्मणि ता भवति। शतस्य दीव्यति। सहस्रस्य दीव्यति। चकारः किमर्थः? सामर्थ्यानुकर्षणार्थः। ननु विकारादेव सामर्थ्यग्रहणमनुवर्ततेऽन्यथा चानुकृष्टमुत्तरत्र च नानुवर्तते "वा गौ" इत्यत्र सामर्थ्यानुवृत्तिर्न स्यात्, अनुक्तसमुच्चयार्थस्तर्हि क्वचिदन्यस्यापि प्रयोगे यथा स्यात्। सक्तूना पूर्णः। ओदनस्य तृतः। सामर्थ्य इत्येव। साधून् दीव्यति।

वा गौ ॥१।४।६६॥ सामर्थ्ये इति वर्तते। गिपूर्वस्य दिवः कर्मणि वा ता विभक्ती भवति। शतस्य प्रदीव्यति। शतं प्रदीव्यति। सहस्रस्य प्रदीव्यति। सहस्रं प्रदीव्यति। इयं पूर्वेण प्राप्ते विभाषा। ननु शेषविवक्षया तापि भविष्यति इति व्यर्थमिदम्। एवं तर्हि इदमेव ज्ञापकमगिपूर्वस्य शेषविवक्षा नास्ति इति। शतं दीव्यति। सामर्थ्य इत्येव। शलाका प्रतिदीव्यति।

कालेऽधिकरणे सुजर्थे ॥१।४।६७॥ कालेऽधिकरणे ता विभक्ती भवति सुजर्थे ते प्रयुक्ते। द्विरह्नोऽधीते। त्रिरह्नोऽधीते। पञ्चकृत्वोऽह्नो भुङ्क्ते। "संख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्वस्" [४।२।२४] इति कृत्वस्। "द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" [४।२।२५] इति सुच्। काल इति किम्? द्विः कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते। अधिकरण इति किम्? द्विरह्नो भुङ्क्ते। सुजर्थ इति किम्? अहनि भुङ्क्ते। रात्रौ भुङ्क्ते। नन्वत्रापि द्विः त्रिरिति सुजर्थो गम्यते? प्रयुक्तग्रहणं दूरादनुवर्तते तेन गम्यमाने सुजर्थे न भवति। शेष इत्येव। द्विरहन्यधीते।

कर्तृकर्मणोः कृति ॥१।४।६८॥ कृति प्रयुक्ते कर्तरि कर्मणि च ता विभक्ती भवति। अनुक्त इति वर्तते। भवत आसिका। भवतः शायिका। स्त्रीलिङ्गे भावे "पर्यायार्हर्णोत्पत्तौ वुण्" [२।३।१०] इति वुण्।

1. चोरस्य निप्रहन्ति इति ब० पुस्तके नास्ति। २. व्यवहृपणे समा-अ०। ३ -भ्रर्थस्य—?पदि म। ४. इव अ०।

यवाना लावकः । ओदनस्य भोजकः । विश्वस्य ज्ञाता । तीर्थस्य कर्ता । कृतीति किम् ? ओदनं पचति । ननु "न क्ति०" [१।४।७२] इत्यादिनाऽत्र प्रतिषेधो भविष्यति । एवं तर्हि इति मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् । कृत पूर्वमनेन "इन्" [४।१।१९] "पूर्वात्" [४।१।२०] "सपूर्वात्" [४।१।२१] इतीन् । पुनः कर्मग्रहणादिह शेषस्य ग्रहणं नाभिसम्बध्यते ।

द्विप्राप्तौ परे ॥१।४।६९॥ पूर्वसूत्रविन्यासापेक्षया परशब्देन कर्माऽभिप्रेतम् । द्विप्राप्तौ कृति पर एव कर्मणि ता विभक्ती भवति न कर्तरि । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन । रोचते मे ओदनस्य भोजनं देवदत्तेन । साधु खलु पयसः पानं जिनदत्तेन । द्वयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृतीति व्यधिकरणस्य बसस्याश्रयणाद् भिन्ने कृति नियमो न भवति । आश्चर्यमिदमतिथीनां प्रादुर्भावः ओदनस्य च नाम पाकः । "अकाकारयोः प्रयोगे नेति वक्तव्यम्" [वा०]भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम् । चिकीर्षा जिनदत्तस्य काव्यानाम् । अकारग्रहणेन निरनुबन्धकस्य "अस्यात्" [२।३।८४]इत्यस्यैव ग्रहणम् । "शेषे विभाषा" [वा०] अकाकारापेक्षया शेषस्य स्त्रीत्यस्य ग्रहणम् । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्य आचार्येण वा । केचिदविशेषेणेच्छन्ति । विचित्रं शब्दानुशासनमाचार्यस्य आचार्येण वा ।

क्तस्याधिकरणे ॥१।४।७०॥अधिकरणे यः क्तस्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । "अधिकरणे चाथ-र्थाच्च"[२।४।५६]इति अन्यर्थेभ्यो धिभ्यो गत्यर्थेभ्यश्च क्तो वक्ष्यते तस्य प्रयोगे"कर्तृकर्मणोः कृति"[१।४।६८] इति ता प्राप्ता "न क्ति" [१।४।७२]इत्यादिना प्रतिषिद्धा पुनः प्रसूयते । इदमेषामशितम् । इदमेषां भुक्तम् । इदमेषामासितम् । इदमेषां शयितम् । इदमेषां सृप्तम् । इदमेषां पराक्रान्तम् । एषामिति कर्तरि ता । अधिकरणस्य क्तेनोक्तत्वादिदंशब्दादीम्न भवति । "अधिकरणे च" [२।४।५६] इत्यत्र चकारेण यथा प्राप्त समुच्चीयते । कर्तरि-इहेमे आसिताः । भावे-इह एभिरासितम् । शेषविवक्षायामिह एषामासितम् । एवं सर्वत्र योज्यम् ।

भवति ॥१।४।७१॥ भवति काले विहितस्य क्तस्य प्रयोगे ता विभक्ती भवति । अयमपि प्रतिषेधापवादः । राज्ञां मतः । राज्ञां बुद्धः । सतां पूजितः । "मतिबुद्धिपूजार्थाच्च" [२।२।१६६] इति सम्प्रतिकाले क्तः । शेषविवक्षायां यद्यपि ता सिद्धा तथापि कर्तृविवक्षायां भावसाधनार्थमिदम् । सम्प्रतिकाले चकारेण लब्धेषु शीलितादिषु प्रयुक्तेषु ता नेष्यते । देवदत्तेन शीलितः । कथं मयूरस्य नृत्तं छात्रस्य हसितमिति ? शेषविवक्षायेदम् । कर्तरि तु मयूरेण नृत्तम् । छात्रेण हसितम् ।

न क्तिलोकखार्थतृनाम् ॥१।४।७२॥ क्ति त ल उ उक खार्थ तृन् इत्येतेषां प्रयोगे ता विभक्ती न भवति । "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति तायाः प्राप्तायाः प्रतिषेधोऽयम् । क्ति–कटं कृत्वा । कटं कर्तुम् । तसंज्ञा–देवदत्तेन कृतम् । देवदत्तः कटं कृतवान् । ल–कटं कुर्वन् । कटं कुर्वाणः । अनूषिवान् श्रीदत्तं धान्यसिंहः । कटं कारयामास । धर्मे दधिश्रित्तम् । "सहिर्वाहवलिपतीनामियङः" इत्यधिकृत्य धाञ्क्रसृजनितनिभ्यो लिड्वदित्युपसंख्यानेन शीलादिष्वर्थेषु इरित्यय त्यो भवति । कटं चिकीर्षुः । ओदनं बुभुक्षुः । कन्यामलङ्करिष्णुः । उक–आगामुको वाराणसीम् । उकप्रतिषेधे कमेरप्रतिषेधः । दास्याः कामुकः । खार्थः—सुकरः कटो भवता । सुपानं पयो भवता । तृन्निति प्रत्याहारः शतृशानावित्यत आरभ्य तृनो नकारेण । धान्यं पवमानः । अधीयन् जैनेन्द्रम् । "पृङ्यजोः शानः"[२।२।१०६] इति शानः । "धारीङः शत्रकृच्छ्रिणि" [२।२।१०८]इति शतृत्यः । कर्ता कटान् । वदिता जनापवादान् । शीलाद्यर्थे तृन्निति तृन् । "द्विषः शतुर्वा वचनम्" [वा०] चोरं द्विषन् । चोरस्य द्विषन् । "द्विषोऽरौ" [२।२।१०६] इति शतृत्यः ।

वर्त्स्यत्यकस्य ॥१।४।७३॥ वर्त्स्यति काले विहितस्याकस्य योगे ता विभक्ती न भवति । कटं कारको व्रजति । ओदनं भोजको गच्छति । "वुण्तुमौ क्रियायाम्" [२।३।८] इति वुण् । वर्त्स्यतीति किम् ? ओदनस्य भोजकः । वर्त्स्यतीति विहितस्याकस्य ग्रहणादिह न भवति । वर्षशतस्य पूरकः । पुत्रपौत्राणां दर्शकः ।

आधमर्ण्ये चेनः ॥१।४।७४॥ आधमर्ण्ये वर्त्स्यति च काले विहितस्येनः प्रयोगे ता विभक्ती न

भवति । शतं दायी । सहस्रं दायी । "आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिन्" [२।३।१४६] इति णिन् । वर्त्स्यति । गमी ग्रामम् । आगामी नगरम् । "गम्यादिर्भविष्यति" [२।३।१] इति वर्त्स्यतिकाले साधुत्वम् । आधमर्ण्ये चेन इति किम् ? अवश्यकारी कटस्य । आवश्यकेऽर्थे कालसामान्ये णिन् ।

व्यस्य वा कर्त्तरि ॥१।४।७५॥ व्यसंज्ञस्य प्रयोगे कर्तरि वा ता विभक्ती भवति । भवतः कटः कर्तव्यः । भवता कटः कर्तव्यः । कर्तृकर्मणोः कृतीति ता प्राप्ता विभाष्यते । कर्त्तरीति किम् ? गेयो माणवको गाथानाम् । "भव्यगेय०" [२।४।२३] आदि सूत्रे कर्त्तरि गेयशब्दो निपातित । अत्र कर्मणि नित्यं ता भवति । इह कस्मात्ता न भवति कष्टव्या ग्रामं शाखा देवदत्तेन । नेतव्या ग्राममजा देवदत्तेन । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेन "द्विप्राप्तौ परे" [१।४।६६]इत्यस्यास्ताया व्यप्रयोगे प्रतिषेध एव ।

भाऽतुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः ॥१।४।७६॥ वेति वर्तते । तुलोपमाशब्दाभ्यामन्यैस्तुल्यार्थैः शब्दैर्युक्ते वा भाविभक्ती भवति । तुल्यो देवदत्तेन । तुल्यो देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । अतुलोपमाभ्यामिति किम् ? नास्ति तुला देवदत्तस्य । उपमा नास्ति सनत्कुमारस्य ।

अप् चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखहितार्थैः ॥१।४।७७॥ वेति वर्तते । वा अब्विभक्ती भवति आशिषि गम्यमानायाम् । आयुषो निमित्तं संयोगः । "निमित्तं संयोगोत्पादौ" [३।४।३७] "योऽसंख्यापरिमाणाश्वादे." [३।४।३८] इति यः । आयुष्य मद्र भद्र कुशल सुख हित इत्येवमर्थैर्युक्ते । आयुष्यमिदमस्तु देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । चिरमस्तु जीवितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । मद्रं भवतु जिनशासनाय जिनशासनस्य वा । भद्रं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । कुशलं साधुभ्यः । कुशलं साधूनाम् । निरामयं साधुभ्यः । निरामयं साधूनाम् । सुखं साधुभ्यः । सुखं साधूनाम् । शमस्तु साधुभ्यः । शमस्तु साधूनाम् । हितं देवदत्ताय । हितं देवदत्तस्य । पथ्यं देवदत्ताय । पथ्यं देवदत्तस्य । पक्षे शेषलक्षणा ता । चकारः किमर्थः ? अर्थार्थैरपि योगे यथा स्यात् । अर्थो देवदत्ताय । अर्थो देवदत्तस्य । प्रयोजनं देवदत्ताय । प्रयोजनं देवदत्तस्य । तापदे वृत्तिर्न भवति अगमकत्वात् । न हि वृत्त्याऽऽशीर्गम्यते । आशिषीति किम् ? आयुष्यं देवदत्तस्य । अत्र नाप् ।

प्राणितूर्यसेनाङ्गानां द्वन्द्व एकवत् ॥१।४।७८॥ प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्व एकवद्भवति । एकार्थवद्भवतीति अर्थनिर्देशाद्विशेषणानामपि तद्वत्ता । पाणी च पादौ च पाणिपादम् । दन्तौष्ठम् । शिरोग्रीवम् । यदि प्राण्यङ्गं प्राणिग्रहणेन गृह्यते "अप्राणिजातेः" [१।४।८२] इति प्रतिषेधे प्राप्ते अथ न गृह्यते तदा "अप्राणिजातेः" इत्येव सिद्धे व्यतिकरनिवृत्त्यर्थं वचनं प्राण्यङ्गानामन्येन द्वन्द्वो मा भूत् । तूर्यम्—मार्दङ्गिकाश्च पाणविकाश्च मार्दङ्गिकपाणविकम् । सेना—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च रथिकाश्वारोहम् । रथिकपादातम् । "सेनाङ्गेषु बहुत्वे" [वा०] इति तेन रथिकाश्वारोहौ । इत्यश्वादिषु पश्चात् पशु विभाषा । यद्यप्यभिधानवशादिह समाहारे द्वन्द्वः, दधिपयआदिषु इतरेतरयोगे, तन्मृगादिषु उभयम्, तथापि तद्विषयविभागज्ञापनार्थमिदं प्रकरणम् ।

चरणानामनूक्तौ ॥१।४।७९॥ चरणं कठादिप्रोक्तोऽध्ययनविशेषः । तद्यदा पुंल्लिङ्गेन चेतनेषु वर्त्तते तदेह गृह्यते । अनूक्तिरनुवादः । चरणानां द्वन्द्व एकवद्भवति अनूक्तौ । स्थेणोर्लुङन्तयोः प्रयोगे नियम्यते । उदगात् कठकालापम् । प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम् । अनूक्ताविति किम् ? उदगुः कठकालापाः । प्रथमोपदेशोऽयम् । कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः । प्रोक्तार्थे "शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन्" [३।३।११] इति णिन् । तस्य "कठचरणात्का लुप्" इत्युप् । अध्येतृविषयस्याणः "उप प्रोक्तात्" [३।२।२४] इत्युप् । कलापिना प्रोक्तमधीयते कालापाः । प्रोक्तार्थे "कठापिनोऽण्" । टिखम् । परस्याणः "उप्प्रोक्तात्" [३।२।२४] इत्युप् । "छन्दो ब्राह्मणानि चाणैव" [३।२।२६] इत्यध्येतृविषयता ।

अध्वर्युक्रतुरनप् ॥१।४।८०॥ अध्वर्यवश्छन्दसि अध्वर्युर्यजुर्वेदः । अध्वर्यु [illegible]

कारस्य खम्। क्यजन्तस्य उश्च स्यः। अध्वर्युक्रतुरनपुंसकलिङ्गो द्वन्द्व एकवद्भवति। येषां क्रतूनां यजुर्वेदशाखासु लक्षणं प्रयोगश्च शिष्यते प्राधान्येन तेषामध्वर्युक्रतूनामनपुंसकलिङ्गानां द्वन्द्व एकवद्भवति इत्यर्थः। अर्कश्च अश्वमेधश्च अर्काश्वमेधम्। सायाह्नातिरात्रम्। पौण्डरीकातिरात्रम्। अध्वर्युक्रतुरिति किम्? पञ्चौदनदशौदनाः। इषुवज्रौ। उद्भिद्वलभिदौ। एते सामवेदविहिताः। अनपुंसकमिति किम्? राजसूयं च वाजपेयं च राजसूयवाजपेये। इह कस्मान्न भवति दर्शपौर्णमासौ। दधिपयआदिषु द्रष्टव्यः।

अधीत्याऽदूराख्यानाम् ॥१।४।८१॥ आख्या नामधेयम्। अधीत्या निमित्तभूतया अदूराख्यानां द्वन्द्व एकवद्भवति। पदमधीते पदकः। क्रममधीते क्रमकः। पदकक्रमकम्। क्रमकवार्त्तिकम्। पदाध्ययनस्यासन्नं क्रमाध्ययनम्। अधीत्येति किम्? आढ्यदरिद्रौ। अदूराख्यानामिति किम्? याज्ञिकवैयाकरणौ। यज्ञमधीते याज्ञिकः।

अप्राणिजातेः ॥१।४।८२॥ अप्राणिजातिवाचिनां द्वन्द्व एकवद्भवति। आराशस्त्रि। धानाशष्कुलि। युगवरत्रम्। अप्राणिग्रहणं किम्? गौपालिशालङ्कायनाः। गोत्रं चरणैः सहेति जातिः। जातेरिति किम्? हिमवद्विन्ध्यौ। नन्दकपाञ्चजन्यौ। सञ्ज्ञाशब्दा एते। नञ्सदृशसम्प्रत्ययहेतुः। तेन द्रव्यजातीनामेकत्वादिह न भवति। रूपरसगन्धस्पर्शाः। गमनागमने। जातेरविवक्षाया न भवति। बदरामलकानि तिष्ठन्ति।

भिन्नलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामोऽपुरम् ॥१।४।८३॥ भिन्नलिङ्गानां नदीदेशवाचिनामग्रामाणामपुराणां द्वन्द्व एकवद्भवति। नदी—उद्ध्यश्चैरावती च उद्ध्यैरावति। विपाट्चक्रभिदम्। गङ्गाशोणम्। देशाः—कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम्। कुरुकुरुजाङ्गलम्। दार्वाश्च अभिसारं च दार्वाभिसारम्। काश्मीराभिसारम्। भिन्नलिङ्ग इति किम्? गङ्गायमुने। मद्रकेकयाः। नदीदेश इति किम्? कुक्कुटमयूर्यौ। अग्राम इति किम्? जाम्बवश्च शालूकिनी च जाम्बवशालूकिन्यौ। ननु नद्यपि देश इति पृथग्ग्रहणं किमर्थम्? ज्ञापकार्थं जनपदो देशोऽभिप्रेतो न नदीपर्वतादिः। तेनेह नैकवद्भावः। कैलासश्च गन्धमादनं च कैलासगन्धमादने। अपुरमिति किम्? लोके ग्रामग्रहणेन पुरमपि गृह्यते ततोऽपुरमिति प्रतिषेधः। मथुरापाटलिपुत्रम्। अग्राम इति प्रसज्यप्रतिषेधः। तेन यत्र पुरग्रामयोर्द्वन्द्वस्तत्रापि नैकत्वम्। नासौर्यकैतवौ पुरग्रामौ।

क्षुद्रजीवाः ॥१।४।८४॥ इहाल्पशरीरः क्षुद्रः। क्षुद्रजीवानां द्वन्द्व एकवद्भवति। क्षुद्रजीवाश्रयो द्वन्द्व उपचारात् क्षुद्रजीवा इति निर्देशः। यूकालिक्षम्। शतस्वश्च उत्पादकाश्च शतसूत्पादकम्। दशमशकम्।

"क्षुद्रजीवा अकङ्काला येषां स्वं नास्ति शोणितम्। नाञ्जलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि ॥"[1]

केचित् शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। क्षुद्रजीवा इति बहुवचननिर्देशात् द्वित्वविषये नेदमिति यूकालिक्षौ। दशमशकौ।

येषाञ्च द्वेषः शाश्वतिकः ॥१।४।८५॥ द्वेषोऽप्रीतिः। येषां च द्वेषः शाश्वतिकस्तद्वाचिनां द्वन्द्व एकवद्भवति। शश्वद्भवः शाश्वतिकः। "कालाट्ठञ्" [३।२।१३१] इति ठञ्। निपातनादिकादेशः। "कर्मनाम्नि टिखम्" इति खं च न भवति। अहिनकुलम्। श्ववराहम्[2]। "अन्यस्यापि" [४।३।२३२] इति टीत्वम्। शाश्वतिक इति किम्? गौपालिशालङ्कायनाः। केनचिन्निमित्तेन कलहायन्ते। चकारोऽवधारणार्थः। अयमेव नित्यं एकवद्भावो यथा स्यात् परवादिविभाषा मा भूत्। अश्वमहिषम्। काकोलूकम्।

---

१. पा० महाभाष्ये—"क्षुद्रजन्तुरनस्थि स्यादथ वा क्षुद्र एव यः। नाञ्जलिर्यत्सहस्रेण केचिदानकुलादपि।" २।४।८। २. श्ववाराहम् अ०।

वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानाम् ॥१।४।८६॥ वर्णेनार्हद्रूपस्यायोग्यास्तेषां द्वन्द्व एकवद्भवति। येन रूपे णार्हन्त्यमवाप्यते, तदिह नैर्ग्रन्थ्यमर्हद्रूपमभिप्रेतम्। अतिशयोपेतस्यार्हद्रूपस्य प्रातिहार्यसमन्वितस्य बहुतरमयोग्यमिति नेह तद् गृह्यते। तक्षायस्कारम्। कुलालवरुढम्। रजकतन्तुवायम्। नन्वेतेष्वप्येकवद्भावः प्राप्नोति। चण्डालमृतपाः। न दधिपयआदिष्वन्तर्भूतो द्वन्द्वो द्रष्टव्यः। वर्णेनेति किम्? मूकबधिरा'। एते करणदोषेणायोग्याः। अर्हद्रूपायोग्यानामिति किम्? ब्राह्मणक्षत्रियौ।

गवाश्वादीनि च ॥१।४।८७॥ गवाश्वादीनि च गणपाठे द्वन्द्वरूपाणि च एकवद्भवन्ति। गवाश्वम्। गवैडकम्। गवाविकम्। अजाविकम्। पशुविभाषा प्राप्ता। कुब्जवामनम्। कुब्जकैरातकम्। पुत्रपौत्रम्। श्वचाण्डालम्। अद्वेषे—स्त्रीकुमारम्। दासीमाणवकम्। शाटीपिच्छिकम्। इद जात्यविवक्षायाम्। उष्ट्रखरम्। उष्ट्रशशम्। पशु विभाषा प्राप्ता। मूत्रशकृत्। मूत्रपुरीषम्। यकृन्मेदः। मांसशोणितम्। इमानि जात्यविवक्षायाम्। दर्भशरम्। दर्भपूतीकम्। अर्जुनपुरुषम्'। तृणोपलम्। एतेषां तृणविकल्पः प्राप्तः। दासीदासम्। कुटीकुटम्। भागवतीभागवतम्। एषां सरूपाणां लिङ्गमात्रकृतविशेषाणां निपातनाद् द्वन्द्वः। चकारोऽवधारणार्थः। गवाश्वादीनि पठितान्येवैकवद्भवन्ति नान्यथा। गोऽश्वौ। गोऽश्वम्।

वा तरुमृगतृणधान्यव्यञ्जनपश्वश्ववडवपूर्वापराधरोत्तरपक्षिणः ॥१।४।८८॥ तरु-मृग तृण धान्य-व्यञ्जन पशु विशेषवाचिनामश्व-वडव-पूर्वापर-अधरोत्तर इत्येषां पक्षिविशेषाणां च द्वन्द्वो वा एकवद्भवति। प्लक्षन्यग्रोधम्। प्लक्षन्यग्रोधाः। आरण्या मृगाः। रुरुपृषतम्। रुरुपृषताः। कुशकाशम्। कुशकाशाः। व्रीहियवम्। व्रीहियवाः। दधिघृतम्। दधिघृते। ग्राम्याः पशवः। वृष्णिस्तभम्। वृष्णिस्तभाः। अश्ववडवम्। अश्ववडवौ। पर्यायनिवृत्त्यर्थं च अश्ववडवग्रहणम्। पूर्वापरम्। पूर्वापरे। अधरोत्तरम्। अधरोत्तरे। तित्तिरिकापिञ्जलम्। तित्तिरिकापिञ्जलाः। अत्रेष्टिः। "सेनाङ्गफलक्षुद्रजीवतरुमृगतृणधान्यपक्षिणां बहुत्वार्थग्रहणे एकवद्भावः" [वा०] तेन रथिकाश्वारोहौ। बदरामलके। इदमेव ज्ञापकम् "अप्राणिजातेः" [१।४।८२] इत्यत्र न बहुवचनान्त एव विग्रहोऽभिप्रेतः। यूकालिक्षे। 'प्लक्षन्यग्रोधौ। रुरुपृषतौ। कुशकाशौ। व्रीहियवौ। हसचक्रवाकौ। वेति योगविभागोऽयम्। द्वन्द्वमात्रे कृतो भवेत्। पूर्वो विधिस्तु नित्यार्थः तुल्यजात्यर्थ उत्तरः। इह मा भूत्—प्लक्षयवाः। हसपृषताः।

विरोधि चानाश्रये ॥१।४।८९॥ वेति वर्तते। आश्रयो द्रव्यं विरोधो येषामस्ति तद्वाचिनामनाश्रयाभिधायिना द्वन्द्व एकवद् भवति। विरोधीत्यामः खे कृते सौत्रो निर्देशः। सुखदुःखम्। सुखदुःखे। जननमरणम्। जननमरणे। शीतोष्णम्। शीतोष्णे। विरोधीति किम्? कामक्रोधौ। अनाश्रय इति किम्? सुखदुःखौ ग्रामौ। शीतोष्णे उदके। चकारादविरोधेऽपि। वधूवरम्। वधूवरौ। स्थावरजङ्गमम्। स्थावरजङ्गमे।

न दधिपयआदीनि ॥१।४।९०॥ दधिपयआदीनि द्वन्द्वरूपाणि नैकवद्भवन्ति। येन केनचित् प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम्। दधिपयसी। सर्पिर्मधुनी। मधुसर्पिषी। व्यञ्जनत्वात् प्राप्तिः। ब्रह्मप्रजापती। शिववैश्रवणौ। स्कन्दविशाखौ। परिव्राजककौशिकौ। प्रवर्ग्योपसदौ। वेति प्राप्तिः। शुक्लकृष्णौ[2]। इध्माबर्हिषी। निपातनात् पूर्वस्य दीर्घत्वम्। योगानुबन्धके। दीक्षातपसी। श्रद्धातपसी। अध्ययनतपसी। उलूखलमुसले। आद्यावसाने। श्रद्धामेधे। ऋक्सामे। वाङ्मनसे। वेति योगविभागात् प्राप्तिः। चण्डालमृतपादयश्च।

अर्थैतावत्त्वे च ॥१।४।९१॥ एतावत्त्वमियत्ता। वृत्त्यवयवार्थानामेतावत्त्वे च द्वन्द्वो नैकवद्भवति। द्वादश मे मार्दङ्गिकपाणविकाः। चकारः प्रतिषेधानुकर्षणार्थः।

वा समीपे ॥१।४।९२॥ नेति निवृत्तम्। अर्थानामेतावत्त्वस्य समीपे वा द्वन्द्व एकवद्भवति। उपदशं दन्तोष्ठम्। उपदशा दन्तोष्ठाः। एकवद्भावपक्षे हसोऽनुप्रयुक्तने अन्यत्र बस्। हसे "अन" [४।२।११०] इति अः सान्तः। बसे तु टः।

---

१ अर्जुनशिरीषम् इति काशिका २. शुक्लकृष्णे अ, ब०, म०।

स नप् ॥१।४।९३॥ यस्यायमुक्त एकवद्भावः स नब्भवति । तथा नैवोदाहृतम् । समाहारे स्नो नप् भवतीति वक्तव्यम् । पञ्चाग्नि । पञ्चवायु । अकारान्तप्रकरणे "रात्" [३।१।२५] इति ईविधान ज्ञापकम् । अकारान्तोत्तरपदो रः स्त्रिया वर्तत इति । पञ्चपूली । दशगरी । "वाबन्त इति वक्तव्यम्" [वा०] पञ्चखट्वी । पञ्चखट्वम् । "स्त्रीगोर्नीचः" [१।१।८] इति प्रादेशः । "अन्नन्तस्य नत्वं स्त्रियां वा वृत्तिः" [वा०] पञ्चतक्षम् । पञ्चतक्षी । "पात्रादिभ्यश्च प्रतिषेधः" [वा०] पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् । चतुर्युगम् । पञ्चगवम् । दशगवम् । "गोरहृदुपि" [४।२।९४] इति टः सान्तः ।

हृश्च ॥१।४।९४॥ हसश्च नब्भवति । अधिस्त्रि । उन्मत्तगङ्गम् । द्विमुनीदम् । "स्रो नपि" [१।१।७] इति प्रादेशार्थमनुप्रयोगार्थं च वचनम् । पूर्वपदार्थप्रधानस्यालिङ्गत्व प्राप्तम् । अन्यत्राभिधेयवल्लिङ्ग प्राप्तम् । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन क्रियाविशेषणाना नपुसकत्व सिद्धम् । शोभन पचति[1] ।

षोऽनञ् यः ॥१।४।९५॥ नञ्स यसञ्च वर्जयित्वा नब्भवतीत्येतदधिकृत वेदितव्यम् । ष इति पुल्लिङ्गेन निर्देशः सौत्रः । वाक्यप्रकरणादन्यत्र कामचारो वा वक्ष्यति । सेनासुराच्छायाशालानिशा वेति । क्षत्रियसेना । क्षत्रियसेनम् । ष इति किम् ? महती सेनाऽस्य महासेनः । अनञिति किम् ? असेना । अय इति किम् ? परमसेना ।

खौ कन्थोशीनरेषु ॥१।४।९६॥ खुविषये कन्थान्तः षसो नब्भवति उशीनरेषु चेत् सा कन्था । सौसमीना कन्था सौसमिकन्थम् । आह्वरकन्थम् । आसमिकन्थम् । चर्मकन्थम् । एते उशीनरेषु ग्रामाः । विग्रहवाक्य सादृश्यमात्रेण । खाविति किम् ? वीरणकन्था । उशीनरेष्विति किम् ? दाक्षिकन्था । अन्यत्र ग्रामसञ्ज्ञेयम् ।

उपज्ञोपक्रमं तदाद्युक्तौ ॥१।४।९७॥ उपज्ञायत इति उपज्ञा उपदेशः । उपक्रम्यत इति उपक्रमः प्रारम्भः । उपज्ञोपक्रम इत्येवमन्तः षसो नब्भवति तयोरुपज्ञोपक्रमयोराद्युक्तौ गम्यमानायाम् । स्वायम्भुवस्योपज्ञा स्वायम्भुवोपज्ञमाकालिकाचाराध्ययनम् । देवोपज्ञमनेकशेषव्याकरणम् । कुरुराजस्योपक्रमः कुरुराजोपक्रम दानम् । अकम्पनोपक्रम स्वयवरविधानम् । उपज्ञोपक्रममिति किम् ? आदिदेवतपस्या तीव्रा । तदाद्युक्ताविति किम् ? देवदत्तोपज्ञा । देवदत्तोपक्रमो गणितम् । उत्तरपदस्य प्राधान्यवल्लिङ्गम् । ष इत्येव । सम्यगुपज्ञो भगवान् स्वायम्भुवो यस्येदमाकालिकाचाराध्ययनम् । वाक्येन तदाद्युक्तौ गम्यमानायामिद प्रत्युदाहरणम् ।

छाया बहूनाम् ॥१।४।९८॥ बहूना या छाया तदन्तः षसो नब्भवति । इक्षूणा छाया इक्षुच्छायम् । शलभच्छायम् । बहूनामिति किम् ? कुड्यस्य छाया कुड्यच्छायम् । कुड्यच्छाया । "सेनासुरा०"[१।४।१०१] इत्यादिना विकल्पः । ष इत्येव । बहवश्छाया अस्मिन्बहुच्छायो वनखण्डः ।

सभाऽराजामनुष्यात् ॥१।४।९९॥ अराज्ञः अमनुष्याच्च परा या सभा तदन्तः षो नब् भवति । अराज० । इनस्य सभा इनसभम् । ईश्वरसभम् । इन्द्रसभम् । पार्थिवसभम् । राजशब्दपर्युदासात् तत्पर्यायाणामत्र ग्रहणं न विशेषाणाम् । तेनेह न भवति । सातवाहनसभा । चन्द्रगुप्तसभा । अमनुष्यात्—रक्षसा सभा रक्षःसभम् । पिशाचसभम् । अमनुष्यशब्दस्य च रक्षःप्रभृतिष्वेव रूढत्वादिह न भवति । काष्ठसभा । पाषाणसभा । पक्वेष्टकासभा । यद्येवं "टगमनुष्ये" [२।२।५०] इत्यत्र कथम् । जायाघ्नस्तिलकः । पित्तघ्नं घृतम् । "युड्व्या बहुलम् [२।३।९४] इति बहुलवचनात्तत्रान्यस्यापि ग्रहणम् । "अराजामनुष्यात्" इति किम् ? राजसभा । देवदत्तसभा । ष इत्येव । ईश्वरा सभाऽस्य ईश्वरसभः ।

अशाला ॥१।४।१००॥ अशाला च या सभा तदन्तः षो नब्भवति । गोपालसभम् । दासीसभम् । स्त्रीसभम् । अत्र समुदाये सभाशब्दः । अशालेति किम् ? देशिकसभा ।

---

1. -ति । मृदु पचति । अ० ।

सेनासुराच्छायाशालानिशा वा ॥१।४।१०१॥ सेना सुरा छाया शाला निशा इत्येवमन्तः षो वा नब्भवति। देवाना सेना देवसेनम्। देवसेना। पिष्टसुरम्। पिष्टसुरा। कुड्यच्छायम्। कुड्यच्छाया। गोशालम्। गोशाला। श्वनिशम्। श्वनिशा। चोरनिशम्। चोरनिशा। ष इत्येव। सूरसेनो राजा। अनन्य इत्येव। असेना। परमसेना।

द्वन्द्वे युवल्लिङ्गम् ॥१।४।१०२॥ द्वन्द्वे सेत्रोरिव लिङ्गं भवति। इतरेतरयोगद्वन्द्वस्येह ग्रहणम्। तत्र सर्वेषामवयवाना प्राधान्यात् पर्यायेण समुदायलिङ्गे प्राप्ते वचनम्। कुक्कुटमयूर्याविमे रमणीये। मयूरी कुक्कुटाविमौ। यथा "हश्च" [१।४।९४] इति नपुंसकलिङ्गातिदेशः सघातस्य भवति न चावयवस्य निवर्तकः। अधिस्त्रि। अधिकुमारीति। एवमिहापि समुदाये लिङ्गातिदेशोऽनुप्रयोगार्थ क्रियमाणो नावयवस्य स्त्रीत्वस्य निवर्तकः। षसस्य युवल्लिङ्गातिदेशो न वक्तव्यः। विशेष्यवल्लिङ्गवचनानि भवन्ति विशेषणानामित्यनेन सिद्धत्वात्। द्व्यर्थस्य तु विशेष्यत्वात् प्राधान्यम्। अर्द्धपिप्पली। अर्द्धकौशातकी शोभना। यत्र पूर्वपदार्थः प्रधान ता पूर्ववल्लिङ्गमेव। यथा "प्राप्तापन्नालम्पूर्वविसलक्षणेषु"। प्राप्तो जीविका प्राप्तजीविकः। आपन्नजीविकः। अल जीविकायै अलञ्जीविकः। "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे कया" [वा०] निष्क्रान्ता कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः। हृदर्थे रसस्य अन्यपदार्थप्राधान्यादभिधेयवल्लिङ्गम्। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः पुरोडाशः।

अश्ववडवौ पूर्ववत् ॥१।४।१०३॥ अश्ववडवयोरितरेतरयोगे पूर्ववल्लिङ्ग भवति। अश्वश्च वडवा च अश्ववडवौ। समुदाये लिङ्गातिदेशेऽनुप्रयोगार्थे पूर्ववल्लिङ्गनिवृत्तिर्नास्तीत्युक्तम्। कथ टापो निवृत्तिः। अश्ववडव इति निपातनात्। पूर्ववदिति किमथम्? अर्थातिदेशार्थम्। अश्ववडवावित्युच्यमाने वचनान्तरे न स्यात्। अश्ववडवान् पश्य। अश्ववडवैः कृतम्।

रात्राह्नौ पुंसि ॥१।४।१०४॥ रात्रअह्नशब्दौ कृतसान्तौ निर्दिष्टौ एतौ पुंसि भवतः। द्वयो रात्र्योः समाहारः द्विरात्रः। "अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः" [४।२।८६] इत्यः सान्तः। पूर्वमहः पूर्वाह्णः। अपराह्णः। "पूर्वापरप्रथम" [१।३।४३] इत्यादिना षसः। "राजाहःसखिभ्यष्टः" [४।२।९३] इति टे कृते "एभ्योऽह्नोऽह्नः" [४।२।९०] इत्यह्नादेशः। उत्तरपदप्राधान्यात् स्त्रीनपुंसके प्राप्ते।

अहः ॥१।४।१०५॥ अह इत्यय शब्दः पुंसि भवति। द्वयोरह्नो समाहारः द्व्यहः। त्र्यहः। "न समाहारे" [४।२।९१] इत्यह्नादेशप्रतिषेधः। टिलम्। "अनुवाकादयश्चेति वक्तव्यम्" [वा०] अनुवाकः। सम्प्रवाकः। सूक्तवाकः।

पुण्यसुदिनाभ्यां नप् ॥१।४।१०६॥ पुण्यसुदिनाभ्या परः अहशब्दो नब्भवति। पुण्यमहः पुण्याहम्। पुण्यग्रहण सूत्र उपलक्षणम्। एकाहमिति च भवति। विशेषणसविधिः। "पुण्यैकाभ्याम्" [४।२।९०] इति अह्लादेशप्रतिषेधः। सुदिनमहः सुदिनाहम्।

अपथम् ॥१।४।१०७॥ अपथं शब्दो नब्भवति। न पन्थाः अपथम्। "पथो वा" [४।२।१८] इति प्रतिषेध विकल्पः। "ऋक्पूरब्धूःपथोऽनक्षे" [४।२।७०] इति अमान्तः। ष इत्येव। न विद्यते पन्था अस्मिन् अपथो देशः। अपथा अटवी। "क्रिमंकशब्दे रिति वक्तव्यम्" [वा०] उत्पथम्। "तिकुप्रादयः" [१।३।८१] इति षसः। त्रिपथञ्चतुःपथमिति तासः।

पुंसि चार्धर्चा ॥१।४।१०८॥ अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि नपि च वेदितव्याः। अर्धं च ता ऋक् च सार्द्धर्चः। अर्द्धर्चम्। गोमयकषायकार्षापणकुतपकवाटशङ्खादिपाठादवगमः कर्तव्य।

"शब्दरूपाश्रया चेयं प्रणीनोभयलिङ्गता। क्वचिदप्यर्थभेदेन शब्देष व्यवतिष्ठते॥"

पद्मराड्शङ्खशब्दौ निधिवचनौ पुलिङ्गौ। जलजे द्विलिङ्गौ। भूतशब्दः प्राणिनि द्विलिङ्गः। क्रियायां स्वाभिधेयवल्लिङ्गम्। सैन्धवशब्दो लवणे द्विलिङ्गोऽन्यत्राभिधेयवल्लिङ्गः। सारशब्दोऽन्यायेऽर्थे नपुंसकलिङ्गः। उत्कर्षेऽर्थे पुंल्लिङ्गः। धर्मशब्दोऽपूर्वे पुंलिङ्गः। तत्साधने नपुंसकलिङ्गः।

अगे ॥१।४।१०६॥ अगे इत्ययमधिकारो वक्ष्यते। "हनो वध लिङि" [१।४।११४] इति। वध्यात्। वध्यास्ताम्। वध्यासुः। "अतः खम्" [४।४।५०] इत्यकारस्य खम्। अग इति किम्? हन्यात्। अग इति विषयनिर्देशः। आदेशे कृते यो यतः प्राप्नोति स ततो यथा स्यादित्येवमर्थः। आख्येयम्। भव्यम्। प्रवेयम्। परनिर्देशे हि ण्यः प्रसज्येत।

तिकित्प्येऽदो जग्धिः ॥१।४।११०॥ तकारादौ किति प्ये चागे परतोऽदेर्जग्धिरादेशो भवति। जग्ध्वा। जग्धिः। जग्धवान्। इकार उच्चारणार्थः। "तथोर्धोऽधः" [४।३।५६] इति तकारस्य धत्वम्। "झलां जश् झशि" [५।४।१२८] इति धकारस्य दत्वम्। "झरो झरि स्वे" [५।४।१३६] इति दखम्। कथमन्नम्? "अदोऽनन्ने" [२।२।६०] इति निपातनात्। प्ये—प्रजग्ध्य। "अनल्विधौ" [१।१।५६] इति स्थानिवद्भावो नास्ति। इदमेव ज्ञापकम् "एकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गानपि जग्ध्यादिविधीन् वहिरङ्गः ल्यादेशो बाधते" [प०] तेन प्रधायेत्यत्र हित्व न भवति। प्रखन्येति "जनसनखनाम्" [४।४।४३] इति नित्यमात्वं न भवति। प्रदायेति "दो दद्घोः" [५।२।१४८] इति दत्त्व नास्ति। प्रस्थायेति "द्यतिस्यति-मास्था" [५।२।१४४] इत्यादिनेत्वं नास्ति। प्रशाम्येति "ढस्य क्विझलोः" [४।४।१२] इति दीत्व नास्ति। प्रपृच्छ्य प्रदीव्येति शूठौ न भवतः। प्रपठ्येति इडभावः।

घस्लृ लुङ्घञ्सनच्सु ॥१।४।१११॥ अदेर्घस्लृ इत्ययमादेशो भवति लुङि घञि सनि अचि च परतः। लुङि—अघसत्। अघसताम्। अघसन्। घञि—घासः। सनि। जिघत्सति। अजिति पचाद्यचः [२।१।१०६] "गावदः" [२।३।५३] इत्यस्य च सामान्येन ग्रहणम्। प्रात्तिः प्रादनं वा प्रघसः।

लिटि वा ॥१।४।११२॥ लिटि परतः अदेर्घस्लादेशो भवति वा। जघास। जक्षतुः। जक्षुः। आद। आदतुः। आदुः।

वेञो वयिः ॥१।४।११३॥ वेञो वयिरादेशो लिटि वा भवति। इकार उच्चारणार्थः। उवाय। ऊयतुः। ऊयुः। णलि "चस्यैषां लिटि" [४।३।१३] इति वकारस्य जिः। "लिटि वेञो यः" [४।३।३२] इति यकारस्य जिप्रतिषेधे 'हलोऽनादेः" [५।२।१६१] इति खम्। अतुसि उसि च "वचिस्वपियजादीनां किति" [४।३।११] इति जिः प्राप्तः। "प्ये च" [४।३।३४] इति प्रतिषिद्धिः। "वो वा किति" [४।३।३३] इति विभाषया प्राप्तः। "ग्रहिज्यावयि" [४।३।१२] इति नित्यो जिर्भवति। यदा न वयिस्तदा "प्ये च" [४।३।३४] इति जिप्रतिषेधे—ववौ। द्वित्वहोः "वो वा किति" [४।३।३३] इति जिपक्षे—ऊवतुः। ऊवुः। जौ कृते द्वित्वे च "वार्णाद्गावं बलीयः" [प०] इति उवादेशे कृते "स्वेऽको" [४।३।८८] दीत्वम्। अजिपक्षे—ववतुः। ववुः।

हनो वध लिङि ॥१।४।११४॥ हन्तेर्वध इत्ययमादेशो भवति लिङ्यगे परतः। वध इत्यदन्तः उदात्तश्चादेशः। वध्यात्। वध्यास्ताम्। वध्यासुः। अखस्य स्थानिवद्भावादवधीरित्यत्र हलन्तलक्षणः "अतोऽनादेर्घः" [५।१।८३] इत्यैप् न भवति। इह वेति न स्मर्यते। वधक इति प्रकृत्यन्तरस्य।

लुङि ॥१।४।११५॥ लुङि परतो हन्तेर्वध इत्ययमादेशो भवति। अवधीत्। अवधिष्टाम्। अवधिषुः। उत्तरत्र वानिर्देशादिह नित्यो विधिः।

वेङि ॥१।४।११६॥ इङि लुङि परतो हन्तेर्वधादेशो वा भवति। आवधिष्ट। आवधिषाताम्। आवधिषत। आहत। आहसाताम्। आहसत। "आङो यमहनः" [१।२।२३] इति दविधिः। "हनः सिः" [१।१।८८] इति सेः कित्त्वम्। कर्मणि—अवधि। अवधिषाताम्। अवधिषत। जिवद्भावे अघानि। अघानिषाताम्। अघानिषत।

लुङ्येत्योर्गाः ॥१।४।११७॥ लुङि परतः एत्योर्गा इत्ययमादेशो भवति। अगात्। अगाताम्। अगुः। अध्यगात्। अध्यगाताम्। अध्यगुः। "स्थेण्पिव" [११४।१४६] इत्यादिना "इण्वदिकः" इति च सेरुप्। "आतः" [२।४।६०] इति भेर्जुस्। पुनर्लुङ्ग्रहणमित्यपि नित्यार्थम्। अगायि भवता। अध्यगायि भवता। गात्रमिति गायतेः।

णौ गमज्ञाने ॥१।४।११८॥ णौ परत एत्योर्गमित्ययमादेशो भवत्यज्ञानेऽर्थे। गमयति। गमयतः। गमयन्ति। अनेकार्थत्वादिकोऽप्यज्ञाने वृत्तिः। अधिगमयति। अधिगमयतः। अधिगमयन्ति। "उदोऽतः" [५।२।४] इत्यैप्। "जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च" इति मित्वम्। "मिणमोर्दीर्मिताम्" [४।४।८६] "॰ः" [४।४।८७] इति प्रादेशः। अज्ञान इति किम्? अर्थान् सप्रत्याययति।

सनि ॥१।४।११९॥ सनि च परत एत्योरज्ञानेऽर्थे गमित्ययमादेशो भवति। जिगमिषति। अधिजिगमिषति। "गमेरिण्मे" [५।१।१०६] इतीट्। अज्ञान इत्येव। अर्थान् प्रतीषिषति। अच इति वर्तमाने "सन्यङोः" [४।३।८] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम्। योगविभाग उत्तरार्थः।

इङः ॥१।४।१२०॥ सनि परत इङो गमित्ययमादेशो भवति। अधिजिगांसते। इटिकावपि न व्यभिचरतः। "हनिङ्गम्यचां सनि" [४।४।१४] इति दीत्वम्।

गाङ् लिटि ॥१।४।१२१॥ इङो गाङित्ययमादेशो भवति लिटि परतः। अधिजगे। अधिजगाते। अधिजगिरे। "सेर्लिपिच्च" [२।४।७४] इति ज्ञापकादादेशस्य ङित्वे गाङो ङित्करणं किमर्थम्? "गाङ्कुटादेरञ्णिञ्ङित्" [१।१।७५] इत्यत्र विशेषणार्थः। गायतेर्ग्रहणं मा भूत्। अगासीद्गाथकः इति ईत्वं प्रसज्येत।

लुङ्लृङोर्वा ॥१।४।१२२॥ लुङ्लृङोः परत इङो वा गाङादेशो भवति। लुङि—अध्यगीष्ट। अध्यगीषाताम्। अध्यगीषत। "गाङ्कुटादेः" [१।१।७५] इति ङित्वं "घुमास्थागा" [४।४।६५] इत्यादिनेत्वम्। पक्षे अध्यैष्ट। अध्यैषाताम्। अध्यैषत। लृङि—अध्यगीष्यत। अध्यगीष्येताम्। अध्यगीष्यन्त। पक्षे अध्यैष्यत। अध्यैष्येताम्। अध्यैष्यन्त।

णौ सन्कचोः ॥१।४।१२३॥ णौ सन्परे कच्परे च परतः इङो वा गादेशो भवति। अध्यापयितुमिच्छति अधिजिगापयिषति। "प्रकल्प्यापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते" [प०] इति गादेशपक्षे "क्रीङ्जेर्णौ" [४।३।४१] इत्यात्वं न भवति। अन्यत्र अध्यापिपयिषति। "अचः" [४।३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम्। कच्परे—अध्यजीगपत्। अन्यत्र अध्यापिपत्। माङ्योगे—मा भवानध्यापिपदिति भवति। "णौ कच्युङः" [४।२।११५] इति प्रादेशे कृते द्वित्वम्। कथं गापने? ओणतेः अदित्करणं ज्ञापकं यदि द्वित्वं प्रागेव स्यात् ओण उकारस्यानुद्भूतत्वात् प्रादेशप्रतिषेधार्थं अदित्करणमनर्थकं स्यात्।

अस्तिब्रूञोर्भूवची ॥१।४।१२४॥ अस्तिब्रूञित्येतयोर्यथासङ्ख्यं भू वचि इत्येतावादेशौ भवतः। भविता। भवितुम्। भवितव्यम्। अस्तीति तिपा निर्देशः किमर्थः? यस्य केवलस्य अस्तीति रूपं तस्य यथा स्यात् अनुप्रयोगस्य लिट्परस्य मा भूत्। ईहामास। ब्रूञ्। वक्ता। वक्तुम्। वक्तव्यम्। वचेरिकार उच्चारणार्थः। स्थानिवद्भावाद्दः। ऊचे।

चक्षः ख्शाञ् ॥१।४।१२५॥ चक्षः ख्शाञित्ययमादेशो भवति अगे। आख्याता। आख्शाता। "ख्शःशो यो वा" [२।४।१२४] इति वा यकारादेशः। पर्याख्यानमित्यत्र यकारादेशस्यासिद्धत्वात् ... व्यवहितत्वात् "कृत्यचः" [५।४।१०८] इति णत्वं न भवति। स्थानिवद्भावेन "अनुदात्तेतो दः" [१।२।६] इति नित्यं दो मा भूत् इति नित् क्रियते।

न वर्जने ॥१।४।१२६॥ वर्जनेऽर्थे चक्षः ख्शाञादेशो न भवति। गा सचक्ष्य। वर्जयित्वेत्यर्थः। कण्टकाः सचक्ष्याः। नेति योगविभागादसि युचि च प्रतिषेधः। नृचक्षाः राक्षसः। विचक्षणः।

वा लिटि ॥१।४।१२७॥ लिटि परतो वा चक्षः ख्शाञादेशो भवति। आचख्यौ। आचख्ये। आचचक्षे। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते ऽयमारम्भः।

व्यजोऽघञचोः ॥१।४।१२८॥ अजेर्घोः वी इत्ययमादेशो भवति अघञचोः परतः। अनुदात्तोऽयमादेशः। प्रवेता। प्रवायकः। अघञचोरिति किम्? समाजः। उदाजः। समजः। उदजः। "पशुष्वज. समुदोः" [२।३।५६] इति पशुविषयेऽच्। अन्यत्र घञ्। अजिति सामान्यग्रहणं तेन पचादिलक्षणेऽप्यचि प्रतिषेधः। अजतीत्यजः।

बहुलं खौ ॥१।४।१२९॥ खुविषये बहुलमजेर्वीभावः। प्रवयणो दण्डः (प्राजनः।) बहुलग्रहणाद्युवलादौ च विकल्पः। प्रवेता। प्राजिता। प्रवेतुम्। प्राजितुम्। प्रवयणम्। प्राजनम्। अजिरमित्यौणादिकः शब्दः। समज्या। "समजनिषद" [२।३।८१] इत्यादिना क्यप्। अत्र बहुलवचनान्न भवत्येव।

ञिण्यराजार्षाद्यून्युवणिञोः ॥१।४।१३०॥ ञिदन्तात् ण्यन्तात् राजविशेषवाचिवृद्धात् आर्ष्यणन्ताच्च परयोरणिञोः यूनि उप् भवति। ञितः-तिकस्यापत्यं वृद्धं तैकायनिः। तैकायनेरपत्यं प्राग्द्रोरण उपि तैकायनिः पिता तैकायनिः पुत्रः। विदस्यापत्यं वैदः। वैदस्यापत्यं युवा इञ उपि वैदः पिता वैदः पुत्रः। ण्यः। कुरोरपत्यं कौरव्यः। "कुर्वादेर्ण्यः" [३।१।१३६] इति ण्यः। कौरव्यस्यापत्यं इञ उपि कौरव्यः पुत्रोऽपि। इहोक्तवचनसामर्थ्यात् कौरव्यशब्दादिञ्। तिकादौ पाठात् फिञपि भवति। कौरव्यायणिरिति। राज्ञः स्वफल्कस्यापत्यं स्वाफल्कः। "कुर्वृष्ण्यन्धकवृष्णेः"[३।१।१०३] इत्यण्। तदन्तादिञ उपि स्वाफल्कः पिता। स्वाफल्कः पुत्रः। एवं कलिङ्गस्यापत्यं कालिङ्गः। "द्व्यज्मगधकलिङ्गसूरमसादण्" [३।१।१५२] इत्यण्। तदन्तादिञ उपि कालिङ्गो युवाऽपि। इह पाञ्चालः पिता पाञ्चालः पुत्रः इति। "ञितः" इति वा "राज्ञः" इति वा उप्। आर्षात्। वशिष्ठस्यापत्यं "कुर्वृष्ण्यन्धकवृष्णेः" [३।१।१०३] इत्यण्। वाशिष्ठः। तदन्तादिञ उपि वाशिष्ठः पुत्रोऽपि। ञिण्यराजार्षादिति किम्? कुहडस्यापत्यं कौहडः। "शिवादिभ्योऽण्" [३।१।१०१] इत्यण्। तस्याप्यपत्यं कौहडिः। यूनीति किम्? वामरथस्यापत्यं वामरथ्यः। "कुर्वादेर्ण्यः" [३।१।१३६]। तस्य शिष्या वामरथ्याः। वामरथ्यस्य "शकलादिवत्" इत्यतिदेशात् "शकलादिभ्यो वृद्धे" [३।२।८७] इति शैषिकोऽण् "क्यच्व्यना" [४।४।१४१] इत्यादिना यखम्। अणिञोरिति किम्? दक्षस्यापत्यं दाक्षिः। दाक्षेरपत्यं दाक्षायणः।

पैलादेः ॥१।४।१३१॥ पैलादेः परस्य युवत्यस्योप् भवति। पीलाया अपत्यं पैलः। "पीलाया वा" [३।१।१०७] इत्यण्। पैलस्यापत्यं "द्व्यचोऽणः" [३।१।१४३] इति फिञ्। तस्योप्। पैलः पुत्रोऽपि। अन्य इञन्तास्तेभ्यः परस्य फण "प्राचामिञोऽतौल्वलिभ्यः" [१।४।१३२] इति प्राप्ते उपि अप्रागर्थमिदम्। पैल। सालङ्कि। सात्यकिः पिता। सात्यकिः पुत्रः। सात्यकामिः। औदच्छिः। बाह्वादिषु उदञ्चुशब्दः सनकारः पठ्यते। औदमज्जि। औदमज्जि। औदमेघिः। औदशुद्धिः। दैवस्थानिः। पैङ्गलायनिः। राणायनिः। रौहदिति। भौलिङ्गिः। राज्ञोऽपत्यं शाल्वावयवः। सौमित्रि। औद्वाहमानिः[1]। औज्जिहानिः। औज्जहानिः। द्विःशब्दस्य परस्य युवप्रत्ययस्योप्। आङ्गः। "द्व्यचोऽणः" इति फिञ। तस्योप्। आकृतिगणोऽयम्। तेन वैविजवालिसौदमरि एतेभ्यः शाल्वावयवत्वादिञ्। भाडीजङ्घिः इत्यादि द्रष्टव्यम्।

प्राचामिञोऽतौल्वलिभ्यः ॥१।४।१३२॥ प्राचां वृद्धे य इञ् तदन्ताद्युवप्रत्ययस्योप् भवति तौल्वलिप्रभृतीन् वर्जयित्वा। पान्नागारिः पिता। पान्नागारिः पुत्रः। मान्थरेषणिः पिता। मान्थरेषणिः पुत्रः।

---

1. "औद्गाहमानिः" अ०, स०।

तैरकलम्भिः पिता। तैरकलम्भिः पुत्रः। "यञिञोः" [३।१।६०] इत्यस्य फण उप्। प्राचामिति किम्? दाक्षिः पिता। दाक्षायणः पुत्रः। अतौल्वलिभ्य इति किम्? तौल्वलिः पिता। तौल्वलायनः पुत्रः। तौल्वलिः[1]। धारणिः। स्वालिम्पिः। दैलीपिः। दैवतिः। दैवमित्रिः। दैवमतिः। दैवयज्ञिः। प्राडाहृतिः। मांधातकिः। आनुराहतिः। बाह्वादिरयम्। आनुतिः। आहिंसिः। आसुरिः। नैमषिः। आसिबन्धकिः। वैङ्किपौष्पिः। पौष्करसादिः। अथ बाह्वादौ वैरकि। वैलकिः (वैल्वकिः)। वैहतिः। वैकर्णिः। कारेणुपालिः।

द्वेर्बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ॥१।४।१३३॥ द्विसञ्ज्ञकस्य त्यस्य बह्वर्थेषु वर्तमानस्य उप् भवति तेनैव द्विसञ्ज्ञकेन कृतं बहुत्वं भवति अस्त्रियाम्। आङ्गः। आङ्गौ। अङ्गाः। ऐक्ष्वाकः। ऐक्ष्वाकौ। इक्ष्वाकवः। अणः अञश्च द्विरित्यधिकारेण द्विसञ्ज्ञा स्वार्थिकानामपि "ते द्र्यः" [४।२।६] इति द्विसञ्ज्ञा। लौहध्वज्यः। लौहध्वज्यौ। लोहध्वजाः। त्रैहिमत्यः। त्रैहिमत्यौ। त्रीहिमताः। "पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्" [४।२।१] इति ञ्यः। द्वन्द्वेऽपि सामान्येन द्विसञ्ज्ञा कृते बहुत्वे भवति अङ्गवङ्गसुह्माः। द्वेरिति किम्? औपगवाः। बहुष्विति किम्? आङ्गः। आङ्गौ। तेनैवेति किम्? प्रियो वाङ्ग एषामिति प्रियवाङ्गाः। अत्र त्यान्तानामन्येषां च द्वन्द्वे तेनैव कृतं न बहुत्वमित्युप् न भवति। गार्ग्यवात्स्योपगवाः। ज्ञापकादुबप्यत्र भवतीति केचित्। गर्गवत्सोपगवाः। किं ज्ञापकमिति चेत् "शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवात्साग्रायणेषु" [३।१।११] इति वचनम्। भार्गववात्स्याग्रायणेष्विति निर्देशः स्यात्। उभयथाऽपि साधुः प्रयोगः। अस्त्रियामिति किम्? आङ्ग्यः वाङ्ग्यः स्त्रियः।

यस्कादिभ्यो वृद्धे ॥१।४।१३४॥ यस्क इत्येवमादिभ्यः परस्य वृद्धत्यस्य बहुषु वर्तमानस्योप् भवति अस्त्रियां तेनैव चेत् कृतं बहुत्वम्। उभयगतिरिह शास्त्रे लौकिकमपि वृद्धं गृह्यते तेनानन्तरापत्येऽप्युप् भवति। यास्कः। यास्कौ। यस्काः। "शिवादिभ्योऽण्" [३।१।१०१] इत्यागतस्याण उप्। यस्क लुह्य द्रुह्य अयस्थूण तृणकर्ण भलन्दन एतेषां शिवादिषु पाठः। कम्बलहार बहिर्योग कर्णाटक पर्णाटक सदामत्त पिण्डीजङ्घ बकसक्थ रक्षोमुख जङ्घारथ उत्कास कटुक मन्थक पुष्करसत्। अस्य "न गोपवनादेः" [१।४।१३८] इति प्रतिषेधः प्राप्तः। विषपुट उपरिमेखल पदक भटक भडिल भण्डिल एतेभ्यः "अश्वादेः फञ्" [३।१।८१] इति फञ्। कुद्रि अजवस्ति विश्रि मित्रयु एतेभ्यः "गृष्ट्यादेः" [३।१।१२४] इति ढण्। वृद्ध इति किम्? यस्को देवता एषां यास्काः। बहुष्वित्येव। यास्कौ। तेनैव चेत्येव। प्रिययास्काः। अस्त्रियामित्येव। यास्क्यः।

यञञोः ॥१।४।१३५॥ यञश्च अञश्च वृद्धे बहुषु वर्त्तमानस्योप् भवति तेनैव चेद्बहुत्वमस्त्रियाम्। गर्गाः। वत्साः। अजाः। विदाः। ऊर्वाः। "विदादिभ्योऽमृष्यानन्तर्येऽञ्" [३।१।६३] इति अञ्। बहुष्वित्येव। गार्ग्यः। वैदः। तेनैवेत्येव। प्रियगार्ग्याः। वृत्त्याऽत्र बहुत्वं गम्यते। यत्र वृत्तेरेकत्वं गम्यते यत्र बहुत्वं तत्रापि भवति। गर्गानतिक्रान्तः अतिगर्गः। अस्त्रियामित्येव। गार्ग्यः स्त्रियः। "यञः" [३।१।१३] इति ङीविधिः। "यस्य ङ्याञ्च" [४।४।१३६] इति खम्। "हलो हनो ट्याम्" [४।४।१४०] इति यकारस्य खम्। "यञादीनामेकत्वद्वित्वयोर्वा तासे इति वक्तव्यम्" [वा०] गार्ग्यस्य कुलं गार्ग्यकुलम्। गर्गकुलम्। गार्ग्ययोः कुलं गार्ग्यकुलम्। गर्गकुलम्। वैदस्य कुलं वैदकुलम्। विदकुलम्। वैदयोः कुलं वैदकुलम्। विदकुलम्। न वक्तव्यं यदा यञादयो न श्रूयन्ते तदा मूलप्रकृतेर्नामतः नियतविषयत्वात् शब्दानां तत एव सिध्यति।

भृग्वत्रिकुत्सवशिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यः ॥१।४।१३६॥ वृद्ध इति वर्त्तते। भृग्वादिभ्य परस्य वृद्धत्यस्य बहुषूप् भवति। भार्गवः। भार्गवौ। भृगवः। आत्रेयः। आत्रेयौ। अत्रयः। एवं कुत्सा वशिष्ठाः गोतमाः

1 -लिः। तैल्वलिः। धार-अ०, स०।

आङ्गिरसः। अग्निशब्दात् "इतोऽनिञः" [३।१।१११] इति ढण्। अन्येभ्य अण्। बहुष्वित्येव। भार्गवः। आङ्गिरसः। तेनैवेत्येव प्रियभार्गवाः। अस्त्रियामित्येव। भार्गव्यः स्त्रियः। वृद्ध इत्येव। भृगुर्देवता एषामिति भार्गवाः।

इञो बह्वचः प्राच्यभरतेषु ॥१।४।१३७॥ बह्वचो मृदो य इञ् तस्य प्राच्यभरतेषु वृद्धे बहुषूब्भवति। प्रात्नागारिः। पान्नागारी। पन्नागाराः। एवं मान्थरेषणिः। मान्थरेषणी। मन्थरेषणाः। बह्वच इति किम्? पौष्पयः। प्राच्यभरतेष्विति किम्? बालाकयः। हास्तिदासयः। ननु भरतः प्राच्य एव तेषां पृथग्ग्रहणं किमर्थम्? ज्ञापकार्थमन्यत्र प्राच्यग्रहणे भरतग्रहणं न भवतीति। तेन "प्राचामिञोऽतौल्वलिभ्यः" [१।४।१३२] इति अत्र भरतानां युवत्यस्योप् न भवति। यौधिष्ठिरिः पिता यौधिष्ठिरायणः पुत्रः। ननु युधिष्ठिरादिभ्य इञेव नास्ति "कुर्वृष्ण्यन्धकवृष्णेः" [३।१।१०३] इत्यणा भवितव्यम्। इह तर्हि उप् न भवति औद्दालकिः पिता औद्दालकायनः पुत्रः। अत्र "प्राचामिञोऽतौल्वलिभ्यः" इति युवत्यस्योप्प्रसज्येत। एतद्धि प्राच्यभरतगोत्रम्।

न गोपवनादेः ॥१।४।१३८॥ विदाद्यन्तर्गणो गोपवनादिः। गोपवन इत्येवमादेः परस्य वृद्धत्यस्योब् न भवति। गोपवनस्यापत्यानि गौपवनाः। "यञञोः" [१।४।१३५] इत्युप् प्राप्तः। गोपवन शिग्रु बिन्दु भाजन अश्वावतान श्यामक श्यामाक श्यापर्ण एते गोपवनादयः। प्राग्घरितशब्दात् परत उब्भवति। हरिताः। किंदासाः। तौल्वलिप्रभृतयोऽत्र पठ्यन्त इति केचित्। तौल्वलयः। अनन्तरेण उप्प्राप्तः।

वोपकादिभ्यः ॥१।४।१३९॥ उपक इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य वृद्धत्यस्य वा बहुषूब्भवति। उपकस्यापत्यानि उपकाः। औपकायनाः। लमकाः। लामकायनाः। एतौ नडादी। भ्रष्टकाः। भ्राष्टकयः। कपिष्ठलाः। कापिष्ठलयः। कृष्णाजिनाः। कार्ष्णाजिनयः। कृष्णसुन्दराः। कार्ष्णसुन्दरयः। वेति व्यवस्थितविभाषा। तेनैषामद्वन्द्वे विकल्पः। परिशिष्टानां द्वन्द्वे चाद्वन्द्वे च। सुपिष्ट मयूरकर्ण कर्णक पर्णक पिङ्गलक जटिलक बधिरक एतेषां शिवादिषु पाठः। अनुलोमप्रतिलोम एतौ बाह्वादी। चटारक आडारक अभुक्तक [अबन्धक] उद्दक सुपर्वक सुवर्चक सुवर्मक खरीजङ्घ शलाजङ्घ शलायल पतञ्जल कमन्दक कण्ठेरणि कुषीतक काशकृत्स्न निदाघ कलशीकण्ठ दामकण्ठ कृष्णपिङ्गल जतुक अविरम्ब कपिञ्जलक प्रतान अनभिहित।

तिककितवादिभ्यो द्वन्द्वे ॥१।४।१४०॥ वेति नानुवर्तते। कतिकितव इत्येवमादिभ्यो द्वन्द्वे वृद्धस्य बहुषूब् भवति। तैकायनयश्च कैतवायनयश्च तिककितवाः। तिकादिलक्षणस्य फिञ उप्। वाङ्खरयश्च भाण्डीरथयश्च इञ उपि वङ्खरभण्डीरथाः। पाटकयश्च नारकयश्च पटकनरकाः। वाकनखयश्च श्वागुदपरिणद्धयश्च वकनखश्वगुदपरिणद्धाः। औब्जयश्च काकुभाश्च ककुभशब्दः शिवादिषु विदादिषु वास्ति उब्जककुभाः। लाङ्कयश्च शान्तमुखयश्च लङ्कशान्तमुखाः। उरसशब्दस्तिकादौ। औरसायनयश्च लाङ्कयश्च उरसलङ्काः। अग्निवेशशब्दो गर्गादौ। अग्निवेश्याश्च दाशेरकयश्च अग्निवेशदाशेरकाः। औपकायनाश्च लामकायनाश्च फण उपि उपकलमकाः। भ्राष्टकयश्च कापिष्ठलयश्च भ्रष्टककपिष्ठलाः। कार्ष्णाजिनयश्च कार्ष्णसौन्दरयश्च कृष्णाजिनकृष्णसुन्दराः।

कौण्डिन्यागस्त्ययोः कुण्डिनागस्ती ॥१।४।१४१॥ कौण्डिन्य आगस्त्य इत्येतयोर्वृद्धत्यस्य बहुषूब् भवति कुण्डिन अगस्ति इत्येतौ चादेशौ यथासङ्ख्यं भवतः। अगस्त्यशब्दात् ऋष्यण्। कुण्डमस्यास्तीति कुण्डिनी नाम काचित् गर्गादौ पठ्यते। कौण्डिन्यः। कौण्डिन्यौ। कुण्डिनाः। आगस्त्यः। आगस्त्यौ। अगस्तयः। यद्यपि "यञञोः" [१।४।१३५] इति यञ उप् सिद्धस्तथापि कुण्डिनशब्दोऽकारान्त आदेशो विधीयमानो बाधकः स्यादिति पुनर्वचनम्। अगस्तीनां छात्रा आगस्तीया इत्यत्र अगस्तिरादेशो भवति। प्राग्दीव्यतीयविषये "वृद्धेऽत्यनुप्" [३।१।७३] इति अनुपि सति "दोश्छः" [३।२।६०] इति छः सिद्धः। कौण्डिन्यशब्दात्स्य बाधकः "कण्वादिभ्यो वृद्धे" [३।२।८७] इति अण् भवति। कौण्डिनाश्छात्राः।

सुपो धुमृदोः ॥१।४।१४२॥ धुमृदोरन्तस्यावयवस्य सुप उब्भवति। पुत्रमिच्छत्यात्मनः पुत्रीयति। पटीयति। मृदः—राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः। धर्मं श्रितो धर्मश्रितः। "तदन्ता धवः" [२।१।२६] इति धुसञ्ज्ञाया "कृद्धृत्साः" [१।१।६] मृत्सञ्ज्ञाया च सुप उप्। एवं तस्मात्ततः। तस्मिन् तत्र। धुमृदोरिति किम्? वृक्षः। अत्र "कृद्धृत्साः" इति नियमात् विभक्त्या मृत्सञ्ज्ञा नास्ति।

शपोऽदादिभ्यः ॥१।४।१४३॥ अदादिभ्यो धुभ्यः परस्य शप उब्भवति। अत्ति। हन्ति। दोग्धि।

यङोऽचि ॥१।४।१४४॥ यङ उब्भवति अचि परतः। लोलूय पोपूय मरीमृज्य इत्येतेभ्यः पचाद्यचि लोलुवः पोपुवः मरीमृजः। "न धुखेऽगे" [१।१।१८] इति एवैपोः प्रतिषेधः। "यङो वा" [५।२।१२] इत्यत्र वक्ष्यत्यविशेषेण यङ उब् भवति। तेन वावदीति इत्येवमादि सिध्यति।

उज्जुहोत्यादिभ्यः ॥१।४।१४५॥ शप इति वर्तते। जुहोत्यादिभ्यः परस्य शप उब्भवति। जुहोति। नेनेक्ति। बिभर्ति। उविति वर्तमाने उज्ग्रहणं द्वित्वाद्यर्थम्।

स्थेण्पिबभुभूभ्यः सेर्मे ॥१।४।१४६॥ स्था इण् पिब भुसंज्ञक भू इत्येवमादिभ्यः परस्य से रुब्भवति मे परतः। अस्थात्। अस्थाताम्। अस्थुः। "आतः" [२।४।१०] इति झेर्जुस्। अगात्। इ इगिति प्रश्लेषनिर्देशात् इकोऽपि ग्रहणम्। अध्यगात्। अपात्। पिब इति विकृतनिर्देशात् शोषणार्थस्य निवृत्तिः। प्रतिपदोक्तपरिभाषा चानित्या। तेन "गामादाग्रहणेष्वविशेषः" [प०] इतीदं लब्धम्। भु इति सञ्ज्ञानिर्देशः "दाधा भ्वपित्" [१।१।२७] इति। अदात्। अदाताम्। अदुः। भु इति भवतेरस्त्यादेशस्य च ग्रहणम्। अभूत्। "सूभवत्योर्मिङि" [५।२।८६] इत्येप्रतिषेधः। म इति किम्? उपास्थिषाताम्। उपास्थिषत। "उपान्मन्त्रकरणे" [१।२।२०] "घेः" [१।२।२१] इति दविधिः। "भुस्थोरिः" [१।१।६१] इत्याकारस्येत्वं सेः कित्वम्।

वा घ्राधेट्छाशासः ॥१।४।१४७॥ घ्रा धेट् छा शा सा इत्येतेभ्यः परस्य सेर्वा उब्भवति मे परतः। अघ्रात्। अनुप् पक्षे "यमरमनमातः सक् च [५।१।१२२] इति सगिटौ भवतः। "हल्यस्से." [५।२।१३] इतीट्। "इटीटः" [४।४।२०] इति सेः खम्। अघ्रात्। अघ्रासीत्। अधात्। अधासीत्। अदधत्। अच्छात्। अच्छासीत्। न्यशात्। न्यशासीत्। असात्। असासीत्। धेटो भुसञ्ज्ञत्वात् पूर्वेण प्राप्ते इतरेषामप्राप्ते विकल्पः। म इत्येव। अघ्रासाताम्। अघ्रासत। "स्नुसुधूञ्भ्यो मे" [२।१।१३१] इत्यधिकारादे सगिटौ न भवतः।

तनादिभ्यस्तथासोः ॥१।४।१४८॥ तनादिभ्य उत्तरस्य सेर्वा उब्भवति तथासोः परतः। गणसहचरितो दशसंख्यो गृह्यते। अतत। अतनिष्ट। उपपक्षे "अनुदात्तोपदेश" [४।४।३७] इत्यादिना खम्। अतथाः। अतनिष्ठाः। षण्। असात। असनिष्ट। उपपक्षे "जनसनखनाम्" [४।४।४३] इत्यात्म्। असाथाः। असनिष्ठाः।

आमः ॥१।४।१४९॥ आम उत्तरस्य सभवाल्लकारस्योब् भवति। ईहाचक्रे। ईहाञ्चक्रे। लकारस्य कृत्वात् मृत्त्वे सति स्वाद्युत्पत्तिः। "सुपो झेः" [१।४।१५०] इति सुप उप्। आमन्तस्य पदत्वात्। "वा पदान्तस्य" [२।४।१२३] इत्येतत् प्रयोजनम्।

सुपो झेः ॥१।४।१५०॥ झिसंज्ञादुत्तरस्य सुप उब्भवति। च वा अह कृत्वा कर्तुम्। [illegible] कम्। असंख्यादपि सुपो भवन्ति। यदि वा "कर्मणीप्" [१।४।२] इत्येवमादिषु अर्थनिरूपणे [illegible] नियतत्वात् झिसंज्ञेभ्योऽप्युत्पत्तिः।

हात् ॥१।४।१५१॥ हलादुत्तरस्य सुप उब्भवति। अधिवन्ति। अधिकुमारि। [illegible] स्युक् तेनायमारम्भः।

नातोऽम् त्वकायाः ॥१।४।१५२॥ [illegible]

हादकारान्तात् परस्य सुप उम्न भवति। अमादेशस्तु भवति सुपः कां विभक्तौ वर्जयित्वा। उपकुम्भं तिष्ठति। उपकुम्भ पश्य। उपकुम्भ देहि। अत इति किम्? उपाग्नि। अकाया इति किम्। उपकुम्भादानय।

ईब्भयोर्विभाषा ॥१।४।१५३॥ ईप् भा इत्येतयोर्विभाषा अमादेशो भवति। उपकुम्भं कृतम्। उपकुम्भेन कृतम्। उपकुम्भं कृतम्। उपकुम्भाभ्या कृतम्। उपकुम्भ निधेहि। उपकुम्भे निधेहि। व्यवस्थितविभाषेयम्। तेन ऋद्धिनदीसंख्यावयवेभ्यो नित्यममादेशः। ऋद्धौ। सुमद्रं कृतम्। सुमगध कृतम्। नदीषे— "नदीभिश्च" [१।३।१७] इति हसः। उन्मत्तगङ्गम्। द्वियमुनम्। संख्यावयवः—"संख्या तंश्येन" [१।३।१६] इति हसः। द्विकौशलम्। त्रिकौशलम्। एकविंशति भारद्वाजम्।

लुटोऽन्यस्य डारौरसः ॥१।४।१५४॥ लुटोऽन्यसंज्ञस्य त्रिकस्य डा रौ रस् इत्येते आदेशा भवन्ति। अर्थद्वारकमत्र यथासंख्यम्। श्रोता। श्रोतारौ। श्रोतारः। अध्येता। अध्येतारौ। अध्येतारः। डा इत्यन्तादेशः। डा आ इति प्रश्लेषनिर्देशाद्वानेकाल् सर्वादेशः। डित्यभस्यापि डित्करणसामर्थ्याट्टिखम्। रौरसोः परतः "रि" [५।२।१५३] इति सखम्।

इत्यभयनन्दिमुनिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

अध्यायश्च समाप्तः।

द्वितीयोऽध्यायः

त्यः ॥२।१।१॥ अधिकारेण संज्ञेयमा कपः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः अपूर्व शब्दोपजननं प्रकृतिवाग्विशेषणविकारागमवर्जे यत् त्यसज्ञं तद वेदितव्यम्। प्रकृतिर्गुपादिः। वाक् "कर्मण्यण्" [२।२।१] इत्येवमादावीपा निर्दिष्टम्। विशेषणं "दतिनाथयोः पशौ ह्नः" [२।२।३०] इत्येवमादौ पश्वादि। विकारः सतो भावान्तरावासिः। "दुहो घश्च" [२।२।६] इत्येवमादिषु घकारादिः। आगमः परतन्त्रः। "त्रपुजतुनोः पुक्" [३।३।१०६] इत्येवमादिः। युक्तिरुच्यते निमित्ति कार्यन्न निमित्तिस्येति प्रकृतिवागुपाधीनामग्रहणम्। अथवा भाव्यमानविभक्तीनिर्दिष्ट सनादि प्रधान भूतविभक्तीनिर्दिष्ट प्रकृत्याद्यप्रधान प्रधाने च कार्यसम्प्रत्ययः। विकारागमयोस्तु "परः" [२।१।२] इत्यनेन निरासः; नहि तयोः परत्वसम्भवः। वक्ष्यति तव्यानीयौ। कर्तव्यः। करणीयः। प्रतियन्ति तेनार्थमिति प्रत्ययः। "पुखौघः प्रायेण" [२।३।१००] इति घः। एव यद्यन्वर्था सज्ञा क्रियेत तदा प्रकृतेः सविभक्तिकस्य वा पदस्य त्यसंज्ञा स्यात्। त्यप्रदेशाः "यस्त्ये तदादि गुः" [१।२।१०२] इत्येवमादयः।

परः ॥२।१।२॥ परिभाषेय नियमार्था। पर एव भवति धोर्मृदो वा यस्त्यसंज्ञः। कर्त्तव्यः। करणीयः। औपगवः। धोरित्येवमादौ दिग्योगलक्षणकानिर्देशेऽपि पूर्वशब्दस्याध्याहारः स्यादिति परत्वं न लभ्यते "ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयोः" [१।१।६०] इत्यत्र यदि कार्य परमुच्यते तत्तानिर्दिष्टस्येति। न च सनादयस्तानिर्दिष्टाः। अगातः प्रादुर्भावः पर उच्यते एव सति नियमार्थमिद त्यपरैव प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवला।

गुप्तिज्किद्भ्यः सन् ॥२।१।३॥ त्य इति वर्तते। गुप् तिज् कित् इत्येतेभ्यः परः सन् भवति। जुगुप्सते। तितिक्षते। चिकित्सति। धुसंशब्दनेनाविधानात् अगसज्ञा नास्ति। तेन[2] नेडागमः। "निन्दाक्षमारोगापनयेषु यथाक्रमं सन्निष्यते" [वा०]। गोपननिशाननिवासादिषु न भवति। गोपन गोपायति। तेजन तेजयति। निकेतनं निकेतयति। भुवादिषु पाठः किमर्थः? "अस्त्यात्" [२।३।८४] इत्यकारो यथा स्यात्[3]।

---

१. न्दिविर-अ०, ब०, स०। २.-स्तीति ने-अ०। ३. जुगुप्स तितिक्ष चिकित्सेत्यादीनां भ्वादिषु पृथक् पाठाकरणम् अस्त्यादित्यर्थमित्याशयः कथञ्चिदुन्नेयः।

जुगुप्सा । तितिक्षा । चिकित्सा । सनोऽकारोपदेशः प्रतीपिपतीत्यादौ श्रवणार्थः ।

"एकदेशकृतं लिङ्गं समुदायविशेषणम् । अनुदात्तेत्त्वमाद्याभ्यां तेनायं दो विधीयते ।"

मान्बधदान्शान्भ्यो दीश्चस्य ॥२।१।४॥ मान् बध दान शान् इत्येतेभ्यः सन् भवति दीश्च चस्ये-कारस्य । मीमांसते । बीभत्सते । दीदांसते । शीशांसति । शीशांसते । आद्यावनुदात्तेतौ । परौ स्वरितेतौ । "चविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते" [प०] इति कृतेकारस्य चस्य दीत्वम् । अत्रापि "जिज्ञासावैरूप्यार्जव निशानेषु यथाक्रमं सन्निष्यते"[वा०] । पूजावधनावखण्डनतेजनेषु न भवति । मानयति । बाधयति । दानयति । निशानयति । दान उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषा । तदवलोकनादयं विभागः ।

तुमीच्छायां धोर्वाप् ॥२।१।५॥ इच्छायां तुमि यो धुस्तस्मात् सन् वा भवति तुमश्चोऽभवति यदा सन् । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति । बुभुक्षते । अयं [1]हीच्छायां तुम् विहितः । हेतुफलयोरित्यधिकृत्य "इच्छार्थे लिङ्लोटौ" [२।२।१२३] "तुमेककर्तृके" [२।३।१२४] इति वचनात् । इहापि सामान्यविशेषभावेन हेतुफल भावोऽस्ति । एषितुमिच्छति एषिषिषति । तुमिति किम् ? इच्छायामित्युच्यमाने इच्छार्थानामिषिवाञ्छादीनां ग्रहणं स्यात् । तुमग्रहणे सति इच्छायामित्येतत्तुमो विशेषणम् । इच्छायामुपलक्षिते तुमीति । तेन यत्र तुमो निमित्त हेतुफलभावो नास्ति तत्र न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम् । भिन्नकर्तृकत्वे च न भवति । इच्छति देवदत्तः कटं कुर्याज्जिनदत्तः । यत्र तुम् नास्ति तत्र च न भवति । इच्छायामिति किम् ? कर्तुं गच्छति । अत्र "ण्वुणतुमौ क्रियायां तदर्थायाम्" [२।३।८] इति तुम् । धोरिति किम् ? प्रकर्तुमैच्छत् प्राचिकीर्षत् । सनोऽस्यो त्तिर्मा भूत् । अगसंज्ञार्थं च धुग्रहणम् । वाग्रहणाद्वाक्यस्यापि साधुत्वम् । इहोपचारात् सिद्धम् । पिपतिषतीव पिपतिषति कूलम् । मुमूर्षतीव मुमूर्षति श्वा । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेच्छासन्नन्तात् सन्न भवति । चिकी र्षितुमिच्छति । अनिच्छासन्नन्ताद्भवति । जुगुप्सिषते ।

"मत्वर्थाच्छैषिकाच्चापि मत्वर्थः शैषिकस्तथा । सरूपत्वविधिर्नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥"

स्वेपः क्यच् ॥२।१।६॥ स्वस्य यदिबन्त तस्मादिच्छायां वा क्यच् भवति । आत्मनः पुत्रमिच्छति पुत्रीयति । पटीयति । ककारो "नः क्ये"[१।२।१०४] इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः । चकारः सामान्यग्रहणाविघा तार्थः । तेन "एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य"[प०]इत्यस्य विघातो नास्ति । स्वग्रहणं किम् ? पुत्रमिच्छति ब्रह्मचारी मरणमिच्छति दुर्जनः । अत्र परस्येति गम्यते । इबिति किम् ? पुत्र इच्छति । पुत्राय इच्छति । वाक्यात् कस्मान्न भवति । महान्तं पुत्रमिच्छति वाक्यस्यानिबन्तत्वात् । अवयवादसामर्थ्यान्न भवति । कर्मणि मत्र क्यचा तेन कर्त्तरि भावे च प्रयोगः । पुत्रीयति । पुत्रीयते अनेन । वेत्यनुवृत्तेर्मिमन्तेभ्यो न भवति । उच्चैरिच्छति । इदमिच्छति । किमिच्छति ।

काम्यः ॥२।१।७॥ स्वस्य यदिबन्त तस्माद्वा काम्यो भवतीच्छायाम् । पुत्रमिच्छत्यात्मनः पुत्रकाम्यति । पटकाम्यति । ककारस्य प्रयोगार्हत्वादित्संज्ञा नास्ति । योगविभागादुत्तरत्र क्यच एवानुवृत्तिर्न काम्यस्य ।

गौणादाचारे ॥२।१।८॥ गौणममुख्यमाचरणक्रियायामुपमानमित्यर्थः । गौणादिबन्तादाचारेऽर्थे क्यच् भवति । पुत्रमिवाचरति पुत्रीयति छात्रम् । प्रावारीयति कम्बलम् । व्यवस्थितविभाषा । अधिकरणाच्च भवति । प्रासादीयति कुट्यां ।

कर्तुः क्यङ् सख विभाषा ॥२।१।९॥ कर्तुर्गौणादाचारेऽर्थे वा क्यङ् भवति यदन्ते सख तस्य च खं विभाषया । इह कर्तृग्रहणादिन्न सम्भवति मुख्यात् क्यङ् । श्येन इव आचरति काकः श्येनायते । कुमुदं पुष्करायते । व्यवस्थितविभाषेयम् । 'ओजसोऽप्सरसो नित्यं पयसस्तु विभाषया सखम' [वा०] ।

---

१. यदीच्छा-अ० । २. पा० भाष्ये—'शैषिकान्मतुवर्थीयाच्छैषिको मतुवर्थिकः । सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥'' इत्येवंरूपः ।

ओजस्वीवाचरति ओजायते। वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यङोक्तः। अप्सरायते। मथित पयायते पयस्यते। अत्र खपदे "नः क्ये" [१।२।१०४] इति नियमात् पदत्वाभावे रित्वादिविधिर्न भवति। कर्तुरिति सत्वापेक्षया तया विपरिणम्यते तेनान्त्यस्य खम्। इह न भवति। सारसायते। "आचारे सर्वमृद्भ्यः क्विवा भवतीत्येके" [वा०] अश्व इवाचरति अश्वति। अश्वायते।

भृशादेश्च्वौ हलो भुवि ॥२।१।१०॥ कर्तुरिति वर्तते। भृश इत्येवमादिभ्यः च्व्यर्थे वर्तमानेभ्यो भवत्यर्थे वा क्यङ् भवति यत्रान्ते हल् तस्य[1] च नित्यं खम्। च्विर्विकल्पेन विधीयते। यत्र नोत्पद्यते तत्राय क्यङ्। अभृशो भृशो भवति भृशायते। भृश शीघ्र चपल पण्डित उत्सुक। नात्र गेर्न्रहिर्भावः। उन्मनस् सुमनस् दुर्मनस् अभिमनस्। संग्राम युद्ध इति ज्ञापकादुदादीनामडागमादिषु बहिर्भावः। रेहत् वेहत् शश्वत् तृपत् वर्चस् ओजस् आण्डर शुचि मन्द नील मद्र फेन हरित।

डाज्लोहितात् क्यष् ॥२।१।११॥ डाजन्ताल्लोहितशब्दाच्च च्व्यर्थाद्भवत्यर्थे वा क्यष् भवति। च्व्यर्थग्रहणं लोहितस्य विशेषणं न डाजन्तस्याव्यभिचारात्। पटपटायति। पटपटायते। यदा न क्यष् तदा पटपटाभवतीति प्रयोग[2]। अलोहितो लोहितो भवति लोहितायति। लोहितायते। एवं हि "न क्ये" [१।२।१०४] इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः ककारः शोभेत यदि चर्मादिभ्योऽपि स्यात्। चर्मायति। चर्मायते। निद्रायति। निद्रायते। करुणायति। करुणायते। कृपायति। कृपायते। वृत्तिविषये मत्वर्थीयः क्यषाऽभिहितः।

कष्टाय ॥२।१।१२॥ क्यङ् अनुवर्तते। कष्टायेति तादर्थ्ये अप्। कष्टाय ये शब्दा वर्तन्ते तेभ्यः क्यङ् भवति। कष्टार्थादिति वक्तव्यम्। अबन्तनिर्देशः समर्थविभक्त्युपादानार्थः। अभिधानवशात् क्रमणेऽनार्जवे क्यङ् द्रष्टव्यः। यथा "नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्" [२।१।१६] इत्यत्र पूजाद्यर्थनियमः। कष्टाय कर्मणे क्रामति कष्टायते। अनार्जवं पापं करोतीत्यर्थः। सत्राय कर्मणे क्रामति सत्रायते। कक्षायते। गहनायते। अनार्जव इति किम्? अजः कष्टं क्रामति। नात्र पापं गम्यते।

वाष्पोष्मफेनादुद्वमे ॥२।१।१३॥ इप इति वर्तते। वाष्प ऊष्मन् फेन इत्येतेभ्यः उद्वम इत्यर्थे क्यङ् भवति। वाष्पमुद्वमति वाष्पायते। ऊष्माणमुद्वमति ऊष्मायते। फेनायते।

रोमन्थतपःशब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघात् कृञि ॥२।१।१४॥ रोमन्थ तपस् शब्द वैर कलह अभ्र कण्व मेघ इत्येतेभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् भवति। रोमन्थं करोति रोमन्थायते गौः। अत्र करोतिः क्रियासामान्ये वर्तमानोऽपि अभ्यवहृतचर्वणक्रियाया गृह्यते। तेनेह न भवति। कीटको रोमन्थं वर्तयति। "तपसो मत्र्ञेति वक्तव्यम्" [वा०] तपः करोति तपस्यति। तपश्चरतीत्यर्थः। शब्दं करोति शब्दायते। वैरायते। कलहायते। अभ्रायते। कण्वायते। पापं करोतीत्यर्थः। मेघायते। तत्करोतीत्यस्मिन्नर्थे णिजपि भवति। शब्दयति। वैरयति। "सुदिनदुर्दिननीहारेभ्यश्चेति वक्तव्यम्" [वा०] सुदिनायते। दुर्दिनायते। नीहारायते। "अटाट्टाशीकाकोटापोटासोटाप्रुष्टाभ्योऽपीति केचित्।" [वा०] अटायते। अट्टायते। शीकायते। कोटायते। पोटायते। सोटायते। प्रुष्टायते।

सुखादेः स्वभोगे ॥२।१।१५॥ भोगोऽनुभवो वेदना वा। सुख इत्येवमादिभ्य इबन्तेभ्यः स्वभोगे क्यङ् भवति। सुखमात्मनः करोति सुखायते। सुखं भुङ्क्ते अनुभवति वेदयतीत्यनर्थान्तरम्। एवं दुःखायते। सुख दुःख तृप्त कृच्छ्र अस्र अलीक करुण कृपण सोट प्रतीप। स्वभोग इति किम्? सुखं करोति प्रसाधको देवदत्तस्य।

---

१. तस्य नित्यं खम् ब०, स०, मु०। २. कृष्ठ स०, ब०, स०। ३. कण्ठ अ०, ब०, स०। ४. कष्टायते स०, ब०, स०।

नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् ॥२।१।१६॥ कृञीति वर्तते। नमस् वरिवस् चित्रङ् इत्येतेभ्यः क्यच् भवति करोत्यर्थे। पूजापरिचर्याश्चर्यविशेषे। नमः करोति नमस्यति देवान्। अत्र नमःशब्दस्यानर्थकत्वात्तद्योगे नाब् भवति। वरिवः करोति वरिवस्यति गुरून्। चित्रङ् करोति चित्रीयते। ङित्त्वात्तङ्। पूजादिभ्योऽन्यत्र नमः करोतीति भवति।

पुच्छभाण्डचीवराण्णिङ् ॥२।१।१७॥ पुच्छ भाण्ड चीवर इत्येतेभ्य इबन्तेभ्यो णिङ् भवति करोत्यर्थविशेषे। कोऽसौ विशेषः। "पुच्छादुदसने पर्यसने वा" [वा०] उत्पुच्छयते। परिपुच्छयते। "भाण्डात्समाचयने परिचयने वा" [वा०] सभाण्डयते परिभाण्डयते। "चीवरादर्जने परिधाने वा" [वा०] सचीवरयते भिक्षुः। णकारः "णाविष्ठवन्मृदः" [४।४।१४४] इत्यत्र सामान्यग्रहणाविघातार्थः। अर्थविशेषादन्यत्र णिजेव भवति।

मुण्डमिश्रश्लक्ष्णलवणव्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् ॥२।१।१८॥ मुण्ड इत्येवमादिभ्य इबन्तेभ्यो णिज् भवति करोत्यर्थे। चुरादिषु "मृदो ध्वर्थे" इति णिचि सिद्धे अर्थविशेषपरिग्रहार्थमिदम्। च्व्यर्थे वार्यमिति केचित्। अमुण्डं मुण्डं करोति मुण्डयति। मिश्रयति। श्लक्ष्णयति। लवणयति। "व्रताद्भोजने तन्निवृत्तौ च" [वा०] पयो व्रतयति। पयो भुङ्क्ते इत्यर्थः। सावद्यं व्रतयति। सावद्यं न भुङ्क्ते इत्यर्थः। "वस्त्रात् समाच्छादने" [वा०] वस्त्रेण समाच्छादयति सवस्त्रयति। हलिं गृह्णाति हलयति। कलिं गृह्णाति कलयति। "हलिकल्योरकारान्तता णिचा योगे निपात्यते" [वा०] "णौ कच्यनग्लोपे सन्वत्" [४।२।१८६] इति सन्वद्भावप्रतिषेधार्थम्। कलिं गृहीतवानचकलत्। अजहलत्। अन्यथा परत्वादृणि कृते टिखं स्यात् ततः सन्वद्भावः प्रसज्येत। यथा अलीलघत् अपीपटत् इति। कृतं गृह्णाति कृतयति। तूस्तानि केशजटाः विहन्ति वितूस्तयति।

धोर्यङ् क्रियासमभिहारे ॥२।१।१९॥ पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः। धोर्यङ् भवति क्रियासमभिहारे। पुनः पुनः पचति भृशं वा पापच्यते। वोभुज्यते। क्रियान्तरैरव्यवहितायाः प्रधानभूतविक्लेदनक्रियायाः पुनः पुनरारम्भः पौनःपुन्यम्। गुणभूताविश्रयणादिक्रियाणां क्रियान्तरैरव्यवहितानां साकल्येन करणं भृशार्थता। सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतीनां ग्रहणं नियमार्थं कर्त्तव्यम्। सोसूच्यते। सोसूत्र्यते। मोमूत्र्यते। अनेकाज्भ्य एव नान्यस्मात्। अत्यर्थं जागर्तीति। अटाट्यते। अरार्यते। "यङि" [५।२।१२१] इत्येप्। अत्यर्थमश्नुते अशाश्यते। प्रोर्णोनूयते। अट्यादिग्रहणं किमर्थम्? अन्यस्मादनेकाचो मा भूत्। भृशमीक्षते। पुनः पुनरीहते। क्रियासमभिहारे सर्वस्य द्वित्वे वेति विभाषानुवर्तते। तेन यङन्तस्य द्वित्वं न भवति। तत एव क्रियासमभिहारे यो लोट् तदन्तस्य भवति। लोलूयस्व लोलूयस्वेत्येवायं लोलूयते। धोरिति किम्? सगेरुत्पत्तिर्मा भूत्। आगमजार्थं च धुग्रहणम्। पेपीयते। "शुभिरुचिभ्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०]। अत्यर्थं शोभते। अत्यर्थं रोचते।

नित्यं गतिविशेषे ॥२।१।२०॥ नित्यं यङ् भवति गतिविशेषे गम्यमाने। चङ्क्रम्यते। दन्द्रम्यते। आवनीवच्यते। गतिविशेषो हि यङन्तवाच्यः। तेनास्य पदेनार्थमात्रकथनमिदं कुटिलं क्रामतीति। नित्यग्रहणं तु विषयनियमार्थम्। एतयोर्योगयोर्गतिविशेष एव गर्हे च यङ् यथा स्यात् क्रियासमभिहारे मा भूत्। भृशं क्रामति। भृशं लुम्पति।

लुपसदचरजपजभदहगृदशो गर्हे ॥२।१।२१॥ लुपादिभ्यो गर्हे गम्यमाने नित्यं यङ् भवति। प्रत्यासत्तेर्धात्वर्थस्य गर्हा गृह्यते न साधनस्य। अनर्थकं लुम्पति लोलुप्यते। सासद्यते। चञ्चूर्यते। जञ्जप्यते। जञ्जभ्यते। दन्दह्यते। निजेगिल्यते। दन्दश्यते। दशेः कृतनकारस्य निर्देशादुपधालोपो न भवति। दंदशीति। तदनुक्तं सोत्रस्य निर्देशस्य। गर्ह इति किम्? लुम्पति सीदति स्वरे।

पाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादेर्णिच् ॥२।१।२२॥ पाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यश्च णिज् भवति। चुरादौ "मृदो ध्वर्थे" इति सिद्धेऽपि अर्थविशेषपरिग्रहार्थं पाशादेः पृथग्ग्रहणम्। "पाशाद्विमोचने" [वा०] पाशं विमोचयति विपाशयति। "रूपाद्दर्शने" [वा०] रूपं दर्शयति रूपयति। वीणया उपगायति उपवीणयति। तूलैरनुकुष्णाति अनुतूलयति। श्लोकैरुपस्तौति उपश्लोकयति। सेनया अभियाति अभिषेणयति। लोमान्यनुमार्ष्टि अनुलोमयति। त्वचं गृह्णाति त्वचयति। त्वच इति अकारान्तनिपातनात् "परेऽचः पूर्वविधौ" [१।१।५७] इत्यस्य स्थानिवद्भावात् "उडोऽतः" [४।२।४] इत्यैन्न भवति। वर्मणा सन्नह्यति संवर्मयति। वर्णान् गृह्णाति वर्णयति। चूर्णैरवकिरति अवध्वंसयति वा अवचूर्णयति। चुरादिभ्यः चोरयति। मन्त्रयते।

आ चार्थवेदसत्यानाम् ॥२।१।२३॥ अर्थ वेद सत्य इत्येतेषां आकारश्चान्तादेशो भवति णिच्। अर्थमाचष्टे अर्थापयति। वेदापयति। सत्यापयति।

हेतुमति ॥२।१।२४॥ हेतुस्तत्प्रयोजकः। हेतुमति ध्वर्थेऽभिधेये णिज् भवति अन्येषां दर्शनं प्रयोजकव्यापारः प्रेषणाध्येषणरूपो हेतुमान् तस्मिन्नभिधेये णिज् भवति। कटं कारयति। ओदनं पाचयति। अत्र वाग्विसर्गो हेतुव्यापारः। क्वचित् समर्थाचरणम्। यथा भिक्षा वासयति। कारीषोऽग्निरध्यापयति। "आख्यानात् कृतस्तदाचष्ट इति कृदुप्प्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति" [वा०] आख्यायते यत्तदाख्यातं तस्मात् कृदन्तात् आचष्ट इत्यस्मिन्नर्थे णिज् वक्तव्यः कृदुप्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः, प्रकृतिवच्च कारकं भवतीति वक्तव्यम्। कंसवधमाचष्टे कंसं घातयति। बलिबन्धमाचष्टे बलिं बन्धयति। राजागममाचष्टे राजानमागमयति। "आख्यानशब्दात्प्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०] आख्यानमाचष्टे इति वाक्यमेव भवति। मृगरमणमाचष्टे मृगान् रमयति। यदा ग्रामे मृगरमणमाचष्टे तदा नेष्यते। "आङ्निवृत्तिश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्" [वा०] कृदन्तात् णिच् तदाचष्टे इति कृदुप्प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकमिति वर्तते। आरात्रिविवासमाचष्टे रात्रिं विवासयति। "चित्रीकरणे च प्राप्यर्थे णिच् वक्तव्य" [वा०] उज्जयिन्याः प्रस्थितो माहिष्मत्यां सूर्योद्गमनं सम्भावयति सूर्यमुद्गमयति। "नक्षत्रयोगे ज्ञार्थे" [वा०] पुष्येण योगं जानाति पुष्येण योजयति। चन्द्रमसा मघाभियोगं जानाति मघाभियोजयति। नेदं बहु वक्तव्यमत्रापि कथञ्चिद्धेतुव्यापारोऽस्ति बहुलग्रहणाद्वा सिद्धम्।

कण्ड्वादेर्यक् ॥२।१।२५॥ कण्डूञ् इत्येवमादिभ्यो यक् भवति। यकः किल्करणं एप्प्रतिषेधार्थं ज्ञापकमिह कण्ड्वादयो धवो गृह्यन्ते न मृद्रूपाणि (मृद्रूपाः)। कण्डूञ्हृणीङादिषु दीर्घोच्चारणं ज्ञापकं विकल्पेन धुरूपतैषामन्यथा "दीरकृद् ने" [४।२।१२४] इति दीर्घेनाप्येतत्सिद्ध्येत। तेन मृत्पक्षे कण्डुः मन्तुः वल्गुः इत्यादिप्रयोगा ज्ञातव्याः। कण्डूयति। कण्डूयते। कण्डूतिः। मन्तूयति। कण्डूञ् मन्तु वल्गु असङ् हृणीङ महीङ् वेत्लीट्। ङकारो दावप्यर्थः। इयस् इरस् तिरस् मगधस् पम्पस् कुसुभ उषस् तन्तस् सुख दुःख भिषज् भिष्णुज् अरर चुरण तुरण तरण सरण (चरण) सपर इषुध इखुभ गद्गद एला वेला केला खेला लेट् लोट् उरस्। अकारान्तानाम् अतः खम्।

गुपूधूपविच्छिपणिपनेरायः ॥२।१।२६॥ गुपू धूप विच्छि पणि पनि इत्येतेभ्यो धुभ्य आयो भवति। गोपायति। धूपायति। विच्छेरन्तरङ्गत्वात्तुकि कृते आयः। विच्छायति। अनुदात्तेत्त्वं केवले चरितार्थमिति दो न भवति। गुपादिभिर्भौवादिकैः साहचर्यात्पणेर्भौवादिकस्य ग्रहणं न तौदादिकस्य। शतस्य पणते। "व्यवहृपणोः सामर्थ्ये" [१।४।६४] इति कर्मणि ता। पनिरिहैव पणिना समानार्थः उपदिश्यते। पनायति।

वाऽञे ॥२।१।२७॥ अगविषये गुपादिभ्यो वा आयो भवति। गोपायिता। गोप्ता। गोपायाञ्चकार। जुगोप। गोपाया। गुप्तिः। इत्येवमादि योज्यम्।

कम्यृत्योर्णिङीयङ् ॥२।१।२८॥ सूत्रत्वात्काया. स्थाने ता कृता । कम् ऋति इत्येताभ्यां णिङ् ईयङ् इत्येतौ त्यौ भवतः । कामयते । णकारः ऐवर्थः । "न कम्यमिचमाम्" इत्यत्र कमेर्मित्सञ्ज्ञाप्रतिषेधः किमर्थः ? "णिणमोर्दीर्मिताम्" [४।४।८६] इति वा प्रादेशो मा भूदित्येवमर्थः । अकामि । कामं कामम् । "वाऽगे" [२।१।२७] इति णिङोऽनुत्पत्तौ णिञ्निमित्तस्यैपः प्रादेशनिवृत्त्यर्थश्च । ङकारो दविध्यर्थः । क्तितीत्येप्रतिषेधो न भवति इकस्तत्रानुवृत्तेः । ऋतिरिहैव घृणार्थमुपदिश्यते ऋतीयते । वाऽग इति च वर्तते । तेन कमिता । कामयिता । अर्तिता । ऋतीयिता ।

तदन्ता धवः ॥२।१।२९॥ येऽनुक्रान्ताः सनादयस्ते अन्ता येषां ते धुसञ्ज्ञका भवन्ति । तथा चैवोदाहृतम् । पदसञ्ज्ञायामन्तग्रहणं नियमार्थमुक्तम् । अन्यत्र "संज्ञाविधौ त्यग्रहणे तदन्तविधिर्नास्ति" [प०] इति एष प्रतिषेधो मा भूदित्यन्तग्रहणम् ।

स्यतासी लृलुटोः ॥२।१।३०॥ लृ इति लृङ्लृटोः सामान्येन ग्रहणम् । धोः स्यतासी इत्येतौ यथासंख्यं त्यौ भवतः लृलुटोः परतः । शब्दापेक्षमत्र यथासंख्यम् । धोरधिकारात् पूर्वमकृतानिवृत्तिः । अगा सशा च । भावकर्मकर्तृषु लो विहितः । तत्र यक्शपाद्युत्सर्गौ स्यादयस्तदपवादाः । करिष्यति । अकरिष्यत् । कर्ता । तासेरिदित्करणं किम् ? "हलुङः क्ङित्यनिदितः" [४।४।२३] इति नखप्रतिषेधार्थम् । हन्ता । मन्ता ।

कास्यनेकाच्त्याल्लिट्याम् ॥२।१।३१॥ कासेरनेकाचस्त्यान्ताच्च लिटि परतः आम्भवति । कासाञ्चक्रे । अनेकाज्भ्यः—चकासाञ्चकार । चुलुम्प इति सौत्रो धुः । चुलुम्पाञ्चकार । दरिद्राञ्चकार । त्यान्तात्—लोलूयाञ्चक्रे । कारयाञ्चक्रे । गवाञ्चकार । "आचारार्थे सर्वमृद्भ्यः" इति क्विप् । अनेकाज्ग्रहणमत्यान्तार्थम् । आमिति नायमागमः । कासेर्विधानात् ।

सरोरिजादेः ॥२।१।३२॥ गुरु रुणा वर्तते इति सरुः । सरोरिजादेर्धोः लिट्याम्भवति । ईहाञ्चक्रे । इन्दाञ्चकार । उपदेशावस्थायां नुम् । ऊहाञ्चक्रे । उञ्छाञ्चकार । उदम्भाञ्चकार । सरोरिति किम् ? इयेष । उवोष । एपि कृते सरुरिति चेत्; "सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" [प०] इति न भवति । इजादेरिति किम् ? ततक्ष । "ऋच्छत्यॄताम्" [५।२।१२३] इति लिट्येप्वचनं ज्ञापकं ऋच्छेराम्न भवति । आनर्च्छ । आनर्च्छतुः । आनर्च्छुः । कथं प्रोर्णुनाव ? "वाच्य ऊर्णोर्णुवद्भावो यङ्प्रसिद्धिः प्रयोजनम् । आमश्च प्रतिषेधार्थमेकाचश्चेण्निवृत्तये" । प्रोर्णुनूषति । "सनिग्रहश्च" [४।१।११८] इतीट्प्रतिषेधः ।

दयायासः ॥२।१।३३॥ दय अय आस इत्येतेभ्यश्च लिटि आम्भवति । दयाञ्चक्रे । पलायाञ्चक्रे । "गेरयतौ" [४।३।२७] इति लत्वम् । आसाञ्चक्रे ।

वोपजागृविदात् ॥२।१।३४॥ उप जागृ विद् इत्येतेभ्यश्च लिटि परतो वा आम् भवति । ओषाञ्चकार । उवोष । जागराञ्चकार । जजागार । विदाञ्चकार । विवेद । विदेराम्यकारान्तत्वनिपातनात् एप्न भवति । जागृसाहचर्यादादादिकस्य ग्रहणम् ।

भीह्रीभृहुवामुश्वत् ॥२।१।३५॥ भी ह्री भृ हु इत्येतेभ्यो लिटि आम् भवति उश्चेव कार्यं च [illegible] याम्, उश्चि कार्यं द्वित्वमित्येव । तदतिदिश्यते । लिङपेक्षं द्वित्वमामा व्यवधानान्न प्राप्नोति । बिभयाञ्चकार । बिभाय । जिह्रयाञ्चकार । जिह्राय । बिभराञ्चकार । बभार । "भृञो वयागाम" [५।२।१०५] इति [illegible] त्वम् । जुहवाञ्चकार । जुहाव ।

लिड्वन् कृञि ॥२।१।३६॥ कृञिति प्रत्याहारेण कृभ्वस्तीनां ग्रहणम् । [illegible] विभाषाऽपेक्षणीया । तेन छन्दसो [illegible] । न [illegible] आम् स लिड्वद् [illegible] प्रयुज्य [illegible] । [illegible] कृञोनीन्निर्देशात् आमन्तस्य [illegible] पूर्वं प्रयोग । [illegible] । "आम्वन् [illegible]" [illegible] [illegible] दः । ईहाञ्चभूव । [illegible] । "अभिव्यक्तिर्भूवर्चा" [१।४।१२४] [illegible] कृञि प्रत्याहारग्रहणमर्थवत्ता ।

विदाङ्कुर्वन्तु वा ॥२।१।३७॥ विदाङ्कुर्वन्त्विति एतद्वा निपात्यते। किमत्र निपात्यते ? लोटि वा आम् एत्वाभावो लोडन्तस्य करोतेरनुप्रयोगश्च निपात्यते। विदाङ्कुर्वन्तु। विदन्तु। सर्वेषु लोड्वचनेषु निपातनमिदं प्रायेण। ल्यन्तस्य प्रयोगान्ते निर्देशः। विदाङ्करवाणि। वेदानि। विदाङ्करवाव। वेदाव। विदाङ्करवाम। वेदाम। विदाङ्कुरु। विद्धि। विदाङ्कुरुतम्। वित्तम्। विदाङ्कुरुत। वित्त। विदाङ्करोतु। वेत्तु। विदाङ्कुरुताम्। वित्ताम्। (विदाङ्कुर्वन्तु। विदन्तु।)

सिर्लुङि ॥२।१।३८॥ धोः सिर्भवति लुङि परतः। अकार्षीत्। अभैत्सीत्। अकृपाता कटौ देवदत्तेन। इदित्करणं किम् ? अमस्त। "अनिदितः" [४।४।२३] इति प्रतिषेधात् नोङः ख न भवति।

स्पृशमृशकृषतृपदृपो वा ॥२।१।३९॥ स्पृश मृश कृष तृप दृप इत्येतेभ्यो लुङि वा सिर्भवति। तृपिदृप्योः पुषादित्वान्नित्यमङ् प्राप्तः। अन्यत्र "शलः" [२।१।४०] इति क्सः। अस्प्राक्षीत्। अस्पार्क्षीत्। "वाऽनुदात्तस्यर्दुङः" [४।३।५२] इति वामागमः। यणादेशे कृते "वश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः" [५।१।७९] इत्यैप्। पक्षे–अस्पृक्षत्। अम्राक्षीत्। अमार्क्षीत्। अमृक्षत्। अक्राक्षीत्। अकार्क्षीत्। अकृक्षत्। अत्राप्सीत्। अतार्प्सीत्। अतृपत्। अद्राप्सीत्। अदार्प्सीत्। अदृपत्।

इगुडः शलोऽनिटोऽदृशः क्सः ॥२।१।४०॥ इगुड् शलन्तो यो धुः अनिट् तस्माद् दृशिवर्जितात् मे क्सो भवति। दिह–अधिक्षत्। दुह–अधुक्षत्। लिह–अलिक्षत्। इगुड इति किम् ? दह–अधाक्षीत्। शल इति किम् ? अभैत्सीत्। अनिट इति किम् ? अकोषीत्। "नेटि" [५।१।८०] इत्यैप्प्रतिषेधः। अदृश इति किम् ? अदर्शत्। अद्राक्षीत्। "वेरितः" [२।१।४६] इत्यङ्।

श्लिषः ॥२।१।४१॥ अनिट इत्यधिकारात् श्लिष दाहे इत्यस्य ग्रहणं न भवति। श्लिषः क्सो भवति लुङि परतः। आश्लिक्षत्। पूर्वेण प्राप्तस्य बाधके पुषादित्वादङि प्राप्ते अयमारम्भः। "पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" [प०] इत्यङ एव बाधा न क्सः। आश्लेषि।

स्वार्थे ॥२।१।४२॥ स्वार्थः आलिङ्गनम्। श्लिषः स्वार्थ एव क्सो भवति। आश्लिक्षत् कन्या देवदत्तः। स्वार्थ इति किम् ? समाश्लिषत् जतु च काष्ठं च (जतुकाष्ठम्)। दविषये सिखे समाश्लिष्टस्त्वं धवखदिरेण। "झलो झलि" [५।३।४४] इति सेः खम्।

णिश्रिद्रुस्रुकमेः कर्त्तरि कच् ॥२।१।४३॥ णिजन्तेभ्यः श्रि द्रु स्रु कमि इत्येतेभ्यः कर्तृवाचिनि लुङि कच्भवति। ककारः क्कार्यार्थः। चकारः "लुङि कचि धोः" [लिङ्लुङ्कचि धोः] [४।३।७] इति विशेषणार्थः। अचीकथत्। अपीपचत्। "ओनयत्यादेः कच्प्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०] औनयीत्। अशिश्रियत्। अदुद्रुवत्। कमिग्रहणं "वाऽये" [२।१।२७] इति यदा णिङ् न भवति तदा प्रयोजयति। अचकमत्। णक ख यस्मिन् सावित्ति तत्र विग्रहात् सन्वद्भावो न भवति। णिङ्पक्षे सन्वद्भावः। अचीकमत्। आत्मकर्मणापि कच् भवति। अचीकरत् कटः स्वयमेव। "णिश्रिग्रन्थिग्रन्थिब्रूञां दविधौ धीनाञ्च" [वा०] इति सिद्धो प्रतिषेधं वक्ष्यति।

वा धेट्श्व्योः ॥२।१।४४॥ धेट् श्वि इत्येताभ्यां वा कच्भवति कर्तरि लुङि परतः। अदधत्। "द्वित्वेऽचि" [१।१।५६] इत्यातस्य स्थानिवद्भावाद् द्वित्वं यदा सिस्तदा "वा घ्राधेट्च्छाशासः"[१।४।१४७] इति वा सेरप्। अधात्। अधासीत्। अनुपि "यमरमनमातः सक्च" [२।१।१३२] इति सगिटौ। अशिश्वियत्। 'न जौ जिः' [४।३।२१] इत्यनेकारप्रश्लेषात् जिप्रतिषेधः। कचा मुक्ते पक्षे "जॄश्वि" [२।१।५०] इत्यादिना विकल्पेनाङ्। अश्वत्। अश्वयीत्। "ह्यन्तक्षण" [५।१।८१] इत्यादिना सावैप्प्रतिषेधः। कर्मण्येव। अधायि वत्सेन।

वक्त्यसुख्यातेरङ् ॥२।१।४५॥ वक्ति असु ख्याति इत्येतेभ्यो लुङि परतः अङ् भवति। इदमेव वक्तिवचनं ज्ञापकं गेऽपि ब्रूञो वचिरादेशो भवतीति। अवोचत्। अवोचत। "श्व्यस्यवचपोऽथुक् पुमुमोऽङि" [४।२।१२८] इत्युमागमः। असु। उदास्थत। उदास्थेताम्। उदास्थन्त। "अगेरस्यूस्यसोर्वचनम्" [वा०] इति दः। मविषये पुषादित्वादेवाङ् सिद्धः। ख्यातिरिति ख्या प्रकथन इत्यस्य चक्षादेशस्य च कृतणकारस्य विशेषेण ग्रहणम्। आख्यत्। आख्यताम्। आख्यन्।

ह्वालिप्सिचः ॥२।१।४६॥ ह्वा लिप् सिच् इत्येतेभ्यश्चाङ् भवति लुङि परतः। आह्वत्। अलिपत्। असिचत्। पृथगारम्भ उत्तरार्थः।

दे वा ॥२।१।४७॥ ह्वा लिप सिच् इत्येतेभ्यो लुङि दे वा अङ् भवति। आह्वत। आह्वास्त। अलिपत। अलिप्त। असिचत। असिक्त। "सिलिङ् दे" [१।२।८९] इति कित्त्वादेःप्रतिषेधः। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम्।

द्युत्पुषादिलित्सर्तिशास्त्यर्तेर्मे ॥ २।१।४८ ॥ द्युतादिभ्यः पुषादिभ्यः लृकारेद्भ्यः सर्ति शास्ति अर्ति शा इत्येतेभ्यश्च लुङि मे परतः अङ् भवति। वेति नानुवर्तते। द्युतादयः कृपपर्यन्ताः। व्यद्युतत्। व्यलुठत्। अश्वितत्। "द्यु द्भ्यो लुङि"[१।२।८७] इति वा मम्। पुषादयः आ गणपरिसमाप्तेः। अपुषत्। अशुषत्। क्सः प्राप्तः लृकारेद्भ्यः। आपत्। अगमत्। अशकत्। असरत्। अशिषत्। आरत्। म इति किम्। व्यद्योतिष्ट। व्यत्यपुक्षत। अर्तेरपि दविषये—मा समृपाता मा समृपत।

वेरितः ॥२।१।४९॥ म इति वर्त्तते। इरशब्देतो धोर्वाऽङ् भवति लुङि मे परतः। अरुधत्। अरौत्सीत्। अभिदत्। अभैत्सीत्। म इत्येव। अरुद्ध। अभित्त।

जृश्विस्तम्भुम्रुच्म्लुच्ग्रुच्ग्लुचः ॥२।१।५०॥ वेति वर्तते। जॄ श्वि स्तम्भु म्रुच् म्लुच् ग्रुच् ग्लुच् इत्येतेभ्यः कर्त्तरि लुङि वाङ् भवति। जॄष्। अजरत्। आजारीत्। अङि "ऋशुरेष्" [५।२।१२१] अश्वत्। अश्वयीत्। कजपि विभाषितः। अशिश्वियत्। स्तम्भुरिहैवोपदिष्टः। अस्तभत्। अस्तम्भीत्। न्यम्रुचत्। न्यम्रोचीत्। न्यम्लुचत्। न्यम्लोचीत्। अग्रुचत्। अग्रोचीत्। अग्लुचत्। अग्लोचीत्। ग्लुञ्चेर्नोडो ग्रहणमनर्थकम्। अङ्पक्षे विशेषाभावात् नोऽग्रहणसामर्थ्यान्नल न भवति इत्यपि न युक्तं न्यग्लुञ्चदिति लङा सिद्धयति।

ञिस्ते पदः ॥२।१।५१॥ वेति निवृत्तमुत्तरत्र वाग्रहणात्। कर्त्तरीति वर्तते। पदेर्धोर्लुङि ते परतः ञिर्भवति। उदपादि मैत्रम्। समपादि शस्यम्। त इति किम्? उदपत्साताम्। उदपत्सत।

दीपजनबुधपूरितायिप्यायो वा ॥२।१।५२॥ दीपादिभ्यः लुङि ते परतः वा ञिर्भवति। अदीपि। अदीपिष्ट। अजनि। अजनिष्ट। ञौ "जनिवध्योः" [५।२।४०] इत्यैप्रतिषेधः। साहचर्याद् बुधेरनुदात्तेतो ग्रहणम्। अबोधि। अबुद्ध। अपूरि। अपूरिष्ट। अतायि। अतायिष्ट। अप्यायि। अप्यायिष्ट। इह कर्त्तरि विकल्पः। अन्यत्र "ञिर्दे" [२।१।६२] इत्यनेन नित्यो ञिः।

कर्मण्यात्मनि ॥२।१।५३॥ आत्मशब्देन कर्त्ताऽभिप्रेतः। यदा सौकर्यात् कर्म कर्तृत्वेन विवक्ष्यते तदा कर्मणि आत्मनि विहिते तशब्दे परतः वा ञिर्भवति। अकारि कटः स्वयमेव। अकृत कटः स्वयमेव। "उः" [१।१।८६] इति सेः कित्त्वम्। अलावि केदारः स्वयमेव। अलविष्ट केदारः स्वयमेव। "ञिर्दे" [२।१।६२] इति नित्ये ञौ प्राप्ते विकल्पोऽयम्। आत्मकर्मणीति किम्? अकारि कटो देवदत्तेन।

दुहश्च ॥२।१।५४॥ चशब्दो विकल्पानुकर्षणार्थः। दुहेर्वा ञिर्भवति तशब्दे परतः कर्मकर्तरि। नियमोऽयं हलन्तेषु दुहेरेव विकल्पः, तेन पूर्वसूत्रेऽजन्तेषु विकल्पो द्रष्टव्यः। अदोहि गौः स्वयमेव। अदुग्ध गौः स्वयमेव। "वोपदुहदिहलिहगुहो दे दन्त्ये" [४।३।७०] इति क्सलोपः। आत्मकर्मणीति किम्? अदोहि गौर्गोपालकेन।

न रुधः ॥ २।१।५५ ॥ ञि ङाविति प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम्। भावे कर्मण्यात्मनि ञिर्न भवति। अन्ववारुद्ध गौः स्वयमेव।

तपोऽनुतापे च ॥ २।१।५६ ॥ तपतेरनुतापे च कर्मण्यात्मनि च ञिर्न भवति। अनुतापः पश्चात्तापः तत्र तावत् भावकर्मणोरनुपि प्रतिषेधः। अन्ववातप्त पापेन कर्मणा। कर्मण्यात्मनि। अतप्त तपः स्वयमेव। साधुस्तावदुपवासादिलक्षणं तपस्तप्यते। तदा तीव्रत्वात् कर्तृत्वेन विवक्षितं तदाऽयं प्रयोगः।

यग् दुहः ॥ २।१।५७ ॥ नेति वर्तते। दुहेः कर्मण्यात्मनि यङ् न भवति। दुग्धे गौः स्वयमेव। लङि-अदुग्ध गौः स्वयमेव।

नमः शप्तु ॥ २।१।५८ ॥ नमः कर्मण्यात्मनि यङ् न भवति शप् तु भवति। नमते दण्डः स्वयमेव। अनमत दण्डः स्वयमेव। कर्त्राश्रयः शप्न स्यात्।

स्नोश्च ञिश्च ॥२।१।५९॥ स्नोश्च नमश्च कर्मण्यात्मनि ञिर्यग् च न भवतः। प्रास्नोष्ट गौः स्वयमेव। प्रस्नुते गौः स्वयमेव। लङि प्रास्नुत गौः स्वयमेव। ञिप्रतिषेधार्थं नमोऽनुकर्षणम्। यक् तु पूर्वेणैव प्रतिषिद्धः। अनंस्त दण्डः स्वयमेव। "ञियकोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञां दविधौ धीनां चोपसंख्यानं कर्तव्यम्" [वा०] णिरिति हेतुमण्णिचोऽन्यस्य चाविशेषेण ग्रहणम्। अचीकरत कटः स्वयमेव। कारयते कटः स्वयमेव। अश्रन्थिष्ट मेखला स्वयमेव। श्रथ्नीते माला स्वयमेव। अग्रन्थिष्ट मेखला स्वयमेव। ग्रथ्नीते मेखला स्वयमेव। अवोचत वाक् स्वयमेव। ब्रूते वाक् स्वयमेव। दविधौ धीनाम् व्यकृषत सैन्धवाः स्वयमेव। व्यकुर्वत सैन्धवाः स्वयमेव। विकुर्वते सैन्धवाः स्वयमेव। ञियकोः प्रतिषेधे कथं कर्त्राश्रयाः कजादयः। "नमः शप्तु" [२।१।५८] इत्यतस्तुशब्दोऽनुवर्तते तेन कर्त्राश्रयविकरणसिद्धिः। अत इदमपि सिद्धम्। आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः। आरोहयते हस्ती स्वयमेव। सिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः। सेचयते हस्ती स्वयमेव। "ङौ" [१।२।७] इति दविधिः। यदान्यत्कर्म प्रति स्वातन्त्र्येण विवक्षा तदा कर्त्राश्रया विधयो भवन्ति। आरोहयमाणो हस्ती स्थलमारोहयति मनुष्यान्। यथा भिद्यमानः कुशूलः पात्राणि भिनत्ति। इह कस्माद्दो न भवति। स्मरति वनगुल्मस्य कोकिलः। स्मरयत्येनं वनगुल्मः स्वयमेव। कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां चात्मकर्म विवक्षा। कर्तृस्वभावश्चाऽऽध्यानमिति दो न भवति।

कुषिरञ्जेः श्यो मे वा ॥२।१।६०॥ कुषिरञ्जीत्येताभ्यां कर्मण्यात्मनि वा श्यो भवति मे परतः। कथं मविधिः वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेन यथा बहुक्षीरघृतमोदनं मम पुत्रा भुञ्जीरन्नित्यत्र वरादिलब्धिः। कुष्यति पादः स्वयमेव। रज्यति वस्त्रं स्वयमेव। यदा श्यो न भवति तदा यग्दविधी भवतः। कुष्यते पादः स्वयमेव। रज्यते वस्त्रं स्वयमेव। यगनुवर्तते तदपवादोऽयं तेन लिङ्लिङोः स्यादिविषये च नायं विधिः।

तपस्तपःकर्मकस्य कर्मवत् ॥ २।१।६१॥ तपतेस्तपःकर्मकस्य कर्ता कर्मवद्भवति। कर्मातिदेशस्य यग्दविधी प्रयोजनम्। तप्यते तपः साधुः। अर्जयतीत्यर्थः। अतप्यत तपः साधुः। अतप्त तपः साधुः। तपःकर्मकस्येति किम्? उत्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः।

ञिर्ङौ ॥ २।१।६२ ॥ मण्डूकप्लुत्याते इति वर्तते लुङीति च। ञिरित्ययं त्यो भवति ङार्थे लुङि ते परतः। भावे—आशि भवता। अशायि भवता। कर्मणि—अकारि कटो भवता। अलावि केदारो भवता। ङार्थग्रहणं किम्? ञिरेव यथा स्यात्। यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूत्। उपाश्लिक्षत कन्या। "श्लिषः" [२।१।४१] इति क्सो न भवति।

ने यक् ॥२।१।६३॥ ङाविति वर्तते। ङिभाविनि गे यक् भवति। आख्यातवाच्यस्य भावस्यैकत्वात्

असद्युष्मत्सञ्ज्ञाऽभावाच्च अन्यसञ्ज्ञक एक एव च भवति। आस्यते भवता। सुप्यते भवता। कर्मणि—क्रियते कटः। भुज्यते ओदनः। ऋकारस्य दीत्वे प्राप्ते "रिङ्यग्लिङ्क्षे" [५।२।१३७] इति रिङ्। कर्मसामान्यात् आत्मकर्मण्यपि यग् भवति। क्रियते कटः स्वयमेव। भिद्यते कुशूलः स्वयमेव। कथं भिद्यते कुशूलेन स्वयमेवेत्यत्र कर्त्तरि भा। अत्राकर्मकत्वविवक्षा। तेन भावे लकारः। लान्तस्यो (तस्यो) भयविवक्षा। व्यक्तपार्येष्वकर्मकविवक्षैव (क्षयैव)। भेत्तव्यं कुशूलेन स्वयमेव। भिन्नं कुशूलेन स्वयमेव। ईषद्भेदं कुशूलेन स्वयमेव।

कर्तरि शप् ॥२।१।६४॥ कर्तृवाचिनि गे परतो धोः शब्भवति। जयति। भवति। तरति। शकारः "मिद्धशिद्गः" [२।४।९३] इति विशेषणार्थः। पकारः "गोऽपित्" [१।१।७८] इति विशेषणार्थः।

दिवादेः श्यः ॥२।१।६५॥ दिव इत्येवमादिभ्यः श्यो भवति गे परतः। दीव्यति। सीव्यति। ष्ठीव्यति। "हल्यभकुर्च्छुरः" [५।३।८६] इति उङो दीत्वम्। इमे श्यादय शपोऽपवादाः।

वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुत्रसित्रुटिलषः ॥२।१।६६॥ भ्राश भ्लाश भ्रम् क्रम् त्रसि त्रुटि लष इत्येतेभ्यो धुभ्यो वा श्यो भवति। उभयत्र विभाषेयम्। भ्राशते। भ्राश्यते। भ्लाशते। भ्लाश्यते। भ्रमति। भ्रम्यति। श्ये (शिति) भौवादिकस्याशमादित्वाद्दीत्वं नास्ति। दैवादिकस्य दीत्वम्। भ्रमति। भ्राम्यति। क्रमति। क्राम्यति। "क्रमो मे" [५।२।७४] इति दीत्वम्। त्रसति। त्रस्यति। त्रुटति। त्रुट्यति। लषति। लष्यति। भ्रमिग्रहणं न कर्तव्यम्। दिवादिपाठात् श्ये सति "शमित्यामदो दीः" [५।२।७२] इति दीत्वं सिद्धम्। "ष्ठिवुक्लम्वाचमां शिति" [५।२।७३] पुनर्दीत्ववचनं ज्ञापकं शब्यपि भवतीति।

यसः ॥२।१।६७॥ यसु प्रयत्न इत्यस्माद्वा श्यो भवति। यसति। यस्यति।

समः ॥२।१।६८॥ सपूर्वाच्च यसः वा श्यो भवति। संयस्यति। संयसति। नियमोऽयं सम एव गेर्विकल्पो नान्यस्मात्। आयस्यति। प्रयस्यति। दिवादिपाठान्नित्यः श्यः।

स्वादेः श्नुः ॥२।१।६९॥ षुञ् इत्येवमादिभ्यो धुभ्यः श्नुरित्ययं त्यो भवति। सुनोति। सिनोति।

श्रुवः शृ ॥२।१।७०॥ श्रु इत्येतस्मात् श्नुर्भवति शृ इत्ययं चादेशः। श्रु इति सुवादौ स्वादौ न पठ्यते। शृणुतः। शृण्वन्ति।

वाऽक्षः ॥२।१।७१॥ अक्ष इत्येतस्माद्धोः वा श्नुर्भवति। अक्ष्णोति। अक्षति। भौवादिकोऽयम्।

तक्षः स्वार्थे ॥२।१।७२॥ स्वार्थस्तनूकरणम्। तक्षू इत्यस्मात् स्वार्थे वा श्नुर्भवति। तक्ष्णोति काष्ठम्। तक्षति काष्ठम्। स्वार्थे इति किम्? सन्तक्षति वाग्भिर्दुर्जनः।

रुधितुदादिभ्यां श्नम्शौ ॥२।१।७३॥ रुधादिभ्यस्तुदादिभ्यः श्नम्शौ त्यौ भवतः। शकारः "श्नास्त्वम्" [४।४।८२] इति विशेषणार्थः। मकारः "परोऽन्त्यो मित्" [१।१।२५] इति विशेषणार्थः। रुणद्धि। भिनत्ति। तुदादिभ्यः शः। तुदति। क्षिपति।

कृञ्तनादेरुः ॥२।१।७४॥ कृञ् इत्येतस्मात्तनादिभ्यश्च उरित्ययं त्यो भवति। करोति। कुरुतः। कुर्वन्ति। तनादिभ्यः—तनोति। सनोति। क्षणोति। तनादित्वादेव सिद्धे पृथक् कृञो ग्रहणं किम्? अन्यत् तनादिकार्यं करोतेर्मा भूत्। "तनादिभ्यस्तथासो" [१।२।११८] इति विभाषया सिचो लुब् मा भूत्। अकृत। अकृथाः। न चानुपपत्ते 'ग्राद् गोः' [५।३।४५] इति न भवति। तस्मिन् प्राप्ते ... भवर्ण प्रसज्येत।

धिन्विकृण्व्योर च ॥२।१।७५॥ 'धिवि प्रीणने','कृवि हिंसाकरणयोः' इत्येताभ्यां उरित्ययं त्यो भवति अकारश्चान्तादेशः। धिनोति। कृणोति। अतः खम्। "न धुखेऽगे" [१।१।१८] इति प्रतिषेधात् "परेऽच-पूर्वविधौ" [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद्वा (एप्) न भवति। सनुम्कोच्चारणं ज्ञापकं त्योत्पत्तेः प्रागेव नुम्भवतीति। तेन कुण्डा हुण्डेति सिद्धम्।

क्र्यादेः श्ना ॥२।१।७६॥ क्री इत्येवमादिभ्यो धुभ्यः श्ना इत्ययं त्यो भवति। क्रीणाति। प्रीणाति।

स्तम्भुस्तुम्भुस्कम्भुस्कुम्भुस्कुञ्भ्यः श्नुश्च ॥२।१।७७॥ स्तम्भ्वादिभ्यः श्नुर्भवति श्ना च। स्तभ्नोति। स्तभ्नाति। स्तुभ्नोति। स्तुभ्नाति। स्कभ्नोति। स्कभ्नाति। स्कुभ्नोति। स्कुभ्नाति। स्कुनोति। स्कुनाति। स्कुञ् क्र्यादिषु पठ्यते। इतरेषामिहैवोपदेशः। उदित्करणादन्यत्रापि प्रयोगः।

हौ हलः श्नः शानः ॥२।१।७८॥ हल उत्तरस्य श्ना इत्येतस्य शान इत्ययमादेशो भवति हौ परतः। अशान। पुषाण। हाविति किम्? अश्नाति। हल इति किम्? क्रीणीहि। श्न इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः? स्तम्भादीनां यदा श्नुस्तदा मा भूत्। स्तम्नुहि। त्यान्तरं वा सर्वेभ्यः सम्भाव्यते। शानस्य शित्करणं ज्ञापकम्-अनित्योऽनुबन्धस्य स्थानिवद्भाव इति। तेन लङादीनां मिबादिषु स्थानिवद्भावाद्ङित्त्वं ङित्त्वं च न भवति। पचमानास्त्री। अचिनवम्। असुनवम्।

ईपाऽत्र वाक् ॥२।१।७९॥ धोरिति वर्तते। अत्र धोरधिकारे ईपा निर्दिष्ट वाक्संज्ञ भवति। गम्यमानक्रियापेक्षया ईपेत्यस्य करणत्वम्। वक्ष्यति "कर्मण्यण्" [२।२।१] कुम्भकारः। शरलावः। मृद्रूपस्यैव वाक्संज्ञा तेन "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति कर्मणि ता भवति। तासाद्वाक्सः परत्वेन। अत्रग्रहणं विस्पष्टार्थम्। वागितीयमन्वर्था संज्ञा। ब्रूतेऽर्थ वागिति तेनासामर्थ्ये वाक्संज्ञा नास्ति। पश्य कुम्भं करोति कटम्। मृत्पिण्डं कुम्भं करोति। महान्तं कुम्भं करोति। सविशेषणानां च न भवति। हरतेः "दृतिनाथयोः पशौ" [२।२।१०] इति पशुशब्दस्य न भवति। यत्र वाचकत्वं तत्र भवति। काशकटकारः।

कृदमिङ् ॥२।१।८०॥ अत्र धोरधिकारे मिङ्वर्जितास्त्याः कृत्संज्ञा भवन्ति। अत ऊर्ध्वं ये वक्ष्यन्ते तेषामधिकारेणेयं सञ्ज्ञा। वक्ष्यति "तव्यानीयौ" [२।१।८३]। कर्तव्यः। करणीयः। अत्र मृत्संज्ञाप्रयोजनम्। कृत्यः। स्तुत्यः। "पिति कृति" [४।३।१९] इति तुक्। अमिङिति किम्? चीयात्। सूयात्। अकृद्यकाराद्दीत्व सिद्धम्।

प्राक्तेर्वाऽसमः ॥२।१।८१॥ स्त्रियां क्तिरिति वक्ष्यते। प्रागेतस्मादसमो यस्त्यः कृत् स वा भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः। सरूपत्वपवादो बाधक एवेति भावः। विक्षेपकः। धिक्षेप्ता। विक्षिपः। इगुपधलक्षणकविषये ण्वुतृचावपि भवतः। प्राक्तेरिति किम्? चिकीर्षा। "अस्त्यात्" [२।३।८४] इत्यकारः क्तेर्बाधकः। व्याक्रोशी। व्याकृष्टिरित्येवमादिषु यतो विधेयः। असम इति किम्? गोदः। कम्बलदः। "आतः कः" [२।२।२] इति को भवति। अणोऽपवादः। अनुबन्धापाये रूपगत समलमत्र।

ण्योर्व्याः ॥२।१।८२॥ प्रागिति वर्तते "ण्वुतृचौ" [२।१।१०९] इति वक्ष्यति। प्रागेतस्माद्ये त्यास्ते व्यसंज्ञा वेदितव्याः। देवदत्तस्य कर्तव्यम्। देवदत्तेन कर्तव्यम्। व्यप्रदेशाः "व्यस्य वा कर्तरि" [१।४।७९] इत्येवमादयः।

तव्यानीयौ ॥२।१।८३॥ तव्य अनीय इत्येतौ त्यौ भवतः। कर्तव्यः। करणीयः। कथं वास्तव्यः? वास्तु देव तस्मादुदाहार्थं दिगादित्वात्यः। एवं वस्तुनि भवो वस्तव्यः।

योऽचोऽऽसुयुच: ॥२।१।८४॥ य इत्यय त्यो भवत्यजन्ताद्धोः ऋवर्णान्त आसु यु इत्येतान् वर्जयित्वा। देयम्। नेयम्। "ईद्ये" [४।४।६४] इति ईत्वम्। "गागयोः" [४।२।८१] इति पुनरेप्। "देयमृणे" [३।३।२२] इति निर्देशात्तत्रे गुकार्ये निवृत्ते पुनरेप्। दित्स्य धित्स्यमित्यत्र अगे ये परतोऽतः खम्। अत्र

पोरदुङोऽत्रपिवपिरपिलपिचमः ॥२।१।८५॥ पवर्गान्ताद्धोरदुडो य इत्ययं त्यो भवति त्रपिवपि रपिलपिचमीन् वर्जयित्वा । रभ्यम् । लभ्यम् । समत्वेन ण्यापवादोऽयम् । पोरिति किम् ? वाच्यम्[1] । अदुङ इति किम् ? डेप्यम् । कुप्यादित्वादेव स्यात् । तपरकरणमसन्देहार्थम् । अत्रपिवपिरपिलपिचम इति किम् ? त्राप्यम् । वाप्यम् । राप्यम् । लाप्यम् । आचाम्यम् ।

शकिसहश्च ॥२।१।८६॥ शकि सह इत्येताभ्यां यो भवति । शक्यम् । सह्यम् । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन ससितकिचतियतियजिजनीनां सग्रहः । सस्यम् । तक्यम् । चत्यम् । यत्यम् । यज्यम् । जन्यम् । **"हनो वा वध इति च वक्तव्यम्"** [वा०] वध्यम् । घात्यम् ।

गदमदचरयमोऽगे ॥२।१।८७॥ गद मद चर यम इत्येतेभ्योऽगिपूर्वेभ्यः यस्त्यो भवति । गद्यम् । मद्यम् । चर्यम् । यम्यम् । अगेरिति किम् ? निगाद्यम् । प्रमाद्यम् । अभिचार्यम् । प्रयाम्यम् । यम. "पोरदुङः" [२।१।८५] इति सिद्धे नियमार्थमिदम् । अगेरेव यथा स्यात् । इतरेषामप्राप्ते विधिः । "चरेराङि चागुराविति वक्तव्यम्" [वा०] आचर्यं व्रतम् । अगुराविति किम् ? आचार्यो गुरुः ।

पण्याऽवद्यवर्यावह्याऽर्योपसर्याऽजर्याणि ॥२।१।८८॥ पण्य अवद्य वर्या वह्य अर्य उपसर्या अजर्य इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । पण्यमिति निपात्यते व्यवहर्तव्यं चेद्भवति । पण्यः कम्बलः । पण्या गौः । पाण्यमित्यन्यत्र । अवद्यं भवति गर्ह्यं चेत् । अवद्यं द्यूतम् । अवद्यं पापम् । न उद्यते इत्यनुद्यमन्यत् । वर्या वृङो यो भवत्यनिरोधेऽर्थे । शतेन वर्या । सहस्रेण वर्या । स्त्रीलिङ्गादन्यत्र ण्य एव भवति । वार्या ऋत्विजः धन संविभागरूपोऽत्राप्यनिरोधोऽस्ति । अनिरोध इति किम् ? वार्या गौः शस्येषु । वह्यमिति निपात्यते करणं चेद्भवति । वहति तेन वह्यं शकटम् । वाह्यमन्यत् । अर्य इति निपात्यते स्वामिनि वैश्ये च । अर्यः स्वामी । अर्यो वैश्यः । अन्यत्र ण्य एव । आर्यं साधु । उपसर्येति निपात्यते काल्या प्रजने चेत् । प्रजनो गर्भग्रहणकाल प्राप्तोऽस्याः काल्या । "तदस्य प्राप्तम्" [३।४।१७] इति वर्तमाने "कालाद्यः" [३।४।१००] इति य. । उपसर्या गौः । उपसर्या वडवा । उपसार्या शरदि मथुरा अन्यत्र । अजर्यमिति नञ्पूर्वाज्जृषः कर्तरि यो निपात्यो सङ्गतेऽर्थे । न जीर्यत इत्यजर्यमर्थसङ्गतम् । अजरिता कम्बल इत्यन्यत्र ।

वदः सुपि क्यप् च ॥२।१।८९॥ अगेरिति वर्तते । वदतेः क्यब्भवति यश्च गिवर्जिते सुपि वाचि । सत्यमुद्यत इति सत्योद्यम् । सत्यवद्यम् । मिथ्योद्यम् । मिथ्या वद्यम् । "वागमिड्"[१।३।८२] इति पस. । सुपीति किम् ? वाद्यम् । अगेरित्येव । अनुवाद्यम् ।

भूयहत्ये ॥२।१।९०॥ सुप्यगेरिति वर्तते । भूय हत्य इत्येते शब्दरूपे निपात्येते गि[illegible] सुपि [illegible] । देवभूय गतः । देवत्व गत इत्यर्थः । साधुभूयं गतः । क्यबत्र निपात्यते । दरिद्रहनन दरिद्र[illegible] । चो[illegible] । हन्तेः स्त्रीलिङ्ग भावे क्यन्निपात्यते । सुपीत्येव । भव्यम् । घातो वर्तते । अगेरित्येव । प्रभव्यमु[illegible] ।

स्तुशासिणवृदृजुषः क्यप् ॥२।१।९१॥ सुप्यगेरिति निवृत्तम् । सामान्येनाय [illegible] । स्तु [illegible] वृणोति दृ जुष इत्येतेभ्य. क्यब्भवति । स्तुत्यः । शिष्य. । इत्यः । आवृत्यः । आदृत्यः । पुन [illegible] किमर्थम् ? "ओरावश्यके" [२।१।१०२] इत्यस्यापि बाधनार्थम् । अवश्यस्तुत्यः । "शसिदुहिगुहिभ्यो [illegible] वक्तव्यम्" [वा०] शस्यम् । दुह्यम् । शस्यम् । दोह्यम् । गुह्यम् । गोह्यम् । "आङ्पूर्वाद्‌ञ्चे, संज्ञायां [illegible] वक्तव्यः" [वा०] आज्यम् । न वक्तव्यम् । पुन. क्यब्ग्रहणाद्योगविभागाद्भविष्यति । उपा[illegible] ।

ऋदुङाऽक्लृपिचृते. ॥२।१।९२॥ ऋकारान्तो यो. [illegible] क्यब्भवति कृपिचृती [illegible] । [illegible] वृद्‌द्यम् । ण्यपवादोऽयम् । अक्लृपिचृतेरिति किम् ? कल्प्यम् । चर्त्यम् । "पाणौ समवसृजः [illegible] वक्तव्य" [वा०] पाणिसर्ग्या रज्जु । समवसर्ग्या [illegible] ।

---

1. पद्यम् अ० ।

भृञोऽखौ ॥२।१।९३॥ भृञः क्यप् भवति अखुविषये। भृत्याः कर्मकराः। भृत्याः शिशवः। भर्तव्या इत्यर्थः। अखाविति किम्? भार्या नाम क्षत्रियाः केचित्। देवदत्तस्य भार्या। स्त्रिया "समजनिपद" [२।३।८१] इत्यादिना भावे क्यप्। कर्मणि चायं भार्याशब्दः। 'संपूर्वाद्वेति वक्तव्यम्" [वा०] सम्भृत्या सम्भार्याः कर्मकराः।

खेयराजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः ॥२।१।९४॥ खेयादयः शब्दा निपात्यन्ते। खेयमिति खनतेर्यो निपात्यते इकारश्चान्तादेशः। आदेप्। 'ये वा' [४।४।४५] इत्यात्व नाशङ्कनीय निपातनादेव। राजसूयमिति राजशब्दे वान्ते भान्ते सुनोतेः क्यप् दीर्घत्व च निपात्यते। राज्ञा सूयते राजा वा अस्मिन् सूयते इति राजसूयम्। सरति कर्माणि सुवतीति वा सूर्यः। सर्तेरुत्व सूवतेर्वा रुडागमः क्यप् च निपात्यते। मृषापूर्वस्य वदतेर्नित्य क्यप् निपात्यते। मृषोद्यम्। रुच्यमिति कर्त्तरि क्यप् निपात्यते। कुप्यमिति सञ्ज्ञाया गुपेरादौ कत्व क्यप् च निपात्यते। कुप्य फल्गु भाण्डमित्यर्थः। गोप्यमन्यत्। कृष्टे पच्यन्ते स्वयमेव कृष्टपच्या व्रीहयः। आत्म-कर्मणि क्यप्। न व्यथतेऽसावव्यथ्यः। नञ्पूर्वाद्व्यथतेः कर्त्तरि क्यप् निपात्यते।

भिद्योद्ध्यौ नदे ॥२।१।९५॥ भिद्य उद्ध्य इत्येतौ निपात्येते नदेऽभिधेये। भिनत्ति कूलानि भिद्यः। उज्झत्युदकमिति उद्ध्य.। कर्तरि कारके क्यप् उज्झेर्धत्त्व च निपात्यते। नद इति किम्? भिदः। उज्झः। इगुपधलक्षणः कः पचाद्यच्च यथाक्रमम्।

पुष्यसिद्ध्यौ भे ॥२।१।९६॥ पुष्य सिध्य इत्येतौ निपात्येते भेऽभिधेये। पुष्यन्त्यस्मिन्नर्था आरभमाणानामिति पुष्यः। सिध्यन्त्यस्मिन्नर्था इति सिद्ध्यः। अधिकरणे क्यप् निपात्यते नक्षत्रे वाच्ये। अन्यत्र पोषणः सेधन इति च भवति।

विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु ॥२।१।९७॥ विपूय विनीय जित्या इत्येते शब्दा निपात्यन्ते यथासख्य मुञ्ज कल्क हलि इत्येतेषु वाच्येषु। विपूयते इति विपूयो मुञ्जः। पवतेः क्यप् निपात्यते। विपव्यमन्यत्। विनीयतेऽसौ घृतादिना विनीयः। त्रिफलादिकल्कः। विनेयमन्यत्। जित्यो हलिः। जेयमन्यत्।

पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु ग्रहः ॥२।१।९८॥ पदे अस्वैरिणि बाह्याया पक्ष्ये चार्थे ग्रहेर्धोः क्यब्भवति। प्रगृह्यते इति प्रगृह्य पदम्। अवगृह्य पदम्। अस्वैरी परवशः। गृह्यका इमे। अनुकम्पाया कः। परतन्त्रा इत्यर्थः। बहिर्भवा बाह्या। गृह्यते इति गृह्या, ग्रामस्य गृह्या ग्रामगृह्या नगरगृह्या सेना। ताभ्या बहिर्भूता इत्यर्थः। स्त्रीलिङ्गादन्यत्र न भवति। पक्षे भवः पक्ष्यः। भरतगृह्यः। भुजबलिगृह्यः। तत्पक्ष्य इत्यर्थः।

कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य ॥२।१।९९॥ कार्थे ता। कृ वृषि मृज् इत्येतेभ्यः क्यप् भवति यशोभद्रस्याचार्यस्य मतेन। कृत्यम्। कार्यम्। नित्यं ण्यः प्राप्तः। वृष्यम्। वर्ष्यम्। परिमृज्यम्। परिमार्ग्यम्। "ऋदुप" [२।१।९२] इति नित्य क्यप् प्राप्तः।

युग्यं पत्रे ॥२।१।१००॥ पतति अनेनेति पत्र वाहनम्, तस्मिन्नर्थे युग्यमिति निपात्यते। युज्यते इति युग्योऽश्वः। युग्यो गौ.। क्यप् कुत्व च निपात्यते। पत्रादन्यत्र योग्यमिति।

ण्यः ॥२।१।१०१॥ ण्य इत्ययं त्यो भवति धोः। अयमुत्सर्गः। अजन्ताद्यः क्यप् चास्यापवादो। कार्यम्। हार्यम्। पाक्यम्। पाठ्यम्।

ओरावश्यके ॥२।१।१०२॥ उवर्णान्ताद्धोर्ण्यो भवत्यावश्यके द्योत्ये। अवश्यमित्यस्य भावः आवश्यकम्। मनोज्ञादित्वाद् वुञ्। लाव्यम्। पाव्यम्। यत्रावश्यकेऽर्थेऽवश्यलाव्यमिति कथं सविधिः? मयूरव्यंसकादित्वाद्विभाषा। आवश्यक इति किम्? लव्यम्। पव्यम्।

अमावस्या वा ॥२।१।१०३॥ अमावस्य इति वा प्रादेशो निपात्यते। अमा वसतः सूर्याचन्द्रमसावस्या

अमावस्या । अमावास्या । अमाशब्दे सहार्थे वाचि वसेरधिकरणेऽर्थे ण्यो विभाषया उङः प्रादेशश्च निपात्यते । प्रदेशेषु एकदेशविकृतस्य ग्रहणार्थम् ।

पाय्यसान्नाय्यनिकाय्यधाय्याऽऽनाय्यप्रणाय्या मानहविर्निवाससामिधेन्यनित्याऽसम्मतिषु ॥२।१।१०४॥ पाय्य सान्नाय्य निकाय्य धाय्य आनाय्य प्रणाय्य इत्येते शब्दा निपात्यन्ते यथासंख्यं मान हविर्निवास सामिधेनी अनित्य असम्मति इत्येतेष्वर्थेषु । मीयतेऽनेनेति पाय्य मानम् । माङः करणे ण्यः । आदिपत्वञ्च निपात्यते । मानमन्यत् । सन्नीयते इति सान्नाय्य हविः । सम्पूर्वान्नयतेः ण्यः आयादेशो णेर्दीर्घत्वं च निपात्यते । सन्नेयमन्यत् । निचीयते इति निकाय्यो निवासश्चेत् । निपूर्वाच्चिञः ण्यायादेशावादिकत्वं च निपात्यते । निचेयमन्यत् । धीयते इति धाय्या सामिधेनी । दधातेर्ण्यो निपात्यते । विशिष्टा काचन सामिधेनी । तत्र रूढिवशात्काचिदेवोच्यते । धेयमन्यत् । आनाय्य इति नयतेराङ्पूर्वाण्ण्यायादेशौ निपात्यावनित्येऽर्थे । आनाय्यो दक्षिणाग्निः । रूढिरेषा दक्षिणाग्निविशेषस्य । आनेयोऽन्यः । अविगमानरसम्मतिरसम्मतिः प्रपूर्वान्नयतेर्ण्यायादेशौ निपात्यो । प्रणाय्यश्चोरः । प्रणेयोऽन्यः ।

कुण्डपाय्यसञ्चाय्यपरिचाय्योपचाय्यचित्याग्निचित्याः ॥२।१।१०५॥ कुण्डपाय्य सञ्चाय्य परिचाय्य उपचाय्य चित्य अग्निचित्या इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते । कुण्डेन पीयतेऽस्मिन्सोम इति कुण्डपाय्यः क्रतुः । कुण्डशब्दे भान्ते ण्योऽधिकरणे निपात्यते । कुण्डपानमन्यत् । सञ्चीयते इति सञ्चाय्यः क्रतुः । सञ्चेयमन्यत् । परिचाय्योपचाय्यौ निपात्येते अग्नावभिधेये । परिचेय उपचेय इत्यन्यत्[1] । चित्याग्निचित्याशब्दौ निपात्येते अग्नावभिधेये । चीयतेऽसौ चित्योऽग्निः । अग्निचयनमग्निचित्या । अन्त्ये स्त्रीलिङ्गे भावे क्यप्निपात्यः ।

ण्वुतृचौ ॥२।१।१०६॥ ण्वु तृच इत्येतौ त्यौ भवतः । कारकः । कर्ता । भोजकः । भोक्ता ।

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ॥२।१।१०७॥ नन्द्यादिभ्यो ग्रहादिभ्यः पचादिभ्यश्च यथासंख्यं ल्यु णिन् अच् इत्येते त्या भवन्ति । नन्दयतीति नन्दनः । लकारः "युवोरनाकौ" [५।१।१]इति सामान्यग्रहणाविघातार्थः । नन्दिवाशिमदिनर्दिभूषिसाधिशोभिवर्द्धिभ्यो ण्यन्तेभ्यः संज्ञायां सहितपिदमिजल्पिरमिहर्षिरसिसिखट्क्रन्दिसङ्कर्षिभ्यः संज्ञायामण्यन्तेभ्यः । जनार्दनः । मधुसूदनः । लवण इति निपातनाण्णत्वम् । विभीषणः । पवनः । वित्तनाशनः । कुलदमन एतावणोऽपवादौ इति नन्द्यादिः । ग्रह उत्सह उद्दास [illegible] उद्दास मन्त्र समर्द निरक्षी निश्रावी निवापी निवेशी एतेभ्यः निपूर्वेभ्यः । अयाची अव्याहारी अस [illegible] अवादी अभाजी अवासी एतेभ्यः प्रतिषिद्धेभ्यः । अचामचित्तकर्तृकाणां प्रतिषिद्धानामिति वक्तव्यं । अ[illegible] अविनायी विशायी विषयीशब्दो देशे निपतनात् अद्रिभावी प्रविभावी भूते भवतः । [illegible] परिभवी परिभावी इति ग्रहादिः । पच पठ वप वद चल पत तथा चरिचलिपतिवदीनामच्यानिकत्वं [illegible] । नदट् लवट् तरट् चरट् चोरट् चेलट् गा हट् देवट् टित्करणं स्त्रियां ङयर्थम् । जर मर क्षर [illegible] नर्त प्रण दर । अर्णि विषनेऽपि । श्वपच चक्रवर । पचादिराकृतिगणः ।

ज्ञाकॄप्रीगुडः कः ॥२।१।१०८॥ ज्ञा कॄ प्री इत्येतेभ्य इगुपधेभ्यश्च [illegible] । [illegible] आकारान्तलक्षणो णः प्राप्तः । इह अर्थं जानातीति अर्थज्ञः । परत्वादात [illegible] । [illegible] उत्किरः । विकिरः । प्रीणातीति प्रियः । इगुपः । [illegible] । [illegible] ।

आतो णः ॥२।१।१०९॥ आकारान्तादो [illegible] भवति णो वाचि । [illegible] । [illegible]

इह वटवासन्दाय इति परत्वादण् ।

पाघ्राध्माधेड्दृशः शः ॥२।१।११०॥ [illegible] भवति । [illegible]

दलात्[illegible] निवर्तेर्ग्रहणम् । [illegible]

---

1. इत्यन्यत्र क०, द०, न० । 2. [illegible] अ०, न० ।

[१।३।८१] इति निर्देशात् कः। न्यग्रः। उद्धमः। विधमः। उत्पयः। विधयः। उत्पश्यः। विपश्यः। गाविति केचिदिह नाभिसम्बध्नन्ति। तेन पश्यतीति पश्यः। जिघ्रः।

लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्योऽगे: ॥२।१।१११॥ लिम्प विन्द धारि पारि वेदि उदेजि चेति साहि इत्येतेभ्यः अगिपूर्वेभ्यः शो भवति। लिम्पतीति लिम्पः। कथं कुड्यलेप इति? "मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" [प०] इति इगुडः कस्यापि शो बाधको नाणः। विन्दतीति विन्दः। लिम्पविन्द इति सानुषङ्गनिर्देशादन्यत्राण्पत्र विधिर्भवति। सज्ञाया गावपि। निलिम्पा नाम देवाः। अरविन्द गोविन्द इत्यत्र विषयेऽपि शः सिद्धः। धारयतीति धारयः। पारयः। वेदयः। उदेजयः। निर्देशादेव णिपूर्वस्य ग्रहणम्। चेतयः। सात करोतीति णिच्। सातयः। साहयः। आकारान्ता के इतरेभ्योऽचि प्राप्ते वचनम्।

दाञ्धाञोर्वा ॥२।१।११२॥ कार्ये ताविभक्ती। दाञ् धाञ् इत्येताभ्या अगिपूर्वाभ्या वा शो भवति। ददः। दधः। दायः। धायः। अगावित्येव। प्रदः। प्रधः। अनुबन्धनिर्देशो यङन्तयोः शो मा भूदित्येवमर्थः।

ज्वलितिकसन्ताण्णः ॥२।१।११३॥ इतिः आद्यर्थे अविभक्तिकश्च निर्देशः। ज्वलादिभ्यः कस गता इत्येवमन्तेभ्यो वा णो भवति। ज्वालः। ज्वलः। कासः। कसः। चालः। चलः। अगावित्येव। प्रज्वलः।

श्याद्व्यधास्रुसंस्रुलिहश्लिषश्वसतीणः ॥२।१।११४॥ श्यैङ् आकारान्त व्यध आस्रु संस्रु लिह श्लिष श्वस् अतीण् इत्येतेभ्यो णो भवति। वेति निवृत्तं अगाविति च। अवश्यायः। आदिति सिद्धे पुनः श्याग्रहणम् "आतो गौ" [२।१।१०६] इत्यस्य बाधनार्थः। आत्। दायः। धायः। व्याधः। आस्रावः। संस्रावः। लेहः। श्लेषः। श्वासः। अत्यायः। "अवादिभ्यस्तनेरिति वक्तव्यम्" [वा०] अवतनोतीत्यवतानः।

हृसोऽवे ॥२।१।११५॥ हृ सा इत्येताभ्यामवपूर्वाभ्या णो भवति। अवहारः। अवसायः।

दुन्योरगौ ॥२।१।११६॥ दुनी इत्येताभ्या णो भवति। दुनोतीति दावः। नायः। अगाविति किम्? प्रदवः। प्रणयः।

विभाषा ग्रहः ॥२।१।११७॥ ग्रहेर्विभाषया णो भवति। ग्राहः। ग्रहः। व्यवस्थितविभाषेयम्। जलचरे ग्राह एव। ज्योतिषि ग्रह एव। विभाषेति योगविभागाद् भवतीति भावः।

गेहे कः ॥२।१।११८॥ ग्रहेर्गेहेऽभिधेये को भवति। गेह सद्म। तात्स्थ्याद्दारा अपि। गृह गृहाः।

शिल्पिनि ट्वुः ॥२।१।११९॥ शिल्पिन्यभिधेये ट्वुर्भवति धोः। नर्तकः। खनकः। रजकः। रजकस्यनस्य सा नस्य वक्ष्यति। एत एव षवः प्रयोजयन्तीति केचित्।

गो ण्युथकौ ॥२।१।१२०॥ गायतेर्ण्यु थक इत्येतौ त्यौ भवतः। शिल्पिनीति वर्तते। गायनः। गाथक।

हायनः ॥२।१।१२१॥ हायन इति निपात्यते व्रीहिकालयोः कर्त्रोः। जहात्युदकमिति हायना नाम व्रीहयः। जहाति रसतुता किमाः हायनः सवत्सरः।

प्रुसृल्वः साधुकारिणि वुन् ॥२।१।१२२॥ प्रु सृ लू इत्येतेभ्यः धुभ्यः साधुकारिणि कर्तरि वुन् भवति। साधु प्रवते यः स प्रवकः। एव सरकः। लवकः। साधुकारिणीति किम्? प्रवः।

आशिषि ॥२।१।१२३॥ आशिषि चार्थे वुन् भवति धोः। जीवतादिति य उच्यते स जीवकः। एव नन्दकः। नर्दकः।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः।

कर्मण्यण् ॥२।२।१॥ कर्मणि कारके वाचि धोरणित्ययं त्यो भवति । कुम्भकारः । शरलावः । चर्चापारः । कुम्भादिशब्दात् "कर्तृकर्मणोः कृति" [१।४।६८] इति ता । "वागमिङ्" [१।३।८२] इति षसः । "शीलिकामिभक्ष्याचरीक्षिक्षमिभ्यो णो वक्तव्यः" [वा०] धर्मशीलः । धर्मशीला । धर्मकामः । वायुभक्षः । धर्माचारः । धर्मापेक्षः । क्लेशक्षमः । नेद वक्तव्यम् । घञन्तेन षसे सति सिद्धम् । धर्मं शीलमस्य धर्मशीलः । धर्मे कामोऽस्य धर्मकामः । धर्मं शीलयतीत्येवमादिविग्रहे अनभिधानादण् न भवति यथा आदित्यं पश्यति हिमवन्तं शृणोतीत्येवमादौ न भवति । कुम्भकारादिष्वण् घञन्तेन च षस इत्युभयं भवति ।

ह्वावामः ॥२।२।२॥ ह्वा वा मा इत्येतेभ्यश्चाण् भवति कर्मणि वाचि । के प्राप्ते इदं वचनम् । स्वर्गह्वायः । तन्तुवायः । वातिवायत्योर्मातेश्चाकर्मकत्वादग्रहणम् । धान्यं मिमीते मयते वा धान्यमायः । मीनातिमिनोत्योः कप्राप्तेरभावात् पूर्वेणैवाण् ।

आतः कः ॥२।२।३॥ आकारान्ताद्धोः कर्मणि वाचि क इत्ययं त्यो भवति । गोदः । अर्थंजः । पार्ष्णित्रम् । अङ्गुलित्रम् । ज्या वयोहानावित्यस्य ब्रह्म जिनातीति ब्रह्मज्यः ।[1] के कृते परत्वादातः खं पश्चाज्जिः । "असिद्धवदत्राभात्" [४।४।२१] इत्यात्खस्यासिद्धत्वादियादेशो न भवति । यणादेशः सिद्धः । जुहुवतुः जुहुवुरित्यत्र ह्वेञ आत्वमकृत्वा जिः क्रियते इत्यात्वं नास्तीत्युवादेशः सिद्धः । आह्वः । प्रह्वः । इत्याकारान्तात् "आतो गौ" [२।३।८८] इति कः । प्रागात्वं पश्चाज्जिः ।

प्रे ॥२।२।४॥ प्रपूर्वादातः को भवति कर्मणि वाचि । तत्त्वप्रज्ञः । मोक्षप्रज्ञः । नियमार्थोऽयमारम्भः । प्र एव गौ नान्यस्मिन्नातः को भवति । गोसंदायः । वडवासंदायः ।

दाज्ञः ॥२।२।५॥ अयमपि नियमः । दा ज्ञा इत्येताभ्यामेव प्रपूर्वाभ्यां कर्मणि को भवति । धनप्रदः । धर्मप्रज्ञः । नियमादिह न भवति । पार्ष्णिप्रत्रायः । अङ्गुलिप्रत्रायः । कथं भाष्ये प्रयोगः "अभिज्ञश्च पुनरैक्यत्वादीनामर्थानाम्" इति । अत्राभिधानवशात् "आतो गौ" [२।३।८८] इति को भविष्यति ।

सख्यः ॥२।२।६॥ प्र इति नियमेन निवर्तिते के पुनरारम्भः । सम्पूर्वात् ख्या इत्येतस्मात्कर्मणि वाचि को भवति । पशून् सञ्चष्टे पशुसंख्यः । अश्वसंख्यः ।

सुपि ॥२।२।७॥ सुबन्ते वाचि धोरातः को भवति । पादैः पिबति पादपः । कच्छेन पिबति कच्छपः । द्वाभ्यां पिबति द्वीपः । समस्थः । विषमस्थः । धर्माय प्रददाति धर्मप्रदः । शास्त्रेण प्रजानाति शास्त्रप्रज्ञः । अकर्मण्यपि वाचि यथा स्यादिति सुब्ग्रहणम् । इह केचिदात इति नानुवर्तयन्ति । तेन मूलविभुजादिष्वभिधानवशात् कः सिद्धः । मूलान् विभुजति मूलविभुजो रथः । जलरुहम् । नखमुचानि धनूंषि । काकगुहास्तिलाः ।

स्थः ॥२।२।८॥ सुपि वाचि तिष्ठतेः को भवति । कर्तरि पूर्वो योगः । अनिर्दिष्टार्थत्वात् भावेऽपि यथा स्यादित्यारम्भः । आखूनामुत्थानमाखूत्थः । शलभोत्थः । "स्थास्तम्भोः पूर्वस्योदः" [४।४।१३५] इति सकारस्य पूर्वसत्वम् ।

दुहो घश्च ॥२।२।९॥ इतः प्रभृति कर्मणीति सुपीति च द्वयमनुवर्तते । कर्मणि वाचि दुहः को भवति घकारश्चादेशः । कामान्दोग्धि कामदुघो धर्मः । कामदुघा धेनुः ।

तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः ॥२।२।१०॥ तुन्द शोक इत्येतयोः कर्मणोर्वाचोः परिमृज अपनुद इत्येताभ्यां को भवति । अविशेषेण "सुपि" [२।२।७] इत्येतेनैव के सिद्धे आलस्यसुखाहरणयोर्यथा स्यादित्यारम्भः । तुन्दपरिमृज आलसश्चेत् । शोकापनुदः पुत्रो जातः । पूर्वं "निकुप्रादयः" [१।३।८१] इति षसः पश्चाट्टाक्त्वम् । आलस्यसुखाहरणयोरिति किम् ? तुन्दपरिमार्जः आतुरः । शोकापनोदो धर्मः ।

---

1. के कृते परत्वादेशकारस्य आत्वं पश्चाज्जिः इत्यर्थः पठितव्यम् ।

गष्टक् ॥२।२।११॥ गा इत्येतस्माद्धोः कर्मणि वाचि टगित्ययं त्यो भवति। वक्त्रगः। वक्त्रगी। "म्ने" [२।२।४] "दाज्ञ." [२।२।५] इति निगमादगिपूर्वादातः कर्मणि को विहितस्तस्मिन्नेव विषये टक्। अन्यत्राणेव भवति। वक्त्रसंगायः।

सुराशीध्वोः पिबः ॥२।२।१२॥ सुरा शीधु इत्येतयोः कर्मणोः पिबतेः टग्भवति। सुरापः। सुरापी। शीधुपः। शीधुपी। अयमपि कापवादः। सुराशीध्वोरिति किम्? क्षीरं पिबतीति क्षीरपा कन्या। पिब इति विकृतनिर्देशः किम्? सुरा पातीति सुरापा।

अहेः ॥२।२।१३॥ ग्रहेर्धोः कर्मणि वाचि अ इत्यय त्यो भवति। शक्तिलाङ्गलाङ्कुशयष्टितोमरघटघटी धनुःषु वाक्षु प्रायेणाभिधानम्। शक्तिग्रहः। लाङ्गलग्रहः। अङ्कुशग्रहः। यष्टिग्रहः। तोमरग्रहः। घटग्रहः। घटीग्रहः। धनुर्ग्रहः। सूत्रग्रहो भवति धारयति चेत्। सूत्रग्राहोऽन्यः।

हृञोऽनुत्सेधे ॥२।२।१४॥ उत्सेध उत्क्षेपणम्। हृञोऽनुत्सेधे वर्तमानात् कर्मणि वाचि अत्यो भवति। अंश हरति अंशहरः। भागहरः। रिक्थहरः। अनुत्सेधे इति किम्? भारहारः। न केवलमुच्छ्राये उत्क्षेपणेऽप्युत्सेध इति शब्दो वर्तते तद्यथा नानाजातीया अनियता (तद्वृत्तयः) उत्सेधजीविन इति।

वयसि ॥२।२।१५॥ शरीरिणां कालकृतावस्था वयः, तत्र अत्यो भवति वयसि गम्ये। अयमुत्सेधार्थ आरम्भः। कवचहरः क्षत्रियकुमारः। अस्थिहरः श्वशिशुः। दृशोर (दृश्यमानेन) संभाव्यमानेन वा भारोत्क्षेपणेन वयो गम्यते।

आङि शीले ॥२।२।१६॥ शील स्वाभाविकी प्रवृत्तिः। आङि च वाचि हृञोऽत्यो भवति शीले गम्यमाने। पुष्पाहरः। फलाहरः। सुखाहरः। उत्सेधानुत्सेधयोरय विधिरिष्यते। अनुत्सेधे पूर्वेण कस्मान्न भवति? शीले परत्वात्तृन् स्यात्। शील इति किम्? भारमाहरति भाराहारः।

अर्हः ॥२।२।१७॥ अर्हतेः कर्मणि वाचि अत्यो भवति। पूजार्हा प्रतिमा।

स्तम्बेरमकर्णेजपौ ॥२।२।१८॥ स्तम्बेरम कर्णेजप इत्येतौ शब्दौ हस्तिसूचकयोरर्थयोर्निपात्येते। स्तम्बेरमो हस्ती। कर्णेजपः सूचकः। स्तम्बकर्णयो रमिजपोरिति सूत्र कर्तव्य सुपीति वर्तते। "पे कृति बहुलम्" [४।३।१३२] इत्यनुपा सिद्धम्। अर्थविशेषपरिग्रहार्थं निपातनम्। इह मा भूत्। स्तम्बे तृणस्तवके रन्ता गौः। कर्णे जपिता वैद्यः।

शमि धोः खौ ॥२।२।१९॥ शमि वाचि धोः खुविषये अत्यो भवति। शम्भवः। शंवदः। शङ्करः। धुग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनर्धुग्रहणं बाधकबाधनार्थम्। शङ्करा नाम परिव्राजिका। खुविषये कृञो हेत्वादिषु परत्वाट्टो मा भूत्। खाविति किम्? शङ्करी जिनविद्या।

शीङोऽधिकरणे ॥२।२।२०॥ शेतेरधिकरणे सुबन्ते वाचि अत्यो भवति। खे शेते खशयः। [illegible] गर्तशयः। गर्तेशयः। "पे कृति बहुलम्" [४।३।१३२] इति पदेऽनुप्। शीङ इति योगविभागात् पार्श्वादिषु सुबन्तेषु वाक्षु अत्यो भवति। पार्श्वाभ्यां शेते पार्श्वशयः। पृष्ठशयः। उदरशयः। "उत्तानादिषु च कर्तृषु" [वा०] उत्तानः शेते उत्तानशयः। अवमूर्द्धशयः। "दिग्धसहपूर्वाच्च अत्यो भवति" [वा०] दिग्धेन सह शेते दिग्धसहशयः। एष गिरिशः लोमादिपाठान्मत्वर्थीयः शः। यो हि गिरौ शेते गिरिस्तस्यास्ति।

चरेष्टः ॥२।२।२१॥ चरेर्धोरधिकरणे वाचि टो भवति। कुरुषु चरति कुरुचरः। मद्रचरः। मद्रचरी। अधिकरण इत्येव। कुरूंश्चरति कुरुचारः।

१ यज्ञे छन्दोविशेषः। २ दृश्यो सम्भा-अ०, स०। ३. प्रकृतिः च०, स०, मु०।

भिक्षासेनादाये ॥२।२।२२॥ अनधिकरणार्थमेतत् । भिक्षा सेना आदाय इत्येतेषु वाक्षु चरेष्टो भवति । भिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायशब्दः ल्यबन्तः । आदाय चरति आदायचरः ।

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सुः ॥२।२।२३॥ पुरस् अग्रतस् अग्रे इत्येतेषु सुबन्तेषु वाक्षु सरतेष्टो भवति । पुरःसरः । "अग्रतस् आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०] इत्येवन्तास्तसिः । अग्रतःसरः । अग्रेसरः । अग्रेसरी । अनीबन्तत्वेऽप्येकारो निपातनात् ।

पूर्वे कर्त्तरि ॥२।२।२४॥ कर्तृग्रहणं कर्मनिवृत्त्यर्थं पूर्वशब्दे कर्तृवाचिनि सुबन्ते वाचि सरतेष्टो भवति । पूर्वः सरति पूर्वसरः । क्रियाविशेषणेऽपीष्यते । पूर्वं प्रथमं सरति पूर्वसरः । कर्तरीति किम् ? पूर्वं देशं सरति पूर्वसारः ।

कृञो हेतुशीलानुलोम्येऽशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदे ॥२।२।२५॥ शब्दश्लोकादिवर्जिते कर्मणि वाचि कृञः ट इत्ययं त्यो भवति हेतौ शीले आनुलोम्ये च गम्यमाने । हेतुग्रहणात् इह हेतुः प्रकृष्टं कारणम् । विद्या यशस्करी । धनं कुलकरम् । शीलं स्वभावः । समासकरः । पर्वकरः । आनुलोम्यमनुकूलता । प्रेषकरः । वचनकरः । एतेष्विति किम् ? कुम्भकारः । अशब्दादिष्विति किम् ? शब्दकारः । श्लोककारः । कलहकारः । गाथाकारः । वैरकारः । चाटुकारः । सूत्रकारः । मन्त्रकारः । पदकारः ।

दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिनान्दीलिपिलिबिनलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसंख्याजङ्घाबाह्वहर्यत्तद्धनुररुःषु ॥२।२।२६॥ अहेत्वाद्यर्थ आरम्भः । दिवाशब्दे सुबन्ते वाचि विभादिषु कर्मसु वाक्षु करोतेष्ट इत्ययं त्यो भवति । दिवेति किमन्तं पदम् । दिवा करोतीति दिवाकरः । विभां करोतीति विभाकरः । निशाकरः । प्रभाकरः । भासनं भाः । भासं करोति भास्करः । सूत्रे भास्करान्तेति सकारस्य निपातनात् जिह्वामूलीयविसर्जनीयौ न भवतः । कारं करोतीति कारकरः । अन्तकरः । अनन्तकरः । अन्तकरस्य नञ्समासोऽनर्थकः प्रतीयते इत्यनन्तग्रहणम् । आदिकरः । नान्दीकरः । लिपिकरः । लिबिकरः । बलिकरः । भक्तिकरः । कर्तृकरः । चित्रकरः । क्षेत्रकरः । संख्या एकत्वद्वित्वादिका । एककरः । बहुशब्दोऽपि नानाधिकरणवाची संख्याशब्दः । बहुकरः । जङ्घाकरः । बाहुकरः । अहस्करः । "रोऽसुपि" [५।३।७८] इति रेफः । तस्य "कुकमि" [५।४।३४] आदि सूत्रेण सत्वम् । धनुष्करः । अरुष्करः । "समसेऽद्युस्थस्य" [५।४।३३] इति सत्वम् । "इणः षः" [५।४।२७] इति षत्वम् ।

कर्मणि भृतौ ॥२।२।२७॥ कर्मशब्दे वाचि कृञष्टो भवति भृतौ गम्यमानायाम् । भृतिर्वेतनं कर्ममूल्यम् । कर्म करोति कर्मकरः । भृताविति किम् ? कर्मकारः ।

कियत्तद्बहुष्वः ॥२।२।२८॥ किम् यद् तद् बहु इत्येतेषु वाक्षु कृञः अ इत्ययं त्यो भवति । किंकरः । किङ्करा । यत्करः । यत्करा । तत्करः । तत्करा । चौरः तस्करः । बहुकरा । इह बहुशब्दो वैपुल्यवाची । ... ट एव भवति । किङ्करणशीला किङ्करी ।

एजेः खश् ॥२।२।३२॥ एजतेर्ण्यन्तात्खशित्यय त्यो भवति कर्मणि वाचि। खकारः "खित्यनेः" [४।३।१७६] इति विशेषणार्थः। शकारो गमज्ञार्थः। अङ्गान्येजयति अङ्गमेजयः। जनमेजयः। "वाततिलसार्धेषु अजतुदजहातिभ्यः खश्वक्तव्यः" [वा०] वातमजाः मृगाः। तिलन्तुदः काकः। सार्धञ्जहा मृगाः।

नासिकादौ धेट्ध्मः ॥२।२।३३॥ नासिकादिषु कर्मसु धेट् ध्मा इत्येताभ्यां खश् भवति। नासिकान्धयति नासिकन्धयः। नासिकान्धमः। खरिन्धयः। खरिन्धमः। नाडिन्धयः। नाडिन्धमः। मुष्टिन्धयः। मुष्टिन्धमः। घटिन्धयः। घटिन्धमः। वातन्धयः। वातन्धमः। शुनीस्तनयोर्धेट एव। शुनिन्धयः। स्तनन्धयः। आदिशब्दः प्रकारवाची।

उदि कूले रुजिवहोः ॥२।२।३४॥ उदीति काख्याने ईप्। उत्पूर्वाभ्यां रुजि वहि इत्येताभ्यां कूले कर्मणि खश्। कूलमुद्रुजः। कूलमुद्वहः।

वहाभ्रे लिहः ॥२।२।३५॥ वह अभ्र इत्येतयोः कर्मणोः लिहेर्धोः खश् भवति। वहं लेढि वहंलिहो गौः। अभ्रंलिहः प्रासादः।

मितनखपरिमाणे पचः ॥२।२।३६॥ मितशब्दस्य पृथग्निर्देशात् परिमाणं प्रस्थादि गृह्यते। मित नख परिमाण इत्येतेषु कर्मसु पचेर्धोः खश् भवति। मितं पचते मितम्पचा कन्या। नखम्पचा यवागूः। प्रस्थम्पचा। आढकम्पचा। द्रोणम्पचा।

विध्वरुषोस्तुदः सखम् ॥२।२।३७॥ विधु अरुष् इत्येतयोः कर्मणोः तुदेर्धोः खश् भवति। सकारस्य च खम्। विधुन्तुदः। अरुन्तुदः।

वाचंयमासूर्यंपश्योग्रम्पश्यललाटन्तपपरन्तपद्विषन्तपेरम्मदपुरन्दरसर्वंसहाः ॥२।२।३८॥ एते शब्दा निपात्यन्ते। वाक्छब्दे कर्मणि यमेर्धोः खो निपात्यते व्रते। वाचं यच्छति वाचंयमस्तपस्वी। वाग्यामोऽन्यः। सूर्यं न पश्यति असूर्यंपश्यं मुखम्। असूर्यंपश्या राजदाराः। निपातनादसामर्थ्येऽपि नञ्सः दृशेः खश्। उग्रं पश्यति उग्रम्पश्यः। उग्रे कर्मणि दृशे खश् निपात्यते। ललाटन्तपति ललाटन्तपो भास्वान्। खश् निपात्यः। परांस्तापयति परन्तपः। द्विषतस्तापयति द्विषंतपः। परद्विषतोः कर्मणोस्तापेः खश्निपात्यते। तकारस्य च खम्। "खचि" [४।४।८८] इति प्रादेशः। स्त्रियामनभिधानम्। द्विषतीतापः। इरया माद्यति इरम्मदम्। खश्निपात्यः। पुरो दारयति पुरन्दरः। खच् वाचो मन्तता च निपात्यते। सर्वं सहते इति सर्वंसहः। खश् निपात्यः। कथं पाणयो ध्मायन्ते एषु पाणिन्धमा पन्थान इति? नासिकादौ पाणिशब्दः; तत्र पाणिन्धमाः पथिकाः तात्स्थ्यात्पन्थानोऽपीत्यधिकरणे खश् न वक्तव्यः।

प्रियवशे वदः खच् ॥२।२।३९॥ प्रिय वश् इत्येतयोः कर्मणोः वदतेः खजित्यय त्यो भवति। प्रियंवदः। वशंवदः। खकारो वागर्थः (मुमर्थः)। चकारः "खचि" [४।४।८८] इति विशेषणार्थः। त्यान्तरकरणं किमर्थम्? खशि सति उत्तरत्र करोतेर्बिभर्तेश्च विकरणः स्यात्। धोरिहोडः प्रादेशश्च न स्यात्।

सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः ॥२।२।४०॥ सर्व कूल अभ्र करीष इत्येतेषु वाक्षु कषतेः खज् भवति। सर्वंकषो विप्रः। कूलंकषा नदी। अभ्रंकषो वायुः। करीषंकषा वात्या। "भगे दारेः खज् वक्तव्यः" [वा०] भगन्दरः।

मेघर्तिभयेषु कृञः ॥२।२।४१॥ मेघ ऋति भय इत्येतेषु कर्मसु करोतेः खज् भवति। मेघङ्करः। ऋतिङ्करः। भयङ्करः। "अभयाच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] अभयङ्करो जिनः। नञ्से अन्योऽर्थः प्रतीयते। क्षेमोऽभयोऽन्यः। परत्वेन टेक्वादिटस्य च बाधकः।

क्षेमप्रियमद्रेऽण् च ॥२।२।४२॥ क्षेम प्रिय मद्र इत्येतेषु कर्मसु करोतेरणित्ययं लो भवति खच्। वेति सिद्धे कृञो हेत्वादिष्वपि टप्रतिषेधार्थमणग्रहणम्। क्षेमकारः। क्षेमङ्करः। प्रियकारः। प्रियङ्करः। मद्रकारः। मद्रङ्करः।

आशितम्भवः ॥२।२।४३॥ आशितम्भव इति निपात्यते। आशितशब्दे सुबन्ते वाचि भवतेर्भावकरणयोः खच् निपात्यते। आसित इति कर्त्तरि क्तो दीर्घत्वं चात एव निपातनात्। आशितस्य भवनमाशितम्भवो वर्त्तते। आशितो भवत्यनेनालमयमाशितम्भव ओदनः। प्रकरणान्तरविहितो युडपि भवति। भावे घञ, समादयं बाधकः।

भृतवृजिधारिसहितपिदमः खौ ॥२।२।४४॥ भृ तृ वृ जि धारि सहि तपि दमि इत्येतेभ्य सुपि खौ खच् भवति। कर्मणि सुपि वाचि यथासम्भवमयं विधिः। विश्वम्भरा। वसुन्धरा। रथन्तरो नाम राजा। वृङ्वृञोः—पतिंवरा कन्या। अरिञ्जयः। युग धारयति इति युगन्धरः। "खचि"[४।४।८८] इत्युक्तः प्रादेशः। शत्रुंसहः। शत्रुन्तपः। दमिरन्तर्गतण्यर्थः। अरिन्दमः। खाविति किम्? कुटुम्बभारः।

गमः ॥२।२।४५॥ खाविति वर्त्तते। सुबन्तवाचि गमेर्धोः खच् भवति। सुतङ्गमो नाम कश्चित्। कचिदखावपीष्यते। मितंगमोऽश्वः। अमितङ्गमा हस्तिनी। "विहायसो विहादेश खच्च वा डिद्वक्तव्यः" [वा०] विहायसा गच्छति विहङ्गः। विहङ्गमः। "तुरभुजयोश्च" [वा०] तुरङ्गः। तुरङ्गमः। भुजङ्गः। भुजङ्गमः।

डः ॥२।२।४६॥ खाविति निवृत्तं गम इति वर्तते। गमेर्डो भवति सुबन्ते वाचि। अन्तादिषु नातु प्रायेणाभिधानम्। अन्तगः। अत्यन्तगः। अध्वगः। दूरगः। पारगः। अनन्तगः। गुरुतल्पगः। स्त्र्यागारगः। ग्रामगः। सर्वत्र गच्छति सर्वत्रगः। पन्न गच्छति पन्नगः। "उरसः सलोपश्चेति वक्तव्यम्" [वा०] "विहायसो विहं च" [वा०] उरसा गच्छति उरगः। विहायसा गच्छति विहगः। "सुदुरोरधिकरणे डो वक्तव्यः" [वा०] सुखेन गच्छति अस्मिन् सुगः। दुर्गः। "निसो देशे" [वा०] निर्गो देशः। डित्वभस्यापि डित्करणसामर्थ्यात् खम्।

आशिषि हनः ॥२।२।४७॥ आशिष्यर्थे हन्तेर्डो भवति कर्मणि वाचि। तिमिं हन्ति तिमिहः। शापहः।

अपे क्लेशतमसोः ॥२।२।४८॥ अप इति कास्थाने टप्। अपपूर्वात् हनोः क्लेशतमसोः कर्मणोर्वाचोर्डो भवति। अनाशीरर्थोऽयमारम्भः। क्लेशापहः। तमोऽपहः।

कुमारशीर्षयोर्णिन् ॥२।२।४९॥ कुमार शीर्ष इत्येतयोः कर्मणोर्हन्तेर्णिन् भवति। अनाशीरर्थोऽयमारम्भः। कुमारघाती। शीर्षघाती। शीर्षशब्दोऽकारान्तः शिरःपर्यायोऽस्ति।

पाणिघताडघराजघाः ॥२।२।५३॥ एते शब्दा निपात्यन्ते । पाणिघताडघौ शिल्पिनि निपात्येते । अन्यत्र पाणिघातः । ताडघातः । राजघ इत्यविशेषेण । टग्घत्व टिल च निपात्यम् ।

सुभगाढ्यस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेऽच्वौ स्नुखुकञौ भुवः ॥२।२।५४॥ अच्वाविति च्व्यन्त-प्रतिषेधात् नञिवयुक्तन्यायेन च्व्यर्थविज्ञानम् । अच्व्यन्तेषु च्व्यर्थे वर्तमानेषु सुभगादिषु वाक्षु भवतेः स्नुखुकञ् इत्येतौ त्यौ भवत. । असुभगः सुभगो भवति सुभगम्भविष्णुः । सुभगम्भावुकः । आढ्यम्भविष्णुः । आढ्यम्भावुकः । स्थूलम्भविष्णु. । स्थूलम्भावुकः । पलितम्भविष्णुः । पलितम्भावुकः । नग्नम्भविष्णुः । नग्नम्भावुकः । अन्धम्भविष्णुः । अन्धम्भावुकः । प्रियम्भविष्णुः । प्रियम्भावुकः । अत्र तदन्तविधिरिष्टः । श्रीसुभगम्भविष्णुः । श्रीसुभगम्भावुकः । अच्वाविति किम् ? सुभगीभविता । आढ्यीभविता । नञ्निर्दिष्टे सदृशसप्रत्ययादिह न भवति-सुभगो भविता ।

कृञः करणे ख्युट् ॥२।२।५५॥ कृञः करणे कारके ख्युट् भवति अच्व्यन्तेषु च्व्यर्थे वर्तमानेषु सुभगादिषु वाक्षु । असुभग सुभगं कुर्वन्त्यनेन सुभगङ्करणम् । आढ्यङ्करणम् । स्थूलङ्करणम् । पलितङ्करणम् । नग्नङ्करणम् । अन्धङ्करणम् । प्रियङ्करणम् । सुभगङ्करणी विद्या । अच्व्यन्तेषु इत्येव । सुभगीकुर्वन्त्यनेन । नन्वत्र ख्युटि युटि वा नास्ति विशेषः । सत्यम् । अच्व्यन्तानुवृत्तेस्तु युटोऽप्यर्थनार्थः[1] प्रतिषेधः । च्व्यर्थे वर्तमाने-ष्वित्येव । आढ्य कुर्वन्ति तैलेन । अभ्यञ्जयन्तीत्यर्थः ।

स्पृशोऽनुदके क्विः ॥२।२।५६॥ उदकवर्जिते सुपि वाचि स्पृशेर्धोः क्विर्भवति । ककारः कित्कार्यार्थः । वकार. सति साम्ये क्विपो बाधनार्थ. । मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृक् । दल स्पृशति दलस्पृक् । "व्रश्च" [५।३।५३] आदि सूत्रेण षत्व जश्त्व "क्वित्यस्य कुः" [५।३।७५] इति कुत्वम् । अनुदक इति किम् ? उदक स्पृशति उदकस्पर्शः ।

ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चः ॥२।२।५७॥ ऋत्विक् दधृक् स्रक् दिक् उष्णिक् इत्येते क्व्यन्ता निपात्यन्ते । अञ्चु युजि कुञ्चि इत्येतेभ्यस्तु क्विर्भवति । ऋतौ यजते ऋतुप्रयोजनो वा यजते ऋत्विक् । ऋतुशब्दे वाचि यजेः क्विर्निपात्यते । धृष्णोतीति दधृक् । धृषेः क्विर्द्वित्व च निपात्यते । सृजन्ति तामिति स्रक् । सृजे' कर्मणि क्विरमागमश्च निपात्यः । दिशन्ति तामिति दिक् । दिशेः कर्मणि क्विः । उत्स्निह्यतीति उष्णिक् । उत्पूर्वा स्निहः ग्यन्तख षत्व च । उष्णीषेण नह्यतीति वा उष्णिक् । षनख प्रश्च । अञ्चु । प्राङ् । दध्यङ् । सुबन्तमाने क्विर्भवति । युजेः केवलादेव क्विः । युङ् । युञ्जौ । युञ्जः । क्रुङ् । क्रुञ्चौ । क्रुञ्च' । क्रुञ्चेरपि केवलात् क्विः । नख न भवति । स एष विशेषो निपातनैः सह निर्देशाल्लभ्यते ।

त्यदादौ दृशोऽनालोके टक् च ॥२।२।५८॥ त्यदादिषु वाक्षु दृशेर्धोरनालोकेऽर्थे टग् भवति क्विश्च । आलोकश्चक्षुर्विषयः पर्युदस्यते । त्यादृक् । त्यादृश. । "दृशदृक्षवतौ" [४।३।११५] इति निर्देशात्सोऽपि भवति । त्यादृक्षः । "घासर्वनाम्नः" [४।३।११७] इत्यात्वम् । एव तादृक् । तादृशः । तादृक्ष' । यादृक् । यादृश' । यादृक्ष. । रूढिशब्दा एते तेन नैतेष्ववयवार्थोऽस्ति । तमिव पश्यति अथवा स इव दृश्यते इति यथा कथञ्चिद्व्युत्पत्तिः । 'समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्'' [वा०] सदृशः । सदृक् । सदृक्षः । अन्यादृक् । अन्यादृशः । अन्यादृक्ष' । "दृशदृक्षवतौ" [४।३।११५] इति समानस्य सभावः । अनालोक इति किम् ? स पश्यति सदृशः । तद्दर्शः ।

सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविद्भिदच्छिदजिनीराजो गाववि क्विप् ॥२।२।५९॥ सदादिभ्यो धुभ्य क्विप् भवति गौ वाचि असत्यामपि सुबन्तेऽपि । प्रसत् । दिवि सीदतीति द्युसत् । अन्तरिक्षसत् । सू इति

---

1. युटोऽप्यर्थनार्थतः प्रति-अ०

द्विषा सहचरितः आदादिकः । प्रसूते प्रसूः । 'अण्डं सूते अण्डसूः' । शतसूः । गर्भसूः । विद्वेष्टीति विद्विट् । मित्रद्विट् । प्रद्रुह्यतीति प्रध्रुक् । मित्राय द्रुह्यति मित्रध्रुक् । प्रदोग्धि प्रधुक् । युजिर् योगे युज समाधाविति चाविशेषेण ग्रहणम् । प्रयुनक्ति प्रयुक् । अश्वयुक् । युजेर्ण्यन्तस्याऽपि युज इति निपातनात् णेरुप् । प्रयोजयतीति प्रयुक् । अश्वान् योजयति–अश्वयुक् । विदेरविशेषेण ग्रहणम् । प्रवित् । धर्मवित् । प्रभित् । बलभित् । प्रच्छित् । रज्जुच्छित् । प्रजित् । कर्मजित् । प्रणीः । ग्रामणीः । विराजते विराट् । सम्राट् । "मन्वन्क्वनिब्विचः क्वचित्" [२।२।६२] "क्विप्" [२।२।६३] इति क्विपि सिद्धे नियोगार्थमिदम् । सुपीति वर्तमाने गिग्रहणं किमर्थम् ? अन्यत्र सुब्ग्रहणे गिग्रहणं नास्तीति ज्ञापनार्थम् । तेन "वदः सुपि क्यप् च" [२।१।८६] इति गे क्यप्न भवति । प्रवाद्यमनुवाद्यम् ।

अदोऽनन्ने ॥२।२।६०॥ अदेर्धोः क्विब्भवति अनन्ने सुबन्ते वाचि । आममत्ति आमात् । तृणात् । अनन्न इति किम् ? अन्नाद ।

क्रव्ये ॥२।२।६१॥ क्रव्यमाममांसम् । क्रव्यशब्दे वाचि अदेः क्विब्भवति । क्रव्यमत्ति क्रव्यात् । पूर्वेणैव सिद्धे पुनरारम्भः असरूपस्याणो बाधकः । कथ तर्हि क्रव्यादः ? पृषोदरादिषु कृत्तविकृत्तादः क्रव्याद इति द्रष्टव्यम् ।

मन्वन्क्वनिब्विचः क्वचित् ॥२।२।६२॥ मन् वन् क्वनिप् विच् इत्येते त्याः क्वचिद् दृश्यन्ते । गावपीत्यनुवर्तते । सुशर्मा । सुवर्मा । क्वचिदिति वचनात् केवलादपि । दामा । पामा । वामा । हेमा । वन् । विजावा । अग्रेगावा । "वन्याः" [४।४।४२] इत्यात्वम् । क्वनिप् । प्रातरित्वा । प्रातरित्वानौ । केवलादपि । कृत्वा । कृत्वानौ । धीवा । पीवा । विच् । विशतीति वेट् । रेट् । वकारः कृत्कार्यार्थः । इकार उच्चारणार्थः । चकारः एवर्थः । जागर्ति जागः । विरित्युच्यमाने "जागुरविचिण्णल्ङिति" [५।२।८२] इति एप्प्रतिषेधः शङ्क्येत ।

क्विप् ॥२।२।६३॥ क्विप् धोः क्वचिद् दृश्यते गावपि । उखेन (उखाया.) स्रंसते उखास्रत् । वाहात् भ्रश्यति वाहाभ्रट् । "अन्यस्यापि" [४।३।२२२] इति दीत्वम् । क्वचिदधिकारात्केवलादपि । याति याः । वाति वाः ।

स्थः कः ॥२।२।६४॥ गावपीति वर्तते । तिष्ठतेः को भवति । शन्तिष्ठति शंस्थः । सुस्थः । ननु "सुपि" [२।२।७] "स्थः" [२।२।८] इत्यनेनैव कः सिद्धः । न सिध्यति । "शमि धोः खो" [२।२।११] इत्यत्र धुग्रहणस्य प्रयोजनमुक्तं समत्वेन पूर्वस्य कस्य बाधनमिति । यथा शङ्करा परिव्राजिकेत्यत्र हेत्वादिलक्षणस्य टस्य बाधात्कस्याकारस्य बाधनार्थं पुनः कविधानं क्विपोऽसमत्वादस्यो न बाधक इति पूर्वेण क्विप्सिद्धः । शंस्थाः ।

इत्येवशीलः उष्णभोजी । उदासारिण्यः । प्रत्यासारिण्यः । अजाताविति किम् ? शालीन् भुङ्क्ते इत्येव शीलः शालिभोजः । साधूनामन्त्रयिता । शीन इति किम् ? उष्णभोजः आतुरः । क्वचिदित्यनुवृत्तेः साधुकारिण्य-प्यर्थे णिन् । साधुकारी । साधुदायी । "ब्रह्मणि वदेर्णिन् वक्तव्यः" [वा०] असमस्याणो बाधकः । ब्रह्म-वादिनो वदन्ति ।

कर्त्तरीवे ॥२।२।६७॥ कर्तरि वाचि इवार्थे धोर्णिन् भवति । उपमानभूते कर्तरीत्यर्थः । जात्यर्थम-शीलार्थं चेदम् । उष्ट्र इव क्रोशते उष्ट्रक्रोशी । ध्वाङ्क्षरावी । खरनादी । सिंहनर्दी । वृत्त्यैवार्थस्योक्तत्वादिवशब्द-स्याप्रयोगः । कर्त्तरीति किम् ? तिलानिव भुङ्क्ते कोद्रवान् । इव इति किम् ? उष्ट्रः क्रोशति ।

व्रते ॥२।२।६८॥ सुबन्ते वाचि धोर्णिन् भवति समुदायेन चेद् व्रत गम्यते । शास्त्रपूर्वको नियमो व्रतम् । पार्श्वशायी । स्थण्डिलशायी । वृक्षमूलवासी । श्राद्धं न भुङ्क्ते व्रतमस्य अश्राद्धभोजी । अलवण-भोजी । सापेक्षस्यास्यापि नञो वृत्तिर्व्याख्याता । व्रत इति किम् ? स्थण्डिले शेते कामचारेण ।

प्रायो (य आ) ऽभीक्ष्ण्ये ॥२।२।६९॥ सुबन्ते वाचि धोराभीक्ष्ण्ये गम्ये प्रायो णिन् भवति । शील गुणान्तरे द्वेषः । ततोऽन्यन्मुहुर्मुहुः सेवनमाभीक्ष्ण्यम् । कषायपायिणो गान्धारयः । सौवीरपायिणो इभिल्लाः[1] । तक्रपायिणो अन्ध्राः । क्षीरपायिण उशीनराः । "भृदन्तनुम्विभक्त्याम्" [४।४।६५] इति णत्वम् । प्रायो-ग्रहणादिह न भवति । कुल्माषखादाश्चोलाः ।

मनः ॥२।२।७०॥ मन्यतेः सुपि वाचि णिन् भवति । अशीलाद्यर्थमेतत् । शोभन मन्यते पर शोभ-नमानी । दर्शनीयमानी । मन इति श्यविकरणस्य ग्रहणं व्याख्यानात् । उत्तरत्र खशि विशेषो भविष्यति ।

खश्चात्मनः ॥२।२।७१॥ आत्मनो यत्सुबन्त तस्मिन् वाचि मन्यतेः खश् भवति णिश्च । शोभ-नमात्मानं मन्यते शोभनम्मन्यः । शोभनमानी । पण्डितम्मन्यः । पण्डितमानी ।

भूते ॥२।२।७२॥ भूत इत्यधिकारो वेदितव्यः । धोरिति वर्तते । अर्थवशाद् भूते ध्वर्थे वक्ष्यमाणा विषयो भवन्तीत्यर्थः । वक्ष्यति दृशेः क्वनिप् । मेरु दृष्टवान् मेरुदृश्वा । भूत इति किम् ? मेरु द्रक्ष्यति । न च भूतशब्दस्येतरेतराश्रयत्वेनासिद्धिः, अनादित्वाच्छब्दव्यवहारस्य । भूत इति निसञ्ज्ञको वा शब्दः । "इयन्त इति संख्यानं निसंज्ञानां न विद्यते । प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे ॥"

करणे यजः ॥२।२।७३॥ णिन्निति वर्त्तते । करणे सुबन्ते वाचि यजेर्धोर्भूते णिन् भवति । अग्नि-ष्टोमेनेष्टवान् अग्निष्टोमयाजी । वाजपेययाजी । विशेषस्य करणत्वम् । यजनसामान्यं यजेरर्थः ।

कर्मणि हनः ॥२।२।७४॥ कर्मणि वाचि हन्तेर्णिन् भवति भूते । पितृव्य हतवान् पितृव्यघाती । मातुलघाती । कुत्साविशेष इति वक्तव्यमिह मा भूत् । देवदत्तं हतवान् देवदत्तघातः ।

ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् ॥२।२।७५॥ ब्रह्म भ्रूण वृत्र इत्येतेषु कर्मसु हन्तेः क्विब्भवति । ब्रह्माणं हतवान् । ब्रह्महा । भ्रूणहा । वृत्रहा । सामान्येन क्विपि सिद्धे नियमार्थमिदम् । ब्रह्मादिष्वेव कर्मसु हन्तेः क्विम्नान्यस्मिन् । मित्र हतवान् मित्रघातः । उभयथा नियमश्चायम् । ब्रह्मादिषु कर्मसु भूते क्विवेव नान्यस्त्यः । उभयथा शिष्य प्रतिपन्नत्वात् उभयथा नियमो लभ्यते । कथ मधुहा ? चिन्त्यमेतत् । हन इत्येव । ब्रह्माणं कृतवान् । भूत इत्येव । ब्रह्माणं हन्ति हनिष्यति वा ।

सुकर्मपापमन्त्रपुण्ये कृञः ॥२।२।७६॥ क्विमिति वर्तते । सुशब्दे वाचि कर्मादिषु च करोतेः क्विब्भवति भूते । सुष्टु कृतवान् सुकृत् । कर्मकृत् । पापकृत् । मन्त्रकृत् । पुण्यकृत् । एषोऽप्युभयथा नियमः ।

---

[1] इमिला: पा० ।

स्वादिष्वेव वाचु कृञः क्विब्भवति नान्यस्मिन्। सूत्रं कृतवान् सूत्रकारः। स्वादिषु च भूते क्विबेव नान्यस्त्। कृञ इति किम्? पाप चितवान्। भूत इत्येव। कर्म करोतीति कर्मकारः। स्वादिष्वेव भूते क्विब्भवतीति नायमिह नियम इत्येके। तेन भाष्यकृत् शास्त्रकृत् तीर्थकृदित्येवमादि सिद्धम्। वर्तमानकालविवक्षा वा तेनानियमः।

सोमे सुञः ॥२।२।७७॥ सोमे कर्मणि सुनोतेः क्विब्भवति भूते। सोम सुतवान् सोमसुत्। सोमसुतौ। सोमसुतः। एषोऽप्युभयथा नियमः। सोम एव वाचि सुनोतेः क्विम्नान्यस्मिन्। सुरा सुतवान् सुरासावः। सोमे वाचि भूते क्विबेव नान्यस्त्यः। सुञ इति किम्? सोमं कृतवान्। भूत इत्येव। सोम सुनोति सोमसाव।

अग्नौ चेः ॥२।२।७८॥ अग्नौ कर्मणि चिनोतेः क्विब्भवति भूते। अग्नि चितवान् अग्निचित्। अग्निचितौ। अग्निचितः। अयमप्युभयथा नियमः। अग्नावेव वाचि नान्यस्मिन्। कुड्य चितवान् कुड्यचाय। अग्नौ वाचि भूते क्विबेव नान्यस्त्यः। चेरिति किम्? अग्नि कृतवान्। भूत इत्येव। अग्नि चिनोति अग्निचायः।

कर्मण्यग्न्याख्यायाम् ॥२।२।७९॥ कर्मणीति प्रकृतं वर्त्तते। कर्मणि वाचि चिनोतेः कर्मणि कारके क्विब्भवति समुदायेन चेदग्न्याख्या गम्यते। श्येन इव चितः श्येनचित्। काक इव चितः काकचित्। रथचक्रचित्। आख्याग्रहणं किमर्थम्? रूढेः परिग्रहार्थम्। अग्न्यर्थं इष्टकाचयः श्येनचिदुच्यते।

कर्मणीन्विक्रियः ॥२।२।८०॥ कर्मणि वाचि इन्नित्यय स्यो भवति। विपूर्वात् क्रीणाते.। कर्मणीति वर्तमाने पुनः कर्मग्रहणमभिधेयनिवृत्त्यर्थम्। कर्मणि वाचि कर्त्तरि कारके यथा स्यात्। तेल विक्रीतवान तैलविक्रयी। घृतविक्रयी। "कुत्सायामिति वक्तव्यम्" [वा०] इह न भवति। धान्यविक्रायः।

दृशेः क्वनिप् ॥२।२।८१॥ भूते कर्मणीति च वर्त्तते। कर्मणि वाचि दृशेर्धा. क्वनिब्भवति। मेरु दृष्टवान् मेरुदृश्वा। विश्वदृश्वा। पित्करणमुत्तरार्थम्। सामान्येन क्वनिपि सिद्धे पुनर्वचनं भूते नान्यविधानिवर्तकम्।

राज्ञि युधिकृञः ॥२।२।८२॥ राजशब्दे कर्मणि युधि कृञ् इत्येताभ्या क्वनिब्भवति। युधिरन्त र्भावितण्यर्थः सकर्मकः। राजयुध्वा। राजकृत्वा। अयमपि योग. मन्वन्विचा निवृत्त्यर्थः। कर्मणीत्येव। राजा युद्धवान्।

सहे ॥२।२।८३॥ सहशब्दे वाचि युधिकृञित्येताभ्या क्वनिब्भवति भूते। सह युद्धवान् सहयुध्वा। सहकृत्वा। "वा नोच." [४।३।११०] इत्यत्र व्यग्रवयवस्य वसस्य ग्रहणात् सहशब्दस्य सभावो न भवति। योगविभागो यथासख्यनिवृत्त्यर्थः।

जनेर्डः ॥२।२।८४॥ सुपि शील इत्यतः सुपीति सम्बध्यते। जनर्धोः सुपि वाचि ड इत्यय त्यो भवति। उपसरे जातः उपसरज.। मन्दुराया जातः मन्दुरज.। "त्वे टयापो क्वचित् गौ च" [४।३।१७३] इ।

तः ॥२।२।८५॥ तत्सञ्ज्ञस्त्यो भवति धोर्भूते। इह वाग्विशेषपरिग्रहो नास्ति। कृतः। कृतवान्। भुक्तः। भुक्तवान्। क्तक्तवत्वोर्भाविनोः तसञ्ज्ञाश्रिता तेन सञ्ज्ञया त्यविधाने इतरेतराश्रय नास्ति। आदिकर्मण्यपि कथञ्चित् भूतत्वमस्ति। प्रकृतः कटं देवदत्तः। प्रकृतवान् कटं देवदत्तः।

सुयजोर्वनिप् ॥२।२।८६॥ सुपीति निवृत्तम्। सु यजि इत्येताभ्यां वनिप् भवति भूते। सुतवान्। सुत्वा। इष्टवानिति यज्वा।

जृषोऽतृ ॥२।२।८७॥ जीर्यतेरतृ इत्ययं त्यो भवति भूते। जरन्। जरन्तौ। जरन्तः। क्तक्तवत्वोरसमत्वादबाधकोऽयम्।

वस्सदिणो वसुर्लिण्मसम् ॥२।२।८८॥ वस् सद् इण् इत्येतेभ्यः भूते वसुर्भवति लिड्वन्मसञ्ज्ञश्च। अनूषिवान् श्रीदत्त धान्यसिंहः। उपसेदिवान् उपाध्याय शिष्यः। ईयिवान् उपेयिवान् उपाध्याय शिष्यः। इणः क्रादिनियमादिटि द्वित्वम्। धुरूपस्य "यणेत्योः" [४।४।७७] इति यणादेशः। चस्य "कितीणो दीः" [४।२।१६६] इति दीत्वम्। अथ क्रादिनियमलक्षणस्येटः "वशि" [५।१।११४] इति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति? उत्तरत्र "श्रुवोऽनिट्" [२।२।८९] इत्यनिड्वचनं ज्ञापकं "वशि" [५।१।११४] इति प्रतिषेधो न भवति। उदात्तस्य वा स प्रतिषेधः। लिड्वदतिदेशाद्द्वित्वम्। "न क्तिक्लोक" [१।४।७२] इत्यादिना कर्मणि ताप्रतिषेधश्च भवति। मसंज्ञायाः किं प्रयोजनं कर्मव्यतिहारे मा भूत्। व्यत्यूषे जनपद इति। "प्राक्केर्वाऽसम" [२।१।८१] इति लुङादयोऽपि भवन्ति। अन्ववात्सीत्। अन्ववसत्। अनूवास। उपासदत्। उपासीदत्। उपससाद। उपागात्। उपैत्। उपेयाय। क्वसुकानौ लिडादेशौ सर्वधुभ्य इत्येके। "क्वसुर्लो मम्" इति मसञ्ज्ञकः। कानस्य "इडानं दः" [१।२।१५१] इति दसञ्ज्ञा। भावकर्मकर्तृषु च सम्भवः। लिडादेशत्वादेव कित्त्वे सिद्धे स्फान्तार्थं कित्करणमनयोः। अञ्जेः आजिवान्। स्वञ्जेः सस्वज्वान् इति कित्वान्नलं सिद्धम्। ऋकारान्तस्यैऽप्रतिषेधार्थं च कित्करणं तितीर्वानः। "ऋच्छत्यृताम्" [५।२।१२३] इत्येप्न भवति। कर्मणि ततिराणः। "अत इश्लो." [५।१।७४] इति इत्वस्य "द्विस्वेऽचि" [१।१।५९] इति स्थानिवद्भावे तृ इति द्वित्वम्। "उर" [५।२।१६६] इति अत्वम्। तैरेवाचार्यैः "वस्वेकाजाद्घसामिड्" इति वसौ परतः एकाचामाकारान्तानां घसेश्चेड्विहितः। पेचिवान्। पपिवान्। जक्षिवान्। इह कस्मान्न भवति? बिभिद्वान्, चिच्छिद्वान्। "हल्मध्ये लिट्यतः" इत्यनेन एत्वखयोः कृतयोर्वसौ य एकाच तत्रैवेट् भवति। यद्येवं ययिवानित्यत्रापि "इटि चात् खम्" [४।४।६३] इति खे कृते एकाच्त्वमस्तीति आद्ग्रहणमनर्थकम्। नियमार्थमेतत्। यथा इण्निमित्तमेकाच्त्व तेषामाकारान्तानामेव [इड्भवति] नान्येषा चखन्वानिति। अत्रापीटि कृते उत्वे क्रियमाणे एकाच्त्वसम्भवोऽस्ति। अत एव नियमात् घसेरिट्यप्राप्ते ग्रहणम्। तथा वा दृशिगमहनपिदविशाम्। ददृशिवान्। ददृश्वान्। जग्मिवान्। जगन्वान्। जघ्निवान्। जघन्वान्। "मो नः" [५।३।८३] "म्वो." [५।३।८४] इति मकारस्य नत्वम्। दृशेरनेकाच्त्वात् गमहनोरात इति नियमात् इट्यप्राप्ते विभाषा। वसौ परतो विदेः शविकरणस्य ग्रहणम्। विविदिवान्। विविद्वान्। ज्ञानार्थस्य ग्रहणे ते "यस्य वा" [५।१।१२१] इति प्रतिषेधः स्यात्। विविशिवान्। विविश्वान्।

श्रुवोऽनिट् ॥२।२।८९॥ श्रु इत्येतस्माद्वसुर्भवत्यनिट्। उपशुश्रुवान् श्रीदत्त धान्यसिंहः। असमत्वा-लुङादयोऽपि। उपाश्रौषीत्। उपशुश्राव।

अनाश्वाननूचानौ ॥२।२।९०॥ अनाश्वान अनूचान इत्येतौ शब्दौ निपात्येते। नञ्पूर्वादश्नातेः वसुलिड्वदिड्भावश्च निपात्यते। अनाश्वान्स्तपश्चकार। असमत्वात् नाश्नात् नाश इत्यपि भवति। वचेरनुपूर्वात् कर्तरि कानो निपात्यते। अनूचानो मतोपपन्न। असमत्वात् अनूक्तवान् अन्ववोचत् अनूवाच इति च भवति।

लुङ् ॥२।२।९१॥ लुङ् इत्ययं त्यो भवति भूते धोः। अकार्षीत्। अहार्षीत्। क भवानुषित.। अमुत्रावात्सीत्। भूतमात्रस्य विवक्षा, अतएव लङ् न भवति।

अनद्यतने लङ् ॥२।२।९२॥ भूत इति वर्तते। अविद्यमानाद्यतने भूते धोर्लङ् भवति। अतीताया रात्रेः आ पश्चिमयामात् आगामिन्याश्च रात्रेराप्रथमयामात् अद्यतनकालः। तत्प्रतिषेधादनद्यतनः। [illegible]। अहरत्। अनद्यतनभूतविवक्षायाः समत्वाल्लुङो बाधको लङ्। अनद्यतन इति बसनिर्देशाद्यत्राद्यतनगन्धोऽप्यस्ति तत्र लङ् न भवति। अद्य ह्यश्चाभुञ्ज्महि। यदि बसः अद्यतनेऽप्यनद्यतनो नास्तीति लङ् प्राप्नोति। नाय दोषः। विशेषाद्यतने सामान्याद्यतनस्य विद्यमानत्वात्। इह भूतमात्रं विवक्षितम्। आगच्छाम घोषात् अपिबाम पयः इति। '**परोक्षे लोकविज्ञाते प्रयोक्तुः शक्यदर्शनत्वेन दर्शनविषये लङ् वक्तव्य**'[वा०] अरुणद्यवनः मथुराम्। अरुणद्यवनः साकेतम्। परोक्ष इति किम्? उदगादादित्यः। लोकविज्ञात इति किम्? जगाम ग्रामं देवदत्तः। प्रयोक्तुः दर्शनविषय इति किम्? जघान कंसं किल वासुदेवः।

अयद्यभिज्ञोक्तौ लृट् ॥२।२।९३॥ अभिज्ञोक्तिः स्मृतिवचनम्। अविद्यमाने यच्छब्दे अभिज्ञावचने वाचि अनद्यतने लृङ् भवति। अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः। मद्रेषु वत्स्यामः। उक्तिग्रहणं पर्यायार्थम्। स्मरसि बुध्यसे चेतयसे वा कश्मीरेषु वत्स्यामः। लङोऽपवादोऽयम्। अयदीति किम्? अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेष्ववसामः।

न वा साकाङ्क्षे ॥२।२।९४॥ आकाङ्क्षा सम्बन्धः। अनद्यतन इत्येव। साकाङ्क्षे अभिज्ञावचने वाचि धोर्न वा लृङ् भवति। अयद्यभिज्ञावचने पूर्वेण प्राप्तो लृट् नेति प्रतिपिध्यते। ततः केवले यच्छब्दसहिते चाभिज्ञावचने साकाङ्क्षे वाचि। वेति सर्वत्र विभाषा। अभिजानासि देवदत्त कश्मीरेषु वत्स्यामः कश्मीरेष्ववसाम तत्रौदनान् भोक्ष्यामहे तत्रौदनानभुञ्जमहि। यच्छब्दसहिते अभिजानासि देवदत्त यत् कश्मीरेषु वत्स्यामः यत्त्रौदनान् भोक्ष्यामहे यत्त्रौदनानभुञ्ज्महि।

परोक्षे लिट् ॥२।२।९५॥ भूते अनद्यतने इति च वर्तते। परावृत्तोऽक्षेभ्यः परोक्षः इन्द्रियागोचर इत्यर्थः। परोक्षशब्दस्य चेदमेव निपातनम्। भूतानद्यतनपरोक्षे ध्वर्थे लिट् भवति। यद्यपि सर्वो [illegible] त्वेनानुमेयत्वेन वा परोक्षस्तथापि यत्राश्रयद्वारेण प्रत्यक्षाभिमानो नास्ति लोकस्य स परोक्ष उक्तः। [illegible] चकार। आत्मनानुष्ठिता हि क्रिया सर्वस्य प्रत्यात्म प्रत्यक्षेति सुप्तमत्तयोरस्मदः प्रयोगः। सुप्तोऽहं किल विललाप। मत्तोऽहं किल जघान। "अत्यन्तापह्नवे लिट् वक्तव्यः" [वा०] नाहं कलिङ्गान् जगाम। [illegible] गमनस्य प्रत्यक्षत्वाल्लिङप्राप्तः।

ह्शश्वतोर्लङ् च ॥२।२।९६॥ ह शश्वदित्येतयोर्वाचोर्लङ् भवति लिट् च भूतानद्यतनपरोक्षे। इति हाकरोत्। इति ह चकार। शश्वदकरोत्। शश्वचकार।

प्रश्ने चान्तर्युगे ॥२।२।९७॥ प्रष्टव्य इति प्रश्नः। पञ्चवर्षं युगम्। युगाभ्यन्तरे प्रश्ने भूतानद्यतनपरोक्षे लङ्लिटौ भवतः। चकारः किमर्थः? पूर्वसूत्रे चानुकृष्टस्य लिटोऽनुकर्षणार्थः। [illegible] पुत्रम्। अददादसौ दानम्। ददावसौ दानम्। प्रश्न इति किम्? देवदत्तो जगाम। अन्तर्युग इति [illegible] अहं त्वां पृच्छामि। जघान कंस किल वासुदेव.।

पुरि लुङ् वा ॥२।२।९८॥ पुराशब्दो भूतानद्यतने वर्तते न भूतमात्रे। पुराशब्दे वाचि [illegible] वा लुङ् भवति पक्षे यथाप्राप्तं च। अवात्सुरिह पुरा छात्राः। अवसन्निह पुरा छात्राः।

लट् ॥२।२।९९॥ वेति निवृत्तम्। लट् भवति पुराशब्दे वाचि भूतानद्यतने। [illegible] योगविभाग उत्तरत्र लट एवानुवर्तनार्थ.।

स्मे ॥२।२।१००॥ स्मशब्दोऽप्यनद्यतने परोक्षे च वर्तते न भूतमात्रे। स्मशब्दे वाचि [illegible] भवति। इति [illegible] [illegible] परोक्षे [illegible]। [illegible] नेर्ईपत्प्रयोगे परत्वात् [illegible]। [illegible] पुरा [illegible]। [illegible]

परत्वेन सलक्षणः। इति ह्याधीयते स्म। शश्वदधीयते स्म। तथा हशश्वल्लक्षणात् परत्वेन पुरालक्षणो विधिः। इति ह पुरा अध्यगीषत। शश्वत्पुरा अध्यगीषत। "ननौ पृष्टप्रतिवचने भूतमात्रे लट् वक्तव्यः" [वा०] अकार्षीः कटं देवदत्त। ननु करोमि भोः। तथा "नशब्दे नुशब्दे च वाचि पृष्टप्रतिवचने भूते वा लट् वक्तव्यः" [वा०] अकार्षीः कटं देवदत्त। न करोमि भोः नाकार्षं भोः। अहं नु करोमि अहं न्वकार्षम्। नेदं द्वयं वक्तव्यम्। पूर्वत्र क्रियाया अपरिसमाप्तेर्वर्तमानत्वम्। उत्तरत्रासमाप्तिः समाप्तिश्च क्रियाया विवक्षिता।

सम्प्रति ॥२।२।१०१॥ सम्प्रति इत्यर्थे लट् भवति। आरम्भात्प्रभृत्याऽनुपरमाद्वर्तमानः कालः सम्प्रति इत्युच्यते। उक्तं च—"*आरम्भाय प्रवृत्ता यस्मिन् काले भवन्ति कर्त्तारः। कार्यस्यानिष्ठातस्तन्मध्यं काल*मिच्छन्ति॥" तरति। नयति। याति।

तस्य शतृशानाववैकार्थे ॥२।२।१०२॥ तस्य सम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने शतृ शान इत्येतावादेशौ भवतः न चेद्वान्तेनैकार्थ्यं भवति। पचन्तं पश्य। पचता कृतम्। पचमानेन कृतम्। तस्य ग्रहणं किम्? असम्प्रतिकाले विहितस्य लटः स्थाने मा भूत्। उष्यते इह पुरा छात्रैः। अधीयते स्म नटैः। अवैकार्थ इति किम्? पचति देवदत्तः। अत्र तस्य शतृशानाविति योगविभागः कर्त्तव्यः। "न वा साकाङ्क्षे" [२।२।९४] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या नवाग्रहणं चाभिसम्बन्धनीयम्। ततो नेत्यनेन इतिशब्दयोगे प्रतिषेध एव भवति। वर्षतीति धावति। हन्तीति पलायते। वेति व्यवस्थितविभाषा। तेन इवादिभिर्योगे द्यौ भिन्नाधिकरणेषु च हत्सु नित्यो विधि। कुर्वती भक्तिः। कुर्वद्भक्तिः। कौर्वतः। पाचमानः। भक्तिशब्दः प्रियादौ पठ्यते। तेन 'पुंवद्यजातीयदेशीये" [४।३।१२४] इति पुवद्भावः। समानाधिकरणेषु हत्सु विकल्पः। कुर्वत्तरः। कुर्वद्रूपः। कुर्वाणरूप.। करोतितराम्। करोतिरूपम्। तस्मात् ध्रुत्ययोरुपसख्यान न कर्त्तव्यम्। पुनरवैकार्थ इति द्वितीयो योग.। अत्रापि नवेत्यधिकारात् कचिद्वान्तेन सामानाधिकरण्येऽपि शतृशानौ भवतः। सन् घटः। अस्ति घटः। विद्यमानो घटः। विद्यते घटः। जुह्वन् जुहोति वा देवदत्तः। अधीयानो मुनिः। अधीते मुनिः। व्यवस्थितविभाषाबलात् माङ्याक्रोशे लुङपि। मा पचन्। मा पचमानः। मा पाक्षीत्।

संबोधने ॥२।२।१०३॥ सम्बोधनमभिमुखीकरणम्। तद्विषये लटः शतृशानौ भवतः वैकार्थ्येऽपि। नित्यार्थमिदम्। हे पचमान। उभयोर्योल्यं सम्बोधनमिति वाविभक्त्यपि भवति।

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ॥२।२।१०४॥ लक्षणं ज्ञापकं चिह्नम्। हेतुर्जनकः। लक्षणं च या क्रिया क्रियाया हेतुश्च या क्रिया तत्र वर्तमानाद्धोः परस्य लटः शतृशानौ भवतः। शयाना भुञ्जते यवनाः। तिष्ठन्तोऽनुशासति गणकाः। व्यभिचार्यपि लक्षणं दृश्यते यथा यत्रासौ काकस्तद्देवदत्तगृहमिति। अन्यथैव स्यात् शयाना वर्द्धते दूर्वा। आसीनं वर्द्धते विसम्। हेतौ। अधीयान आस्ते। अर्जयन् वसति। नवेत्यनुवृत्तेरिह न भवति। वर्षतीति धावति। हन्तीति पलायते। लक्षणहेत्वोरिति किम्? यो वेपते सोऽश्वत्थः। यदुत्प्लवते तल्लघु। द्रव्यस्य गुणस्य च लक्षणे न भवतः। इह शास्त्रे अन्यत्र हेतुग्रहणे कारकग्रहणमिति लक्षणग्रहणे च ज्ञापकग्रहणमिति अन्यतरनिर्देशेनोभयप्रतिपत्तेर्द्वयोरुपादानं द्वन्द्वेषु अल्पान्तरमिति पूर्वनिपातव्यभिचारार्थं [च]।

तौ सत् ॥२।२।१०५॥ तौ शतृशानौ सत्संज्ञौ भवतः। शतृशानयोः प्रकृतत्वात् तौग्रहणं शतृशानरूपपरिग्रहार्थम्। तेन लृडादेशयोरपि सत्संज्ञा सिद्धा। देवदत्तस्य कुर्वन् करिष्यन्। "डड्ग्रहणं" [१।३।७५] इत्यादिना ताप्रतिषेधः।

पूङ्यजो: शानः ॥२।२।१०६॥ सम्प्रतीति वर्तते। पूङ् यज् इत्येताभ्यां शानत्यो भवति। अनादेशोऽयं कर्त्तरि भवति। सभाम्भोऽपि धुम्यो विषाल्यते। सोम पवमानः। यजमानः। "न क्तित" [१।४।७२] इत्यादिना शानि प्रभृति आ तृनो नकारात् तृन्निति प्रत्याहार उक्तः। तेन कर्मणि ताप्रतिषेधः।

वयःशक्तिशीले ॥२।२।१०७॥ वयस् शक्ति शील इत्येतेषु गम्यमानेषु धोः शानो भवति। शरीरावस्था वयः। कतीह शिखण्डं वहमानाः। कतीह कवचं पर्यस्यमानाः। शक्तिः सामर्थ्यम्। कतीह भ- निघ्नानाः। कतीह भुञ्जानाः। शीलं गुणान्तरद्वेषः। कतीह मण्डयमानाः। कतीह मुण्डयमानाः।

धारीङः शत्रकृच्छ्रिणि ॥२।२।१०८॥ अकृच्छ्रमनायासो यस्यास्ति सोऽकृच्छ्री। धारि इङ इत्येताभ्यां शतृत्यो भवति अकृच्छ्रिणि कर्त्तरि। धारयन् धर्मशास्त्रम्। अधीयन् जैनेन्द्रम्। अकृच्छ्रिणीति किम्? कृच्छ्रेण धारयति। कृच्छ्रेणाधीते।

द्विषोऽरौ ॥२।२।१०९॥ द्विषः शतृत्यो भवत्यरौ कर्त्तरि। चौरस्य द्विषन्। चौरं द्विषन्। "द्विषः शतुर्वा वचनम्" [वा०] इति कर्मणि वा ता। अराविति किम्? द्वेष्टि पतिं भार्या। असमा एते त्या लट न बाधन्ते।

सुञो यज्ञसंयोगे ॥२।२।११०॥ संयुज्यते इति संयोगः संयुक्त इत्यर्थः। सुनोतेर्यज्ञसंयोगे कर्तरि शतृत्यो भवति। सर्वे सुन्वन्तः। यज्ञस्वामिन इत्यर्थः। यज्ञसंयोग इति किम्? सुनोति सुराम्।

प्रशंसेऽर्हः ॥२।२।१११॥ अर्हतेः प्रशंसेऽर्थे शतृत्यो भवति। अर्हन्निह भवान् पूजाम्। अर्हन्निह भवान् विद्याम्। प्रशंस इति किम्? अर्हति चोरो वधम्।

आक्वेः शीलधर्मसाधुत्वे ॥२।२।११२॥ आङभिविधौ द्रष्टव्यः। वक्ष्यति भ्राजस्तुवः क्विप्। आ एतस्मात् क्विप्संशब्दनात् यानित ऊर्ध्वं वक्ष्यामः शीलधर्मसाधुत्वेषु वेदितव्याः। शील व्याख्यातम्। धर्म आचारः। ध्वर्थस्य साधु करणं साधुत्वम्।

तृन् ॥२।२।११३॥ तृन्नित्ययं त्यो भवति सर्वधुभ्यः शीलादिषु। शीले—कर्ता कटान्। वदिता जनापवादान्। धर्मे—मण्डयितारः श्राविष्टायना भवन्ति। वधूमूढाम् अन्नमपहर्तार आह्वरका भवन्ति श्रद्धे गिरः। साधुत्वे। कर्त्ता कटम्। गन्ताऽखेटम्। गमेरुकञ्वक्ष्यते। अधिकारात्तृन्नपि भवति।

अलङ्कृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्य-पत्रपवृतवृधुसहचर इष्णुः ॥२।२।११४॥ अलङ्कृञित्येवमादिभ्य इष्णुर्भवति शीलादिषु। अलङ्करिष्णुः। मण्डनार्थे पूर्वविप्रतिषेधेन युचोऽप्य बाधः। निराकरिष्णुः। प्रजनिष्णुः। उत्पचिष्णुः। उत्पतिष्णुः। उन्मदिष्णुः। रोचिष्णुः। अपत्रपिष्णुः। वर्तिष्णुः। वर्धिष्णुः। सहिष्णुः। चरिष्णुः।

ग्लाभूजिस्थः क्स्नुः ॥२।२।११५॥ ग्ला भू जि स्था इत्येतेभ्यो धुभ्यः क्स्नुर्भवति शीलादिषु। ग्लास्नुः। भूष्णुः। जिष्णुः। स्थास्नुः। "क्स्नोर्गित्वान्न स्थ ईकारः क्ङितोरीत्वस्य शासनात्। गुणाभावस्त्रिषु स्मार्यः श्रयुकोऽनिट्त्वङ्कोरितोः॥"

त्रसिगृधिधृषिक्षिपः क्नुः ॥२।२।११६॥ त्रसि गृधि धृषि क्षिप इत्येतेभ्यः क्नुर्भवति शीलादिषु। त्रस्नुः। गृध्नुः। धृष्णुः। क्षिप्नुः। ग्युटः एत्प्रतिषेधार्थं क्नित्करणमिदं ज्ञापकं त्यादिन्यनेनापि दमग्ना... "ग्युङः" [१।१।८३] एत्भवतीति। वेत्ता। बोद्धा।

परेः सृदेविक्षिपरटवददहमुहः ॥२।२।११९॥ परिपूर्वेभ्यः सृप्रभृतिभ्यो धुभ्यः घिनिण् भवति। परिसारी। देव देवन इत्यस्य परिदेवी। क्षिपेरविशेषेण ग्रहणम्। परिक्षेपी। परिपाटी। परिवादी। परिदाही। परिमोही।

वौ कषविचलसकत्थस्रम्भः ॥२।२।१२०॥ विपूर्वेभ्यः कषादिभ्यो धुभ्यो घिनिण् भवति। विकाषी। विवेकी। विलासी। विकत्थी। विस्रम्भी।

अपे च लषः ॥२।२।१२१॥ अपे च वौ वाचि लषेर्घिनिण् भवति। अपलाषी। विलाषी।

चरेः ॥२।२।१२२॥ अप इति वर्तते। अपपूर्वाच्चरेः घिनिण् भवति। अपचारी।

अते. ॥२।२।१२३॥ अतिपूर्वाच्चरेर्घिनिण् भवति। अतिचारी।

समि पृचिसृजिज्वर ॥२।२।१२४॥ सम्पूर्वेभ्यः पृचि सृजि ज्वरि इत्येतेभ्यो घिनिण् भवति। सम्पर्की। संसर्गी। सञ्ज्वरी। अकर्मकाणामित्येव। संपृणक्ति साकम्।

आङि यमियसिक्रीडिमुषः ॥२।२।१२५॥ आङ् पूर्वेभ्यः यमि यसि क्रीडि मुषि इत्येतेभ्यो घिनिण भवति। आयामी। तासाव[1]निङ्भावादैप्रतिषेधो न भवति। आयासी। आक्रीडी। आमोषी।

प्रे लपसृद्रुमथवदवसः ॥२।२।१२६॥ प्रशब्दे वाचि लप सृ द्रु मथ वद वस इत्येतेभ्यो घिनिण् भवति। प्रलापी। प्रसारी। प्रद्रावी। प्रमाथी। प्रवादी। वसेरनुब्विकरणस्य प्रवासी।

निन्दहिंसक्लिशखादविनाशव्याभाषासूयो वुञ् ॥२।२।१२७॥ निन्दादिभ्यो वुञ् भवति शीलादिषु। निन्दकः। हिंसक.। क्लिशेरविशेषेण ग्रहणे युचोऽपि बाधा। क्लेशकः। खादकः। विनाशेर्ण्यन्तस्य विनाशक। असूय इति कण्ड्वादिर्यगन्तः। असूयकः। ण्वुना सिद्धे वुञ्ग्रहणं ज्ञापकमन्येभ्यः शीलादिषु ण्वादयो न भवन्तीति।

परौ वादिक्षिपरटः ॥२।२।१२८॥ परिपूर्वेभ्यः वादि क्षिप रट् इत्येतेभ्यो वुञ् भवति। परिवादक। परिक्षेपक। परिराटक।

देविक्रुशो गौ ॥२।२।१२९॥ देवि क्रुश इत्येताभ्या गौ वाचि वुञ् भवति। देवीति देवतेर्ण्यन्तस्य। परिदेवकः। आदेवकः। परिक्रोशकः। आक्रोशकः। गाविति किम्? देवयिता।

रुचलार्थाद्धेर्युच् ॥२।२।१३०॥ रौत्यर्थेभ्यश्चलत्यर्थेभ्यश्च धिसञ्ज्ञकेभ्यो युच् भवति। रवणः। शब्दन.। कथनः। चलत्यर्थेभ्यः—चलनः। चोपनः। कम्पनः। धेरिति किम्? पठिता शास्त्रम्।

अनुदात्तेतोऽयसूददीपदीक्षो हलादे ॥२।२।१३१॥ अनुदात्तेतो हलादेर्धोर्युज्भवति यकारान्त-सूद-दीप दीक्ष इत्येतान्वर्जयित्वा। द्योतनः। रोदनः। अनुदात्तेत इति किम्? पठिता। अयसूददीपदीक्ष इति किम्? क्ष्मायिता। क्ष्मापिता। सूदे. सकर्मकस्यापि सूदिता। कथ मधुसूदनः। नन्द्यादिपाठाण्ल्युः। दीपिता। दीपेर्विशेषेण रो विधीयते युचः प्राप्तिर्नास्ति। इद प्रतिषेधवचन ज्ञापक शीलादिकेषु असमविधिर्न भवतीत्यनित्यमेतत्। तेन कमन.। कम.। कम्रन.। कम्प्र.। विकत्थी विकत्थनः इति च भवति। दीक्षिता। हलादेरिति किम्? एधते इत्येवं शील एधिता। आदिग्रहण किम्? हला तदन्तविधिर्मा भूत्। इह न स्यात्। जुगुप्सनः। मीमांसन.। वेदेव। वर्तिता वर्त्तनम्।

सृजुज्वलगृधक्षुभचलपपतपद. ॥२।२।१३२॥ सृप्रभृतिभ्यो युज्भवति। शरणः। जवनः। ज्वलन। गर्द्धन। क्षोभन.। लषण.। पतनः। पदन.। चलत्यर्थाना पदेश्च ग्रहणं सकर्मकार्थम्। पदिग्रहण

1.—सावनिट्त्वाद्- प०।

ज्ञापनार्थमित्यन्ये । शीलादिकेषु चासमविधिर्न भवतीति । पटेरुकञा विशेषविहितेन सामान्यविहितस्य युचो बाधितत्वात् पुनरनेन प्रत्यापत्तिः ।

क्रुधमण्डार्थात् ॥२।२।१३३॥ क्रुध्यर्थेभ्यो मण्डार्थेभ्यश्च धुभ्यो युज्भवति । क्रोधनः । कोपनः । रोषणः । मण्डार्थेभ्यः—मण्डनः । रचनः । भूषणः ।

क्रमिद्रमो यङः ॥२।२।१३४॥ क्रमिद्रमिभ्यां यङन्ताभ्यां युज्भवति । चङ्क्रमणः । दन्द्रमणः ।

यजिजपिवददशामूकः ॥२।२।१३५॥ यङ इति वर्तते । यज्यादिभ्यो यङन्तेभ्य ऊको भवति । यायजूकः । जञ्जपूकः । वावदूकः । दन्दशूकः । जपिदशिभ्यां "लुपसदचरजपजभदहदशगॄभ्यो गर्हे" [२।१।२१] इति यङ् । "जपजभदहदशभञ्जपशाम्" [४।२।१८४] इति चस्य नुमागमः ।

जागुः ॥२।२।१३६॥ जागुरूको भवति । जागरूकः ।

लषपतपदस्थाभूवृषहनशृकमगम उकञ् ॥२।२।१३७॥ लषादिभ्यः उकञ् भवति । अपलाषुकं नीचसङ्गतम् । "अपे च लषः" [२।२।१२१] इति वचनात् घिनिणपि भवति । प्रपातुका गर्भाः । उपपादुकाः देवाः । उपस्थायुको गुरून् । प्रभावुकः । प्रवर्षुकः । आघातुकः । शृणोतेः शारुकः । कामुका कन्यस्य स्त्रियो भवन्ति । "न क्तित" [१।४।७२] इत्यादिना कर्मणि ताया: प्रतिषेधे प्राप्ते उकप्रतिषेधे कमेरप्रतिषेध इत्युक्तम् । आगामुकः स्वगृहम् ।

जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङष्टाकः ॥२।२।१३८॥ जल्पादिभ्यो धुभ्यष्टाको भवति । जल्पाकः । जल्पाकी । अकर्मकविवक्षायां "रुचलार्थाद्युच्" [२।२।१३०] इति युच् प्राप्तः । भिक्षाकः । अनुदात्तेतो युच् प्राप्तः । कुट्टाकः । लुण्टाकः । वराकः ।

प्रे सृजोरिन् ॥२।२।१३९॥ प्रपूर्वाभ्यां सृजुभ्यां इन् भवति । प्रसवी । प्रजवी ।

परिभूजिदृक्षिविश्रीण्वमाव्यथाभ्यमः ॥२।२।१४०॥ इन्निति वर्तते । परिभू जि दृ क्षि श्री इण् वम अव्यथ अभ्यम इत्येतेभ्य इन् भवति । परिभावी । जयी । आदरी । क्षयी । विश्रयी । अत्ययी । वमी । अव्यथी । अभ्यमी ।

स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुः ॥२।२।१४१॥ स्पृहिप्रभृतिभ्यो धुभ्यः आलुर्भवति । स्पृहयालुः । गृहयालुः । पतयालुः । एते चुरादिष्वदन्ताः । दयालुः । निद्रालुः । तन्द्रालुः । तदिति निपातनात् विषये भवति । श्रद्धालुः । इट शीङो ग्रहणं कर्त्तव्यम् । शयालुः ।

दाधेट्सिशदसदो रुः ॥२।२।१४२॥ दा धेट् सि शद सद इत्येतेभ्यो रुर्भवति । दा इत्यविशेषेण ग्रहणम् । दारुः । धारुः वत्सो मातरम् । "न क्तित" [१।४।७२] इत्यत्र उकारप्रश्लेषात् तदन्तानामपि तायाः प्रतिषेधः । सेरुः । शद्रुः । सद्रुः । यत्त्वात्मकर्मणि अनेनेदं काष्ठं तदुणादिषु द्रष्टव्यम् ।

सृघस्यदः क्मरः ॥२।२।१४३॥ सृ घसि अद् इत्येतेभ्यः क्मरो भवति । सृमरः । घस्मरः । अद्मरः । अनेनैवादेः घस्भावो निपात्यते ।

गत्वरः ॥२।२।१४७॥ गत्वर इति निपात्यते गमेः क्वरप्, मकारस्य च निपात्यते। गत्वरः। गत्वरी।

नमिकम्पिस्म्यजस्कमहिंसदीपो रः ॥२।२।१४८॥ नमि कम्पि स्मि अजस कम हिंस दीप इत्येतेभ्यो रो भवति। नमेरात्मकर्मण्यपि। नम्रं काष्ठम्। नम्रो देवदत्तः। कम्प्रा शाखा। स्मेरं मुखम्। जस्यतेर्नञ्पूर्वात् अजस्रं ज्ञानं भावयामः। कम्रा युवतिः। हिंस्रः पापमेति। दीप्रो मणिः। कम्पेश्च ण्यर्थत्वात् कमदीप्योरनुदात्तेत्वादयुच् प्राप्तः।

सनाशंसभिक्ष उः ॥२।२।१४९॥ सन्नन्त आशंस भिक्ष इत्येतेभ्य उत्यो भवति। चिकीर्षुः। आङः शसि इच्छायामित्यस्य आशंसुः। भिक्षुः।

विन्द्विच्छू ॥२।२।१५०॥ विन्दु इच्छु इत्येतौ शब्दौ निपात्येते। वेत्तेरुकारः नुमागमश्च निपात्यते। विन्दुः। इच्छतीत्येवशील इच्छुः। उश्छत्वं च निपात्यते।

स्वपितृषोर्नजिङ् ॥२।२।१५१॥ स्वपितृषिभ्यां नजिङ् भवति शीलादिषु। स्वप्नक्। स्वप्नजौ। तृष्णक्। तृष्णजौ।

शृवन्द्योरारुः ॥२।२।१५२॥ शृ वन्दि इत्येताभ्यामारु इत्यय त्यो भवति। शरारुः। वन्दारुः जिनान्।

भियः क्रुक्लुकौ ॥२।२।१५३॥ बिभेतेः क्रु क्लुक इत्येतौ भवतः। भीरुः। भीलुकः। क्रुकोऽपि वक्तव्यः। भीरुकः।

स्थेशभासपिसकसो वरः ॥२।२।१५४॥ स्था ईश भास पिस कस इत्येतेभ्यो वरो भवति। स्थावरः। ईश्वरः। भास्वरः। पेस्वरः। कस्वरः।

यो यङः ॥२।२।१५५॥ यातेर्यङन्ताद्वरो भवति। यायावरः। वरे अतः खम्, तस्य यखविधिं प्रति न स्थानिवद्भाव इति "वलि व्योः खम्" [४।३।५५] इति यखम्। यखे कृते अतः खस्य स्थानिवद्भावात् "इटि घात्खम्" [४।४।६३] इति आत्ख प्राप्तम्। वरे पूर्वादेशस्य न स्थानिवद्भाव इति न भवति। "शीलादिप्रकरणे घाञ्कृसृजनिनमिभ्य इर्लिट् वक्तव्यः" [वा०] घानशीलो दधिः। करणशीलः चक्रिः। सरणशीलः सस्रिः। जननशीलः जज्ञिः। नमनशीलः नेमिः। "हल्मध्ये लिट्यतः" इति एत्वचखे।

ग्रावस्तुवः क्विप् ॥२।२।१५६॥ ग्रावपूर्वात् स्तौतेः क्विप् भवति शीलादिषु। ग्रावाणं स्तौतीत्येवशीलः ग्रावस्तुत्। शीलादिषु वाऽसमविधिर्नास्तीति सामान्यलक्षणः क्विप् न प्राप्नोति पुनर्विधीयते।

अन्येभ्योऽपि ॥२।२।१५७॥ अन्येभ्योऽपि धुभ्यः शीलादिषु क्विब् भवति। अपिग्रहणं विकल्पार्थम्। अन्येभ्योऽपि धुभ्यः शीलादिष्वपि भवत्यशीलादिष्वपि तत्राभिधानवशात्। भ्राजभासधुर्विद्युतेर्जिपृजुभ्यः शीलादिषु क्विब् भवति। अन्येभ्योऽन्यत्र। विभ्राजनशीले विभ्राट्। विभ्राजौ। भाः। भासौ। धूर्वणशीलः धूः। धुरौ। विद्युत्। विद्युतौ। ऊर्क्। ऊर्जौ। पूः। पुरौ। जूः। जुवौ। जुवः। "क्विपिवचिप्रच्छायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्जिश्च" [वा०] इति दीत्वम्। अन्येभ्योऽशीलादिषु। पक्। पचौ। भित्। भिदौ। छित्। छिदौ। वाक्। प्रच्छे. प्राट्। आयतस्तूः। कटप्रूः।

भुवः खन्तरे ॥२।२।१५८॥ भवतेः क्विन् भवति खान्तरे च गम्यमाने। मित्रभूः। मित्रभुवौ। मित्रभुवः। खन्तरे। प्रतिभूः। प्रतिभुवौ। प्रतिभुवः। पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमेतत् खन्तरयोरेव भुवः शीलादिषु नान्यत्र। भविता। भावुकः।

विप्रसमोऽसंज्ञो डुः ॥२।२।१५९॥ शीलादिष्विति निवृत्तम्। सम्प्रतीत्यनुवर्तते एव। विप्रसंपूर्वाद्भो-

सुवो डुर्भवत्यखौ। विभुः। प्रभुः। शम्भुः। अखाविति किम्? विभुर्नाम कश्चित्। "डुप्रकरणे मितद्रुप्रभृतीनामुपसंख्यानम्" [वा०] मितं द्रवति मितद्रुः। शम्भुः।

दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः करणे त्रट् ॥२।२।१६०॥ दाप् लवन इत्येवमादिभ्यः करणे कारके त्रट् भवति। दान्ति तेन दात्रम्। नेत्रम्। शस्त्रम्। योत्रम्। योक्त्रम्। स्तोत्रम्। तोत्रम्। सेत्रम्। सेक्त्रम्। मेढ्रम्। पत्रम्। दंष्ट्रा। अजादिषु पाठाट्टाप्। नद्ध्री। दशेः कृतनखस्य निर्देशो ज्ञापकः क्वचिदन्यत्रापि नखम्। दशनः।

धात्रपोत्रे ॥२।२।१६१॥ धात्र पोत्र इत्येते शब्दरूपे निपात्येते। धेटः कर्मणि त्रट् निपात्यते। धयन्ति तामिति धात्री। पोत्रमिति पुनातेः पवतेर्वा करणे त्रट् निपात्यते। हलस्य सूकरस्य वा मुख चेत्भवति हलस्य पोत्रम्। सूकरस्य पोत्रम्।

लूधूसूखनर्तिसहचर इत्रः ॥२।२।१६२॥ करण इति वर्तते। ल्वादिभ्यो धुभ्यः करणे इत्रो भवति। लुनाति तेन लवित्रम्। धुवति तेन धवित्रम्। सुवति तेन सवित्रम्। खनित्रम्। अरित्रम्। सहित्रम्। चरित्रम्।

पुवः खौ ॥२।२।१६३॥ करण इति वर्तते। पवतेः पुनातेर्वा करणे इत्रो भवति खुविषये। पूयतेऽनेन पवित्रम्। पवित्रा नाम नदी।

कर्तरि चर्षिदेवतयोः ॥२।२।१६४॥ पुव इत्रो भवति कर्तरि करणे च कारके ऋषिदेवतयोरभिधेययोः। भिन्नयोगनिर्दिष्टत्वाद्यथासंख्यं न भवति। पूयतेऽनेन पुनाति वा पवित्रोऽयमृषिः। देवताया पवित्रोऽर्हन् स मां पुनातु।

ञीतः क्तः ॥२।२।१६५॥ संप्रतीति वर्तते। ञिशब्देतो धोः सप्रति क्तो भवति। ञिमिदा मिन्नः। ञिधृषा। धृष्टः। ञिक्ष्विदा। क्ष्विण्णः।

मतिबुद्धिपूजार्थाच्च ॥२।२।१६६॥ मतिरनुमतिः। बुद्धिर्ज्ञानम्। पूजा अर्चा। मत्यर्थेभ्यो बुद्ध्यर्थेभ्यः पूजार्थेभ्यश्च धुभ्यः सप्रति क्तो भवति। राज्ञा मतः। राज्ञामिष्टः। राज्ञा बुद्धः। राज्ञा ज्ञातः। राज्ञा पूजितः। राज्ञामर्चित.। क्तयोगे कर्तरि ता प्राप्ता "न क्तिव" [१।४।७२] इत्यादिना प्रतिषिद्धा भवति पुनर्विधीयते। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः।

शीलितो रक्षितः क्षान्त आक्रुष्टो जुष्ट इत्यपि। रुष्टश्च रुषितश्चोभौ अभिव्याहृत इत्यपि॥

हृष्टतुष्टौ तथा कान्त. दयितोऽन्यः संयतोद्यतौ। कष्टं भविष्यतीत्याहुरमृता. पूर्ववत्स्मृता.॥

अमृतशब्द सप्रति बहुत्वनिर्देशात्। सुप्त शयित. स्थित. आशित इत्येवमादयोऽपि सप्रति भवन्ति।

"क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥"

तथा अनुक्ताभ्योऽपि प्रकृतिभ्यस्त्या भवन्ति । अरुडः । जृकृसृवृडः—जरण्डः । करण्डः । सरण्डः । वरण्डः । आडि ईर्तेरपीष्यते । एरण्डः । अनुक्ता अपि त्या भवन्ति अर्फिडः अफण्डः इत्येवमादिषु । तथा सम्प्रतिकाले उणादयो विहिताः क्वचिद्भूतेऽपि दृश्यन्ते । कषितोऽसौ कषिः । ततोऽसौ तन्तिः । भसित भस्म । चरितं चर्म । वृत्त तदिति वर्त्म । तदुक्त "बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टे प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् । कार्यसशेषविधेश्च तदुक्तं नैगमरूढभवं हि सुसाधु ॥" जात्यपेक्षयैकत्व तनुदृष्टेरिति प्यखे कर्मणि का । तनुदृष्टि वीक्ष्य तनुदृष्टः प्रकृतेस्तनोर्गुणस्य दर्शनादित्यर्थः । तद्बाहुलकमुक्तम् । एव हि नैगमाः गौरित्येवमादयः रूढभवाः पलाश इत्येवमादयः शब्दा सुसाधवो भवन्ति ।

इत्यभयनन्दिविरचिताया जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

गम्यादिर्वर्त्स्यति ॥२।३।१॥ उणादयो अन्यत्र च ये साधिता गम्यादयः शब्दास्ते च वर्त्स्यति काले साधवो भवन्ति । वर्त्स्यतीत्यनागतस्य कालस्य सामान्येन ग्रहणम् । सम्प्रत्यादिकाले तेषा साधुत्वव्यवच्छेदार्थं आरम्भः । गमिष्यति गमी ग्रामम् । आगमिष्यति आगमी नगरम् । "आधमर्ण्ये चेनः"; [१।४।७४] इति कर्मणि तायाः प्रतिषेधात् "कर्म्मण्याप्" [१।४।२] इतीबेव भवति । एव भविष्यति भावी । प्रस्थास्यते प्रस्थायी । प्रतिभोत्स्यते प्रतिबोधी । प्रतियोत्स्यते प्रतियोगी । प्रयास्यति प्रयायी । "गमेरिन्" इति इन् । स एव "आङि णित्" इति णित् । "भुवश्च"इति भवतेरपि णिन् । अन्येभ्यः "सुपि शीलेऽजातौ णिन्" [२।२।६६] इति णिन् । कथ श्वो गमी ग्रामम् । "अनद्यतने लुट्" इति लुट्प्राप्तेः ? तदसत् । यतो वर्त्स्यतीत्यनेन सामान्य शब्देनानद्यतनविशेषोऽप्यत्र गृहीतो यथा गौरित्यनेन खण्डमुण्डोऽपि । अतो वर्त्स्यतीत्यविशेषेण वृत्तावप्यर्थकरणादेर्विशेषप्रतिपत्तिः । अथवा "अनद्यतने लुट्" [२।३।१४] इत्यत्र "गम्यादिर्वर्त्स्यति"इत्येतदनुवर्तिष्यते । तेनानद्यतनविषयेऽपि गम्यादयः सिद्धा भवन्ति । असमाद्वा अनद्यतने भवन्ति । लुट्लृटावपि भवतो गमिष्यति गन्तेति ।

पुरायावतोर्लट् ॥२।३।२॥ पुरा च यावच्च पुरायावतौ । तयोः पुरायावच्छब्दयोर्वाचोर्वर्त्स्यति धोर्लट् भवति । पुरा भुङ्क्ते । पुराधीते । यावद्भुङ्क्ते । यावदधीते । भविष्यदनद्यतने लृटोऽयमपवादो लट् । लुडपि लृडपवादः, तत्रापवादयोः स्पर्द्धे परत्वाल्लुट् प्राप्तः पूर्वनिर्णयेन लट् भवति । श्वः पुराऽधीते । श्वो यावदधीते । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहण न तु लाक्षणिकस्येत्यभिधानात् । तेनेह न भवति । यावद्दास्यति तावद्भोक्ष्यते ।मत्या पुरा जेष्यति ।

वा कदाकर्ह्योः ॥२।३।३॥ कदा कर्हि इत्येतयोर्वाचोर्वर्त्स्यति धोर्वा लट् भवति । कदा भुङ्क्ते । कदा भोक्ष्यते । कदा भोक्ता । कर्हि भुङ्क्ते । कर्हि भोक्ता ।

किंवृत्ते लिप्सायाम् ॥२।३।४॥ किमो वर्तनं किंवृत्तं तस्मिन् वाचि लिप्साया गम्यमानाया वर्त्स्यति वा लट् भवति । लुटि लृटि च प्राप्ते अयमारम्भः । लब्धुमिच्छा लिप्सा प्रार्थनाभिलाषः । को भवद्भ्यो भिक्षा ददाति । को भवद्भ्यो भिक्षा दास्यति । को भवद्भ्यो भिक्षा दाता । इह कस्मान्न भवति । कदा भोजयिष्यसि भोजयितासि वा । किमो डि विभक्त्यन्तस्य डतरडतमान्तस्य च वर्तन किंवृत्तमिति वैयाकरणानामभिप्रायः । तच्चेह नास्ति ततोऽत्र लटोऽभावात् लृट्लुटावेव भवतः । लिप्सायामिति किम् ? कः पाटलिपुत्र यास्यति ?

लिप्स्यसिद्धौ ॥२।३।५॥ वर्त्स्यतीत्यनुवर्तते। लिप्सति हि लिप्स्यो दाता ओदनादिश्च। तत्र दातरि तासः। लिप्स्यस्य सिद्धिः लिप्स्यसिद्धिः। याचकेन हि यो लिप्स्यते दाता तस्य सिद्धौ स्वर्गादिफलप्राप्तौ। ओदनादौ तु भासः। याचकेन हि यो लिप्स्यते ओदनादिना करणभूतेन सिद्धिः दातुः स्वर्गादिफलप्राप्तिः तस्यां गम्यमानायां वर्त्स्यति वा लड् भवति। यो भवद्भ्यो भिक्षां ददाति दास्यति दाता वा स स्वर्गलोकं गच्छति गमिष्यति गन्ता वा। दानाद्दातुः स्वर्गसिद्धिं ब्रुवाणो दातारमेवमुत्साहयति। ननु चात्र उभयत्रापि लिप्सायां गम्यमानतायां "किंवृत्ते लिप्सायाम्" [२।३।४] इत्येव लड्विकल्पसिद्धेर्व्यर्थोऽयमारम्भः। न व्यर्थोऽकिंवृत्तार्थत्वादेतदारम्भस्य। पूर्वेण हि किंवृत्ते वाचि लड्विकल्पो विहितः।

लोडर्थलक्षणे ॥२।३।६॥ वर्त्स्यतीति वेति च वर्तते। लोडर्थः प्रैषादिः, स लक्ष्यतेऽनेन लोडर्थलक्षणम्, तस्मिन् लोडर्थलक्षणे ध्वर्थे वर्तमानात् धोर्वर्त्स्यति वा लड् भवति। उपाध्यायश्चेदागच्छति। उपाध्यायश्चेदागमिष्यति। उपाध्यायश्चेदागन्ता। अथ त्वं तर्कमधीष्व अथ गणितमधीष्व। अत्रोपाध्यायागमनेन प्रैषो लक्ष्यते।

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥२।३।७॥ वेति वर्तते। लोडर्थलक्षण इति। ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवः ऊर्ध्वमौहूर्तिकः। निपातनात्सविधिरुत्तरपदस्यैप्। ऊर्ध्वमौहूर्तिके वर्त्स्यति काले लोडर्थलक्षणे वर्तमानाद्धोर्लिङ् भवति लड् वा। ऊर्ध्वं मुहूर्तादुपाध्यायश्चेदागच्छेत् उपाध्यायश्चेदागच्छति उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागन्ता अथ त्वं तर्कमधीष्व अथ त्वं गणितमधीष्व।

वुण्तुमौ क्रियायां तदर्थायाम् ॥२।३।८॥ वर्त्स्यतीत्येव वर्तते। यस्माद्धोरस्योत्पत्तिः प्रार्थ्यते तदर्था क्रिया तच्छब्देनाभिप्रेता सा क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्या व्रजनादिक्रियायाः सा तदर्था, तस्यां वाचि वर्त्स्यति काले वुण्तुमौ भवतः। कारको व्रजति। कर्तुं व्रजति। भोजको व्रजति। भोक्तुं व्रजति। क्रियायामिति किम्? भिक्षिष्ये इत्यस्य जटाः। अन्वेष्ये इत्यस्य कमण्डलुः। द्रव्यमत्र तदर्थम्। तदर्थायामिति किम्? धावतो पतिष्यति दण्डः। नात्र धावनं दण्डपतनार्थम्। ननु सामान्यविहितेन ण्वुना सिद्ध किमर्थं वुण्ग्रहणम्? भावे भवन्तीति भिन्नविषयत्वात्तुमपि न बाधकः। क्रियायां तदर्थायां वाचि तृजादयो न बाधकाः स्युः। वाऽसमविधिना ण्वुर्भविष्यतीति चेत्, एवं तर्हि नियमार्थं वुण्वचनम्। वर्त्स्यति क्रियायां तदर्थायां वाचि ण्वुरेव यथा स्यात् तृजादयो मा भूवन् इति। कर्ता व्रजति विक्षिपो व्रजति इत्येवमादि न भवति।

भाववाचिनः ॥२।३।९॥ भाववाचिनो घञादयस्ते वर्त्स्यति काले क्रियायां तदर्थायां वाचि भवन्ति। यद्यपि सामान्येन विहिता घञादयस्तथापि वुण्ग्रहणं ज्ञापकमुक्तम् सामान्यविहितास्ते वर्त्स्यति काले क्रियायां तदर्थायां न भवन्तीति तुमा च बाध्येरन्। तेनाय यत्नः। पाकाय व्रजति। त्यागाय व्रजति। [illegible] व्रजति। "तुमर्थाद् भावे" [१।४।७५] इत्यप्। भाव इति विशेषणेन। वाचि ग्रहणं [illegible] प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन त्वा विहितास्ताभ्यः प्रकृतिभ्यस्तेन विशेषणेन क्रियायां तदर्थायां [illegible]

शेषे ॥२।३।१२॥ उक्तादन्यः शेषः, शुद्धं वर्त्स्यत् कालमात्रम्. शेषे वर्त्स्यति लृट् भवति । करिष्यति । हरिष्यति ।

विभाषा लृटः सत् ॥२।३।१३॥ वर्त्स्यति लृट् तस्य, स्थाने सत्संज्ञौ शतृशानौ विभाषया भवतः । पक्ष्यन्तं पश्य । पक्ष्यमाणं पश्य । पक्ष्यता कृतम् । पक्ष्यमाणेन कृतम् । हे पक्ष्यन् । हे पक्ष्यमाण । अर्जयिष्यन् वसति । अध्येष्यमाण आस्ते । देवदत्तः पक्ष्यन् पक्ष्यति वा पक्ष्यमाणः पक्ष्यते वा । व्यवस्थितविभाषेयम् । तेन इत्यादिभिर्योगे सम्बोधने लक्षणहेत्वोः क्रियायामित्यत्र नित्यो विधिः । वान्तैकार्थत्वे विकल्पः । इतिशब्दयोगे तु न भवति । करिष्यामीति व्रजति । हरिष्यामीति व्रजति । लङ्ग्रहणं किम् ? स्यान्तरत्वं मा विज्ञायि ।

अनद्यतने लुट् ॥२।३।१४॥ वर्त्स्यतीति वर्तते । वर्त्स्यत्यनद्यतनेऽर्थे वर्तमानाद्धोर्लुट् भवति । श्वः कर्ता । श्वोऽध्येता । अनद्यतन इति बहुव्रीहिनिर्देशादद्य श्वो भोक्ष्यामहे इत्यत्र न भवति । विभाषानुवर्तनात् परिदेवने लृड्विषयेऽपि लुट् भवति । इयन्नु कदा गन्ता एव निदधती पादौ । अयं तु कदाध्येता एवमनभियुक्तः ।

पदरुजविशस्पृशो घञ् ॥२।३।१५॥ पद रुज विश स्पृश इत्येतेभ्यो घञ् भवति । पद्यतेऽसौ पादः । एवकृञ्चोरयमपवादो न पचाद्यचः "सुप्तिङन्तं पदम्" [१।२।१०३] इति पदनिर्देशात् । रुजत्यसौ रोगः । विशत्यसौ वेशः । इगुपधलक्षणस्यापवादः । स्पृश उपतापेऽभिघातम् । स्पृशतीति स्पर्शो रोगः । उपतापादन्यत्र स्प्रष्टा । स्पर्शकः ।

सृ स्थिरे ॥२।३।१६॥ सरतेः स्थिरे कर्तरि घञ् भवति । कालान्तरं सरतीति सारः । मधूकसारः । विभाषानुवर्तनात् स्थिरव्याधिमत्स्यबलेष्वभिधानम् । अतीसारो व्याधिः । विसारो मत्स्यः । सारो बलम् । एतेष्विति किम् ? सर्ता । सारकः ।

भावे ॥२।३।१७॥ भावे धोर्घञ् भवति । भाव इति क्रियासामान्यमर्थः । तद्यद्यपि पूर्वापरीभूतम-परिनिष्पन्नमलिङ्गसंख्यं प्रकृत्यैवोच्यते, तथापि वस्त्वन्तरासिद्धताधर्मः स लिङ्गसंख्यावानिति तत्र घञादयः । पाकः । त्यागः । रागः ।

अकर्तरि ॥२।३।१८॥ कर्तुरन्यस्मिन् कारके घञ् भवति ।

'तद्युक्तमिवयुक्तं वा यत्कार्यं संप्रतीयते । तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिन् लोकेऽप्यर्थगतिस्तथा ॥'

प्रास्यन्ति तं प्रासः । प्रसीव्यन्ति तं प्रसेवः । आहरन्ति तस्मादाहारः । [1]संज्ञायामसंज्ञायामपि दृश्यते । को भवता दायो दत्तः । को भवता लाभो लब्धः । कर्तव्यः कटः इत्येवमादिषु अनभिधानात् भवति ।

परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः ॥२।३।१९॥ आख्याग्रहणात्परिमाणमिह संख्यादिकं गृह्यते । परिमाण-स्याख्यायां गम्यमानायां सर्वेभ्यो घञ् भवति । एकस्तण्डुलनिचायः । [2]एकस्तण्डुलावचायः । [3]द्वौ केदारलावौ । द्वौ शूर्पनिष्पावौ । "ग्रहवृदृनिश्चिगमोऽच्" [२।३।५२] इति अचि प्राप्ते इदम् । परिमाणाख्यायामिति किम् ? निश्चयः । सर्वग्रहणं बाधकबाधनार्थम् । एका तूणनिघसः । अन्यथा पुरस्तादपवादोऽयमिति अनन्तरमेवाचं बाध्येत न त्वनादिकम् । द्वौ सारस्येति सारौ । घञि घस्लृभावः विधेः । इहाकर्तरीत्येवाभिसम्बध्यते । स्त्रीलिङ्गे भावे घञमा भूत् । एका तिलोच्चितिः । द्वे सृती । सर्वग्रहणं बाधकबाधनार्थमुक्तं क्तिरपि बाध्येत ।

इङः ॥२।३।२०॥ इत उत्तरं भावे अकर्तरीति च वर्तते । इङश्च धोर्घञ् भवति । अधीयते तस्मादध्यायः । उपेत्याधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः । अपादाने यो घञ् तदन्ताद्वा ङीर्विधातव्यः । उपाध्यायी । उपा-

1. संज्ञायामिदं संज्ञया—ब० । 2. -स्तन्दुलनिश्चाय. ब०, स० । 3. -लावक्षाय: अ०, ब०, स० ।

ध्याया । वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेनास्मिन्विषये क्विमपि घञ् बाधते । "श्रणातेर्वायुवर्णयोर्वञ् वक्तव्य" [वा०] शारो वायुः । शारो वर्णः ।

गौ रुवः ॥२।३।२१॥ गिमन्ते वाचि रौतेर्घञ् भवति । विरावः । सरावः । अचोऽपवादोऽयम् । गाविति किम् ? रवः ।

समि युद्रुदुवः ॥२।३।२२॥ सपूर्वेभ्य यु द्रु दु इत्येतेभ्यो घञ् भवति । संयावः । सद्रावः । सदावः । समीति किम् ? यवः ।

यज्ञे स्तुवः ॥२।३।२३॥ समीति वर्तते । सम्पूर्वात् स्तौतेर्घञ् भवति यज्ञविषये । समेत्य स्तुवन्ति अस्मिन्निति संस्तावः छन्दोगानम् । यज्ञ इति किम् ? सता सस्तवः ।

श्रिणीभुवोऽगौ ॥२।३।२४॥ अगिपूर्वेभ्यः श्री णी भू इत्येतेभ्यो घञ् भवति । श्रायः । नायः । भावः । अगाविति किम् ? प्रश्रयः । प्रभवः । कथं प्रभावो धर्मस्य । प्रकृष्टो भावः प्रभावः इति प्राप्तिः । कथं पाड्गुण्यस्य यथावत्प्रयोगो यथावत्प्रयोगो नयः "पुंखौवः प्रायेण" [२।३।१००] इति करणे घो प्राप्तः ।

नियोऽवोदोः ॥२।३।२५॥ अव उद् इत्येतयोर्वाचोर्नयतेर्घञ् भवति । अवनायः । उन्नायः । कथमुन्नयः । शब्दाना पूर्ववत्करणे घो विधेयः ।

निरभ्योः पूल्वोः ॥२।३।२६॥ निस् अभि इत्येवपूर्वाभ्या पू लू इत्येताभ्या यथासंख्यं घञ् भवति । पू इति सामान्येन ग्रहणम् । निष्पावः । अभिलावः । निरभ्योरिति किम् ? पवः । लवः ।

उन्न्योर्ग्रः ॥२।३।२७॥ उद नि इत्येवपूर्वात् गॄ इत्येतस्मात् घञ् भवति । गॄ इति सामान्येन ग्रहणम् । उद्गारः । निगारः ।

कॄ धान्ये ॥२।३।२८॥ उन्न्योरिति वर्तते । कॄ इत्येतस्माद्धोरुद्निपूर्वात् घञ् भवति धान्यविषये । उत्कारो धान्यस्य । निकारो धान्यस्य । धान्य इति किम् ? पुष्पोत्करः । पुष्पनिकरः ।

प्रे द्रुस्तुश्रुवः ॥२।३।२९॥ प्रशब्दे वाचि द्रु स्तु श्रु इत्येतेभ्यो घञ् भवति । प्रद्रावः । प्रस्तावः । प्रश्रावः । प्र इति किम् ? द्रवः ।

स्त्रोऽयज्ञे ॥२।३।३०॥ प्र इति वर्तते । प्रपूर्वात् स्तॄ इत्येतस्मात् घञ् भवति अयज्ञविषये । शाटक-प्रस्तारः । मणिप्रस्तारः । कथं ...प्रस्तारदर्भ (चि) प्रान्ते इदम् । अयज्ञ इति किम् ? बर्हिःप्रस्तरः । "छदुपस्युपसुदुस." [२।२।२८] इति घत्वम् ।

न्यायपरिणायपर्य्यायः ॥२।३।३६॥ न्यायादयः शब्दाः निपात्यन्ते। निपूर्वादिणः अभेषे घञ् निपात्यते। अभेषो युक्तकरणमकृत्वा वा। एषोऽत्र न्यायः। अभेष इति किम् ? न्यय गतश्चोरः। परिपूर्वात् नयतेर्द्यूतविषये घञ् निपात्यते। परिणायेन सारान् हन्ति। द्यूतविषयादन्यत्र परिणयः। परिपूर्वादिणः अनुपात्यये गम्यमाने घञ् निपात्यते। अनुपात्ययः क्रमप्राप्तस्यानतिवृत्तिः। तव पर्यायो भोक्तुम्। मम पर्यायो भोक्तुम्। अनुपात्यय इति किम् ? स्वाध्यायकालस्य पर्य्ययः। अतिक्रम इत्यर्थः।

व्युपे शीङोऽन्त्ये ॥२।३।३७॥ अन्त्य इति पूर्वसूत्रे विन्यासापेक्षया पर्यायोऽभिप्रेतः। वि उप इत्येतयोर्वाचोः शीङो घञ् भवति पर्याये गम्ये। तव विशायो मम विशायः। तव राजोपशायः। मम राजोपशायः। राजानमुपशाययितुमवसर इत्यर्थः। अन्त्य इति किम् ? विशयः। उपशयः।

हस्तादाने चेरस्तेये ॥२।३।३८॥ हस्तादाने गम्यमाने चिनोतेर्घञ् भवति न चेत्स्तेयं भवति। पुष्पप्रचायः। फलप्रचायः। हस्तादानशब्देन निकटस्य गुच्छादेर्ग्रहणं लक्ष्यते। हस्तादान इति किम् ? पुष्पप्रचयः। अस्तेय इति किम् ? पुष्पप्रचयं करोति चौर्येण।

निवासचितिशरीरोपसमाधाने चः कः ॥२।३।३९॥ चेरिति वर्तते। निवास चिति शरीर उपसमाधान इत्येतेष्वर्थेषु चिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च ककारः। निवासे—साधुनिकायः। उत्कृष्टनिकायः। अधिकरणे घञ्। चीयतेऽसौ चितिः। यज्ञे अग्निविशेषः। अकायमग्निं चिन्वीत। शरीरे—चीयते इति कायः। उपसमाधानमुपर्य्युपरि राशीकरणम्। महान् गोमयनिकायः। उपर्य्युपरीति विशेषणादिह न भवति। महान् काष्ठनिचयः। एतेष्विति किम् ? चेयः।

संघेऽनूर्ध्वे ॥२।३।४०॥ संघः प्राणिविशेषसमुदायः। अनूर्ध्वे संघे वाच्ये चिनोतेर्घञ् भवति चकारस्य च कत्वम्। निचीयते इति निकायः। साधुनिकायः। पण्डितनिकायः। प्राणिविशेषस्य संघस्य ग्रहणादिह न भवति। काष्ठचयः। पदसमुच्चयः। विशेषग्रहणं किम् ? प्राणिसमुच्चयः। सामान्येन समुदायोऽयम्। अनूर्ध्व इति किम् ? उपर्य्युपरि सूकरनिचयः।

आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः ॥२।३।४१॥ आक्रोशः शपनम्। अव नि इत्येतयोर्वाचोर्ग्रहेर्घञ् भवति आक्रोशे गम्ये। अवग्राहो ह ते वृषल भूयात्। निग्राहो ह ते वृषल भूयात्। आक्रोश इति किम् ? अवग्रहः पदस्य। निग्रहो दुष्टस्य।

प्रे लिप्सायाम् ॥२।३।४२॥ प्रशब्दे वाचि लिप्सायां गम्यमानायां ग्रहेर्घञ् भवति। प्रग्राहेण चरति भिक्षुः। पात्र प्रग्रह[illegible] लिप्सुर्भ्रमतीत्यर्थः। लिप्सायामिति किम् ? प्रग्रहो देवदत्तस्य रश्मा।

परौ यज्ञे ॥२।३।४३॥ परिपूर्वाद्ग्रहेर्घञ् भवति यज्ञविषये। उत्तरः परिग्राहः। यज्ञ इति किम् ? परिग्रहो देवदत्तस्य।

नौ वृर्धान्ये ॥२।३।४४॥ निशब्दे वाचि वृ इत्येतस्मात् घञ् भवति धान्यविशेषे वाच्ये। वृ इति वृङ्वृञोर्ग्रहणम्। नीवारा नाम व्रीहयो भवन्ति। धान्य इति किम् ? निव्रियत इति निवरा कन्या।

उदि पूद्रुयौतिश्रिञः ॥२।३।४५॥ उत्पूर्वेभ्यः पू द्रु यौति श्रिञ् इत्येतेभ्यो घञ् भवति। उत्पावः। उद्द्रावः। उद्यावः। उच्छ्रायः।

धाङि रुप्लुवोः ॥२।३।४६॥ आङ्पूर्वाभ्यां रु प्लु इत्येताभ्यां वा घञ् भवति। आरावः। आरवः। "गोरदः" [२।१।२१] इति नित्य घञ् प्राप्तः। आप्लावः। आप्लवः।

ग्रहोऽवे वर्षप्रतिबन्धे ॥२।३।४७॥ वेति वर्त्तते। अवशब्दे वाचि ग्रहेर्वा घञ् भवति वर्षप्रतिबन्धो गम्ये। अवग्राहो देवस्य। अवग्रहो देवस्य। वर्षप्रतिबन्ध इति किम् ? अवग्रहः पदस्य।

प्रे वणिजाम् ॥२।३।४८॥ वेति वर्तते। प्रशब्दे वाचि ग्रहेर्वा घञ् भवति समुदायेनाभिधेय वणिजा सम्बन्धि चेद्भवति। तुलाप्रग्राहेण चरति। तुलाप्रग्रहेण चरति। तुलासूत्रं गृहीत्वा वणिक् चेष्टते इत्यर्थः। वणिजामिति किम्? प्रग्रहो देवदत्तस्य।

रश्मौ ॥२।३।४९॥ प्र इति वेति च वर्तते। इह रश्मिशब्देन अश्वादिसंयमनरज्जुरेव गृह्यते। प्रशब्दे वाचि ग्रहेर्वा घञ् भवति समुदायेन रश्मावभिधेयायाम्। प्रगृह्यते इति प्रग्राहः। प्रग्रहः।

आच्छादने वृञः ॥२।३।५०॥ वेति वर्तते प्र इति च। प्रपूर्वाद्वृणोतेर्वा घञ् भवति आच्छादनविशेषे वाच्ये। प्रवृणोति त प्रावारः। प्रवरः। आच्छादन इति किम्? प्रवरः।

परौ भुवोऽवज्ञाने ॥२।३।५१॥ वेति वर्तते। अवज्ञानमवक्षेपः परिपूर्वाद्भू इत्येतस्माद्वा घञ् भवति अवज्ञाने वाच्ये। परिभावः। परिभवः। अवज्ञान इति किम्? सर्वतो भवः परिभवः।

स्वृग्रहवृदृगमोऽच् ॥२।३।५२॥ भावे अकर्तरीत्येवानुवर्तते। इवर्णान्तात् उवर्णान्तात् ऋवर्णान्तात् ग्रह वृ दृ गमि इत्येतेभ्यः वाजित्यय लो भवति। घञोऽपवादोऽयम्। चयः। जयः। रयः। रवः। लवः। करः। गरः। शरः। ग्रहः। वरः। आदरः। गमः। चकार "व्यजोऽग्रजचोः [१।४।१२८] इत्यत्र विशेषणार्थः। "अज्विधौ भयादीनामुपसङ्ख्यानं नपुंसके क्तादिनिवृत्त्यर्थम्" [वा०] भयम्। वर्षम्। "रणिवशिभ्यामज्वक्तव्यः" [वा०] रणः। वशः। "घजर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थं कर्तव्यम्" [वा०] प्रतिष्ठतेऽस्मिन् प्रस्थः। प्रस्नात्यस्मिन् प्रस्नः। प्रपिबन्त्यस्या प्रपा। आविध्यन्त्यनेन आविधम्। विहन्यतेऽनेनास्मिन्वा विघ्नः। आयुध्यन्तेऽनेनेति आयुधम्।

गावदः ॥२।३।५३॥ गिपूर्वाद् अदेरज् भवति। प्रादन प्रघसः। विघसः। सघस। "घस्लृलुङ्सन्सनक्षु" [१।४।१११] इति अदेर्घस्लादेशः। गाविति किम्? घासः। अस्मिन् प्रकरणे यत्रेषा गिर्निर्दिश्यते तत्र वाग्लक्षणः प्रादिलक्षणो वा सविधिः।

नौ णश्च ॥२।३।५४॥ निपूर्वाददेर्णो भवति अच्च। न्यादः। निघसः।

पणः परिमाणे ॥२।३।५५॥ पणेर्घञि णे वा नास्ति विशेषः इत्यारम्भसामर्थ्यादच एवानुवृत्तिः। पणः परिमाणे गम्यमाने अन् भवति। पण्यत इति पणः मूलकपणः। शाकपण। 'परिमाणाख्यायां सर्वेभ्य' [२।३।१६] इति घञ् प्राप्तः। परिमाण इति किम्? पाणः।

पशुष्वजः समुदोः ॥२।३।५६॥ सम उद् इत्येतयोर्वाचोरजेर्वारज भवति पशुविषये। समजः। पशूना समुदाय इत्यर्थः। उदजः। पशुनाममुच्चालनमित्यर्थः। पशुष्विति किम्? समाज साधूनाम। उदाजः शकुनीनाम्। "चजोः कुघिण्ण्यतोस्तेऽनिटः" [५।२।२६] कुत्व विधीयते अजेस्तु वीभावेन भवितव्यमित्यस्थत्वाद् विशेषण नास्तीति कुत्व न भवति।

ग्लहोऽक्षे ॥२।३।५७॥ ग्लह ग्रहणे इत्यस्मादज् भवति अक्षविषये। अक्षेषु ग्लहः। अक्ष इति किम्? ग्लाहः।

प्रजने सुः ॥२।३।५८॥ प्रजनो गर्भाधानम्। प्रजनविषये सृ इत्येतस्मादज् भवति। गवामुपसरः। गर्भाधानाय स्त्रीगवीषु वृषाणामुपसरणमित्यर्थः। एव पशूनामुपसरः। प्रजन इति किम्? उपसारः नौ

आङ्याजौ ॥३।३।६०॥ आजिः संग्रामः । आङ्पूर्वात् ह्वयतेराजावभिधेयायां ... । आहूयन्तेऽस्मिन्निति आहवः । आजाविति किम् ? आह्वायः ।

निपानमाहावः ॥३।३।६१॥ निपिबन्त्यस्मिन्निति निपानं जलस्थानम् । आहाव इति निपात्यते निपानं चेद्भवति । आङ्पूर्वस्य ह्वयतेरधिकरणे वृच् निपात्यते । आहूयन्तेऽस्मिन्निति आहावः पशूनाम् । निपानमिति किम् ? आह्वायः ।

भावेऽनुपसर्गस्य ॥३।३।६२॥ अनुपसर्गपूर्वस्य ह्वयतेर्भावे ... । हवः । अनुपसर्गस्येति किम् ? आह्वायः । कर्तरीत्यस्यानुप्रवेशो मा भूदिति पुनर्भावग्रहणम् ।

हनश्च वधः ॥३।३।६३॥ हन्तेरनुपसर्गपूर्वस्य भावे वधादेशो भवत्यप् । हननं वधः । चकारो ... यथार्थः । घातो वर्तते ।

व्यधजपोरनुपसर्गे ॥३।३।६४॥ अनुपसर्ग इति वर्तमाने पुनरनुपसर्गग्रहणं भावनिवृत्त्यर्थम् । तेन भावे अकर्तरीति द्वय सबध्यते । अनुपसर्गेभ्यो व्यध मद जप इत्येतेभ्यः अप् भवति । व्यधः । मदः । अनुपसर्ग इति किम् ? प्रव्याधः । उन्मादः । उपजापः ।

स्वनहसोर्वा ॥३।३।६५॥ अनुपसर्ग इति वर्तते । अनुपसर्गाभ्यां स्वन हस इत्येताभ्यामप् भवति वा । स्वनः । स्वानः । हसः । हासः । अनुपसर्ग इत्येव । प्रस्वानः । प्रहासः ।

यमः समुपनिविषु च ॥३।३।६६॥ यमेर्धातोः सम् नि वि उप इत्येतेषु वाऽनुपसर्गे च अप् भवति । वेति वर्तते । संयमः । संयामः । नियमः । नियामः । वियमः । वियामः । उपयमः । उपयामः । अनुपसर्गे-यमः । यामः ।

नौ गदनदपठस्वनः ॥३।३।६७॥ वेति वर्तते । निपूर्वेभ्यः गद नद पठ स्वन इत्येतेभ्यो वा अप् भवति । निगदः । निगादः । निनदः । निनादः । निपठः । निपाठः । निस्वनः । निस्वानः ।

क्वणो वीणायां च ॥३।३।६८॥ नौ वा अनुपसर्ग इति त्रय वर्तते । क्वणेर्धातोः निपूर्वादनुपसर्गपूर्वाच्च अवीणायां वीणायां च विषये अप् भवति । निक्वणः । निक्वाणः । अनुपसर्गे-क्वणः । क्वाणः । वीणाग्रहणं ... प्रापणार्थम् । कल्याणप्रक्वणा वीणा । कल्याणप्रक्वाणा वीणा । एतेष्विति किम् ? अतिक्वाणः ।

घनान्तर्घणप्रघणप्रघाणोद्घनापघनायोघनविघनद्रुघणस्तम्बघ्नस्तम्बघनपरिघोपघ्नसंघोद्घनिघप्रमदसम्मदाः ॥३।३।६९॥ घनादयः शब्दा निपात्यन्ते । हन्तेरच् घनभावश्च मूर्तावभिधेयायां निपात्यते । मूर्तिः काठिन्यम् । अभ्रघनः । दधिघनः । कर्मणि घन दधीति भवति । अन्तःशब्दपूर्वस्य हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते देशाभिधाने । अन्तर्हन्यतेऽस्मिन्निति अन्तर्घणो वाहीकेषु देशविशेषः । केचिन्नकारं पठन्ति । अन्तर्घातोऽन्यः । प्रपूर्वस्य हन्तेः अचि वृद्धि च घनभावो निपात्यते अगारैकदेशेऽभिधेये । प्रघणः । प्रघाणः । गृहद्वारदेश इत्यर्थः । प्रघातोऽन्यः । उत्पूर्वस्य हन्तेरधिकरणे घनभावोऽच्च निपात्यते अत्याधानं चेद्भवति । अत्याधीयतेऽस्मिन्नित्याधानम् । यत्र काष्ठानि लोहानि चाहन्यन्ते तदुच्यते । ऊर्ध्वं हन्यतेऽस्मिन्नुद्घनः । उद्घातोऽन्यः । अपघन इति निपात्यते अङ्गं चेद्भवति । अपघातोऽन्यः । अयोघनः । द्रुघणः स्तम्बघ्नः स्तम्बघनः परिघ इत्येते करणे कारके अजन्ता निपात्यन्ते । द्रुघणे केचिन्नकारं पठन्ति । स्तम्बघ्ने कमात् निपात्यते । परिपूर्वस्य हन्तेर्घभावश्च निपात्यः । उपपूर्वात् हन्तेराश्रयेऽभिधेये को निपात्यते । गुरूपघ्नः । पर्वतोपघ्नः । उपघातोऽन्यः । सम्पूर्वस्य हन्तेर्घभावोऽच्च निपात्यते गणश्चेद्भवति । गणः प्राणि-समुदाय एव । पशूनां संघः । अन्यत्र संघातः । उत्पूर्वस्य हन्तेर्घादेशोऽच्च निपात्यते प्रशंसायाम् । उद्घो मनुष्यः । उद्घातोऽन्यः । निघ इति निपात्यते निमितेऽर्थे । समन्तादारोहपरिणाहाभ्यां मितं तुल्यं निमितम् । निघाः शालयः । निघातोऽन्यः । प्रमदसम्मदौ हर्षेऽभिधेये । अन्यत्र प्रमादः । सम्मादः ।

ज्योतिषि । तार्षिरन्या । एषि कृते दीलमनयोर्निपातनात् । वपा मेदोविशेषे । उप्तिरन्या । वशा शरीरगतस्नेहे । उष्टिरन्या । मृजा शरीरसंस्कारे । मृष्टिरन्या । धारा वर्षप्रपाते । धृतिरन्या । निपातनादालम् । "क्रपेर्जिश्च" [वा०] कृपा । गोधा । हारा । रेखा । लेखा । निपातनादेप् । चूडा । पीडा ।

चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चः ॥२।३।८७॥ चिन्त्यादिभ्यो धुभ्यः स्त्रियामङ् भवति । युचोऽपवादोऽयम् । चिन्ता । पूजा । कथा । कुम्भा । चर्चा ।

आतो गौ ॥२।३।८८॥ आकारान्तेभ्यो धुभ्यो गौवाचि अङ् भवति । क्तेरपवादः । प्रदा । प्रभा । प्रपिबन्त्यस्यां प्रपा । पिबतेर्भावे क्तिर्विहितः । "प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो णः" [४।१।२८] 'तिरोऽन्तर्द्धौ' [१।२।१४०] इति प्रयोगात् श्रदन्तरोर्गिवद्वृत्तिः । श्रद्धा । अन्तर्धा ।

ण्यासश्रन्थिघट्टिवन्दिविदो युच् ॥२।३।८९॥ ण्यन्तेभ्यः आस श्रन्थि घट्टि वन्दि विद् इत्येतेभ्यो धुभ्यः स्त्रियां युज् भवति । ण्यन्तात् "अस्त्यात्" [२।३।८४] इति इतरेभ्यः "सरोर्हल" [२।३।८५] इत्यकारः प्राप्तः । विदेः क्तिः प्राप्तः । कारणा । गणना । कामना । आसना । श्रन्थना । घट्टना । वन्दना । वेदना । अनुभवे वेदनाप्रष्टव्या । "इषोऽनिच्छार्थां युज् वक्तव्यः" [वा०] अन्वेषणा । "परेर्वा" [वा०] पर्येषणा । परीष्टिः । "युङ्व्या बहुलम्" [२।३।९४] इति वा भविष्यति । व्याना स्त्रीत्वाः अनासना इत्युक्तम् । तेन आस्या उपास्या ।

खौ विभाषा वुण् ॥२।३।९०॥ खुविषये विभाषया वुण् भवति धोः । क्त्यादीनामपवादः । प्रच्छर्दिका । प्रवाहिका । विचर्चिका । एता रोगसंज्ञाः । उद्दालकपुष्पभञ्जिका । वारणपुष्पप्रचायिका । अभ्योषखादिका । शालभञ्जिका । एताः क्रीडासंज्ञाकाः । कृल्लक्षणा कर्मणि ता । "क्रीडाजीविकयोर्नित्यम्" [१।३।८०] इति नित्यः सविधिः । उद्दालकपुष्पाणि भज्यन्ते यस्यां क्रीडायां इत्येवमादिरस्वपदविग्रहो बोद्धव्यः । विभाषाग्रहणादिह न भवति शीर्षर्त्तिः शीर्षाभितप्तिः । शिरोऽर्तिः । "धावृति गे" [४।३।७३] इत्येष भवितव्यमिति चेत्, न, अर्द हिंसायामित्यस्य प्रयोगः । चन्दनतक्षिका । क्रीडेयम् । विभाषाग्रहणादखनिर्देशेऽपि वुण् भवति । आसिका । शायिका वर्तते ।

वेञ् प्रश्नाख्याने ॥२।३।९१॥ प्रश्ने आख्याने च गम्यमाने धोरिञ् भवति वुण् च वा । कां त्वं कारिमकार्षीः कां कारिकां वा । वचनाद्यथाप्राप्तं च भवति । कां क्रियां कां कृत्यां कां कृतिम् । आख्याने सर्वां कारिमकार्षं सर्वां कारिकां सर्वां क्रियां सर्वां कृत्यां सर्वां कृतिम् । कां त्वं गणिमजीगणः कां गणिकां वा गणनाम् । सर्वां गणिर्मया गणिता । सर्वां गणिका सर्वां गणना । कां त्वं पाठिमपाठीः कां पाठिकां कां पठितिम् । सर्वा मया पाठिः पठिता सर्वा पाठिका सर्वा पठितिः । प्रश्नाख्यान इति किम् ? कृतिः ।

पर्यायार्हर्णोत्पत्तौ वुण् ॥२।३।९२॥ पर्याय अर्ह ऋण उत्पत्ति इत्येते ष्वर्थेषु गम्यमानेषु धोर्वुण् भवति स्त्रियाम् । पर्यायोऽनुक्रमः तस्मिन् । भवतः शायिका । भवतोऽग्रगामिका । "कर्तृकर्मणो कृति" [१।४।६८] इति कर्तरि ता । "तृजकाभ्याम्" [१।३।७८] इति तासप्रतिषेधः । अर्हणम् योग्यता । तत्र अर्हति भवानिक्षुभक्षिकाम् । ओदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् । "तृजकाभ्याम्" [१।३।७८] इत्यत्र कर्त्तरीत्यनुवर्तनात् कर्मणि या ता तत्र "कृति" [१।३।७१] इत्यनेन तासः । ऋणं य त्तस्य धा ... । तत्र इक्षुभक्षिका मे धारयसि । ओदनभोजिकाम् । पयःपायिकाम् । उत्पत्तौ-इक्षुभक्षिका मे उदपादि । ओदनभोजिका । पयःपायिका । विभाषानुवर्तनात् क्वचिन्न भवति । चिकीर्षा मे उदपादि । आ... मे उदपादि ।

आक्रोशे नञ्यनिः ॥२।३।९३॥ आक्रोशे गम्यमाने नञि वाचि धोरनिस्त्यो भवति। क्त्यादीनामपवादः। अकरणिस्ते वृषल भूयात्। अप्रयाणिस्ते वृषल भूयात्। आक्रोश इति किम्? अकृतिस्तस्य पटस्य¹। नञीति किम्? मृतिस्ते वृषल भूयात्।

युड्ल्या बहुलम् ॥२।३।९४॥ भावे अकर्तरि स्त्रियामिति च निवृत्तम्। युड्ल्युतुगाश्च बहुल भवन्ति। भावकरणाधिकरणेषु युड् विहितोऽन्यत्रापि भवति। निरदन्ति तदिति निरदनम्। अवसेचनम्। अवस्रावणम्। राज्ञा भुज्यन्ते राजभोजनाः शालयः। क्षत्रियपानं मधु। राजाच्छादनानि वस्त्राणि। प्रयतते तस्मात् प्रयतनम्। प्रस्कन्दनम्। प्रच्छर्दनम्। भावकर्मणोर्ल्या उक्तास्ततोऽन्यत्रापि भवन्ति। स्नान्ति तेन स्नानीयं चूर्णम्। दीयतेऽस्मै दानीयोऽतिथिः। ज्ञानमावृणोति आव्रियते वानेन ज्ञानावरणीयम्। दर्शनावरणीयम्। वेदनीयम्। मोहनीयम्। बहुलवचनादन्येऽपि कृतः उक्तादन्यत्र भवन्ति। गले चोप्यते गलचोपकः। पादाभ्या ह्रियते पादहारकः।

नप् भावे क्तः ॥२।३।९५॥ नबिति ङित्वं कृत्वा निर्देशः। नपि नपुंसकलिङ्गे भावे क्तो भवति। नपुसकलिङ्गे भावे क्तादि-घञ्चोरपवादः। हसित छात्रस्य शोभनम्। जल्पितम्। आसितम्। शयितम्। येषा घञजन्ताना नपुसक-निवृत्त्यर्थं भयादीनामज् वक्तव्य इत्युक्तम्। तेन भय वर्षमित्यादौ क्तो युर्न भवति। त्वमिष्ट तेऽर्द्धर्चादिषु द्रष्टव्याः।

ञिन्नभिविधौ ॥२।३।९६॥ नब्भावे इति वर्तते। अभिविधिः क्रियागुणाभ्यां कार्त्स्न्येन व्याप्तिः। नपि भावे धोर्ञिन् भवति अभिविधौ गम्यमाने। क्तस्यायमपवादः। साङ्कूटिन सामार्जिन साराविण सान्द्राविण वर्तते। "ञिनोऽण्" [४।२।२१] इति स्वार्थिकोऽण् "नो पुंसोऽद्धति" [४।४।१३०] इति टिख प्राप्तं "प्रायोऽनपत्येऽणीनः" [४।४।१२२] इति न भवति। मध्येऽपवादोऽय युटं न बाधते। संकुटनं समार्जनम्। अभिविधाविति किम्? सरावः।

युट् ॥२।३।९७॥ नब्भाव इति वर्तते। नपि भावे युड् भवति धोः। हसनं छात्रस्य शोभनम्। जल्पनम्। आसनम्। शयनम्।

कर्मणि यत्स्पर्शात्कर्त्रङ्गसुखम् ॥२।३।९८॥ युड् नब्भाव इति च वर्त्तते। येन सस्पर्शात् कर्त्रङ्गस्य सुखं भवति तस्मिन् कर्मणि वाचि नपुसकलिङ्गे भावे युड् भवति। ओदनभोजनं सुखम्। पयःपानम्। चन्दनानुलेपनम्। पूर्वेण सिद्धेऽपि नित्यसविध्यर्थ आरम्भः। कर्मणीति किम्? तूलिकाया उत्थानम्। युडत्र पूर्वेण सिद्धः। सविधिस्तु न भवति। यत्स्पर्शादिति किम्? अग्निकुण्डस्योपासनं सुखम्। युट् पूर्वेण। पाक्षिक. सविधि.। कर्तरीति किम्? गुरोः स्नापन सुखम्। नात्र स्नापयतेः कर्तुः शरीरसुखं किं तर्हि गुरोः कर्मणः। अङ्गग्रहण किम्? पुत्रस्य परिष्वञ्जनं सुखम्। मानसमिदम्। अन्यथा परपुत्रपरिष्वञ्जनेऽपि स्यात्। सुखमिति किम्? कण्टकाना मर्दनम्।

करणाधिकरणयोः ॥२।३।९९॥ करणेऽधिकरणे च कारकेऽभिधेये युड् भवति। घञाद्यपवादः। करणे—इध्मव्रश्चनः। पलाशशातनः। अविलवनः। कर्मणि ता। कृतीति तासः। अधिकरणे गोदोहनी। शक्तुधानी। तिलपीडनी। परत्वात् क्त्यादिक स्त्रीत्व बाधते।

पुंखौ घः प्रायेण ॥२।३।१००॥ करणाधिकरणयोरिति वर्तते। पुल्लिङ्गसंज्ञाया गम्यमानाया धोर्घो भवति प्रायेण। घकारः "छादेर्घे" [४।४।९०] इत्यत्र विशेषणार्थः। प्रच्छदः। उरश्छदः। प्लवः। आखनः। अधिकरणे—एत्य कुर्वन्त्यस्मिन्नाकरः। आलवः। आपवः। पुंग्रहण किम्? प्रधानम्। विचयनी।

---

१. घटस्य ब०, व०, स०।

नपुंसकलिंगा स्त्रीलिंगा चेयं संज्ञा। खाविति किम्? हरणो दण्डः। प्रायेणेति किम्? क्वचिन्न भवति। प्रसाधनः। दोहनः।

तृस्त्रोऽवे घञ् ॥२।३।१०१॥ तृ स्तृ इत्येताभ्यामवशब्दे वाचि घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुंखौ। अवतारः। अवस्तारः। कथमसंज्ञायामवतारो नद्या इति? चिन्त्यमेतत्।

हलः ॥२।३।१०२॥ हलन्ताद्धोर्घञ् भवति करणाधिकरणयोः पुंखौ। घापवादोऽयम्। वेदः। नेगः। वेशः[1]। गन्धः। सङ्गः। विषङ्गः। तैलोदकम्। घृतोदकम्। नास्त्यत्र घञि घे वा विशेषः। इमानि तर्ह्युदाहरणानि। खेलः। निमार्गः। अपामार्गः। प्रासादः। आखानः। प्रायेणेत्यनुवर्तनात् हलन्तेभ्यः केभ्यश्चित् घञ् न भवति घ एव भवति। अधिकरणे—कषः। निकषः। निगमः। गोचरः। आपणः। करणे—सचरः। वहः। व्रजः। इह व्यजन्त्यसिन्निति व्यजः। घे कृते "बहुलं खौ" [१।४।१२१] इति बहुलवचनादजेर्वीभावो न भवति। इह उदकोदञ्चनः। दोहनः। प्रसाधन इति घघञौ न भवतः। आखनः आखानः इत्यत्रोभयं भवति।

संहारोद्यावानायावहारावायाः ॥२।३।१०३॥ संहारादयः शब्दा घञि निपात्यन्ते पुंखौ। अहलन्तत्वात् पूर्वेणाप्राप्तिः। संहरति तेन संहारः। करणेऽधिकरणे वा उद्यावः। आनयन्ति तेन आनायो जाल चेत्। अवहरन्ति तेन अवहारः। एत्य तस्मिन् वयन्ति आवायः। "अध्यायानुवाकयोर्वोप्" [४।१।६४] "आधारोऽधिकरणः" [१।२।११६] इति ज्ञापकात् उञ्छादिषु न्यायशब्दस्य निर्देशात् अधीयते अनेनाध्यायः। आध्रियते अस्मिन् आधारः। नीयतेऽनेन न्यायः। एतेऽपि शब्दाः साधवः।

स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे खः ॥२।३।१०४॥ सु ईषत् दुस् इत्येतेषु वाक्षु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे खो भवति धोः। कृच्छ्राकृच्छ्रग्रहणं स्वादिविशेषणम्। सुकरः कटो भवता। ईषत्करः कटो भवता। दुष्करः कटो भवता। "तयोर्व्यक्तखार्थाः" [२।४।५५] इति कर्मणि खः। "न भित" [१।४।७२] इत्यादिना ताप्रतिषेधः। भित्वात्पूर्वपदस्य मुम्न भवति। कृच्छ्राकृच्छ्र इति किम्? ईषत्कार्यः। मनाक्कार्य इत्यर्थः।

कर्तृकर्मणोर्भूकृञ्भ्याम् ॥२।३।१०५॥ स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्रे ख इति वर्तते। कृञ्ग्रहणसामर्थ्यात् कर्तृकर्मग्रहणं वाग्विशेषणम्। कर्तरि कर्मणि च वाचि भू कृञ् इत्येताभ्यां यथासंख्यं खो भवति सु ईषत् दुस् इत्येतेषु वाक्षु कृच्छ्रे अकृच्छ्रे चार्थे। त्यस्य खित्करणं मुमर्थमिति पूर्वं कर्तृकर्मभ्यां योगः पश्चात्स्वादिभिः। प्रायेणेत्यनुवर्तनात् कर्तृकर्मणोश्च्व्यर्थयोर्ग्रहणम्। अनाढ्येन सुखमाढ्येन भूयते स्वाढ्यंभवं भवता। ईषदाढ्यंभवं भवता। दुराढ्यंभवं भवता। सुखमनाढ्यमाढ्यं क्रियते। स्वाढ्यंकरो देवदत्तो भवता। ईषदाढ्यङ्करः। सूत्रन्यासे परत्वात्कर्तृकर्मणो वाक्त्वं कृत्वा पश्चात्पूर्वस्य क्रियते। च्व्यर्थयोरिति किम्? स्वाढ्येन भूयते। स्वाढ्येन क्रियते। यदा करोतिर्विकारार्थः तदा मुकुटकराणि वीरणानि। यदा निष्पत्तिवचना तदा सुकरः कटो वीरणैरिति।

युजातः ॥२।३।१०६॥ स्वीषद्दुसि कृच्छ्राकृच्छ्र इति वर्तते। आकारान्तेभ्यो धुभ्यो युज् भवति स्वादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु वाक्षु। सुपानं पयो भवता। ईषत्पानम्। दुष्पानम्। सुग्लानम्। ईषद्ग्लानम्। दुर्ग्लानम्। खापवादोऽयम्। प्रायेणेति वर्तते। तेन "दुःशब्दे वाचि शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यः युज् भवति" [वा०]। दुःशासनः। दुर्योधनः। दुर्दर्शनः। दुर्धर्षणः। दुर्मर्षणः। सुशासनादिषु च्नो द्रष्टव्यः।

---

1. वेट. ष०, व० स०।

भवद्वद्वा तत्सामीप्ये ॥२।३।१०७॥ भवच्छब्दो वर्तमानपर्यायः । समीपमेव सामीप्यम् । भवतीव त्यविधिर्भवति वा तत्समीपे भूते भविष्यति च ध्वर्थे वर्तमानाद्धोः । गमप्रतीत्यादय आ पादपरिसमाप्तेर्विहितास्ता अतिदिश्यन्ते । कदा देवदत्त आगतोऽसि । एष आगच्छामि । आगच्छन्तमेव मा विद्धि । एष आगमनुकोऽस्मि । वावचनाद्यथाप्राप्तम् । एष आगतोऽस्मि । कदा देवदत्त गमिष्यसि । एष गच्छामि । गच्छन्तमेव मा विद्धि । गन्तारमेव मा विद्धि । पक्षे एष गमिष्यामि । एषोऽस्मि गन्ता । वत्करणं किमर्थम् ? प्रकृतिविशेषादिपरिग्रहार्थम् । तत्सामीप्यग्रहणं व्यवहितनिरासार्थम् । कदा ग्राममगच्छन् । श्वः करिष्यति । इह मा भूत् । नन्वत्र लुटा भवितव्य कथ लृट् ? पदसस्कारवेलाया श्वःप्रभृतिपदानामसंनिधानाददोष. ।

भूतवच्चाशंसायाम् ॥२।३।१०८॥ आशंसनमाशंसा भविष्यत्कालविषया, तस्यां गम्यमानायां भूतवत्त्यविधिर्भवति भवद्वच्च वा । भूतग्रहणेन भूतसामान्ये विहितस्य त्यस्य परिग्रहः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति उपाध्यायश्चेदागमत् उपाध्यायश्चेदागतः तदा तर्कमधीमहे अध्येष्यामहे अध्यगीष्महि एषोऽधीतस्तर्कः । आशंसायामिति किम् ? उपाध्याय आगमिष्यति ।

क्षिप्रवचने लृट् ॥२।३।१०९॥ आशंसायामिति वर्तते । क्षिप्रार्थे शब्दे वाचि लृट् भवत्याशंसायां गम्यमानायाम् । भूतवच्चेत्यस्यापवादः । उपाध्यायश्चेदागमिष्यति क्षिप्रमध्येष्यामहे शीघ्रमध्येष्यामहे । नेति वक्तव्ये लृट्ग्रहणं लुट्विषयेऽपि यथा स्यात् इत्येवमर्थम् । श्वः क्षिप्रमध्येष्यामहे ।

लिङाशंसोक्तौ ॥२।३।११०॥ आशंसा उच्यते येन शब्देन तस्मिन् वाचि लिङ् भवत्याशंसायां गम्यमानायाम् । अयमपि भूतवच्चेत्यस्यापवादः । उपाध्यायश्चेदागच्छेत् आशंसे युक्तोऽधीयीय । अवकल्पये युक्तोऽधीयीय । परत्वाल्लृटो बाधकोऽयम् । आशंसे क्षिप्रमधीयीय ।

न लङ्लुट् सामीप्याव्युच्छित्त्योः ॥२।३।१११॥ सामीप्य तुल्यजातीयेनाव्यवधानम् । अव्युच्छित्तिः क्रियाप्रबन्ध । लङ्लुटौ न भवत. सामीप्याव्युच्छित्त्यो गम्यमानयोः । अनद्यतनविहितयोर्लङ्लुटोरय प्रतिषेधः । सामीप्ये—येय पौर्णमास्यतिक्रान्ता एतस्यां देवानपूपुजामः । अतिथीनबूभुजामः । येयममावास्यागामिनी एतस्यां देवान् पूजयिष्याम' अतिथीन् भोजयिष्यामः । अव्युच्छित्तौ—यावदजीवीत् भृशमन्नमदात् । यावज्जीविष्यति भृशमन्न दास्यति ।

वर्त्स्यत्यवरेऽवधेः ॥२।३।११२॥ यद्यपि लङ्लुडिति प्रकृतम्; तथापीह वर्त्स्यद्ग्रहणाल्लुट एव प्रतिषेध. । वर्त्स्यतिकाले अवरस्मिन् भागे लुण्न भवति । असामीप्याव्युच्छित्त्यर्थोऽयमारम्भः । कालविभाग उत्तरत्र वक्ष्यते । देशविभागेऽय प्रतिषेधः । योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यदवरं मथुरायाः तत्र द्विरोदन भोक्ष्यामहे द्वि सक्तून्पास्याम. । वर्त्स्यतीति किम् ? योऽयमध्वागत आ चित्रकूटात् तस्य यदवर मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्यैमहि । अवर इति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्य आ चित्रकूटात् तस्य यत्पर मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्येतास्महे । अवधेरिति किम् ? योऽयमध्वा गन्तव्यो निरवधिकः तस्य यदवर मथुरायास्तत्र युक्ता द्विरध्येतास्महे ।

कालविभागेऽनहोरात्राणाम् ॥२।३।११३॥ वर्त्स्यत्यवरेऽवधेरिति वर्तते । वर्त्स्यतिकाले अवरस्मिन्कालविभागेऽहोरात्रसबन्धविवर्जिते लुण्न भवति । पूर्वेण प्रतिषेधे सिद्धेऽप्यहोरात्रसबन्धिविभागप्रतिषेधार्थ वचनम् । कालविभागग्रहणमिहार्थमुत्तरार्थं च । योऽय संवत्सर आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्रार्हत्पूजा करिष्यामहे अतिथिभ्यो दान दास्यामहे । वर्त्स्यतीत्येव । योऽय संवत्सरोऽतीतस्तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता द्विरध्यैमहि । अवर इति किम् ? "वा परे" [२।३।११४] इति वक्ष्यति । अवधेरित्येव । योऽय निरवधिकः काल आगामी तस्य यदवरमाग्रहायण्यास्तत्र युक्ता द्विरध्येतास्महे । अनहोरात्राणामिति किम् ? योऽय त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र युक्ता द्विरध्येतास्महे । योऽय त्रिंशद्रात्र अमीस्यागत

योऽवरोऽर्द्धमासस्तत्र द्विरध्येतास्महे। योऽयं मास आगामी तस्य योऽवरः पञ्चदशरात्रस्तत्र द्विरध्येतास्महे। प्रसज्य [इति] प्रतिषेधात् त्रिविधमुदाहरणम्।

वा परे ॥२।३।११४॥ कालविभाग इति वर्तते। परस्मिन्नवधेः कालविभागे वर्त्स्यति लुण्न भवति न चेदहोरात्राणां विभागः। योऽयं सवत्सरः आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येष्यामहे अध्येतास्महे वा। सामीप्याव्युच्छित्तिविवक्षायामपि परत्वादयं विकल्पः। अनहोरात्राणामित्येव। योऽयं त्रिंशद्रात्र आगामी तस्य यः परः पञ्चदशरात्रः तत्र द्विरध्येतास्महे। सामीप्याव्युच्छित्त्योर्लुटः प्रतिषेध एव। वर्त्स्यतीत्येव। योऽयं सवत्सरोऽतीतः तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्यैमहि। अवधेरित्येव। योऽयं निरवधिः काल आगामी तस्य यत्परमाग्रहायण्यास्तत्र द्विरध्येतास्महे। कालविभाग इत्येव। योऽयमध्वा गन्तव्यः आ चित्रकूटात् तस्य यत्परं मथुरायास्तत्र द्विरध्येतास्महे। सर्वत्र लुड् भवति न चेदव्युच्छित्तिविवक्षा।

लिङ्हेतौ लृङ् क्रियाऽवृत्तौ ॥२।३।११५॥ वर्त्स्यतीति वर्तते। हेतुर्निमित्तम्। लिङ्हेतौ वर्त्स्यति काले लृङ् भवति क्रियाया अवृत्तौ सत्याम् "हेतुफलयोर्लिङ्" [२।३।१३२] इत्येवमादि लिङ्निमित्तं वक्ष्यति। अतिथींश्चेदलिप्स्यत भृशमन्नमदास्यत्। अत्रान्नदानं फलं तद्धेतुभूतोऽतिथिलाभः तदनभिनिर्वृत्तिं प्रमाणादवगम्येदं वाक्यं प्रयुक्तम्। एवमुपाध्याय चेदुपासिष्यत शास्त्रान्तमगमिष्यत्। अभोक्ष्यत भवान् दध्ना यदि मत्समीपे आसिष्यत। इह दक्षिणेन चेदयास्यत् न पर्य्याभविष्यदिति यानमनिष्पन्नं पर्याभवनं तु निष्पन्नमिति कथमवृत्तिः क्रियायाः। एवं तर्हि प्रत्यासत्तेर्हेतुभूतायाः क्रियाया अवृत्ताविति द्रष्टव्यम्। क्रियायाः अवृत्तावपि शक्तिरूपेण क्रियामध्यारोप्य कर्तृत्वेनाभिसम्बन्धः क्रियते यथा भूतभविष्यत्कालविषयायाः कर्तृत्वेनाभिसंबन्धः।

भूते ॥२।३।११६॥ भूते च काले लिङ्हेतौ क्रियाया अवृत्तौ सत्यां लृङ् भवति। "उताप्योः पृष्टोक्तौ लिङ्" [२।३।१२८] इत्यतः प्रभृति कालसामान्ये यल्लिङ्निमित्तं विधानं तत्रानेन भूते लृङ्। ततः पूर्वं तु "वाऽशेषात्" [२।३।११७] इत्येनेनैव विकल्पः सिद्धः। दृष्टो मया भवतः पुत्रोऽन्नार्थी चङ्क्रम्यमाणः। इतरश्चातिथ्यर्थी यदि तेन दृष्टोऽभविष्यत् उताभोक्ष्यत। अप्यभोक्ष्यत अन्येन यथा स गतः नापि भुक्तवान्। इदं सर्वं प्रतिवचनम्।

वाऽशेषात् २।३।११७॥ वक्ष्यति "शेषेऽयदौ लृट्" [२।३।१२७] इति आ एतस्मात्सूत्रावधेः यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः भूते काले लिङ्हेतौ क्रियायाः अवृत्तौ लृङ् वा भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। परस्तु लृङो विधिर्नित्य इति तत्रैवोदाहरिष्यामः।

लड् गर्हेऽपिजात्वोः ॥२।३।११८॥ अपि जातु इत्येतयोर्वाचोः लड् भवति गर्हे गम्यमाने। अयं कालसामान्ये विहितो लट् कालविशेषे विहितान् लकारान् परत्वाद्बाधते। अपि तत्रभवान् प्राणिनो हन्ति। जातु तत्रभवान् प्राणिनो हन्ति। गर्हामहे। अन्याय्यमेतत्। लिङ्हेत्वभावात् भूते क्रियाऽवृत्तौ लृङ् न भवति।

वा कथमि लिङ् च ॥२।३।११९॥ गर्ह इति वर्तते। कथंशब्दे वाचि लिङ् भवति लट् च। कथं नाम तत्र भवान् मांसं भक्षयेत्। मांसं भक्षयति। गर्हामहे। अन्याय्यमेतत्। वावचनात् यथाप्राप्तम्। अबभक्षत्। अभक्षयत्। भक्षयाञ्चकार। भक्षयिष्यति। भक्षयिता। अत्र लिङ्हेतुरस्तीति भूते क्रियाऽवृत्तौ वा लृङ् भवति। अभक्षयिष्यत्। वर्त्स्यति नित्यं लृट्।

किंवृत्ते लिङ्लृटौ ॥२।३।१२०॥ गर्ह इति वर्तते। वेति नानुवर्तते। विभक्त्यन्तस्य उतरडतमान्तस्य च किमो वर्तनं किंवृत्तम्। किंवृत्ते वाचि गर्हे गम्यमाने लिङ्लृटौ भवतः। सर्वलकाराणामपवादः। कि तत्रभवान् अनृतं ब्रूयात्। अनृतं वदति। लिङ्हेतुरस्तीति भूते वा लृङ् भवति। वर्त्स्यति तु नित्यं।

अनवक्लृप्त्यमर्षे ॥२।३।१२१॥ गर्हे इति निवृत्तम्। लिङ्लृटाविति वर्तते। अनवक्लृप्तावमर्षे च मर्षे च गम्यमाने लिङ्लृट् इत्येतौ त्यौ भवतः। अयमपि सर्वलकाराणामपवादः। अनवक्लृप्तौ नावकल्पयामि न सभावयामि न वा श्रद्दधे कि तत्र भवानदत्त गृह्णीयात् अदत्त गहीष्यति। अमर्षे। धिङ् मिथ्या नेतदस्त्यमर्षो मे कि तत्रभवानदत्त गृह्णीयात् अदत्त गहीष्यति। किवृत्तेऽकिवृत्ते च वाच्चि सामान्येनाय विधिः। लिङ्हेतुरस्तीति भूते क्रियावृत्तौ वा लृङ्। वर्त्स्यति तु नित्यः।

किकिलास्त्यर्थे लृट् ॥२।३।१२२॥ अनवक्लृप्त्यमर्षे इति वर्तते। किकिलशब्दे अस्त्यर्थेषु च शब्देषु वाच्चु अनवक्लृप्त्यमर्षयोर्लृट् भवति। लिङोऽपवादः। नावकल्पयामि किकिल तत्र भवान् परदारान् प्रकरिष्यते। गधनादिसूत्रेणान्याये दः। अस्त्यर्था अस्तिभवतिविद्यतयः। अस्ति नाम भवति नाम विद्यते नाम तत्रभवान् परदारान् प्रकरिष्यते।

जातुयद्यदायदौ लिङ् ॥२।३।१२३॥ अनवक्लृप्त्यमर्षे इति वर्तते। जातुयद्यदायदीत्येतेषु वाच्चु अनवक्लृप्त्यमर्षयोर्लिङ् भवति। लृटोऽपवादः। नावकल्पयामि जातु तत्रभवान् सुरा पिबेत्, यत्तत्रभवान् सुरा पिबेत्, यदा तत्रभवान् सुरा पिबेत्, यदि तत्रभवान् सुरा पिबेत्। न मृष्यामि जातु तत्रभवान् सुरा पिबेत् इत्येवमादि योज्यम्। लिङ्हेतुरस्तीति भूते वा लृङ्। वर्त्स्यति तु नित्यः।

यच्चयत्रयोः ॥२।३।१२४॥ अनवक्लृप्त्यमर्षे इति वर्तते। यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचोरनवक्लृप्त्यमर्षयोर्लिङ् भवति। लृटोऽपवादः। उत्तरार्थो योगविभाग। न सभावयामि यच्च तत्रभवान् परिवाद कथयेत्। न मृष्यामि यच्च तत्रभवान् परिवादं कथयेत्। यत्र तत्रभवान् परिवाद कथयेत्। क्रियाऽवृत्तौ भूते वा लृङ्। वर्त्स्यति तु नित्यः।

गर्हे ॥२।३।१२५॥ अनवक्लृप्त्यमर्ष इति निवृत्तम्। अर्थान्तरोपादानात्। यच्च यत्र इत्येतयोर्वाचोर्गर्हे गम्यमाने लिङ् भवति। सर्वलकाराणामपवादः। यच्च तत्रभवान् अस्मानाक्रोशेत् विद्वान् वृद्धः सन्नुत्कृष्टः। गर्हामहे। अन्याय्यमेतत्। लिङ्हेतुरस्तीति यथासभव लृङ् वेदितव्यः।

चित्रार्थे ॥२।३।१२६॥ चित्रशब्दस्यार्थे गम्यमाने यच्चयत्रयोर्वाचोर्लिङ् भवति। सर्वलकारापवादः। यच्च तत्रभवान् लोभ कुर्यात् यत्र तत्रभवान् लोभ कुर्यात् विद्वान् वृद्धः सन्नुत्कृष्टः। चित्रमाश्चर्यमद्भुत विस्मयमित्येषामन्यतमप्रयोगः। लिङहेतुरस्तीति भूते क्रियाऽवृत्तौ[1] वा। वर्त्स्यति तु नित्यः।

शेषेऽयदौ लृट् ॥२।३।१२७॥ यच्चयत्राभ्यामन्यश्चित्रार्थः शेषः। शेषे चित्रार्थे गम्यमाने लृड भवति यदिशब्दश्चेद्वाङ् न भवति। अयमपि सर्वलकारापवादः। चित्रमाश्चर्य्यमद्भुत विस्मयमित्ययमन्धो नाम पुस्तक वाचयिष्यति मूको नाम जैनेन्द्रमध्येष्यते। लिङ्हेत्वभावात् लृङ् वा न भवति। अयदाविति किम्? आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत। अत्रानवक्लृप्तिश्चित्रार्थश्च प्रतीयते। "जातुयद्यदायदौ लिङ्" [२।३।१२३] इति लिङ्भूते "वाऽशेषाद्" [२।३।११७] इति लृङधिकारो निवृत्तः।

उताप्योः पृष्टोक्तौ लिङ् ॥२।३।१२८॥ उत अपि इत्येतयोर्वाचोः पृष्टस्योक्तौ गम्यमानाया लिङ भवति। सर्वलकारापवाद.। किमकार्षी. कट देवदत्त। इति पृष्टः प्रत्याह उत कुर्यात्। अपि कुर्यात्। कटं कृतवानित्यर्थः। इतः प्रभृति यत्र लिङ्हेतुरस्ति तत्र वर्त्स्यति भूते च नित्यो लृङ्। उताकरिष्यत्। अप्याकरिष्यत्। पृष्टोक्ताविति किम्? उत दण्डः पतिष्यति। अपि धास्यति द्वारम्। अत्र प्रश्नोद्घट्टन च प्रतीयते।

इच्छोद्बोधेऽकच्चिति ॥२।३।१२९॥ इच्छोद्बोधः स्वाभिप्रायनिवेदनम्। इच्छोद्बोधे गम्यमाने लिङ् भवति कच्चिच्छब्दाप्रयोगे। सर्वलकारापवाद.। कामो मे अधीयीत भवान्। अभिलाषो मे भुञ्जीत भवान्।

१—त्तौ लृङ्वा अ.।

अकच्चितीति किम् ? कच्चिज्जीवति मे माता । कच्चिज्जीवति मे पिता । माराविद त्वा पृच्छामि कच्चिज्जीवति पार्वती ।

संभावनेऽलमि स्यानिनि ॥२।३।१३०॥ लिङिति वर्तते । सभावन क्रियाया सामर्थ्यश्रद्धानम् । अलशब्दश्चेह पर्याप्तिवचनः । यस्य यत्रार्थो गम्यते न चासौ प्रयुज्यते स तत्र स्यानीशब्दः । अलमर्थविशिष्टे सभावने लिङ् भवति अलंशब्दे स्यानिनि । सर्वलकारापवादः । शक्यसंभावने—अपि हस्तिन हन्यात् । अपि स्तुयाद्राजानम् । अशक्यसंभावने — अपि पर्वत शिरसा भिन्द्यात् । अपि श्वारीयक भुञ्जीत । अपि समुद्र दोर्भ्या तरेत् । अलमीति किम् ? विदेशस्थायी मे देवदत्तो मन्ये गमिष्यति ग्रामम् । अत्राहमिति स्यानी । स्यानिनीति किम् ? वसति चेत् सुराष्ट्रेषु वन्दिष्यते अलमूर्जयन्तम् । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्स्यति भूते लृङ् भवति ।

तद्वाचि धौ वाऽयदि ॥२।३।१३१॥ अलमीति वर्तते । तच्छब्देन सभावनं परामृश्यते अलमर्थ विशिष्टे सम्भावनवाचिनि धौ वाचि वा लिङ् भवति । यच्छब्दाप्रयोगे पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सम्भावयामि भुञ्जीत भवान् । श्रद्दधे भुञ्जीत भवान् । पक्षे यो यत. प्राप्नोति स ततो भवति । अलमीति किम् ? सम्भावयामि यत्स भुञ्जीत । अत्रालमर्थे पूर्वेण नित्यो लिङ् ।

हेतुफलयोर्लिङ् ॥२।३।१३२॥ हेतुः कारणम्, फल कार्यम् । हेतौ तत्कार्ये च धवर्थे वर्तमानाद्धोः लिङ् भवति । अतिथींश्चेल्लभेत भृशमन्न ददीत । यदि गुरुपूजा कुर्वीत स्वर्गमारोहेत् । वेत्यनुवर्तनात्पक्षे लृट् । अतिथींश्चेल्लप्स्यते भृशमन्नं दास्यते । लिङिति वर्तमाने पुनर्लिङ्ग्रहण वर्त्स्यति यथा स्यादिह मा भूत् । वर्षतीति धावति । हन्तीति पलायते । क्रियाऽवृत्तौ वर्त्स्यति भूते च नित्यो लृङ् ।

इच्छार्थे लिङ्लोटौ ॥२।३।१३३॥ इच्छार्थे धौ वाचि लिङ्लोटौ त्यौ भवतः । सर्वलकारापवादौ । वेति व्यवस्थितविभाषानुवर्तते । तेन कामप्रकाशने इद विधानम् । इच्छामि भुञ्जीत भवान् । भुङ्क्ता भवान् । प्रार्थये अधीयीत भवान् । अधीता भवान् । कामप्रकाशन इति किम् ? इह मा भूत् । इच्छन् करोति । नात्र प्रयोक्तुः कामप्रवेदनम् । "उताप्योः घृष्टोक्तौ" [२।३।१२८] इत्यत आरभ्य यत्र केवलो लिङ्हेतु' शिष्यते तत्र क्रियाऽवृत्तौ लृङ् नान्यत्रेति केचित् ।

तुमेककर्तृके ॥२।३।१३४॥ इच्छार्थे एककर्तृके धौ वाचि तुम्भवति यस्मात्तुम् विधीयते प्रत्यासत्तेस्त-दपेक्षयैककर्तृकत्वम् । लिङ्लोटोरपवादोऽयम् । इच्छति भोक्तुम् । वाञ्छति कर्तुम् । कामयो कर्तुम । एककर्तृक इति किम् ? देवदत्त भुञ्जानमिच्छति परः । इह कस्मान्न भवति । इच्छति कटं करोति चैनम । नात्र करोतिं प्रतीच्छते. सामर्थ्यं किन्तु कट प्रति तेनान्वयव्यवस्थाविरहात्तुम् न भवति ।

लिङ् ॥२।३।।१३५॥ इच्छार्थे एककर्तृके धौ वाचि लिङ् भवति । पूर्वं तुमा लिङ्लोटौ बाधितौ पुनर्लिङ्प्रसवार्थमेतत् । योगविभाग उत्तरार्थः । अधीयीयेति इच्छति । भुञ्जीयेति वाञ्छति । इतिशब्द क्रियाशब्दसम्बन्धद्योतनार्थः ।

तेभ्यो भवति वा ॥२।३।१३६॥ तेभ्य इच्छार्थेभ्यो धुभ्यः भवति काले वा लिङ् भवति । इच्छेत् । इच्छति । कामयेत । कामयते । उश्यात् । वष्टि ।

शयीत । अधीष्टे-अधीच्छामो भवान् व्रत रक्षेत् । तत्त्वं भवान् गृह्णीयात् । सम्प्रश्ने—किन्नु खलु भोः जैनेन्द्रमधीयीय । प्रार्थने–भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय । तर्कशास्त्रमधीयीय । यदि विध्यादिषु प्रकृत्युपाधिषु लिङ् विधीयेत, इह विदध्यात् निमन्त्रयेत आमन्त्रयेत अधीच्छेत् । प्रकृत्येव विध्यादयोऽभिधीयन्ते इति (इहैव) लिङ् प्राप्नोति । तस्माद्विध्यादयः कर्तृकर्मभावाना विशेषणानि । तदभावादिह लिङ् न भवति । विदधाति । निमन्त्रयते । आमन्त्रयते । अधीच्छति । अत्र क्रियाया प्रवृत्तौ परत्वाल्लटा लृट् बाध्यते ।

लोट् ॥२।३।१३८॥ लोड् भवति विध्यादिविशिष्टेषु कर्त्रादिषु विधौ । गाम भवान्नागच्छतु । प्राणिनो भवान्न हिनस्तु । निमन्त्रणे–सन्ध्यासु भवानावश्यक करोतु । आचारमधीताम् । आमन्त्रणे–इह भवानास्ताम् । इह शेताम् । अधीष्टे–अधीच्छामो भवान् व्रत रक्षतु । तत्त्व भवान् गृह्णातु । सम्प्रश्ने–किन्नु खलु भो काव्यमध्ययै । प्रार्थने–भवति मे प्रार्थना धर्मशास्त्रमध्ययै । योगविभाग उत्तरार्थः ।

प्रैषातिसर्गप्राप्तकाले व्याश्च ॥२।३।१३९॥ प्रेषण प्रैषः । अतिसर्गः कामचारानुज्ञा । प्राप्तकाल' प्राप्तकालता, विशिष्टस्य कालस्यावसर इत्यर्थः । प्रैषादिष्वर्थेषु कर्त्रादिविशेषणत्वेन गम्यमानेषु व्यसंज्ञकास्त्या भवन्ति लोट् च । भवता खलु दान दातव्य दानीय देयम् । करोतु कटो भवानिह प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः । यद्यपि व्यसंज्ञा सामान्येन भावकर्मणोर्विहितास्तथापि सर्वापवादेषु प्रैषादिषु लोटा बाध्येरन्निति पुनर्विधीयन्ते ।

लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके ॥२।३।१४०॥ प्रैषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवः ऊर्ध्वमौहूर्तिकः । निपातात्सिद्धिरुत्तरपदस्यैवैप् । ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे वर्तमानाद्धोः प्रैषादौ गम्यमाने लिङ् भवति चकाराद्व्याश्च । उपरि मुहूर्तस्य भवान् खलु दान दद्यात् । भवता खलु दान दातव्य दानीय देयम् । केचिच्चकारेण यथाप्राप्त समुच्चिन्वन्ति । तेषा लोडपि भवति । भवान् खलु दान ददातु । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

स्मे लोट् ॥२।३।१४१॥ प्रैषादयोऽनुवर्तन्ते । ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति च । स्मशब्दे वाचि प्रैषादिषु गम्यमानेषु ऊर्ध्वमौहूर्तिकेऽर्थे लोट् भवति । व्याना लिङश्चापवाद । ऊर्ध्वं मुहूर्ताद्भवान् दानं ददातु स्म । भवान् हि प्रेषितः । भवानतिसृष्टः । भवतो हि प्राप्तः कालः ।

अधीष्टे ॥२।३।१४२॥ ऊर्ध्वमौहूर्तिक इति निवृत्तम् । अधीष्टे गम्यमाने स्मशब्दे वाचि लोड् भवति । लिङो बाधकः । अङ्ग स्म राजन् दान देहि व्रत रक्ष ।

कालसमयवेलासु तुम् वा ॥२।३।१४३॥ काल समय वेला इत्येतेषु वाक्षु धोः तुम् भवति वा । कालो भोक्तुम् । समयो भोक्तुम् । वेला भोक्तुम् वा । वावचनाद्यथाप्राप्त च भवति । कालो भोक्तव्यस्य । प्रैषादिग्रहणमनुवर्तते । तेनेह न भवति ।

"कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥"

लिङ् यदि ॥२।३।१४४॥ यच्छब्दप्रयोगे कालादिषु वाक्षु धोर्लिङ् भवति । तुमोऽपवादः । कालो यत्प्रजा कुर्वीत भवान् । समयो यद्भुञ्जीत भवान् । वेला यच्छयीत भवान् । केचिद्वेत्यनुवर्तयन्ति तेषा यथाप्राप्तमपि ।

तृज्व्याश्चार्हे ॥२।३।१४५॥ अर्हतीत्यर्हः । अर्हे कर्तरि गम्यमाने तृज्व्याश्च भवन्ति लिङ् च । भवान् खलु कन्यायाः वोढा । भवता कन्या वोढव्या वहनीया वाह्या । भवान् खलु कन्या वहेत् । भवान् योग्य इत्यर्थः । अर्हेऽर्थे लिङा विधीयमानेन तृचो व्याना च बाधा मा भूत् इति पुनर्विधानम् ।

आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिन् ॥२।३।१४६॥ अवश्य भाव आवश्यकम्। मनोज्ञादिपाठाद्वुञ्। अधमम् ऋणमस्य अधमर्णः, तद्भाव आधमर्ण्यम्। आवश्यकाधमर्ण्यविशिष्टे त्यार्थे कर्तरि णिन् भवति। अवश्यंहारी मयूरव्यंसकादित्वात्सविधिः। शतदायी। सहस्रंदायी। निष्कदायी "आधमर्ण्ये चेनः" [१।४।७४] इति कर्मणि ताया: प्रतिषेधः।

व्याः ॥२।३।१४७॥ आवश्यकाधमर्ण्ययोरिति वर्तते। आवश्यकाधमर्ण्ययोर्व्यासंज्ञा भवन्ति। सत्यापवादेन णिना व्यसंज्ञा बाधिता इति पुनर्विधीयन्ते। भवता खलु अवश्यं धर्मः कर्तव्यः। करणीयः। कृत्यः। कार्यः। आधमर्ण्ये भवता खलु निष्को दातव्यः। देयः। योगविभाग उत्तरार्थः।

शकि लिङ् च ॥२।३।१४८॥ शकीत्यर्थनिर्देशः। शक्नोत्यर्थविशिष्टे त्यर्थे लिङ् भवति चकाराद् व्याश्च। भवता खलु विद्या अध्येतव्या। अध्ययनीया। अध्येया। भवान् खलु विद्यामधीयीत। भवान् हि समर्थः। लिङ् सर्वापवाद इति (चकारेण) व्यानामनुकर्षणं क्रियते। यदि शकीति प्रकृत्यर्थविशेषणम्। शक्नुयादित्यत्र लिङ् न प्राप्नोति प्रकृत्यैवाभिहितत्वात् शक्यर्थस्य। नैष दोषः। सामान्यविशेषभावेन भेदाभ्युपगमात्। यथा एषितुमिच्छति एषिषिषति।

आशिषि लिङ्लोटौ ॥२।३।१४९॥ इष्टस्यार्थस्याशंसनमाशीः। अतएव निपातनादिह इकारः। आशीर्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद्धोर्लिङ्लोटौ भवतः। जीव्यात्। जीव्यास्ताम्। जीव्यासुः। जीवतु। आशिषीति किम्? जीवति यदि पथ्याशी।

क्तिच्क्तौ खौ ॥२।३।१५०॥ आशिषीति वर्तते। आशिष्यर्थे क्तिचक्तौ त्यौ भवतः खुविषये। चकारः "न क्तिचि दीश्च" [४।४।४०] इति विशेषणार्थः। तनुतात् तन्तिः। सनुतात् सातिः। भवताद्भूतिः। कृतः क्तिचा विशेषविहितेन बाध्येरन्निति पुनर्विधीयन्ते। देवा एनं देयासुरिति देवदत्तः। देवा एनं श्रूयवन्तु देवश्रुतः।

माङि लुङ् ॥२।३।१५१॥ माङि वाचि लुङ् भवति। सर्वलकारापवादः। मा कार्षीरधर्मम्। मा हार्षीत्परस्वम्। ङकारः प्रतिषेधवाचिनो माङ्शब्दस्य ग्रहणं यथा स्यादित्येवमर्थः।

सस्मे लङ् च ॥२।३।१५२॥ सह स्मशब्देन वर्तते सस्मः। तस्मिन् माङि वाचि लङ् भवति लुङ् च। मा स्म क्रुध्यत्। मा स्म हरत्। मा स्म हार्षीत्।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

धुयोगे त्याः ॥२।४।१॥ धुशब्देन ध्वर्थोऽत्र निर्दिष्टः। अभिधेये अभिधानस्योपचारात्। धूनां योगे सति अयथाकालोक्ता अपि त्याः साधवो भवन्ति। विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता। कृत कटः श्वो भाविता। भाविकृत्यमासीत्। विश्वदृश्वेति भूतकालः जनितेत्यनेन भवि यत्कालेन (अभिसम्बध्यमानः) साधुर्भवति। इहोपसर्जनभूत सुबन्त प्रधानभूतस्य मिङन्तस्य कालमनुवर्तते। धोरिति वर्तमाने पुनर्धुग्रहणं अस्तिभूजनिपरिग्रहार्थम्। त्य इति वर्तमाने पुनस्त्यग्रहण त्यमात्रपरिग्रहार्थम्। गोमान् भवितेति मत्वन्तस्य वर्तमानकालस्य अयथाकालत्वेन साधुत्वम्।

क्रियासमभिहारे लोट् तस्य हिस्वौ वा तध्वमोः ॥२।४।२॥ क्रियासमभिहारविशिष्टे ध्वर्थे वर्तमानाद्धोर्लोङ् भवति। सर्वलकारापवादः। तस्य लोटो हि स्व इत्येतावादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा भवतः। क्रियासमभिहारे लोडिति योगविभागः कर्तव्यः। ततस्तस्य हिस्वौ भवतः। किमेव सति लब्धम्? अन्यत्र यौ लोडादेशौ हिस्वौ प्रसिद्धौ ताविह भवतः। तेन मविधिदविधिव्यतिकरो न भवति। वा तध्वमोरित्यत्र ध्वमा सह निर्देशात्तशब्दस्य थादेशस्य वहोर्ग्रहणम्। लुनीहि लुनीहि इत्येवाह लुनामि। आवा लुनीवः। वय लुनीमः। लुनीहि लुनीहि इत्येव त्वं लुनासि। युवा लुनीथः। यूय लुनीथ। तशब्दस्य तु वा भवति। लुनीत लुनीत इत्येव यूय लुनीथ। लुनीहि लुनीहि इत्येवाय लुनाति। इमौ लुनीतः। इमे लुनन्ति। भूते लुनीहि लुनीहि इत्येवाहमलाविषम्। आवामलाविष्व। वयमलाविष्म। एवं युष्मदन्ययोरपि। वर्त्स्यति–लुनीहि लुनीहीत्येवाह लविष्यामि। आवा लविष्यावः। वय लविष्यामः। एव युष्मदन्ययोरपि। अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमधीये। आवामधीवहे। वयमधीमहे। एव युष्मदन्ययोरपि योज्यम्। ध्वमस्तु पक्षे श्रवणम्। अधीध्वमधीध्वमित्येव यूयमधीध्वे। भूते—अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमध्यगीषि। आवामध्यगीष्वहि। वयमध्यगीष्महि। एव सर्वत्र। वर्त्स्यति–अधीष्व अधीष्व इत्येवाहमध्येष्ये। आवामध्येष्यावहे। वयमध्येष्यामहे। एवं युष्मदन्ययोरपि। एव शेषेष्वपि लकारेषु योज्यम्। द्वित्वमपेक्ष्य लोङ् क्रियासमभिहारस्य द्योतकः। धुयोग इति वर्तते। प्रत्यासत्तेर्यत एव लोट् विधीयते तस्यैवानुप्रयोगः कालासमदाद्यकत्वादीनामभिव्यक्तये क्रियते।

प्रचये वा ॥२।४।३॥ प्रचयः समुच्चयः। स चैकस्मिन् द्विप्रभृतेरध्यावायः। प्रचये उपाधौ वा लोङ् भवति तस्य हिस्वावादेशौ भवतस्तध्वमोस्तु वा। अय सर्वलकारप्राप्तौ विकल्पः। कर्मप्रचयो ग्राममट नगरमट गिरीमट इत्येवाहमटामि। आवामटावः। वयमटामः। ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवं त्वमटसि। युवामटथः। यूयमटथ। तशब्दस्य तु वा–ग्राममटत नगरमटत गिरिमटत इत्येव यूयमटथ। ग्राममट नगरमट गिरिमट इत्येवायमटति। इमौ अटतः। इमे अटन्ति। वावचनात् ग्राममटामि नगरमटामि गिरिमटामि इत्येवाहमटामि। आवामटावः। वयमटामः। एव युष्मदन्ययोरपि। एव भूते वर्त्स्यति सर्वलकारेषु योज्यम्। दभाग्यः। जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येवाहमधीये। आवामधीवहे। वयमधीमहे। जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येव त्वमधीषे। युवामधीयाथे। यूयमधीध्वे ध्वमस्तु वा–जैनेन्द्रमधीध्वं तर्कमधीध्वं गणितमधीध्व इत्येव यूयमधीध्वे। जैनेन्द्रमधीष्व तर्कमधीष्व गणितमधीष्व इत्येवायमधीते। इमौ अधीयाते। इमे अधीयते। वावचनात् जैनेन्द्रमधीये गणितमधीये तर्कमधीये इत्येवाहमधीये। आवामधीवहे। वयमधीमहे। एव भूते वर्त्स्यति सर्वलकारेषु योज्यम्। कर्तृसमुच्चये देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव वयमोदनमद्मः। देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव यूयमोदनमत्थ। देवदत्तोऽद्धि जिनदत्तोऽद्धि गुरुदत्तोऽद्धि इत्येव इमे ओदनमदन्ति। कर्तृसमुच्चये द्विवचन बहुवचन वा भवति एकस्य समुच्चयाभावात्। क्रियासमुच्चये। ओदन भुङ्क्ष्व सक्तून् पिब धानाः खाद इत्येवाहमभ्यवहरामि। आवामभ्यवहरावः। वयमभ्यवहरामः। बहूना क्रियाणा समुच्चये सामान्यप्रयोगोऽभिधानवशात्। एव सङ्करसमुच्चयोऽप्यूह्यः[१]।

१–योऽप्यभ्यूह्यः अ०, ब०, स०।

निषेधेऽलंखल्वोः क्त्वा ॥२।४।४॥ वेति वर्तते। अलं खलु इत्येतयोर्निषेधवाचिनेर्वाचोर्धोः क्त्वाख्यो भवति। अलं कृत्वा। अलं बाले रुदित्वा। "क्तिनाऽमैव" [१।३।८३] इति नियमात् वाक्सो न भवति। निषेध इति किम्? अलंकारः। अलंखल्वोरिति किम्? मा कार्षीः। वेत्येव। अलं रोदनेन। "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०] इति भा।

माङो व्यतिहारे ॥२।४।५॥ माङो व्यतिहारेऽर्थे क्त्वा भवति वा। परकालत्वादप्राप्तः क्त्वा विभाष्यते। अपमित्य याचते। अवमित्य हरति। "वेमेङः" [४।४।६६] इतीत्वम्। वेत्यधिकारात् याचित्वा अपमयते। हृत्वा अपमयते। मेङः कृतात्वस्य निर्देशो ज्ञापकः—"नानुबन्धकृतं हलन्तत्वम्" [परि०]।

परावरयोगे ॥२।४।६॥ परावराभ्यां योगे गम्यमाने धोः क्त्वा भवति। वेति वर्तते। सम्बन्धिशब्दत्वात् परेण पूर्वस्य योगे। अप्राप्य नदीं पर्वतः। परया नद्या युक्तः पर्वतः प्रतीयते। अवरेण योगे परस्य क्त्वा। अतिक्रम्य पर्वतं नदी। अवरपर्वतयोगविशिष्टा परा नदी प्रतीयते। वावचनाल्लडादयो भवन्ति। न प्राप्नोति नदीं पर्वतः। अतिक्रामति पर्वतं नदी।

परकालैककर्तृकात् ॥२।४।७॥ परः कालो यस्याः सेयं परकाला क्रिया, तया एककर्ता यस्य सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनः स तथोक्तः। तस्माद्धोः क्त्वा भवति। स्नात्वा भुङ्क्ते। स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति। एककर्तृकादिति किम्? भुक्तवति देवदत्ते गच्छति जिनदत्तः। परकालग्रहणं किम्? सामर्थ्यात् पूर्वकालक्रियाभिधायिनो यथा स्यादिह मा भूत्। भुङ्क्ते च पिबति च आस्ते च जल्पति च इहापि कथञ्चित् पूर्वकालत्वविवक्षास्ति। व्यादाय स्वपिति। सम्मील्य हसति इति। वेत्यधिकारात्। भुङ्क्ते शेते च।

णम् चाभीक्ष्ण्ये ॥२।४।८॥ परकालैककर्तृकादिति वर्तते। मुहुर्मुहुर्वृत्तिराभीक्ष्ण्यम्। एतच्च प्रकृत्यर्थविशेषणम्। परकालैककर्तृकात् णमित्ययं त्यो भवति क्त्वाख्यश्च। आभीक्ष्ण्ये—भोजंभोजं व्रजति। भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति। पायं पायं गच्छति। पीत्वा पीत्वा गच्छति। क्त्वाणमो द्वित्वमपेक्ष्याभीक्ष्ण्यं द्योतयतः। पूर्वेण क्त्वात्वे सिद्धे णमर्थं वचनम्। इह वेति निवृत्तम्। उत्तरत्र वाग्रहणात्।

न यदनाकाङ्क्षे ॥२।४।९॥ यच्छब्दे वाचि क्त्वाणमौ न भवतोऽनाकाङ्क्षे सति वाक्ये। अनन्तरव्यवहितभेदाभावात् पूर्वसूत्रविहितो अनन्तरश्च क्त्वा निषिध्यते णम् च। यदयं भुङ्क्ते ततो गच्छति। यदयं शेते ततोऽधीते। अनाकाङ्क्ष इति किम्? यदयं भुक्त्वा व्रजति। अधीत एव ततः परम्। अत्र पूर्वाभ्यां क्रियाभ्यां अतिरिक्तमध्ययनं काङ्क्षते।

वाऽग्रेप्रथमपूर्वे ॥२।४।१०॥ आभीक्ष्ण्य इति निवृत्तम्। "परकालैककर्तृकात्" [२।४।७] इत्यनेन क्त्वात्वे प्राप्ते विभाषेयम्। अग्रे प्रथम पूर्व इत्येतेषु वाक्षु क्त्वाणमौ वा भवतः। अग्रे भोजं ततो ददाति। अग्रे भुक्त्वा ततो ददाति। प्रथमं भोजं ततो ददाति। प्रथमं भुक्त्वा ततो ददाति। पूर्वं भोजं ततो ददाति। पूर्वं भुक्त्वा ततो ददाति। "क्तिनाऽमैव" [१।३।८३] इत्यत्रैवकारोपादानात् केवलेनामा विहितेन वाक्सो भवति नान्यसहितेन। वावचनाल्लडादयोऽपि भवन्ति। अग्रे भुङ्क्ते ततो ददाति। प्रथमं भुङ्क्ते ततो ददाति। पूर्वं भुङ्क्ते ततो ददाति।

कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुञ् ॥२।४।११॥ कर्मणि वाचि आक्रोशे गम्यमाने कृञः खमुञ् भवति। चोरोऽसीत्येवमाक्रोशति चोरङ्कारमाक्रोशति। दस्युङ्कारमाक्रोशति। कथाऽपवादोऽयम्। आक्रोश इति किम्?

मकारान्तता निपात्यते। खमुञि प्रकृते। "खित्यनेः" [४।३।१७६] "मुमच." [४।३।१७७] इति मुमा सिद्धमिति चेत् च्व्यन्तविवक्षाया अग्नेरिति प्रतिषेधः प्रसज्येत। खमुञ्येव मान्तनिपातन कर्तव्यमिति चेन्न च्व्यन्तार्थमेव तत्सभाव्येत। णमि पुनर्निपातन ङीनिवृत्त्यर्थं "च्वौ" [५।२।१३५] दीत्वनिवृत्त्यर्थं च। स्वादूकृत्वा यवागू भुङ्क्ते। स्वादुङ्कार भुङ्क्ते। च्विविवक्षायामस्वादु स्वादु कृत्वा भुङ्क्ते स्वादुकार भुङ्क्ते। "च्वौ" [५।२।१३५] इति दीत्व प्रसज्येत। उत्तरार्थं च इह णम्ग्रहणम्। विभाषाधिकारात् क्त्वापि भवति। क्त्वादय आतुमो विधीयमाना भावे भवन्ति। ननु स्वादुकार भुङ्क्ते देवदत्त इति णमा कर्तुरनुक्तत्वात् कर्तरि ता प्राप्ता "न ख्नित" [१।४।७२] इत्यादिना ता कर्तरि न भवति।

अन्यथैवंकथमित्थंस्वनर्थात् ॥२।४।१३॥ अन्यथा एव कथमित्थमित्येतेषु वाक्षु धुभ्यो णम् भवति अनर्थात्। येन विनापि यदर्थः प्रतीयते स तन्नानर्थस्तस्मिन्प्रयुज्यमाने त्यो भवति। तथाहि यावानेवार्थोऽन्यथा भुङ्क्त इति तावानेव कृञ्प्रयोगेऽपि अन्यथाकार भुङ्क्ते। एवकार भुङ्क्ते। कथकार भुङ्क्ते। इत्थङ्कार भुङ्क्ते। अनर्थादिति किम्? अन्यथा कृत्वा शिरो भुङ्क्ते।

यथातथयोरसूयाप्रत्युक्तौ ॥२।४।१४॥ कृञोऽनर्थादिति वर्तते। यथा तथा इत्येतयोर्वाचोः कृञोऽनर्थात् णम् भवति असूयाकृताया प्रत्युक्तौ गम्यमानायाम्। कथ कृत्वा भवान् भुङ्क्ते इत्येव पृष्टोऽसूयकस्त प्रत्याह यथाकारमह भोक्ष्ये तथाकारमह भोक्ष्ये कि तवानेन। अनर्थादिति किम्? यथा कृत्वाह बलि भोक्ष्ये किं तवानेन। असूयाप्रत्युक्ताविति किम्? यथाकृत्वाह भोक्ष्ये तथा द्रक्ष्यसि त्वम्। तथाकृत्वाऽह भोक्ष्ये यदा द्रष्टव्य भवता।

कर्मण्यशेषे दृशिविदः ॥२।४।१५॥ अशेषः कः? साकल्यम्। इद कर्मणो विशेषणम्। अशेषविशिष्टे कर्मणि वाचि दृशिविदोर्ध्वोर्णम् भवति। साधुदर्श प्रणमति। सर्व साधुं प्रणमतीत्यर्थः। अतिथिवेद भोजयति। य य विन्दति विन्ते वा त सर्वे भोजयतीत्यर्थः। अशेष इति किम्? अतिथिं दृष्ट्वा भोजयति।

यावति विन्दजीवः ॥२।४।१६॥ यावच्छब्दे वाचि विन्दतिजीवत्योर्णम् भवति। यत्र पूर्वकालत्व सम्भवति तत्र त्वाऽपवादः। यत्र न सम्भवति [1]तत्रापूर्व एव विधिः। धुयोग इति वर्तते। यावद्वेद भुङ्क्ते। यावल्लभते तावद्भुङ्क्ते इत्यर्थः। यावज्जीवमधीते। यावज्जीवति तावदधीते इत्यर्थः।

चर्मोदरयोः पूरेः ॥२।४।१७॥ कर्मणीति वर्तते। चर्म उदर इत्येतयोः कर्मणोर्वाचोः पूरयतेर्णम् भवति। चर्मपूर शेते। उदरपूर भुङ्क्ते।

वर्षप्रमाणे ॥२।४।१८॥ कर्मणीति वर्तते। कर्मणि वाचि पूरयतेर्णम् भवति समुदायेन वर्षप्रमाणे गम्यमाने। गोष्पदपूर वृष्टो देवः। सीतापूर वृष्टो देवः। कथ गोष्पदप्र वृष्टो देवः? प्रातेरातः के कृते क्रियाविशेषणत्वेन नपुसकलिङ्गम्। एतस्य कान्तस्यैव विभक्त्यन्तच्व्यादिषु च प्रयोगः साधुः। गोष्पदप्रेण गोष्पदप्री भवति। गोष्पदप्रतरम् गोष्पदपूर वृष्टो देव इत्येवमादावुभयथा प्रयोग इष्यते। णमन्तस्य घञन्तस्य च क्रियाविशेषणभावेन दृति विभक्त्यन्तरे च विशेषः। णमन्तस्य हि देश्यादिषु गोष्पदपूर भवति गोष्पदपूरदेश्यम् गोष्पदपूरदेशीय गोष्पदपूरकल्प गोष्पदपूरतराम्। घञन्तस्य गोष्पदपूरीभवति गोष्पदपूरदेश्य गोष्पदपूरदेशीयम् गोष्पदपूरकल्पम्। गोष्पदपूरतराम्।

चेलेषु क्नोपेः ॥२।४।१९॥ कर्मणीति वर्तते। चेलार्थेषु कर्मसु वाक्षु क्नोपयतेर्णम् भवति वर्षप्रमाणे गम्ये। चेलक्नोप वृष्टो देवः। एव वस्त्रक्नोप वसनक्नोपम्।

---

1. तत्रापूर्वो विधिर्वेदितव्यः अ०।

शुष्कचूर्णभक्षेषु पिषः ॥२।४।२०॥ कर्मणीति वर्तते। शुष्क चूर्ण भक्ष इत्येतेषु कर्मसु वाचु पिषेर्णम् भवति। शुष्कपेषं पिनष्टि तगरम्। शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः। एवं चूर्णपेषं पिनष्टि। भक्षपेषं पिनष्टि। घञि सति क्रियाविशेषणे शुष्कस्य पेषं पिनष्टि इत्येवमादयः प्रयोगाः साधवः। इतः प्रभृति "उपदंशो भायाम्" [२।४।३३] इत्यतः प्राक् यत एव णोर्णम् भवति तस्यैवानुप्रयोगोऽपि भवत्यभिधानवशात्।

जीवाकृते ग्रहिकृञः ॥२।४।२१॥ कर्मणीति वर्तते। जीव अकृत इत्येतयोः कर्मवाचिनो र्वाचोर्यथासंख्य ग्रहि कृञ् इत्येताभ्यां णम् भवति। जीवग्राहं गृहीतः। अकृतकारं करोति।

निमूले कषः ॥२।४।२२॥ कर्मणीति वर्तते। निमूले कर्मणि वाचि कषेर्णम् भवति। निमूलकाषं कषति। घञि सति क्रियाविशेषणे निमूलस्य काषं कषति इत्यपि भवति।

समूले हनश्च ॥२।४।२३॥ कर्मणीति वर्तते। समूले कर्मणि वाचि हन्तेः कषेश्च णम् भवति। समूलघातं हन्ति। समूलकाषं कषति।

करणे ॥२।४।२४॥ हन इति वर्तते। करणे वाचि हन्तेर्णम् भवति। पाणिघातं कुड्यं हन्ति। पाणिना हन्तीत्यर्थः। पादघातं शिलां हन्ति। यदा हिंसार्थो [1]हन्तेर्विवक्षितः तदा "हिंसार्थादेककर्मकात्" [२।४।३४] इतीममपि विधिं पूर्वविप्रतिषेधेन बाधित्वाऽयमेव णम्। असिघातं हन्ति चोरान्। कोऽत्र विशेषः? अनेन नित्यः सविधिः तस्यैव णोरनुप्रयोगश्च भवति।

हस्ते वर्तिग्रहः ॥२।४।२५॥ करण इति वर्तते। हस्त इति अर्थनिर्देशः। हस्तवाचिनि करणे वाचि वर्तयतिगृह्णातिभ्यां णम् भवति। हस्तवर्तं वर्तयति। हस्तेन वर्तयतीत्यर्थः। एवं पाणिवर्तम्। करवर्तम्। हस्तग्राहं गृह्णाति। हस्तेन गृह्णातीत्यर्थः। एवं पाणिग्राहं करग्राहम्।

स्वेषु पुषः ॥२।४।२६॥ करण इति वर्तते। स्व इति स्वरूपस्य तद्विशेषाणां च ग्रहणम्। बहुत्वनिर्देशात्। स्ववाचिकरणवाचिनि पुषेर्णम् भवति। आत्मात्मीयज्ञातिधनानि स्वशब्देनेष्यन्ते। स्वपोषं पुष्टः। विद्यापोषं गोपोषं मातृपोषं पितृपोषं रैपोषं पुष्णाति। सर्वत्र घजन्तेन णमन्तस्यार्थकथनं द्रष्टव्यम्। स्वेन पोषं पुष्ट इति स एव पुषिः कालसाधनभेदादन्यत्र गतः पुषिणा युज्यते। यथा एषितुमिच्छति एषिषिषति। इषिरिषिणा युज्यते।

स्नेहने पिषः ॥२।४।२७॥ करण इति वर्तते। स्निह्यतेऽनेनेति स्नेहनम्। स्नेहनवाचिनि करणे वाचि पिषेर्णम् भवति। घृतपेषं पिनष्टि। घृतेन पिनष्टीत्यर्थः। एवं तैलपेषम्। उदपेषम्। "पेषमि" [४।३।१६१] इत्युदकस्योदादेशः।

बन्धोऽधिकरणे ॥२।४।२८॥ अधिकरणे वाचि बध्नातेर्णम् भवति। चक्रबन्धं बद्धः। चक्रे बद्ध इत्यर्थः। एवं चारकबन्धम्। [2]दृष्टिबन्धम्। गुप्तिबन्धम्। बध्यमानाधारे वाचि णम् भवति न बन्धाधारे। हस्ते बध्नातीति वेत्यधिकाराद्वा न भवति।

खौ ॥२।४।२९॥ खुविषये च बध्नातेर्णम् भवति। चण्डालिकाबन्धं बद्धः। अट्टालिकाबन्धं बद्धः। महिषिकाबन्धं मयूरिकाबन्धं क्रौञ्चबन्धं बद्धाः। णमन्ताः बन्धविशेषाणां खुत्वात् एताः। अर्थप्रदर्शनं यथाकर्थंचित्करणेन वाचा अन्यथा वा दर्शनीयम्। अन्ये तु व्याचक्षते खुभूता या बन्धः तस्मिन् करणे ... वाचि बध्नातेर्णम् भवति।

कर्त्रोर्जीवपुरुषयोर्नशिवहो ॥२।४।३०॥ जीव पुरुष इत्येतयोः कर्तृवाचिनोर्वाचोर्यथासंख्यं ...

१. हन्तिवि—अ०, ब०, स०। २. कूटबन्धम् अ०।

वहिभ्यां णम् भवति। जीवनाशं नश्यति। जीवो नश्यतीत्यर्थः। पुरुषवाहं वहति। पुरुषो भूत्वा वहतीत्यर्थः। कर्त्रोरिति किम्? जीवेन नष्टः। पुरुषं वहन्ति। अत्र करणं कर्म च वाक्।

ऊर्ध्वे शुषिपुरोः ॥२।४।३१॥ कर्त्रोरिति वर्तते। ऊर्ध्वशब्दे कर्तृवाचिनि वाचि शुषि पूरि इत्ये-ताभ्यां णम् भवति। ऊर्ध्वशोषं शुष्कः। ऊर्ध्वः इत्यर्थः। ऊर्ध्वपूरं पूर्यते। ऊर्ध्वं पूर्यत इत्यर्थः।

कर्मणि चेवे ॥२।४।३२॥ शब्दे कार्यस्यासम्भवादिवार्थ उपमानं गृह्यते। इवशब्दार्थे वर्तमाने कर्मणि कर्तरि भूवादिधोर्णम् भवति कर्मणि। घृतनिधाय निहितः। घृतमिव निहित इत्यर्थः। एवं जीवितरक्ष रक्षितः। कर्तरि—अक्रूरनाशं नष्टः। अक्रूर इव नष्ट इत्यर्थः। एवमजकनाशं नष्टः। चूडकनाशं नष्टः। पिषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगो न वक्तव्यः। धुयोग इति वर्तते तत्र प्रत्यासत्तेरभिधानवशाद्वा यत एव धोर्णम् तस्यैवानुप्रयोगः।

उपदंशो भायाम् ॥२।४।३३॥ उपपूर्वाद् दंशेर्भान्ते वाचि णम् भवति। धुयोग इति च वर्तते। एक-कर्तृकादिति च पूर्वकालत्वं सम्भवतः सम्बन्धनीयम्। मूलकोपदंशं भुङ्क्ते। मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते। "वा भादि" [१।३।८४] इति विभाषया वाक्सः। इत ऊर्ध्वं यानि वाक्सञ्ज्ञकानि वक्ष्यन्ते तानि भादिग्रहणेन गृह्यन्ते। सर्वत्रास्मिन् प्रकरणे वेत्यनुवर्तते। तेन क्त्वाऽपि भवति। मूलकेनोपदश्य भुङ्क्ते। कर्मणः साधकतमत्व-विवक्षाया भा भवति। अथवा उपदंशिगुणस्य भुञ्जेरेतत्करणम्।

हिंसार्थादेककर्मकात् ॥२।४।३४॥ भायामिति वर्तते। हिंसार्थेभ्यो धुभ्योऽनुप्रयोगेणैककर्मकेभ्यो भान्ते वाचि णम् भवति। दण्डाघातं गाः सादयति। दण्डेनाघातम्। "करणे" [२।४।२४] इत्यनेन हन्तेर्यः पूर्वनिर्णयेन णम् विहितस्तस्यैवानुप्रयोगो द्रष्टव्यः। हन्तेरन्यदपीहोदाहरणम्। दण्डाताडं गाः कालयति। दण्डेनाताडम्। खड्गप्रहारं शत्रून् विजयते। खड्गेन प्रहारम्। एककर्मकादिति किम्? दण्डेनाहत्य भूमिं गोपालको गाः सादयति।

ईपि चोपपीडरुधकर्षः ॥२।४।३५॥ उपपूर्वेभ्यः पीडरुधकर्षेभ्य ईपि वाचि चकाराद्भान्ते वाचि-णम् भवति। उपशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। व्रजोपरोधम्। व्रजे उपरोधम्। व्रजेनोपरोधम्। पार्श्वो-पपीडं शेते। पार्श्वाभ्यामुपपीडम्। पार्श्वयोरुपपीडम्। पाण्युपकर्षं धानाः पिनष्टि। पाणावुपकर्षम्। पाणिनोपकर्षम्।

प्रमाणासत्त्योः ॥२।४।३६॥ ईपि भाया चेति वर्तते। प्रमाणमायाममानम्। आसत्तिः सन्निकर्षः। ईबन्ते भान्ते वाचि धोर्णम् भवति प्रमाणासत्त्योर्गम्यमानयोः। द्व्यङ्गुलोत्कर्षं गण्डिकाश्छिनत्ति। त्र्यङ्गुलो-त्कर्षम्। त्र्यङ्गुलेनोत्कर्षम्। त्र्यङ्गुले उत्कर्षम्। आसत्तौ। केशग्राहं युध्यन्ते। केशेषु ग्राहं केशैर्ग्राहम्। सन्निकृष्टं युध्यन्ते इत्यर्थः। एवमस्यपनोदं युध्यन्ते। असिष्वपनोदम्। असिभिरपनोदम्। हस्तग्राहम्। हस्तेषु ग्राहम्। हस्तैर्ग्राहम्।

त्वर्यपादाने ॥२।४।३७॥ त्वरणं त्वरा त्वरीति सौत्रमाख्यम्। त्वराया गम्यमानायामपादाने वाचि धोर्णम् भवति। शय्योत्थायं धावति। शय्याया उत्थाय। मुखप्रक्षालनाद्यवश्यकार्यमकृत्वा त्वरत इत्यर्थः। एवं स्तनरन्ध्रापकर्षं पयः पिबति। स्तनरन्ध्रादपकर्षम्। भ्राष्ट्रापकर्षमपूपान् भक्षयति। भ्राष्ट्रादप-कर्षम्। वेत्यनुवर्तनात् शय्याया उत्थाय धावति। त्वरीति किम्? आसनादुत्थाय गच्छति।

ईपि ॥२।४।३८॥ त्वरीति वर्तते। ईबन्ते वाचि त्वराया गम्यमानाया धोर्णम् भवति। यष्टिग्राहं युध्यन्ते। यष्टिं ग्राहम्। त्वरया युद्धप्रहरणमनपेक्ष्य यष्टिमादाय युध्यते इत्यर्थः। एवं पटापकर्षं धावन्ति पटमपकर्षम्। त्वरीत्येव। खड्गं गृहीत्वा युध्यन्ते।

स्वाङ्गेऽध्रुवे ॥२।४।३९॥ इपीति वर्तते। यस्मिन्विनष्टेऽपि प्राणिना मरणं न भवति तदध्रुवं स्वाङ्गम्। तस्मिन्निबन्ते वाचि णोर्णम् भवति। अक्षिनिकोचं जल्पति। अक्षिणी निकोचम्। भ्रूक्षेपं जल्पति। भ्रुवक्षेपम्। अंगुलिनिकोटं जल्पति। अंगुलि निकोटं जल्पति। अध्रुव इति किम्? शिर उत्क्षिप्य जल्पति।

अद्रवं मूर्तिमत्स्वांगं प्राणिस्थमविकारकम्। अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्।

आद्यैश्चतुर्भिर्विशेषणैर्लालाबुद्धिफलशोफादिरहितप्राणिस्थं वस्तु स्वाङ्गमुक्तम्। अतत्स्थं तत्र दृष्टं चेत्यनेन भूमिपतितकेशादिपरिग्रहः। तेन चेत्तत्तथायुतमित्यनेन काष्ठादिप्रतिमायां स्थितं पाण्यादि सगृहीतम्।

सक्लेशे ॥२।४।४०॥ इपीति वर्तते स्वाङ्ग इति वा। सह क्लेशेन दुःखेन वर्त्तते इति सक्लेशं क्लिश्यमानमित्यर्थः। इबन्ते सक्लेशे स्वाङ्गे वाचि णोर्णम् भवति। ध्रुवार्थोऽयमारम्भः। उरःप्रतिपेषं युध्यन्ते। उरांसि प्रतिपेषम्। उरांसि पीडयन्तो युध्यन्ते इत्यर्थः। एवं शिरःप्रतिपेषम्। शिरांसि प्रतिपेषम्।

विशिपतिपदिस्कन्दो व्याप्यासेव्ययोः ॥२।४।४१॥ इपीति वर्तते। विश्यादिभिः कार्त्स्न्येन व्यापनीयद्रव्यं व्याप्यम्। क्रियारूपं तात्पर्येण आसेवनीयमासेव्यम्। क्रियाधारभूतमुपचाराद्द्रव्यमप्यासेव्यम्। विशि पति पदि स्कन्द इत्येतेभ्यो धुभ्यः व्याप्य आसेव्ये च वाचि णम् भवति। गेहानुप्रवेशमास्ते। वृत्त्या व्यापनस्यासेवनस्य चोक्तत्वात् द्वित्वं न भवति। वाक्यपक्षे व्याप्यमानस्य द्रव्यस्य द्वित्वम्। आसेव्यविवक्षायां तु मुख्यस्यासेव्यस्य क्रियारूपस्य द्वित्वम्। गेहंगेहमनुप्रवेशमास्ते। गेहमनुप्रवेशमनुप्रवेशमास्ते। गेहानुप्रपातमास्ते। गेहंगेहमनुप्रपातम्। गेहमनुप्रपातमनुप्रपातमास्ते। गेहमनुप्रपादमास्ते। गेहंगेहमनुप्रपादम्। गेहमनुप्रपादमनुप्रपादम्। गेहावस्कन्दमास्ते। गेहं गेहमवस्कन्दम्। गेहमवस्कन्दमवस्कन्दम्। वेत्यधिकारात् गेहं गेहमनुप्रविश्य गेहमनुप्रविश्यानुप्रविश्यास्ते। वीप्सायामाभीक्ष्ण्ये च द्वित्वम्। व्याप्यासेव्ययोरिति किम्? गेहमनुप्रविश्य भुङ्क्ते। "णम् चाभीक्ष्ण्ये" [२।४।८] इति यत्राप्यासेव्ये णम् सिद्धः, तथापि वाक्यविकल्पार्थमिदम्।

तृप्यस्वोः क्रियान्तरे काले ॥२।४।४२॥ इपीति वर्तते। इबन्ते कालवाचिनि वाचि तृपि असु इत्येताभ्यां णम् भवति क्रियान्तरार्थे यदनुप्रयुज्यमानक्रियापेक्षया क्रियान्तरे वृत्तिरित्यर्थः। द्व्यहातपर्षं गाः पाययति। द्व्यहमपतर्पम्। त्र्यहातपर्षम्। त्र्यहमपतर्षम्। द्व्यहात्यासं गाः पाययति। द्व्यहमत्यासम्। त्र्यहात्यासम्। त्र्यहमत्यासम्। कालाऽव्यन्यविच्छेदे इतीप्। तृ यस्वोरिति किम्? द्व्यहमुपोष्य भुङ्क्ते। क्रियान्तर इति किम्? अहरत्यस्य गतः। अत्रास्यतिर्न क्रियान्तरे वर्तते किन्तु गतावेव। काल इति किम्? पत्र पूलान् अत्यस्य तिलान् भक्षयति।

नाम्न्यादिशिग्रहः ॥२।४।४३॥ इपीति वर्तते। इबन्ते नामशब्दे वाचि आदिशिग्रहिभ्यां णम् भवति। नामादेशमाचष्टे। नामान्यादेशम्। नामग्राहमाकारयति। नामानि ग्राहम्।

भावनिष्ठोक्तौ कृञः क्त्वाणमौ ॥२।४।४४॥ क्रियाङ्के वाचि अनिष्टोक्तौ गम्यमानायां कृञः क्त्वाणमौ भवतः। वेत्यधिकारात् क्त्वात्वे सिद्धे पुनः क्त्वाग्रहणं क्त्वा इत्यनेन वृत्तिविकल्पार्थम्। मार्दैति तत्र वर्तते तेनोत्सर्गे क्त्वान्ते सविकल्पो न स्यात्। ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः किं तर्हि वृषल नीचैःकृत्याचष्टे। नीचैः कृत्वा। नीचैःकारम्। उच्चैर्नाम प्रयमाख्येयम्। नीचैराख्यायमानमनिष्टं भवति। ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी। किं तर्हि वृषल उच्चैःकृत्याऽऽचष्टे। उच्चैःकृत्वा। उच्चैःकारम्। कन्यागर्भ उच्चैराख्यायमानोऽनिष्टः। अनिष्टोक्ताविति किम्? उच्चैःकृत्याचष्टे पुत्रस्ते जातः।

तिर्यच्यपवर्गे ॥२।४।४५॥ अपवर्गः समाप्तिः। तिर्यच्छब्दे वाचि अपवर्गे गम्यमाने कृञः क्त्वाणमौ

---

1. –दिक्रियाभि —अ०, ब०, म०।

भवतः। तिर्यक्कृत्य गतः। तिर्यक्कृत्वा। तिर्यक्कारम्। समाप्य गत इत्यर्थः। अपवर्ग इति किम्? तिर्यक् कृत्वा काष्ठं गतः। तिरश्चीति तिर्यक्छब्दानुकरणनिर्देशः। "प्रकृतिवदनुकरणं भवति" [परि०] इति रूपसिद्धिः।

स्वाङ्गे तस्त्ये कृभुवः ॥२।४।४६॥ तस्लो यस्मात्तत्तथोक्तम्। तस्त्ये स्वाङ्गे वाचि कृ भू इत्येताभ्यां क्त्वाणमौ भवतः। भिन्नयोगनिर्दिष्टत्वाद्यथासंख्यमत्र न भवति। मुखतःकृत्य गतः। मुखतः कृत्वा। मुखतः-कारम्। पृष्ठतःकृत्य। पृष्ठतः कृत्वा। पृष्ठतःकारम्। मुखतोभूय। मुखतोभूत्वा। मुखतोभावम्। पृष्ठतोभूय। पृष्ठतोभूत्वा। पृष्ठतोभावम्। "अपादानेऽहीयरुहोः" [४।२।५०] इति "आदिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०] इति वा तसिः। स्वाङ्ग इति किम्? सर्वतःकृत्वा। तस्त्यग्रहणं किम्? मुखीकृत्य गतः। त्यग्रहणं किम्? मुखे तस्यति मुखतः। अमुखतसं मुखतसं कृत्वा मुखतःकृत्य।

नाधार्थत्ये च्व्यर्थे ॥२।४।४७॥ नार्थो धार्थश्च त्यो यस्मात्स तथोक्तः। नार्थत्ये धार्थत्ये च शब्दे च्व्यर्थे वाचि कृ भू इत्येताभ्यां क्त्वाणमौ भवतः। नार्थत्ये–विनाकृत्य गतः। विनाकृत्वा। विनाकारम्। विनाभूय। विना भूत्वा। विनाभावम्। अनाना नाना कृत्य गतः। नानाकृत्वा। नानाकारम्। नानाभूय। नानाभूत्वा। नानाभावम्। "विनञ्भ्यां नानाञौ न सह" [३।४।१४७] इति नानाञौ भवतः। धार्थे त्ये–अद्विधा द्विधा कृत्य गतः। द्विधाकृत्वा। द्विधाकारम्। द्विधाभूय। द्विधाभूत्वा। द्विधाभावम्। अद्वैधं द्वैधं कृत्य गतः। द्वैधं कृत्वा। द्वैधंकारम्। द्वैधं भूय। द्वैधं भूत्वा। द्वैधं भावम्। अद्वेधा द्वेधा कृत्य गतः। द्वेधाकृत्वा। द्वेधाकारम्। द्वेधाभूय। द्वेधाभूत्वा। द्वेधाभावम्। "संख्याया विधार्थे धा" [४।१।१०६] "द्वित्रेर्धमुञ्" [४।१।१०८] एकधा। ऐकध्यम्। "वैकाद्ध्यमुञ्" [४।१।१०७]। अर्थग्रहणं स्वरूपमात्रनिरासार्थम्। त्यग्रहणं किम्? नाधार्थे वाचीत्युच्यमाने इहापि स्यात्। अहिरुक् हिरुक्कृत्वा पृथक्कृत्वा च्विर्विकल्पेन विधास्यते। च्व्यर्थमात्रमत्र विवक्षितं न च्विः। अर्थ इति किम्? नाना कृत्वा काष्ठानि गतः।

तूष्णीमि भुवः ॥२।४।४८॥ तूष्णीम्शब्दे वाचि भू इत्येतस्मात् क्त्वाणमौ भवतः। तूष्णींभूयास्ते। तूष्णीं भूत्वा। तूष्णींभावम्।

अन्वच्यानुलोम्ये ॥२।४।४९॥ आनुलोम्यमनुकूलता। अन्वक्छब्दे वाचि आनुलोम्ये गम्यमाने भुवः क्त्वाणमौ भवतः। अन्वग्भूत्वा। अन्वग्भावम्। आनुलोम्य इति किम्? अन्वग्भूत्वा आस्ते। पश्चाद्भूत्वेत्यर्थः। अन्वचीति निर्देशः प्रकृतिवदनुकरणमिति न्यायात्।

शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थे तुम् ॥२।४।५०॥ शकादिषु अस्त्यर्थेषु च धुषु वाक्षु धोस्तुम् भवति। शक्नोति भोक्तुम्। धृष्णोति भोक्तुम्। जानाति भोक्तुम्। ग्लायति भोक्तुम्। घटते भोक्तुम्। आरभते भोक्तुम्। लभते भोक्तुम्। प्रक्रमते भोक्तुम्। सहते भोक्तुम्। अर्हति भोक्तुम्। अस्त्यर्थेषु–अस्ति भोक्तुम्। भवति भोक्तुम्। विद्यते भोक्तुम्। क्रियाया तदर्थाया वाचि तुम् विहितः। अतदर्थायामपि यथा स्यादित्यारम्भः।

पर्याप्तिवचनेऽलमर्थे ॥२।४।५१॥ पर्याप्तिः प्रभूतत्वं सामर्थ्यं च अलमर्थेन विशेष्यमाणत्वात्सा-मर्थ्यमेवावतिष्ठते। पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थविशिष्टेषु वाक्षु धोस्तुम् भवति। पर्याप्तो भोक्तुम्। समर्थो भोक्तुम्। प्रभुर्भोक्तुम्। अलं भोक्तुम्। पारयति भोक्तुम्। इदमप्यस्योदाहरणम्। युक्तं पुनरिदं विचारयितुम्। "वा भादि" [१।३।८४] इति पक्षो न भवति। अमैवेति तत्र वर्तते। पर्याप्तिवचन इति किम्? अलङ्कुरुते कन्याम्। अलं रुदित्वा। समर्थेष्विति वक्तव्ये गुरुकरणं किम्? सामर्थ्यमात्रे मा भूत्। शक्त्या भुङ्क्ते। दक्षेन भुङ्क्ते। अलमर्थे इति किम्? पर्याप्तं भुङ्क्ते। प्रभूतं भुङ्क्ते। अन्यूनं भुङ्क्ते। पूर्वसूत्रे शक्तिः सौकर्ये वर्तते नालमर्थे।

कर्तरि कृत् ॥२।४।५२॥ कर्तरि कारके कृत्संज्ञास्त्या भवन्ति। अनिर्दिष्टार्थास्त्याः स्वार्थे भावे प्राप्ताः। कारकः। कर्ता। ये कृतः कर्तरि नेष्टाः तेषां करणाधिकरणयोर्युडित्येवमादिरपवाद उक्तः।

भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा ॥२।४।५३॥ भव्य इत्येवमादयः शब्दाः कर्तरि वा निपात्यन्ते। "तयोर्व्यंक्तखार्थाः" [२।४।५५] इत्यस्मिन् प्राप्ते पक्षे कर्तरि विधानम्। भवत्यसौ भव्यः। भव्यमनेनेति वा। गेयो माणवकः षड्ङ्गस्य[1]। गेयो माणवकेन षडङ्गः[2]। प्रवचनीयो गुरुः शास्त्रस्य। प्रवचनीय शास्त्रं गुरुणा। उपस्थानीयः शिष्यो गुरोः। उपस्थानीयो गुरुः शिष्येण। जायते असौ जन्यः। जन्यमनेन। "जनिवध्योः" [५।२।४०] इत्यैप्प्रतिषेधः। अथवा "शकिसहश्च" [२।१।८६] इति चकारेण जनेर्यः। आप्लवतेऽसौ आप्लाव्यः। आप्लाव्यमनेन। आपततीत्यापात्यः। आपात्यमनेन।

लः कर्मणि च भावे च धेः[3] ॥२।४।५४॥ ल इति लडादीनां नवानामुत्सृष्टानुबन्धानां सामान्येन ग्रहणं जसा च निर्देशः। लकाराः सकर्मकेभ्यो धुभ्यः कर्मणि कर्तरि च कारके भवन्ति, भावे कर्तरि च धिसंज्ञेभ्यः। कर्मणि—क्रियते कटः। गम्यते ग्रामः। कर्तरि—करोति कटम्। गच्छति ग्रामम्। धेर्भावे—आस्यते भवता। सुप्यते। कर्तरि—आस्ते भवान्। स्वपिति भवान्। लो डौ चेति वक्तव्ये प्रपञ्चेन निर्देशः किमर्थः? सकर्मकेभ्यो लो भावे मा भूवन्।

तयोर्व्यंक्तखार्थाः ॥२।४।५५॥ तयोर्भावकर्मणोः व्यसंज्ञाश्च क्तश्च खार्थाश्च[4] भवन्ति। "कर्तरि कृत्" [२।४।५२] इत्यस्यायमपवादः। कर्मणि—कर्तव्यः कटो भवता। भोक्तव्य ओदनो भवता। भावे—आसितव्य भवता। शयितव्यं भवता। क्तः कर्मणि। कृतः कटो भवता। भुक्त ओदनो भवता। भावे—आसित भवता। शयितं भवता। खार्थाः[5] कर्मणि—ईषत्करः कटो भवता। सुकर कटो भवता। सुपानं पयो भवता। दुष्पानं पयो भवता। भावे—स्वासं भवता। दुरास भवता। सुग्लान भवता। दुर्ग्लान भवता। आत्मकर्मविवक्षायां व्यक्तखार्थप्रयोगविषये सकर्मका अप्यविवक्षितकर्मकत्वेनाकर्मकाः। तेन भावे व्यादयः। भेत्तव्य कुशूलेन स्वयमेव। भावकर्मग्रहणे तु वर्तमाने तयोरिति ग्रहणं यथाविधिप्रतिपादनार्थं सकर्मकेभ्यः कर्मण्यकर्मकेभ्यो भाव इति।

कर्तरि चारम्भे क्तः ॥२।४।५६॥ आरम्भः आद्यः क्रियाक्षणः। आरम्भे यो धुर्वर्तते तस्मात् क्तः स कर्तरि भवति यथाप्राप्त च भावकर्मणोः। प्रकृतो भवान् कटम्। प्रकृतः कटो भवता। प्रकृत भवता। प्रभुक्तो भवानोदनम्। प्रभुक्तः ओदनो भवता। प्रभुक्तं भवता। धिभ्यस्तु "धिगत्यर्थाच्च" [२।४।५८] इति वक्ष्यति। आद्यक्रियाक्षणकाले। कटो नाभिनिर्वृत्तः तस्योपचारात् भूतकालेन प्रकृतशब्देन सामानाधिकरण्यम्।

श्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजृषश्च ॥२।४।५७॥ श्लिषादिभ्यः कर्तरि क्तो भवति यथाप्राप्त च भावकर्मणोः। "धिगत्यर्थाच्च" [२।४।५८] इति सिद्धे इह सकर्मकार्थमुपादानम्। इदमेव ज्ञापकम्। अकर्मका (सकर्मका) अपि भवन्ति। आश्लिष्टः कन्या देवदत्त.। आश्लिष्टा कन्या देवदत्तेन। आश्लिष्ट देवदत्तस्य। अतिशयितो गुरु भवान्। अतिशयितो भवता गुरुः। अतिशयित भवत'। उपस्थितो गुरु भवान्। उपस्थितो भवता गुरुः। उपस्थित' भवतः। उपासितो गुरु भवान्। उपासितो भवता गुरुः। उपासित भवतः। अनूषितो गुरुं भवान्। अनूषितो भवता गुरुः। अनूषित भवत.। अनुजातो माणवको माणविकाम्। अनुजाता माणविका माणवकेण। अनुजात माणवकस्य। आरूढो वृक्ष देवदत्त.। आरूढ वृक्षो

---

1. षट्ङ्गस्य ब०, स०। 2. षट्ङ्ग' ब०, स०। 3. चाधे' मु०। 4. खार्थौ' च अ०, ब०, स०। 5. खार्थौ' अ०, ब०, स०।

देवदत्तेन। आरूढं देवदत्तस्य। अनुजीर्णा वृषली देवदत्तः। अनुजीर्णा वृषली देवदत्तेन। अनुजीर्णं देवदत्तस्य। रुहेरगत्यर्थत्वादन्यदपि गत्यर्थकार्यं न भवति। आरोहयति वृक्षं देवदत्तेन। कर्मसंज्ञा न भवति।

धिगत्यर्थाच्च ॥२।४।५८॥ धिसंज्ञेभ्यः गत्यर्थेभ्यश्च धुभ्यः क्तस्त्यः कर्तरि भवति यथाप्राप्तं च। आसितो भवान्। आसितं भवता। शयितो भवान्। शयितं भवता। गत्यर्थेभ्यः—गतो भवान् ग्रामम्। गतो भवता ग्रामः। गतं भवता। यातो भवान्। यातो भवता ग्रामः। यातं भवता। "कालभावाध्वभिः कर्मभिः सकर्मकवद्भवति" [वा०] वत्करणात् स्वाश्रयमपि भवति। अतस्त्रैरूप्यम्। सुप्तो भवान् मासम्। सुप्तो भवता मासः। सुप्तं भवता। ओदनपाकं सुप्तो भवान्। ओदनपाकः सुप्तो भवता। ओदनपाकं सुप्तं भवता। क्रोशं सुप्तो भवान्। क्रोशः सुप्तो भवता। क्रोशं सुप्तं भवता।

अधिकरणे चाद्यर्थाच्च ॥२।४।५९॥ क्त इति वर्तते। अद्यर्था अभ्यवहारार्थाः। अद्यर्थेभ्यो धिगत्यर्थेभ्यश्च क्तोऽधिकरणे भवति कर्तरि भावे कर्मणि च। यथाप्राप्तं कर्तृकर्मभावेषु। अद्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्मभावेषु क्तः। अधिकरणे आसिन्निमे भुञ्जते स्म इदमेषां भुक्तम्। इदमेषां पीतम्। "क्तस्याधिकरणे" [१।४।७०] इति कर्तरि ता। कर्मणि—एभिर्भुक्त ओदनः। एभिः पीतं मधु। भावे—भुक्तमेभिः। पीतमेभिः। धिभ्योऽधिकरणकर्तृभावेषु क्तः। अधिकरणे—इदमेषामासितम्। आसितो भवान्। आसितं भवता। गत्यर्थेभ्यः अधिकरणकर्तृकर्मभावेषु क्तः। अधिकरणे—इदमेषां यातम्। यातो देवदत्तो ग्रामम्। यातो देवदत्तेन ग्रामः। यातं देवदत्तेन। इह विभुक्ताः भ्रातरः पीता गावः इति मत्वर्थीयोऽकारः।

दासगोघ्नौ संप्रदाने ॥२।४।६०॥ दास गोघ्न इत्येतौ शब्दौ निपात्येते संप्रदाने कारके। दासते[1]ऽस्मै पचाद्यचि दासः। गा हन्ति अस्मै आगताय गोघ्नोऽतिथिः। टगत्र निपात्यः। स्त्रिया गोघ्नी देवदत्ता।

भीमादयोऽपादाने ॥२।४।६१॥ भीमादयः शब्दा अपादाने कारके ज्ञातव्याः। भीमादयः शब्दा अन्यत्र साधिताः कारकनियमार्थमिह तेषां पाठः। बिभेत्यस्मादिति भीमः। भीष्मः। भयानकः। चरुः। प्रस्कन्दनम्। प्रपतनम्। समुद्रवन्त्यस्मात् समुद्रः। स्रुवः। स्रुक्। भृष्टिः। रक्षः। संकसन्ति तस्मात् संकसुकः। खलिनः।

उणादयोऽन्यत्राभ्याम् ॥२।४।६२॥ उणादयस्त्या आभ्यां संप्रदानापादानाभ्यामन्येषु कारकेषु भवन्ति। करोतीति कारुः। वृश्चति त वृक्षः। कषितोऽसौ कषिः। ततोऽसौ तन्तुः। वृत्तं तत्र वर्त्म। चरितं तत्रेति चर्म। भसितं तत्रेति भस्म। ऋचन्ति तया ऋक्।

लस्य ॥२।४।६३॥ अकार उच्चारणार्थः। लस्येत्ययमधिकारः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो लस्य स्थाने तद्वेदितव्यम्। नव लकाराः पञ्च टितश्चत्वारो ङितः—लट् लिट् लुट् लृट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लृङ्। एषामनुबन्धापायेन लकारमात्रं स्थानित्वेनाधिक्रियते। त्य इति वर्तते धोरिति च। धोर्विहितस्य त्यस्य लकारस्य ग्रहणात् लभते चूडाल इत्येवमादि परिहृतम्।

मिब्वस्मस्सिप्थस्थतिप्तस्झीड्वहिमहिथासाथांध्वंतातांझङ् ॥२।४।६४॥ लस्य स्थाने मिनादयः आदेशा भवन्ति। पकारः "गोऽपित्" [१।१।७८] इति विशेषणार्थः। इटष्टकारो "टत्ज्भेट." [२।४।८६] इति विशेषणार्थः। झङो ङकारः प्रत्याहारार्थः। पचामि। पचावः। पचामः। पचसि। पचथ.। पचथ। पचति। पचतः। पचन्ति। टितां दविषये आदेशान्तराणि वक्ष्यन्ते। लिटो माना णलादयः आदेशाः वक्ष्यन्ते। लुट्। पक्तासि। पक्तास्वः। पक्तास्मः। इत्येवमादि ज्ञेयम्। लृट्। पक्ष्यामि। पक्ष्यावः। पक्ष्यामः। लोट आदेशाः वक्ष्यन्ते। ङितां लकाराणां मविषये च इह तानुदाहरिष्यामः।

1. क. कर्त-स० ।

लङ्। अपचे। अपचावहि। अपचामहि। वक्ष्यते लिङ्। लुङ्। अपक्षि। अपक्ष्वहि। अपक्ष्महि। लृङ्। अपक्ष्ये। अपक्ष्यावहि। अपक्ष्यामहि।

टिद्दटेरे ॥२।४।६५॥ टिता लकाराणां ये दास्तेषां टेरेत्वं भवति। यत्र एक एवाच् तत्र व्यपदेशिवद्भावाददन्तत्वमुक्तम्। यत्र च तदादिरन्यो नास्ति तत्रापि व्यपदेशिवद्भावात्तदादित्वम्। पचे। पचावहे। पचामहे। "थासः से" [२।४।६६] इति वक्ष्यति। पचसे। पचेथे। पचध्वे। पचते। पचेते। पचन्ते। लिट्। पेचे। पेचिवहे। पेचिमहे। लुट्। पक्ताहे। पक्तास्वहे। पक्तास्महे। लृट्। पक्ष्ये। पक्ष्यावहे। पक्ष्यामहे। लोटो वक्ष्यति। प्रकृतानां मिङां दस्य टेरेत्वम्। तेनेह न भवति। पचमान इति।

थासः से ॥२।४।६६॥ टिद्ग्रहणमनुवर्तते। टितो लकारस्य थासः स इत्ययमादेशो भवति। पचसे। पेचिषे। पक्तासे। पक्ष्यसे।

"एशिरेसेविधानेषु किं स्यादेत्वे प्रयोजनम्। आदेशे तु कृते मा भूत् ज्ञापकं भवितादिषु।"

लिटस्तझयोरेशिरे ॥२।४।६७॥ लिडादेशयोस्त झ इत्येतयोः एश् इरे इत्येतावादेशौ भवतः। शकारः सर्वादेशार्थः। परस्यादिर्मा भूत्। पेचे। पेचिरे। नेमे। नेमिरे।

मानां णलवमथाथुसणलतुसुसः ॥२।४।६८॥ लिट इति वर्तते। लिटो माना स्थाने यथासंख्यं णलादयो नव आदेशा भवन्ति। णकारः ऐवर्थः। लकारः सर्वादेशार्थः। अ इति द्वयोरकारयोः प्रश्लेषनिर्देशः सर्वादेशार्थः। अन्त्यस्याकारस्याकारवचने प्रयोजनाभावात् सर्वादेश इति चेत् सममख्यत्व प्रयोजन संभाव्येत। अथवा धोरिति कानिर्देशात् परस्यादेस्थकारस्याकारः। पपाच। पेचिव। पेचिम। पपक्थ। पेचिथ। पेचथुः। पेच। पपाच। पेचतुः। पेचुः। "वोपदेशे" [५।१।१०८] इत्यादिना वेट्। "सेटि" [४।४।१११] इति एत्व च। वमयोः क्रादिनियमादिट्।

विदो लटो वा ॥२।४।६९॥ मानामिति वर्तते। वेत्तेरुत्तरेषां लटो माना स्थाने वा णलादयो भवन्ति। वेद। विद्व। विद्म। वेत्थ। विदथुः। विद। वेद। विदतुः। विदुः। न च भवन्ति। वेद्मि। विद्वः। विद्मः। वेत्सि। वित्थः। वित्थ। वेत्ति। वित्तः। विदन्ति। विद इति कानिर्देशात् ज्ञानार्थस्य ग्रहणम्। लाभार्थस्य शेन व्यवधानात्।

ब्रुव आहश्च ॥२।४।७०॥ मानामिति वर्तते। लटो वेति वर्तते। ब्रुव उत्तरस्य लटो माना वा णलादयो भवन्ति। तत्सन्नियोगे ब्रुव आहादेशः। अकार उच्चारणार्थः। "न थास्मदः" [२।४।७१] इत्युत्तरत्र प्रतिषेधादत्र पञ्चग्रहणम्। आत्थ। आहथुः। आह। आहतुः। आहुः। थिपस्थे कृते "आहस्थः" [५।३।५२] इति हकारस्य थकारः। "खरि"[२।४।१३०] इति चर्त्वम्। यद्यत्र स्थानिवद्भावात् "ब्रुव ईट्" [५।२।११] इति ईट् स्यात् झलादिप्रकरणे "आहस्थः" [५।३।५२] इति वचनमनर्थकं स्यात्। न च भवति। ब्रवीषि। ब्रुथः। ब्रवीति। ब्रूतः। ब्रुवन्ति।

न थास्मदः ॥२।४।७१॥ ब्रुवः परस्य थस्यास्मदश्च पूर्वोक्ता आदेशा न भवन्ति। ब्रूथ। ब्रवीमि। ब्रूवः। ब्रूमः।

लोटो लङ्वत् ॥२।४।७२॥ लोटो लङ इव कार्यं भवति। लोडादेशाना लङादेशानामिव कार्यमतिदिश्यते इत्यर्थः। पचाव। पचाम। डित्त्वं सर्वं सिद्धम्। पचतम्। पचत। पचताम्। "डित्तस्थमिपां तांतंतामः" [२।४।८२] इत्येतत् सिद्धम्। "एरुः" [२।४।७३] इति उकारः पुनरादेशात् "एर्मे" [२।४।८१] इति इत्वमेव बाध्यते न उकारादेशः। एत च यथा अद्रुः अरुदिति नर्घः तथा यान्तु इत्यत्रापि इत्वादेशः प्राप्नोति। नैष दोषः। वक्ष्यते "आतः" [२।४।८०] "कर्ता वा"

[२।४।६१] इत्यत्र लङ्ग्रहणस्य प्रयोजनं लङेव यो लङ् तस्य जुस् भवति अतिदेशेन यो लङ् तस्य मा भूत् । लङ्वदिति ताताद्दत् (अमूतताम्वत्) तेनाडागमो न भवति ।

एरुः ॥२।४।७३॥ लोट इति वर्तते मानामिति च । लोटो मानामिकारस्य उकारादेशो भवति । इखस्यापवादः । पचतु । पचन्तु । करोतु । कुर्वन्तु । मिप्सिपोरादेशान्तरमुत्वस्य बाधक वक्ष्यते ।

सेर्ह्यपिच्च ॥२।४।७४॥ लोट इति वर्तते । सेर्हिरादेशो भवति अपिच्च । लुनीहि । पुनीहि । आप्नुहि । राध्नुहि ।

मेर्निः ॥२।४।७५॥ लोटो मेर्निरित्ययमादेशो भवति । पचानि । करवाणि ।

आमेतः ॥२।४।७६॥ लोट इति वर्तते । लोडादेशस्य य एकारस्तस्य आमित्ययमादेशो भवति । निर्दिश्यमानस्यादेशो भवति । पचेथाम् । पचताम् । पचेताम् । पचन्ताम् ।

स्वो वामौ ॥२।४।७७॥ लोट इति वर्तते एत इति च । सकारवकाराभ्या परस्य एतो व अम् इत्येता वादेशौ भवतः । पचस्व । पचध्वम् । वयस्व । वयध्वम् ।

पिच्चाडस्मदः ॥२।४।७८॥ लोट इति वर्तते । लोटोऽस्मदः आडागमो भवति पिच्च । करवाणि । करवाव । करवाम । करवै । करवावहै । करवामहै ।

एत ऐ ॥२।४।७९॥ लोटोऽस्मद इति वर्तते । लोटोऽस्मदः एकारस्यैकारादेशो भवति । निर्दिश्यमानस्यादेशोऽयमामोऽपवादः । करवै । करवावहै । करवामहै । चिनवै । चिनवावहै । चिनवामहै ।

ङितः सखम् ॥२।४।८०॥ अस्मद इत्येव । ङितो लकारस्य योऽस्मत्तस्य सख भवति[1] । लङ्-अपचाव । अपचाम । लिङ्-पचेव । लुङ्-अपाक्ष्व । अपाक्ष्म । लृङ्-अपक्ष्याव । अपक्ष्याम ।

एर्मे ॥२।४।८१॥ ङित इति वर्तते । ङिल्लकारसम्बन्धिन इकारस्य ख भवति मविषये । लङ्-अपचः । अपचत् । अपचन् । लिङ्-पचेरन् । पचेत् । लुङ्-अपाक्षीः । अपाक्षीत् । लृङ्-अपक्ष्यः । अपक्ष्यत् । अपक्ष्यन् । म इति किम् ? अपचावहि । अपचामहि ।

मिप्थस्थतसोऽमृतंतताम् ॥२।४।८२॥ ङिता लकाराणा मिप् थस् थ तस् इत्येतेषा यथासख्य अम् त त ताम् इत्येते आदेशा भवन्ति । अपचम् । अपचतम् । अपचत । अपचताम् । लिङ्-पचेयम् । पचेतम् । पचेत । पचेताम् । लुङ्-अपाक्षम् । अपाक्तम् । अपाक्त । अपाक्ताम् । "वदव्रज (व्रजवद)" [५।१।७६] इत्यादिनैप् । "झलो झलि" [५।३।४४] इति सखम् । लृङ्-अपक्ष्यम् । अपक्ष्यतम् । अपक्ष्यत । अपक्ष्यताम् ।

लिङः सीयुट् ॥२।४।८३॥ लिङादेशाना सीयुडागमो भवति । मे यासुटो विधानाद्दे सीयुड् द्रष्टव्यः । टकार "टिदादिः" [१।१।५३] इति विशेषणार्थः । उकार उच्चारणार्थः । पचेय । पचेवहि । पचेमहि । पचेथाः । पचेयाथाम् । पचेध्वम् । पचेत । पचेयाताम् । पचेरन् । "रुदादेर्गे" [५।१।१३५] इति वर्तमाने "लिटोऽनन्त्यसखम्" [५।१।१३८] इति सीयुट्सकारस्य "सुट्तथोः" [२।४।८७] इति सुट्सकारस्य च खम् । आशिषि लिङ्-पक्षीय । पक्षीवहि । पक्षीमहि । पक्षीष्ठाः । पक्षीयास्थाम् । पक्षीध्वम् । पक्षीष्ट । पक्षीयास्ताम् । पक्षीरन् ।

यासुण् मो ङित् ॥२।४।८४॥ लिङ इति वर्तते । लिङो मविषयस्य यासुडागमो भवति ङिच्च । सीयुटोऽपवादोऽयम् । अत्र "किदाशिषि" [२।४।८५] इति वचनात् विध्यादिलक्षणस्य लिङ इहोदाहरणम् ।

---

1. -वति । अपचाव । अपचाम । लिट् । पचेः । पचेत । अ०, ब०, स० ।

कुर्याम् । कुर्याव । कुर्याम । कुर्याः । कुर्यातम् । कुर्यात । कुर्यात् । कुर्याताम् । कुर्युः । "कृञो ये च" [४।४।१६] इति विकरणस्य खम् । "झेर्जुस्" [२।४।८८] इति जुस् । 'उसि" [४।३।८३] इति पररूपम् । स्थानिवद्भावादेव लिङादेशस्य ङित्त्वे सिद्धे यासुटो ङिद्वचनं ज्ञापकं लकाराश्रयमादेशानां ङित्त्वं च न भवति । तेन अचिनवमित्यैप् सिद्धः । पचमाना स्त्री । टित इति ङीप्यो न भवति ।

किदाशिषि ॥२।४।८५॥ आशिषि लिङो यासुट् किद्भवति । ङित्त्वे प्राप्ते कित्त्वं विधीयते । त्वय जागर्तेरैवर्थं च । उह्यासम् । उह्यास्व । उह्यास्म । उह्याः । उह्यास्तम् । उह्यास्त । उह्यात् । उह्यास्ताम् । उह्यासुः । जागर्यासम् । जागर्यास्व । जागर्यास्म । "जागुरविचिणल्ङिति" [५।२।८२] इत्यैप् ।

रन्नज्झेटः ॥२।४।८६॥ लिङादेशयोर्झ इट् इत्येतयोर्यथासंख्यं रन् अत् इत्येतावादेशौ भवतः । पचेरन् । पक्षीरन् । "झोऽन्तः" [५।१।३] इत्यस्यापवादोऽयम् । पचेय । पक्षीय । "क्षीयाशीःप्रैषेषु मिङाकाङ्क्षम्" [१।३।१०२] इत्येवमादिना प्राप्तस्य पस्य निवृत्त्यर्थं तपरकरणम् ।

सुट् तथोः ॥२।४।८७॥ लिङो यौ तकारथकारौ तयोः सुडागमो भवति । अगविषये लिङ् प्रयोजयति । गे सखेन भवितव्यम् । पक्षीष्ठाः । पक्षीयास्थाम् । पक्षीष्ट । पक्षीयास्ताम् ।

झेर्जुस् ॥२।४।८८॥ लिङादेशस्य झेर्जुसित्ययमादेशो भवति । अन्तादेशापवादः । कुर्युः । क्रियासुः । निर्दिश्यमानस्यादेशो न यासुटः ।

थवित्सेः ॥२।४।८९॥ थसंज्ञक वेत्ति सि इत्येतेभ्यः परस्य झेर्जुसादेशो भवति । टित इति वर्तते । तत्र लिङ आदेश उक्तः । लृङः स्येन व्यवधानमस्ति । लुङोऽपि सेरिति भविष्यति । पारिशेष्याद्थवित् ग्रहणं लङर्थम् । अबिभरुः । अजागरुः । "उसि" (जुसि) [५।२।८०] इत्यैप् । विदे. । अविदुः । अकार्षुः । अहार्षुः ।

आतः ॥२।४।९०॥ सेरिति वर्तते । आकारान्तात्सेः परस्य झेर्जुस् भवति । श्रुतिकृत झेरातः परत्व सेरपि कृते त्याश्रयलक्षणेन सेः परत्वम् । अत उभयगतमानन्तर्यं झेरस्ति । अस्थुः । अगुः । अगुः । अदुः । अधुः । त्याश्रयलक्षणेन झेरिति पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमेतत् । आत एव सेरपि कृते नान्यस्मात् अभूवन्निति ।

लङो वा ॥२।४।९१॥ आत इति वर्तते । आकारान्तात्परस्य लङादेशस्य झेर्वा जुस् भवति । अयुः । अयान् । अधुः । अधान् । ननु लङ्ग्रहणमनर्थकम् । टित इति वर्तते । पारिशेष्यात् लङ एव संप्रत्ययः । नानर्थकम् । इह लङेव यो लङ् तस्य झेर्जुस् भवति । अतिदेशे मा भूत् । यान्तु । वान्तु । "थवित्सेः" [२।४।८९] इत्यनेनापि मुख्यस्य लङो ग्रहणादिह न भवति । बिभ्यतु । जाग्रतु । विदन्तु ।

द्विषः ॥२।४।९२॥ लङो वेति वर्तते । द्विषः परस्य लङो झेर्वा जुस् भवति । अद्विषुः । अद्विषन् । अनिगन्तत्वात् 'जुसि" [५।२।८०] इत्यैप् न भवति ।

मिट्शिद्गः ॥२।४।९३॥ मिटः शितश्च त्या धोर्विहिताः गसंज्ञा भवन्ति । भवति । नयति । [illegible] शित् । पचमानः । यजमानः । गसंज्ञाश्रयो विकरण एव भवति ।

शेषोऽग एव ॥२।४।९४॥ मिट्शिद्भ्यामन्यः शेषः । धोरितोर्वे विहितस्तः शेषोऽग[illegible] भवति । लविता । लवितुम् । लवितव्यम् । अग[illegible]दिडागम एव च । धोरिति [illegible] जुगुप्सते । मीमांसते । लूम्यान् । अ[illegible] । [illegible] । अगसंज्ञा[illegible] "[illegible]" [५।१।८१] "[illegible]" [५।२।८१] इत्येवमादयः ।

लिट् ॥२।४।६५॥ एवशब्दोऽनुवर्तते। लिडादेशो मिट् अगसञ्ज एव भवति। पेचिथ। शेकिथ। "वोपदेश" [५।१।१०८] इत्यादिनेट्। "सेटि" [४।४।११] इत्येत्वचखे। गसञ्जासमावेशनिवृत्त्यर्थ-मेवकारोऽभिसंबध्यते। तेरिम इत्यत्र गसञ्जायामसत्या तदाश्रयः शप्न भवति।

लिङाशिषि ॥२।४।६६॥ एवेति वर्तते। आशिषि यो लिङ् तदादेशश्चागसञ्ज एव भवति। भावे—जागरिषीष्ट। कर्मणि—लविषीष्ट। अगसञ्जाया गाश्रय "लिङोऽनन्त्यसखम्" [४।१।१३८] इति सख न भवति। एवकाराधिकारात् गसंज्ञासमावेशो न भवति। यदि स्यायक् प्रसज्येत। आशिषीति किम्? जागृयात्। जागृयाताम्। जागृयुः।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः। समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः।

—:०:—

यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके सान्वयं संप्रतीयते।
तत् सर्वं धातुभिर्व्याप्तं शरीरमिव धातुभिः॥

———

तृतीयोऽध्यायः

ङ्याप्मृदः ॥३।१।१॥ डी इति स्वरूपग्रहणम्। आबिति टाब्डापोः सामान्येन ग्रहणम्। मृदिति-सञ्ज्ञानिर्देशः "अधु मृत्" [१।१।५] "कृद्धत्साः" [१।१।६] इति। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आ कपो विधानात् ङ्यन्तादाबन्तान्मृद्रूपाच्च तद्भवतीत्येव वेदितव्यम्। ननु वक्ष्यमाणास्याः "परः" [२।१।२] इति नियमेन परे प्रयुज्यन्ते। धोः परत्वञ्च तव्यादिभिराक्रान्तम्। मिङन्तं च क्रियावाचि सुबन्तमपि पद क्रियासापेक्षं क्रियात्वभूतमित्यतः पारिशेष्यान्ङ्याप्मृद एव भविष्यन्ति। एव तर्हि वाक्यान्मा भूवन्। वृद्धस्य उपगोरपत्यमिति। गुपदभसञ्ज्ञाश्च प्रयोजनम्। दृद्धकारद्व्यजादिग्रहणानि च ङ्याप्मृदो विशेषणानि न समर्थविभक्त्यन्तस्येत्यधिकारः क्रियते। दु इति मृद्रूपम्। दु—ज्ञानामपत्यमित्यत्र मृद्रूपापेक्षया "वाऽवृद्धाद्दोः" [३।१।१४४] इति दुलक्षणः फिञ् न भवति। अदुलक्षण एव "फिरदोः" [३।१।१४७] इति फिर्भवति। दक्षाणामपत्यमिति मृद्रूपापेक्षया अदन्तलक्षणः इञ् भवति। घटेन तरतीत्यत्र मृदपेक्षया "नौद्व्यचष्ठः" [३।३।१२१] इति "द्व्यज्लक्षणष्ठः सिद्धः" वाचा तरतीत्यत्र न भवति। मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमिति सिद्धे ङ्याब्ग्रहणं किम्? कालितरा। मालितरा। एनिका। हरिणिका। परमपि ह्रत बाधित्वा स्त्रीत्वो यथा स्यात्। अथ "रूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहते प्रोऽनेकाचः" [४।३।१५५] [करणे] इति प्रादेशवचनसामर्थ्यादेतल्लभ्यते। एव तर्हि मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि परिभाषेयमनित्येति ज्ञाप्यते। तेन गोमतीति उगिल्लक्षणो नुम्न भवति। युवतीः पश्येति जिर्न भवति। सख्यौ। सख्यः। इति च णिन्न भवति। ऐ भवति भगवति अघवति इत्यत्र "भवद्भगवदघवतो वा रि. कावस्यौः" [४।४।३] इत्येष विधिर्न भवति। इह त्यग्रहणं न कर्तव्यम्। कथं युवतितरा वामोरुतरा? ह्रदन्तत्वाद्युवतिशब्दस्य मृत्सञ्ज्ञा, वामोरु-शब्दस्यापि मृदमृदोरेकादेशो मृद्ग्रहणेन गृह्यते। अजादिषु हलन्ताट्टाप विधास्यति डापि च टिखेन भवित-व्यमिति एकादेशो नास्ति तस्मात् ङ्याप्ग्रहणं कर्तव्यम्।

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ॥ ३।१।२ ॥ ङ्या-प्मृदः स्वादयो भवन्ति। उकाराद्यनुबन्धनाशः। अनेन विहिताना स्वादीना "कर्मणीप्" [१।४।२] इत्येव-मादिना विभक्तिनियमः "साधने स्वार्थे" [१।२।१२३] इति वचननियमश्च ज्ञातव्य। ङ्यन्तात्तु कुमारी।

कुमार्यौ। कुमार्यः। कुमारीम्। कुमार्यौ। कुमारीः। कुमार्या। कुमारीभ्याम्। कुमारीभिः। कुमार्यै। कुमारीभ्याम्। कुमारीभ्यः। कुमार्याः। कुमारीभ्याम्। कुमारीभ्यः। कुमार्याः। कुमार्योः। कुमारीणाम्। कुमार्याम्। कुमार्योः। कुमारीषु। आबन्तात्—माला। माले। मालाः। मालाम्। माले। मालाः। मालया। मालाभ्याम्। मालाभिः। मालायै। मालाभ्याम्। मालाभ्यः। मालायाः। मालाभ्याम्। मालाभ्यः। मालायाः। मालयोः। मालानाम्। मालायाम्। मालयोः। मालासु। एवं डाबन्तात्। दामाबहुराजादयो नेयाः। मृदः—दृषद्। दृषदौ। दृषदः। दृषदम्। दृषदौ। दृषदः। दृषदा। दृषद्भ्याम्। दृषद्भिः। दृषदे। दृषद्भ्याम्। दृषद्भ्यः। दृषदः। दृषद्भ्याम्। दृषद्भ्यः। दृषदः। दृषदोः। दृषदाम्। दृषदि। दृषदोः। दृषत्सु।

स्त्रियाम् ॥३।१।३॥ स्त्रियामिति प्रकृतिविशेषणम्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः स्त्रिया वर्तमानान्मृदः स्वार्थे तद्वेदितव्यम्। यदि स्त्रियामभिधेयायामिति स्यात् द्विबहू न स्याताम्। कुमार्यौ कुमार्य इति। एकत्वात् स्त्रीत्वस्य अनेकत्योत्पत्तिश्च न स्यात्। कालितरा। भावप्रधानत्वात् स्त्रियामिति निर्देशस्य कुमारी देवदत्तेति सामानाधिकरण्य च न स्यात्। अथापि स्त्रीसमानाधिकरणान्मृद इत्यभ्युपगम्येत एवमपि भूतमिय नारी। कारणमियं कन्या। आवपनमियमुष्ट्रिकेति। भूतशब्दादिषु स्त्रीत्वाः प्रसज्येरन्। तस्मात् स्त्रिया वर्तमानान् मृद इत्येवाधिकृतम्। वक्ष्यति "अजाद्यतष्टाप"। अजा। देवदत्ता। स्त्रियामिति किम्? अजो देवदत्तः। शब्दजनित प्रत्ययवर्गाः स्त्रीत्वादय इहाभिप्रेता न वस्तुवर्गाः। अव्याप्तेः। शब्दो हि श्रोत्रपथ गतो लिङ्गसङ्ख्यावन्त [illegible] जनयति स प्रत्ययः। खट्वादिषु रसादिषु अभावादिषु च शब्देषु संभवति।

अजाद्यतष्टाप् ॥३।१।४॥ अजादिभ्यः अकारान्तेभ्यश्च मृदः स्त्रिया वर्तमानेभ्यष्टाबित्ययं त्यो भवति। पकारः टाप्डापोः सामान्यग्रहणार्थः। टकारः सामान्यग्रहणविघातार्थः। अन्यथा एकानुबन्धकग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्येति विघातः स्यात्। बाधकबाधनार्थमनकारान्तार्थं चाजादिग्रहणम्। अजा। एडका। अश्वा। चटका। मूषिका। "जातेरयोङः" [३।१।५३] इत्यस्यापवादः। बाला। होढा। पाका। वत्सा। मन्दा। विलाता। "वयस्यनन्त्ये" [३।१।२४] इत्यस्य प्राप्तिः। पूर्वापहाणा। अपरापहाणा। टिड्ढाणञस्यापवादः। निपातनाण्णत्वम्। "संभस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलाट्टाप्" [वा०] सफला। भस्त्राफला। अजिनफला। शणफला। पिण्डफला। "सत्प्राक्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पाट्टाप्" [वा०] सत्पुष्पा। प्राक्पुष्पा। काण्डपुष्पा। प्रान्तपुष्पा। शतपुष्पा। एकपुष्पा। "पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालद्यो" [३।१।५४] इत्यस्यापवादः। "शूद्राच्चामहत्पूर्वात् जातिश्चेत्" [वा०] शूद्रा नाम जातिः। अमहत्पूर्वादिति किम्? महाशूद्री। आभीर-जातिरियम्। अमहत्पूर्वादिति शब्दपरस्य महतः आत्वं न भवति। जातिरिति किम्? शूद्रस्य भार्या शूद्री। पुयोगादीकारः। अमहत्पूर्वादिति प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति। तेन महा[illegible]। धीवानमतिक्रान्ता अतिधीवरी। अतिभवती। अतिमहतीति सिद्धम्। कुञ्चा। उष्णिहा। देवविशा। "ज्येष्ठा-ट्टाप्"[वा०] ज्येष्ठा। कनिष्ठा। मध्यमा। पुयोगलक्षणा प्राप्तिः। कोकिला जातिः। "मूलान्नञश्च टाप्"[वा०] अमूला। पकारात्परटाप्। शार्कराक्ष्या। पौतिमाष्या। गौकक्ष्या। अतः खल्वपि खट्वा। देवदत्ता। तपर[illegible] किम्? क्षीरपाः स्त्री।

आवट्यात् ॥३।१।५॥ आवट्यशब्दादाप् भवति। अवटस्यापत्यं स्त्री आवट्या। यञ ईप् [illegible] धेरपवादः। पुरस्तादपवादोऽयं ष्फो न बाधकः। आवट्यायनी।

उगिदृदन्ताड्डी ॥३।१।६॥ उक् ऋत् [illegible] [illegible] मृत् वर्णान्ता तदन्तात् [illegible] रान्तेभ्यश्च मृदः स्त्रिया वर्तमानेभ्यो ङीयो भवति। उगागो "[illegible]" [४।३।२६] [illegible]।

---

१. [illegible]।

गोमती। तत्रभवती। पचन्ती। उगिदिति यदीदं त्यग्रहणमेव स्यात् त्यग्रहणे यस्मात् तदादेरिति इह न स्यात्। अतिभवती। निर्गोमती। अथ मृद्विशेषणमेव स्यात् मृद्ग्रहणेन तदन्तविधिरिति तथापीह न स्यात्। अतिमहतीति। तस्मान्नेदं त्यग्रहणमेव; नापि मृद्ग्रहणमेव; अपि त्वेकदेशग्रहणमिदम्। उक् इत् यस्यैकदेशस्य तदन्तान्मृद इति। स चैकदेशः त्यो मृद्वर्णश्च सम्भवति। त्यः। श्रेयसीत्यादि। मृद्-तत्रभवतीत्यादि। वर्णः। पुमांसमतिक्रान्ता अतिपुंसीति। "पुनातेर्मुम्सुकौ प्रश्च" इति सकारो वर्ण उगित्। यद्यागमेषु वर्ण उगिदिति[1] डीविधिर्विधीयते तुक्यपि प्राप्नोति अग्निचित् कन्येति। उभयोरुकारयोर्ग्रहणसामर्थ्यादिहैव भवति नान्यत्र। अञ्चतेरुपसंख्यानं नियमार्थं कर्तव्यम्। प्राची। प्रतीची। उदीची। धोरुगितः नान्यस्मात्। उखास्रत्कन्या। ऋकारान्तात् कर्त्री। हर्त्री। नकारान्तात्। दण्डिनी। छत्रिणी।

वनोऽहशो रश्च ॥३।१।७॥ वन इति वनः क्वनिपश्च ग्रहणम्। अहशन्ताद्यो विहितो वन् तदन्तात् स्त्रियां वर्तमानान्मृदो रेफश्चान्तादेशो भवति डीश्च। पूर्वेण सिद्धे रेफार्थमिदम्। धयतिपिबतिभ्यां क्वनिप्। धीवरी। पीवरी। मेरुदृश्वरी। कथं शर्वरी ? शृणातेरजन्ताद् वन्। कथमवावरी ? अन ओणतेरणविषय आत्वे कृते वन्। "अनीचः" [३।१।१७] इत्यत्र वक्ष्यति। पूर्वो विधिर्नीचोऽपि भवति। बहुधीवरी। अतिधीवरी। अथवा अमहत्पूर्वादित्यत्र तदन्तविधिर्ज्ञापितः। अहश इति किम् ? सहयुद्ध्वा स्त्री "राज्ञि युधि कृञः" [२।२।८२] "सहे" [२।२।८३] इति क्वनिप्। "सन्नियोगशिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभावः" [परि०] इति रेफादेशाभावे पूर्वेणाप्यत्र डीत्यो न भवति। एवमर्थश्चकारः क्रियते।

नेल्स्वस्रादेः ॥३।१।८॥ स्त्रियामिति वर्तते। इल्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्त्रियां यदुक्तं तन्न भवति। पञ्च कुमार्यः। सप्त रोहिण्यः। अथात्रानेन डीप्रतिषेधे कृते नखे सति अत इति टाप् कस्मान्न भवति। सुब्विधौ नखस्यासिद्धत्वात्तदन्तत्वाभावान्न टाप्। कथमयं सुब्विधिः ? तत्र टापः पकारेण सुपो ग्रहणात्। यद्येवं बहुचर्मिकेत्यत्र नखस्यासिद्धत्वात् "त्यस्थे क्यापी" [५।२।१०] इति कात्पूर्वस्यात इत्वं न स्यात्। एवं तर्हि इहोभौ डीटापौ प्रतिषिध्येते। उक्तं च—

"इल्संज्ञानामन्ते नष्टे टाबुत्पत्तिः कस्मान्न स्यात् ? प्रत्याहारादापा सिद्धं दोषस्त्वित्वे तस्मान्नोभौ।"

स्वस्रादिभ्यः—स्वसा। दुहिता। स्वसृ दुहितृ ननान्दृ यातृ मातृ तिसृ चतसृ।

मनो डाप् च ॥३।१।९॥ डी इति वर्तते नेति च। मन्नन्तान्मृदः स्त्रियां वर्तमानाड्डाप् भवति डीप्रतिषेधश्च। डकारः टिखार्थः। पकारः सामान्यग्रहणार्थं। पामे। पामाः। पामानौ। पामानः। "अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिः" [परि०] सीमे। सीमानौ। सुप्रथिमे। सुप्रथिमानौ। अतिमहिमे। अतिमहिमानौ।

अनश्च वात् ॥३।१।१०॥ अन्नन्ताद् बसात् स्त्रियां वर्तमानाड्डाब् भवति डीप्रतिषेधश्च। चकारो डीप्रतिषेधानुकर्षणार्थः। अर्थवतोऽनर्थकस्य चानो ग्रहणम्। अनुद्भवतो वसस्येहोदाहरणम्। उद्भवतस्त्वैरूप्यं वक्ष्यति। सुपर्वे। सुपर्वाः। सुपर्वाणौ। सुपर्वाणः। नकारान्तत्वान्डी प्रसज्येत। वादिति किम् ? अतिक्रान्ता पर्वाणि अतिपर्वणी।

वोड्डे ॥३।१।११॥ अन्नन्ताद्वसात् उड्डः खे वर्तमानात् डाब्डीप्रतिषेधौ वा भवतः। वावचनाद्यथाप्राप्तः। नकारान्तान्डीविधिः "वनोऽहशो रश्च" [३।१।७] इत्यप्यनुज्ञायते। बहुराजे। बहुराजाः। बहुराजानौ। बहुराजानः। बहुराज्ञ्यौ। बहुराज्ञ्यः। बहुतक्षे। बहुतक्षाः। बहुतक्षाणौ। बहुतक्षाणः। बहुतक्ष्णी।

---

१. उगिदचां घेऽधोः [४।१।४१] इति सूत्र इति शेषः।

बहुतक्षणः। बहुधीवे। बहुधीवा। बहुधीवानौ। बहुधीवानः। बहुधीवर्यौ। बहुधीवर्यः। उड इति किम्? सुपर्वा। सुपर्वाणौ। पूर्वेण द्वैरूप्यम्। अन इत्येव सुमत्स्या नदी।

ङी खौ ॥३।१।१२॥ खुविषयेऽन्नताद् वशान्ङी भवति। अधिराज्ञी नाम ग्रामः। पुनर्ङी-ग्रहणं नित्यार्थम्।

ऊधसः ॥३।१।१३॥ वादिति वर्तते। ऊधःशब्दान्तादृवसान्ङी भवति। कुण्डमिवोधो यस्याः कुण्डोध्नी। द्वे ऊधसी यस्याः द्व्यूध्नी। निर्गतमूधोऽस्या निरूध्नी "ऊधसोऽनङ्" [४।२।१३२] इति अनन्तः। "वोड्खे" [३।१।११] इति त्रैरूप्यं प्राप्तम्। स्त्रियामेवानङ्। सान्त इत्येव। इह मा भूत्। महोधाः। पर्जन्यः। वादित्येव। प्राप्ता ऊधः प्राप्तोधा गौः। "इपा च प्राप्तापन्ने" [१।३।२०] इति षसः। तोरपूर्ववल्लिङ्गं व्याख्यातम्।

दामहायनात्संख्यादेः ॥३।१।१४॥ संख्यादेर्वशात् दामान्तात् हायनान्ताच्च ङी भवति। द्विदाम्नी। त्रिदाम्नी। "वोड्खे" [३।१।११] इति त्रैरूप्यं प्राप्तम्। "हायनाद्वयसि स्मृतः" [वा०] द्विहायनी। त्रिहायणी। चतुर्हायणी वत्सा। "त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वमपि वयसीष्यते" [वा०] तेनेह ङीविधिर्णत्वं च न भवति। द्विहायना। त्रिहायना। चतुर्हायना शाला। सख्यादेरिति किम्? उद्दामा वडवा। "वोड्खे" [३।१।११] इत्यनेन त्रैरूप्यं भवति।

पादो वा ॥३।१।१५॥ पाच्छब्दान्तान्मृदः स्त्रियां वर्तमानाद्वा ङी भवति। द्विपात्। द्विपदी। त्रिपात्। त्रिपदी। "सुसंख्यादेः" [४।२।१४०] इति पादशब्दस्य खम्। पादयतेः क्विबन्तस्य प्रयोगो नास्ति।

टाबृचि ॥३।१।१६॥ पाद इति वर्तते। पाच्छब्दान्तान् मृदष्टाब् भवति ऋच्यभिधेयायाम्। द्विपदा ऋक्। त्रिपदा ऋक्। ऋचीति किम्? द्विपदी देवदत्ता।

अनीचः ॥३।१।१७॥ न्यक्छब्दोऽत्राप्रधानवचनो नञ्पूर्वः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽनीच इत्येवं तद्वेदितव्यम्। नीचो ङ्यादयो न भवन्तीत्यर्थः। वक्ष्यति "टिड्ढाणञ्" [३।१।१८] इति। कुरुचरी। मद्रचरी। "जातेरयोङः" [३।१।५३]। कुक्कुटी। शूकरी। अनीच इति किम्? बहुकुरुचरा। बहुकुक्कुटा मथुरा। ननु पूर्वत्र समुदायः स्त्रिया वर्तते नावयवः। अवयव एव च टित् समुदायः। द्वितीयेऽपि न सगुणो जातिवाची; किं त्ववयवः, तत्कथं प्राप्तिः? इदमेव ज्ञापकं भवत्यत्र प्रकरणे तदन्तविधिरिति। तथाहि प्रधानभूतेन तदन्तविधिः कुम्भकारी देवदत्तकुक्कुटी। यद्येव पूर्वमेवेदं सूत्रं वक्तव्यम्। इह करणात् पूर्वविधिर्नीचोऽपि भवतीति ज्ञाप्यते। बहुधीवरी बहुपीवरीति।

टिड्ढाणञ्ठण्ठञ्क्वरपः ॥३।१।१८॥ अत इति वर्तते। टित् ढ अण् अञ् ठण् ठञ् क्वरप् इत्येवमन्तेभ्यः स्त्रियां ङी भवति। टापोऽपवादः। "अनीचः" [३।१।१७] इत्यधिकारात् प्रधानेन तदन्तविधिः। टित्-कुरुचरी। मद्रचरी। "कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्" [परि०] न मन्तव्यम्। इह टग्रहणात्। ढ-सौपर्णेयी। वैनतेयी। "शिलाया ढः" [४।१।१२६] इत्यस्य निरनुबन्धकस्य स्त्रियामभिधानं नास्ति। अण्-कुम्भकारी। औपगवी। कथं चुराशीला चौरी। तपःशीला तापसी। णोऽप्यण् इति वदन्ति। अञ्-औत्सी। [illegible]। ठण्-लाक्षिकी। [illegible]। ठञ्-पारायणं वर्तयति पारायणिकी। [illegible]। क्वरप्-इत्वरी। नश्वरी। अनीच इत्येव। बहुकुरुचरा। [illegible] महत्त्वम्। [illegible] च न भवतीत्युक्तम्। [illegible]। [illegible] न ग्रहणम्। [illegible]।

यञः ॥३।१।१९॥ यञन्तान्मृदः स्त्रियां ङी भवति। गार्गी। वात्सी। "हलो ह्रतो ङ्याम्" [४।४।१४०] इति यकारस्य खम्। "द्वीपादनुसमुद्रे ऽयञ्" [३।२।१३०] इति अयञ्। द्व्यनुबन्धकः। तस्येहाग्रहणम्। द्वीपे भवा द्वैप्या। योगविभाग उत्तरार्थः।

फट् ॥३।१।२०॥ यञ इति वर्तते। यञन्तान्मृदः स्त्रियां फडित्ययं त्यो भवति। टकारो ङ्यर्थः। अथ गार्ग्यायणी इति स्थिते फटो हृत्संज्ञाविरहात् "कृद्धृत्साः" [१।१।६] इति मृत्संज्ञा नास्ति। कथं ङीविधिः? टित्करणसामर्थ्यात् भविष्यति। गार्ग्यायणी। वात्स्यायनी। आवट्यायनी। वचनात्पूर्वोऽपि विधिर्भवति। गार्गी। वात्सी।

लोहितादिसकलान्तात् ॥३।१।२१॥ यञ इति वर्तते। लोहितादिर्गर्गादिष्वन्तर्गणः। लोहितादिभ्यः सकलशब्दपर्यन्तेभ्यो यञन्तेभ्यः स्त्रियां फट् त्यो भवति। पुनरारम्भो नित्यार्थः। तेन फडेव भवति। "यञः" [३।१।१९] इत्यनेन ङीः प्राप्तो निवर्त्यते। लौहित्यायनी। सासित्यायनी[1]। बाभ्रव्यायणी। सौचव्यायणी। साचव्यायनी। लान्तव्यायनी। जैगीषव्यायणी। मानव्यायनी। मातव्यायनी। मनायीशब्दस्य पाठसामर्थ्यात् "भस्य ढ्त्यदे" [वा०] इति पुवद्भावो न भवति। मानाय्यायनी। काव्यव्यायनी। रौढ्यायणी। तारुक्ष्यायणी। तालुक्ष्यायणी। ताण्ड्यायनी। वातण्ड्यायनी। आङ्गिरसे तु वतण्डीत्येव भवति। काप्यायनी। कात्यायनी। शाकल्यायनी।

कौरव्यासुरिमाण्डूकात् ॥३।१।२२॥ कौरव्य आसुरि माण्डूक इत्येतेभ्यः फट् भवति। कौरव्यायणी। टाप्प्राप्तः। अ आसुरीति प्रश्लेषनिर्देशात् अकारश्चान्तादेश आयनादेशो (शे) न स्वेको दीत्वार्थः। अदत्वाद् "यस्य ङ्यां च" [४।४।१३६] इति खम् प्राप्नोति। आसुरायणी। "इतो मनुष्यजातेः" [३।१।५४] इति ङीव्प्राप्तः। माण्डूकस्यापत्यं स्त्री माण्डूकायनी। "ढञ्च मण्डूकात्" [३।१।१०८] इत्यण्। ङी प्रसज्येत। "तस्येदम्" [३।३।८८] इत्यणि विवक्षिते कौरवीति भवति। शैषिकार्थविवक्षायां "इञः" [३।३।८८] इत्यणि प्राप्ते "दोश्छः" [३।२।६०] इष्यते। आसुरिणा प्रोक्ता आसुरीया शिक्षा।

गौरादेः ॥३।१।२३॥ गौरादिभ्यः स्त्रियां ङी भवति। गौरी। वर्णत्वे बहुल ङीप्राप्तेः संज्ञायामप्राप्तेः। गौर मत्स्य मनुष्य शृङ्ग गवय हय मुकय ऋष्य[2] "अयोडः" [३।१।५३] इति ङीप्रतिषेधः प्राप्तः। शृङ्गाट्टाप् प्राप्तः। एवमुत्तरत्राप्यूह्यम्[3]। पुट पट[4] द्रुण द्रोण हरिण ककण अरीहण वरट उकण[5] आमलक कुवल बदर बिल्व (बल्लक) शिग्र कर्कर तर्कार शर्कार शष्कण्ड शष्कुल सुषव पाण्डशो केषाञ्चित्। सालन्द (सलद) गडुल पड्डुश[6] आटक आनन्द सृपाट शष्कुल सूर्य पूष मूष घातक सल्लक मालक मालत साल्वक वेतस वृत (वृस) अतस उमा (उभय) भृङ्ग मह मठ छेद श्वन् तक्षन् अनडुही अनड्वाही। एषणात्करणे कारके। देहमेथकाकादनगवादनादय। यान मेध गौतम (गोतम) अयस्थूण भौरिकि भौलिकि भौलिङ्गि औद्गाहमानि आलम्बि आयामक[7] आलब्धि आपाच्चिक (आपच्चिक) ऊपस्तर्च[8] (?) आरट टोट नट मूलाट आसूरण (आस्तरण) अधिकार प्रलंवारोहिणी[9] आग्रहायणी[10]। अग्रहायणस्य स्वार्थे अण् णत्वं च निपात्यते। सेचनी। सुमङ्गलात्संज्ञायाम्। सुन्दर मण्डल मन्थर मन्दुल पेट (पट, पिट (विट) पिण्ड ऊर्द गूर्द सूर्द। केषाञ्चित् रेफान्तरो मकारः। सूर्म हर्द भाण्ड लोहाण्ड कदर कन्दर कदल कन्दल तरुण तलुन सौधर्म्म। रोहिणी रेवती च नक्षत्रे। विकल निष्कल पुष्कल। कटाच्छ्रोण्याम्। पिप्पल्यादयश्च। पिप्पली हरीतकी कोशातकी शमी करीरी

---

1. सासित्यायनी मु०। 2 ऋश्य अ०। 3. आऽप्यभ्यूह्यम् अ०, ब०, स०। 4. पद मु०। 5. उपक मु०। 6. पण्डुश स०। पटुस ब०। 7. अपामक ब०। आपामक स०। 8. ऊपतश्च ब०। 9. प्रलंवातोहिन् मु०। 10. साग्रहायण मु०।

पृथिवी क्रोष्टु मातामह पितामही एही पर्येही आश्मरथ्यात्फट् प्रातः । काव्या शैव्या एतौ ष्यान्तौ। आरोह चण्ड । "नृनरयोरैप् च" [वा०] नारी । येऽत्रानडुहीप्रभृतय ईकारान्ताः पठ्यन्ते तेषा से पुवद्भावो न भवति । अनडुहीभार्यः । प्रत्यवरोहिणीभार्यः । आग्रहायणीभार्यः । इति ।

वयस्यनन्त्ये ॥३।१।२४॥ प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था वयः । वयस्यनन्त्ये वर्तमानान्मृदः स्त्रिया ङीत्यो भवति । कुमारी । किशोरी । वर्करी । वधूटी । चिरण्टी । तरुणी । तलुनी । अनन्त्य इति किम् ? स्थविरा । वृद्धा । "कन्यायाः कनीन च"[३।१।१०५] इति निपातनात् कन्या । अत इत्येव । शिशुः । उत्तानशया । लोहितपादिका । द्विवर्षा । नैते साक्षाद्वयोवाचिनः शब्दाः । अथवा द्विवर्षादिषु "परिमाणाद्ध्रदुपि" [३।१।२६] इत्येतस्मान्नियमान्न भविष्यतीति ।

रात् ॥३।१।२५॥ रसंज्ञकान्मृदः स्त्रिया ङीत्यो भवति । अकारान्तोत्तरपदो रः स्त्रियां भाष्यते । पञ्चाना पूलाना समाहारः पञ्चपूली । दशपूली । अन्नन्तस्य रसस्य खं स्त्रिया चेति पञ्चतक्ष्णी दशतक्ष्णी । पञ्चाजी । अजादिष्वजशब्दो जातिवचनोऽभिप्रेतः । कथ त्रिफला ? अजादिषु पाठात् ।

परिमाणाद्ध्रदुपि ॥३।१।२६॥ सर्वतो मानं परिमाणम् । परिमाणान्ताद् रात् ह्रदुपि सति ङीत्यो भवति । द्वाभ्या कुडवाभ्या क्रीता आर्हीयस्य त्यस्य"राट्टुबखौ"[३।४।२६]इत्युप् । द्विकुडवी । द्व्याढकी ।"रात्" [३।१।२५] इति सिद्धे नियमार्थोऽयम् । यतः परिमाणादेव ह्रदुपि नान्यतः । पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा । दशाश्वा । तुल्यजातीयस्य नियमान्निवृत्तिः । समाहारे भवत्येव । पञ्चाश्वी । परिमाणादिति योगविभागः कर्तव्यः । तत इष्टतोऽवधारणं लभ्यते परिमाणशब्देनेह रूढिवशात् प्रस्थादिर्गृह्यते । कालसंख्ययोरग्रहणम् । तेन द्विवर्षा । त्रिवर्षा । द्विशता । त्रिशता । द्वे वर्षे प्रमाणमस्याः "प्रमाणे ध्वंसनं राच्च" इति द्व्यसडादीनामुप् । उक्त च-
"ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः । आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वत." ।

न विस्ताचितकम्बल्यात् ॥३।१।२७॥ बिस्त आचित कम्बल्य इत्येवमन्ताद् रात् ह्रदुपि ङीत्यो न भवति । बिस्तादीना परिमाणत्वात् सर्वेण प्राप्तिः-द्वाभ्या बिस्ताभ्या क्रीता द्विबिस्ता । त्रिबिस्ता । द्व्याचिता । त्र्याचिता । द्विकम्बल्या । त्रिकम्बल्या ।

काण्डात् क्षेत्रे ॥३।१।२८॥ काण्डशब्दान्तात् रात् ह्रदुपि सति क्षेत्रेऽभिधेये ङीत्यो न भवति । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्ति । "प्रमाणेण्द्वयसड्दघ्न मात्रटः" [३।४।५८] इत्यागताना द्वयसडादीना प्रमाणे ध्वंसन राच्चेति वक्ष्यमाणया इष्टया उप् । काण्ड धनु । तस्य परिमाणशब्देनाग्रहणात् "परिमाणाद्ध्रदुपि' [३।१।२६] इत्यनेन नियमेन प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थमिदम् । क्षेत्र एव प्रतिषेधो भवति नान्यत्र । द्विकाण्डी । त्रिकाण्डी रज्जुः । "रात्" [३।१।०५] इति ङीविधिः ।

पुरुषात्प्रमाणे वा ॥३।१।२९॥ ह्रदुपीति वर्तते । प्रमाणे यो वर्तते पुरुषशब्दस्तदन्ताद्राद् ह्रदुपि वा ङीत्यो भवति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः खातायाः द्वयसडादीना "प्रमाणे ध्वसन राच्च" इति उप् । द्विपुरुषा । द्विपुरुषी । त्रिपुरुषा । त्रिपुरुषी । अपरिमाणत्वात्पुरुषस्य "परिमाणाद्ध्रदुपि" [३।१।२६] इति नियमान्निवर्तितो ङीत्यो विकल्प्यते । प्रमाण इति किम् ? द्वाभ्या पुरुषाभ्यां क्रीता द्विपुरुषा । ह्रदुपीत्येव । समाहारे पञ्चपुरुषी ।

गुणोक्तेरुतोऽखरुस्फोटः ॥३।१।३०॥ वेति वर्तते । गुणोक्तेर्मृद उकारान्ताद् वा ङीत्यो भवति खरुशब्दं स्फोटं च वर्जयित्वा । यः शब्दो गुणे वर्तित्वा द्रव्ये वर्तते स गुणोक्तिरित्युच्यते । पटुः । पट्वी । मृदुः । मृद्वी । गुणोक्तेरिति किम् ? आखुः । जातिरेषोऽत्र । उत इति किम् ? शुचिः । [illegible] । अखरुस्फोट इति किम् ? खरुरिय कन्या । [illegible] कन्या । "अन्ये निविदनेनैव [illegible] ।

साधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः।'' सत्त्वं द्रव्यं तत्र निविशते उत्पद्यते आश्रयति वा स गुण इति सम्बधः। द्रव्यादपैति अपगच्छति यथाम्रात् हरितता पीततायां उत्पन्नायाम्। पृथग्जातिषु दृश्यते, यथा सैव हरितता तरुणतृणेषु। आधेयः उत्पाद्यः, यथा कुसुमयोगात् गन्धो वस्त्रे, यथा वा घटे रक्तता। अक्रियाजश्च क्रियाजश्च क्रियातो नोत्पद्यते यथाऽऽकाशादिषु महत्त्वादि। चकारात् क्रियाजश्च यथा सयोगो विभागो वा असत्त्वप्रकृतिर्द्रव्यस्वभावरहितो निर्गुण इत्यर्थः।

बह्वादेः ॥३।१।३१॥ वेति वर्तते। बहु इत्येवमादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्त्रिया वा ङीत्यो भवति। बहुः। बही। पद्धतिः। पद्धती। बहु पद्धति अञ्चति अङ्कति अहति शकटि शक्ति। केचिच्छस्त्रेऽर्थे शक्ति पठन्ति। सामर्थ्ये शक्तिरेव तेषाम्। शस्ति शारि राति राधि शाधि अहि कपि मुनि यष्टि। किमर्थमिकारान्ताः पठ्यन्ते। यावता कृदिकारादक्तेरित्येव सिद्धे पद्धतिशब्दान्न स्यात् इतरेभ्यश्चाव्युत्पत्तिपक्षः "इतः प्राण्यङ्गात्"[ग०] श्रोणिः श्रोणी। धमनिः। धमनी। इत इति किम्? ग्रीवा। प्राण्यङ्गादिति किम्? कौणिः। सारिणः। "कृदिकारादक्तेः'' [ग०] भूमिः। भूमी। अक्तेरिति किम्? कृतिः। हृतिः। अत्त्यर्थावि(दि)त्येके। इहापि मा भूत्। अकरणिर्हन्त ते वृषल। कृदिकारादिति किम्? सुगन्धिः। सुरभिगधिः। स्त्रीहृतो न भवति। व्युत्पत्तिपक्षे कृदिकारस्यैचः पूर्वः प्रपञ्च। चण्ड अगल कमल कृपण विकट विशाल विशङ्कट भरुज। चन्द्रभागान्नद्याम्। कल्याण उदार पुराण। अहःशब्दस्येह पाठोऽनर्थकः। केवलस्य स्त्रियामवृत्तेः। सविधौ तु उत्तरपदभूतस्य "वोङ्खे" [३।१।११] इत्यनेनैव नैरूप्य सिद्धम्। बहुशब्दस्य गुणवाचित्वात्पूर्वेणैव विकल्पे सिद्धे द्विर्बद्धं सुबद्ध भवतीति पुनर्ग्रहणम्। तेन सक्तुदुक्तो अणन्तान्ङीविधिः। क्वचिन्न भवति। कामिकेति।

पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यौ ॥३।१।३२॥ पतिवत्नी अन्तर्वत्नी इत्येतौ शब्दौ निपात्येते। पतिमच्छब्दस्य ङीत्ये परतः मतोर्वत्व नुमागमश्च निपात्यते। जीवति भर्तरि पतिवत्नी। जीवत्पतिरित्यर्थः। अन्यत्र पतिमती पृथिवी। अन्तःशब्दादधिकरणप्रधानाद् अस्तिसामानाधिकरण्याभावात् विहितो मतुर्नुक् च निपात्यते गर्भिण्याम्। अन्तर्वत्नी गर्भिणी। अन्यत्र अन्तरस्यामस्ति शालायाम्। उक्त च—"पतिवत्न्यां नुका वत्वमन्तर्वत्न्यां मतुर्नुका। जीवत्पत्यां च गर्भिण्यां यथासङ्ख्यं निपात्यते॥''

पत्नी ॥३।१।३३॥ पत्नीति निपात्यते। पतिशब्दस्य स्त्रिया नकारोऽन्तादेशः पुयोगे निपात्यते ङीत्यो नकारान्तत्वादेव भवति। इयमस्य पत्नी। अस्य पुसः वित्तस्य स्वामिनीत्यर्थः। पुयोगादन्यत्र पतिरियमस्य ग्रामस्य।

सपत्न्यादौ ॥३।१।३४॥ सपत्न्यादिषु पत्नीशब्दो निपात्यते "वा से" [३।१।३५] इति विभाषया पत्नीशब्दस्य निपातने प्राप्ते नित्यार्थ वचनम्। समानः पतिरस्याः सपत्नी। यद्येव पत्नीति वर्तते समानादिभ्य इति वक्तव्ये सनकारेकारस्य समुदायस्योच्चारण किमर्थम्? समानशब्दस्य सभावार्थम्। इकारापायेऽपि नकारश्रवणार्थं च। सपत्न्या अय सापत्न्यः। कृतेकारस्योच्चारण पुवद्भावप्रतिषेधार्थमित्येके। सपत्नीभार्यः। एवं एकपत्नी। वीरपत्नी। पिण्डपत्नी। पुत्रपत्नी। भ्रातृपत्नी।

वा से ॥३।१।३५॥ से पत्नी वा निपात्यते। पतिशब्दान्तस्य मृदः स्त्रिया वा नकारोऽन्तादेशो निपात्यते। बसे पत्ते चेद् निपातनम्। अनीच इति नाभिसम्बध्यते। गृह्यमाणस्य शब्दस्याभावात्। बसे-दृढ पतिरस्या दृढपतिः। दृढपत्नी। स्थिरपतिः। स्थिरपत्नी। वृद्धपतिः। वृद्धपत्नी। स्थूलपतिः। स्थूलपत्नी। षत्ते ग्रामस्य पतिः ग्रामपतिः। ग्रामपत्नी। अप्राप्ते विकल्पोऽयम्। पुसा योगे पत्नीति नित्य निपातनम्। तेन पत्नीशब्देन ताते राजपत्नीत्येव भवति। स इति किम्? पतिरियमस्य ग्रामस्य।

वर्णाद्बहुलं तो नस्तु ॥३।१।३६॥ वर्णवाचिनो मृदः स्त्रिया बहुलं ङीत्यो भवति तकारस्य तु नकारादेशः। तुशब्दः किमर्थः? बहुल ङीविधिर्भवति तकारस्य तु नकारो नित्य यथा स्यादित्येवमर्थः। एता।

एनी। स्येता। स्येनी। रोहिता। रोहिणी। हरिता। हरिणी। शवली। पिशङ्गी। कल्माषी। सारङ्गी। काली संज्ञाया वर्णे च। काला अन्या। क्वचिदप्रवृत्तिरेव श्वेता। असिता। पलिता। कृष्णा। कपिला। क्वचिदुभयथा। शोणी। शोणा। वडवा। नीली ओषधिः। प्राणिनि च नीली वडवा। नीली गौः। संज्ञायामुभयम्। नीली। नीला। आच्छादने न भवत्येव। नीला शाटी। नीला मेघसहतिः। वर्णादिति किम्? कृता। हृता। अत इत्येव। सितिः कन्या।

कुण्डगोणस्थलभाजनागकुशकामुककवरादत्रमावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु ॥३।१।३७॥ कुण्डादिभ्यः कवरशब्दपर्यन्तेभ्योऽमत्रादिष्वर्थेषु यथासङ्ख्यं स्त्रियां ङीप् भवति। कुण्डी भवति अमत्रं चेत्। कुण्डा अन्या। दाह इत्यर्थः। गोणी भवति आवपनं चेत्। गोणा अन्या। संज्ञैषा। स्थली भवति अकृत्रिमा चेत्। स्थला अन्या। भाजी भवति श्राणा चेत्। भाजा अन्या। भाजयतेः स्त्रियां युचि प्राप्ते अत एव निपातनादकारः। नागी भवति स्थौल्यं चेत्। नागा अन्या। तन्वी दीर्घा वा। संज्ञाया वा। जातिविवक्षायां तु नित्यं ङी। कुशी भवति अयोविकारश्चेत्। कुशा अन्या। काष्ठादिमयी तदाकृतिः। कामुकी भवति मैथुनेच्छा चेत्। कामुका अन्या। कवरी भवति केशवेशश्चेत्। कवरा अन्या।

पुंयोगात् ख्योरगोपालकादेः ॥३।१।३८॥ अत इति वर्तते। पुंयोगाद्धेतोर्यः शब्दः स्त्रियां वर्तते ख्युभूतस्तस्मान्ङीप् भवति गोपालकादीन् वर्जयित्वा। उपाध्यायस्य स्त्री उपाध्यायी। गणकी। प्रष्ठी। महामात्री। एते संज्ञाशब्दा पुंयोगात् स्त्रियां वर्तन्ते। पुंयोगादिति किम्? देवदत्ता। ख्योरिति किम्? प्रसूता। प्रजाता। परिभ्रष्टा। पुंयोगादेते शब्दाः स्त्रियां वर्तन्ते, न तु पुंसि संज्ञाभूताः। अगोपालकादेरिति किम्? गोपालिका। पशुपालिका। आदिशब्दः प्रकारवाची। तेन सूर्याद्देवतायां ङीर्न भवति। सूर्यस्य भार्या सूर्या। देवतायामिति किम्? सूर्यो नाम मनुष्यः तस्य सूरीति।

पूतक्रतोरै च ॥३।१।३९॥ पुंयोगादिति वर्तते। पूतक्रतुशब्दान्ङीप्[1] भवत्यैकारश्चान्तादेशः। पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी। पुंयोगादित्येव। पूताः क्रतवो यस्याः सा पूतक्रतुः।

वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदात् ॥३।१।४०॥ ऐ चेति वर्तते पुंयोगादिति च। वृषाकपि अग्नि कुसित कुसीद इत्येतेभ्यः स्त्रियां ङीप् भवति ऐकारश्चान्तादेशः। वृषाकपायी। अग्नायी। कुसितायी। कुसीदायी। कुसितकुसीदयोः संज्ञाशब्दत्वात् पूर्वेणैव सिद्धेऽप्यैकारार्थं वचनम्। पुंयोगादित्येव। वृषाकपिर्नाम काचित्।

मनोरौ च ॥३।१।४१॥ पुंयोगादिति वर्तते। औकारश्चान्तादेश ऐकारश्च। मनोः स्त्री मनावी। मनायी। केषाञ्चिन्मनुरित्यपि।

वरुणभवशर्वरुद्रेन्द्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ॥३।१।४२॥ वरुणादिभ्यः मृडान्तेभ्यो स्त्रियां ङीप् भवति आनुगागमः। अत्र केषाञ्चिच्छब्दाना पुंयोगादिति सिद्धेऽप्यानुगर्थं ग्रहणम्। वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी। इन्द्राणी। मृडानी। 'हिमारण्ययोर्महत्त्वे'' [वा०] महद्धिमं हिमानी। महदरण्यमरण्यानी। 'यवाद्दोषे'' [वा०] दुष्टो यवः यवानी। ''यवनाल्लिप्याम्'' [वा०] यवनानां लिपिः यवनानी। उपाध्यायमातुलाभ्यां वा। आनुक एवात्र विकल्पः। उपाध्यायी। उपाध्यायानी। मातुली। मातुलानी। 'आचार्यादणत्वं च' [वा०] आचार्यानी। आचार्या। 'आर्यक्षत्रियाभ्यामपुंयोगे वेति वक्तव्यम्' [वा०]

1. -न्ङीप्तु टित्यो मु०।

आर्याणी। आर्या। क्षत्रियाणी। क्षत्रिया। अपुयोग इति किम्? आर्यस्य भार्या आर्यी। क्षत्रियस्य भार्या क्षत्रियी। आनुगिति द्विमात्रोच्चारणमिष्टिसंग्रहार्थम्।

क्रीतात्करणादेः ॥३।१।४३॥ क्रीतशब्दान्तान्मृदः करणादेः स्त्रियां ङीत्यो भवति। वस्त्रेण क्रीयते या वस्त्रक्रीती। वसनक्रीती। "साधनं कृता बहुलम्" [१।३।२६] इत्यत्र बहुलवचनाल्लब्धम्। "तिवाकारकाणां कृद्भिः सविधिः प्राक्सुबुत्पत्तेः" [परि०] इति करणवाचिशब्दस्य क्रीतशब्देन सविधिः। पश्चादकारान्तलक्षणो ङीविधिः। करणादेरिति किम्? सुक्रीता। दुष्क्रीता। "इदुदुडोऽत्ययुपुम्मुसः" [४।४।२८] इति सत्वप्रसङ्गे। कथं "सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी" बहुलवचनान्न। सुबन्तेन वृत्तिर्न कृदन्तेन। सुबुत्पत्तिश्च बहिरङ्गा अन्तरङ्गे टापि कृते भवतीति सिद्धम्। क्रीतान्तान्मृद इति विशेषणात् वाक्ये न भवति, वस्त्येन (वित्तेन) क्रीता।

क्तादल्पे ॥३।१।४४॥ करणादेरिति वर्तते। करणादेर्मृदः क्तान्तादल्पे ङीत्यो भवति। अत्रापि प्राक् सुबुत्पत्तेः सविधिः। अभ्रविलिप्ती द्यौः। अल्पान्यस्यामभ्राणीत्यर्थः। सूपविलिप्ती पात्री। अल्प इति किम्? चन्दनानुलिप्ता।

जातेर्यात् ॥३।१।४५॥ क्तादिति वर्तते। जातिशब्दपूर्वः क्तान्तो यो बसस्तस्मान्ङीत्यो भवति। अस्वाङ्गादेरुत्तरत्र विकल्पो वक्ष्यते। स्वाङ्गे पूर्वपदमिहोदाहरणम्। शङ्खौ भिन्नौ यस्याः सा शङ्खभिन्नी। ऊरुच्छिन्नी। गलकोत्कृत्ती। केशलूनी। जातेरिति किम्? मासजाता। बहुजाता। अजाता। सुखजाता। दुःखजाता। यादिति किम्? सव्यजानुप्रतिष्ठिता। "जातान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०] दन्तजाता। स्तनजाता। "पाणिगृहीत्यादीनां गुर्वनुज्ञातेन ङी वक्तव्यः" [वा०] पाणिगृहीती भार्या। यस्यास्तु यथाकथञ्चित् पाणिर्गृहीतः सा पाणिगृहीता। त इति दतोक्त (त इत्यत्रोक्त) जातिकालसुखादिभ्यः परनिपातस्तान्तस्येति जातिरत्र सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या।

वाऽस्वाङ्गादेः ॥३।१।४६॥ क्तादिति वर्तते यादिति च। अस्वाङ्गादेः क्तान्ताद्बसाद् वा ङीत्यो भवति। सारङ्गं जग्धमनया सारङ्गजग्धी। सारङ्गजग्धा। पलाण्डुभक्षिती। पलाण्डुभक्षिता। सुरापीती। सुरापीता। अस्वाङ्गादेरिति किम्? शङ्खभिन्नी। स्वाङ्गादेः पूर्वेण नित्यो विधिः। वेति व्यवस्थितविभाषा। तेनेह न भवति। वस्त्रं छन्नमस्याः वस्त्रच्छन्ना। वसनच्छन्ना। पक्षेऽपि सज्ञाया विकल्पः। प्रवृद्धविलूनी। प्रवृद्धविलूना।

स्वाङ्गान्नीचोऽस्फोडः ॥३।१।४७॥ वेति वर्तते। स्वाङ्गं न्यक् अस्फोड् यत् तदन्तान्मृदो वा ङीत्यो भवति। दीर्घकेशी। दीर्घकेशा। गौरमुखी। गौरमुखा। स्वाङ्गादिति किम्? बहुयवा। अस्फोड इति किम्? कल्याणगुल्फा। कल्याणपार्श्वा। वेति व्यवस्थितविभाषा व्याख्याता। तेन 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वा प्रतिषेधः' [वा०] मृद्वङ्गी। मृद्वङ्गा। मृदुगात्री। मृदुगात्रा। स्निग्धकण्ठी। स्निग्धकण्ठा। बसाधिकारे पुनर्न्यग्ग्रहण पाठम्। अतिकेशी। अतिकेशा। निष्केशी। निष्केशा माला। इह कस्मान्न भवति? कल्याण पाणिपादमस्याः कल्याणपाणिपादा। स्वाङ्गसमुदायः स्वाङ्गग्रहणेन न गृह्यते। किं स्वाङ्गम्? "अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्। अतत्स्थं तत्र दृष्टं चेत् तस्य चेत् तत् तथायुतम्।" स्वाङ्गं मुखादि। अद्रवमिति किम्? बहुकफा। मूर्तिमदिति किम्? बहुज्ञाना। प्राणिस्थमिति किम्? श्लक्ष्णमुखा शाला। अविकारजमिति किम्? बहुशोफा। अतत्स्थं तत्र दृष्टं च प्राक् प्राणिनि दृष्टं सम्प्रत्यप्राणिस्थमपि स्वाङ्गम्। दीर्घकेशी। दीर्घकेशा रथ्या। तस्य चेत् तत् तथायुतम् येन प्रकारेण प्राणिनो युतं दृष्टं तस्याप्राणिनोऽपि यदि तत्तथायुतं दृश्यते एवमपि स्वाङ्गम्। दीर्घमुखी दीर्घमुखा अर्चा।

नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गात् ॥३।१।४८॥ स्वाङ्गान्नीच इति वर्तते वेति च। नासिकादयो ये व्यञ्जस्तदन्तान्मृदो वा ङीत्यो भवति। दीर्घनासिकी। दीर्घनासिका। तनूदरी। तनूदरा। बिम्बोष्ठी। बिम्बोष्ठा। "ओत्वोष्ठयोर्वा से पररूपमुपसंख्यास्यते" [वा०] समजङ्घी। समजङ्घा। समदन्ती। समदन्ता। चारुकर्णी। चारुकर्णा। तीक्ष्णशृङ्गी। तीक्ष्णशृङ्गा। नासिकोदरयोः "बह्वचः" [३।१।४६] इत्यनन्तरे प्रतिषेधे प्राप्ते ग्रहणम्। सहनञ्विद्यमानलक्षणस्तु प्रतिषेधो भवत्येव। शेषाणामस्फोड इति पूर्वस्मिन् प्रतिषेधे प्राप्ते उपादानम्। सहादिप्रतिषेधस्तु भवत्येव। "पुच्छाच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] दीर्घपुच्छी। दीर्घपुच्छा। "कबरमणिशरविषेभ्यो नित्यमिति वक्तव्यम्" [वा०] कबर पुच्छमस्याः कबरपुच्छी। मणिः पुच्छेऽस्याः मणिपुच्छी। विषं पुच्छेऽस्याः विषपुच्छी। "ईङ्विशेषणे वे" [१।३।१०१] इत्यत्र खड्गादिभ्यः ईबन्तस्य परवचनमुक्तम्। "उपमानात् पक्षपुच्छाभ्यामिति वक्तव्यम्" [वा०] उलूक इव पक्षावस्याः उलूकपक्षी शाला। उलूक इव पुच्छमस्या उलूकपुच्छी सेना।

न क्रोडादिबह्वचः ॥३।१।४६॥ क्रोडादिर्गणः। क्रोडाद्यन्तात् बह्वजन्ताच्च मृदो ङीत्यो न भवति। "स्वाङ्गान्नीचः" [३।१।४७] इति प्राप्तिः। क्रोडाशब्दः स्त्रीलिङ्गः। कल्याणी क्रोडा अस्याः कल्याणक्रोडा। कल्याणगोखा। कल्याणबाला। कल्याणखुरा। कल्याणशफा। कल्याणगुदा। क्रोडादिराकृतिगणः। सुभगा। सुगला। बह्वचः खल्वपि। पृथुजघना। दृढहृदया। महाललाटा।

सहनञ्विद्यमानात् ॥३।१।५०॥ सह नञ् विद्यमान इत्येतेभ्य उत्तरं यत्स्वाङ्गं तदन्तात् ङीत्यो न भवति। सकेशा। अकेशा। विद्यमानकेशा। सनासिका। अनासिका। विद्यमाननासिका। सुदन्ता। अदन्ता। विद्यमानदन्ता।

नखमुखात्खौ ॥३।१।५१॥ नख मुख इत्येवमन्तान्मृद खुविषये ङीत्यो न भवति। शूर्पणखा। व्याघ्रणखा। वज्रणखा। "पूर्वपदात् खावगः" [५।४।८७] इति णत्वम्। गौरमुखा। श्लक्ष्णमुखा। कालमुखा। संज्ञाशब्दा एते। खाविति किम्? शूर्पमिव नखा अस्या शूर्पणखी। शूर्पणखा। चन्द्रमुखी। चन्द्रमुखा।

सख्यशिश्वी ॥३।१।५२॥ सखी अशिश्वी इत्येतौ शब्दौ निपात्येते। ङीविधिर्निपात्यते। सखीयं कुमारी। नास्याः शिशुरस्ति अशिश्वी।

जातेरयोङः ॥३।१।५३॥ अत इति वर्तते। जातिवाचिनः अयकारोऽङो मृदः स्त्रिया ङीत्यो भवति। "आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्। सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह।" आकृतिः संस्थानम्। आकृतिग्रहणमस्याः आकृतिग्रहणा। ब्राह्मणत्वादीनां जातिविशेषाणां संस्थानविशेषाभावात् कथं संग्रहः? लिङ्गानां च न सर्वभाक्। एकलिङ्गो द्विलिङ्गो वा भावो जातिः। ब्राह्मणत्वादिषु [illegible] जातिव्यवहारस्य निर्बन्धनम्। जायमानेऽपि द्विलिङ्गतास्ति देवदत्तः देवदत्ता इति। अथ कथं [illegible] तयमित्येवमादिषु जातिवाचित्वम्? सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या। अभिधानप्रत्यययोग्नाकन्मि[illegible] इति। एवं सकृदाख्याता निश्चयेन ग्राह्या। ननु सर्वे शब्दा जातिवाचिनः इत्यस्मिन् दर्शने [illegible] क्रियागुणशब्दानां च जातिशब्दत्वं देवदत्तादयोऽपि संज्ञाशब्दा बलकौमारयौवनादिभन्नां[illegible] मन्ते। एवं च देवदत्त[illegible] शुक्लेतरं [illegible] प्रवर्तेत? यदि [illegible] दर्शनमाश्रीयेत [illegible] ग्रहणमनर्थकं स्यात्। तत्र [illegible] प्रवृत्तिनिमित्तं न दृष्टमित्यदः। गोत्रं च [illegible]

---

१. -[illegible]—मु०। २ -[illegible]—अ०।

जातिः। नात्राकृतिः प्रतीयते नापि किञ्चिल्लिङ्गमस्ति येन सकृदाख्यायेत। लिङ्गाना च न सर्वभागित्यस्मिन् दर्शने गोत्र चेति न वक्तव्यम्। चरणैः सहेति चरणमध्ययनवशात् क्रिया तदात्मक[1] जातिः। कुक्कुटी। ब्राह्मणी। तटी। नाडायनी। बहृची। कठी। कठेन प्रोक्तमधीते या "शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन्" [३।३।७७] इति णिन्। परस्याणः "उप्प्रोक्तात्" [३।२।५४] इत्युप्। शौनकादिवेव। "कठचरकात्" इति इन उप्। जातेरिति किम्? मुण्डा। अयोड इति किम्? आर्या। क्षत्रिया।

पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालद्योः ॥३।१।५४॥ पाकादयो द्युभूता यस्य तस्माज्जातिवाचिनो मृदः स्त्रिया ङीत्यो भवति। ओदनपाकी। लक्ष्णपाकी। मूषिककर्णी। शङ्कुकर्णी। पृष्टिपर्णी। शालिपर्णी। शङ्खपुष्पी। हिरण्यपुष्पी। दासीफली। पूगफली। दर्भमूली। शीर्यमूली। गोवाली। अश्ववाली। पुष्पफलमूलोत्तरपदायतो ङीविधिर्नेष्यते तदजादिषु पठनीयम्। पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमेतत्। स्त्रियामेव ये जातिवाचिनः शब्दास्तेषु एतेभ्य एव ङीविधिर्नान्यस्मात्। बलाका। मक्षिका।

इतो मनुष्यजातेः ॥३।१।५५॥ इकारान्तान्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रिया ङीत्यो भवति। कुन्ती। अवन्ती। अपत्यार्थे "द्वित्कुरुनाद्यजादकौशलाञ्ञ्यः" [३।१।१५३] इति ञ्यः। तस्य "कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्" [३।१।१५७] इत्युप्। एव दाक्षी। प्लाक्षी। इत इति किम्? विट्। दरत्। यथासंख्यमञणोः "अतोऽप्राच्यभर्गादेः" [३।१।१५८] इत्युप्। मनुष्यग्रहणं किम्? तित्तिरिः। जातेरिति वर्तमाने पुनर्जातिग्रहणं योडोऽपि यथा स्यात्। औदमेयी। "अयोडः" [३।१।५३] इति प्रतिषेधः उत्तरत्र त्रिसूत्र्या च वर्तते। "इञ उपसंख्यानमजात्यर्थं कर्तव्यम्" [वा०] सुतङ्गमेन निर्वृत्ता नगरी सौतङ्गमी। "वुञ्छण्कठे" [३।२।६०] इत्यादिना सुतङ्गमादिभ्य इञ्।

ऊरुतः ॥३।१।५६॥ मनुष्य॰ातेरिति वतते। उकारान्तान्मनुष्यजातिवाचिनो मृदः स्त्रिया ऊकारस्त्यो भवति। कुरूः। इक्ष्वाकूः। पर्शूः। अस्य "कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम्" [३।१।१५७] इति अञणोः "अतोऽप्राच्यभर्गादेः" [३।१।१५८] इत्युप्। द्विमात्रोच्चारणं "शेषाद्वा" [४।२।१२४] इति परस्यापि कपो बाधनार्थम्। तथाहि ब्रह्मा बन्धुर्यस्याः सा ब्रह्मबन्धूः। वीरबन्धूः। अत्र च समुदायो ब्राह्मणविशेषजातिः। यद्भावेन मृदमृदोरेकादेशो मृद्वद्भवतीति मृत्सञ्ज्ञाया स्वाद्युत्पत्तिः। मनुष्यजातेरित्येव। रुरुः। कृकवाकुः। आखुः। अयोड इत्येव। अध्वर्युः स्त्री। अलाबूः। कर्कन्धूरित्येवमादय औणादिकाः। कथ अलाबुकर्कन्धुदृन्भुफलमिति? "इकः प्रोऽड्याः" [४।३।१७२] इति प्रादेशेन सिद्धम्।

पङ्गोः ॥३।१।५७॥ पङ्गुशब्दात् स्त्रियामूत्यो भवति। पङ्गूः। श्वशुरशब्दस्योकाराकारयोः खमूश्च त्यो वक्तव्यः। श्वश्रूः।

ऊरुद्योरिवे ॥३।१।५८॥ ऊरुशब्दो द्युर्यस्य तस्मान्मृद इवार्थे गम्ये स्त्रियामूत्यो भवति। करभोरूः। कदलीस्तम्भोरूः। नागनासोरूः। इव इति किम्? वृत्तोरुः कन्या।

संहितशफलक्षणवामादेः ॥३।१।५९॥ संहिताद्यादेर्मृदः ऊरुद्योः स्त्रियामूत्यो भवति। अनिवार्योऽयमारम्भः। संहितोरूः। शफोरूः। लक्षणोरूः। वामोरूः। "सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्" [वा०] सहितोरूः। सहोरूः।

बाह्वन्तकद्रुकमण्डलुभ्यः ॥३।१।६०॥ बाहुशब्दान्तान्मृदः कद्रुकमण्डलुशब्दाभ्या खुविषये ऊत्यो भवति। मद्रबाहूः। भद्रबाहू। कद्रूः। कमण्डलूः। कासाञ्चिदेताः सञ्ज्ञाः। खाविति किम्? वृत्तौ बाहू अस्याः वृत्तबाहुः। कद्रुः। कमण्डलुः।

---

1. यदात्मक जाति अ०, ब०, स०।

ह्रुतः ॥३।१।६१॥ अधिकारेणेयं संज्ञा। यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम आकपो ह्रुत्संज्ञास्ते वेदितव्याः। वक्ष्यति।‘ "यूनस्तिः" [३।१।६२] युवतिः। "क्रुद्-ह्रस्वाः" [१।१।६] इति मृत्मगाया स्त्र्युत्पत्तिः। बहुलनिर्देशोऽनुक्तपरिग्रहार्थः। मध्यान्म उक्तोऽन्यतोऽपि भवति। अन्तमः। आदिमः। धर्म्माट्ठण् विहितः। अधर्मादपि। आधर्मिकः। ह्रुतामिह बहुत्वेन निर्देशे किं प्रयोजनम्? अनुक्ताच्च ह्रुदुत्पत्तिर्यथा स्यादन्तमादिषु। तथा अनुक्ता अपि ह्रुतो भवन्ति "अग्रपश्चाड्डिमः" [वा०] इत्येवमादयः।

यूनस्तिः ॥३।१।६२॥ युवन्नित्येतस्मात्तिर्भवति स्त्रियाम्। युवतिः। यूनः स्त्रीविवक्षायां कुत्सार्थविवक्षायां च परत्वात् कादयः प्राप्नुवन्ति तस्माद्यून इति योगविभागः। यूनो ह्रुत्प्रसङ्गे स्त्रीत्व एव भवति ततः कादयः। युवतिकाः।

ष्योऽनु रूपान्त्ययोर्वृद्धेऽनार्षेऽणिञो ॥३।१।६३॥ स्त्रियामिति वर्त्तते। अणिञौ यौ वृद्धेऽनार्षे विहितावनु रूपान्त्यौ तदन्तस्य मृदः ष्य इत्ययमादेशो भवति। निर्देश्यमानयोरणिञोरेव ष्यादेशः। "पौत्रादि वृद्धम्" [३।१।७८] इति अपत्यविशेषस्य वृद्ध संज्ञा। ऋषेरिदमार्षं तद्रहिते वृद्ध इति। "रफे रुः [१।२।८१] "दीः" [१।२।८२] इति अचा रुसंज्ञोक्ता। रुः उपान्त्य सन्निहित ययोरणिञोस्तयोः ष्यादेशः। षकारः "षे ष्यस्य पुत्रपत्योर्जि." [४।३।६] इत्यत्र विशेषणार्थः। करीषस्येव गन्धोऽस्य करीषगन्धिः। "उपमानात्" [४।२।१३८] इति वा इकारः सान्तः। करीषगन्धेरपत्यं स्त्री कारीषगन्ध्या। कौमुदगन्ध्या। वराहस्यापत्यं स्त्री वाराह्या। बालाक्या। जातिलक्षणस्य "अयोङः" [३।१।५३] इति प्रतिषेधः। अनल्विधाविति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादणिञ्लक्षणोऽपि ङील्यो न भवति। ततः ष्यान्ताट्टाप्। अदिवति हलामविवक्षार्थमचा निर्द्धारणं क्रियतेऽनु रूपान्त्ययोरिति। अन्यथा येन नाव्यवधान तेन व्यवहितेऽपीति एकेन वर्णेन व्यवधाने वाराह्यादिषु स्यात्। वर्णसङ्घाते व्यवधाने कारीषगन्ध्यादिषु न स्यात्। अदिवति बहुलनिर्देशः प्रधानभूतो यत्राचा बहुत्वमस्ति तत्रादेशः। तेनेह न भवति। दाक्षी। प्लाक्षी। रूपान्त्ययोरिति किम्? औपगवी। वृद्ध इति किम्? अहिच्छत्रे जाता आहिच्छत्री। अनार्ष इति किम्? वाशिष्ठी। वैश्वामित्री। अणिञोरिति किम्? आर्तभागी। ऋतभागाद्बिदादिलक्षणोऽञ्। इह उडुलोम्नोऽपत्यं स्त्री औडुलोम्या। बाह्वादित्वादिञ् टिखे कृते रूपान्त्यत्वं ततः ष्यादेश इति आनुपूर्व्यम्[१]।

गोत्रावयवात् ॥३।१।६४॥ अणिञोरिति वर्त्तते। गोत्रमिति पूर्वाचार्याणां वृद्धस्य संज्ञा। गोत्रावयवाः गोत्राभिमताः कुलाख्याः। गोत्रावयववाचिनो मृदः वृद्धे विहितयोरणिञोः स्त्रियां ष्यो भवति। अरूपान्त्यार्थोऽयमारम्भः। पुणिकस्यापत्यं स्त्री पौणिक्या। भुणिकस्य भौणिक्या। मुखरस्य मौखर्या। यथानन्तरापत्येऽपि ष्यो दृश्यते कौड्यादिषु तत्पठनीयम्। यथा अन्तकाम्या देवदत्ता।

कौड्यादेः ॥३।१।६५॥ कौडीन्येवमादिभ्यश्च स्त्रियां ष्यो भवति यथासम्भवं ङीटापोः प्राप्तयोः। कौड्यादेरनन्तरापत्यार्थः। क्वचिदवृद्धार्थः। क्वचिदरूपान्त्यार्थः आरम्भः। क्वचिदणिञोरभावेऽपि। न तदन्तविधिः इष्यते। कौडि। कौड्या। "इतो मनुष्यजातेः" [३।१।५४] इति ङीविधिः प्राप्तः। लाडि लाड्या। आपिशलि आपिशल्या। एते इञन्ताः। चौपयत चैटयत [illegible] एते तकारान्ता अणन्ताः। सौधातकिरिञन्तः। "सूतयुवत्याम्" [ग० सू०] सूत्या। [illegible] "भोजात् क्षत्रियायाम्" [ग० सू०] भोज्या। भोजा अन्या। [illegible] एते इञन्ताः। [illegible]

१. आनुपूर्व्यं अ०। २. [illegible]

दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्ठेविद्धिभ्यो वा ॥३।१।६६॥ दैवयज्ञि शौचिवृक्षि सात्यमुग्रि काण्ठेविद्धि इत्येतेभ्यः वा ष्यो भवति। उभयत्र विभाषेयम्। वृद्धे प्राप्तेऽनन्तरापत्ये चाप्राप्ते। दैवयज्ञ्या। दैवयज्ञी। शौचिवृक्ष्या। शौचिवृक्षी। सात्यमुग्र्या। सात्यमुग्री। काण्ठेविद्ध्या। काण्ठेविद्धी। अनन्तरापत्ये "इञ उपसंख्यानमजात्यर्थम्" [वा०] इति ङी। वृद्धापत्ये "इतो मनुष्यजातेः" [३।१।५५] इति।

समर्थात्प्रथमाद्वा ॥३।१।६७॥ समर्थादिति प्रथमादिति वेति च पदत्रितयमधिकृत वेदितव्यम्। "किंबहुसर्वनाम्नोऽद्व्यादेः" [४।१।६८] इत्यतः प्रा ् वक्ष्यति "तस्यापत्यम्" [३।१।७७] उपगोरपत्य औपगवः। तस्येत्येतत् तान्त सूत्रे प्रथम सन्निविष्टम् तस्मादपत्याभिधाने त्यः। समर्थादित्युच्यते सामर्थ्य च सुबन्तस्येति सुबन्तात्त्योत्पत्तिः। ङ्यवर्णादिति विशेषणार्थ तु ङ्याप्मृद्ग्रहणमधिक्रियते। वृद्धस्य उपगोरपत्य-मिति वाक्यस्यासुबन्तत्वात् वाक्यावयवस्य चासामर्थ्यात् त्यानुत्पत्तिः। समर्थादिति किम्? कम्बल उपगोरपत्यं देवदत्तस्य। यद्येव समर्थः पदविधिरिति समर्थादेव भविष्यति किमनेन? कृतवर्णानुपूर्वकात् पदात् त्यो यथा स्यादित्येवमर्थम्। सूत्थितस्यापत्य सौत्थितिः। वैद्कमारिणिरिति। "नेन्द्रस्य" [५।२।२७] इत्यत्र वक्ष्यति समु-दायकार्यं तावद्भवति पश्चादेकादेशः। एव वा (चा) सहितात्योत्पत्तावनिष्ट रूप स्यात्। प्रथमादिति किम्? तान्ताद्यथा स्यादपत्यशब्दान्मा भूत्। वाग्रहण किम्? उपगोरपत्यमिति वाक्यमपि साधु यथा स्यात्। अनन्त-राद्वाग्रहणात् सविधिरपि। उपग्वपत्यम्।

प्राग्द्रोरण् ॥३।१।६८॥ "द्रोः" [३।३।११६] "माने वयः" [३।३।१२०] इति वक्ष्यति। प्रागे-तस्माद्येऽर्था वक्ष्यन्ते तेष्वण् भवतीति वेदितव्यम्। अधिकारो विधिर्वाऽयम्। अधिकारपक्षे "पीलाया वा" [३।१।१०७], "वोदश्वितः" [३।२।१४] इत्येवमादौ वावचनादपवादविषये नास्ति वृत्तिः। विधिपक्षेऽपि [1]परि-हृत्यापवादविषय तत उत्सर्गोऽभिनिविशते। वक्ष्यति तस्यापत्यम् औपगवः। कापटवः। अपवादेन बाधितोऽप्युत्तर-त्रानुवर्ततामिति प्राग्वचनम्।

अश्वपत्यादेः ॥३।१।६९॥ अश्वपति इत्येवमादिभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः अण् भवति प्राग् द्रोर-र्थेषु। "पतिद्योः" [३।१।७०] इति ण्यो वक्ष्यते। तस्यायमपवादः। अश्वपतेरपत्यं आश्वपतः। अश्व-पति गणपति वनपति गजपति राष्ट्रपति कुलपति पशुपति धान्यपति बन्धु[2]पति सभापति प्राणपति क्षेत्रपति येऽत्र दुखशास्तेभ्यो "दोश्छः" [३।२।६०] इतिच्छ बाधित्वा पूर्वनिर्णयेनायमेवाण्।

दित्यदित्यादित्यपतिद्योर्ण्यः ॥३।१।७०॥ प्राग् द्रोरिति वर्तते। दिति अदिति आदित्य पतिद्यु इत्येतेभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः प्राग् द्रोरर्थेषु ण्यो भवति। अणोऽपवादः। दितेरपत्य दैत्यः। "द्व्यचः", "इतो-निञ" [३।१।११०, १११] इतीमं ढणं पूर्वनिर्णयेनाय बाधते। सर्वतो "अक्त्यर्थात्" [३।१।३१ ग०सू०] इति ङीविधौ कृते परत्वाड्ढण् च भवति। दैतेयः। लिङ्गविशिष्टपरिभाषा वा नित्या अदितेरपत्य आदित्यः। आदि-त्यस्यापत्यमादित्यः। प्राकृतस्य यकारस्य "क्यच्व्यनादुद्धृत्यापत्यस्य" [४।४।१४१] इति "हलो यमां यमि खम्" [५।४।१२८] इति वा खम्। पतिद्योः खल्वपि। बार्हस्पत्यः। सैनापत्यः। प्राजापत्यः। ण्यादयोऽ-र्थविशेषलक्षणादण (णोऽ) पवादात् पूर्वनिर्णयेन (इति) ण्य एव भवति। वनस्पतीना समूहः वानस्पत्यम्। "यमाच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] यमस्यापत्य याम्यः। "पृथिव्या ञाञौ" [वा०]। पार्थिवः। पार्थिवी। "देवस्य यञञौ" [वा०]। दैव्यम्। दैवम्। "बहिषष्टिखं यञ्च" [वा०]। बाह्यम्। "ईकण् च" [वा०] बाहीकः। केर्ममात्रटिखमनित्यमारातीय इत्यादौ। स्थाम्नोऽकारः। अश्वत्थाम्नोऽपत्यम् अश्वत्थामः। "लोम्न-स्त्वपत्येषु बहुषु" [वा०] उडुलोमाः। शारलोमाः। बहुष्विति किम्? औडुलोमिः। शारलोमिः। "सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यः" [वा०] गव्यः। अजादिप्रसङ्ग इति किम्? गोरूप्यम्। गोमयम्।

---

1. प्रकल्प्य चापवादविषय "इति परिभाषेन्दुशेखरे। 2 बन्धपति अ०, ब०, स०।

उत्सादेरञ् ॥३।१।७१॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते। उत्स इत्येवमादिभ्यः समर्थविभक्त्यन्तेभ्यः प्राग्द्रोरर्थेष्वञ् भवति। अणस्तदपवादानां च बाधकः। अञि सति "यञञोः" [१।४।१३५] इति बहुत्वे उब्भवति। उत्सस्यापत्यं औत्सः। उदपानस्यापत्यमौदपानः। उत्स उदपान विकर विनद महानद महानस महाप्राण तरुण तलुन। वष्कयशब्दादसे। असमास इत्यर्थः। धेनु पङ्क्ति जगती त्रिष्टुप् अनुष्टुप् जनपद भरत उशीनर पीलुकुण। उदस्थानशब्दाद्देशे। पृषदंश भल्लकीय रथन्तर मध्यन्दिन बृहत् महत्। सत्वतशब्दो सत्वन्तुशब्दो मतन्तः आगतनुड्को गृह्यते। कुरु पञ्चाल इन्द्रावसान उष्णिह् ककुभ् सुवर्ण। ग्रीष्मादच्छन्दसीति वक्तव्यम्। छन्दसेत्र वृत्तजातिः। तरुणशब्दस्य लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणम्। तरुण्या अपत्य तारुणः। एयादयोऽर्थविशेषलक्षणादण-(णोऽ)पवादात् पूर्वनिर्णयेन भवन्तीति।

स्त्रीपुंसान्नुक्स्नात् ॥३।१।७२॥ वक्ष्यति "भवनस्त्वः" [३।४।१२६] एतस्मात्त्वमशब्दनात् प्राग्योऽर्थो वक्ष्यते तेषु स्त्रीशब्दात् पुंशब्दाच्च अञ् भवति नुगागमः। स्त्रीषु भवं स्त्रीणां समूहः स्त्रीभ्यः आगतम् स्त्रीभ्यो हितं स्त्रीणां भावो वा स्त्रैणम्। एवं पौंस्नम्। "नोऽपुंसो ष्टति" [४।४।१३०] इति प्रतिषेधात् पुंसष्टिखं न भवति। स्त्रीशब्दस्य तु नुग्वचनसामर्थ्यात्[1]। स्त्रैणाः पौस्ना इत्यत्र "यञञोः" [१।४।१३५] इत्युप् प्राप्नोति। इह च स्त्रैणानां संघ इति "संघाङ्कलक्षण" [३।३।८५] इत्यण् प्राप्नोति चेत् नैतो दोषो। अपत्याधिकारात् प्रागूर्ध्वं च वृद्धग्रहणेषु लौकिकगोत्रग्रहणमिति वक्ष्यते। न च स्त्रैण पौंस्नमिति वा लौकिकं गोत्रं तस्मादुब्वणौ न भवतः। "पुंवद्यजातीयदेशीये" [४।३।१९४] इति वचन योगापेक्ष ज्ञापकम्। वतोऽर्थनाय विधिरिति। स्त्रीवत्। पुम्वत्।

वृद्धेऽच्यनुप् ॥३।१।७३॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते। "यस्कादिभ्यो वृद्धे" [१।४।१३४] इत्यत्र प्राग्गो वृद्धे यस्य त्यस्य उब्रुक्तः तस्यानुब्भवति प्राग्द्रवीयेऽजादावुत्पत्स्यमाने। गर्गाणा छात्राः गार्गीयाः। "यञञोः" [१।४।१३५] इति बहुत्वे उप् प्राप्तः। ईयविषये प्रतिषिध्यते। "यस्य ङ्यां च" [४।४।१३६] इत्यस्य लुक्, "क्यच्च्यनादृष्ट्यापत्यस्य" [४।४।१४१] इति यलम्। त्याश्रयलक्षण ऐब्भवति। यास्कीयाः। शिवादिलक्षणस्याणः "यस्कादिभ्यो वृद्धे" [१।४।१३४] इत्युप् प्राप्तः। आत्रेयीयाः। "द्व्यचः" [३।१।११०] "इतोऽनिञः" [३।१।१११] इति ढण् तस्य "भृग्वत्रिकुत्सवशिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यः" [१।४।१३६] इत्युप् प्राप्तः। खारपायणीयाः। "यस्कादिभ्यो वृद्धे" [१।४।१३४] इत्यनेन नडादिफण उप् प्राप्तः। वृद्ध इति किम्? कुवलस्येदं कौवलम्। वादरम्। अवयवार्थे आगतस्याणः "उप्फले" [३।३।१२१] इति उप्। अचीति किम्? गर्गेभ्यः गर्गरूप्यम्। गर्गमयम्। प्राग्द्रोरित्येव गर्गेभ्यो हित गार्गीयम्। वृद्धाद्... एकस्मिन् यूनि द्वयोर्वा यूनोर्यस्त्यः तस्मिन्नष्टेऽप्यनुब्भवति। विदानामपत्य युवा वैदः। वैदौ। अजन्तादत इञ्। तस्य "जिण्णराजार्पोय न्युरणिञो." [१।४।१२०] इत्युप्। "त्यगे त्याश्रयम्" [१।१।६३] इत्यादि... मस्ति। वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयमिति न मन्तव्यम्। अचीति विषयनिर्देशः। एकद्व्यन्ताच्च वृद्धात् युवा... विवक्षाया उप् च वक्तव्यः। वैदस्य वैदयोरपत्यानि युवानः विदाः।

रस्योवनपत्ये ॥३।१।७४॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते। रस्य निमित्तत्वेन सकन्नी यो ... अपत्यादिभिः प्राग्द्रवीये विहितस्त्योऽभवति। पञ्चसु गुरुषु भव पञ्चगुरुर्नमस्कारः। दशसु धर्मेषु भवः दशधर्मः। ... इत्यनुयोग। ... [illegible]

---

1. [illegible]

इह तर्हि न प्राप्नोति पञ्चानां कपालानां समाहारः पञ्चकपाली। पञ्चकपाल्या संस्कृतः पञ्चकपालः। नैष दोषः। अव्यविकन्यायेन पञ्चकपालशब्दात् त्योत्पत्तिः। यथा अवेर्मांसं आविकमिति अविकशब्दादेव त्यो नाविशब्दात्। अनपत्य इति किम्? द्वयोर्देवदत्तयोरपत्यं द्वैदेवदत्तिः। अजग्रहणमनुवर्तते। तेनेह न भवति। पञ्चभ्यो गर्गेभ्य आगतं पञ्चगर्गरूप्यम्। प्राग्द्रोरित्येव। द्वाभ्यामक्षाभ्यां दीव्यति द्वैयक्षिकः। नैयक्षिकः।

यूनि ॥३।१।७५॥ प्राग्द्रोरिति वर्तते अचीति च। यूनि यस्त्यस्तस्योप् भवति प्राग्द्रवीयेऽजादौ त्य उत्पत्स्यमाने। फाण्टाहृतस्यापत्यं फाण्टाहृतिः। तस्यापत्यं युवा "फाण्टाहृतेर्णः" [३।१।१३८] इति णः। फाण्टाहृतः। तस्य यूनश्छात्रा बुद्धिस्थ एवानुत्पन्नेऽजादौ त्ये णस्योपि कृते इञन्तमिदं जातम्। "इञः" [३।२।८८] इत्यण् भवति। फाण्टाहृताः। भगवित्तस्यापत्यं भागवित्तिः। तस्यापत्यं युवा "दोष्टण् सौवीरेषु प्रायः" [३।१।१३६] इति ठण्। भागवित्तिकः। तस्य यूनश्छात्राः ठण उपि कृते "इञः" [३।२।८८] इत्यण्। भागवित्ताः। तिकस्यापत्यं तैकायनिः। तस्यापत्यं युवा "फेश्छः" [३।१।१३७] इति छः। तैकायनीयः। तस्य यूनश्छात्राः छस्योपि कृते "दोश्छः" [३।२।९०] इति छः। तैकायनीयाः। ग्लुचुकस्यापत्यं "फिरदोः" [३।१।१४७] इति फिः। ग्लुचुकायनिः। तस्यापत्यं युवा "प्राग्द्रोरण्" [३।१।९८] ग्लौचुकायनः। तस्य यूनश्छात्रा अण उपि तस्येदमित्यण्। ग्लौचुकायनाः। कपिञ्जलादस्यापत्यं कापिञ्जलादिः तस्यापत्यं युवा "कुर्वादेर्ण्यः" [३।१।१३९] इति ण्यः। कापिञ्जलाद्यः। तस्य यूनश्छात्रा ण्यस्योपि कृते "इञः"[३।२।८८] इत्यण् कापिञ्जलादाः। अचीत्येव। फाण्टाहृतरूप्यम्। फाण्टाहृतमयम्। प्राग्द्रोरित्येव। भागवित्तिकाय हितं भागवित्तिकीयम्।

फण्फिञोर्वा ॥३।१।७६॥ यूनीति वर्तते। यूनि यौ फण्फिञौ तयोर्वा उब्भवति प्राग्द्रवीयेऽजादौ त्ये विवक्षिते। पूर्वेण नित्ये उपि प्राप्ते विभाषेयम्। गार्ग्यस्यापत्यं युवा "यञिञोः" [३।१।१४०] इति फण्। गार्ग्यायणः। तस्य यूनश्छात्राः गार्गीया गार्ग्या वा। फिञः खल्वपि। यस्कस्यापत्यं "शिवादिभ्योऽण्" [३।१।१०१] यास्कः। यास्कस्यापत्यं युवा "द्व्यचोऽणः" [३।१।१४३] इति फिञ्। यास्कायनिः। तस्य यूनश्छात्राः यास्कीयाः। यास्कायनीयाः।

तस्यापत्यम् ॥३।१।७७॥ तस्येति तासमर्थात् अपत्यमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। इदमर्थनिर्देशे लिङ्गवचनादिकमविवक्षितमप्राधान्यात्। उपगोरपत्यं औपगवः। तान्तादण्। उक्तार्थस्यापत्यशब्दस्य निवृत्तिः। "सुपो धुमृदोः" [१।४।१४२] इति सुप उप्। ऐप्[1]। आश्वपतः। दैत्यः। सैनापत्यः। औत्सः। स्त्रैणः। पौंस्नः। वृत्तौ स्वभावत एकार्थीभावः। प्रकृत्यर्थो विशेषणभूतोऽप्रधानम्। त्यार्थस्य सामान्येन प्रवृत्तस्य विशेषेऽवस्थापनात्त्यार्थः प्रधानम्। गुणप्रधानभावेन प्रकृतिस्त्यश्च त्यार्थे सह ब्रूत इति। ननु च तस्येदं विशेषणं (सामान्यम्) एते अपत्यं समूहो निवासो विकार इति। तस्येदमित्येव सिद्धं किमर्थमिदमुच्यते? बाधकबाधनार्थम्। भानोरपत्यं भानवः। श्यामगवः। दुलक्षणश्छो बाधितः। "तस्यापत्यम्" "अदूषाद्यादेरिञ्" [३।१।८५] इत्येव वक्तव्ये इह करणं पूर्वैरुत्तरैश्च त्यैरभिसम्बन्धो यथा स्यादित्येवमर्थम्।

पौत्रादि वृद्धम् ॥३।१।७८॥ पुत्रस्यापत्यं पौत्रः। विशांदित्वादञ्। प्रथमादिति वर्तमानमर्थवशात्तया विपरिणम्यते। प्रथमस्य पौत्रादि यदपत्यं तद् वृद्धसंज्ञं भवति। संज्ञाविषयस्य प्रथमस्य गर्गस्यापत्यं गार्ग्यः। वात्स्यः। "वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ञ्फः" [३।१।८७] इति वर्तमाने "गर्गादेर्यञ्" [३।१।९४] इति यञ्। पौत्रादीति किम्? गार्गिः। अनन्तरमपत्यं वृद्धं मा भूत्।

एकः ॥३।१।७९॥ वृद्धमिति वर्तते। वृद्धेऽपत्ये विवक्षिते एक एव त्यो भवति। स्वस्याः स्वस्याः प्रकृतेरपत्यभेदविवक्षायामनेकं त्यं बुद्ध्या समुदायीकृत्य नियमः क्रियते। यदिदं गर्गादिपितृकमपत्यजातं वृद्धं

1. एनम् अ०, ब०।

तस्मिन्नेक एव त्यो भवति। स च परमप्रकृतेर्भवति। यदपि व्यवहितेन जनितमपत्यं तदपि परमप्रकृतेः सामान्येनापत्यं भवत्येव। यदपि सर्वेऽप्यपत्येन युज्यन्ते तथापि प्रथमादित्यनुवर्तनात् परमप्रकृतेरेव भविष्यति गर्गस्यापत्य गार्ग्यः। तत्सुतोऽपि गार्ग्यः। एव व्यवहितेऽपि वृद्धापत्ये विवक्षिते गर्गशब्दाद् यञेव भवति। अथवा प्रकृतिनियमोऽयं वृद्धापत्ये विवक्षिते एक एव शब्दः प्रथमा प्रकृतिः त्यमुत्पादयति नान्येति प्रकृतिर्नियम्यो। एवं नडस्यापत्यं नाडायनः।

ततो यूनि ॥३।१।८०॥ ततो वृद्धत्यान्ताद् यून्यपत्ये विवक्षिते एक एव त्यो भवति। गार्ग्यस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः। दाक्षायणः। औपगविः। नाडायनिः।

जीवति तु वंश्ये युवाऽस्त्री ॥३।१।८१॥ वंशः पितृपितामहादिप्रबन्धः; तत्र भवो वंश्यः पित्रादिः। पौत्रादीति वर्तते। तच्चार्थवशात् तान्तं संबध्यते। पौत्रादेर्यदपत्य चतुर्थादिकं तद्वंश्ये जीवति युवसंज्ञं भवति स्त्रियं वर्जयित्वा। गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः। दाक्षेर्दाक्षायणः। अस्त्रियामिति किम्? गार्ग्यस्यापत्यं स्त्री गार्गी। दाक्षी। तु शब्दो वृद्धसंज्ञासमावेशनिवृत्त्यर्थम्। इह दोषः स्यात्। शालङ्केरपत्य युवा "यञिञो" [३।१।९०] इति फण्। पैलस्यापत्यं युवा "द्व्यचोऽणः" [३।१।१४३] इति फिञ्। तयोर्यूनि 'पैलादे' [१।४।१३१] इत्युप् भवति। वृद्धसंज्ञासमावेशे तु "वृद्धेऽच्यनुप्" [३।१।७३] इति प्राग्दीव्यतीये अजादावनुप् प्रसज्येत। अस्तु "यूनि" [३।१।७४] इति भविष्यति। इह तर्हि दोषः। "फण्फिञोर्वा" [३।१।७१] इति उविभाष्यते। उप्पक्षेऽपि वृद्धसंज्ञासमावेशे "वृद्धेऽच्यनुप्" [३।१।७३] इति अनुप्स्यात्। अथासमावेशे कथं वृद्धलक्षणो वुञ् गार्ग्यायणाना समूहः गार्ग्यायणकम्। वक्ष्यति "वृद्धोक्षोष्ट्रो' [...।२।३४] आदिसूत्रे वृद्धग्रहणेनैव सिद्धे राजन्यमनुष्यग्रहणं ज्ञापकमपत्याधिकारादन्यत्र वृद्धग्रहणे लौकिकं गोत्रग्रहणम्। तेन वृद्धयूनोः समावेशः।

भ्रातरि च ज्यायसि ॥३।१।८२॥ पौत्रादिरपत्यमिति वर्तते। भ्रातरि च ज्यायसि जीवति कनीयान् भ्राता युवसंज्ञो भवति। मृतेऽपि वंश्ये यथा स्यादित्यारम्भः। भ्राता वंश्यो न भवति साक्षात् परम्परया वा। अकारणत्वाद्गार्ग्यस्य द्वौ पुत्रौ ज्यायसि जीवति कनीयान् गार्ग्यायणः। एवं दाक्षायणः। ज्यायांस्तु भ्राता गार्ग्यो दाक्षिरिति।

वान्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति ॥३।१।८३॥ पौत्रादेरपत्यमिति वर्तते। [illegible] पुरुष एकस्ते सपिण्डाः परस्परम्। यमे यमे वा सपिण्डशब्दः। समानस्य सभाव इत्येन निपातितः। [illegible] जीवतीति शत्रन्त स्थविरतरस्य विशेषणम्। इद तु जीवतीति पद तिङन्त मजिनो विशेषणम्। भ्रातुरन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति पौत्रादेरपत्य यज्जीवति तद्वा युवसंज्ञं भवति। गार्ग्यायणो गार्ग्यो। दाक्षायणो दाक्षिः। अन्यग्रहण किम्? भ्रातरि इति वर्तते। तस्मिन्नेव सपिण्डे पितृव्यपुत्रे जीवति स्यात्। [illegible] मसम्बन्धान्यसम्बन्धनिरासार्थम्। ज्यायसीति वर्तमाने स्थविरतरग्रहणं किम्? स्थानवयोभ्यां ज्येष्ठे सपिण्डे [illegible] स्यात् भ्रातृव्ये वयोज्येष्ठे पितृव्यः कनीयान् युवसंज्ञो न भवति। जीवतीति किम्? मृते गार्ग्य एव।

पूजाकुत्सयोर्व्यत्ययः ॥३।१।८४॥ वेति वर्तते। परस्परविपरागमन व्यत्ययः। [illegible] पुनश्च वृद्धसंज्ञेत्यर्थः। पूजायां कुत्सायां च गम्यमानायां यथासंख्य वृद्धयूनोर्वा व्यत्ययो भवति। [illegible] तत्रभवान् गार्ग्यायणः, तत्रभवान् गार्ग्यो वा। युवसंज्ञासामर्थ्यात् वृद्धत्वम् [illegible] योगः। [illegible] [illegible]। गार्ग्यस्यत्वं जाल्म। वृद्धसंज्ञासामर्थ्यात् युवत्वस्य निवृत्तिः।

अदूवालादेरिञ् ॥३।१।८५॥ तस्यापत्यमिति वर्तते। अकारान्तेभ्यो [illegible] अन्त्ये वृद्धे युवत्वे [illegible] इञ् भवति [illegible]। [illegible]। [illegible]। [illegible]।

न्तार्थं बाधकबाधनार्थं च बाह्वादिग्रहणम् । बाहविः । औपवाकविः । बाहु उपवाकु निवाकु वराकु उपबिन्दु एभ्योऽण् प्राप्तः । वला "ह्र्यचः" [३।१।११०] इति ढण् प्राप्तः । वृकला बलाका मूषिका भगला लगहा ध्रुवका सुमित्रा दुर्मित्रा एभ्यः "स्त्रीभ्यो ढण्" [३।१।१०१] इति ढण् । मानुषीलक्षणो वा ढण् स्यात् । पुष्करसत् अनुरहत्[1] अनुशतिकादित्वादनयोः पदद्वयस्यैप् । देवशर्म्मन् अग्निशर्म्मन् इन्द्रशर्म्मन् कुनामन् पञ्चन् सप्तन् । "अमितौजसः सख च" [वा०] सुधावत् उदञ्च अञ्चेर्निपातनात् नखाभावः । शिरस्-शिरोमात्र-स्यापत्य नास्ति इति तदन्तविधिः । हातिशीर्षिः । पैलुशीर्षिः । शिरस. शीर्षादेशो वक्ष्यते । माषशराविन् क्षेमवृत्विन् शृङ्खलतोदिन् खरनादिन् निपातनादणत्वम् । नगरमर्दिन् प्राकारमर्दिन् लोमन् लोम्ना तदन्तविधिः इत उत्तर प्रागुदङ्कशब्दात् "कुर्वण्यन्धक" [३।१।१०३] आदिनाऽण् प्राप्तः । अजीगर्त कृष्ण युधिष्ठिर अर्जुन साम्ब गद प्रद्युम्न राम सकर्षण मध्यन्दिन सत्यक उदक । "संभूयोऽम्भसोः सखं च"[वा०] ख्याताख्या-तयोः ख्याते सप्रत्यय इति । तेन बाह्वादिप्रभृतिषु येषा लौकिकगोत्रभाव प्रति प्रवर्तकत्वमस्ति तेभ्य एव इञादय । इह माभूत् बाहुर्नाम कश्चित् तस्यापत्य बाहवः । आकृतिगणत्वादस्याजवन्धविः । आजवेनविरिति ।

सुधातुरकङ् च ॥३।१।८६॥ सुधातृशब्दादिञ् भवति तत्सन्नियोगेन अकङादेशश्च । सुधातुर-पत्य सौधातकिः । "व्यासवरुडनिषादचण्डालबिम्बादीनामिति वक्तव्यम्" [वा०] । न वक्तव्यम् । अव्यविक-न्यायेन कान्तेभ्य एव त्वविधिः । वैयासकिः । वारु[3]डकिः । नैषादकिः । चाण्डालकिः । बैम्बकिः । कार्मारकिः ।

वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ञ्फः ॥३।१।८७॥ वृद्धसज्ञके अपत्ये विवक्षिते कुञ्ज इत्येवमादिभ्यो ञ्फो भवति । इञोऽपवादः । आदौ ञकारः "व्रातञ्फादस्त्रियाम्" [४।२।२] इति विशेषणार्थः । कुञ्जस्यापत्यं पौत्रादि कौञ्जायन्यः । कौञ्जायन्यौ । कौञ्जायनाः । "व्रातञ्फादस्त्रियाम्" [४।२।२] इति स्वार्थे ञ्यो भवति द्रिसज्ञः । कुञ्ज ब्रध्न शङ्ख गण लोमन् लोमशब्देन तदन्तविधिरिति केचित् । भसन् शट । अय गर्गादिष्वपि । शाक शौण्ड शुभ विपाश् । अय शिवादिष्वपि । स्कन्द स्कम्भ । वृद्ध इति किम् ? कुञ्जस्यापत्यमनन्तरं कौञ्जिः । वृद्ध इत्ययमधिकारश्च "शिवादिभ्योऽण्" [३।१।१०१] इत्यतः प्राक् ।

नडादेः फण् ॥३।१।८८॥ नड इत्येवमादिभ्यो वृद्धेऽपत्ये फण् भवति । नडस्यापत्य वृद्ध नाडायनः । वृद्ध इत्येव । अनन्तरो नाडिः । नड चर वक मुञ्ज इतिक इतिश उपक लमक शलङ्कु शलङ्कञ्चादेशं लभते । शालङ्कायनः । कथ शालङ्कायनः ? कथ सालङ्किः पिता सालङ्किः पुत्रः [सलङ्क] शालङ्क इति प्रकृत्यन्तरमस्ति । अथवा पैलादिषु पाठसामर्थ्यात् इञपि भवति । पञ्चपूल वाजप्य तिक अग्निशर्मन् वृषगणे । गोत्रे आग्निशर्म्मायणो भवति वार्षगणश्चेत् । आग्निशर्म्मिरन्यः । प्राण नर सायक दास मित्र द्वीप तगर पिङ्गल किङ्कर कथन कतर कतल काश्य काव्य सैव्य प्रजावाव्य स्तम्भ शिंशपा अमुष्य निपातनात् साधु । कृष्णरणौ ब्राह्मणवाशिष्ठयोः । यथाक्रम ब्राह्मणवाशिष्ठेऽर्थे । अजमित्र लिगु चित्र कुमार । क्रोष्टु-रपत्य क्रोष्टव च । लोह दुर्ग अग्र तृण शकट सुमत मिमत ब्राह्मण चटक । ऐरोपीष्यते । पाटकैर बदर अश्वल अस्वर कामुक ब्रह्मदत्त उदम्बर अलोह दण्डपा । अन्ये इमानपि पठन्ति वक्ष्यमाणान् । रुच् जत् इलत् जनलत् हिंसक दण्डिन् हस्तिन् पञ्चाल चमसिन् । लौकिकगोत्रमात्र इत्येव । नडो नाम कश्चित्तस्यापत्य नाडिः ।

हारितादयञः ॥३।१।८९॥ हरितादिर्बिदाद्यन्तर्गणः । हरितादिभ्योऽञन्तेभ्यः फण् भवति । इञोऽ-पवादः । इह वृद्धग्रहणमनुवर्तमानमञो विशेषणम् । वृद्धे योऽञ् विहितस्तदन्तात् फण् एक इति निय-माद् युनि प्रत्यय. । हरितस्यापत्य युवा हारितायनः । कैन्दासायनः ।

---

1 अनुरहत ब०। २. चरट अ०, ब०, स०। ३. वारुटकिः अ०, ब०, स०।

यञिञोः ॥३।१।९०॥ अत्रापि वृद्धग्रहणं यञिञोर्विशेषणम्। वृद्धे विहितौ यौ यञिञौ तदन्तात्फण् भवति। सामर्थ्याद्यूनीति ज्ञातव्यम्। गार्ग्यायणः। दाक्षायणः। इह गार्ग्या अपत्यं गार्गेय इति लिङ्गविशिष्टस्य ग्रहणेऽपि परत्वाड्ढण् भवति।

शरद्वच्छुनकदर्भाद् भृगुवत्साग्रायणेषु ॥३।१।९१॥ वृद्ध इति वर्तते। शरद्वत् शुनक दर्भ इत्येतेभ्यः फण् भवति यथासंख्य भार्गवे वात्स्ये आग्रायणे चापत्येऽभिधेये। शारद्वतायनो भवति भार्गवश्चेत्। शारद्वतोऽन्यः। शौनकायनो भवति वात्स्यश्चेत्। शौनकोऽन्यः। दार्भायणो भवति आग्रायणश्चेत्। दार्भिरन्यः। शरद्वत्शुनकशब्दौ विदादिषु पठ्येते।

द्रोणपर्वतजीवन्ताद्वा ॥३।१।९२॥ द्रोण पर्वत जीवन्त इत्येतेभ्यो वृद्धापत्ये फण् च भवति। द्रौणायणः। द्रौणिः। पार्वतायनः। पार्वतिः। जैवन्तायनः। जैवन्तिः। वृद्ध इत्येव। द्रौणिः।

विदादिभ्योऽनृष्यानन्तर्येऽञ् ॥३।१।९३॥ वृद्ध इति वर्तते। विद इत्येवमादिभ्यः अनृषीणामानन्तर्ये अञ् भवति। विदस्यापत्यं वैदः। विद उर्व कश्यप कुशिक भरद्वाज उपमन्यु किलात किन्दर्भ विश्वानर ऋष्टिषेण ऋतभाग हर्यश्व प्रियक आपस्तम्ब कूचवार शरद्वत् शुनक धेनु गोपवन शिग्रु बिन्दु भाजन तामज अश्वावतान श्यामाक श्यापर्ण गोपवनादिप्रतिषेधः प्राग्घरितादेः इत ऊर्ध्वं बहुत्वेऽञ उत्रेव भवति। हरित किन्दाश वह्यस्क अर्कलूष वध्योग विष्णु वृद्ध प्रतिबोध रथन्तर गविष्ठिर निषाद निषादशब्दस्य "सुधातुरकङ् च" [३।१।८६] इत्यत्र नैषादकिरुक्तोऽनन्तरे वृद्धे परत्वादयमञ्। मठर। अयं गोपवनादिष्वपि मठरानजपि। एते हरितादय इत्याचार्यस्मृतिः। पृदाकु सुदाकु पुनर्भ्वादिष्वनन्तरेऽपत्ये पुनर्भू पुत्र दुहितृ ननान्दृ परस्त्री परशुं च या तु सवर्णा परस्य स्त्री परस्त्री सा कल्याण्यादिषु पठ्यते पारस्त्रैणेयः। वृद्ध इत्येव। अनन्तरो वैदिः। बाह्वादेराकृतिगणत्वाद् ऋष्यण् न भवति लौकिकगोत्रमात्र इत्येव। वैदो नाम कश्चित् तस्य वैदिः। अनृष्यानन्तर्य इति किमर्थम्? पुनर्भूप्रभृतीनामनृषीणामानन्तर्ये अनन्तरेऽपत्ये अञ्विधित्स्यः। ये तु ऋष्यपत्याना नैरन्तर्ये प्रतिषेधमाचक्षते। तेषां कौशिको विश्वामित्र इति न स्यात्। ऋष्यानन्तर्ये प्रतिषेधो नास्ति। इन्द्रभूः सतमः काश्यपानाम्। भारद्वाजाना कतमोऽसीति "तस्येदम्" [३।३।८८] इत्यणा भविष्यतीति।

गर्गादेर्यञ् ॥३।१।९४॥ वृद्ध इति वर्तते। गर्ग इत्येवमादिभ्यः वृद्धापत्ये यञ् भवति। गर्गस्यापत्यं पौत्रादि गार्ग्यः। गर्ग वत्स "वाजासे" [सू० ग०]। अस इति किम्? सौवाजिः। संकृति अज व्याघ्रपात् विदभृत् पुलस्ति प्राचीनयोग पुलस्त्यशब्दात् ऋष्यणि पौलस्त्यः। स्त्रियामणि पौलस्त्यी। यञि पौलस्त्यायनीति विशेषः। रेभ अग्निवेश शङ्ख शट धूम अवट मनस् धनञ्जय वृक्ष विश्वावसु जरमाण लोहित संशित बभ्रु मण्डु मङ्क्षु सङ्कु शङ्कुलि गुग्गुलु जिगीषु मनु मन्तु तन्तु मनायी टण् प्रातः। "भस्य ढ्यते" [वा०] इति पुंवद्भावः कस्मान्न भवति। कौडिन्यागस्ती इति निर्देशात्। यदि यञि पुंवद्भावः स्यात्, कुण्डिनीशब्दस्य पुंवद्भावे टिलोपे च कृते कौण्डिन्य इति न स्यात्। सूनु कथक कक्ष तलुक्ष तण्ड वतण्ड कपि कत सकल कुक्कन। अयमनुशतिकादौ। अनडुह कण्ट गोकक्ष अगस्त्य कुण्डनी यज्ञवल्क अभयजात [illegible] वृषगण रहूगण शण्डिल मुद्गल मुसल पराशर जतूकर्ण मन्त्रित अश्मरथ शर्कराक्ष पूतिमाष [illegible] वामरथ पिङ्गल कृष्ण गोकुन्द उलूक तितम्भ तितव भिषज भिषज भण्डित चेकित [illegible] एक्लू पिप्पलु बृहदग्नि सुलाभिन् कठोपु दक्ष। वृद्ध इत्येव। आनन्तरो गार्गिः। [illegible] यान पाययर्गों [illegible] इति? गोत्रादण्‌ [illegible]। अनन्तरापत्ये ऋष्यणा भवितव्यम्। [illegible] यो [illegible] वृद्ध गार्गिः।

वोऽन्यः। बभ्रुशब्दो गर्गादिषु पठ्यते। तस्येह नियमार्थं वचनम्। कौशिक एव यथा स्यात्। गर्गादिषु पाठो लोहितादिकार्यार्थः। बाभ्रव्यायणी। अथ गणे एव कौशिकग्रहणं कर्तव्यम्। इह करणं वृद्धार्थम्। ननु गणेऽपि वृद्धे यञ्विहितः। इदमेव तर्हि ज्ञापकं गणपाठे क्वचिदनन्तरापत्येऽपि यञ् भवति। जामदग्न्यो रामः। पाराशर्यो व्यास इति।

कपिबोधादाङ्गिरसे ॥३।१।९६॥ वृद्ध इति वर्तते। कपिबोधशब्दाभ्यां यञ् भवति आङ्गिरसेऽपत्यविशेषे। काप्यः आङ्गिरसश्चेत्। अन्यत्र "इतोऽनिञः" [३।१।१११] इति ढणि कापेयः। बौध्य आङ्गिरसश्चेत्। बौधिरन्यः। इ ापि कपिशब्दस्य गर्गादिषु पाठः। तस्य नियमार्थं वचनम्। आङ्गिरस एव यञ्। गर्गादिषु पाठो लोहिताद्यर्थः। काप्यायनी। मधुबोधयोस्तु यत्र (यञि) तयोरुभयम्। माधवी माधव्यायनी। बौधी बौध्यायनी।

वतण्डात् ॥३।१।९७॥ आङ्गिरस इति वर्तते। वतण्डशब्दादाङ्गिरसेऽपत्यविशेषे वृद्धे यञ् भवति। वातण्ड्यः। आङ्गिरस इत्येव। अनाङ्गिरसे शिवादिपाठादण् वातण्ड इति। गर्गादिषु पाठादनाङ्गिरसे यञ् लोहितादिकार्यार्थः। वातण्ड्यायनी।

स्त्रियामुप् ॥३।१।९८॥ आङ्गिरस इति वर्तते। वतण्डशब्दादाङ्गिरस्यां स्त्रियां यञ उब्भवति। वतण्डस्यापत्यं वृद्धा स्त्री वतण्डी। यञ उपि "जातेरयोङः" [३।१।५३] इति ङीविधिः। आङ्गिरस इत्येव। वातण्ड्यायनी। शिवाद्यणि वातण्डा। वृद्धादन्यत्र वातण्डी।

अश्वादेः फञ् ॥३।१।९९॥ वृद्ध इति वर्तते। आङ्गिरस इति निवृत्तम्। अश्व इत्येवमादिभ्यो वृद्धे फञ् भवति। अश्वस्यापत्यं आश्वायनः। अश्व अश्मन् शङ्ख शूद्रक कुञ्जादिषु गर्गादिषु च पठ्यते। विद पुट रोहिण खद्वार खञ्जर खर्जूर वटिल भण्डिल भटल भडित भण्डित प्रहृत रामोद क्षत्र ग्रीवा काश काण वात गोलाङ्क अर्क स्वन ध्वन पत पाद चक्र कुल अविष्ट पविन्द पवित्र गोमिन् श्याम धूम्रवाग्मिन् विश्वानर स्फुट कुट चुटि[1] शपादात्रेये। शापिरन्यः। जनक सनक स्तनक ग्रीष्म अर्ह वीज रीक्ष[2] विशम्प विशाल गिरि चपल चुप दासक। येऽत्र वृद्धत्यान्तास्तेभ्यः सामर्थ्यात् यूनि फञ् द्रष्टव्यः। वैश्य वैल्व वाद्य आनडुह्य धाप्य जात शब्दात् पुंसि। जातेयोऽन्यः। अर्जुन। अस्य बह्वादिषु पाठोऽनन्तरार्थः। शूद्रक सुमनस् दुर्मनस्। आत्रेयाद्भारद्वाजे। आत्रेयिरन्यः। भारद्वाजादात्रेये। विदाद्यञि भारद्वाजोऽन्यः। उत्स उत्सादिषु पाठोऽनन्तरार्थः। आतव कितव किव शिव खदिर वृद्ध इत्येव। आश्विः। लौकिकं गोत्र इत्येव। गोत्रस्य प्रवर्तको योऽश्वः तस्यापत्यमेकान्तरितमाश्विः।

भर्गात् त्रैगर्ते ॥३।१।१००॥ वृद्ध इति वर्तते। भर्गशब्दात् फञ् भवति त्रैगर्तेऽपत्यविशेषे। भार्गायणो भवति त्रैगर्तश्चेद्। भार्गिरन्यः।

शिवादिभ्योऽण् ॥३।१।१०१॥ वृद्ध इति निवृत्तम्। इत उर्ध्वं सामान्येनापत्ये त्यविधानम्। शिव इत्येवमादिभ्योऽण् भवत्यपत्यमात्रे। इञादीनामपवादः। शिवस्यापत्यं शैवः। शिव प्रोष्ठ प्रोष्ठिक चण्ड जम्भ भूरि। अस्मात् "इतोऽनिञः" [३।१।१११] इति ढण् प्राप्तः। कुठार अन[3]भिग्लान सन्धि मुनि ककुत्स्थ कोहड कूप रोधविरल (रोध विरल) वतण्ड। स्त्रियां वातण्ड्या। तृण कर्ण क्षीर ह्रद परिषिक गोपिलका कपिलका जटिलका बधिरका मञ्जीरक वृष्णिक खञ्जर खञ्जल रेभ आलेखन विश्रवण रवण। विश्रवणोऽपत्यमिति विश्रव विश्रवणरवणादेशौ। प्रकृत्यन्तरे वा। अव्यविकन्यायेन ताभ्यामेवाण्। वर्तनाक्ष विकृत पिटक तृक्षक विभाग नभाक तयाक ऊर्णनाभ जरत्कारू उत्कोयस्तु रोहितिका आर्यश्वेता। आभ्यां 'स्त्रीभ्यो ढण्'

1. चुटि अ०, स०। 2. वीज्ञ ब०। 3. अनभिग्लान अ०, मु०।

[३।१।१०१] प्राप्तः । सुपिष्ट मयूरकर्ण खर्जुरकर्ण तद्वत् । अत्र कारिलक्षणस्य इञो बाधा । एयस्त्विष्यत एव । ताक्षण्य इति । ऋष्टिषेण । विदादिष्वस्य पाठो वृद्धार्थः । गङ्गा । अत्र नदीलक्षणस्याणो "द्व्यच." [३।१।११०] इति ढण् बाधकः तमपि बाधित्वा "द्व्यचो नद्याः" इत्यण् प्राप्तः । तस्यापि तिकादिषु पाठात् फिञ् बाधकः स्यात् । अयं गङ्गाशब्दः शुभ्रादिषु च पठ्यते । तेन त्रैरूप्यम् । गाङ्गः । गाङ्गायनिः । गाङ्गेयः । विपाश । अत्रापि नदीमानुषीलक्षणस्याणः "द्व्यचः" [३।१।११०] इति ढण् बाधकः । तमपि "द्व्यचो नद्याः" इत्यण् बाधते । तमपि बाधित्वा कुञ्जादिलक्षणो ञ्फ एव स्यात् । द्वैरूप्यं चेष्यते । वैपाशः वैपाशायन्य इति । यस्क लह्य दुह्य अयस्थूण भलन्दन विरूपाक्ष विरूपा भूमि इला सपत्नी । "द्व्यचो नद्याः" इति गणसूत्रम् । अन्यथा "द्व्यचः" [३।१।११०] इति ढण् प्रसज्येत । त्रिवेणी त्रिवेणं च ।

नदीमानुषीभ्योऽदुभ्यस्तदाख्याभ्यः ॥३।१।१०२॥ नदीमानुषीभ्य इत्यर्थनिर्देशः । नदीमानुषीवाचिप्रकृतिभ्योऽदुसंज्ञाभ्यस्तदाख्याभ्योऽण् भवति । ढणोऽपवादः । यमुनाया अपत्यं यामुनः प्रणेता । इरावत्या अपत्यम् ऐरावतः । उद्धयः । वितस्तायाः पलालशिराः वैतस्तः । नर्मदाया नीतो नार्मदः । मानुषीभ्यः-चिन्तितायाः चैन्तितः । सुदर्शनायाः सौदर्शनः । स्वयप्रभायाः स्वायंप्रभः । नदीमानुषीभ्य इति किम् ? सौपर्णेयः । वैनतेयः । सुपर्णा विनता च देव्यौ । अन्येषा पक्षिण्यौ । अदुभ्य इति किम् ? चान्द्रभागायाः चान्द्रभागेयः । वायुवेगेयः । तदाख्याभ्य इति किम् ? या (भ्यः), काभ्यः । प्रकृतिभ्योऽण् प्रार्थ्यते ता एतास्ता नामधेयानि नदीमानुषीणा यदि भवति । तेनेह न भवति । शोभनाया अपत्य शोभनेयः । पुरस्तादपवादोऽयमिति अनन्तरमणं बाधते न व्यवहितं "क्षुद्राभ्यो वा" [३।१।१२०] इति ढणम् । पुलिकायाः पौलिकेरः ।

कुर्वृष्यन्धकवृष्णेः ॥३।१।१०३॥ कुरवः अन्धकाः वृष्णयश्च क्षत्रियवंशाख्याः । ऋषयोऽत्र ग्राम्या मठपतयो वशिष्ठाद्या गृह्यन्ते । महर्षीणामहिंसादिव्रतोपपन्नानामपत्यापत्यवत्सम्बन्धो नास्ति । कुरु-ऋषि-अन्धकवृष्णिवाचिभ्यो मृद्भ्यः सामान्येनापत्येऽण् भवति । इञोऽपवादः । कुरुभ्यः-नाकुलः । साहदेवः । दौर्योधनः । ऋषिभ्यः-वाशिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः-श्वाफल्कः । रान्धसः । श्वैत्रकः । वृष्णिभ्यः-आदारः प्रातिवाहः । वासुदेवः । आनिरुद्धः । इह आत्रेयः इति परत्वाड्ढण् । यद्यपि भीमसेनः कुरुः, [illegible] ऋषिः । उग्रसेनोऽन्धकः, विष्वक्सेनो वृष्णिस्तथापि परत्वात्सेनान्तलक्षणो ण्य इञ्च भवति । मध्येऽपवादोऽयं पूर्वं जित्य बाधते ।

मातुरुत्संख्यासंभद्रादेः ॥३।१।१०४॥ मातृशब्दस्य सङ्ख्यासम्भद्रादेः उकारश्चान्तादेशो भवति । अण् चाधिकारात् । द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरो भरतः । शातमातुरः । साम्मातुरः । भाद्रमातुरः । अभिधान-वशात् जननीपर्यायस्य मातृशब्दस्य ग्रहणम् । संख्यासभद्रादेरिति किम् ? सौमात्रः । वैमात्रेयः । विमातृशब्दः शुभ्रादिषु पठ्यते ।

कन्यायाः कनीन च ॥३।१।१०५॥ कन्यायाः कनीन इत्ययमादेशो भवति । अण् च तस्मात् । ढणोऽपवादः । कानीनः कर्णः । कानीनो हि नारकः ।

पीलाया वा ॥३।१।१०७॥ पीला तदाख्या मानुषी। पीलाया अपत्ये वाऽण् भवति। पैलः। पैलेयः।

ढण् च मण्डूकात् ॥३।१।१०८॥ मण्डूकशब्दाड्ढण् भवति चकारादण् च वा। तेन त्रैरूप्यम्। माण्डूकेयः। माण्डूकः। मण्डूकिः। स्त्रिया माण्डूकेयी। अणन्तस्य "कौरव्यासुरिमाण्डूकात्" [३।१।२२] इति फटि कृते माण्डूकायनी। इञन्तस्य माण्डूक्या।

स्त्रीभ्यो ढण् ॥३।१।१०९॥ इह स्त्रीग्रहणेन स्त्रियामित्येवं विहिताष्टाबादयः स्त्रीत्या गृह्यन्ते। स्त्र्यर्थ-ग्रहणं तु न भवति। शुभादिषु मातृशब्दस्य पाठाज्ज्ञायते। स्त्रीत्यान्तेभ्यो ढण् भवत्यपत्ये। सौपर्णेयः। वैनतेयः। वायुवेगेयः। स्त्रीत्यग्रहणमिति विशेषणं किम्? स्त्र्यर्थे मा भूत्। इडबिडः स्त्रिया अपत्यम्; दरदः अपत्यम् ऐडबिडः, दारदः। "पीलाया वा" [३।१।१०७] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या वेति व्यवस्थितविभाषा वर्तते। तेन वडवायाः वृषे वाच्ये ढण् भवति। वाडवेयो वृषः। अपत्ये वाडव इति। क्रुञ्चकोकिलाभ्यामण् भवति। क्रुञ्चाया अपत्यं क्रौञ्चः। कोकिलाया अपत्यं कौकिलः।

द्व्यचः ॥३।१।११०॥ द्व्यचश्च स्त्रीत्यान्तादपत्ये ढण् भवति। मानुषीलक्षणस्याणोऽपवादः। दत्ताया दात्तेयः। गुप्ताया गौप्तेयः।

इतोऽनिञः ॥३।१।१११॥ स्त्रीभ्य इति निवृत्तम्। अविशेषेण स्त्रियाश्च विधानाद् द्व्यच इति वर्तते। इकारान्तान्मृदोऽनिञन्ताड्ढण् भवति। वलेरपत्यं वालेयः। नाभेयः। आत्रेयः। दौलेयः। इत इति किम्? दाक्षिः। अनिञ इति किम्? दाक्षायणः। द्व्यच इत्येव। मरीचेरपत्यं मारीचः।

शुभ्रादेः ॥३।१।११२॥ शुभ्र इत्येवमादिभ्यो ढण् भवति। इञादीनामपवादः। शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः। शुभ्र विष्टपुर पिष्टपुर ब्रह्मकृत शतद्वार शतहार शलायल शलाकाभ्रू लेखाभ्रू विधवा कृकसा रोहिणी रुक्मिणी विकचा विवसा इलिका दिशा शालूक अजवस्ति शकन्धि। लक्ष्मणश्यामयोर्वाशिष्ठे। लाक्ष्मणिरन्यः। श्यामायनोऽन्यः। "अश्वादेः" [३।१।९९] इति फञ्। गोधा। कृकलास। प्राणि विकर्णाचि[1] प्रवाहण भरत भागर[2] मण्ड मकुष्ट सकण्डु मृषण्डु कर्पूर इतर अन्यतर आलीढ सुदत्त सुदक्ष सुनामन् सुदामन् कद्रु तुद अकशाप कुमारिका कुवणिका (किशोरिका) जिह्माशिन् परिधि वायुदत्त शलाका सवला खड्वर अम्बिका अशोक गन्धपिङ्गला खरोन्मत्ता कुदत्ता कुसम्बा शुक्र वलीवर्दिन् विस्त वीजश्वन् अश्व अजिर विमातृ। आकृतिगणश्चायम्। तेन गाङ्गेयः पाण्डवेय इत्यादि सिद्धम्।

विकर्णकुषीतकात्काश्यपे ॥३।१।११३॥ विकर्णकुषीतकशब्दाभ्यां ढण् भवति काश्यपेऽपत्यवि-शेषे। वैकर्णेयः काश्यपश्चेत्। वैकर्णिरन्यः। कौषीतकेयः काश्यपश्चेत्। कौषीतकिरन्यः।

भ्रुवो वुक् ॥३।१।११४॥ भ्रूशब्दादपत्ये ढण् भवति वुक् चागमः। भ्रौवेयः।

कल्याण्यादीनामिनङ् ॥३।१।११५॥ कल्याणी इत्येवमादीनां ढण् भवति इनङादेशश्च। येऽत्र स्त्रीत्यान्ताः शब्दास्तेषामादेशार्थं वचनम्। ढण् पूर्वेण सिद्धः। अन्येषामुभयार्थं वचनम्। कल्याण्या अपत्यं काल्याणिनेयः। सौभागिनेयः। कल्याणी सुभगा दुर्भगा बन्धकी अनुदृष्टि जरती वलीवर्दी ज्येष्ठा कनिष्ठा मध्यमा परस्त्री जारस्त्री।

कुलटाया वा ॥३।१।११६॥ कुलान्यटतीति कुलटा। अत एव निपातनात् पररूपम्। कुलटाया वा इनङादेशो भवति। ढण् स्त्रीभ्य इत्येव सिद्धः। कौलटिनेयः। कौलटेयः। अनियतपुंस्कत्वविवक्षायां पर-त्वात् क्षुद्रालक्षणो ढ्रण्। कौलटेरः।

---

१. विकर्णाचि ब०। २. भागर ब०। भामर स०।

चटकाणैरः ॥३।१।११७॥ चटकशब्दाण्णैरो भवति। चटकस्यापत्यं चाटकैरः। लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्। चटकाया अपत्यं चाटकैरः। स्त्रीढणः परत्वात् णैर। "स्त्रियामपत्ये लुग्वक्तव्यः" [वा०] चटकस्य चटकाया वा अपत्यं स्त्री चटका। "ह्रद्दुप्युप्" [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप्। पुनष्टाप्।

गोधाया ढ्रक् ॥३।१।११८॥ गोधाशब्दादपत्ये ढ्रको भवति। गौधारः। रण सिद्धे ढ्रग्वचनं ज्ञापकम्, अन्येभ्योऽपि भवतीति। जडस्यापत्यं जाडारः। पण्डस्यापत्यं पाण्डारः। पन्नस्य पान्नारः।

ढ्रण् ॥३।१।११९॥ ढ्रण् च भवति गोधाशब्दात्। गौधेरः। शुभ्रादिषु पाठात् गौधेय इति च भवति।

क्षुद्राभ्यो वा ॥३।१।१२०॥ अनियतपुंस्का अङ्गहीना वा क्षुद्राः। क्षुद्राभ्य इत्यर्थनिर्देशः। क्षुद्रावाचिप्रकृतिभ्यः स्त्रीलिङ्गाभ्यः वा ढ्रण् भवति। दास्या अपत्यं दासेरः। दासेयः। नट्या नाटेरः। नाटेयः। काणायाः काणेरः। काणेयः। "द्व्यचः" [३।१।११०] इत्ययं ढण् मध्येऽपवादः पूर्वस्य नदीमानुषीलक्षणस्याणो बाधकः।

ष्वसुश्छण् ॥३।१।१२१॥ ष्वसृशब्दाद् ऋकारान्तपूर्वोन्तादपत्ये छण् भवति। अणोऽपवादः। मातृष्वस्रीयः। पैतृष्वस्रीयः। स्वसुरिति कृतत्वग्रहणं किम्? भ्रातृस्वसुरपत्यं भ्रातृस्वस्रः। उरिति किम्? मातुःस्वसुरपत्यं मातुःष्वस्रः। "वा स्वसृपत्योः" [४।३।१३७] इत्यनुप्।

ढणि खम् ॥३।१।१२२॥ ढणि परतः ष्वसुर्ऋवर्णपूर्वस्य ख भवति। अनेनैव ढण् निपात्यते। मातृष्वसेयः। पैतृष्वसेयः।

चतुष्पाद्भ्यो ढञ् ॥३।१।१२३॥ चत्वारः पादाः यासां ताश्चतुष्पादः। चतुष्पाद्वाचिप्रकृतिभ्यः स्त्रीलिङ्गाभ्यो ढञ् भवति। अणादीनामपवादः। कामण्डलेयः। शैतवाहेयः। माद्रवाहेयः। जाम्बेयः। ढञि सति तस्मादुत्पन्नस्य युवत्यस्योब्भवति न ढणि।

गृष्ट्यादेः ॥३।१।१२४॥ गृष्टि इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यो ढञ् भवति। अणादीनामपवादः। गृष्ट्यपत्यं गार्ष्टेयः। अचतुष्पाद्वचनमिह गृष्टिशब्दो गृह्यते। गृष्टि हृष्टि हलि वालि विद्वकादि (विश्र कुद्रि) अजवस्ति मित्रयु मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः। "औणहत्य" [४।४।१६६] आदिना यकारादेः ख निपात्यते। बहुषु "गर्गादिभ्यो वृद्धे" [१।४।१२४] इति उप्। मित्रयवः।

क्षत्राद् घः ॥३।१।१२५॥ क्षत्रशब्दादपत्ये वा भवति। क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः। जातावभिधानम्। अन्यत्र क्षात्रिः।

राजश्वशुराद्यः ॥३।१।१२६॥ राजश्वशुरशब्दाभ्यामपत्ये यो भवति। राज्ञोऽपत्यं राजन्यः। इहापि जातावभिधानम्। राजनोऽन्यः। श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः। ख्यातस्य सम्बन्धवचनस्य प्रयोगः। श्वाशुरिः।

कुलात्खः ॥३।१।१२७॥ कुलशब्दादपत्ये खः भवति यश्च। कुलस्यापत्यं कौलीनः। कुल्यः। इहापि भवति [illegible] कुल बहुकुल "वा सुपो बहुःप्राक्तु" [४।१।१२०] इति बहुच। [illegible]

महतोऽञ्खञौ ॥३।१।१३०॥ महच्छब्दपूर्वात् कुलशब्दात् अञ्खञौ इत्येतौ भवतः। महतः आत्वविषये अभिधान माहाकुलः। माहाकुलीनः। केचित्खस्यानुवृत्तिमिच्छन्ति। महाकुलीनः। आत्वविषये इति किम्? महतां कुल महत्कुल तस्मात् "सादेः" [३।१।१२६] इति खः। महत्कुलीनः।

दुस्रो ढण् ॥३।१।१३१॥ दुःशब्दपूर्वात् कुलादपत्ये ढण् भवति। पापं कुल दुष्कुलम् "इस्दुसोऽत्य-पुम्मुहुसः" [५।४।२८] इति सत्वषत्वे। दुष्कुलस्यापत्य दौष्कुलेयः। केचित् खमप्यनुवर्तयन्ति। दुष्कुलीनः।

स्वसुश्छः ॥३।१।१३२॥ स्वसृशब्दादपत्ये छो भवति। अणोऽपवादः। स्वस्रीयः।

भ्रातुर्व्यश्च ॥३।१।१३३॥ भ्रातृशब्दादपत्ये व्यो भवति छश्च। अणोऽपवादः। भ्रातुरपत्यं भ्रातृव्यः। भ्रात्रीयः। कथ लोके भ्रातृव्यशब्देन सपत्नोऽभिधीयते? उपचारात्। एकद्रव्याभिलाषश्च उपचारनि-मित्तम्। सपत्नी इव सपत्नः शत्रुः। पृषोदरादिपाठादकारो निपात्यते।

रेवत्यादेष्ठण् ॥३।१।१३४॥ रेवती इत्येवमादिभ्योऽपत्ये ठण् भवति। अणादीनामपवादः। रेवत्या अपत्य रैवतिकः। रेवती अश्वपाली मणिपाली द्वारपाली वृकवञ्चिन् वृकग्राह कर्णग्राह दण्डग्राह कुक्कुटाक्ष।

वृद्धस्त्रियाः क्षेपे णश्च ॥३।१।१३५॥ पौत्राद्यपत्य वृद्धं क्षेपः कुत्सा। वृद्धस्त्रीवाचिशब्दादपत्ये णो भवति ठण् च क्षेपे गम्यमाने। गार्ग्या अपत्य युवा गार्गो जाल्मः। गार्गिको जाल्मः। ग्लुचुकायन्या अपत्य युवा ग्लौचुकायनो जाल्मः। ग्लौचुकायनिको जाल्मः। क्षेपश्चात्र प्रतिषिद्धाचरणेन पितुरज्ञानाद्वा गम्यते। वृद्ध इति किम्? कारिकेयो जाल्मः। स्त्रिया इति किम्? औपगविर्जाल्मः। क्षेप इति किम्? गार्गेयो माणवकः।

दोष्ठण् सौवीरेषु प्रायः ॥३।१।१३६॥ वृद्धग्रहण चानुवर्तते। सौवीरेष्विति वृद्धविशेषणम्। सौवी-रेषु यद्वृद्धवाचि दुसञ्ज तस्मादपत्ये प्रायष्ठण् भवति क्षेपे गम्यमाने। वेति वक्तव्ये प्रायोग्रहण परिगणनार्थम्।

"भागपूर्वपदो वित्तिर्द्वितीयस्तार्णविंदवः। तृतीयस्त्वाकशापेयो वृद्धाट्ठण् बहुलं ततः।"

भागवित्तेरपत्य युवा भागवित्तिकः। भागवित्तायनः। तार्णविंदवस्यापत्य युवा तार्णविन्दविकः। तार्ण-विन्दविः। अकशाप इति शुभ्रादिषु। आकशापेयस्यापत्य युवा आकशापेयिकः। आकशापेयिः। दुग्रहणं स्त्रीनिवृत्त्यर्थमविशेषेणेष्यते। सौवीरेष्विति किम्? औपगविर्जाल्मः। क्षेप इत्येव। भागवित्तायनो माणवकः।

फेरछ च ॥३।१।१३७॥ वृद्धग्रहण सौवीरेष्विति च वर्तते। फिञन्तात् सौवीरेषु वृद्धादपत्ये छो भवति ठण् च क्षेपे गम्यमाने। दोरित्यधिकारात् फेरित्यत्र फिञ एव सप्रत्ययः। यमुन्द तिकादिः। यामुन्दा-यनीयः। यामुन्दायनिकः। प्राय इत्यनुवर्तनादणपि भवति। तस्य फिञन्तात्परस्य "जिण्यराजार्षाद्यूञ्युब-णिञोः" [१।४।१२०] इत्युप्। यामुन्दायनिर्जाल्मः। सुयामन्—सौयामायनिः। तस्यापत्यं युवा सौयामायनीयः। सौयामायनिकः। अणि। सौयामायनिः। वृषस्य वार्षायणिः। फिञः संनियोगे वृद्धयभावे वक्ष्यते वार्ष्यायणेरपत्य वार्ष्यायणीयः। वार्ष्यायणिक। अणि वार्ष्यायणिः। क्षेप इत्येव। यामुन्दायनिर्मा-णवकः। अणेव भवति। सौवीरेष्वित्येव। तैकायनेरपत्य युवा अण् तस्योप्। तैकायनिर्जाल्मः।

"यमुन्दश्च सुयामा च वार्ष्यायणिः फिञः स्मृताः।
सौवीरेषु च कुत्सायां द्वौ योगौ शब्दवित्स्मरेत्॥"

फाण्टाहृतेर्णः ॥३।१।१३८॥ क्षेप इति निवृत्तम्। वृद्धग्रहणं सौवीरेष्विति च "जिण्यराजार्षात्" [१।४।१२०] इत्यत्र "अणिञोरुप्यमाह्मणगोत्रमात्राद्युवत्यस्योपसंख्यानम्" [वा०] इति उम्मा भूदिति णित्करणम्। "फिञप्यत्र भवतीति वक्तव्यम्।" [वा०] फाण्टाहृतायनिर्माणवकः। सौवीरेष्वित्येव। फाण्टा-हृतायनः। "सौवीरेषु मिमतशब्दाण्णफिञौ वक्तव्यौ" [वा०] मैमतः। मैमतायनिः। सौवीरेष्वित्येव। मैमतिः।

कुर्वादेर्ण्यः ॥३।१।१३६॥ सौवीरेष्विति निवृत्तम्। कुरु इत्येवमादिभ्योऽपत्ये ण्यो भवति। आदौ णकारः "जिण्ण्यराजार्थात्" [१।४।१३०] इत्यत्र विशेषणार्थः। कुरोरपत्यं कौरव्यः। राजार्थात् कुरुशब्दाञ्ञ्यो वक्ष्यते। तस्य द्विसंज्ञकत्वाद्बहुषूप्। तिकादिषु कौरव्यायणिः। कुरु गर्ग सञ्जय अतिमारक। रथकाराजातौ च। पट्टक। सम्राजः क्षत्रिये। कवि पितृमत् ऐन्द्रजालि धातुजि पेजि दामोष्णीषि। गणकारि कैशोरि कापिञ्जलादि ऐन्द्रजाल्यादिभ्यः ततो "यूनि" [३।१।७५] इति यूनि ण्यः। क्रोड कुरु शलाका मुर खण्डाक पमुक शुद्धरसी केशिनी। स्त्रीलिङ्गनिर्देशसामर्थ्यात् पुवद्भावो न भवति। शूर्पणाय श्यावनाय श्यावरथ श्यावपुत्र सत्यङ्कार वडभीकार पथिकारिन् मूढ शीक्ष भूहेतु शकशालीन इनपिण्डी वामरथ। वामरथ्यस्य सकलादिकार्यं भवति। सकलादयो गर्गाद्यन्तःपातिनः। बहुत्वे उब्भवति वामरथाः। स्त्री वामरथी। वामरथ्यायनी। वामरथ्यायनः। वामरथ्यस्य छात्राः वामरथाः "शकलादिभ्यो वृद्धे" [३।३।८१] इत्यण् भवतीति। वामरथाना संघः वामरथः। "संघाङ्क" [३।३।९९] आदिनाऽण्।

सेनान्तलक्षणकारिभ्य इञ्च ॥३।१।१४०॥ कारिशब्दः कारुवाचि। सेनान्तान्मृदो लक्षणशब्दात् कारिवाचिभ्यश्चापत्ये इञ् भवति ण्यश्च। हारिषेण्यः। हारिषेणिः। भैमसेन्यः। भैमसेनिः। जातसेन्यः। जातसेनिः। लाक्षण्यः। लाक्षणिः। कारिभ्यः—कौम्भकार्यः। कौम्भकारिः। तान्तुवाय्यः तान्तुवायिः। तक्षन्शब्दात् शिवादिलक्षणोऽण्। स इञो बाधको न तु ण्यस्य। तेन द्वैरूप्यम्। ताक्ष्णः। ताक्षण्यः।

तिकादेः फिञ् ॥३।१।१४१॥ तिक इत्येवमादिभ्योऽपत्ये फिञित्ययं त्यो भवति। तिकस्यापत्यं तैकायनिः। तिक कितव सज्ञा वाल शिखा उरस् शाट्य सैन्धव यमुन्द रूप्य नाडी सुमित्रा कुरु देवर देरण तितिलिन् सिलालिन् उरस। कौरव्य। द्विसंज्ञस्येदं ग्रहणम्। ओरसशब्देन राष्ट्रसमानशब्देन साहचर्यात्। कथं कौरव्यः पिता कौरव्यः पुत्रः ? अनु (अत्र) ण्यान्तादिञ् तस्योप्। लाङ्कव गोकक्ष्य भौरिकि चौपयत चैटयत सैकयत दौञ्जयत त्वजवत् चन्द्रमस् शुभ गङ्गा वरेण्य बन्ध आरद्ध वाह्यका खल्यका लायका सुयामन् उदन्या यज्ञ। यदिहावृद्धं दुस्त्र पठ्यते तस्य नित्यार्थं वचनम्।

कौशल्येभ्यः ॥३।१।१४२॥ कौशल्यादिभ्योऽपत्ये फिञ् भवति। बहुवचनेन कर्मारादयो गृह्यन्ते। कोशलस्यापत्यं कौशल्यायनिः। सर्वत्र मूलप्रकृतेः फिञ्। तस्यायनादेशे कृते कौशल्य इति। विकृतनिर्देशात् युट निपात्यते। एव दागव्यायनिः। कार्मार्यायणिः। छाग्यायनिः। वार्ष्यायणिः। राष्ट्रसमानशब्दात् कोशलात् ञ्यो वक्ष्यते। कर्मारशब्दात् कारिलक्षणो ण्योऽपि भवति। इञः प्रयोगो नोपलभ्यते।

द्व्यचोऽणः ॥३।१।१४३॥ अणन्ताद् द्व्यचो मृदोऽपत्ये फिञ् भवति। इञोऽपवादः। कर्त्रपत्य कार्त्रायणिः। पोतुरपत्यं पौत्रः; तस्यापत्यं पौत्रायणिः। एवं शैवायनिः। द्व्यच इति किम् ? औपगविः। अण इति किम् ? दाक्षिः।

वा वृद्धाद्दो ॥३।१।१४४॥ पौत्रायणप्रभृतिं वृद्धम् अवृद्धं यद्दुमञ तस्मादपत्ये वा फिञ् भवति। वायुरथायनिः। वायुरथिः। आदित्यगतायनिः। आदित्यगतिः। कारिशब्दात्तालादेनेन भवति न। नापित्यायनिः। ण्योऽपि भवति। नापित्यः। इञोऽभिधानं नास्ति। अवृद्धादिति किम् ? आश्वलायनः। औपगविः। दोरिति किम् ? आश्वकर्मिः।

गारेविः । वाकिन गारेव कार्कंय काक लङ्क । वर्मिचर्मिणोर्नख च । यदिहावृद्धं द्रुसंज्ञं तस्य कुगर्थं वचनम् । अन्यस्योभयार्थम् ।

पुत्रान्ताद्वा ॥३।१।१४६॥ वा वृद्धाद्दोरिति वर्तते । पुत्रान्तान्मृदो द्रुसञ्ज्ञकाद् वा कुगागमो भवति फिञि परतः । प्रकृतेन वाग्रहणेन फिञ् विकल्प्यते अनेन कुक् । तेन त्रैरूप्यम् । वासवदत्तापुत्रस्यापत्यं वासवदत्तापुत्रकायणिः । वासवदत्तापुत्रायणिः । वासवदत्तापुत्रिः । गार्गीपुत्रकायणिः । गार्गीपुत्रायणिः । गार्गीपुत्रिः ।

फिरदोः ॥३।१।१४७॥ त्यान्तरोपादानात् फिञि निवृत्ते तत्सबद्धः कुगपि निवृत्तः । वेति वर्तते । अदोर्मृदोऽपत्ये फिर्भवति वा । त्रिपृष्ठायनिः । त्रैपृष्टि । श्रीविजयायनिः । श्रैविजयिः । ग्लुचुकायनिः । ग्लौचुकिः । म्लौचुकायनिः । म्लौचुकिः । वेति व्यवस्थितविभाषा । तेनेह न भवत्येव । दाक्षिः । प्लाक्षिः । अदोरिति किम् ? रामदत्ति ।

मनोर्जातौ पुक्चाऽञ्यौ ॥३।१।१४८॥ मनुशब्दात् अञ य इत्येतौ त्यौ भवतः पुक् चागमः समुदायेन जातौ गम्यमानायाम् । मानुषः । मनुष्यः । अपत्यापत्यवत्सम्बन्धद्वारेण व्युत्पत्तिमात्रं क्रियते । परमार्थतस्तु रूढिशब्दावेतौ । अत एव "यञञोः" [१।४।१३९] इति बहुषूप्न भवति । मानुषा इति । जाताविति किम् ? अपत्यमात्रेऽण् (औत्सर्गिकोऽणेव) भवति । लोहितादिपाठात् पौत्रादौ यञि तूप्भवति । मानव्यः । मानव्यौ । मनवः । स्त्री मनव्यायनी । [जाताविति किम् ? अपत्यमात्रे औत्सर्गिकोऽणेव भवति ।]

"पुरुदेवस्य पौत्राद्या(त्रोऽसा)वर्ककीर्तिर्जिता हवः । पालयामास लक्ष्मीवान् मानवो मानवीः प्रजाः॥"

वृद्ध पत्यविवक्षाया तु गर्गादित्वाद्यञा भवितव्यम् ।

"अपत्ये कुत्सिते मूढे मनोरौत्सर्गिकः स्मृतः । नकारस्य च मूर्द्धन्यस्तेन सिद्ध्यति माणवः ॥"

नेद णत्वार्थं बहु वक्तव्यम् । "माणवचरकात् खञ्" [३।४।१०] इति निपातनात् सिद्धम् ।

द्रिः ॥३।१।१४९॥ यानित ऊर्ध्वमापादपरिसमाप्तेस्त्यान्वक्ष्यामो द्रिसञ्ज्ञास्ते वेदितव्याः । वक्ष्यति "राष्ट्रशब्दाद्राज्ञोऽञ्" [३।१।१५०] पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । सत्या द्रिसञ्ज्ञाया "द्रेर्बहुषु तेनैवास्त्रियाम्" [१।४।१३३] इत्युप् सिद्धः ।

राष्ट्रशब्दाद्राज्ञोऽञ् ॥३।१।१५०॥ राष्ट्रं जनपदः। राजशब्दश्चेह क्षत्रियपर्यायः । राष्ट्रशब्दाद्राजवाचिनोऽपत्येऽञ् भवति । स्वभावतः पञ्चालादिशब्देन राष्ट्रं राजा चाभिधीयते । अथवा पञ्चालाना निवासो जनपद इति निवासार्थं आगतस्याणो "जनपद उप्"[३।२।६१] इति उपि कृते अवरकालेनापि पञ्चालशब्देन क्षत्रियशब्दो लक्ष्यते । यथा देवदत्तस्य पितेति । पञ्चालस्यापत्यं पाञ्चालः । पाञ्चालौ । पञ्चालाः । ऐक्ष्वाकः । ऐक्ष्वाकौ । इक्ष्वाकवः । इक्ष्वाकुशब्दस्य अञि "औणहत्य" [४।४।१६६] इत्यादिना उखं निपात्यते । राष्ट्रशब्दादिति किम् ? श्रीविजयिः । द्रुह्योः द्रौह्यवः । राज्ञ इति किम् ? पञ्चालो नाम ब्राह्मणस्तस्यापत्यं पाञ्चालिः ।

साल्वेयगान्धारिभ्याम् ॥३।१।१५१॥ साल्वा नाम क्षत्रिया तस्माद्द्व्यच इति ढणि साल्वेयः । साल्वेय गान्धारि इत्येताभ्यां राजशब्दाभ्यामञ् भवति । अञोऽपवादे "द्विरकुरुनाद्यजादकोशलाञ्ञ्यः" [३।१।१५३] इति ञ्ये प्राप्ते वचनम् । साल्वेयस्यापत्यं साल्वेयः । गान्धारेरपत्यं गान्धारः । गान्धारौ । बहुषूपि गान्धारयः ।

द्व्यच्मगधकलिङ्गसूरमसादण् ॥३।१।१५२॥ राष्ट्रशब्दाद्राज्ञ इति वर्तते । द्व्यचो मृदः मगध कलिङ्ग सूरमस इत्येतेभ्यश्च अण् भवति । अञोऽपवादः । आङ्गः । वाङ्गः । सौह्मः । पौण्ड्रः । मागधः । कालिङ्गः । सौरमसः । सर्वत्र बहुषूप । अञैव सिद्धे किमर्थमण् विधीयते ? "द्व्यचोऽणः" [३।१।१४३]

इति फिञ् यथा स्यात् । नास्त्यत्र विशेषः सर्वस्यैव युवत्यस्य द्रे रुत्तरस्योविष्यते । इह तर्हि विशेषः राजसमानशब्दाद्राष्ट्रात् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्ष्यते । अङ्गाना राजा आङ्ग इति अणि सति आङ्गस्यापत्य आङ्गायनिः । "द्व्यचोऽणः" [३।१।१४३] इति फिञ् । युवत्योऽयं न भवतीति उप् नास्ति । अपि च अञि सति संघाद्यर्थविवक्षायामण् प्रसज्येत । अणि सति "वृद्धचरणाञ्जित्" [३।३।१४] इति वुन् भवति । आङ्गकः । वाङ्गकः । मागधकः । कालिङ्गकः । सौरमसकः ।

द्वित्कुरुनाद्यजादकोशलाञ्ज्यः ॥३।१।१५३॥ दुसंज्ञान्मृद इकारान्तात् कुरुशब्दात् नकारादेः अजादकोशलशब्दाभ्यां च ञ्यो भवति । अणोपवादः । दोः—आम्बष्ठस्यापत्य आम्बष्ठ्यः । सौवीरस्य सौवीर्यः । काम्बचस्य काम्बच्यः । दार्वस्य दार्व्यः । द्व्यज्लक्षणोऽपि फिञ् परत्वादेतेन बाध्यते । इकारान्तात् अवन्तेरावन्त्य । कुन्तेः कौन्त्यः । वसन्तेर्वासन्त्यः । तपरकरणं किम् ? कुमारी नाम जनपदः क्षत्रियश्चास्ति । तस्यापत्यं कौमारः । कुरोः—कौरव्यः । नादेः—निचकस्य नैचक्यः । निषधस्य नैषध्यः । नीपस्य नैप्यः । अजादस्य आजाद्यः । कोशलस्य कौशल्यः । सर्वत्र बहुषूप् ।

साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ् ॥३।१।१५४॥ साल्वा नाम मानुषी क्षत्रिया तस्या अपत्यं "द्व्यचः" [३।१।११०] इति ढणि साल्वेय इत्युणि कृते निपातनादणपि भवति । साल्वः क्षत्रियः तस्य निवासो जनपदः साल्वः । तदवयवाः ।

"उदुम्बरास्तिलखला मद्रकारा युगन्धराः । भुलिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वावयवसंज्ञिताः ।"

साल्वावयवेभ्यो राजवाचिभ्यः प्रत्यग्रथिः । कालकूटिः । आश्मकिः । सर्वत्र बहुषूप् योज्यः ।

पाण्डोर्ड्यण् ॥३।१।१५५॥ राष्ट्रशब्दाद्राज्ञ इति वर्तते । पाण्डुशब्दाड्ड्यण् भवत्यपत्येऽर्थे । पाण्डोरपत्यं पाण्ड्यः । डकारो टिखार्थः । णकारः "ञ्णिद्धृद्धरक्तविकारे" [४।३।१५१] इति पुवद्भावप्रतिषेधार्थः । पाण्ड्या भार्या अस्य पाण्ड्यभार्यः । कथमयं प्रयोगः असिद्वितीयो न ससार पाण्डवः ? पाण्डवा यस्य दाराः इति ? येन जनपदेन समानशब्दो राजा तस्य जनपदस्य स्वामी यदि विवक्षितस्तदायं विधिर्वेदितव्यः । अन्यत्रौत्सर्ग एव भवति । "इह प्रकरणे राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्य राजन्यपत्यवदिति वक्तव्यम्" [वा०] राजसमानशब्दात् राष्ट्रात् तस्येति तासमर्थात् राजन्यभिधेये अपत्य इव त्यविधिर्भवति । पञ्चालाना राजा पाञ्चाल । साल्वेयाना राजा साल्वेयः । एवं आङ्गः । आम्बष्ठ्य । औदुम्बरिः । पाण्डवाना राजा पाण्ड्यः । सर्वत्र बहुषूप् । अस्मादपत्यविवक्षाया "वा वृद्धाद्दोः" [३।१।१४४] इति फिञ् । पाञ्चालायनिः ।

उप् चोलादेः ॥३।१।१५६॥ राष्ट्रशब्दाद्राज्ञ इति वर्तते । चोलादेः परस्याञ् भवति । कस्य ? समाप्तदुत्तरोः । चोलस्यापत्यं चोलः । केरलः । कम्बोजः । शकः । यवनः । आदिशब्दः प्रकारवाची तस्य राजनीति वर्तते । चोलाना राजा चोल ।

कुन्त्यवन्तिकुरुभ्यः स्त्रियाम् ॥३।१।१५७॥ कुन्ति अवन्ति कुरु इत्येतेभ्यः उत्पन्नस्य दुसंज्ञकस्य उप् भवति स्त्रियामभिधेयायाम् । कुन्ती । अवन्ती । कुरूः । "द्वित्कुरुनाद्यजादकोशलाञ्ज्यः" [३।१।१५३] इत्यस्य उपि कृते "इतो मनुष्यजातेः" [३।१।२५] इति ङीविधिः । कुरुशब्दात् "ऊङुतः" [३।१।५६] इति ऊङ् ।

भर्गादेरिति किम् ? प्राच्या ये राष्ट्राभिधाना राजानस्तेभ्य उप् प्रतिषिध्यते। पाञ्चाली। वैदेही। पैप्पली। आङ्गी। वाङ्गी। सौह्मी। पौण्ड्री। मागधी। कालिङ्गी। भर्गादेरप्राच्यार्थं उप् प्रतिषेधः। भर्गस्यापत्यं स्त्री भार्गी। करूषस्य कारूषी। भर्ग करूष केकय कश्मीर सेल्व (सुल्वा) सुस्थाल उरस कौरव्य। वचनाद्यर्थेण उरि कुरुः। अनेनानुपि कौरव्येति। यौधेयः। शौक्रेय शौभ्रेय धार्तेय ग्रावाणेय नृगर्त भरत। उशीनर। कस्य पुनरकारस्य यौधेयादिभ्यः द्रुसंज्ञकेभ्यः परस्योप् प्राप्तः प्रतिषिध्यते ? उच्यते। 'पर्श्वादेरण्'' [४।२।६] इति द्रिसंज्ञकोऽण् स्वार्थिको वक्ष्यते। तस्यायं प्रतिविधिः[1] न तु राष्ट्रसमानशब्दात्। आपत्यस्य उपुच्यमानः कथं स्वार्थिकस्य भिन्नप्रकरणस्य द्रेरुब्भवति। इदमेव यौधेयादिभ्यः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं भिन्नप्रकरणस्यापि द्रेरुब्भवति। अपत्यग्रहणेन गृह्यते इति किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्। इह स्त्रियामुप्। पशुः रक्षाः असुरी इति पशु रक्षस् असुर इति राष्ट्रशब्दा राजानः एषामपत्यं संघः स्त्रीत्वविशिष्टो विवक्षित इति अणञोरागतयोः "उप् चोळादेः" [३।१।१२६] इति उपि कृते पुनः "पर्श्वादेरण्" [४।२।६] इति स्वार्थिकोऽण्। तस्यापि स्त्रियामनेनोप् सिद्धः।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।

तेन रक्तं रागात् ॥३।२।१॥ रज्यतेऽनेन शुक्लं वस्त्विति रागः; कुसुम्भादि द्रव्यम्। तेनेति भासमर्थात् रागविशेषवाचिनो मृदो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम्। हारिद्रम्। कौसुम्भम्। माञ्जिष्ठम्। रागादिति किम् ? देवदत्तेन रक्तम्। "पुंखौ घः प्रायेण" [२।३।१००] इत्येतद् घञ्विधानेऽपेक्ष्यते। तेन वर्णविशेषस्य रागस्य ग्रहणादिह न भवति। पाणिना रक्तमिति। इहोपमानाद्भवति। काषायौ गर्दभस्य कर्णौ। हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादाविति।

नीलपीतादकौ ॥३।२।२॥ नील पीत इत्येताभ्यां भान्ताभ्यां रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथासंख्यम् अ क इत्येतौ त्यौ भवतः। नीलेन रक्तं नीलम्। लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्। नील्या रक्तं नीलम्। पीतेन रक्तं पीतकम्।

लाक्षारोचनाशकलकर्दमाट्ठण् ॥३।२।३॥ लाक्षादिभ्यो भासमर्थेभ्यो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति। अणोऽपवादः। लाक्षया रक्तं लाक्षिकम्। शाकलिकम्। शकलकर्दमाभ्यामणपीष्यते।

भायुक्तः कालः ॥३।२।४॥ तेनेति वर्तते। भविशेषवाचिनो मृदो भासमर्थाद् युक्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। योऽसौ युक्तः कालश्चेत् स भवति। नित्ययुक्तौ हि भकालौ न तयोः सन्निकर्षविप्रकर्षौ स्तः। तत्कथं पुष्यादिना 'भेन युक्तः काल' इत्युच्यते ? व्यभिचाराभावात्। नैष दोषः। इह पुष्यादिसमीपस्थे चन्द्रमसि पुष्यादयः शब्दाः वर्तमाना गृह्यन्ते। पुष्येण युक्तः कालः पुष्यसमीपगतेन चन्द्रमसा युक्त इत्यर्थः। पौषी रात्रिः। पौषमहः। "तिष्यपुष्ययोर्भाणि" [४।४।१३९] इति यकारखम्। माघी रात्रिः। माघमहः। भादिति किम् ? चन्द्रमसा युक्ता रात्रिः। काल इति किम् ? पुष्येण युक्तश्चन्द्रमाः।

उसभेदे ॥३।२।५॥ अभेदो नामाविशेषः। पूर्वेण विहितस्योस् भवति न चन्द्रेण युक्तस्य कालस्य भेदो रात्र्यादिविशेषोऽभिधीयते। अद्य पुष्यः। अद्य कृत्तिकाः। अद्य रोहिण्यः। "युक्तवदुसि लिङ्गसंख्ये" [१।१।६८] इति युक्तवद्भावः। अत्र यावान् कालः त्रिंशन्मुहूर्तमात्रो भेन युक्तो न तस्य भेदोऽभिधीयते। अभेद इति किम् ? पौषी रात्रिः। पौषमहः। अभेद इति प्रसज्यप्रतिषेधः। तेनेहापि न भवति। पौषोऽहोरात्रः।

---

1. प्रतिषेध. स०।

पौषः कालः इति । अथेह कथमुस् न भवति अद्य दिवा पुष्यः । अद्य रात्रौ पुष्य इति । पूर्वमहोरात्रात्मकस्य समुदायस्याभेद उस विधाय पश्चाद्दिवारात्रिशब्दयोः प्रयोगः कृतः ।

खौ श्रवणाश्वत्थाभ्याम् ॥३।२।६॥ खौ भेदेऽपि उस् यथा स्यादित्यारम्भः । श्रवण अश्वत्थ इत्येताभ्यामुत्पन्नस्य त्यस्योस् भवति खुविषये । श्रवणेन युक्ता श्रवणा रात्रिः । अश्वत्थेन युक्ता अश्वत्था रात्रिः । अश्वत्थो मुहूर्तः । "फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यः" [३।२।१८] इति श्रवणाशब्दनिर्देशो ज्ञापक इह सूत्रे उसि युक्तवद्भावो न भवति । खाविति किम् ? श्रावणी रात्रिः । आश्वत्थी रात्रिः ।

द्वन्द्वाच्छः ॥३।२।७॥ भद्वन्द्वात्तासमर्थात् युक्तः काल इत्येतस्मिन्नर्थे छो भवति भेदे चाभेदे च । अणोऽपवादः । राधानुराधीयम् । राधानुराधीय तिष्यपुनर्वसवीयमहः । अद्य तिष्यपुनर्वसीयम् । अत्र परत्वादुसो बाधकः ।

परिवृतो रथः ॥३।२।८॥ तेनेति वर्तते । तेन परिवृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित त्यो भवति; यः परिवृतो रथश्चेत् स भवति । वस्त्रेण परिवृतो रथो वास्त्रः । काम्बलः । चार्मणः । "अन" [४।४।१२८] इति अणि टिखाभावः । रथ इति किम् ? वस्त्रेण परिवृता शय्या । स इह कस्मान्न भवति छात्रैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । अथवा समन्ताद्वृतः परिवृत इत्याश्रयणात् । रथैकदेशस्त्वमुत्पादयति न छात्रादिः । इह कस्मादण् न भवति । पाण्डुकम्बलैः परिवृतो रथ इति ? अनभिधानात् । कथ पाण्डुकम्बली रथ इति पाण्डुकम्बला अस्य संवृत्त (सन्ति व्रीह्यादि) पाठात् यसे कृते इन्द्रष्टव्यः । ठस्याभिधान नास्ति । "तीयान्वात् स्वार्थे वा ईकण् वक्तव्यः" [वा०] द्वैतीयिकम् । द्वितीयम् । तार्तीयिकम् । तृतीयम् । "विद्याया अभिधाने नेष्यते" [वा०] द्वितीया विद्या । तृतीया विद्या । इह कथमण् भवति ? न विद्यते पूर्वः पतिर्यस्याः सा अपूर्वा कुमारी । तादृशीं कुमारीमुपपन्नः कौमारः पतिरिति 'तत्र भवः" [३।३।२८] इत्यण् भविष्यति । कुमार्यां भवः पतिः कौमारः पतिः । पुयोगात् कौमारी भार्या इत्यपि सिद्धम् ।

तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ॥३।२।९॥ भुक्तावशिष्टमुद्धृतमुच्यते इति केचित् । तत्तु नातिश्लिष्टम् अन्यत्रापि प्रयोगात् । उद्धृत ब्राह्मणेन लब्धमिति । तत्रेति ईप्समर्थादमत्रवाचिनो मृदः उद्धृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित त्यो भवति । शरावेषु उद्धृत ओदनः शाराव. । माल्लवः (माल्लिकः) । अमत्रेभ्य इति किम् ? पाणावुद्धृत ओदनः ।

स्थाण्डिलः ॥३।२।१०॥ स्थाण्डिल इति निपात्यते । स्थण्डिलशब्दादीबन्ताच्छयितरि [illegible] निपात्यते समुदायेन व्रते गम्ये । स्थण्डिले शेते स्थाण्डिलो ब्रह्मचारी । व्रतादन्यत्र स्थण्डिले शेते देवदत्त इति ।

संस्कृतं भक्ताः ॥३।२।११॥ सतो गुणान्तराधान संस्कार । खरविश (रा) दमत्र [illegible] भक्ताः । तत्रेति ईप्समर्थात् संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित त्यो भवति यत्तत् संस्कृत भक्ताश्चेत्तद् भवति । भ्राष्ट्रे संस्कृता भ्राष्ट्राः । एवं कैलाशा. (कालशाः) पात्रा । भक्ता इति किम् ? फलके संस्कृतो मांसापूपः ।

शूलोखाद्यः ॥३।२।१२॥ शूल उखा इत्येताभ्यां ईप्समर्थाभ्यां संस्कृतं भक्ता इत्येतस्मिन्नर्थे यो भवति । अणोऽपवादः । शूले-संस्कृत शूल्यम् । उखायां संस्कृतमुख्यम् । उपमानात् सिद्धम् । [illegible] शूले इव [illegible] । [illegible]शूल्यम् । मयूरव्यंसकादित्वात् सविधिः ।

घोदश्वितः ॥३।२।१४॥ उदश्वित्-शब्दादीप्समर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति। उदश्विति संस्कृत ओदनः औदश्वित्कः। औदश्वितः। अतोऽपि वावचनाज्ज्ञायते तेन संस्कृतात्तत्र संस्कृतस्यार्थभेदः। अन्यथैवन्ताट्ठण् भान्तादण् इत्युभयं सिद्धं स्यात्।

क्षीराड्ढण् ॥३।२।१५॥ क्षीरशब्दादीप्समर्थात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ढण् भवति। अणोऽपवादः। क्षीरे संस्कृता क्षैरेयी यवागूः।

सास्मिन् पौर्णमासीति खौ ॥३।२।१६॥ सेति वासमर्थादस्मिन्निति ईबर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्टं पौर्णमासी सा चेद्भवति। इतिकरणाद्यदि लोके विवक्षा समुदायेन चेत् संज्ञा गम्यते। पूर्णमासा चन्द्रमसा युक्तः कालः पौर्णमासी। इदमेव ज्ञापकमत्राण् भवतीति। माघी पौर्णमास्यस्मिन् मासेऽर्द्धमासे संवत्सरे वा माघो मासोऽर्द्धमासः संवत्सरः। एवं पौषः। खाविति किम्? माघी पौर्णमास्यस्मिन् पञ्चदशरात्रे। इतिशब्दः किमर्थः? विद्यमानेऽपि लक्षणे लौकिकप्रयोगानुसारणार्थः। इह मा भूत्। माघी पौर्णमासी अस्मिन् हि भवति संवत्सरपर्वणि।

अश्वत्थाग्रहायणीभ्यां ठञ् ॥३।२।१७॥ सास्मिन् पौर्णमासीति वर्तते। अश्वत्थ आग्रहायणी इत्येताभ्यां पौर्णमासीति वासमर्थाभ्यामस्मिन्निति ईबर्थे ठञ् भवति। अणोऽपवादः। अश्वत्थेन युक्त काल अश्वत्था पौर्णमासी अस्मिन्मासे अर्द्धमासे संवत्सरे वाऽश्वत्थिकः। अग्रहायणेन युक्तः काल आग्रहायणी आग्रहायणिकः।

फाल्गुनीश्रवणाकार्तिकीचैत्रीभ्यो वा ॥३।२।१८॥ फाल्गुन्यादिभ्यो वा ठञ् भवति। सास्मिन् पौर्णमासीति वर्तते। फाल्गुनी पौर्णमासी अस्मिन् मासे संवत्सरे वा फाल्गुनिकः। फाल्गुनः। एवं श्रावणिकः। श्रावणः। कार्तिकिकः। कार्तिक। चैत्रिकः। चैत्रः।

सास्य देवता ॥ ३।२।१९ ॥ सेत्यत्र लिङ्गवचने अप्रधानभूते। सेति वासमर्थादस्येति ताऽथ यथाविहित त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्ट देवता चेत्स भवति। अर्हन् देवता अस्य आर्हतः। भगवती देवता अस्य भागवत। बार्हस्पत्यः। सेति वर्तमाने पुनः साग्रहण संज्ञाविषयनिवृत्त्यर्थम्। तेन संज्ञाया वायं विधिः। देवतेति किम्? कन्या देवदत्तस्य।

कस्येः ॥३।२।२०॥ कशब्देन प्रजापतिरभिधीयते। कस्य इकारोऽन्तादेशो भवत्यण् च सास्य देवतेत्यस्मिन्विषये। को देवताऽस्य कायं हविः। अणि पूर्वेण सिद्धे इत्वार्थं वचनम्। आरम्भसामर्थ्यात् "यस्य ङ्यां च" [४।४।१२४] इति खं न भवति।

शुक्राद् घः ॥३।२।२१॥ शुक्रशब्दाद् घो भवति। अणोऽपवादः। सास्य देवतेति वर्तते। शुक्रो देवतास्य शुक्रियः।

अपोनप्त्रपान्नप्तृभ्याम् ॥३।२।२२॥ घ इति वर्तते। अपोनप्तृ अपान्नप्तृ इत्येताभ्या घो भवति। अणोऽपवादः। साऽस्य देवतेति वर्तते। अपोनपाद्देवताऽस्य अपोनप्त्रियः। अपान्नपाद्देवता अस्य अपान्नप्त्रियः। प्रत्यय (त्य) सन्नियोगेन प्रकृत्योः अपोनप्तृअपान्नप्तृभावो निपात्यते। सप्रैषे अपोनपाते ब्रूहि अपान्नपाते ब्रूहि इति भवति।

छः ॥३।२।२३॥ अपोनप्तृ अपान्नप्तृ इत्येताभ्या छश्च भवति सास्य देवतेत्यस्मिन् विषये। अपोनप्त्रीय.। अपान्नप्त्रीय.। योगविभाग उत्तरार्थः "पौङ्गीपुत्रादिभ्यश्छो वक्तव्यः" [वा०] पौङ्गीपुत्रीयः। तार्णबिन्दवीय.। "शतरुद्राद्घश्च" [वा०] शतरुद्रियः। शतरुद्रीयः।

महेन्द्राद्घाऽणौ च ॥३।२।२४॥ साऽस्य देवतेति वर्तते । महेन्द्रशब्दाद् घ अण् इत्येतौ भवतः छश्च । महेन्द्रो देवता अस्य महेन्द्रियः । माहेन्द्रः । महेन्द्रीयः ।

सोमाट्ट्यण् ॥३।२।२५॥ सोमशब्दाट्ट्यण् भवति साऽस्य देवतेत्यस्मिन्विषये । अणोऽपवादः । सोमो देवता अस्य सौम्यः । स्त्रियां सौमी । "हलो हतो ह्याम्" [४।४।१४०] इति यत्वम् ।

वाय्वृतुपित्रुषसो यः ॥३।२।२६॥ वायु ऋतु पितृ उषस् इत्येतेभ्यो यो भवति । अणोऽपवादः । साऽस्य देवता इति वर्तते । वायव्यः । ऋतव्यः । पित्र्यः । "रीङृतः" [५।२।१२६] इति रीङादेशः । उषस्यः ।

द्यावापृथिवीसुनाशीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च ॥३।२।२७॥ द्यावापृथिवी इत्येवमादिभ्यश्छो भवति यश्च साऽस्य देवतेत्यस्मिन्विषये । द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ देवते अस्य द्यावापृथिवीयः । द्यावापृथिव्यः । सुनो वायुः शीर आदित्यः सुनश्च शीरश्च "देवताद्वन्द्वे" [४।३।१२६] इत्यानङ् । सुनाशीरौ देवते अस्य सुनाशीरीयः । सुनाशीर्यः । मरुत्वान् देवता अस्य मरुत्वतीयः । मरुत्वत्यः । अग्निश्च सोमश्च देवते अस्य अग्नीषोमीयः । अग्नीषोम्यः । "सोमवरुणेऽग्नेरी." [४।३।१४०] इतीत्वम् । "स्तुतसोमौ चाग्नेः" [२।४।६२] इति षत्वम् । वास्तोष्पतीयः । वास्तोष्पत्यः । पुंल्लिङ्गत्वं तथा अनुप्षत्वं च निपातनात् । गृहमेधीयः । गृहमेध्यः ।

सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढण् ॥३।२।२८॥ साऽस्य देवतेति वर्तमाने सर्वत्रग्रहणं सर्वार्थसंग्रहार्थम् । अग्निकलिशब्दाभ्यां सर्वेष्वर्थेषु ढण् भवति प्राग्द्रोः । अग्निर्देवता अस्य अग्नौ भवः अग्नेरागतो आग्नेयः । एवं कालेयः ।

कालेभ्यो भववत् ॥३।२।२९॥ कालविशेषवाचिभ्यो भव इव त्यविधिर्भवति । वत्करणं सर्वसंग्रहार्थं परिग्रहार्थम् । येभ्यः कालविशेषवाचिभ्यो मृद्भ्यो भवे ये त्या विहिताः साऽस्य देवतेत्यस्मिन्विषये तेभ्यः मृद्भ्यस्त एव त्या अतिदिश्यन्ते । यथा मासे भवं मासिकं सांवत्सरिकं वासन्तं प्रावृषेण्यम् । "कालाट्ठञ्" [३।२।१३१] "भसंध्यादृतुभ्यो वर्षाभ्योऽण्" [३।२।१३७] "प्रावृष एण्यः" [३।२।१३९] एते भवन्ति । तथा मासो देवता अस्य वसन्तो देवता अस्य प्रावृड् देवता अस्येति अत्रापि भवन्ति ।

महाराजप्रोष्ठपदाभ्यां ठण् ॥३।२।३०॥ महाराजो वैश्रवणः । महाराज प्रोष्ठपद इत्येताभ्यां ठण् भवति साऽस्य देवतेत्यस्मिन्विषये । महाराजो देवताऽस्य माहाराजिकः । प्रोष्ठपदा देवताऽस्य प्रौष्ठपदिकः । "ठण्प्रकरणे तदस्मिन्वर्तते इति नवयज्ञादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०] नवयज्ञोऽस्मिन् वर्तते [illegible] पाकयज्ञिकः । "पूर्णमासादण् वक्तव्य." [वा०] पूर्णमासोऽस्यां वर्तते पौर्णमासी तिथि. ।

पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ॥३।२।३१॥ पितृव्यादय. शब्दा निपात्यन्ते । [illegible] स्योऽनुबन्धनार्थ इति सर्वमिदं निपात्यते । पितृमातृभ्यां तावसमर्थाभ्यां भ्रातरि वाच्ये व्यडुलौ [illegible] पितृव्य. । मातुर्भ्राता मातुल । डित्त्वाट्टिखम् । "ताभ्यामेव पितरि डामहः" [वा०] मातुः [illegible] "स एव डामहो मातरि वाच्यायां ङिच्च" [वा०] मातुर्माता मातामही । [illegible] डिन्वान्ङीविधि. ।

पदमुद्गादिभ्योऽपि वुञादिः । काकाना समूहः काकम् । शौकम् । वार्कम् । इह पञ्चानां पूलाना समूहः पञ्चपूला इति प्राप्नोति । समूहार्थेऽण् तस्य "रस्योऽनपत्ये" [३।१।७४] इत्युप् "परिमाणाद्रूप्द्वुपि" [३।१।२९] इति नियमात् । असति ङीविधौ टापा भवितव्यम् । नायं दोषः । समाहारलक्षण एवात्र रसः । हृदुत्पत्तिर्न भवत्यनभिधानात् ।

भिक्षादेः ॥३।२।३३॥ तस्य समूह इति वर्तते । भिक्षा इत्येवमादिभ्यः यथाविहितं त्यो भवति । पुनर्विधानं ठणो बाधनार्थम् । भिक्षाणा समूहः भैक्षम् । भिक्षा गर्भिणी क्षेत्र करीष अङ्गार चर्मन् सहस युवति पद्धति अथर्वन् दक्षिणा । इह पाठसामर्थ्यात् गर्भिणी-युवतिशब्दे न पुंवद्भावः ।

वृद्धोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुञ् ॥३।२।३४॥ वृद्धादिभ्यो वुञ् भवति । तस्य समूह इति वर्तते । औपगवाना समूह औपगवकम् । कापटवकम् । औक्षकम् । औष्ट्रकम् । औरभ्रकम् । राजकम् । राजन्यकम् । राजपुत्रकम् । वात्सकम् । मानुष्यकम् । आजकम् । "वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] वार्द्धकम् । "प्रकृत्या अके राजन्यमनुष्ययुवानः" इति "क्यच्च्यनादूत्यापत्यस्य" [४।४।११६] इति यखं न भवति । इह वृद्धग्रहणात् सिद्धे राजन्यमनुष्ययोः पृथग्ग्रहणं ज्ञापकम् । अपत्याधिकारादन्यत्र वृद्धग्रहणेन लौकिक गोत्रमपत्यमात्रमुच्यते न तु पौत्राद्यपत्य वृद्धमिति । तथाहि लोके किङ्गोत्रो भवान् इति पृष्टः वात्स्यायनोऽस्मीत्याह । राजन्यमनुष्ययोस्तु जातिशब्दत्वात् लौकिकगोत्रग्रहणम् ।

केदाराद्यञ्च ॥३।२।३५॥ केदारशब्दाद्यञ् भवति वुञ् च तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । ठणोऽपवादः । केदाराणां समूह कैदार्य्यम् । कैदारकम् । "गणिकायाः यञ्च वक्तव्यः" [वा०] गणिकाणा समूहः गाणिक्यम् ।

ठञ् कवचिनश्च ॥३।२।३६॥ ठञ् भवति कवचिनश्च केदाराच तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये । कवचिना समूह कावचिकम् । कैदारिकम् ।

ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् ॥३।२।३७॥ ग्रामादिभ्यस्तल् भवति तस्य समूह इति वर्तते । ग्रामाणां समूहो ग्रामता । जनता । बन्धुता । सहायता । "गजाच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] गजता ।

चरणेभ्यो धर्मवत् ॥३।२।३८॥ चरणवाचिशब्देभ्यः समूह इत्येतस्मिन्नर्थे धर्म इव त्या भवन्ति । इदमेव ज्ञापकम् । अस्त्येतत् 'चरणाद्धर्माम्नाययो.'' [वा०] इति "वृद्धचरणाञ्चित्" [३।३।१४] इत्यारभ्य चरणाद्धर्मे त्यविधिर्वक्ष्यते, स इहातिदिश्यते । वत्करण सर्वविशेषपरिग्रहार्थम् । यथा कठाना धर्मः काठकम् । कालापकम् । मौदकम् । पैप्पलादकम् । आर्वाभकम् । वाजसनेयकम् । छान्दोग्यम् । औक्थिक्यम् । आथर्वणः । "वृद्धचरणाञ्चित्" इति वुन् "छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः" [३।३।१७] इति ञ्य । "आथर्वणः" [३।३।१०१] इति च निपात्यते आथर्वणिकाना धर्म इत्यत्र वाक्ये । तथा कठाना समूहः काठकमित्येवमादि योज्यम् ।

अचित्तहस्तिधेनोष्ठण् ॥३।२।३९॥ अचित्तमचेतनम् । अचित्तार्थवाचिभ्यो हस्तिधेनुशब्दाभ्यां च ठण् भवति तस्य समूह इत्यस्मिन् विषये । अपूपानां समूहः आपूपिकम् । शष्कुलीना समूहः शाष्कुलिकम् । हास्तिकम् । धैनुकम् । "पर्श्वा णस् वक्तव्यः" [वा०] पर्शूना स्त्रीणा समूहः पार्श्वम् । सिद्धापदसज्ञाया भलक्षणमोरोत्वं न भवति । खण्डिकादिभ्योऽञ् वक्तव्य इति चेत् न वक्तव्यः । नास्ति विशेषोऽञि वा सत्यणि वा । खण्डिकादिषु ये चित्तवन्तस्तेभ्य औत्सर्गिकोऽण् सिद्धः । ये त्वचित्तास्ते भिक्षादिषु पठनीयाः । खण्डिका शब्दः पदपक्षुद्रकमालवाद्विरशाताः क्षत्रिया इत्यर्थः । तेषा समूह वृद्धलक्षणो वुञ् प्राप्तः । ननु च यथा "राष्ट्रादप्योः" [३।२।१०२] इत्यत्र राष्ट्रादुच्यमानो वुञ् न राष्ट्रसमुदायाद्भवति । काशिकौशलेषु भवा

काशिकोशलीया इति छ एव भवति। तथेह वृद्धादुच्यमानस्त्यः कथं वृद्धसमुदायादिति? एव तर्हि तदन्तविधिना भविष्यति। इदमेव ज्ञापकं सामूहिके त्ये तदन्तविधिर्भवति। क्षौद्रकमालवी सेना। क्षौद्रकमालवकमन्यत्। भिक्षुक शुक उलूक। अयं यञन्तः बहुत्वेऽण प्रयोजयति। स्वन् (श्वन्) युग वरत्र हंस इति खण्डिकादिषानुद्दिष्टे तदन्तविधिर्ज्ञापितः। तेन औपगवकापटवाना समूहः औपगवकापटवकम्। ब्राह्मणराजन्यकम्। दम्यहस्तिना समूहः दाम्यहस्तिकम्। गोधेनुकम्। "धेनोर्नञ्पूर्वाया नेष्यते" [वा०] अधेनूना समूहः आधेनवम्।

केशाश्वाभ्यां यञ्छो वा ॥३।२।४०॥ केश अश्व इत्येताभ्या यथासंख्य यञ्छ इत्येतौ त्यौ वा भवतः। केशाना समूहः कैश्यम्। कैशिकम्। अश्वाना समूह अश्वीयम्। आश्वम्।

पाशादेर्यः ॥३।२।४१॥ पाश इत्येवमादिभ्यो यो भवति। तस्य समूह इति वर्तते। पाशाना समूहः पाश्या। तृण तृण्या। धूम्या। वात वात्या। लिङ्गं लोकतो ज्ञेयम्। पाश तृण धूम वात अङ्गार पालाल पिटल पिटाक शकल हल नल वन पृस्व।

ब्राह्मणमाणववाडवात् ॥३।२।४२॥ य इति वर्तते। ब्राह्मण माणव वाडव इत्येतेभ्यो यो भवति तस्य समूह इत्यस्मिन्विषये। ब्राह्मणाना समूहो ब्राह्मण्यम्। माणव्यम्। वाडव्यम्।

गोखलरथात् ॥३।२।४३॥ गो खल रथ इत्येतेभ्यस्तान्तेभ्यो यो भवति समूहे। गवा समूहः गव्या। खल्या। रथ्या। योगविभाग उत्तरार्थः।

त्रेन्कट्याः ॥३।२।४४॥ गो खल रथ इत्येतेभ्यो यथासंख्यं त्र इन् कट्य इत्येते प्रत्यया (त्या) भवन्ति। तस्य समूह इति वर्तते। गवा समूहः गोत्रा। खलिनी। रथकट्या। "खलादिभ्य इन् वक्तव्यः" [वा०] डाकिनी। कुटुम्बिनी। लोकतो लिङ्गव्यवस्था।

राष्ट्रे ॥३।२।४५॥ समूह इति निवृत्तम्; अर्थान्तरोपादानात्। तस्येति वर्तते। राष्ट्रं जनपदः। तस्येति तासमर्थात् राष्ट्रेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति। शिवाना राष्ट्र शैवम्। जनपदापेक्षया पुलिङ्गता प्रयोक्तव्या। शैवः। अयुष्टः (औष्ट्रः)। आभिसारः। "राष्ट्राभिधाने बहुत्वे उस्वक्तव्य." [वा०] अङ्गाना राष्ट्रम् अङ्गाः। वङ्गाः। सुह्माः। "गान्धार्यादिभ्यो वेति वक्तव्यम्" [वा०] गान्धारीणा राष्ट्र गान्धारयः। वासातः। वसातयः। शैवः। शिवाः। "राजन्यादिभ्यो वा वुञ उस्वक्तव्य." [वा०] राजन्याना राष्ट्रं राजन्या। राजन्यकः। दैवयातवः। दैवयातवकाः। "विल्ववनादिभ्यो नित्यमुस् न भवतीति वक्तव्यम्" [वा०] बैल्ववनकः। आम्बरीषपुत्रकः। आत्मकामेयकः। नेद बहु वक्तव्यम्। राष्ट्रविवक्षाया निवासविवक्षायाश्च प्रतिनियमात्सिद्धम्। बहुत्वविषये जनपदस्य निवासविवक्षयैव तत्र "जनपद उस्" [३।२।११] इति उस् भवति। गान्धार्यादीना राजन्यादीना च उभयी विवक्षा बिल्ववनादीना राष्ट्रविवक्षैव।

राजन्यादेर्वुञ् ॥३।२।४६॥ राजन्य इत्येवमादिभ्यस्तासमर्थेभ्यो वुञ् भवति राष्ट्रे। राजन्यानां राष्ट्र राजन्यकः। राजन्यः। आभृति वात्सक (बाभ्रव्य) शालङ्कायन दैवयातव आलम्बगाग्य जीवन्त आत्मकामेय आम्बरीषपुत्र वसाति बिल्ववन शैलूष उदुम्बर बैल्वल आर्जुनायन सम्प्रिय दाक्षि ऊर्णनाभ। आकृतिगणश्चायम्। मालवत्रिगर्तविराटादीना ग्रहणम्।

अलायन ताडायन खाडायन सौवीर (सौवीरायण) दासमित्रायण शौद्रायण स (श) यण्ड शौण्ड । वैश्वमाणव वैश्वधेनव तुण्डदेव सापिण्डि ।

तदस्मिन्युद्धे योद्धृप्रयोजनात् ॥३।२।४८॥ योद्धारश्च प्रयोजन च योद्धृप्रयोजनम्, तदिति वासमर्थाद् अस्मिनिति ईब्नर्थे यथाविहित त्यो भवति यत्तद्वानिर्दिष्ट योद्धारश्चेत् तद्भवन्ति। प्रयोजनं चेत् तद्भवति । यत्तस्मिनिति निर्दिष्टं युद्ध चेद्भवति । विद्याधराः योद्धारोऽस्मिन् युद्धे वैद्याधर युद्धम् । कौरवम् । भारतम् । प्रयोजनात् खल्वपि । सुलोचना प्रयोजनमस्मिन् युद्धे सौलोचनम् । स्वायप्रभम् । सौतारम् । संग्रामे त्वभिधेये पुलिङ्गता । वैद्याधरः सग्रामः । सौलोचनः सग्रामः । युद्ध इति किम् ? सुभद्रा प्रयोजनमस्मिन्वैरे । योद्धृप्रयोजनादिति किम् ? रथा वाहनमस्मिन् युद्धे ।

प्रहरणमिति क्रीडायां णः ॥३।२।४६॥ तदस्मिनिति वर्तते । तदिति वासमर्थादस्मिनिति ईब्नर्थे णो भवति यत्तद्वासमर्थं प्रहरणं चेत्तद्भवति यत्तदस्मिनिति निर्दिष्टं क्रीडा सा चेद्भवति । इतिकरणस्ततश्चेद्विवक्षा । अद्रोहेण यत्र घातः सा क्रीडा । दण्डः प्रहरणमस्या क्रीडाया दाण्डा । मौष्टा । पादा । प्रहरणमिति किम् ? गन्धोदकसेचनमस्या क्रीडायाम् । क्रीडायामिति किम् ? असिः प्रहरणमस्मिन् युद्धे ।

श्यैनंपातातैलंपाता ॥३।२।५०॥ श्यैनपाता तैलंपाता इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । श्येनानामिव पातः श्येनपातोऽस्या क्रीडाया वर्तते श्यैनपाता । तिलानामिव पातस्तिलपातोऽस्या क्रीडाया तैलपाता । अस्मिन्नर्थे णो निपात्यते पूर्वपदस्य च मुमागमः । कथ दण्डपातः क्रिया अस्या तिथौ वर्तते दाण्डपाता तिथिः । मुशलपातोऽस्या वर्तते मौशलपाता भूमिः । पूर्वसूत्रे इतिकरणादन्यत्रापि णो भवति ।

तद्वेत्त्यधीते ॥३।२।५१॥ तदिति इप्समर्थात् वेत्ति अधीते इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं त्यो भवति । तदिति प्रत्येक सम्बद्ध्यते । तद्वेत्ति तदधीते इति । यथा "तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" [३।३।१२७] इत्यत्र तेनेति । मुहूर्तं वेत्ति मौहूर्त्तः । औत्पातः । व्याकरणमधीते वैयाकरणः । सैद्धान्तः ।

क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठण् ॥३।२।५२॥ सयूपा यज्ञाः क्रतवः । क्रतुविशेषवाचिभ्यो मृद्भ्य उक्थादिभ्यः सूत्रान्ताच्च ठण् भवति । तद्वेत्त्यधीते इति वर्तते । अग्निष्टोम वेत्त्यधीते वा आग्निष्टोमिकः । राजसूयिकः । वाजपेयिकः । उक्थादिभ्यः उक्यशब्दः केषुचिदेव सामसु रूढः । स च औक्थिक्ये वर्तमानस्त्यविधिं लभते । उक्यमधीते औक्थिक । औक्थिक्यमधीते इत्यर्थः । औक्थिक्यशब्दात्तु न त्यविधिर्भवत्यनभिधानात् । एवं यज्ञशब्दोऽपि याज्ञिक्ये त्यविधिं लभते । याज्ञिकः । लोकायतमधीते लौकायतिकः । सूत्रान्तात् – वार्तिसूत्रिकः । साग्रहसूत्रिकः । "सूत्रान्तादकल्पादेरिष्यते" [वा०] । तेन काल्पसूत्र इत्यणेव भवति । सूत्रान्तग्रहणमुक्थादेः प्रपञ्चः । उक्थ लोकायत न्याय न्यास पुनरुक्त सज्ञा चर्चा क्रमेतर श्लक्ष्ण सहिता पद क्रम सघात वृत्ति संग्रह गण गुण आयुर्वेद वसन्त । सहचरितेऽध्ययने वसन्तात् । वर्षा शरद् । व्यस्तसमस्तात् । शिशिर हेमन्त प्रथमगुण अनुगुण प्रथमगण । अनुगण इति केचित् । अथर्वन् । "विद्यालक्षणकल्पसूत्रान्तादकल्पादेः" [वा०] । वायसविद्यिकः । सार्पविद्यिकः । हास्तिलक्षणिकः । आश्वलक्षणिकः । मातृकल्पिकः । पैतृकल्पिक. । वार्त्तिसूत्रिक । अकल्पादेरिति किम् ? काल्पसूत्रः । "विद्यामाननक्षत्र (विद्या च नाङ्गक्षेत्र) धर्मत्रिपूर्वा" [वा०] इद विद्यान्ताट्ठणुक्तस्तस्याय प्रतिषेधः । अङ्गविद्यामधीते आङ्गविद्य । क्षात्रविद्यः । धार्मविद्यः । त्रैविद्यः । न्यवयवा विद्या इति यत्तेऽय प्रतिषेधः । रसे तु "रस्योबनपत्ये" [३।१।७४] इत्युपा भवितव्यम् । तत्र नास्ति विशेषः । "आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च" [वा०] आख्यानाख्यायिकयोरर्थग्रहणमितिहासपुराणयोः स्वरूपग्रहणम् । आख्यानात्–यावक्रीतिकः । आभिभारिकः[1] । आख्यायिकायाः–वासव-

---

1. आभिनारिकः ब०, स० ।

दत्तिकः। ऐतिहासिकः। पौराणिकः। "सर्वसादेरसाच्चोप्" [वा०] सर्वादे सादेरसाच्चोप् भवति। सर्ववेदः। सर्वतन्त्रः। सादेः-सवार्त्तिकः। ससंग्रहः। सर्वत्र ठण उप्। रसात्। पञ्चकल्पः। त्रिलक्षणः। त्रिसूत्र। विद्यालक्षणकल्पसूत्रान्तादकल्पादेरिकक्। पदोत्तरपदादिक। पूर्वपदिकः। उत्तरपदिकः। "शतषष्टिभ्यां पथष्टिक" [वा०] शतपथिकः। शतपथिकी। षष्टिपथिकः। षष्टिपथिकी। "अनुसूलक्ष्यलक्षणेभ्यश्च ठण्" [वा०] अनुसूर्नाम ग्रन्थः। अनुसूमधीते आनुसुकः। लाक्ष्यिकः। लाक्षणिकः। द्विपद ज्योतिष अनुपद अनुकल्प। इतिकरण प्रयोगार्थं वर्तते। ततोऽयं विभागो लभ्यते।

क्रमादेर्वुन् ॥३।२।५३॥ तद्वेत्त्यधीते इति वर्तते। क्रम इत्येवमादिभ्यो वुन् भवति। क्रमं वेत्त्यधीते वा क्रमकः। क्रम पद शिक्षा मीमांसा सामन्। "अनुब्राह्मणादिन्वक्तव्यः" [वा०] ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थो अनुब्राह्मणं तदधीते अनुब्राह्मणी। अनुब्राह्मणिनौ। अनुब्राह्मणिनः। मत्वर्थीयेन सिद्धेऽपि अणाधनार्थमिदं वक्तव्यम्।

उप्प्रोक्तात् ॥३।२।५४॥ प्रोक्तेऽर्थे विहितः प्रोक्तः। प्रोक्तप्रत्ययान्तादध्येतृवेदित्रोरुत्पन्नस्य उप् भवति। गोतमेन प्रोक्तं गौतमं तद्वेत्त्यधीते वा गोतमः। भद्रबाहुना प्रोक्तं भाद्रबाहवं तद्वेत्त्यधीते वा भाद्रबाहवः। परस्याण उपि कृते योऽवस्थितः प्रोक्तार्थविषयोऽण् तस्य न्यक्त्वात् "अनाचः" [३।१।१७] इत्यधिकारात् "टिड्ढाणञ्" [३।१।१८] इति ङीविधिर्न भवति अतस्त्रापि गोतमा। भाद्रबाहवा स्त्री।

सूत्रात्कोट्. ॥३।२।५५॥ सूत्रवाचिनः ककारोटः अध्येतृवेदित्रोरुत्पन्नस्य उप् भवति। अप्रोक्तार्थोऽयमारम्भः। पञ्चाध्यायाः परिमाणमस्य पञ्चकं सूत्रम्। एवमष्टकं द्वादशकम्। पञ्चकमधीयते विदन्ति वा पञ्चका जैनेन्द्राः। अष्टकाः पाणिनीयाः। द्वादशका आर्हताः। "संख्याप्रकृतेरिति वक्तव्यम्" [वा०] इह मा भूत्। तत्त्वार्थवार्तिकमधीते तात्त्वार्थवार्त्तिकः। कलापकमधीयते कालापकाः।

यार्थम्। पाराशर्येण प्रोक्तं सूत्रमधीयते पाराशरिणो भिक्षवः। शिलालिना प्रोक्तमधीयते शैलालिनो नटाः। शौनकादिषु "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः" [ग० सू० ३।३।७७] इति णिन्। कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनः। कृशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कृशाश्विनः। शौनकादिष्वेव "कर्मन्दकृशाश्वाभ्यामिन्" [ग० सू० ३।३।७७] इति भिक्षुनटसूत्रयोरिति वर्तते।

तदस्मिन्नस्तीति देशः खौ ॥३।२।५७॥ तदिति वासमर्थादस्मिन्निितीत्यर्थे यथाविहितं त्यो भवति। यत्तद्वासमर्थमस्ति चेत् तद्भवति। यत्तदस्मिन्निति निर्दिष्टं देशश्चेत्तद् भवति। समुदायेन खुविषये। इतिकरणाद् भूमादिविषये विवक्षा। औदुम्बरः। बाल्वजः। पार्वतः। मत्वर्थीयोऽनेन बाध्यते।

तेन निर्वृत्तः ॥३।२।५८॥ देशः खाविति वर्तते। तेनेति भासमर्थाद् निर्वृत्त इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति देशः खौ। ककन्देन निर्वृत्ता काकन्दी। मकन्देन निर्वृत्ता माकन्दी। कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी। सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा। खावित्येव। वनेन निर्वृत्तम्। इह यदाऽकर्मका अपि धवः सगयः सकर्मका भवन्तीति कर्मणि निर्वृत्तशब्दो व्युत्पाद्यते, तदा तेनेति कर्तरि करणे वा भा। यदा त्वकर्मकविवक्षया कर्तरि निर्वृत्तशब्दस्तदा हेतौ भा।

तस्य निवासादूरभवौ ॥३।२।५९॥ देशः खाविति वर्तते। तस्येति तासमर्थात् निवास अदूरभव इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं त्यो भवति देशनाम्नि गम्यमाने। निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः "हलः" [२।३।१०२] इत्यधिकरणे घञ्। भवतीति भवः। पचाद्यच्। अदूरे भवः निपातनात्सविधिः। वसतेर्निवासः वासातम्। औपुष्टम्। शलाकाया निवासः शालाकम्। वाराणस्या अदूरभवा वाराणसी। विदिशाया अदूरभवं वैदिशम्। व्रीहीमत्या अदूरभवं व्रैहिमत नगरम्।

वुञ्छण्कठेलसेत्रढण्ण्ययफक्फिञ्ञिञ्ञ्यकण्ठणोऽरीहणकृशाश्वर्श्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसंकाशबलपक्षकर्णसुतङ्गमवराहकुमुदादिभ्यः ॥३।२।६०॥ वुञादयः षोडश त्या यथासंख्यमरीहणादिभ्य षोडशभ्यो गणेभ्यो भवन्ति यथासंभव प्रागुक्तेषु चतुरर्थेषु। अरीहणादिभ्यो वुञ्। अरीहणेन निर्वृत्तं आरीहणकम्। अरीहण द्रुघण द्रुवण खदिर भगल उलुन्द साम्परायण क्रौष्ट्रायण चैत्रायण त्रैगर्तायन रायस्पोष विपथ विपाय उदण्ड उदञ्जन शालायन खाण्डायन खण्डवीरण काशकृत्स्न जाम्बवत शिंशपा किरण रैवत तैल्व वैमतायन सौमायन शाण्डिल्यायन सुयज्ञ विपाश वायस। कृशाश्वादिभ्यश्छण् भवति। कृशाश्वेन निर्वृत्त कार्शाश्वीयम्। कृशाश्व अरिष्ट वेश्मन् वेश्य विशाल रोमक लोमक बवर शवल रोमश वर्वर सूकर पूतर सदृश सुख धूम अजिर विनत अवनत इरस अयस् विकुघास अनस् अवसाय मौद्गल्य। ऋश्यादिभ्यः को भवति। ऋश्या अस्मिन्देशे सन्ति ऋश्यकः। ऋश्य। न्यग्रोध। सर (शिरा)। निलीन। निवास[1]। निधास। वितान। विधान। निबद्ध। विबुद्ध। परिगूढ। उपगूढ। उपगूढ। उच्चराश्मन्[2]। स्थूलबाहु। स्थूलवाह। खदिर। शर्करा। अनडुह्। परिवंश। वेणु। वीरण। कुमुदादिभ्यष्ठो भवति। कुमुदान्यस्मिन् देशे सन्ति कुमुदिकम्। कुमुद। शर्करा। न्यग्रोध। कर्कट। संकट। इत्कट। मन्तु। बीज। अश्वत्थ। बल्वज। ग्रथक। गर्त्त। परिवाप[3]। अक्ष। पवाश। शिरीष। कूप। विकङ्कत। काशादिभ्य इलो भवति। काशा अस्मिन्देशे सन्ति काशिलम्। काश। वास[4]। अश्वत्थ। पलाश। पीलूष। विस। तृण। वर्पूल[5]। कार्दम। नड। वन। कर्पूर। कर्कट। गुहा। श(शा)र्कटिक। तृणादिभ्यः सो भवति। तृणान्यस्या सन्ति तृणसा। तृण। नड।

---

१. निवात अ०, पू०। २. उत्तराश्मन् पू०। ३. परिवाय अ०, पू०। ४. वाम पू०। ५. वर्पूर अ०।

पर्ण । वर्ण । मूल । वराण[1] । अर्जुन । जनक[2] । फल । प्रेक्षादिभ्य इन् भवति । प्रेक्षाऽस्मिन्सन्ति प्रेक्षी । फलक । बन्धुक । ध्रुवक[3] । धुवका । क्षिपका । न्यग्रोध । इत्कट । कण्टक[4] । संकट । कपि । अश्मादिभ्यो रो भवति । अश्मानोऽस्मिन् सन्ति, अश्मरम् । अश्मन् । यूथ । ऊथ । मीन । दर्भ । वृन्दा । गुडा । खण्ड । काण्ड । नग । शिखा । सख्यादिभ्यो ढण् भवति । सख्या निर्वृत्तं साखेयम् । दान्तेयम् । सखि । दत्त[5] । वासवदत्त । अग्निदत्त । वायुदत्त । गोपिल[6] । भल्ल । पाल । चक्रवाक । छगल । अशोक । शिरीष । सरकापाल । संकाशादिभ्यो ण्यो भवति । सकाशेन निर्वृत्तं सांकाश्यम् । संकाश । कपिल । काश्मीर । शूरसेन । सुपथिन् । सुपथन्च । मन्मथ । यूथ । अङ्गनाथ[7] । कुल । अश्मन् । कूटा । मलिन । तीर्थ । अगस्ति । सूर । विरत । विरह । विकर । नासिका । सादिन् । शादिन् । मगदिन् । कलिर । खदिर । गडिर । चूडार । मञ्जार । कोविदार । गोहल । चक्रवाक । अशोक । करवीरक । सीरक । सूरक । मुसल । मुखर । बलादिभ्यो यो भवति । बलेन निर्वृत्तं बल्यम् । बल । पूल । मूल । ऊल । तल । नल । वच । कल । पक्षादिभ्यः फण् भवति । पक्षेण निर्वृत्तः पाक्षायणः । पक्ष । तुष[8] । अश्मक । मुण्ड । कम्बलिक । यक्ष । चित्रा । अस्तिश्वन् । पथिन् पन्थ च । कुम्भ । सीरक । सरक । सरस । पतग । रोमन् । लोमन् । लोमक । हसक । सकर्णक । हस्त । बिल । कर्णादिभ्यः फिञ् भवति । कर्णेन निर्वृत्तः कार्णायनिः । कर्ण । वसिष्ठ । अर्क । लुस[9] । द्रुपद । आनडुह्य । पाञ्चजन्य । स्फिग् । कुलिश । कुम्भ । जित्वन् । जीवन्त । अण्डीवत् । सुतङ्गमादिभ्य इञ् भवति । सुतङ्गमेन निर्वृत्तः सौतङ्गमिः । सुतङ्गम । मुनिचित्त । विप्रचित्त । महाचित्त । महापुत्र । श्वेत । अण्डिक । शुक्र । विग्र । बीजवापिन् । श्वन् । अर्जुन । अजिर । वराहादिभ्यः कण्भवति । वराहा अस्मिन्देशे सन्ति वाराहकम् । वराह । पलाश । शिरीष । विनद्ध । स्थल । निबद्ध । निदग्ध । विजग्ध । विभिन्न । विभग्न । बाहु । खदिर । शर्करा । कुमुदादिभ्यः ठण् भवति । कुमुदानि अस्मिन्देशे सन्ति कौमुदिकम् । कुमुद । गोमथ[10] । रथकार । दशग्राम । अश्वत्थ । शाल्मली । मुनिस्थल । कूट । शुचुकर्ण । शुचिकर्ण । इति केचित् । अरीह-णादिषु कुमुदादिषु पठितस्य शिरीषशब्दस्य वरणादिषु दर्शनात् तस्य पक्षे उस् भवतीति वेदितव्यम् । उक्तं च भाष्यकृता शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषः । तस्य वनं शिरीषवनम् ।

जनपदे उस् ॥३।२।६१॥ चतुर्थ्यर्थेषु देशे लौ यस्त्यो विहितः तस्य जनपदे देशविशेषेऽभिधेये उस् भवति । पञ्चालस्यापत्यानि पञ्चालाः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । उसन्तेन यत्र देशः स्वविषयो भवति तत्रायमुस् । इह मा भूत् । उदुम्बरा अस्मिन्देशे सन्ति औदुम्बरो जनपदः ।

वरणादेः ॥३।२।६२॥ वरणा इत्येवमादिभ्यस्त्यस्योस् भवति चतुर्थ्यर्थेषु उत्पन्नस्य । अजनपदार्थ आरम्भः । वरणानामदूरभवं वरणा नगरम् । शृङ्गिशाल्मलयः । शिरीषा ग्रामः । गोदौ ह्रदौ [illegible] गोदौ ग्रामः । एवम् आलिङ्ग्यायन । पर्णी । इक्षवती[11] । जालपदी[12] । मथुरा । उज्जयनी । गया । तक्षशिला । उरस् । आकृतिगणोऽयम् । तेन वरणी । कटुबदरी । काञ्ची । [illegible]

इत्येवमादीनि परिहृतः ।

शर्करायां वा ॥३।२।६३॥ शर्कराशब्दादुत्पन्नस्य चातुरर्थिकस्य वा उरुभवति । शर्कराशब्दः । कुमुदादिषु वराहादिषु च पाठसामर्थ्यात् पक्षे ठण्कणोः श्रवणं भवति । शर्करायामः । शार्करिकः । शार्करिकः । "केऽणः" [५।२।१२५] इति प्रादेशः । अन्ते उत्सर्गस्येमं विकल्पमिच्छन्ति । तेषां शार्करेत्यपि भवति । अन्यथा विकल्पोऽनर्थकः स्यात् ।

ठण्छौ ॥३।२।६४॥ ठण्छ इत्येतो त्यो भवतः शर्कराशब्दात् चतुर्ष्वर्थेषु । शार्करिकम् शर्करीयम् ।

नद्यां मतुः ॥३।२।६५॥ नद्यामभिधेयायां मृदो मतुर्भवति चतुर्ष्वर्थेषु देशे त्ये । उदुम्बरा अस्यां सन्ति, उदुम्बरावती । वीरणावती । पुष्करावती । इक्षुमती । द्रुमती । कथं भागीरथी भैमरथी जाह्नवी ? वेत्यनुवृत्तेर्व्यवस्था ।

मध्वादेः ॥३।२।६६॥ मधु इत्येवमादिभ्यो मतुर्भवति चतुर्ष्वर्थेषु । अनद्यर्थोऽयमारम्भः । मधु अस्मिन्देशेऽस्ति, मधुमान् । मधु । विश । स्थाणु । पृथि[1] । इक्षु । वेणु । कर्कन्धु । शमी । करीर । हिम । किसरा । सार्यण[2] । उरुस् । वा[3]र्दाकी । वल्मीक । इष्टका । शुक्ति । आसुति । आसन्दी। शालाका । वेयवेण ।

कुमुदनडवेतसाड्डित् ॥३।२।६७॥ कुमुद नड वेतस इत्येतेभ्यश्चतुर्ष्वर्थेषु मतुर्भवति डिच्च । कुमुदान्यस्मिन्देशे सन्ति, कुमुद्वान् । वेतस्वान् । "महिषाच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] । महिष्मान् ।

शिखाया वलः ॥३।२।६८॥ शिखाशब्दाद् वलो भवति चातुरर्थिकः । शिखया निर्वृत्तं शिखाया अदूरभवं वा शिखावलं नाम नगरम् ।

नडशादाड्डित् ॥३।२।६९॥ नडशादाभ्यां वलो भवति डिच्चतुर्ष्वर्थेषु । नडा अस्मिन्देशे सन्ति नड्वलः । शाड्वलः ।

उत्करादेश्छः ॥३।२।७०॥ उत्कर इत्येवमादिभ्यश्छो भवति चतुर्ष्वर्थेषु यथासम्भवम् । उत्करेण निर्वृत्तम्, उत्करीयम् । उत्कर । सकर । सम्फल । पिप्पल । मूल । अश्मन् । अर्क । पर्ण[4] । खण्डाजिन[5] । अग्नि । तिक । कितव । आतप । अशक[6] ।

नडादेः कुक् ॥३।२।७१॥ नड शब्द आदिर्यस्य नडादि , तस्मात्, नड इत्येवमादिभ्यो यथासम्भवं चातुरर्थिकश्छो भवति कुगागमश्च । नडा अस्मिन्देशे सन्ति नडकीयः । नड । लक्ष । बिल्व । वेणु । वेत्र । वेतस । तृण । इक्षु । काष्ठ । कपोत । क्रौञ्चः प्रादेशश्च । तक्षन् तखञ्च ।

शेषे ॥३।२।७२॥ अपत्यादयश्चतुरर्थपर्यन्ता येऽर्था उक्तास्ततोऽन्यः शेषः, शेषेऽर्थविशेषे यथाविहितं त्यो भवति । चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम् । अश्वैरुह्यते आश्वो रथः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । दार्शनं स्पार्शनं च द्रव्यम् । दृषदि पिष्टाः दार्षदाः सक्तवः । उलूखले क्षुण्णः, औलूखलो यावकः । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । अनुष्टुबादिरस्य प्रगाथस्य, आनुष्टुभः । पाङ्क्तः । जागतः । स्वार्थेऽनुष्टुबेव आनुष्टुभम् । पाङ्क्तम् । जागतम् । "तेन दृष्टं साम ।" क्रौञ्चेन दृष्टं साम, क्रौञ्चम् । वासिष्ठम् । वैश्वामित्रम् । मायूरम् । "वामदेवाड्ड्यो वक्तव्यः" [वा०] । वामदेवेन दृष्टं वामदेव्यम् । "सर्वत्र दृष्टे सामनि जाते चाधे योऽन्योऽण् द्विश्रीयते स च डिद्भवतीति वक्तव्यम् ।" उशनसा दृष्टं साम औशनम् । औशनसम् । शतभिषजि जातः शातभिषः शातभिषजः । "कालाट्ठञ्" [३।२।१३१] प्राप्ते

---

१ पृष्टि ब०, पृ० । २ सीर्यण ब० । ३. वार्दाका पृ० । ४. पर्ण । सुपर्ण । ख-न०, पृ० । ५. ०जिन । वर्णाजिन । अग्नि ब०, पृ० । ६. अशक पृ० ।

"भसन्ध्याद्यृतुभ्योऽवर्षाभ्योऽण्" [३।२।१३७] इत्यण्। "दृष्टे सामनि वृद्धाद्दक्वद् वक्तव्यम्" [वा०]। औपगवेन दृष्टं साम, औपगवकम्। कापटवकम्। "वृद्धचरणाञ्जित्" [३।३।१४] इति वुन्।

"दृष्टे सामनि जाते च योऽन्योऽण् वा डिद्विधीयते। तीयादीकण् च विद्यायां वृद्धादक्वद्विष्यते।"

शेष इति लक्षणमधिकारश्चायम्। शेषभूतेषु जातादिष्वर्थेषु घादयो वक्ष्यमाणा वेदितव्याः। तन्नेः विशेषेष्वर्थेषु अपत्यसमूहादिषु मा भूवन्निति।

राष्ट्रावारपाराद्घखौ ॥३।२।७३॥ राष्ट्र अवारपार इत्येताभ्यां यथासंख्यं घ ख इत्येतौ भवतः। राष्ट्रे जातः राष्ट्रियः। अवारपारीणः। "विगृहीतादपीष्यते"। अवारीणः। पारीणः। "विपरीतादपि" पारावारीणः। अवारस्य पारे (रम्) पारावारः समुद्रः, राजदन्तादित्वात् [१।३।९६] परनियम।

ग्रामाद्यखञौ ॥३।२।७४॥ ग्रामशब्दात् य खञ् इत्येतौ भवतः शेषार्थेऽभिधाने। ग्राम्यः। ग्रामीणः। खञो ञित्करणं "ञ्णिद्घदरक्तविकारे" [४।३।१५१] इत्यत्र पुंवद्भावप्रतिषेधार्थम्। ग्रामीणभार्यः।

कत्र्यादेर्ढकञ् ॥३।२।७५॥ कत्त्रि इत्येवमादिभ्यो ढकञ् भवति। कुत्सितास्त्रयो यस्या यस्य वा असौ कत्त्रिः, तत्र जातो भवो वा कात्त्रेयकः। कत्त्रि। उम्भि[१]। पुष्कर। पुष्कल। पोदन[२]। मोदन। उम्भि। कुण्टिनी[३]। नगरी। माहिष्मती। चर्मण्वती। कुड्या। कुल्या। अनयोर्यरा च "ग्रामान्नेति वक्तव्यम्" [वा०] ग्रामेयकः। "कुलकुक्षिग्रीवाभ्यो यथासंख्यं श्वास्यलङ्कारेष्विति वक्तव्यम्" [वा०] कौलेयको भवति श्वा चेत्, कौलोऽन्यः। कौक्षेयको भवत्यसिश्चेत्, कौक्षोऽन्यः। ग्रैवेयको भवत्यलङ्कारश्चेत्, ग्रैवोऽन्यः।

नद्यादेर्ढण् ॥३।२।७६॥ नदी इत्येवमादिभ्यो ढण् भवति शेषे। नद्यां जातो भवो वा नादेयः। नदी। मही। वाराणसी। श्रावस्ती। कौशाम्बी[४]। काशफरी[५]। खादिरी। पूर्वनगरी। पावा। मावा। शाल्वा[६]। दार्वा। सैतव। वडवाया[७] वृषे इति। अत्र केचित् पूर्वनगरीशब्दस्थाने पूर्वनगिरिशब्दं पठन्ति। छेदेन च त्वमुत्पादयन्ति। पुरि भवं पौरेयम्। वने भवं वानेयम्। गिरौ भवं गैरेयम्।

दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यण् ॥३।२।७७॥ दक्षिणा पश्चात् पुरस् इत्येतेभ्यस्त्यण् भवति शेषे। दक्षिणस्यां दिशि वसति "दक्षिणादाच्" [४।१।१००] इति आकारे कृते दक्षिणा, तत्र भवो दाक्षिणात्यः। पाश्चात्यः। पौरस्त्यः।

टफण कापिश्याः ॥३।२।७८॥ टफण् भवति कापिशीशब्दात् शेषे। कापिशायनम्। कापिशायनी।

झेस्तुट् ॥३।२।८१॥ झिसंज्ञकाद्यो भवति तुडागमः शेषे। अत्र परिगणनम्। "अमेहक्कतसित्रेभ्य" इति। अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। ततस्त्यः। तत्रत्यः। परिगणन किम्? उपरिष्टात् जातः, औपरिष्टः। झेर्भमात्रे टिखम्। परतो जातः पारतः। उत्तराहि जातः, औत्तराहः। "दोश्छः" [३।२।९०] एव भवति। आरातीयः। "नेध्रुव इति वक्तव्यम्" [वा०] नियत सर्वकाल भवं नित्यम्। "निसो गत इति वक्तव्यम्" [वा०] निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्ट्यः श्वपचादिः।

वैषमोह्यस्श्वसः ॥३।२।८२॥ ऐषमस् ह्यस् श्वस इत्येतेभ्यो वा यो भवति। यदा यस्तदा तुट्। ऐषमस्त्यः। ऐषमस्तनः। ह्यस्त्यः। ह्यस्तनः। श्वस्त्यः। श्वस्तनः। "श्वसस्तुट् च" [३।२।१३५] इति पाक्षिके ठञि, शौवस्तिकः। "द्वारादेः" [५।२।६] इत्यौच्।

रूप्यद्योर्ण्यः ॥३।२।८३॥ रूप्यशब्दो द्युर्यस्य तस्मात् णो भवति शैषिकः। वृकरूप्ये जातः वार्करूप्यः। दुसंज्ञाया परत्वात् "धन्वयोङः" [३।२।९६] इति वुञ् भवति। माणिरूप्ये जातः, माणिरूप्यकः।

दिगादेरखौ ॥३।२।८४॥ दिग्विशेषादेर्मृदः अखौ वर्त्तमानात् णो भवति। व्यणोऽपवादः। शेषे। पूर्वस्यां शालाया भवः पौर्वशालः। "हृदर्थे" [१।३।४६] षसः। एवम् आपरशालः। दाक्षिणशालः। अखाविति किम्? पूर्वेषुकामशम्या जातः, पूर्वैषुकामशमः। अपरैषुकामशमः। "दिक्संख्यं खौ" [१।३।४४] इति सः। "प्राचां ग्रामाणाम्" [५।२।१६] इति द्योरैप्।

मद्रेभ्योऽण् ॥३।२।८५॥ दिगादेरिति वर्त्तते। दिगादेर्मद्रशब्दात् अण् भवति शैषिकः। "बहुस्वेऽद्योरपि" [३।२।१०३] इति वुञ् प्राप्तः। तदपवादे "वृजिमद्राक्कः" [३।२।१०६] इति के प्राप्ते पुनरनेनाण्। पौर्वमद्रः। आपरमद्रः। 'दिशोऽमद्राणाम्" [५।२।१८] इति पर्युदासादादैप्। दिगादेरित्येव। मद्रकः। आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे अण्ग्रहण राष्ट्रलक्षणस्यापि वुञो बाधनार्थम्।

पलद्यादेः ॥३।२।८६॥ पलदी इत्येवमादिभ्योऽण् भवति शैषिकः। पलद्या जातः, पालदः पारिषदः। "वा नाम्नः" [१।१।७१] इति दुसंज्ञाया छः प्रसज्येत। इह वाहीकशब्दश्छबाधार्थमुपात्तः। गौष्ठीनैकेतीशब्दाभ्या छः प्राप्तः। वाहीकशब्दत्वाच्च ठञिठौ प्राप्तौ। गोमतीशब्दात् "रोङीतोः प्राचाम्" [३।२।१०१] इति वुञ् प्राप्तः। "ओर्देशे[1] ठञ्" [३।२।९५] इत्यत्र (इत्यतो) देशग्रहणमनुवर्त्तते। गोमती च नदी। "भिन्नलिङ्गो नदीदेश" [१।४।८३] इत्यत्र ज्ञापित नदीदेशग्रहणेन न गृह्यते। गोमत्या भवा मत्स्या गौमता इति। तस्मादिह पाठोऽनर्थकः। एकीयमतमेतत्। अथवा इदमेव ज्ञापकम्, नद्यपि देशग्रहणेन गृह्यते। "भिन्नलिङ्गो नदीदेश" [१।४।८३] इत्यत्र नदीग्रहणं जलाशयनियमार्थमुक्तम्। अवदुदकाना द्वंद्व एकवद् भवति (न) स्थिरोदकाना कूपसरस्तडागानाम्। वैश्वामित्र च तडाग जरत्कूपश्च वैश्वामित्रजरत्कूपौ। शूरसेनशब्दात् "बहुस्वेऽद्योरपि" [३।२।१०३] इति वुञ् प्राप्तः। पलदी। परिषत्। यकृत्। लोमन्। नळञ्च। पट्चर। वाहीक। कलकीक। बहुकीट। कमलभित्। गौष्ठी। नैकेती। परिखा। उदपान। रोमक। शूरसेन। गोमती।

शकलादिभ्यो वृद्धे ॥३।२।८७॥ शकल इत्येवमादिभ्यो वृद्धे यो विहितस्तदन्तेभ्योऽण् भवति शेषे। शाकल्यस्य छात्राः शाकलाः। "क्यच्व्यनादृष्यापत्यस्य" [४।४।१४१] इति यखम्। काण्वस्य छात्राः काण्वाः। गौकक्ष्यस्य गौकक्षः। कौण्डिन्यस्य कौण्डिनः। वृद्ध इति किम्? शकलो देवताऽस्य शाकलः। शाकलस्येदम् शाकलीयम्। उत्तरार्थं च वृद्धग्रहणम्।

---

1. ननु "रोङीतोः" इत्यत्र देशग्रहणमनुवर्तते। अ०, पृ०।

इञः ॥३।२।८८॥ वृद्धे यो विहितः इञ् तदन्तादण् भवति शेषे। दाक्षेरिदं दाक्षम्। प्लाक्षम्। वृद्ध इत्येव। सौतङ्गमेरिदं सौतङ्गमीयम्।

न द्व्यचः प्राच्यभरतेषु ॥३।२।८९॥ द्व्यचो मृदः प्राच्यभरतात् वृद्धादिञन्तादण् न भवति। पूर्वेण प्राप्तस्य प्रतिषेधः। प्राच्येषु चैदीयाः[1]। पौष्पीयाः। भरतेषु काशीयाः। वासीयाः। द्व्यच इति किम्? पानागारेश्छात्राः पानागाराः। प्राच्यभरतेषु इति किम्? दाक्षाः। प्लाक्षाः। "काश्यादेष्ठञ्ञिठौ" [३।२।९२] इत्यत्र चेदिशब्देन साहचर्याद्देशवाचिनः काशिशब्दस्य ग्रहणम्। इह वृद्धत्वान्ताच्छ उदाहृतः। ननु भरता प्राच्या एव तेषां किमर्थं पृथगुपादानम्। अन्यत्र प्राच्यग्रहणेन भरतग्रहणं मा भूदित्येवमर्थम्।

दोश्छः ॥३।२।९०॥ वृद्ध इति निवृत्तम्। सामान्येनोपादानात्। दोर्मृदश्छो भवति शेषे। गोनर्दीयम्। मालीयम्। "रूप्ययोः" [३।२।८३] छं (छण) बाधित्वा परत्वात् "धन्वगोऽः" [३।२।९१] इति वुञ्। माणिरूप्ये भवः माणिरूप्यकः। "उदीच्यग्रामात् प्रस्थशोरण् वक्तव्यः" [वा०] माणीप्रस्थम्। माहकीप्रस्थम्।

भवतष्ठण्छसौ ॥३।२।९१॥ दोरिति वर्त्तते। भवच्छब्दात् ठण् छस् इत्येतौ स्तो भवतः शेषे। सकारः "सिति" इति पद सजार्थः। भावत्कम्। भवदीयम्। "मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य भवतीशब्दग्रहणे ठण्छसोः" [वा०] इति वक्ष्यमाणेनोपसंख्यातेन पुनद्भावे तदेव रूपम्। भल्लादिषु नवग्रान्तो भवच्छब्द', तस्मादणि भावतमिति।

काश्यादेष्ठञ्ञिठौ ॥३।२।९२॥ काशि इत्येवमादिभ्यः ठञ् ञिठ इत्येतौ स्तो भवतः शेषे। इकार उच्चारणार्थः। काशिषु जनपदः तत्र जाता काशिकी, काशिका। चैदिकी, चैदिका। काशि। चेदि। संज्ञा। संवाह। अच्युत। मोदमान। शकुलाद। हस्तिकर्ण। कुनामन्। हिरण्य। करण। गोवासन। भौरिकि। भौलिङ्गि। अरिन्दम। शर्वमित्र। देवदत्त। दासमित्र। दासग्राम। गोवाहन। तरङ्ग। सौवास्तवि[1]। युवराज। उपराज। सिन्धुमित्र। देवराज। "आपदादिपूर्वपदात् कालान्ताद् ठञ्ञिठौ वक्तव्यौ" [वा०]। आपत्कालिकी। आपत्कालिका। और्ध्वकालिकी। और्ध्वकालिका। आपद्। ऊर्ध्व। [illegible] आपदादिः। दोरिति वर्त्तते। ग्रामादुक्तत्वात्पि वचनात् ग्रहणम्। दोरधिकारस्य तु प्रयोजनम् [illegible] प्राग्देशे वर्त्तमानस्य दुर्लभ न वाहीकग्रामे। दोरेव ठञ्ञिठौ। कथं भाष्ये प्रयोगः देवदत्तीयाः। [illegible] इति। "वा नाम्नः" [१।१।७१] इत्यत्र वेति व्यवस्थितविभाषा हि कर्तव्ये दृश्यते भाषिते [illegible] भवति।

दोः प्राचाम् ॥३।२।९६॥ उद्देश (ओर्देशे)इति वर्त्तते। उवर्णान्ताद्दोः प्राग्देशवाचिनष्ठञ् भवति शेषे। दोरदोश्च पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमेतत्। दोरेव प्राचा नान्यदोः। आढकजम्बुकः। नापितवास्तुकः। दोरिति किम्? मल्लवास्तु माल्लवास्तवः।

कन्थायाः ॥३।२।९७॥ कन्थाशब्दाट्ठञ् भवति शेषे। कन्था प्रावरणम्, उपचाराद् देशोऽपि। कान्थिको गौः।

वर्णौ वुञ् ॥३।२।९८॥ वर्णौ या कन्था तस्या वुञ् भवति शेषे। वर्णुर्नाम नद, तस्य अदूरभवो जनपदो वर्णुः, तद्विषये या कन्थेत्यर्थः। कान्थको गौः। कान्थकोऽश्व।

धन्वयोडः ॥३।२।९९॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते। धन्व (धन्व)वाचिनो यकारोडश्च देशवाचिनो दोर्वुञ् भवति शेषे। प्राचामिति निवृत्तम्। पारेधन्व(धन्व)नि जातः, पारेधन्व(धन्व)कः। आपारेधन्व(धन्व)कः। पारावतकः। योडः। साङ्काश्यकः। काम्पिल्यकः। ठञ्ञिठाभ्या योडो वुञ् परत्वात्। वाहीकग्रामे। दासरूप्ये जातः, दासरूप्यकः। "आर्देशे" [३।२।९५] ठञः परत्वाद्योडो वुञ् भवति। आग्नीतमायौ जातः, आग्नीतमायवकः।

प्रस्थपुरवहान्तात् ॥३।२।१००॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते। प्रस्थ पुर वह इत्येवमन्ताद्देशवाचिनो दोर्वुञ् भवति। छस्यापवादः। दोरित्यधिकारात्तदन्तत्वे लब्धे अन्तग्रहणमनर्थकमिति चेत्; असत्यन्तग्रहणे तदर्थवाचि दुस्स्थ गृह्येत। यथा पूर्वसूत्रे धन्वा (धन्वा) र्थवाचि दुस्स्थ गृहीतम्। मालाप्रस्थे जातः। मालाप्रस्थकः। सौ (शौ) णप्रस्थकः। क्षान्तिप्रस्थकः[1]। नान्दीपुरकः। कान्धीपुरकः। पैलुवहकः। फाल्गुनीवहकः। पुरान्ताद् "रोपधेतोः प्राचाम्" [३।२।१०१] इति सिद्धेऽप्यप्रागर्थं वचनम्। प्रस्थाद्यन्तात् ठञ्ञिठाभ्या परत्वेन वुञ्। पानप्रस्थकः। कौक्कुजीवहकः। एतेभ्यो वाहीकग्रामत्वात् ठञ्ञिठौ प्राप्तौ।

रोपधेतोः प्राचाम् ॥३।२।१०१॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते। प्राग्ग्रहणं देशविशेषणम्। रेफोड इकारान्ताच्च दोः प्राग्देशवाचिनो वुञ भवति शेषे। छापवादः। पाटलिपुत्रक। ऐकचक्रकः। ईतः खल्वपि। काकन्दी, काकन्दकः। माकन्दी, माकन्दकः। प्राचामिति किम्? दात्तामित्रीय। तपरकरणमसन्देहार्थम्।

राष्ट्रावध्योः ॥३।२।१०२॥ दोरिति देश इति च वर्त्तते। देशविशेषणं राष्ट्राऽवधी। राष्ट्रवाचिनस्तदवधिवाचिनश्च दोर्वुञ भवति शेषे। छापवादः। आभिसारे जातः, आभिसारकः। राष्ट्रावधेः, औषुमकः। श्यामायनकः। अवधिग्रहणेनापि राष्ट्र गृह्यते। किमर्थं तर्हि[3] पादानम्? बाधकबाधनार्थम्। "गर्त्तोत्तरपदाच्छः" [३।२।१०४] राष्ट्रावधेः परमणछ बाधित्वा वुञेव भवत्युत्तरसूत्रेण। त्रैगर्त्तकः। इदं च प्रयोजनम्–मौञ्जिर्नाम वाहीकानामवधिग्राम, तत्र भवो मौञ्जीय। ग्रामे अवधौ वुञ् न भवति।

बहुत्वेऽदोरपि ॥३।२।१०३॥ राष्ट्रावध्योरिति वर्तते। बहुत्वविषयान्मृदः अदोरपि दोरपि राष्ट्रवाचिनस्तदवधिवाचिनश्च वुञ् भवति शेषे। अणछयोरपवादः। अदो राष्ट्रात्–अङ्गेषु जातः आङ्गकः। वाङ्गकः। अदो राष्ट्रावधेः[4]। अजकुन्देषु जातः, आजकुन्दकः। दो राष्ट्रात्, दार्वेषु जातः, दार्वकः। काम्बधकः। दो राष्ट्रावधेः। कालञ्जरेषु जातः, कालञ्जरकः। वैकुलिशेषु जातः, वैकुलिशकः। जहुषु जातः, जाह्नवकः। बहुत्वग्रहण किम्? जनपदैकदेशबहुत्वेन विवक्षिते वुञ् मा भूत् वर्तनीषु भव इति। दोः पूर्वेणैव सिद्धे अपिग्रहण किमर्थम्? उत्तरत्र द्वयोरनुवर्तनार्थम् बाधाबाधि[5]ज्ञा(न्या)येत(न)तत्कदानेनैव दधिदानस्य, तस्मादनीत्युक्तम्। "श्लोऽदस." [३।२।९६] परत्वात् राष्ट्रलक्षणो वुञ्। जहुषु जातः, जाह्नवकः।

---

१. क्षान्तिप्रस्थकः घ०, पृ०। २. कौकुजीवहकः पृ०। कौक्कुजीवहकः अ०। कौरकुजीवहकः ब०। ३ तर्हि पृथगुपादानम् ग०, ब०, पृ०। ४ धे.। अजमीदे (ढे) पु जातः, आजमोद (ढ) कः पू०। ५ विज्ञायेत ब०।

कच्छाग्निवक्त्रवर्त्त[1](गर्त)द्योः ॥३।२।१०४॥ कच्छ अग्नि वक्त्र वर्त्त (गर्त) इत्येतेभ्यो देश वाचिनो मृदो दोरदोश्च वुञ् भवति शेषे। छाणोऽपवादः। भरुकच्छे जातः, भारुकच्छकः। पैप्पलीकच्छकः। काण्डाग्नौ जातः काण्डाग्नकः। वैभुजाग्नकः। तैन्दुवक्त्रकः। सैन्धुवक्त्रकः। बाहुवर्तकः। चाक्रवर्तकः।

धूमादेः ॥३।२।१०५॥ धूम इत्येवमादिभ्यो वुञ् भवति शेषे। अणादीनामपवादः। धूमे जातः, धौमकः। धूम। षण्ड। शशादन। अर्जुनवा। दण्डायन। स्थली। माणवस्थली। घोषस्थली। पौलस्थली। माद्रकस्थली। राजगृह। सत्रासाह। भक्षास्थली। समुद्रस्थली। मद्रस्थल। अञ्जलीकूल। द्व्याहाव। त्र्याहाव। ससीय। पर्वत। गर्भ। विदेह। आनर्त्त। अनयोराष्ट्रार्थं ग्रहणम्। पादूर। पाथेय। योगेऽप्यनेयोः ग्रहणम्। घोष। सव्य[2]। पल्लि। आराजी। आराज्ञकः। धार्त्तराज्ञी। धार्तराजकः। इत्येवमादिग्रहणमप्रागर्थम्। अभय। तीर्था। तीरकूलात्सौवीरेषु। कौलमन्यत्। समुद्रान्नावि मनुष्ये च। सामुद्रमन्यत्। कुक्षि। पलादी। अरुण। उज्जयिनी। दक्षिणापथ। साकेत।

नगरात्कुत्साद्दाक्ष्ययोः ॥३।२।१०६॥ कुत्सा निन्दा, दाक्ष्य नैपुण्यम्। एतौ त्वार्थस्य जातादि विशेषणम्। नगरशब्दाद् वुञ् भवति शैषिकः कुत्स्यदाक्ष्ययोर्गम्यमानयोः। तत्र कुत्सायां केनाऽयं मुषितः इह नगरे मनुष्येण। सम्भाव्यत एतत्[3]। नागरकाश्चोरा हि जागरूका भवन्ति। केनेयं वीणा वादिता इह नगरे मनुष्येण। उपपद्यत एतन्नागरकैः (कैः) निपुणा हि नागरका भवन्ति। कुत्सादाक्ष्ययोरिति किम्? नागरः पुरुषः। कत्र्यादिषु नगरीशब्दः पठ्यते। तस्माड्ढकञि नागरेयक इति भवति।

मनुष्यादिष्वरण्यात् ॥३।२।१०७॥ अरण्यशब्दान्मनुष्याभिधेये शैषिको वुञ् भवति। "अरण्याण्णो वक्तव्यः" [वा०] इत्युक्तम्, तस्यायमपवादः। आरण्यको मनुष्यो वा पन्था वा अध्यायो वा न्यायो वा विहारो वा हस्ती वा। एते मनुष्यादयः। "वा गोमयेष्विति वक्तव्यम्"[वा०] आरण्यका आरण्या गोमयाः। मनुष्यादिष्विति किम्? आरण्या ओषधयः।

कुरुयुगन्धरेभ्यो वा ॥३।२।१०८॥ कुरु युगन्धर इत्येताभ्यां शैषिको वुञ् भवति। "राष्ट्रे वा (राष्ट्रावघ्नोः)" [३।२।१०२] इति "बहुत्वेऽदोरपि" [३।२।१०३] इति नित्ये वुञि प्राप्ते विकल्पः। कुरुषु जातः कौरवकः। कच्छादिपाठादणपि भवति। कौरवः। वाग्रहणं युगन्धरार्थमेव। युगन्धरेषु जातः यौगन्धरकः। यौगन्धरः। मनुष्यतत्स्थयोरभिधेययोः कुरुशब्दान्नित्यो वुञ् भवति। कौरवको मनुष्यः। [illegible]

कोपधादण् ॥३।२।११०॥ देश इति वर्त्तते। देशवाचिनो मृदः ककारोपधादण् भवति। "बहुत्वेऽदोरपि" [३।२।१०३] इति वुञोऽपवादः। ऋषिकेषु जातः आर्षिकः। माहिषिकः। आश्मकः। कथमिक्ष्वाकुषु जात ऐक्ष्वाक इति? उच्यते, "ओर्देशे" [३।२।९५] इति ठञ् प्राप्तः, त बाधित्वा परत्वाद् "बहुत्वेऽदोरपि" इति वुञ् प्राप्तः, तमपि परत्वादयमण् बाधते। "औक्षहत्य" [४।४।१६६] इत्यादिना उक्तं निपात्यते। देश इति वर्त्तते।

कच्छादेः ॥३।२।१११॥ कच्छ इत्येवमादिभ्यो देशवाचिभ्योऽण् भवति शेषे। वुञोऽपवादः। काच्छः। कच्छशब्दादबहुत्वविषयादुत्सर्ग एवाण् सिद्धः। तस्य नृतत्स्थयोर्वुञ् यथा स्यादित्येवमर्थः पाठः। कच्छ। सिन्धु। वर्ण। गन्धार। मधुर। मधुरात्। अस्यापुनरत्र वुञर्थः पाठः। द्वीप। अनूप। अजावह। विशापक। अस्यापि कोपो वुञर्थः पाठः। कुलूत। रङ्कु।

नृतत्स्थयोर्वुञ् ॥३।२।११२॥ कच्छादेरिति वर्त्तते। नरि तत्स्थे चाभिधेये कच्छादेर्वुञ् भवति। अणोऽपवादः। काच्छको ना। काच्छकमस्य हसितं जल्पितम्। काच्छिका चूला। सैन्धवको मनुष्यः। सैन्धवकमस्य हसित जल्पितम्। सैन्धविका चूला। नृतत्स्थयोरिति किम्? काच्छो गौः। सैन्धवोऽश्वः।

गोयवाग्वपदातौ सल्वात् ॥३।२।११३॥ गवि यवाग्वामपदातौ च जातादौ सल्वशब्दाद् "बहुत्वेऽदोरपि" [३।२।१०३] इत्येव वुञ्सिद्धः। नियमार्थमिदमुच्यते। एतस्मिन्नेव जातादिविशेषे वुञ् यथा स्यात्। अन्यत्र उत्सर्गापवादोऽण् भवति। तद्विशेषणमपदातिग्रहणम्। कच्छादिष्वस्य पाठोऽनर्थकः। सल्वेषु जातः साल्वको गौः। साल्विका यवागूः। नृतत्स्थयोरित्येतदत्र[1] वर्त्तमानमपदाति विशेषणम्। साल्वको मनुष्यः। साल्वकमस्य हसित जल्पितम्। साल्विका चूला। एतेषु वुञो नियमादन्यत्र साल्व वस्त्रम्। साल्वाः पदातयः।

गर्त्तद्युगहादिभ्यश्छः ॥३।२।११४॥ गर्त्त इत्येव द्योर्देशवाचिनो गहादिभ्यश्च छो भवति। अणादेरपवादः। स्वाविद्गर्त्तीयः। वाहीकग्रामेभ्य इति ठञ्ञिठयोः प्राप्तयोरनेन पुनश्छः। वृकगर्त्तीयः। शृगालगर्तीयः। अण् प्राप्तः। देश इत्यधिकारोऽपि गहादीनां सम्भवापेक्षं विशेषणम्। गहे जातः, गहीयः। गह। अन्तस्थ[2]। सम। मध्य मध्यम चाण् चरणेत्यस्यायमर्थ। पृथिवीमध्यशब्दस्य मध्यमादेशः। पृथिवीमध्ये शब्दस्य वा मध्यमादेशो भवति। माध्यमीयः कठः। चरणसम्बन्धे निवासलक्षणे त्यार्थे अण् भवति। माध्यमा इति। उत्तम। अङ्ग। मगध। पूर्वपक्ष। अपरपक्ष। अवमसाख। उत्तमसाख। समानशील। एकग्राम। एकवृक्ष। इद्धवम्र। इद्धनीक। अवस्पन्द। कामप्रस्थ। अस्मात् "प्रस्थपुरवहान्तात्" [३।२।१००] इति वुञ् प्राप्तः। खाडायनिः। काठोरणिः। लावेरणिः[3]। शैशिरि। शौङ्गि। आसुरि। आहिंसि। आमित्रि। व्याडि। भौजि। आस्वि[4]। आग्नि। शार्मि। दैवशर्मि। यौगिकतरार्कि[6]। वाल्मीकि। माल्लकि। सौमवृत्विन्[7]। उत्तर। मुखपार्श्वतसोः खश्च। पार्श्वतीयम्। मुखतीयम्। जनपरयोः कुक्च। जनकीयम्। परकीयम्। देवस्य च (वा)। देवकीयम्। वेणुकादिभ्यश्छण् वक्तव्यः। आकृतिगणोऽयम्। वैणुकीयम्। औत्तरपदीयम्। प्रास्थीयम्। माध्यमकीयम्। मातृकीयम्। चैत्रकीयम्। कृकणपर्णाद् भारद्वाजे देशविशेषे। कृकणीयः। पर्णीयः।

---

1. -दनुवर्त-पृ०। -रित्येव तदनुवर्त-अ०। 2. अन्तरपक्ष पृ०। 3. लावेरणि अ०, पृ०। 4. आश्वि अ०। 5. ज्योति अ०। श्रोति (श्रौति) पृ०। 6 वाराकि पृ०। वाटारकि अ०। 7. क्षेमवृत्तिन् अ०, पृ०। समवृत्तिन् अ०।

प्राचां कटादेः ॥३।२।११५॥ देश इति वर्तते। तद्विशेषणं प्राग्ग्रहणम्। कटादेः शब्दात् प्राग्देशवाचिनश्छो भवति शेषे। अणोऽपवादः। कटनगरीयः। कटग्रामीयः। कटघोषीयः। कटपल्वलीयः।

राज्ञः क च ॥३।२।११६॥ असम्भवाद् देश इति नाभिसम्बध्यते। राजशब्दस्य ककारोऽन्तादेशो भवति छश्च। आदेशार्थमिदम्। "दोश्छः" [३।२।९०] सिद्ध एव। राज्ञ इदम् राजकीयम्। एकदेशविकृत-स्यानन्यत्वाद् "अनोऽखं" [४।४।१२०] नाशङ्कनीयम्। तानिर्दिष्टस्यानन्यवद् भाव उक्तः। न नेनाऽन्तस्य निर्देशः; किं तर्हि राजशब्दस्य।

दोः कखोङः ॥३।२।११७॥ देश इति वर्त्तते। दोर्देशवाचिनः ककारोङः खकारोङश्छो भवति शेषे। आरीहणकीयः। द्रौघणकीयः। आश्वत्थिके जातः, आश्वत्थिकीयः। शाल्मलिके जातः शाल्मलिकीयः। कोङ इत्यणि प्राप्ते कः। सौसुके जातः, सौसुकीयः। वाहीकग्रामलक्षणौ ठञ्ञिठौ बाधित्वा कोङ इत्यण् प्राप्तः (आष्टक नाम बन्धः तत्र जातः) आष्टकीयः। बन्धलक्षणं वुञं बाधित्वा कोङ इत्यण् प्राप्तः। ब्राह्मणको नाम राष्ट्रम्, तत्र जातः, ब्राह्मणकीयः। "राष्ट्र" [३।२।१०२] वुञोऽपवाद "कोङ" [३।२।११०] इत्यण् प्राप्त। खोङः खल्वपि। कौटिशिखीयः। मार्टिशिखीयः। कोटिशिखादयो वाहीकग्रामाः।

कन्यापलदनगरग्रामहृदयोः ॥३।२।११८॥ देश इति वर्त्तते दोश्छ इति च। प्रत्येकमभिसम्बध्यते। कन्यादि योर्देशवाचिनो दोश्छो भवति शेषे। वाहीकग्रामादिलक्षणस्य [illegible]। दाक्षिकन्थाया जातः, दाक्षिकन्थीयः। माहकिकन्थीयः। यदोशीनरेषु ग्रामस्तदा [illegible]। "वोशीनरेषु" [३।२।१४] ठञ्ञिठयोः प्राप्तिः। यदा तु वाहीकग्रामः, तदा [illegible]। "वाहीक-ग्रामेभ्यः" [३।२।१३] इति प्राप्तिः। दाक्षिपलदीयः। माहकिपलदीयः। दाक्षिनगरीयः। माहकिनगरीयः। दाक्षिग्रामीयः। माहकिग्रामीयः। दाक्षिह्रदीयः। गोमयह्रदीयः।

पर्वतात् ॥३।२।११९॥ पर्वतशब्दाच्छो भवति शेषे। अणोऽपवादः। उत्तरसूत्रे [illegible] मर्त्ये इदोदाहरणम्। पर्वतीयो मनुष्यः।

चाऽमर्त्ये ॥३।२।१२०॥ मर्त्यादन्यस्मिन्नभिधेये पर्वताद् वा छो भवति। [illegible] विकल्पोऽयम्। पर्वतीय फलम्। पर्वतीयमुदकम्। पार्वतमुदकम्। अमर्त्ये इति किम्? पर्वतीयो ना।

युष्मदस्मदोऽञ्च खञ् ॥३।२।१२१॥ देश इति निवृत्तम्। [illegible] भवति, यदा खञ्, तदाऽस्मदादेशः। यौष्माकीणः। आस्माकीनः। [illegible] [१।१।४०] [illegible] कादेशः, [illegible] "[illegible]" [४।३।८८]। [illegible] अस्मदीयः।

योऽर्द्धात् ॥३।२।१२४॥ वेति निवृत्तम्। अर्धशब्दाच्छैषिको यो भवति। अणोऽपवादः। अर्धे भवः, अर्ध्यः।

पराबराधमोत्तमादेः ॥३।२।१२५॥ पर अवर अधम उत्तम इत्येवमादेरर्धशब्दाद्यो भवति शैषिकः। परार्ध्यः। अवरार्ध्यः। अधमार्ध्यः। उत्तमार्ध्यः। "दर्थप्समाहारे" [१।३।४६] इति पसः। परमर्द्धम्परार्द्धमिति "विशेषणं विशेष्येणेति" [१।३।५२] यसे कृते परार्धे जातः परार्ध्यः। यदा पराऽवरादिशब्दौ दिग्वाचिनौ तदोत्तरसूत्रेण यठणौ प्राप्तौ। तदवाचित्वे त्वण् प्राप्तः। अधमोत्तमादेरण् प्राप्तः। प्रकृतित्वमेतेषा मा विज्ञायीति आदिग्रहणम्।

दिगादेष्ठण् च ॥३।२।१२६॥ अर्धादिति वर्त्तते। दिगादेरर्धाच्छैषिकष्ठण् भवति चकाराद्यश्च। पूर्वार्द्धे जातः, पौर्वार्द्धिकः। पूर्वार्द्ध्यः। दाक्षिणार्द्धिकः। दाक्षिणार्द्ध्यः। अपरमर्द्ध पश्चार्द्धम् "उपर्युपरिष्टात्पश्चाद्" [४।१।९७] इत्यत्रार्द्धे परतोऽपरस्य पश्चभावो वक्ष्यते। पश्चार्द्धे जातः, पाश्चार्द्धिकः। पश्चार्द्ध्यः। "अन्यादेष्ठण् वक्तव्यः" [वा०] दिक्छब्दादन्यो यदाऽर्धस्यादिर्भवति तदा ठण् भवति। पौष्करार्द्धिकः। वैजयार्द्धिकः। वालेयार्द्धिकः। चैत्रार्द्धिकः। पराऽवरादेस्तु पूर्वेण य एव भवति।

ग्रामराष्ट्रयोरणठञौ ॥३।२।१२७॥ दिगादेरर्धादण् ठञ् इत्येतौ त्यौ भवतः शेषेऽर्थे ग्रामराष्ट्रयोश्चेदर्द्धे भवति। ग्रामैकदेशवाची राष्ट्रैकदेशवाची चेदर्द्धशब्दो भवतीत्यर्थः। ग्रामस्य राष्ट्रस्य वा पूर्वार्द्धे भवः, पौर्वार्द्धः। पौर्वार्द्धिकः। दाक्षिणार्द्धः। दाक्षिणार्द्धिकः। पाश्चार्द्धः। पाश्चार्द्धिकः।

मध्यान्मः ॥३।२।१२८॥ मध्यशब्दाच्छैषिको म इत्ययं त्यो भवति। अणोऽपवादः। मध्यमः। "आदेश्चेति वक्तव्यम्" [वा०] आदिमः। "अवाधयोः (अवोऽधसोः) मत्वं चेति वक्तव्यम्"। अवमः। अधमः।

सम्प्रत्यः ॥३।२।१२९॥ सम्प्रत्यर्थे जातादौ मध्यशब्दाद इत्ययं त्यो भवति। क पुन इवार्थः स्वार्थे। सम्प्रतिकालो वर्त्तमान, सोऽतीताऽनागतयोर्द्वयोरन्तराले वर्त्तते। एवमन्यदपि द्वयोरन्तराले वर्त्तमान सम्प्रतीत्युच्यते। यन्नातिदीर्घं नातिह्रस्व मध्य काष्ठम्। नात्युत्कृष्टो नाप्यपकृष्टो मध्यो वैयाकरणः। मध्या स्त्री।

द्वीपादनुसमुद्रे यञ् ॥३।२।१३०॥ समुद्रसमीपे यो द्वीपशब्दस्तस्माच्छैषिको यञ् भवति। कच्छादिपाठादणो नृतत्स्थयोर्वुञश्चापवादः। द्वैप्यम्। द्वैप्या स्त्री। अनुसमुद्र इति किम्? अनुनदि यो द्वीपः तस्माद्यमुनादिसम्बन्धे द्वीपे भवम्, द्वैप तृणम्। "कच्छादि" [३।२।११२] पाठादण्। द्वैपको व्यासः। "नृतत्स्थयोः" [३।२।११३] इति वुञ्।

कालाट्ठञ् ॥३।२।१३१॥ कालविशेषवाचिनो मृदः शैषिकष्ठञ् भवति। अणोऽपवाद। वृद्धत्व[1] परत्वाद् बाधते। मासिकः। सावत्सरिकः। यथा (दा) कदम्बपुष्पयोगात्कालोऽपि कदम्बपुष्पवाच्यः, तत्राऽनेन ठञ्। कदम्बपुष्पे देयमृणं कादम्बपुष्पिकम्। ब्रैहिपालालिकम्। "तत्र जातः" [३।३।१] प्रागितः[2] कालोऽधिकारः।

श्राद्धे शरदः ॥३।२।१३२॥ शरच्छब्दात्कालवाचिनः श्राद्धेऽभिधेये शैषिकष्ठञ् भवति। शरदिति ऋतुविशेषः। तत्र "भसन्ध्याद्यृतुभ्योऽवर्णाभ्योऽण्" [३।२।१३८] प्राप्तः, तदपवादोऽयम्। शरदि जात[3] शारदिक श्राद्धम्। श्राद्ध इति किम्? शारद दधि। शारद सस्यम्। श्रद्धाशब्देन चात्र रूढिवशात्पितृकार्यमेवोच्यते, न तु श्रद्धावान्। तेनेह न भवति शारदः श्राद्धः। श्रद्धावानित्यर्थः।

---

१. वृद्धं, अ०, ब०, पृ०। २. गतः का–अ०, ब०, पृ०। ३. भवं पृ०।

वा रोगातपयोः ॥३।२।१३३॥ रोगे आतपे चाभिधेये शरच्छब्दाच्छैषिको वा ठञ् भवति। शारदिकः। शारदो रोग आतपो वा।

निशाप्रदोषाभ्याम् ॥३।२।१३४॥ वेति वर्त्तते। निशाप्रदोषशब्दाभ्यां वा ठञ् भवति शेषे। नित्ये कालाट्ठञि प्राप्ते विकल्पोऽयम्। निशा सोढाऽस्य, नैशिकः। नैशः। प्रादोषिकः। प्रादोषः। निशाप्रदोष सहचरितमध्ययनमुपचारात्तथोच्यते।

श्वसस्तुट् च ॥३।२।१३५॥ श्वस्शब्दाट्ठञ् भवति। तस्य च ठञ इकादेशे कृते तुडागमः। ठञोऽपवादो भिलक्षणस्तुट् प्राप्तः, तं बाधित्वा "वैषमोह्यस्श्वसः" [३।२।८३] इति विभाषया भे प्राप्ते अनेन ठञ् विभाष्यते। श्वो जातो भवो वा शौवस्तिकः, श्वस्त्यः। आभ्या मुक्ते तनप् श्वस्तनः।

प्रावृष एण्यः ॥३।२।१३६॥ प्रावृष्[1]शब्दात् एण्यो भवति शेषे। ऋतलणोऽपवादः। प्रावृषेण्यो वलाहकः। णत्वं किमर्थम्? प्रावृषेण्यमाचष्टे णिचि क्विपि अतः खे च कृते णकारस्य श्रवणार्थम्।

भसन्ध्यादृतभ्योऽवर्षाभ्योऽण् ॥३।२।१३७॥ कालादिति वर्तते। "भाद्युक्तः कालः" [३।२।५] इत्यागतस्याणः "ठस्मेते" [३।२।५] इत्युसि कृते कालवाचिभ्यो भेभ्यः सन्ध्यादिभ्य ऋतुभ्यो वर्षावर्जितेभ्योऽण् भवति शेषे। ठञोऽपवादः। भेभ्यः—तैषः। पौषः। "तिष्यपुष्ययोर्भाणि" [४।४।१२७] इति यखम्। सन्ध्यादिभ्यः—सन्ध्यायां भवो जातो वा सान्ध्यः। सन्ध्या सविखला (सन्धिवेला)। अमावास्या। एकदेशविकृतस्य अमावस्याशब्दस्यापि ग्रहणम्। त्रयोदशी चतुर्दशी पञ्चदशी पौर्णमासी प्रतिपद्। "संवत्सरात्फलपर्वणोः" [ग०सू०] सांवत्सरं फलम्। सांवत्सरं पर्व। अन्यत्र सांवत्सरिको रोगः। ऋतुभ्यः—शारद हैमन्त शिशिरवसन्त ग्रैष्मः। अवर्षाभ्य इति किम्? वर्षासु साधु वार्षिकं वासः। अण्ग्रहणं ठञ्बाधनार्थम्। स्वातौ तर्द (भवं) सौवातम् "पदे य्वोरैयोच्" [५।२।८] इत्यौच्।

हेमन्तात्तखम् ॥३।२।१३८॥ हेमन्तशब्दादण् भवति तत्सन्नियोगेन चास्य तखम्। हेमन्ते भवं हैमनम्। हैमन्तः। (हैमनमनुलेपनम्। हैमनं वासः। ठञपीष्यते।) हैमन्तिकमिति। हेमन्ततखमिति [illegible]। [illegible]निर्देश किमर्थः? केवलेऽप्यण् (हेमन्तात्) यथा स्यात्। तेन सिद्धम्। हैमन्ती पङ्क्तिः।

सायञ्चिरम्प्राह्णेप्रगेऽभिभ्यस्त्नट् ॥३।२।१३९॥ कालादिति वर्तते। सायं चिरं प्राह्णे प्रगे [illegible] शब्देभ्यो भिभ्यः कालवाचिभ्यस्त्नट् भवति शेषे। सायंचिरशब्दयोर्[illegible] [illegible]न्तता निपात्यते। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णप्रगयोरेकारान्तता निपात्यते। प्राह्णे सोढोऽस्य, प्राह्णेतनः। प्रगे सोढोऽस्य प्रगेतनः। ईबन्तान्नेटि "अकालतने बाहिभ्यो वा" [४।३।१३३] इत्यलुपा सिद्धम्। प्रान्तनम्। दिवातनम्। दोषातनम्। "चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः" [वा०] चिरत्नम्। परुत्नम्। परारित्नम्। "अन्तादिमो वक्तव्यः" [वा०] अन्तिमम्।

तत्र जातः ॥३।३।१॥ अणादयः परमोत्सर्गाद्यादयश्च शैषिकाः प्रकृताः, तेषामितः प्रभृति प्रकृत्यर्थाः समर्थविभक्त्युपादानं च वेदितव्यम्। तत्रेति ईप्समर्थाज्जात इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। सुघ्ने जातः सौघ्नः। स्रौत्सः। राष्ट्रियः। शाकलिकी। शाकलिका। शैत्रेयकः।

प्रावृषष्ठः ॥३।३।२॥ प्रावृट्छब्दादीप्समर्थाज्जात इत्येतस्मिन्नर्थे ठो भवति। एण्यस्यापवादः। प्रावृषिकः। प्रावृषिका स्त्री।

खौ शरदो वुञ् ॥३।३।३॥ शरच्छब्दाद् वुञ् भवति खुविषये। तत्र जात इति वर्त्तते। शारदिका मुद्गा। सञ्ज्ञाशब्दाना व्युत्पत्तिमात्रमिदम्। खाविति किम्? शारदं सस्यम्[1]।

सिन्ध्वपकरादण् ॥३।३।४॥ सिन्धु अपकर इत्येताभ्यामण् भवति तत्र जात इत्यस्मिन्विषये। सिन्धुषु जातः सैन्धवः। आपकरः। सिन्धुशब्दात् "कच्छादेः"[३।२।११२] इत्यण्। "नृतत्स्थयोः"[३।२।११३] इति वुञ् च प्राप्तः। तयोरपवादे के अपकरशब्दादणोऽपवादे उत्तरसूत्रेण के प्राप्तेऽनेनाणपि विधीयते।

पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्करात्कः ॥३।३।५॥ पूर्वाह्ण अपराह्ण आर्द्रा मूल प्रदोष अवस्कर इत्येतेभ्यः सिन्ध्वपकराभ्यां च को भवति। तत्र जात इति वर्तते। पूर्वाह्णे जातः पूर्वाह्णकः। अपराह्णकः। "वा पूर्वापराह्णात्" [३।२।१४०] इत्यस्यापवादः। आर्द्रकः। "केऽणः"[५।२।१२५] इति प्रादेशः। मूलकः। कालवाचित्वे सति भलक्षणस्याऽणोऽपवादः। प्रदोषकः। "निशाप्रदोषाभ्याम्" [३।२।१३५] इत्यस्य बाधा। अवस्करकः। अणोऽपवादः। सिन्धुकः। अपकरकः। आभ्यां पूर्वेणाणपि भवति।

पथः पन्थः ॥३।३।६॥ पथिशब्दात्को भवति तत्सन्नियोगेन पथिशब्दस्य पन्थ इत्ययमादेशः। तत्र जात इति वर्त्तते। पथि जातः, पन्थकः। अणोऽपवादः।

वाऽमावास्यायाः ॥३।३।७॥ अमावास्याशब्दाद् वा को भवति तत्र जात इत्यस्मिन् विषये। "भसन्ध्यादिना" [३।२।१३७] नित्येऽणि प्राप्ते को विभाष्यते। अमावास्यकः। एकदेशविकृतादमावस्याशब्दादपि। अमावस्यकः। पक्षेऽण्। आमावास्यः। आमावस्यः।

अषाढाच्च ॥३।३।८॥ अ इत्ययं त्यो भवति अषाढशब्दात् चकारादमावास्यायाश्च। तत्र जात इति वर्त्तते। अषाढाया इति प्राप्ते अषाढादिति सौत्रो निर्देशः। अषाढाया जातः, अषाढः। अषाढा स्त्री। अमावास्यः। अमावस्यः। "श्रविष्ठाषाढाभ्यां छोऽर्थ[2] वक्तव्यम्" [वा०]। श्राविष्ठीयः। आषाढीयः।

फल्गुन्याष्टः ॥३।३।९॥ फल्गुनीशब्दाट्टो भवति तत्र जात इत्यस्मिन्विषये। नाणोऽपवादः। फल्गुन्यां जातः फल्गुनः। फल्गुनी स्त्री।

स्थानान्तादुप् ॥३।३।१०॥ स्थानान्तादुत्तरस्य जातार्थे आगतस्याण[3] उप्भवति। गोस्थाने जातः गोस्थानः। अश्वस्थानः।

शालाद् गोखरात् ॥३।३।११॥ गो खर इत्येवम्पूर्वाच्छालात्परस्य जातार्थे आगतस्य त्यस्योप्भवति। गवां शाला गोशालम्। खराणां शाला खरशालम्। "सेनासुराच्छायाशालानिशा वा" [१।४।१०१] इति नप्। गोशाले जातः, गोशालः। खरशालः। लिङ्गविशिष्टस्य स्त्रीलिङ्गस्याऽपि "ङ्युप्युप" [१।१।६] इति टाप उपि सति तदेवोदाहरणम्।

वत्साद् वा ॥४।३।१२॥ वत्सपूर्वात् शालात्परस्य जातार्थे आगतस्य त्यस्योप्भवति वा। वत्सशाले जातः, वत्सशालः। वात्सशालः।

---

1. धान्यम् अ०, ब०, पृ०। 2. छण् चेति अ०, ब०, पृ०। 3.-स्य त्यस्यो-अ०, ब०, पृ०।

भेभ्यो बहुलम् ॥३।३।१३॥ भशब्देभ्यः परस्य जातार्थे आगतस्य त्यस्य बहुलमुप् भवति। "श्रविष्ठाऽनुराधास्वातिपुनर्वसुतिष्यहस्तविशाखाबहुलाभ्य उपेव भवति"। श्रविष्ठासु जातः श्रविष्ठः। भलक्षणस्याण उप्। "हृद्दुप्युप्" [१।१।८] इति स्त्रीत्यस्योब्भवति। अनुराधः। स्वातिः। पुनर्वसुः। तिष्यः। तिष्यग्रहणे पर्यायग्रहणम्। पुष्यः। हस्तः। विशाखः। बहुलः। तथा "चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः स्त्रियामुपेव भवति"। चित्रायां जाता स्त्री अण उप्। हृद्दुप्युपिति उप्। पुनष्टाप्। ङीप्। चित्रा। रेवती। रोहिणी। पुंसि न भवत्येव। चैत्रः। रैवतः। रौहिणः। "अन्येभ्यो विभाषा"। अभिजित्। आभिजितः। अश्वयुक्। आश्वयुजः। (शतभिषक्)। शातभिषजः। कृत्तिकः। कार्त्तिकः। मृगशिरा। मार्गशीर्षः। शिरसः शीर्षादेशो वक्ष्यते। बहुलवचनादन्यदपि, अणो वा टित्त्वम्। शातभिषः। शातभिषजः।

कृतलब्धक्रीतसम्भूताः ॥३।३।१४॥ तत्रेति वर्तते। जात इति निवृत्तम्। अर्थान्तरोपादानात्। तत्रेतीप्समर्थात् कृत लब्ध क्रीत सम्भूत इत्येतेष्वर्थेषु यथाविहितं त्यो भवति। स्रुघ्ने कृतो वा लब्धो वा क्रीतो वा सम्भूतो वा स्रौघ्नः। राष्ट्रियः। जातस्यैव विशेषोऽपेक्षितपरव्यापारः स्वभावनिष्पत्तो भावः कृत-शब्दस्यार्थः। सामान्येन प्राप्त लब्धशब्दार्थः। मूल्येन प्राप्त क्रीतशब्दार्थः। विद्यमानस्य गुणान्तरयोगः सम्भूतशब्दार्थः। उपचारेणेह स्वयमुत्पादः सम्भूतत्वं जन्मेति चेत्, एवं तर्हि ज्ञापकमिदम् जन्मोपचारे तत्र जात इत्येष विधिर्न भवति। "प्रावृष एण्यः" [३।२।१२६] इति एण्यो भवति। प्रावृषि सम्भूतं हिरण्यम्, प्रावृषेण्यम्। "प्रावृषष्ठः" [३।३।२] इति ठोऽत्र न भवति। पथि सम्भूत हिरण्यम् इत्यत्र "पथः पन्थ" [३।३।६] इत्येष विधिर्न भवति।

कुशलः ॥३।३।१५॥ तत्रेतीप्समर्थात्कुशल इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। स्रुघ्ने कुशलः स्रौघ्नः। राष्ट्रियः। [illegible]विधिः। कुशलेऽर्थे यथा स्यादिति योगविभागः।

पथो वुन् ॥३।३।१६॥ पथिशब्दात् वुन् भवति तत्र कुशल इत्येतस्मिन्विषये। पथि कुशलः पथकः।

आकर्षादेः कः ॥३।३।१७॥ तत्र कुशल इति वर्तते। आकर्ष इत्येवमादिभ्यः को भवति। आकर्षे कुशलः आकर्षकः। आकर्ष। त्सरु। पिशाच। पिचण्ड। अशनि। अश्मन्। निचय। [illegible]।

कालात्साधुपुष्प्यत्पच्यमाने ॥३।३।१८॥ कालविशेषवाचिभ्यः [illegible] यथाविहितं त्यो भवति। हेमन्ते साधु, हैमन्तं वस्त्रम्। शैशिरम् आज्यम्। वसन्ते पुष्प्यन्ति, [illegible] [illegible]न्त्यो लताः। शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः। ग्रैष्मा यवाः। [illegible]।

कलाप्यश्वत्थयवबुसाद् वुन् ॥३।३।२३॥ कालाद् देयमृण इति च वर्त्तते। कलापिन् अश्वत्थ यवबुस इत्येतेभ्य ईप्समर्थेभ्यो वुञ् भवति देयमृणमित्येतस्मिन्नर्थे। ठञोऽपवादः। यस्मिन्काले मयूरा इक्षवो वा कलापिनो भवन्ति स कालः तत्साहचर्यात्कलापी। यस्मिन्नश्वत्थाना फल सोऽश्वत्थः। यस्मिन्यवबुसं भवति, सः यवबुसम् (सः)। कलापिनि काले देयमृणम्, कलापकम्। अश्वत्थकम्। यवबुसकम्।

ग्रीष्मावरसमाद् वुञ् ॥३।३।२४॥ ग्रीष्म अवरसम इत्येताभ्या वुञ् भवति। तत्र देयमृणमिति वर्त्तते। ग्रीष्मे देयमृणम्; ग्रैष्मकम्। ऋतण्णोऽपवादः। आवरसमकम्। ठञोऽपवादः। अवरसमा, अवरसमम्। "तिष्ठद्ग्वादि" [१।३।१४] इति ह्रस्व इत्येके।

संवत्सराऽग्रहायणीभ्यां ठञ् च ॥३।३।२५॥ संवत्सर-आग्रहायणीशब्दाभ्या ठञ् भवति वुञ् च। तत्र देयमृणमिति वर्त्तते। संवत्सरे देयमृण सांवत्सरिकम्। सांवत्सरकम्। आग्रहायणिकम्। आग्रहायणकम्। वेति वक्तव्ये ठञ्ग्रहण सन्ध्यादिषु "संवत्सरात्फलपर्वणोः" [ग० सू० ३।२।११७] इत्यस्याणो बाधनार्थम्।

रौति मृगः ॥३।३।२६॥ तत्रेति वर्त्तते कालादिति च। कालविशेषवाचिन ईप्समर्थाद् रौति मृग इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित त्यो भवति। निशाया रौति मृगः, नैशिकः। नैशः। प्रादोषिकः। प्रादोषः। "निशाप्रदोषाभ्याम्" [३।२।१२४] इति ठञणौ। मृग इति किम्? निशाया रौति उलूकः।

तदस्य सोढम् ॥३।३।२७॥ सोढमभ्यस्तम्। कालादिति वर्त्तमानमर्थाद् वान्त सम्पद्यते। तदिति वासमर्थात्कालविशेषवाचिनो मृदोऽस्येति तार्थे यथाविहित त्यो भवति। यत्तद्वासमर्थं सोढं चेत्तद् भवति। निशा सोढाऽस्य, नैशिकः। नैश। प्रादोषिकः। प्रादोषः। साहचर्यान्निशादिशब्देनाध्ययन-मत्रेष्टम्।

तत्र भवः ॥३।३।२८॥ लब्धात्मलाभ उपलभ्यमानो भवः। तत्रेतीप्समर्थाद् भव इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित त्यो भवति। स्रौघ्नः। राष्ट्रियः। अनुवर्तते तत्रग्रहण कालसम्बन्धम् (सम्बद्धम्), पुनस्तत्रग्रहण कालनिवृत्त्यर्थम्। इह प्रायभवग्रहणं च कर्त्तव्यम्। अनित्यभवः प्रायभवः। स्रुघ्ने प्रायभवः स्रौघ्नो मनुष्यः। नियतो भवस्तत्र भवः। यथा स्रौघ्नः प्राकारः। न कर्त्तव्यम्। तत्र भव इति प्रकृत्य "जिह्वामूला-ङ्गुले." [१।३।२८] छो विधीयते। स यथैव तस्मिन्दृष्टापचारे अङ्गुलीयमित्यादौ भवति, एवं प्रायभवेऽपि भविष्यति।

दिगादेर्यः ॥३।३।२९॥ दिश् इत्येवमादिभ्यो यो भवति। तत्र भव इति वर्त्तते। अणश्छस्य चा-यमपवादः। दिशि भवो दिश्यः। दिश्। वर्ग। पूग। गण। पक्ष। धाप[1]। मित्र। मेधा। अन्तर। पथिन्। रहस्। अलीक। उखा। साक्षिन्। आदि। अन्त। मुखजघनग्रहणमदेहाङ्गार्थम्। सेना-मुख्यम्। सेनाजघनमिति। मेघ। यूथ। "उदकात्संज्ञायाम्" [ग० सू०] उदक्या स्त्री। औदकोऽन्यः। न्याय। वश। अनुवश। वेश। आकाश।

देहाङ्गात् ॥३।३।३०॥ अङ्गमवयवः। देहाङ्गवाचिनो यो भवति तत्र भव इत्यस्मिन् विषये। अणोऽपवादः। तस्य तु परत्वादेव बाधकः। दन्तेषु भव, दन्त्यः। ओष्ठ्यम्। मुख्यम्। तालव्यम्। इह तदन्तविधिर्धकृत्य। कण्ठतालव्यम्। दन्तोष्ठ्यम्।

दृतिकुक्षिकलसिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ् ॥३।३।३१॥ दृत्यादिभ्यो ढञ् भवति। तत्र भव इति वर्त्तते। दृतौ भवः दार्तेयम्। अणोऽपवादः। देहाङ्गत्वे यस्यापवाद। कलस्या भवम् कालसेयम्। अणोऽपवादः।

---

1. धाप ल०।

वास्तेयम्। यस्यापवादः। अश्रुजस्त्यवन्नियोगेऽलिभावो निपात्यते। अस्रुजि भवम्, आस्तेयम्। प्रकृत्यन्तरमस्तिशब्दः। आहेय विषम्। अणोऽपवादः।

ग्रीवाभ्योऽण्[1] च ॥३।३।३२॥ ग्रीवाः शिरोधमन्यः। ग्रीवाशब्दादण् भवति ढञ् च तत्र भव इत्यस्मिन् विषये। यस्यापवादः। ग्रीवासु भवं ग्रैवम्। ग्रैवेयम्।

गम्भीराञ्ञ्यः ॥३।३।३३॥ गम्भीरशब्दाञ्ञ्यो भवति। गम्भीरे भवम्, गाम्भीर्यम्। अत्रेदमिदम्। "गम्भीरबहिर्देवपञ्चजनेभ्य इति वक्तव्यम्" [वा०] बाह्यम्। दैव्यम्। पाञ्चजन्यम्।

हात् ॥३।३।३४॥ तत्र भव इति वर्तते। हसंज्ञकान्मृदो ञ्यो भवति। अणोऽपवादः। हसंज्ञकेभ्यः परिमुखादिभ्य एवेष्यते। परिमुखे भवम्, पारिमुख्यम्। परिमुख परिहनु पर्योष्ठ पर्युलूखल परिशाल परिसीर अनुसीर उपसीर उपस्थूण उपवाल उपकपाल अनुपथ अनुरथ परिरथ अनुगङ्ग अनुतिल अनुमाष अनुयव अनुयूथ अनुवंश। एषु परिपूर्वेषु वर्जनार्थप्रतीतिः, तेषां "पर्यपाङ्बहिरञ्चवः कया" [१।३।१०] इति हसः। अन्यत्र "क्रि" [३।१।५] इति योगविभागात्। परिमुखादेरिति किम्? औपकूलम्। हादिति किम्? परिगतं मुखं परिमुखं तत्र भवम् एव भवति। परिमुख्यम्।

अन्तरादेष्ठञ् ॥३।३।३५॥ हादिति वर्तते। अन्तःशब्दादेर्हाठ्ठञ् भवति। अणोऽपवादः। अन्तःशब्दो विभक्तिप्रतिरूपको विभक्त्यर्थे। अन्तर्गेहे भवम्, आन्तर्गेहिकम्। आन्तरगारिकम्। "पुरान्तात्प्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०] अन्तःपुरे भवम्, आन्तःपुरम्। अनेष्टय।

"समानान्च, तदादेश्च, अध्यात्मादिषु चेष्यते। ऊर्ध्वाद्दमाच्च देहाच्च लोकोत्तरपदादपि ॥" [वा०]

समाने भवम्, सामानिकम्। "तदादेश्च" सामानग्रामिकम्। सामानदेशिकम्। "अध्यात्मादिषु"। आध्यात्मिकम्। आधिदैविकम्। अध्यात्मादिराकृतिगणः। ऊर्ध्वंदमात्, और्ध्वंदमिकम्। केचिदूर्ध्वंशब्देन समानार्थमूर्ध्वंशब्दं मान्तं पठन्ति। तेषाम् और्ध्वन्दमिकम्। और्ध्वन्देहिकम्। "लोकोत्तरपदादपि"। ऐहलौकिकम्। पारलौकिकम्।

"मुखपार्श्वतसोरीयः कुग्जनस्य परस्य च। ईयः कार्योऽथ मध्यस्य मण्मीयौ च हतौ मतौ ॥" [वा०]

मुखपार्श्वाभ्यां तसन्ताभ्यामीयो वक्तव्यः। मुखतीयम्। पार्श्वतीयम्। धर्ममात्रे टिलोपम् इति स्मृतम्। कुग्जनस्य परस्य च। जनकीयम्। परकीयम्। "मध्यादीयो वक्तव्यः"। मध्यीयः। "मण्मीयौ च हतौ मतौ मध्यादेश्च"। माध्यमः। मध्यमीयः।

"मध्यो मध्यन्दिनश्चास्मात्तुप् स्थाम्नो अजिनात्तथा" [वा०]। मध्यशब्दो मध्यं भावं पद्यते। दिनश्चास्यागमः। मध्ये भवम् मध्यन्दिनम्। उप् स्थामान्तादजिनान्ताच्च वक्तव्यः। अश्वत्थामिन

यखौ वाऽशब्दे ॥३।३।४०॥ तत्र भव इति वर्तते। वर्गान्तात् य ख इत्येतौ त्यौ वा भवतः शब्दादन्यस्मिंस्त्यार्थे। पूर्वेण नित्ये छे प्राप्ते विभाषेयम्। भरतवर्गे भवः, भरतवर्ग्यः। भरतवर्गीणः। भरतवर्गीयः। बाहुबलिवर्ग्यः। बाहुबलिवर्गीणः। बाहुबलिवर्गीयः।

कर्णललाटभूषणे कः ॥३।३।४१॥ तत्र भव इत्यस्मिन्विषये कर्णललाटशब्दाभ्यां को भवति समुदायेन भूषणेऽभिधेये। कर्णिका। ललाटिका। स्वभावतः स्त्रीलिङ्गः। भूषण इति किम्? कर्ण्यम्। ललाट्यम्।

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्येयाख्यायाः ॥३।३।४२॥ व्याख्यायतेऽनेनेति व्याख्यानम्। व्याख्यातव्य व्याख्येयम्। तस्याख्या नाम व्याख्येयाख्या। तस्येति तासमर्थाद् व्याख्येयाख्यारूपाद् मृदो व्याख्यानेऽर्थे यथाविहित त्यो भवति चकारात्तत्र भव इत्यस्मिश्च वाक्यार्थे। इतिशब्दः पूर्ववाक्यपरिसमाप्त्यर्थः। सुपां व्याख्यानं सुप्सु भव वा सौपम्। मिङां व्याख्यान मिङ्क्षु भव वा मैङम्। एव कार्त्तम्। हार्त्तम्। व्याख्येयाख्याया इति किम्? पाटलिपुत्रस्य व्याख्यान सुकौशला। पाटलिपुत्र सुकौशलया व्याख्यायते सन्निवेशद्वारेण। न पुनर्लोके तद्व्याख्येयस्य ग्रन्थस्याख्याभूतम्। ननु च तस्य व्याख्याने अर्थे "तस्येदम्" [३।३।८८] इत्यनेनैव त्यविधिः सिद्धः। चकारानुकृष्टेऽपि तत्र भवेऽर्थे पूर्वमेव त्यविधिरुक्तः। तत्किमनयोर्युगपदुपादानम्? वक्ष्यमाणोऽपवादविधिः। व्याख्येयाख्याया अनयोरर्थयोर्यथा स्यादित्येवमर्थम्।

बह्वचो बहुलं ठञ् ॥३।३।४३॥ बह्वचो व्याख्येयाख्याभूतान्मृदो बहुल ठञ् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे। अणादेरपवाद। बहुलग्रहणं बहुप्रपञ्चार्थम्। सविधौ ये बह्वचः तेभ्यः ऋकारान्तब्राह्मणप्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्यातपौरोडाशेभ्यः क्रतुभ्यश्च गौणमुख्येभ्यष्ठञ् भवति। सविधौ – षत्वणत्वस्य व्याख्यानम्, षत्वणत्वे भव षात्वणात्विकम्। ऋकारान्तात् – चातुर्होतृकम्। पाञ्चहोतृकम्। ब्राह्मणिकम्। प्राथमिकम्। आध्वरिकम्। पौरश्चरणिकम्। नामाख्यातिकम्। विगृहीतादपि। नामिकम्। आख्यातिकम्। पौरोडाशिकम्। मुख्येभ्यः क्रतुभ्यः – आग्निष्टोमिकम्। राजसूयिकम्। वाजपेयिकम्। पाकयज्ञिकम्। भावयज्ञिकम्। गौणेभ्य – पाञ्चौदनिकम्। दाशौदनिकम्। ऋषिभ्योऽध्यायैर्भवति। वाशिष्ठिकोऽध्याय। वैश्वामित्रिकोऽध्यायः। अन्यत्र वाशिष्ठी ऋक्। तिसेषु न भवति। संहिताया व्याख्यान तत्र भव वा सांहितम्। बह्वच इति किम्? कार्त्तम्। हार्त्तम्। व्याख्येयाख्याया इत्येव। मथुराया भवः, माथुर।

द्व्यजृचः ॥३।३।४४॥ द्व्यचो मृद ऋक्छब्दाच्च ठञ् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे। अणादेरपवादः। अङ्गस्य व्याख्यानम्, अङ्गे भव वा आङ्गिकम्। पौर्विकम्। तार्किकम्। नामिकम्। ऋचा व्याख्यानं ऋक्षु भव वा आर्चिकम्।

पुरोडाशाट्ठट्[1] ॥३।३।४५॥ पुरोडाशशब्दाट्ठट्[2] भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे। पुरोडाशाः पिष्टपिण्डा। साहचर्य्यात्तेषां संस्कारको मन्त्रोऽपि तथोक्तः। पौरोडाशिकी।

छन्दसो यः ॥३।३।४६॥ छन्द शब्दाद्यो भवति तस्य व्याख्यान इत्येवास्मिन्विषये। द्व्यजृलक्षणठञोऽपवादः। छन्दसो व्याख्यान छन्दसि भवं वा छन्दस्यम्।

ऋगयनादेश्चाण् ॥३।३।४७॥ ऋगयन इत्येवमादिभ्यो मृद्भ्यश्छन्दःशब्दाच्चाण् भवति तस्य व्याख्याने तत्र भवे चार्थे। ऋगयनस्य व्याख्यानः, ऋगयने भवो वा, आर्गयणः। अणि परत ऋगयनस्य

णत्वमिष्यते । ऋगयन । पदव्याख्यान । छन्दोव्याख्यान । छन्दोमान । छन्दोभाषा । छन्दोविजित । छन्दोविचिति । न्याय । पुनरुक्त । निरुक्त । व्याकरण । नियम । निगम । वास्तुविद्या । अङ्गविद्या । क्षत्रविद्या । उत्पात । उत्पाद । संवत्सर । मुहूर्त्त । निमित्त । उपनिषत् । भिद्य । इति ऋगयनादिः । छन्दस्[illegible] । छन्दः पृथग्ग्रहणं पूर्वेण बाधार्थम् । पुनरण्ग्रहणं बाधकस्य ठञः छस्य च बाधनार्थम् ।

तत आगतः ॥३।३।४८॥ तत इति काम्याम् अर्थात् आगत इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितस्त्यो भवति । स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः । राष्ट्रियः । मुख्यस्याऽपादानस्य सम्प्रत्ययः । स्रुघ्नादागच्छन् वृक्षमूलादागता इति वृक्षमूलशब्दात्त्यो न भवति ।

आयस्थानेभ्यष्ठण् ॥३।३।४९॥ द्रव्यागमनमायः । स यस्मिंस्तिष्ठत्युत्पत्तिद्वारेण तदायस्थानम् । तद्वाचिभ्यष्ठण् भवति तत आगत इत्यस्मिन्विषये । अणोऽपवाद । छस्य तु परत्वादेव बाधकः । शुल्कशालाया आगतं शौल्कशालिकम् । आतरिकम्[1] । आपणिकम् । गौल्मिकम् । दौवारिकम् । [illegible] स्वरूपनिरासार्थं ।

शुण्डिकादिभ्योऽण् ॥३।३।५०॥ शुण्डाशब्दो मद्यवचनः, तस्मान्मत्वर्थीये ठे (ठे) कृते शुण्डिक इति भवति । शुण्डिक इत्येवमादिभ्योऽण् भवति तत आगत इत्येतस्मिन्विषये । शुण्डिकादागतं शौण्डिकम् । शुण्डिक । कृकण । स्थण्डिल । उदक । उदपान । उपल । तीर्थ । पिप्पल । भूमि । तृण । पर्ण । पुनरण्ग्रहणं किम् ? आयस्थाने ठणः, "गेहादियुस्तकणाद् भारद्वाज" इति कौ विहितस्यापि बाधनार्थम् ।

यौनमौखाद्वुञ् ॥३।३।५१॥ जन्मसम्बन्धेन योनेरिमे, योनेरागता वा, यौना मातुलादयः । विद्यासम्बन्धेन मुखस्येमे, मुखादागता वा मौखा उपाध्यायादयः, ऋत्विगादयश्च । यौनमौखेभ्यः शब्देभ्यो वुञ् भवति तत आगतेऽर्थे । अणोऽपवादः । छस्य तु परत्वाद्बाधकः । मातुलादागतं मातुलकम् । मातामहकम् । पैतामहकम् । मौखेभ्यः — उपाध्यायादागतम् औपाध्यायकम् । आचार्यकम् । शैष्यकम् । आर्त्विजकम् ।

हेतुमनुष्याद् वा रूप्यः ॥३।३।५५॥ तत आगत इति वर्तते। हेतुभ्यो मनुष्येभ्यश्च वा रूप्य इत्यय त्यो भवति। हेतुभ्यः कारणाद्, धेनोरागतं धेनुरूप्यम्। विश्वरूप्यम्। कररूप्यम। पक्षे गेहादिलक्षण-श्छः। समीयम्। विषमीयम। पापीयम। मनुष्येभ्यः—देवदत्तादागत देवदत्तरूप्यम। जिनदत्तरूप्यम्। पक्षे देवदत्तकम्। जिनदत्तकम। देवदत्तकल्पकम्। हेतौ का भवतीति मनुष्येभ्योऽपादानलक्षणा का।

मयट् ॥३।३।५६॥ हेतुभ्यो मनुष्येभ्यश्च मयड् भवति तत आगतेऽर्थे। समाद्धेतोरागतं सममयम्। पापमयम्। मनुष्येभ्यः—देवदत्तादागतम, देवदत्तमयम। जिनदत्तमयम्। जिनदत्तमयी। योगविभागो यथा-सख्यनिवृत्त्यर्थः।

प्रभवति ॥३।३।५७॥ तत इत्येव वर्त्तते। तत इति कासामर्थ्यान्ङ्याम्मृदो यथाविहितं त्यो भवति। प्रथम भवति प्रभवति। भवतिरिहोपलब्धिक्रियः, अनेकार्थत्वाद् धूनाम। स्रुघ्नात् प्रभवति, स्रौघ्नः। राष्ट्रियः। हिमवतः प्रभवति, हैमवती गङ्गा। दारदी सिन्धुः।

विदूराञ्ञ्यः ॥३।३।५८॥ ततः प्रभवतीति अनुवर्त्तते। विदूरशब्दाञ्ञ्यो भवति। अणोऽपवादः। विदूरात्प्रभवति, वैदूर्यो मणिः। यदि प्रथम भवति प्रभवतीत्युच्यते वालवायाद्गिरेरसौ प्रभवति न विदूरान्नग-रात्। कथ ततस्त्योत्पत्तिः? एव तर्हि "वालवायो विदूरञ्च प्रकृत्यन्तरमेव वा। नैवं तत्रेति चेद्ब्रूयात् जित्वरी-वदुपाचरेत्॥" वालवायस्त्यं लभते विदूरमादेशञ्च। यथा शिवादिषु विश्रवःशब्दो विश्रवणरवणादेशौ अण च लभते। प्रकृत्यन्तरमेव वा वालवायस्य विदूरशब्दः। अव्यभिकन्यायेन विदूरादेव त्य। नैवं तत्रेति चेद्ब्रूयात् जित्वरीवदुपाचरेत्। यथा वाणिजाः वाराणसीं जित्वरीति मङ्गलार्थमुपाचरन्ति। एवं वालवायोऽप्यु-पचाराद् विदूरशब्देनोक्तः। अथवा विदूरादेव मणित्वेन प्रभवति।

तद्गच्छति पथिदूतयोः ॥३।३।५९॥ तदितीप्समर्थाद्गच्छतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति योऽसौ गच्छति पन्था दूतो वा चेद् भवति। स्रुघ्न गच्छति, स्रौघ्नः। राष्ट्रियः। पन्था दूतो वा। पथिस्थेषु गच्छत्सु पन्था गच्छतीत्युच्यते। पथिदूतयोरिति किम्? स्रुघ्नं गच्छति सार्थः।

अभिनिष्क्रामति द्वारम् ॥३।३।६०॥ तदिति वर्तते। तदितीप्समर्थादभिनिष्क्रामतीत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। अनभिनिष्क्रमणक्रियाया द्वार करणं स्वातन्त्र्येण विवक्षितम्। यथा, असिश्छिनत्ति। धनुर्विध्यति। द्वारस्थेषु च निष्क्रामत्सु द्वार निष्क्रामतीत्युच्यते। स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति पाटलिपुत्रस्य द्वारम्, स्रौघ्नम्। राष्ट्रियम्। द्वारमिति किम्? [1]मधुरामभिनिष्क्रामति वैदिस(श)स्य ग्राम। स्रुघ्नमभि-निष्क्रामति पुरुष।

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ॥३।३।६१॥ तदितीप्समर्थादधिकृत्य कृतेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तत्कृतं ग्रन्थश्चेत्स भवति। सुलोचनामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौलोचन। औदयनः। ग्रन्थ इति किम्? सुलोचनाम-धिकृत्य कृतः प्रासाद। "उसाऽख्यायिकासु बहुलमिति वक्तव्यम्" [वा०] वासवदत्तामभिकृत्य कृताऽख्या-यिका, वासवदत्ता।। दोस्य (श्छ) स्योस्। उर्वशी। सुमनोत्तरा। अण उस्। न च भवति भैमरथी।

शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः ॥३।३।६२॥ तदधिकृत्य कृते ग्रन्थ इति वर्तते। शिशुक्रन्द यमसभ इत्येताभ्या द्वन्द्वादिन्द्रजननादिभ्यश्च छो भवति। अणोऽपवादः। शिशुक्रन्दमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, शिशुक्रन्दीयः। यमस्य सभा, यमसभम्। "सभाऽराजाऽमनुष्यात्" [१।४।११] इति नप्। यमसभीयः। द्वन्द्वात्, त्रिपृष्टविजयीयः। भरतबाहुबलीयः। वाक्यपदीयम्। "द्वन्द्वे देवाऽसुरादिभ्यः प्रति-षेधो वक्तव्य." [वा०] दैवासुरम्। राक्षोऽसुरम्। गौणमुख्यम्। इन्द्रजननादिभ्यः—इन्द्रजननीयम्।

---

१. मधुराम—ब०, स०।

प्रद्युम्नोदयनीयम् । प्रद्युम्नागमनीयम् । शी (सी) तान्वेषणीयम् । इन्द्रजननादिराकृतिगणः । शिशुक्रन्दादयोऽपि तत्रैव द्रष्टव्याः । देवासुरादिषु छस्यादर्शनात् प्रतिषेधश्च न वक्तव्यः । प्रपञ्चो बालावबोधनार्थः ।

सोऽस्य निवासः ॥३।३।६३॥ स इति वासमर्थादस्येति ताऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत् वासमर्थं निवासश्चेत्स भवति । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासः । स्रुघ्नं निवासोऽस्य स्रौघ्नः । राष्ट्रियः ।

अभिजनः ॥३।३।६४॥ अभिजनः पूर्वे बान्धवाः । साहचर्यात्तैरुषितो देशोऽपि तथोक्तः । निवासो यत्र साम्प्रतमुच्य(ष्य)ते । स इति वासमर्थादभिजन इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति । स्रुघ्नमभिजनोऽस्य, स्रौघ्नः । राष्ट्रियः ।

गिरेश्छः शस्त्रजीविषु ॥३।३।६५॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । गिरिवाचिनो वासमर्थादभिजनविशिष्टादस्येति ताऽर्थे छो भवति शस्त्रजीविष्वभिधेयेषु । हृद्गोलोऽभिजन एषां शस्त्रजीविनाम्, हृद्गोलीयाः । अत्वर्म । अत्वर्मीयाः । वेल । वेलीयाः । रोहितगिरि । रोहितगिरीयाः । गिरेरिति किम् ? साङ्काश्योऽभिजन एषां शस्त्रजीविनां साङ्काश्यकाः शस्त्रजीविनः । "धन्व (धन्व) योपः" [३।२।११] [illegible] । शस्त्रजीविष्विति किम् ? ऋक्षोदो गिरिरभिजन एषां ब्राह्मणानामन्येषां वा, आर्क्षोदाः । पृथु । पार्थवाः ।

शण्डिकादेर्ञ्यः ॥३।३।६६॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । शण्डिक इत्येवमादिभ्यो ञ्यो भवति । अणादेरपवादः । शण्डिकोऽभिजनोऽस्य, शाण्डिक्यः [शाण्डिकः] । सर्वसेन । सर्वकेश । शक । शट । [illegible] । शङ्ख । बोध । गोध । अत्र कोङ्भ्यः "कोङोऽण्" [३।२।११०] इत्यण् प्राप्तः । इतरेभ्यः "बहुत्वेऽङ्गोरपि [३।२।१०२] इति वुञ् प्राप्तः ।

सिन्ध्वादेरण् ॥३।३।६७॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । सिन्धु इत्येवमादिभ्योऽण् भवति । सिन्धुरभिजनोऽस्य, सैन्धवः । सिन्धु । वर्ण । मधुमत् । कम्बोज । कश्मीर । साल्व । एतेभ्यः कच्छादित्वात् "नृतत्स्थयोः" [३।२।११२] इति वुञ् प्राप्तः । गन्धार । पञ्चाल । किष्किन्ध । गब्दिक । उरस् । दरद् । एतेभ्यः "बहुत्वेऽङ्गोरपि" [३।२।१०२] इति वुञ् प्राप्तः । कैमेदुर । काण्डकार । ग्रामणी । एतेभ्यश्छः प्राप्तः ।

तूदीवर्मतीभ्यां ढण् ॥३।३।६८॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । तूदीवर्मतीशब्दाभ्यां ढण् भवति । अणोऽपवादः । तूदी अभिजनोऽस्य, तौदेयः । वार्मतेयः ।

शालातुरकूचवाराच्छण्यौ ॥३।३।६९॥ सोऽस्याभिजन इति वर्तते । शालातुरकूचवारशब्दाभ्यां छण्यौ भवतः । अणोऽपवादः । शालातुरोऽभिजनोऽस्य, शालातुरीयः । कौचवार्यः ।

महाराजात् ॥३।३।७२॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते। महाराजशब्दाट्ठण् भवति। महाराजो भक्तिरस्य, माहाराजिकः।

अर्जुनाद् वुन् ॥३।३।७३॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते। अर्जुनशब्दाद् वुन् भवति। अर्जुनो भक्तिरस्य, अर्जुनकः। उत्तरसूत्रेण राजाख्याद् वुञ् प्राप्तः।

वृद्धराजाख्येभ्यो वुञ् प्रायः ॥३।३।७४॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते। वृद्धाऽऽख्येभ्यो राजाख्येभ्यश्च प्रायो वुञ् भवति। अणोऽपवाद। छस्य तु परत्वाद्बाधकः। वृद्धराजाख्येभ्य इत्यत्र "प्रे" [२।२।४] इति नियमात्कर्मणि "आतः कः" [२।२।३] न प्राप्नोति। मूलविभुजादित्वात् "सुपि" [२।२।७] इति [वा] भविष्यति। वृद्धाख्येभ्यः, ग्लुचुकायनिर्भक्तिरस्य ग्लौचुकायनकः। औपगवो भक्तिरस्य, औपगवक। कापटवकः। राजाख्येभ्यः नकुलो भक्तिरस्य, नाकुलकः। साहदेवकः। वासुदेवो भक्तिरस्य, वासुदेवकः। आख्याग्रहण किमर्थम्? अङ्ग वङ्गकलिङ्गादिग्रहणार्थम्। दुर्योधननकुलसहदेवग्रहणार्थं च। यत्र सामान्येन विशेषेण वा प्रसिद्धा राजसंज्ञाऽस्ति तस्य सर्वस्य सङ्ग्रहार्थमित्यर्थः। प्रायोग्रहणात्क्वचिन्न भवति। पाणिनो भक्तिरस्य, पाणिनीयः। पौरवीयः।

राष्ट्रवत्तद्वतां सर्वं बहुत्वे सरूपाणाम् ॥३।३।७५॥ सोऽस्य भक्तिरिति वर्त्तते। राष्ट्रस्येव राष्ट्रवत्। बहुत्वे राष्ट्रेण समानशब्दाना तद्वता राष्ट्रवत्सर्वं प्रकृतिस्त्यश्च भवति। "राष्ट्राऽवध्योः" [३।२।१०२] इत्यादिप्रकरणे विहितानामिहाऽतिदेशः। यथा, अङ्गा जनपदो भक्तिरस्य, आङ्गकः। वाङ्गकः। सौह्मकः। एवमङ्गाः क्षत्रिया भक्तिरस्य, आङ्गकः। सौह्मकः। तद्वतामिति किम्? पञ्चाला ब्राह्मणा भक्तिरस्य पाञ्चालः। सर्वग्रहण किम्? प्रकृतेरप्यतिदेशो यथा स्यात्। स च द्व्येकयोः प्रकृत्यतिदेशः (श) प्रयोजयति। यत्रैभिनामसम्भूतो ह्यतिदेशो नास्ति। वृजेरपत्यं वार्ज्य। "द्विक्कुरुनाद्यजादकुरुकोशलाञ्ञ्यः" [३।१।१५३] इति ञ्यः। मद्रस्याऽपत्य माद्रः। "द्व्यन्मगध" [३।१।१५२] इत्यादिनाऽण्। वार्ज्यो भक्तिरस्य, माद्रो भक्तिरस्य, अत्र "वृजि [म] द्राल्कः" [३।२।१०४] इति कोऽतिदिश्यते। प्रकृतिरप्यदुसञ्ज्ञाऽ(स्यत्रा) तिदिश्यते। वृजिकः। मद्रकः। वार्ज(र्ज्य)को माद्रक इति मा भूत्। सरूपाणामिति किम्? अससण्डो जनपदः, तस्य पौरवो राजा, स भक्तिरस्य पौरवीयः। बहुत्वग्रहणं सारूप्योपलक्षणार्थम्। यद्यपि द्वित्वैकत्वयोः सारूप्य नास्ति तथाप्यतिदेशः सिद्धः। वाङ्गो वाङ्गौ वा भक्तिरस्य, वाङ्गक।

तेन प्रोक्तम् ॥३।३।७६॥ तेनेति भासमर्थात्प्रोक्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहित त्यो भवति। व्याख्यादिना प्रकर्षेणोक्त प्रोक्तमिति गृह्यते, न तु कृत यदन्येन कृतम्। गोतमेन प्रोक्तम्, गोतमम्। श्रीदत्तीयम्। सामन्तभद्रम्। आपिशलम्। "इञः" [३।२।८८] इत्यण्।

शौनकादिभ्यश्छन्दसि णिन् ॥३।३।७७॥ शौनक इत्येवमादिभ्यश्छन्दस्यभिधेये णिन् भवति तेन प्रोक्तमित्यस्मिन्विषये। दुभ्यश्छस्य इतरेभ्यश्चाणोऽपवादः। "छन्दोब्राह्मणानि चात्रैव" [३।२।२६] इति नियमादेकवाक्यम्। शौनकेन प्रोक्त छन्दोऽधीयते शौनकिनः। "तद्वेत्त्यधीते" [३।२।२१] इत्यागतस्याण "उपप्रोक्तात्" [३।२।२४] इत्युप्। शौनक। वाजसनेय। साङ्गरव। साpेय। सा(शा)ष्पेय। [1]स्कन्दायन। स्कन्द। स्कभ[2]। स्तम्भ। देवदर्श। रज्जुमार। रज्जुकण्ठ। कठ। साठ। कौशायन। तलवकाल (र)। [3]पुरुषासक। "काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां कल्पसूत्राभ्यां प्रोक्तः स्मर्यते"। तस्योपचारा-

---

1. स्कादायन पू०। बोदायन म०। २. स्वंभ म०, पू०। ३. परुषासक इति गणरत्नमहोदधौ।

च्छन्दस्त्वम् । तेन तद्विषयतानियमः । काश्यपेन प्रोक्तं कल्पं विदन्ति, काश्यपिनः । कौशिकिनः । पुराणेन मिति किम् ? इदानीन्तनेन काश्यपेन प्रोक्तम्, काश्यपीयम् । "कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यः" । कला प्यन्तेवासिनश्चत्वारः ।

"हरिद्रुरेषां प्रथमस्ततश्छगलितुम्बुरू । उलपेन चतुर्थेन कालापकमिहोच्यते ।"

हरिद्रुणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, हारिद्रविणः । तौम्बुरविणः । औलपिनः । छागलिनो ढिनिणं वक्ष्यति । वैशम्पायनान्तेवासिनो नव ।

"आलम्बिः प्रथमः प्राचां पलिङ्गकमलावुभौ । ऋचभागारुणी ताण्ड्यो मध्यमीयास्ततोऽपरे ॥
श्यामायन उदीच्येषु तथा कठकलापिनौ ।"

आलम्बिना प्रोक्तमधीयते, आलम्बिनः । पालिङ्गिनः । कामलिनः । आर्चभागिनः । आरुणिनः । ताण्डिनः । श्यामायनिन । कठादत्रैवोप वक्ष्यते । उत्तरत्र कलापिनोऽण वक्ष्यति । अन्तेवासिग्रहणेन प्रत्यक्ष-शिष्यग्रहणम् । न तु व्यवहितानां शिष्यशिष्याणां ग्रहणं व्याख्यानात् । "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" [ग०सू०] यत्तत्प्रोक्तं (यत्प्रोक्तं तत्) पुराणप्रोक्ताश्चेद् ब्राह्मणकल्पा भवन्ति । पुराणेन पुरातनेन ऋषिणा प्रोक्ताः, पुराणप्रोक्ताः, ब्राह्मणानि च कल्पाश्च ब्राह्मणकल्पाः । भाल्लवेन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते भाल्लविनः । शाट्यायनिनः । ऐतरेयिणः । पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः पैङ्गी । आरुणपराजी । कल्पस्य तद्विषयतानियमो नास्ति । पुराणप्रोक्तेष्विति किम् ? याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि । आश्मरथः कल्पः । "शौनकादिभ्यो णुरं" [३।२।८७] इत्यण् । याज्ञवल्कादयोऽचिरकाला इत्याख्यानेषु श्रुतिः । तद्विषयतानियमोऽपि प्रतिपद ब्राह्मणे(भवति इति इह सोऽपि नास्ति । "कठचरकादुप्" [ग०सू०]। कठेन प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, कठाः । वैशम्पायनान्ते-वासित्वाण्णिन्, तस्लोप् । चरक इति वैशम्पायनस्याख्या । चरकादच्छन्दस्येष्यते । चरकेण प्रोक्ताश्चरकाः श्लोकाः । अत्र उप् । सर्वप्रवचनाभिधाने 'वृद्धचरणाञ्जित" [३।३।१४] इति वुन् भवति । शौनकस्य मिदम्, शौनककम्, इत्येवमादि योज्यम् । "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः।" पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षु सूत्रमधीयते, पाराशरिणो भिक्षवः । शैलालिनो नटाः । गुणकल्पनया चात्र छन्दस्त्वम् तेन तद्विषयता (भवति । भिक्षुनटसूत्रयोरिति किम् ? पारा)शरम् । शैलालम् । "शौनकादिभ्यो णुरं" [३।२।८७] इत्यण् उत्सर्गश्च "कर्मन्दकृशाश्वाभ्यामिन्' । अत्रापि तद्विषयता, कर्मन्दिनो भिक्षवः । कृशाश्विनो नटाः । भिक्षुनटसूत्रयोरित्येव । कार्मन्दम् । कार्शा (कार्शाश्वम) । छन्दसीति किम् ? शौन कीया शिक्षा ।

छगलिनो ढिनिण् ॥३।३।८०॥ छन्दसीति वर्त्तते, तेन प्रोक्तमिति च। छगलिन्शब्दाड्ढिनिण् भवति। नेरिकार उच्चारणार्थः। छगलिना प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, छागलेयिनः। कलाप्यन्तेवासिलक्षणस्य णिनोऽपवादः।

एकदिक् ॥३।३।८१॥ छन्दसीति निवृत्तम्। तेन प्रोक्तमिति च निवृत्तमर्थान्तरग्रहणात्। एका दिग् यस्य तदेकदिक्, त्य (स) मानदिगित्यर्थः। भासमर्थादेकदिगित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। सुदाम्ना पर्वतेन एकदिक्, सौदामनी विद्युत्। "अनः" [४।४।१५८] इति टिखाऽभावः। एवं हैमवती। त्रैककुदी।

तस् ॥३।३।८२॥ तसित्ययं त्यो भवति मृद। तेनैकदिगित्यनुवर्त्तते। पूर्वसूत्रेणाणादयो घादयश्च भवन्ति। अयं च वचनाद् भवति। न तु बाध्यबाधकभावः। सुदाम्ना एकदिक् सुदामतः। हिमवतः। त्रिककुत्तः। तस्यान्तस्य स्वभावतो भिसंज्ञा।

यश्चोरसः ॥३।३।८३॥ तेनैकदिगिति वर्त्तते। उरःशब्दात् य इत्ययं त्यो भवति तश्च। अणोऽपवादः। उरसा एक दिक्, उरस्य, उरस्तः।

उपज्ञाते ॥३।३।८४॥ तेनेति वर्तते। तेनेति भासमर्थादुपज्ञातेऽर्थे यथाविहितं त्यो भवति। विनोपदेशेन प्रथमं ज्ञातमुपज्ञातम्। स्वायम्भुवेनोपज्ञातं स्वायम्भुवीयमाकालिकाऽचाराऽध्ययनम्। दैवन्दिनमनेकशेष व्याकरणम्।

कृते ग्रन्थे ॥३।३।८५॥ तेनेति भासमर्थात्कृतेऽर्थे यथाविहित त्यो भवति यत्कृतं ग्रन्थश्चेद् भवति। वलदेवेन कृताः, वालदेवाः श्लोकाः। वाररुचाः। सिद्दनदीयाः। ग्रन्थ इति किम्? तक्ष्णा कृतः प्रासादः।

खौ ॥३।३।८६॥ तेनेति भासमर्थात्कृतेऽर्थे यथाविहित त्यो भवति समुदायेन खुविषये। अग्रन्थेऽपि विधिरयम्। मक्षिकाभिः कृत माक्षिक मधु। एव गर्मुत्, गार्मुतम्। पुत्तिका, पौत्तिकम्। क्षुद्रा, क्षौद्रम्। सरघा, सारघम्। नर्मुक, नार्मुकम्। भ्रमर, भ्रामरम्। वटर, वाटरम्। वातप, वातपम्। छः कस्मान्न भवति। संज्ञाशब्दाना व्युत्पत्तिरियम्। न च छे कृते संज्ञा गम्यते।

कुलालादेर्वुञ् ॥३।३।८७॥ खाविति वर्तते। कुलाल इत्येवमादिभ्यो वुञ् भवति तेन कृतेऽर्थे। अणोऽपवाद। कुलालेन कृतम्, कौलालकम्। घटादिसमुदायस्येय संज्ञा। कुलाल। वरुट। कर्मार। चण्डाल। निषाद। सेना। सिरिध्र[1]। देवराजी। परिषत्। वधू। रुद्र। अस्य स्थाने रुरुशब्दं [2]केचित् पठन्ति। अनडुह्। ब्रह्मन्। कर्मार। कुलाल। कुम्भकार। श्वपाक।

तस्येदम् ॥३।३।८८॥ तस्येति तासमर्थादिदमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। तस्येति सामान्येन ताऽर्थमात्र इदमिति ताऽर्थसम्बन्धिमात्रं विवक्षितम्। उभयत्र लिङ्गसंख्याप्रत्यक्षपरोक्षत्वादिकमविवक्षितम्। उपगोरिदम्, औपगवम्। औत्सम्। राष्ट्रियम्। आङ्गकम्। अनन्तरादिष्वभिधानं नास्ति। देवदत्तस्यानन्तरम्, देवदत्तस्य समीपम्। विंशतेरवयव एकः, शतस्य द्वौ, सहस्रस्य पञ्चेति। "संवोढुः संवहित्रभावश्च स्वे वक्तव्यः" [वा०]। संवोढुः स्वं सांवहित्रम्। "अग्नीधः शरणे वाच्ये रण्

1. सिलिध्र स०। सिलिन्ध्र पू०। सिरिध्र इति काशिकायाम्। २. केचित् काशिकाकारा इत्यर्थः।

वक्तव्यो भसंज्ञा च" [वा०] अग्नीध इदम्, आग्नीध्रम्। 'समिधामाधाने टेन्यण् वक्तव्यः' [वा०]। सामिधेनी ऋक्।

रथाद्यः ॥३।३।८९॥ तस्येदमिति वर्त्तते। रथशब्दाद्यो भवति। अणोऽपवादः। रथाङ्ग एवेष्यते। रथस्येदं चक्रं युगं वा रथ्यम्। "रथसीताहलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरुपसंख्यातः" [वा०]। परमरथ्यम्। रथाङ्ग इति किम्? रथस्य स्थानम्।

पत्त्रादण् ॥३।३।९०॥ पतन्ति तेनेति पत्त्रं वाहनम्। तत्पूर्वाद्रथशब्दादण् भवति। पूर्वस्य यस्यापवादः। अश्वरथस्येदं चक्रं युगं वाऽऽश्वरथम्। औष्ट्ररथम्। पुनरण्ग्रहणं छबाधनार्थम्। राासभरथम्। युगम्। रथाङ्ग इत्येव। अश्वरथस्य स्वामी।

पत्त्रात् ॥३।३।९१॥ पत्त्रं वाहनम्। तद्वाचिशब्दादण् भवति, तस्येदमित्यस्मिन्विषये। "पत्त्राद् वाह्य एवेष्यते" [वा०]। अश्वस्येदं वाह्यम्, आश्वम्। उत्सर्गेण सिद्धमिति चेद्वुञादिषु न सिद्ध्यति। रासभस्येदं वहनीयम्, रासभम्।

हलसीराट्ठण् ॥३।३।९२॥ तस्येदमिति वर्तते। हलसीरशब्दाभ्यां ठण् भवत्यणि प्राप्ते। हलस्येदं हालिकम्। सैरिकम्।

द्वन्द्वाद्वुन् वैरमैथुनिकयोः ॥३।३।९३॥ तस्येदमिति वर्तते। मैथुनिका विवाहनादिका क्रिया। द्वन्द्वाद् वुन् भवति वैरे मैथुनिकायां च। अणोऽपवादः। छस्य तु परत्वादेव बाधकः। अहिनकुलिका। काकोलूकिका। वद्रवधवृद्धवृषिनिका। वुनन्तस्य स्वभावतः स्त्रीलिङ्गम्। मैथुनिकायां च। कुत्सकुशिकिका। कुरुवृष्णिका। अत्रिभरद्वाजिका। भरद्वाजशब्दादञ्, तस्य वृद्धे बहुत्वे "यञञोः" [१।४।१४९] इत्युप कृतः। "वृद्धेऽस्त्यनुप्" [३।१।७२] इति अनुप् कस्मान्न भवति। प्रथमादित्यधिकाराद् द्वितीयस्य न भवति। अथ प्रथमस्यात्त्रिशब्दस्य यो ढण् तस्यानुप् कस्मान्न भवति। अत्रादावस्त्र्यां... अप्(न)... भवति। भरद्वाजशब्देन चात्र व्यवधानम्। अत्र्यादिः। गर्गभृगूणामिव मैथुनिका गार्गभार्गविका। अत्र दोरकादेशे कृते भृगुशब्दाद् योऽण् तस्य बहुत्वे "भृग्वत्रिकुत्स" [१।४।१२६] इत्यनवाप्प्राप्तः। "प्रथमाऽधिकारे द्वितीयस्यापि वृद्धेऽस्त्यनुब्भवत्य." [वा०]। "देवासुरादिभ्यो वुनः प्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०]। दैवासुरम्। राक्षोसुरम्।

घोषो वा, वैदम् । यञन्तात् । गर्गाणां सङ्घः, अङ्को लक्षणं घोषो वा, गार्गम् । "क्यच्व्यनादृष्त्यापत्यस्य" [४।४।१४१] इति यखम् । इञन्तात् । दाक्षम् । प्लाक्षम् । अणो णित्करणं स्त्रिया ङ्यर्थम् । "ञ्णिद्धृद्दर-क्तविकारे" [४।३।१५१] इत्यत्र पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं च । वैदी स्थूणा अस्य, वैदीस्थूणः । लक्ष्म्या(क्ष्य)गतं-चिह्नं लक्षण यथोपशमो मुनीनाम् । बाह्यसम्बन्धि गतं चिह्नमङ्कः, यथा गवां रेखा ।

शाकलाद् वा ॥३।३।९६॥ शाकलशब्दात्सङ्घादिषु इदमर्थविशिष्टेषु वाऽण् भवति चरणलक्षणे नित्ये वुनि प्राप्ते विभाषेयम् । कथं चरणत्वम् ? शाकल्येन प्रोक्तमधीयते शाकलाः । प्रोक्तार्थे "शकलादिभ्यो वृद्धे" [३।२।८७] इत्यण् । "क्यच्व्यनादृष्त्यापत्यस्य" [४।४।१४१] इति यखम् । "तद्वेत्त्यधीते" [३।२।८१] इत्यागतस्याण "उप्प्रोक्तात्" [३।२।५४] इत्युप् । शाकलानां सङ्घः, अङ्कः, लक्षणं, घोषो वा, शाकलम् ।

छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबहृचनटाञ्ञ्यः ॥३।३।९७॥ सङ्घादयो निवृत्ताः । सामान्येन तस्येदमिति वर्तते । छन्दोग औक्थिक याज्ञिक बहृच नट इत्येभ्यो ञ्यो भवति । वुनोऽपवादः । नटशब्दादणोऽपवाद । छन्दोगाना धर्म आम्नायो वा छान्दोग्यम् । औक्थिकाना धर्म आम्नायो वा, औक्थिक्यम् । याज्ञिक्यम् । बह्वीः ऋचोऽधीयते, बहृचाः । अः सान्तः । "तद्वेत्त्यधीते" [४।२।८१] इत्यागतस्याणो "रस्योबनपत्ये" [३।१।७४] इत्युप् । तेषां धर्म आम्नायो वा, बाहृच्यम् । चरणसाहचर्यान्नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव त्य । नाट्यम् ।

न दण्डमाणवान्तेवासिषु ॥३।३।९८॥ दण्डप्रधाना माणवाः दण्डमाणवा । आश्रमिणा रक्षापरिचरणविधायिन इत्यर्थः । अन्तेवासिनो विनेयाः । वृद्धग्रहणमनुवर्तते । दण्डमाणवेषु अन्तेवासिषु इदमर्थविशेषेषु तस्येदमित्यस्मिन्विषये वृद्धाद्यदुक्तं तन्न भवति । काण्ठ्यस्येमे काण्ठा । गौकक्ष्यस्येमे, गौकक्षा । दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा । वुनि प्रतिषिद्धे "शकलादिभ्यो वृद्धे" [३।२।८७] इत्यण् । दाक्षेरिमे दाक्षाः । प्लाक्षा । "इञः" [३।२।८८] इत्यण् ।

रैवतिकादेश्छः ॥३।३।९९॥ तस्येदमिति वर्तते । वृद्धादिति च । रैवतिक इत्येवमादिभ्यो वृद्धेभ्यश्छो भवति । वुनादेरपवाद । रैवतिकस्येद रैवतिकीयम् । वुनः प्रकृते प्रतिषेधे कृते सामर्थ्याद् दोश्छः सिद्ध । नैव शक्यम् इञन्तात् "इञः" [३।२।८८] इति अण् प्राप्नोति सङ्घादिषु चाणः प्रतिषेधे वुन् प्रसज्येत । रैवतिक । गौरग्रीवि । स्वापिशि । दौमत्रि । दैमवृद्धि इति केचित्[1] । औदमेघि । औदवाहि । औदवापि । वैजवापि ।

कौपिञ्जलहास्तिपदादण् ॥३।३।१००॥ कौपिञ्जलहास्तिपदशब्दाभ्यामण् भवति तस्येदमित्यस्मिन्विषये । वृद्धलक्षणस्य वुनोऽपवादः । कुपिञ्जल हस्तिपादशब्दाभ्यामपत्येऽर्थे त एव निपातनादण् । पादस्य पद्भावश्च । कौपिञ्जलस्येद कौपिञ्जलं शकटम् । हास्तिपद शकटम् । आरम्भसामर्थ्यादेवाणि सिद्धे पुनरण्-ग्रहण "न दण्डमाणवान्तेवासिषु" [३।३।९८] इति वुनि प्रतिषिद्धे "दोः" [३।२।९०] इति छे प्राप्ते अण् यथा स्यात् । कौपिञ्जला अन्तेवासिनो दण्डमाणवा अन्तेवासिनो वा ।

आथर्वणः ॥३।३।१०१॥ तस्येदमिति वर्त्तते । आथर्वण इति निपात्यते । आथर्वणिकशब्दादण् निपात्यते इकस्य च खम् । चरणवाचि[2]शब्दादस्माद् वुञ् प्राप्तः । अथर्वणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते, आथर्वणिकाः । प्रोक्तार्थेऽणि "नोऽपुंसो टति" [४।४।१३०] इति टिख प्राप्तम् ? "अनः"

---

१. केचित् काशिकाकाराः । २. चरणशब्दत्वादस्माद् वु—पू० ।

[४।४।१५८] इति प्रतिषिद्धम्। आथर्वण इति स्थिते "छन्दोब्राह्मणानि चाऽत्रैव" [३।२।२१] इति नियमात् "तद्वेत्त्यधीते" [३।२।२१] इत्यपि प्राप्ते उक्थादिष्वाथर्वणशब्दस्य पाठात् ठण्। तत्र पाठसामर्थ्यादेव "उप्प्रोक्तात्" [३।२।२४] इत्युप्न भवति। आथर्वणिकानां धर्म आम्नायो वा आथर्वणः। यत्तूक्थादिष्वथर्वन्शब्दः पठ्यते स उपचाराच्छास्त्रवचनः अथर्वाणं वेत्त्यधीते वा आथर्वणिकः। टिलाभावस्चात्र वक्तव्यः। अस्याप्याथर्वणिकशब्दस्येद निपातनमिष्यते।

तस्य विकारः ॥३।३।१०२॥ प्रकृतेरवस्थान्तरं विकारः। तस्येति तासमर्थाद् विकार इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। अदु यस्य च नाप्पत्(न्यत्र) प्रतिपदं ग्रहणं तदिहोदाहरणम्। अश्मनो विकार आश्मः। "श्वाश्मचर्मणां सङ्कोचविकारकोशेषु" [४।४।१२२] इति टिखम्। भस्मनो विकारः, भास्मनः। मार्त्तिकः। तार्कवः। दैवदारवः। तैत्तिडीकः। बैल्वः। कापित्थः। पालाशः। प्रकृत्युपम(म)र्देन यो विकारस्तत्रायं विधिः। तेनेह न भवति, आम्रं पक्वमिति। भवति पक्वमाम्रस्य फलस्य विकारे न तु प्रकृत्युपमर्दे। तस्येति वर्त्तमाने पुनस्तस्य ग्रहणं शैषिकाणां घादीनां निवृत्त्यर्थम्। यतः परमोत्सर्ग एव भवति। अत्र वेगाच्चियुक्तिः पूर्वसूत्रादणीति वर्त्तते स इह विधीयमानः परत्वेन शैषिकाणां बाधकः।

प्राण्योषधिवृक्षेभ्योऽवयवे च ॥३।३।१०३॥ प्राणिनश्चेतनावन्तः। फलपाकान्ता ओषधयः। पुष्पवन्तः फलवन्तश्च वृक्षाः। वृक्षविशेषत्वाद्वनस्पतिवीरुधामपि वृक्षग्रहणेन ग्रहणम्। प्राण्योषधिवृक्षाभिधेयस्तासमर्थेभ्योऽवयवे विकारे च यथाविहितं त्यो भवति। अवयव एकदेशः। प्राणिभ्य उत्तरा यदो। ओषधिभ्यः,मूर्वाया अवयवो विकारो वा मौर्वं काण्डम्। मौर्वं भस्म। वृक्षेभ्य-कारीरं काण्डम्। कारीरं भस्म। पैप्पल काण्डम्। पैप्पलं काण्ड भस्म च। इह ओषधिवृक्षग्रहणं ज्ञापकम्। "अणो घेः प्राणिवृक्षेभ्यः" [१।२।८५] इत्येवमादिषु प्राणिग्रहणे वृक्षादीनां प्राणित्वेऽपि ग्रहणं न भवति। तस्य विकारः प्राण्योषधिवृक्षेभ्योऽवयवे चेति द्वयमविच्छिन्ने। अथ तु विभागः। प्राण्योषधिवृक्षेभ्य, अवयवविकारयोरनयोरिति। अन्येभ्यस्तु विकारमात्र एष्टव्यः।

रोहीतक। विभीतक। पीतदारु। त्रिकण्टक। कण्टकार। काण्ड। गवेधुक[1]। पाटली। येऽत्रादयः, तेभ्यः "मयड्वैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः" [३।३।१०८] इति विकल्पेन मयटि प्राप्तेऽपवादः।

त्रपुजतुनोः षुक् ॥३।३।१०६॥ त्रपुजतुशब्दाभ्यां यथाविहितमण् भवति तत्सन्नियोगेन च षुगागमः। त्रपुणो विकारः, त्रापुषम्। जातुषम्।

शम्याः ष्लञ् ॥३।३।१०७॥ शमीशब्दाद्ष्लञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः। अणोऽपवादः। शामीलं भस्म। शामीली स्रुक्।

मयड्वैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः ॥३।३।१०८॥ भक्ष्यमभ्यवहार्यम्। आच्छादनं वसनम्। तासमर्थान्मृदो वा मयड् भवति भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोरर्थयोः। अश्मनो विकारोऽश्ममयम्। आश्मम्। सिकतामयम्। सैकतम्। दूर्वामयम्। दौर्वम्। विकारावयवौ प्रकृतावेव तत्किमर्थमेतयोरिति ग्रहणम्? अनन्तरयोरपि योगयोरपवादबाधनार्थम्। त्रपुमयम्। जतुमयम्। शमीमयमिति। अन्ये[2] कपोतमयम्, रजतमयम्, लोहमयमित्यादि इच्छन्ति। तत्तेषां "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्" [४।३।१५४ पा० सू०] इत्यस्य सूत्रस्य व्याख्यानेन विरुध्यते। तस्मात्कपोतमयमिति चिन्त्यम्। अभक्ष्याच्छादनयोरिति किम्? मौद्गः सूपः। कार्पासः प्रावारः।

नित्यं द्रुशरादेः ॥३।३।१०९॥ अभक्ष्याच्छादनयोरिति वर्त्तते। द्रुभ्यः शरादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यो भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोर्नित्यं मयड् भवति। द्रुभ्यः, आम्रस्य विकारोऽवयवो वा आम्रमयम्। शालमयम्। शरादिभ्यः, शरमयम्। शर। दर्भ। मृद्। कुटी। तृण। सोम। बल्वज। आरम्भान्नित्यत्वे लब्धे नित्यग्रहणं किम्? एकाचो नित्यं मयट् यथा स्यात्। वाङ्मयम्। त्वङ्मयम्। त्ये नित्यं परङ्सञ्ज्ञादेशः। अथ विकारावयवयोर्यस्त्यस्तदन्ताद्विकारावयवान्तरविवक्षाया मयट् कस्मान्न भवति। दैवदारवस्य विकारोऽवयवो वा दैवदारवम्। दाविरथस्य, दाविरथम्। पालाशस्य, पालाशम्। शामीलस्य, शामीलम्। कापोतस्य, कापोतम्। औष्ट्रकस्य, औष्ट्रकम्। ऐणेयस्य, ऐणेयम्। कांसस्य, कांस्यम्। पारशवस्य, पारशवमिति। नैष दोषः, समुदायशब्दोऽवयवेऽपि दृष्टः। इति विकारान्तरे अवयवान्तरे च विवक्षिते मूलप्रकृतेरेव त्यः। तेन त्यान्तान्मयण्न भवति। अनभिधानाद्वा। यत्राभिधानमस्ति तत्र विकारान्तरेऽवयवान्तरे च त्यो भवत्येव। गोमयस्य विकारः, गौमयं भस्म। द्रुवयस्य विकारः, द्रौवयम्। कपित्थस्य फलस्य विकारः, कापित्थम्। आमलकस्य फलस्य विकारः, आमलकमयम्। सर्वमय मयट् द्रुशरकेभ्य शरादिभ्यश्च नित्यं भवति। अन्येभ्योऽभक्ष्याच्छादनयोर्वा भवति। जातरूपेभ्यः, प्राणितालादिभ्यश्चाण् भवति।

पिष्टात् ॥३।३।११०॥ पिष्टशब्दाद् विकारेऽर्थे नित्यं मयड् भवति। पिष्टस्य विकारः, पिष्टमयम्। भक्ष्यत्वादप्येव प्राप्तः, तदपवादोऽयम्।

कः खौ ॥३।३।१११॥ पिष्टशब्दात्को भवति खुविषये। अनन्तरस्य मयटोऽपवादः। पिष्टस्य विकारः पिष्टिका।

---

१ गवेधुका अ०, पू०। २ अन्ये काशिकाकाराः। चिन्त्यमिदम्—कपोतमयम्, लोहमयमित्यादीनां प्राणिरजतादिसूत्रव्याख्यानविरोधाभावात्। रजतादिपठितस्यानुदात्तादिशब्दस्यैव मयड्बाधकत्वम्। उदात्तादेस्तु अञ्मयटोरुभयोरपि विधानस्य तत्रत्यन्यासग्रन्थे निर्णीतत्वात्। रजतमयमिति काशिकायां नास्त्येव। विस्तरस्तु काशिकान्यासे द्रष्टव्यः।

तिलयवादखौ ॥३।३।११२॥ तिलयवशब्दाभ्यामखुविषये नित्यं मयड् भवति विकारावयवयोरर्थयोः। तिलानामवयवो विकारो वा, तिलमयम्। यवमयम्। अखाविति किम्? तैलम्। यावकः। "कोऽणो यावादेः" [४।२।६५] इति स्वार्थिकः कः।

गोव्रीहेः शकृत्पुरोडाशे ॥३।३।११३॥ गोव्रीहिशब्दाभ्यां यथासंख्यं शकृति पुरोडाशे च विकारेऽभिधेये नित्यं मयड् भवति। गोमयं शकृत्। व्रीहिमयः पुरोडाशः। शकृत्पुरोडाश इति किम्? गव्यं पयः। व्रैह ओदनः।

क्रीतवत्परिमाणात् ॥३।३।११४॥ क्रीत इव परिमाणवाचिनः त्यविधिर्भवति विकारे। परिमीयतेऽनेनेति परिमाणं परिच्छेदहेतुः न तु रूढिपरिमाणमेव। तेन संख्यायाः प्रस्थादीनां च ग्रहणम्। क्रीतार्थे ये त्याः यस्मात्परिमाणाद्विहिताः, ते विकारेऽप्यर्थे तस्मादेव परिमाणादतिदिश्यन्ते। यथा भवति "तेन क्रीतम्" [३।४।२५] इत्यत्र। शतेन क्रीतः शतिकः, शत्यः। "शताद्स्वार्थेऽस्से ठयौ" [३।४।१८] इति। सहस्रेण क्रीत, साहस्रम् "शतमानविंशतिसहस्रवसनादण्" [३।४।२४] इति ठयाणः। एवमिहापि शतस्य विकारः शत्यः, शतिकः, साहस्रः। यथा परिमाणात्क्रीतार्थे "आर्हाट्ठण्" [३।४।१७] भवति। प्रस्थेन क्रीतः, प्रास्थिकः। कौडविकः। खार्या क्रीतः खारीकः। "खारीकाकणीभ्यां कप्" [३।४।२०] इति कप्। एवं प्रस्थस्य विकारः प्रास्थिकः। कौडविकः। खारीकः।

कोशैण्या ढञ् ॥३।३।११५॥ कोश एणी इत्येताभ्यां ढञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः। कोशाद् वस्त्रे प्रयोगः। कोशस्य विकारः, कौशेयं वस्त्रम्, आच्छादनम्। मयट् नास्ति। अणोऽपवादः। एण्या विकारोऽवयवो वा, ऐणेयं मांसम्। ऐणेयं सक्थि। एणीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुंसः अणेव भवति। ऐणं मांस (मांसम्)।

उष्ट्राद् वुञ् ॥३।३।११६॥ उष्ट्रशब्दाद् वुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः। प्राणिरजतादिभ्योऽञोऽपवादः। उष्ट्रस्य विकारोऽवयवो वा, औष्ट्रकम्।

वोमोर्णात् ॥३।३।११७॥ उमा अतसी। उमाऊर्णाशब्दाभ्यां वा वुञ् भवति विकारावयवयोरर्थयोः। उमाया विकारोऽवयवो वा औमकम्। पक्षे अणमयटौ। औमम्। उमामयम्। ऊर्णाया विकारः, और्णकम्।

नैयग्रोधम् । "न्यग्रोधस्य केवलस्य" [५।२।१०] इत्यैप् । प्लक्ष । न्यग्रोध । अश्वत्थ । इङ्गुदी । शिग्रु । कितन्तु[1] । वृहती ।

जम्ब्वा वोश्च ॥३।३।१२३॥ फल इति वर्त्तते । जम्बूशब्दादवयवविशेषे फलेऽभिधेये वा उस् भवति अण् च । पक्षे उम्भवति । जम्ब्वा अवयवः फलम्, मयट उषि, जम्बूः फलम् । अणो वचनादुष् न भवति । जाम्बव फलम् । उपि जम्बु फलम् ।

हरीतक्यादेः ॥३।३।१२४॥ उषिति वर्त्तते फले इति च । हरीतक्यादिभ्यः फले अवयवे उस् भवति त्यस्य । हरीतक्या अवयवः फलम्, हरीतकी फलम् । हरीतकी । पिप्पली । कोशातकी । नखरजनी । चण्डी । दोडी । श्वेतपाकी । अर्जुनपाकी । शाला । काला । द्राक्षा । ध्वाङ्क्षा । गङ्गडिका । कण्टकारिका । शेफालिका । "येषां च पाकनिमित्तः शोषः, तेभ्यश्च उस् फले" [वा०] व्रीहयः । यवाः । माषाः । मुद्गाः । "पुष्पमूलेषु बहुलम्" [वा०] । मल्लिकायाः पुष्पम्, अवयवः, मल्लिका । नवमल्लिकाः । जाती । वृहत्या मूलमवयवः, वृहती । विदारी । अंशुमती । न च भवति उस् उवेव भवति । पाटलानि पुष्पाणि । शाल्वानि मूलानि । करवीर पुष्पम् । कदम्बम् । अशोकम् । क्वचिदुभयोरभावः । वैणवानि फलानि । "जम्ब्वा हरीतक्यादिषु च उसि लिङ्गमेव उक्तवद् भवति न वचनम्" [वा०] । जम्बूः फलम् । जम्ब्वौ फले । जम्ब्व फलानि । हरीतकी फलम् । हरीतक्यौ फले । हरीतक्यः फलानि ।

कांस्यपारशवौ ॥३।३।१२५॥ कास्य पारशव इत्येतौ शब्दौ निपात्येते । कंसीय-परशव्यशब्दयो र्यञिणोः परतश्छयोरुस् निपात्यते विकारेऽर्थे । यञणोरणोरनेनैव विधानम् । कंसार्थम्, कंसीयम् । परश्वर्थे परशव्यम् । "तदर्थे विकृतेः प्रकृतौ" [३।४।११] इत्यनेन प्राक्ठणश्छः । "उगवादेर्यः" [३।४।२] इति छयौ भवतः । कंसीयस्य विकारः, कास्यम् । परशव्यस्य विकारः, पारशवम् ।

प्राग्घाट्ठण् ॥३।३।१२६॥ "तद्वहति रथयुगप्रासङ्गाद्यः" [३।३।१६१] इति यो वक्ष्यते । प्रागेतस्माद्यसंशब्दनाद्येऽग्रे वक्ष्यन्ते तेषु ठणधिक्रियते । वक्ष्यति "तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" [३।३।१२७] इति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिक । शालाकिकः । प्राग्वचनं किम् ? अर्थविशेषे त्यान्तरेण निवर्त्तितस्य उत्तरत्रोपस्थान यथा स्यादित्येवमर्थम् ।

तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ॥३।३।१२७॥ तेनेति भासमर्थात् दीव्यति खनति जयति जितमित्येतेष्वर्थेषु ठण् भवति । अक्षैर्दीव्यति आक्षिक । शालाकिक । अभ्रया खनति, आभ्रिकः । कौद्दालिकः । अक्षैर्जयति, आक्षिकः । शालाकिकः । अक्षैर्जितम्, आक्षिकम् । शालाकिकम् । सर्वत्र करणे भा द्रष्टव्या । तेनेह न भवति देवदत्तेन जितमिति । दीव्यत्यादिषु त्रिषु सख्याकालावविवक्षितौ । जितशब्दे कालो विवक्षितः । क्रियाप्रधानत्वेऽप्याख्यातस्य ह्रस्वभावादेव कारकाभिधायी । आक्षिको दीव्यतीत्यनुप्रयोग सन्देहनिवृत्त्यर्थः ।

संस्कृतम् ॥३।३।१२८॥ तेनेति वर्त्तते । भासमर्थान्मृदः संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वक्ष्यमाणात्ससृष्टात्संस्कृतस्य को भेदः । सतो गुणाभिधान सस्कारः । मिश्रणमात्र ससर्गः । दध्ना सस्कृत दाधिकम् । शार्ङ्गवेरिकम् । मारीचिकम् । "सस्कृतं भक्षाः" [३।२।११] इत्येतदाधारविवक्षायामुक्तम् ।

कुलत्थकोडोऽण् ॥३।३।१२९॥ तेनेति सस्कृतमिति च वर्त्तते । कुलत्थशब्दात्ककारोडश्च मृदोऽण् भवति । ठणोऽपवादः । कुलत्थैः सस्कृतं कौलत्थम् । कोडः, तैत्तिडीकम् । दार्दरूकम् ।

---

1. कतन्तनु स०, पू० । कर्कन्धु इति काशिकायाम् ।

तरति ॥ ३।३।१३० ॥ तेनेति वर्त्तते। भासमर्थात्तरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। उडुपेन तरति औडुपिकः। काण्डप्लविकः। सारप्लविकः। गौपुच्छिकः।

नौद्व्यचष्ठः ॥३।३।१३१॥ तेनेति तरतीति च वर्त्तते। नौशब्दाद्द्व्यचश्च भाद् ठो भवति। ठणोऽपवादः। नावा तरति नाविकः। नाविका स्त्री। द्व्यचः, घटेन तरति घटिकः। प्लविकः। बाहुकः।

चरति ॥३।३।१३२॥ तेनेति वर्त्तते। चरतिरिह भक्षणार्थो गत्यर्थश्चेष्टः। तेनेति भासमर्थाच्चरति इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। इह तु करणे भा। शकटेन चरति, शाकटिकः। हास्तिकः।

पर्पादेष्ठट् ॥३।३।१३३॥ तेनेति चरतीति च वर्त्तते। पर्प इत्येवमादिभ्यष्ठट् भवति। ठणोऽपवादः। पर्पेण चरति, पर्पिकः। पर्पिकी। अश्विकः। अश्विकी। पर्प। अश्व। ऊपर। अश्वत्थ इति केचित्। रथ। जाल। व्यास। पादः पच्च। पदिकः। पदिकी।

श्वगणाद्वा ॥३।३।१३४॥ तेनेति चरतीति वर्त्तते। श्वगणशब्दाद् वा ठड् भवति। पक्षे ठण्। श्वगणेन चरति, श्वगणिकः। श्वगणिकी। श्वागणिकः। श्वागणिकी। ठणि श्वशब्दस्य द्वारादित्वादैजागमः प्राप्तः "स्वादेरावः" [४।२।१२] इति प्रतिषेधः।

वेतनादेर्जीवति ॥३।३।१३५॥ तेनेति वर्त्तते। वेतनादिभ्यो भान्तेभ्यो जीवतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। वेतनेन जीवति, वैतनिकः। वेतन। बाहु। अर्द्धबाहु। उप। दण्ड। धनुर्दण्ड। धनुर्दण्डग्रहणं सङ्घातविगृहीतार्थम्। वेश। उपवेश। प्रेषण। भृति। जाल। उपस्थ। सुख। शय्या। शक्ति। उपनिषद्। स्फिज् (स्फक्)। पाद। उपस्थान।

वस्नक्रयविक्रयाट्ठः ॥३।३।१३६॥ तेनेति जीवतीति च वर्त्तते। वस्न-क्रयविक्रयशब्देभ्यो ठो भवति। वस्नं मूल्यम्, वस्नेन जीवति, वस्निकः। क्रयविक्रयेण जीवति क्रयविक्रयिकः। उभयथा [illegible] जीवति, क्रयिकः। विक्रयिकः।

छश्चायुधात् ॥३।३।१३७॥ आयुध्यतेऽनेनेत्यायुधम्। [illegible] (वचनं) [illegible] आयुधशब्दाद् भासमर्थाच्छश्च भवति ठश्च जीवतीत्यर्थे। आयुधेन जीवति आयुधीयः। आयुधिकः। आयुधिका स्त्री।

निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादेः ॥३।३।१४२॥ हरतीति निवृत्तम्। तेनेति वर्त्तते। अक्षद्यूतादिभ्यो भासमर्थेभ्यो निर्वृत्तेऽर्थे ठण् भवति अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम्, आक्षद्यूतिकम्। अक्षद्यूत। जङ्घाप्रहत। जङ्घाप्रहृत। पादस्वेदन। कण्टकमर्दन। शर्करामर्दन। गतागत। यातोपयात। अनुगत।

भावादिमः ॥३।३।१४३॥ तेनेति निर्वृत्त इति च वर्त्तते। भाववाचिनो मृदो भासमर्थान्निर्वृत्तेऽर्थे इम इत्ययं त्यो भवति। कुट्टेन निर्वृत्ता, कुट्टिमा भूमिः। सेकिमोऽसिः। पाकिम ओदनः।

न्त्रेः ॥३।३।१४४॥ न्यन्ताच्च इमो भवति तेनेति निर्वृत्तेऽर्थे। पूर्वेण सिद्धे पुनरारम्भो वाक्यनिवृत्त्यर्थः। अस्वपदेनार्थः प्रदर्श्यते। पाकेन निर्वृत्तम्, पक्त्रिमम्। वापेन निर्वृत्तम्, उप्त्रिमम्। करणेन निर्वृत्तम्, कृत्रिमम्। भावे "ड्वितः क्त्रिः" [२।३।७०] इति क्त्रिः।

नित्यम् ॥३।३।१४५॥ न्यन्त नित्यमिमविषय वेदितव्यम्। यथाऽन्ये भाववाचिनो निर्वृत्तार्थादन्यत्रापि प्रयुज्यन्ते। पाको वर्त्तते। सेको वर्तते, इति निर्वृत्तार्थे वाक्यं वृत्तिश्च भवति, तथा न्यन्तस्य त्रैरूप्यं मा भूत् इत्येवमर्थमिदमुच्यते। पूर्वेण वाक्यनिवृत्तिः कृताऽनेनेमविषयादन्यत्र प्रयोगो निषिध्यते।

याचिताऽपमित्यात्कण् ॥३।३।१४६॥ तेनेति निवृत्तमिति च वर्तते। याचित-अपमित्यशब्दाभ्या कण् भवति। याचितेन निर्वृत्त याचितकम्। आपमित्यकम्। "माङो व्यतिहारे" [२।४।५] इति क्त्वात्यः। "वेर्मेङः" [४।४।६६] इत्वम्। अभान्तादपि वचनात्त्यः। अपमित्य इत्यनेन निर्वृत्तम् इत्येवं विग्रहे शब्दान्तरेण करणत्व व्यज्यते।

संसृष्टे ॥३।३।१४७॥ तेनेति वर्तते। भासमार्थान्मृदः संसृष्टेऽर्थे ठण् भवति। संसृष्ट मिश्रितम्। दध्ना ससृष्टम्, दाधिकम्। मारीचिकम्। "चूर्णादिन् वक्तव्यः" [वा०]। चूर्णेन ससृष्टाः, चूर्णिनो धानाः। चूर्णिनोऽपूपाः। इह कस्मान्न भवति लवणेन सैन्धवादिना ससृष्टमिति? अनभिधानात्। कथं लवणः सूपः, लवण शाकम्, लवणा यवागूरिति? गुणवाचिनो लवणशब्दस्य तद्योगात् द्रव्ये वृत्तिरियम्। यथा कषायमुदकम्। कटुकमुदकमिति।

मुद्गादण् ॥३।३।१४८॥ मुद्गशब्दाद् भान्तादण् भवति ससृष्टेऽर्थे। ठणोऽपवादः। मौद्ग ओदनः।

व्यञ्जनैरुपसिक्ते ॥३।३।१४९॥ तेनेति वर्त्तते। समर्थविभक्त्युपादान तस्यैव व्यक्तये। व्यञ्जनवाचिभ्यो भासमर्थेभ्य उपसिक्तेऽर्थे ठण् भवति। दध्ना उपसिक्तं दाधिक भक्तम्। घार्तिकः सूपः। व्यञ्जनैरिति किम्? उदकेन उपसिक्त ओदनः। बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः।

ओजः सहोऽम्भसा वर्त्तते ॥३।३।१५०॥ तेनेति वर्त्तते। निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम्। ओजःप्रभृतिभ्यो भासमर्थेभ्यो वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। ओजसा वर्तते, औजसिकः। साहसिकः। आम्भसिक।

तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलात् ॥३।३।१५१॥ तदिति इप्समर्थेभ्यः प्रति अनु इत्येवपूर्वेभ्यः ईपलोमकूलशब्देभ्यो वर्तत इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। वृत्तिः क्रियासामान्ये वर्तमानः सकर्मकः। वर्तते आचरतीत्यर्थः। अपः प्रति, प्रतीपम्। "वीप्सेत्थंभूतलक्षणेऽभिनेप्" [१।४।११]। "भागे चानुप्रतिपरिणा" [१।४।१२] इति लक्षणेऽर्थे ईप् 'लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती [१।३।११] इति हसः। "द्व्यन्तनेरीदप." [४.३।२०२] इति ईत्वम्। भावप्रधाना चेय वृत्तिः। समुदायात्कर्मणीप्। प्रतीप वर्तते प्रातीपिकः। अनुर्यथार्थे वर्त्तमानः अप्शब्देन सह हसो भवति। आन्वीपिकः। प्रतिलोम वर्तते, प्रातिलोमिकः।

तरति ॥ ३।३।१३० ॥ तेनेति वर्तते। भासमर्थात्तरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। उडुपेन तरति औडुपिकः। काण्डप्लविक। सारप्लविकः। गौपुच्छिकः।

नौद्व्यचष्ठः ॥३।३।१३१॥ तेनेति तरतीति च वर्तते। नौशब्दाद्द्व्यचश्च मृदष्ठो भवति। ठणोऽपवादः। नावा तरति नाविकः। नाविका स्त्री। द्व्यचः, घटेन तरति घटिकः। प्लविकः। बाहुकः।

चरति ॥३।३।१३२॥ तेनेति वर्त्तते। चरतिरिह भक्षणार्थो गत्यर्थश्चेष्टः। तेनेति भासमर्थाच्चरति इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। इह तु करणे भा। शकटेन चरति, शाकटिकः। हारितकः।

पर्पादेष्ठट् ॥३।३।१३३॥ तेनेति चरतीति च वर्त्तते। पर्प इत्येवमादिभ्यष्ठट् भवति। ठणोऽपवादः। पर्पेण चरति, पर्पिकः। पर्पिकी। अश्विकः। अश्विकी। पर्प। अश्व। ऊषर। अश्वत्थ इति केचित्। रथ। जाल। न्यास। पादः पच्च। पदिकः। पदिकी।

श्वगणाद्वा ॥३।३।१३४॥ तेनेति चरतीति वर्त्तते। श्वगणशब्दाद् वा ठड्भवति। पक्षे ठण्। श्वगणेन चरति, श्वगणिकः। श्वगणिकी। श्वागणिकः। श्वागणिकी। ठणि श्वशब्दस्य द्वारादित्वादौवादेश' प्राप्तः "श्वादेरावतः" [४।२।१३] इति प्रतिषेधः।

वेतनादेर्जीवति ॥३।३।१३५॥ तेनेति वर्त्तते। वेतनादिभ्यो भान्तेभ्यो जीवतीत्यस्मिन्नर्थ यथा विहितं त्यो भवति। वेतनेन जीवति, वैतनिकः। वेतन। बाहु। अर्द्धबाहु। उस्। दण्ड। धनुर्दण्ड। धनुर्दण्डग्रहणं सङ्घातविगृहीतार्थम्। वेश। उपवेश। प्रेषण। भृति। जाल। उपस्थ। सुख। शय्य। शक्ति। उपनिषत्। ष्फिक् (स्रक्)। पाठ। उपस्थान।

वस्नक्रयविक्रयाट्ठः ॥३।३।१३६॥ तेनेति जीवतीति च वर्त्तते। वस्न-क्रयविक्रयशब्दाभ्यां ठो भवति। वस्नं मूल्यम्, वस्नेन जीवति, वस्निकः। क्रयविक्रयेण जीवति, क्रयविक्रयिकः। उभयथा वाक्याश्रयणात्क्रयविक्रयेण जीवति, क्रयिकः। विक्रयिकः।

छश्चायुधात् ॥३।३।१३७॥ आयुध्यतेऽनेनेत्यायुधम्। प्यध्यर्थ (वजर्थे) कविधान स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थमिति। आयुधशब्दाद् भासमर्थाच्छश्च भवति ठश्च जीवतीत्यर्थे। आयुधेन जीवति आयुधीयः। आयुधिकः। आयुधिका स्त्री।

हरत्युत्सङ्गादेः ॥३।३।१३८॥ तेनेति वर्त्तते। उत्सङ्ग इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यो हरतीत्यस्मिन्नर्थ ठण् भवति। उत्सङ्गेन हरति, औत्सङ्गिकः। उत्सङ्ग। उडुप। उत्तुप। उत्पुत उत्पुत)। पिटक। पिटाक।

ठड्भस्त्रादेः ॥३।३।१३९॥ भस्त्रा इत्येवमादिभ्यो भासमर्थेभ्यष्ठट् भवति। भस्त्रया हरति, भस्त्रिकः। भस्त्रिकी। भस्त्रा। भरट। भरण। शीर्षभार। असभार। असेभार।

वा विवधवीवधात् ॥३।३।१४०॥ तेनेति हरतीति वर्तते। विवधवीवधशब्दाभ्यां वा ठट् भवति, तेन मुक्ते ठण् भवति। विवधेन हरति, विवधिक। वीवधिकः। ठणि। वैवधिक। स्वदेशान्वायति'(बिभ धते)वीवधः पर्याहार इत्यर्थः। तद्योगात्पथा अपि तथोच्यते। विवधशब्दस्य पृषोदरादित्वाद्वा दीत्वम्।

अण् कुटिलिकायाः ॥३।३।१४१॥ कर्माराणामङ्गारापकर्षणी, मृद्गता (त) पलातोन्नामा दण्डः, परिव्राजकानां त्रिदण्डधारणम्। कुटिलिका। कुटिलिकाशब्दाद् भासमर्थादण् भवति हरतीत्यस्मिन्नर्थे। कुटिलिकया हरति, कौटिलिकः कर्मारः कर्षकः, परिव्राजको वा। अन्यत्राऽपि प्रयोगोऽन्वेष्यः।

---

१. शादन्वायतिर्वा—अ०, पु०।—शान्वायतिर्वि-ब०।

निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादेः ॥३।३।१४२॥ हरतीति निवृत्तम् । तेनेति वर्त्तते । अक्षद्यूतादिभ्यो भासमर्थेभ्यो निर्वृत्तेऽर्थे ठण् भवति अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम्, आक्षद्यूतिकम् । अक्षद्यूत । जङ्घाप्रहत । जङ्घाप्रहृत । पादस्वेदन । कण्टकमर्दन । शर्करामर्दन । गतागत । यातोपयात । अनुगत ।

भावादिमः ॥३।३।१४३॥ तेनेति निर्वृत्त इति च वर्त्तते । भाववाचिनो मृदो भासमर्थान्निर्वृत्तेऽर्थे इम इत्ययं त्यो भवति । कुट्टेन निर्वृत्ता, कुट्टिमा भूमिः । सेकिमोऽसिः । पाकिम ओदनः ।

त्रेः ॥३।३।१४४॥ त्र्यन्ताच्च इमो भवति तेनेति निर्वृत्तेऽर्थे । पूर्वेण सिद्धे पुनरारम्भो वाक्यनिवृत्त्यर्थः । अस्वपदेनार्थः प्रदर्श्यते । पाकेन निर्वृत्तम्, पक्त्रिमम् । वापेन निर्वृत्तम्, उप्त्रिमम् । करणेन निर्वृत्तम्, कृत्रिमम् । भावे "ड्वितः क्त्रिः" [२।३।७०] इति क्त्रिः ।

नित्यम् ॥ ३।३।१४५ ॥ त्र्यन्त नित्यमिमविषय वेदितव्यम् । यथाऽन्ये भाववाचिनो निर्वृत्तार्थादन्यत्रापि प्रयुज्यन्ते । पाको वर्त्तते । सेको वर्तते, इति निर्वृत्तार्थे वाक्यं वृत्तिश्च भवति, तथा त्र्यन्तस्य त्रैरूप्यं मा भूत् इत्येवमर्थमिदमुच्यते । पूर्वेण वाक्यनिवृत्तिः कृताऽनेनेमविषयादन्यत्र प्रयोगो निषिध्यते ।

याचिताऽपमित्यात्कण् ॥३।३।१४६॥ तेनेति निवृत्तमिति च वर्तते । याचित-अपमित्यशब्दाभ्या कण् भवति । याचितेन निर्वृत्त याचितकम् । आपमित्यकम् । "माङो व्यतिहारे" [२।४।५] इति क्त्वात्यः । "वेर्मेङः" [४।४।६६] इत्वम् । अभान्तादपि वचनात्त्यः । अपमित्य इत्यनेन निर्वृत्तम् इत्येवं विग्रहे शब्दान्तरेण करणत्व व्यज्यते ।

संसृष्टे ॥३।३।१४७॥ तेनेति वर्तते । भासमार्थान्मृदः संसृष्टेऽर्थे ठण् भवति । संसृष्ट मिश्रितम् । दध्ना ससृष्टम्, दाधिकम् । मारीचिकम् । "चूर्णादिन् वक्तव्यः" [वा०] । चूर्णेन ससृष्टाः, चूर्णिनो धानाः । चूर्णिनोऽपूपाः । इह कस्मान्न भवति लवणेन सैन्धवादिना ससृष्टमिति ? अनभिधानात् । कथं लवणः सूपः, लवणं शाकम्, लवणा यवागूरिति ? गुणवाचिनो लवणशब्दस्य तद्योगात् द्रव्ये वृत्तिरियम् । यथा कषायमुदकम् । कटुकमुदकमिति ।

मुद्गादण् ॥३।३।१४८॥ मुद्गशब्दाद् भान्तादण् भवति ससृष्टेऽर्थे । ठणोऽपवादः । मौद्ग ओदनः ।

व्यञ्जनैरुपसिक्ते ॥३।३।१४९॥ तेनेति वर्त्तते । समर्थविभक्त्युपादान तस्यैव व्यक्त्यै । व्यञ्जनवाचिभ्यो भासमर्थेभ्य उपसिक्तेऽर्थे ठण् भवति । दध्ना उपसिक्तं दाधिक भक्तम् । घार्तिकः सूपः । व्यञ्जनैरिति किम् ? उदकेन उपसिक्त ओदनः । बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः ।

ओजः सहोऽम्भसा वर्त्तते ॥३।३।१५०॥ तेनेति वर्त्तते । निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम् । ओजःप्रभृतिभ्यो भासमर्थेभ्यो वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । ओजसा वर्तते, औजसिकः । साहसिकः । आम्भसिक ।

तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलात् ॥३।३।१५१॥ तदिति इप्समर्थेभ्यः प्रति अनु इत्येवपूर्वेभ्यः ईपलोमकूलशब्देभ्यो वर्तत इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । वृत्तिः क्रियासामान्ये वर्तमानः सकर्मकः । वर्तते आचरतीत्यर्थः । अपः प्रति, प्रतीपम् । "वीप्स्येत्थंभूतलक्षणेऽभिनेप्" [१।३।११] । "भागे चानुप्रतिपरिणा" [१।३।१२] इति लक्षणेऽर्थे ईप् 'लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती [१।३।११] इति हसः । "द्व्यन्तर्गेरीदप." [४.३।२०२] इति ईत्वम् । भावप्रधाना चेय वृत्तिः । समुदायात्कर्मणीप् । प्रतीप वर्तते प्रातीपिक । अनुर्यथार्थे वर्तमानः अप्शब्देन सह हसो भवति । आन्वीपिकः । प्रतिलोम वर्तते, प्रातिलोमिकः ।

आनुलोमिकः । हसे कृते "प्रत्यन्ववात्सामलोम्न" [४।२।७१] इति अ. सान्तः । प्रातिकूलिकः आनुकूलिकः । अथवा प्रतिगता आपोऽस्मिन्निति प्रतीपम् इति । एव सर्वत्र वसः कर्तव्यः ।

परिमुखम् ॥३।३।१५२॥ तदिति वर्तते । परिमुखशब्दात् इप्समर्थाद् वर्तते इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । मुखात्परि परिमुखम् । "वर्जनेऽपपरिभ्याम्" [१।४।२१] इति का । "पर्यपाद्बहिरञ्चवः कया [१।३।१०] इति हसः । परिमुखं वर्तते पारिमुखिकश्चौरः । सर्वतो मुखं वा परिमुखम् । प्रादिलक्षणः षः । पारिमुखिकः । "परिपार्श्वाच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] । पारिपार्श्विकः ।

प्रयच्छति गर्ह्यम् ॥३।३।१५३॥ तदिति वर्तते । तदिति इप्समर्थात्प्रयच्छति इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति यत्तदिप्समर्थं चेत्तद् भवति । द्विगुणं प्रयच्छति, द्वैगुणिकः । त्रैगुणिकः । "(वृ) द्धेर्वृधुषि भावो वक्तव्यः" [वा०] । वृद्धिं प्रयच्छति वार्धुषिकः । यदि प्रकृत्यन्तरमस्ति, अव्यविकन्यायेन तस्मादेव त्यः । गर्ह्यमिति किम् ? द्विगुणं प्रयच्छत्यधमर्णः ।

कुसीददशैकादशाट्ठट्ठौ ॥३।३।१५४॥ तत्प्रयच्छति गर्ह्यम् इति च वर्तते । कुसीद-दशैकादश शब्दाभ्यां प्रयच्छतीत्यस्मिन्नर्थे यथासंख्यं ठट् ठ इत्येतौ त्यौ भवतः ठणोऽपवादौ । कुसीदम् ऋणं वृद्धिर्वा । कुसीदं प्रयच्छति, कुसीदिका । कुसीदिकी । एकादशार्था दश दशैकादश निपातनात्सः । तान् प्रयच्छति, दशैकादशिकी । दशैकादशिका ।

रक्षत्युञ्छति ॥३।३।१५५॥ तदिति इप्समर्थाद् रक्षति उञ्छति इत्येतयोरर्थयोष्ठण् भवति । समाजं रक्षति, सामाजिकः । नागरिकः । बदराण्युञ्छति बादरिकः । नैवारिकः ।

शब्ददर्दुरं करोति ॥३।३।१५६॥ इप्समर्थाभ्यां शब्ददर्दुरशब्दाभ्यां करोत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । शब्दं करोति, शाब्दिकः । वैयाकरण इत्यर्थः । दार्दुरिकः कुम्भकारः । तदित्यधिकारे पुनः समर्थविभक्त्युपादानं लौकिकप्रयोगाऽनुसरणार्थम् । तेनेह न भवति । शब्दं करोति वायसः । "अस्मिन्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०] माशब्द इत्याह माशब्दिकः । नैत्यशब्दिकः । कार्यशब्दिकः । वाक्यादिद विधानम् । "प्रभूतादिभ्यश्च" [वा०] तदाहेति वर्तते । प्रभूतमाह प्राभूतिकः । पार्याप्तिकः । "पृच्छतौ सुस्नातादिभ्य इप्समर्थेभ्यः" [वा०] । सुस्नातं पृच्छति, सौस्नातिकः । सौखरात्रिकः । सौखशायनिकः । "गच्छतौ परदारादिभ्य इप्समर्थेभ्यः" [वा०] । परदारान् गच्छति, पारदारिकः । गौरुतल्पिकः ।

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ॥३।३।१५७॥ तदिति इप्समर्थेभ्यः पक्षिमत्स्यमृगेभ्यो हन्तीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । स्वरूपस्य पर्यायाणां तद्विशेषाणाञ्च ग्रहणम् । पक्षिणो हन्ति, पाक्षिकः । नात्स्यस्याभिधानमिति । पर्यायशब्दस्य शकुनेरेव ग्रहणम् । शाकुनिकः । तैत्तिरिकः । मायूरिकः । मत्स्य, मात्स्यिकः । पर्यायस्य मीनशब्दस्यैव अनिमिषादिषु न भवति । शाफरिकः । रौहितिकः । मृग, मार्गिकः । हारिणिकः । सौकरिकः । सारङ्गिकः ।

परिपन्थं तिष्ठति ॥३।३।१५८॥ परिपन्थशब्दादिप्समर्थात् तिष्ठतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति "कालभावाऽध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्" [वा०] इति कर्मभावादिप् । परिपन्थं तिष्ठति पारिपन्थिकश्चौरः । पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठतीत्यर्थः । "हन्तेश्चेति वक्तव्यम्" [वा०] । परिपन्थं हन्ति, पारिपन्थिकः । परिपथपर्यायः परिपन्थशब्दोऽस्ति तस्यायं प्रयोगः ।

माथ्युपदव्यनुपदाक्रन्दं धावति ॥३।३।१५९॥ तदिति वर्तते । माथ्यु पदवी अनुपद आक्रन्द इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो धावतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति । माथशब्दो मार्गपर्यायः । दण्डमाथं धावति, दाण्ड-

माथिकः। मौलमाथिकः[१]। पदस्य वी पदवी। "वेञो ङित्" इति इकारो ङित्। "सर्वतोऽक्त्यर्थादित्येके" [३।१।२१ ग० सू०] इति ङीविधिः। ता धावति, पादविकः। पदस्य पश्चाद्धावतीति, अनुपदिकः। आक्रन्दिकः।

पदघोग्र्ह्णाति ॥३।३।१६०॥ तदिति वर्तते। पदघुशब्दाद् इप्समर्थाद् गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। आदिपद गृह्णाति, आदिपदिकः। पौर्वपदिकः। औत्तरपदिकः।

प्रतिकण्ठललामार्थात् ॥३।३।१६१॥ तदिति गृह्णातीति च वर्तते। प्रतिकण्ठ ललाम अर्थ इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो गृह्णातीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। कण्ठ प्रति, प्रतिकण्ठम्। "लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती" [१।३।११] इति हसः। प्रतिकण्ठ गृह्णाति, प्रातिकण्ठिक। प्रतिगतः कण्ठः, प्रतिकण्ठः इत्यत्राभिधानं नास्ति। "पुरुषध्वजशृङ्गेषु हविभूषणलक्ष्मसु। वामश्रेष्ठावनीन्द्रेषु ललाम नवसु स्मृतम्॥" लालामिकः। आर्थिकः।

धर्मं चरति ॥३।३।१६२॥ धर्मशब्दादिप्समर्थाच्चरतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। तदिति वर्तमाने पुनः समर्थविभक्त्युपादान किम्? आसेवाया यथा स्यात्। मुहुर्मुहुर्धर्मं चरति, धार्मिक। "अधर्माच्चेति वक्तव्यम्" [वा०]। आधर्मिक।

प्रतिपथमेति ठश्च ॥३।३।१६३॥ प्रतिपथशब्दादिप्समर्थादेतीत्यस्मिन्नर्थे ठो भवति ठण् च। प्रतिपथमेति, प्रतिपथिक। प्रातिपथिकः।

समवायात्समवैति ॥३।३।१६४॥ समवायवाचिभ्य इप्समर्थेभ्यः समवैतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। बहुलनिर्देशात्तस्य तत्पर्यायाणा च ग्रहणम्। समवाय समवैति, सामवायिकः। सामूहिकः। सामाजिकः। साण्डिक।

परिषदो ण्यः ॥३।३।१६५॥ तदिति वर्तते। परिषच्छब्दादिप्समर्थात् समवैतीत्यस्मिन्नर्थे ण्यो भवति। ठणोऽपवादः। परिषदं समवैति, पारिषद्यः।

सेनाया वा ॥३।३।१६६॥ सेनाशब्दादिप्समर्थाद्वा ण्यो भवति समवैतीत्यस्मिन्नर्थे। पक्षे ठण् भवति। सेना समवैति सैन्यः। सैनिकः।

लालाटिककौक्कुटिकौ ॥३।३।१६७॥ लालाटिककौक्कुटिकशब्दौ निपात्येते। ललाटकुक्कुटीशब्दाभ्यामिप्समर्थाभ्या पश्यतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् निपात्यते। ललाट पश्यति, लालाटिकः सेवकः। कुक्कुटीशब्देन कुक्कुटीपातमात्रो देशो लक्ष्यते। कुक्कुटीं पश्यति, कौक्कुटिको भिक्षुः। पुरो युगमात्रदेशप्रेक्षीत्यर्थः।

तस्य धर्म्यम् ॥३।३।१६८॥ धर्म्य न्याय्यम्। तस्येति तासमर्थाद् धर्म्यमित्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। शुल्कशालाया धर्म्यम्, शौल्कशालिकम्। आतरिकम्। आपणिकम्।

ऋन्महिष्यादेरण् ॥३।३।१६९॥ तस्य धर्म्यमिति वर्तते। ऋकारान्तान्मृदः महिषी इत्येवमादिभ्यश्चाण् भवति। ठणोऽपवादः। मातुर्धर्म्यं मात्रम्। पैत्रम्। हौत्रम्। शास्त्रम्। महिष्यादिभ्यः। महिष्या धर्म्यम्, माहिषम्। महिषी। प्रजावती। केषाञ्चित् प्रजापतीति पाठः। प्रलेपिका। विलेपिका। अनुलेपिका। वर्णकपेषिका। 'भस्य हृत्यडे" [४।३।१५७ वा०] इति पुंवद्भावः प्राप्तः "न वृद्धत्वकोडः" [४।३।१४६] इति प्रतिषिध्यते। "विशसितुरिट ख च" [वा०]। विशसितुर्धर्म्यं वैशस्त्रम्। "विभाजयितुर्णिलश्च" [वा०]। विभाजयितुर्धर्म्यं वैभाजित्रम्।

---

१ सौ(शौ)ल्कमाथिक प०। सौ(शौ)ल्वमाथिकः अ०।

अवक्रयः ॥ ३।३।१७० ॥ तस्येति वर्तते। तस्येति तासमर्थान्मृदोऽवक्रय इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। अवक्रीयतेऽनेनेत्यवक्रयः। अन्याय्यमपि स्वेच्छया परिकल्पितपरिमाणम्। द्रव्यमेकत्र पिण्डितमित्यर्थः। शुल्कशालायामवक्रयः शौल्कशालिकः। आतरिकः। आपणिकः। गौल्मिकः।

तदस्य पण्यम् ॥३।३।१७१॥ तदिति वासमर्थात् पण्यविशिष्टादस्येति तार्थे ठण् भवति। अपूपाः पण्यमस्य, आपूपिकः। शाष्कुलिकः।

किसरादेष्ठट् ॥३।३।१७२॥ तदस्य पण्यमिति वर्तते। किसर इत्येवमादिभ्यष्ठट् भवति। ठणोऽपवादः। किसरं पण्यमस्य, किसरिको गन्धिकः। किसर। नलद। स्थगर। तगर। उसी(शी)र। गुग्गुलु। हरिद्रा। हरिद्रुपर्णी।

शलालुनो वा ॥३।३।१७३॥ तदस्य पण्यमिति वर्तते। शलालुशब्दाद्वा ठट् भवति। पक्षे ठण् भवति। शलालु पण्यमस्य, शलालुकः। शालालुकः।

शिल्पम् ॥३।३।१७४॥ तदस्येति वर्तते। शिल्प क्रियाविशेषे नैपुणम्। तदिति वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति, यत्तद्वानिर्दिष्टं शिल्पं चेत्तद् भवति। (मृदङ्गवादन शिल्पमस्य, मार्दङ्गिक।) मृदङ्गवादने मृदङ्गशब्द उपचर्य्यते, तस्मादेव त्यः। एवं पाणविकः। वैणविकः।

मड्डुकझर्झराद् वाऽण् ॥३।३।१७५॥ तदस्य शिल्पमिति वर्तते। मड्डुकझर्झरशब्दाभ्या वाऽण् भवति। अणाऽनुक्ते ठण् भवति। मड्डुकवादनं शिल्पमस्य, माड्डुकः। माड्डुकिकः। झार्झरः। झार्झरिक।

प्रहरणम् ॥३।३।१७६॥ तदस्येति वर्तते। वासमर्थात्प्रहरणोपाधिविशिष्टान्मृदः अस्येति तार्थे ठण् भवति। असिः प्रहरणमस्य, आसिकः। त्सारुकः। धानुष्कः।

शक्तियष्टेष्टीकण् ॥३।३।१७७॥ शक्तियष्टिशब्दाभ्या टीकण भवति तदस्य प्रहरणमित्यस्मिन्विषये। ठणोऽपवाद। शक्तिः प्रहरणमस्य, शाक्तीकः। याष्टीकः। इकारोच्चारणसामर्थ्यात् "यस्य ङ्यां च" [४।४।१३६] इति ख न भविष्यति (इति) दीर्घोच्चारण किम्? अन्यत्रापि यथा स्यात्। अन्त' (अम्भः) प्रहरणमस्य, आन्तसीकः (आम्भसीकः)। इष प्रहरणमस्य ऐषीकः। बहिर्भवः बाहीक इति।

नास्तिकास्तिकदैष्टिकाः ॥३।३।१७८॥ नास्तिकादयः शब्दा निपात्यन्ते। नास्ति अस्ति दिष्ट इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो मतिविशिष्टेभ्योऽस्येति तार्थे ठण् निपात्यते। परलोको नास्तीति मतिरस्य, नास्तिकः। परलोकोऽस्तीति मतिरस्य, आस्तिकः। दिष्ट दैवत तत्प्रमाणमस्य, दैष्टिकः। निपातनाद्वाक्यादपि त्यविधानम्।

शीलम् ॥३।३।१७९॥ तदस्येति वर्तते। वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति वासमर्थ शील चेद् भवति। अपूपभक्षणं शीलमस्य, आपूपिकः। तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति अपूपशब्दात्त्यः। एवं शाष्कुलिकः। मौदकिकः।

छत्रादेर्णः ॥३।३।१८०॥ तस्य शीलमिति वर्तते। छत्र इत्येवमादिभ्यो णो भवति। ठणोऽपवाद। छत्रमावरण तद्वद्गुरुकार्येष्ववहितत्वम्। छत्र शीलमस्य, छात्रः। शिष्य शीलमस्य[1] शैष्यः। छत्र। शिष्य[2]। मुद्रा[3]। भिक्षा। विनिद्रा। चुरा। उदस्थान। कृषि। कर्मन्। तपस्। पुरोड। आस्था। सस्था। अवस्था। विरुचा। सत्य। अनृत। विसिक (शिविका)।

---

1. शिक्ष (क्षा) शीलमस्य जैन. अ०, पृ०। २ शिक्ष (क्षा) अ०, पृ०। ३. मुक्षा (बुभुक्षा) अ०, पृ०।

कर्माध्ययने वृत्तम् ॥३।३।१८१॥ तदस्येति वर्तते। तदिति वासमर्थादस्येति तार्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं कर्म चेद्वृत्तमध्ययनविषयं तद्भवति। एकमन्यदध्ययने कर्म वृत्तमस्य, ऐकान्यिकः। किम्पुनस्तदेकमन्यदध्ययने कर्म? अपपाठः। एवं द्वैयन्यिकः। त्रैयन्यिकः। सर्वत्र हृदयं रसः। ततष्ठण्।

बह्वजादेष्टः ॥३।३।१८२॥ बह्वच् पदमादिर्यस्य तस्मान्मृदष्ठो भवति। ठणोऽपवादः। तदस्य कर्माध्ययने वृत्तमिति वर्तते। द्वादश अन्यानि अपपाठलक्षणानि अध्ययने कर्माणि वृत्तान्यस्य, द्वादशान्यिकः।

हितमस्मै भक्ष्याः (क्ष्याः) ॥३।३।१८३॥ तदिति वर्तते। तदिति वासमर्थादस्मै इत्येतदर्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं हितं भक्ष्याश्चेत्तद् भवन्ति। अपूपभक्षणं हितमस्मै, आपूपिकः। शाष्कुलिकः। इदमेव ज्ञापकं हितयोगेऽप् भवति।

तद्दीयते नियुक्तम् ॥३।३।१८४॥ अस्मै इति वर्तते। तदिति वासमर्थादस्मै इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति यत्तद् वासमर्थं तच्चेद्दीयते। नियुक्तं नियमेन युक्तं नियुक्तमित्यर्थः। अग्रभोजनमस्मै दीयते नियुक्तम्, आग्रभोजनिकः। आपूपिकः। श्राणाऽस्मै दीयते नियुक्तम्, श्राणिकः। शाणो(कौ)दनिकः। "ओदनशब्दाद् वक्तव्यः" [वा०] ओदनिकः। ओदनिकी।

भक्ताद् वाऽण् ॥३।३।१८५॥ तदस्मै दीयते नियुक्तमिति वर्तते। भक्तशब्दाद् वाऽण् भवति। पक्षे ठण् भवति। भक्तमस्मै दीयते नियुक्तम्, भाक्तः। भाक्तिकः।

तत्र नियुक्तः ॥३।३।१८६॥ अधिकृतो नियुक्तः। तत्रेतीप्समर्थाद् नियुक्त इत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। शुल्कशालायां नियुक्तः, शौल्कशालिकः। आक्षपटलिकः। दौवारिकः।

ठोऽगारान्तात् ॥३।३।१८७॥ तत्र नियुक्त इति वर्तते। अगारान्तान्मृदष्ठो भवति। ठणोऽपवादः। भाण्डागारे नियुक्तः, भाण्डागारिकः। कोष्ठागारे नियुक्तः, कोष्ठागारिकः।

अध्यायिन्यदेशकालात् ॥३।३।१८८॥ अध्येतुं शीलमस्येति, अध्यायी। ईप्समर्थाद्देशवाचिनोऽकालवाचिनश्च मृदोऽध्यायिन्यभिधेये ठण् भवति। अध्यायिनीत्युक्तम्, तत्सम्बन्धात् अध्ययनस्य देशकालौ पर्युदस्येते। अशुचावधीते, आशुचिकः। सान्ध्यावेलिकः। आनध्यायिकः। अदेशकालाविति किम्? चैत्यालयेऽधीते। पूर्वाह्णेऽधीते।

कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ॥३।३।१८९॥ व्यवहरति, अनुतिष्ठति। तत्रेत्यनुवृत्तेर्निर्देशाद् वासमर्थविभक्त्युपादानम्। कठिनशब्दान्तान्मृदः प्रस्तार-संस्थानशब्दाभ्यां च व्यवहरतीत्यस्मिन्नर्थं ठण् भवति। वंशकठिने व्यवहरति, वांशकठिनिकः। वार्द्धकठिनिकः। प्रास्तारिकः। सांस्थानिकः। अन्तग्रहणं मध्ये कृतमपि केचिदुत्तरयोः सम्बध्नन्ति।

निकटावसथे वसति ॥३।३।१९०॥ तत्रेति वर्तते। निकट-अवसथशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां वसतीत्यस्मिन्नर्थे ठण् भवति। निकटमविदूरम्। निकटे वसति, नैकटिकः। आवसथिकः।

तद् वहति रथयुगप्रसङ्गाद्यः ॥३।३।१९१॥ दम्यानां स्कन्धकाष्ठं प्रसङ्गः। तदितीप्समर्थेभ्यो रथयुग-प्रसङ्गशब्देभ्यो वहतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति। य इत्ययं चाऽधिकार आपादपरिसमाप्तेर्वेदितव्यः।

---

१ कस्यानुरोधात् "ओदनशब्दाट्ठञ् वक्तव्य." इति प्रतिभाति।

रथं वहति, रथ्यः। युग्यः। प्रासङ्ग्यः। इहानभिधानान्न भवति। कालसंज्ञिनं युगं वहति राजा। युगं वहति मनुष्यः। "शकटादण् वक्तव्यः" [वा०] शकटं वहति शाकटो गौः। "हलसीराट्टण् वक्तव्यः" [वा०] हलं वहति हालिकः। सैरिकः। नेदं वक्तव्यम्, शकटस्य वोढा हलस्य वोढा इत्येवं विग्रहे शैषिकेणाणा "हलसीराट्टण्" [३।३।४२] इति ठणा च सिद्धम्। तर्हि रथग्रहणमप्यनर्थकम्। "रथाद्यः" [३।३।८६] इत्यनेन सिद्धत्वात्। तदन्तार्थमिह रथग्रहणम्। द्वौ रथौ वहति, द्विरथः। अत्र प्राग्द्रवीयस्य "रस्योवनपत्ये" [३।१।७४] इत्युप् प्रसज्यते।

धुरो ढण् वा ॥३।३।१९२॥ धूःशब्दाद् वहतीत्यस्मिन्नर्थे ढण् भवति यश्च। प्रकृतिविशेषाड्ढणा विधीयमानेन यस्य बाधने प्राप्तेऽनेन समुच्चयः क्रियते। न त्वनुकर्षः। उत्तरत्राऽप्यनुवृत्तेः। धुरं वहति, धौरेयः। धुर्य्यः।

सर्वैकाभ्यां खः ॥३।३।१९३॥ तद्वहतीति वर्तते। सर्व एकशब्दाभ्यां परस्या धुरः खो भवति। सर्वा धूः, सर्वधुरा। "पूर्वकालैकसर्व" [१।३।४४] इत्यादिना षसः। सर्वधुरां वहति, सर्वधुरीणः। एकधुरीणः। "एकधुराशब्दात्खस्योस् वक्तव्यः" [वा०] एकधुरं वहति, एकधुरः। न वक्तव्यः। एकस्या धुरो वोढेभ्या (त्या) गतस्याणः "रस्योवनपत्ये" [३।१।७४] इत्युपा सिद्धम्। इष्टसङ्ग्रहार्थश्चकारोऽनुकर्यः। उत्तरधुरीणः।

विध्यत्यकरणेन ॥३।३।१९४॥ तदिति वर्त्तते। इप्समर्थान्मृदः विध्यतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति न चेत्करणेन विध्यति तदिति। पादं विध्यति पद्याः शर्कराः। "पद्ये" [४।३।१६४] इति पादस्य पदादेशः। ऊरव्याः कण्टकाः। अकरणेनेति किम्? पादं विध्यति धनुषा। प्रतीयमानेऽपि धनुषः करणत्वेनानभिधानान्न भवति। शत्रुं विध्यति। चोरं विध्यति राजा।

जन्यधेनुष्यान्नवश्यवन्यगण्यपद्यमूल्यहृद्यसतीर्थ्यगार्हपत्याः ॥३।३।१९५॥ जन्यादयः शब्दा निपात्यन्ते। जनी वधूः, तां वहतीत्यत्रार्थे यः। जन्याः परिणेतृसहायानामियं संज्ञा। "धेनुष्येति संज्ञायां धेनुशब्दाद्यः पुक्चागमः" प्रकृष्टा धेनुर्धेनुष्या। या गोपालाय दोहार्थं दीयते। अन्यत्र धेनुतरेति भवति। अन्नं लब्धेत्यस्मिन्वाक्ये अन्नाण्णो निपात्यते। आन्नः। वशं गत इत्यस्मिन्वाक्ये वशशब्दाद्यः। वश्यः। विनेय इत्यर्थः। धनगणशब्दाभ्यामिवन्ताभ्यां लब्धरि यः। वनं लब्धा वन्यः। गणं लब्धा गण्यः। पदमस्मिन् दृश्यते अस्मिन्वाक्ये पादशब्दाद्यः। पद्यं हिमम्। पद्यः कर्दमः। पदमस्मिन्द्रष्टुं शक्यमित्यर्थः। 'मूलमस्यावर्हि' इत्यस्मिन्वाक्ये मूलशब्दाद्यः। मूल्या मुद्गाः। मूल्या माषाः। मूलोत्पाटेन सङ्ग्राह्या इत्यर्थः। अथवा मूलेन समं मूल्यं वस्त्रम्। मूलेनानम्यं वा मूल्यम्। हृदयस्य प्रियं इत्यस्मिन् वाक्ये हृदयशब्दाद्यः। "हृदयस्य हृल्लेखयाण्लासेषु" [४।३।१६१] इति हृदादेशः। हृद्यो देशः। हृद्यमन्नम्। हृदयस्य बन्धनमृषिः हृद्यः। वशीकरणभृत इत्यर्थः। समाने तीर्थे वसतीत्यस्मिन्वाक्ये समानतीर्थशब्दाद्यः। समानस्य च सभावः। सतीर्थ्यः। गृहपतिना संयुक्त इत्यस्मिन्वाक्ये गृहपतिशब्दात् संज्ञायां ज्यो निपात्यते। गार्हपत्योऽग्निः।

वयस्तुलाभ्यां सम्मिते ॥३।३।१९६॥ निर्देशादेव भाया उपादानम्। वयस्तुला इत्येताभ्यां भा समर्थाभ्यां सम्मितेऽर्थे यो भवति। वयसा सम्मितः, वयस्यः। संज्ञायामभिधानम्। अन्यत्र वयसा सम्मितः शत्रुरित्येव। तुलया सम्मितं तुल्यम्। सदृशमित्यर्थः।

नौधर्मविषसीताम्यस्तार्यप्राप्तवध्यसमितेषु ॥३।३।१९७॥ तार्यसमादिभासमर्थाभ्यामिति [illegible] नावादिभ्यश्चतुर्भ्यो भासमर्थेभ्यो यथासङ्ख्यं तार्यादिषु यो भवति। नावा तार्यं नाव्यमुदकम्। "यि रे" [४।३।६७] इत्यादेशः। प्राक्तनेन धर्मेण प्राप्तं धर्म्यम्। वदरार्या तु धर्मादनपेतं धर्म्यं न्याय्यमुक्तो।

विषेण वध्य, विष्यः। वध इति प्रकृत्यन्तरम्। वधमर्हति, वध्यः। सीतया समितं सङ्गतं सीत्यं क्षेत्रम्। "रथसीताहलेभ्यो यविधौ तदन्तविधिरपीष्यते" [वा०] परमसीत्यम्। द्विसीत्यम्।

धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ॥३।३।१९८॥ निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम्। धर्म पथिन् अर्थ न्याय इत्येतेभ्यः काऽसमर्थेभ्योऽनपेतेऽर्थे यो भवति। धर्मादनपेतं धर्म्यम्। पथ्यम्। अर्थ्यम्। न्याय्यम्।

छन्दसा निर्मिते ॥३।३।१९९॥ छन्द इच्छा। निर्मितमुत्पादितम्। निर्देशादेव भासमर्थाच्छन्दःशब्दात् निर्मितेऽर्थे यो भवति। छन्दसा निर्मितः, छन्दस्यः।

उरसोऽण् च ॥३।३।२००॥ निर्देशाद् भाया उपादानम्। उरःशब्दाद् भासमर्थान्निर्मितेऽर्थेऽण् भवति यश्च। उरसा निर्मितः, औरसः। उरस्यः।

मदजनहलात्करणजल्पकर्षेषु ॥३।३।२०१॥ मद जन हल इत्येतेभ्यो यथासख्यं करण जल्प कर्ष इत्येतेष्वर्थेषु यो भवति। करणादयः शब्दा भावे करणे वा व्युत्पादयितव्याः। तेन सामर्थ्यात्त्योत्पत्तिः। मदस्य करणं मद्यम्। मदस्थाने केचिन्मतशब्दं पठन्ति, तेषां मत्यमिति भवति। जनस्य जल्पः, जन्यः। हलस्य कर्षः, हल्यः। द्विहल्यः। परमहल्यः।

तत्र साधुः ॥३।३।२०२॥ तत्रेतीप्समर्थात्साधुरित्येतस्मिन्नर्थे यो भवति। सामनि साधुः, सामन्यः। कर्मण्यः। सभ्यः। शरण्यः। साधुरिह योग्यो निपुणो वा न तु हितः, तत्र हि प्राक्छणीय एव त्यः।

प्रतिजनादेः खञ् ॥३।३।२०३॥ तत्र साधुरिह वर्तते। प्रतिजन इत्येवमादिभ्यः खञ् भवति। यस्याऽपवादः। जनं जनं प्रति प्रतिजनम्। यथार्थे हसः। प्रतिजने साधुः, प्रातिजनीनः। प्रतिजन। इदंयुग। संयुग। परयुग। परकुल। परस्यकुल। अमुष्यकुल। निपातनात्ताया अनुप्। सर्वजन। विश्वजन। पञ्चजन। महाजन। योऽत्र हितार्थः साध्वर्थः, तत्र वचनात्प्राक्छणीयस्य बाधा।

भक्ताण्णः ॥३।३।२०४॥ तत्र साधुरिह वर्तते। भक्तशब्दाण्णो भवति। यस्याऽपवादः। भक्ते साधुर्भाक्तस्तन्दुलः।

परिषदो ण्यः ॥३।३।२०५॥ तत्र साधुरिति वर्तते। परिषच्छब्दाण्ण्यो भवति। यस्याऽपवादः। परिषदि साधुः, पारिषद्यः। णोऽप्यत्राऽनुवृत्तिरिष्यते। परिषदि साधुः, पारिषदः।

कथादेष्ठण् ॥३।३।२०६॥ तत्र साधुरिति[1] वर्तते। कथा इत्येवमादिभ्यष्ठण् भवति। यस्याऽपवादः। कथायां साधुः, काथिकः। कथा। विकथा। विश्वकथा। सकथा। वितन्द्रा। कुष्टिदा (कुष्टचित्)। जनवाद। जनेवाद। वित्र। वृत्ति। सङ्ग्रह। गण। गुण। आयुर्वेद। गुड। कुल्यास (कुल्माष)। सक्तु। अपूप। मांसौदन। इक्षु। वेणु। सङ्ग्राम। सघात। प्रवास। निवास। उपवास।

पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् ॥३।३।२०७॥ तत्र साधुरिति वर्तते। पथ्यादिभ्यो ढञ् भवति। यस्यापवादः। पथि साधु पाथेयम्। आतिथेयम्। वासतेयम्। स्वापतेयम्।

समानोदरे शयितः ॥३।३।२०८॥ तत्रेति वर्तते। निर्देशाद् वा (ईप्समर्थात्) समानोदरशब्दात् शयित इत्येतस्मिन्नर्थे यो भवति। समानोदर्यः। सोदर्यः। "वोदर्ये" [४।३।१३४] इति समानस्य सादेशः। कथं तर्हि सोदरशब्दस्य सिद्धिः? "समानस्य" [४।३।१३२] इति योगविभागात्।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याऽध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

---

[1] -रिट ब-अ०, पु०।

प्राक्ठणश्छः ॥३।४।१॥ वक्ष्यन्ति (ति) "आर्हाट्ठण्" [३।४।१७] प्रागेतस्माट्ठण् संशब्दनाद्येऽर्था वक्ष्यते (न्ते) तेषु छोऽधिकृतो वेदितव्यः। वक्ष्यति "तस्मै हितम्" [३।४।४]। वत्सेभ्यो हितः, वत्सीयः। अवत्सीयः। करभीयः। प्राग्वचनं किम्? अर्थविशेषेऽपवादेन निवर्त्त (र्ति) ते पुनरर्थान्तर उपस्थान यथा स्यात्। नन्ववि(धि)कारादेवापवादविषयेऽप्युपस्थान प्राप्नोति। नैतदेवम्। तत्र तत्र वाग्रहणाच्चकारकरणाच्चापवादविषयपरिहारो गम्यते।

उगवादेर्यः ॥३।४।२॥ प्राक्ठण इति वर्तते। उवर्णान्तान्मृदो गवादिभ्यश्च यो भवति प्राक्ठणोऽर्थेषु। छाऽपवादः। शङ्कव्य दारु। परशव्यमयः। पिचव्यः कार्पासः। गवादिभ्यः। गव्यम्। हविष्यम्। गो। हविष्। इह हविरिति स्वरूपग्रहणम्। अष्टका। बर्हिष्। युग। मेधा। स्रुव् (स्रुक्)। नाभि नभ वा। नभ्योऽक्षः। नभ्यमञ्जनम्। "सु (शु) नोजिर्वाचदीत्वम्" [वा०] सू(शू)न्यम्। सु (शु) न्यम्। ऊधशो नश्च। ऊधन्यः। कूप। अक्षर। दर। खर। दवद। स्व (स्ख) द। विष।

हविरपूपादेर्वा ॥३।४।३॥ हविःशब्दो गवादिषु पठितः। तद्विशेषाणामिह ग्रहणम्। हविर्विशेषवाचिभ्योऽपूपादिभ्यश्च प्राक्ठणोऽर्थेषु वा यो भवति। नित्ये ठे प्राप्ते विभाषेयम्। आमीक्ष्यम्। आमीक्षीय दधि। पुरोडाश्याः। पुरोडाशीयास्तन्दुलाः। अपूपादिभ्यः, अपूप्यम्। अपूपीयम्। अपूप। तन्दुल। पृथुक। अभ्योष। अवोष। किण्व। मुसल। कटक। कर्णवेष्टक। द्रुर्गल (अर्गल)। स्थूणा। यूप। सूप। दीप। प्रदीप। अश्वपत्र। "विगृहीतादपीष्यते।" "अन्नविकारेभ्यश्च।" उदन्याः। उदनीयाः। सूर्प्याः, सूरीयास्तन्दुलाः। अन्नविकारत्वादेव सिद्धे अपूपाऽभ्योषादीना प्रपञ्चार्थं पृथग्ग्रहणम्। अतो विकल्पात्पूर्वनिर्णयेन उवर्णान्तलक्षणो नित्यो विधिर्भवति। चरुरिति हविर्विशेषः। चरव्यास्तन्दुलाः। शक्तुरन्नविकारः, शक्तव्या धानाः। "कम्बलाश्चौप्रा कृयोर्थे (कम्बलाच्च प्राक्ठणोऽर्थे) नित्यं यो वक्तव्यः" [वा०]। कम्बल्यमूर्णाशतम्। खुविषयादन्यत्र। कम्बलीया ऊर्णा। नेद वक्तव्यम्। "न विस्ताचितकम्बल्यात्" [३।१।२७] इति निपातनात्सिद्धम्।

तस्मै हितम् ॥३।४।४॥ तस्मै इति अप्प्रमर्थाद् हितमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित त्यो भवति। वत्सेभ्यो हितः, वत्सीयः। करभीयः। पटव्यम्। गव्यम्। हविष्यम्।

प्राण्यङ्गरथखलयवमाषवृषब्रह्मतिलाद्यः ॥३।४।५॥ प्राण्यङ्ग शरीरावयवः, देहदेहिनोः कथञ्चिदभेदात्। प्राण्यङ्गवाचिभ्यो रथ खल यव माष वृष ब्राह्मण तिल इत्येतेभ्यश्च यो भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्नर्थे। छस्याऽपवादः। दन्तेभ्यो हित दन्त्यम्। कर्ण्यम्। चक्षुष्यम्। नाभये हित नाभ्यं तैलम्। "नाभि नभञ्च" [वा०] इति नभभावः। गवादिलक्षणो यो विहित. स इह न भवति। गवादिलक्षणो य इह कस्मान्न भवति? प्राण्यङ्गलक्षणो यस्तस्य परत्वाद् बाधकः। रथाय हिता भूमि, रथ्या। खलाय हितम्, खल्यम्। यव्यम्। माष्यम्। वृषाय हितम्, वृष्यम्। ब्रह्मणे हितम्, ब्रह्मण्यम्। तिल्यम्। वृष्णो हितं ब्राह्मणाय हितमित्यत्रानभिधानाच्छो न भवति।

अजाविभ्यां ष्यः ॥३।४।६॥ अज-अविशब्दाभ्या थ्यो भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्नर्थे। छस्याऽपवादः। अजे (भाय) हितम्, अजथ्यम्। अविथ्यम्। स्त्रीविशिष्टस्याजाशब्दस्य ग्रहणेऽपि "तसादौ" [४।३।१४७] इति पुंवद्भावे कृते तदेव रूपम्।

विश्वजनात्मभोगान्तात्खः ॥३।४।७॥ तस्मै हितमिति वर्तते। विश्वजन आत्मन् इत्येताभ्यां भोगान्ताच्च मृद. खो भवति। छस्याऽपवादः। विश्वजनाय हित', विश्वजनीन. जिनः। अत्र यथासंख्यो।

तासाद (दूत्र) सान्च छ एव भवति । विश्वजनीयम् । 'पञ्चजनशब्दादुपसंख्यानम्'' [वा०] पञ्चजनीनम् । अत्र "दिक्संख्यं खौ" [१।३।४५] इत्यनेन विहितात्समानाधिकरणाद् वसादेवेष्यते । पञ्चजनीयमन्यत् । "सर्वजनाट्ठण् खश्च वक्तव्यः" [वा०] सार्वजनिकः । सर्वजनीनः । अत्रापि यथादेवेष्यते । सर्वजनीयमन्यत् । "महाजनाट्ठञ्वक्तव्यः" [वा०] माहाजनिकम् । षसादय विधिः । वसाच्छ एव भवति । महाजनीयम् । ईनादेशे कृते "नोऽपुंसो हृति" [४।४।१३०] इति टिख प्राप्तम्, सूत्रे नकारान्तनिपातनान्न भवति । भोगः शरीरम् । तदसा(दन्ता)त् मातृभोगीणः । पितृभोगिणः । मात्रादिभ्यः केवलेभ्यश्छ एव भवति । मात्रीयः । पित्रीयः । "राजाऽचार्याभ्यां भोगान्ताभ्यां नित्यमिति वक्तव्यम्" [वा०] राजभोगीनम् । आचार्यभोगीनम् । आर्यभोगान् (गीन) शब्दस्य "क्षुभ्नादित्वात्" [४।४।११७] णत्व (न) भवति । नित्यग्रहणं किम् ? केवलाभ्या न भवति । राज्ञे हितम् । आचार्याय हितमिति ।

सर्वाण्णो वा ॥३।४।८॥ तस्मै हितमिति वर्तते । सर्वशब्दाद् वा णो भवति पक्षे छो भवति । सर्वस्मै हितम्, सार्वम् । सर्वीयम् ।

पुरुषाड्ढण् ॥३।४।९॥ पुरुषशब्दाड्ढण् भवति तस्मै हितमित्यस्मिन्विषये । छस्याऽपवादः । पुरुषाय हित पौरुषेयम् । अल्प (त्य) त्यमिदम् । "पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्" । पौरुषेयो वध । "तस्येदम्" [३।३।८८] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयो विकारः । "प्राणिरजतादेः" [३।३।१०५] इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेय स्यमागतं (यः समूहः) 'तस्य समूहः" इत्यण् प्राप्तः । पौरुषेयः प्रासादः । पौरुषेयो ग्रन्थः । तेन कृते "नि ग्रन्थे (कृते ग्रन्थे) [३।३।८४] "खौ" [३।३।८६] इत्यण् प्राप्तः ।

माणवचरकात्खञ् ॥३।४।१०॥ तस्मै हितमिति वर्तते । माणव-चरक-शब्दाभ्यां खञ् भवति । छस्याऽपवाद । माणवाय हित माणवीनम् । चारकीणम् ।

तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ॥३।४।११॥ हितमिति निवृत्तम् । तस्मै इति वर्तते । तस्मै इद तदर्थं समानजातीयमभिन्नसन्तानवर्त्ति कारणम्, प्रकृतिः । तस्या एवाऽवस्थान्तर विकृतिः । तदर्थमित्येतत्प्रकृतेर्विशेषणम् । तदर्थाया प्रकृताविति । यद्येव स्त्रीलिङ्गमीप् च प्राप्नोति । "सूत्रेऽस्मिन् सुव्विधिरिष्टः" [५।२।११४] इने पा (इतीपो) वाया पदेन च निर्देशः । विकृतिवाचिनोऽन्तान्मृदस्तदर्थाया प्रकृताव(भि)धेयाया यथाविहित त्यो भवति । विकृत्यर्थाया प्रकृतौ त्यो भवतीत्यर्थः । अङ्गारेभ्यः, अङ्गारीयाणि काष्ठानि । प्राकारीया इष्टकाः । शङ्कव्य दारु । पिचव्यः कर्पासः । अपूप्याः । अपूपीयास्तन्दुलाः । विग्रहे तादर्थ्यलक्षणाऽप् द्रष्टव्या । तदर्थमिति किम् ? मूत्राय यवागूः । उच्चाराय यवान्नम् । पादरोगाय नड्वलोदक कल्पते । योग्यतामात्रेण विकृतिप्रकृत्यभिसम्बन्धो मा भूत् । अत्र केचित्तस्मै ग्रहण नानुवर्त्तयन्ति । तादर्थ्ये तदाऽपि लभ्यते । यथा गुरोरिदम्, गुर्वर्थम् इति । विकृतिवाचिनस्तान्तात्तदर्थाया प्रकृतावभिधेयाया त्यमुत्पादयति । एवमङ्गाराणामिमानि अङ्गारार्थानि काष्ठानि, अङ्गारीयाणि । तदर्थमिति किम् ? यवाना धानाः धानाना सक्तवः । नात्र प्रकृतेरनन्यार्थता गम्यते । अपि तु प्रकृत्यन्तरनिवृत्तिमात्रम् । नान्येषा धाना नान्येषा सक्तवः । अत एव विकारप्रकृतिसम्बन्धमात्रेऽपि त्यो न भवति । धानाना यवाः, शक्तूना धानाः इति । विकृतेरिति किम् ? उदकार्थः कूपः । नात्र पार्थिवस्य कूपस्य विकृतिरुदकम् । प्रकृताविति किम् ? असयर्था कोशी । नासिरपदो विकृतिर्भवति । तन्न कोशी तस्य प्रकृतिः ।

छदिरुपधिबलेर्ढञ् ॥३।४।१२॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्त्तते । छदिस् उपधि वलि इत्येतेभ्यो ढञ् भवति । छदिरर्थानि छादिषेयाणि तृणानि । इह छदिरयं चर्मेति परत्वात् "चर्मणोऽञ्"

[३।४।१४] इति अञि प्राप्ते पूर्वनिर्णयेन ढञ् भवति। छादिषेयं चर्म। उपधीयत इत्युपधिः, रथाङ्ग गुणान्तरयोगाद् विकृतिरियम्। उपध्यर्थम्, औपधेयं दारु। वालेयास्तन्दुलाः।

ऋषभोपानहो ञ्यः ॥३।४।१३॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते। ऋषभ उपानह इत्येताभ्यां ञ्यो भवति। ठस्यापवादः। गुणान्तरयोगादपि विकारो भवति। तद्यथा बैभीतकोऽयूपः इति। ऋषभार्थेभ्यो वत्सः (आर्षभ्यो वत्सः)। औपानह्यो मुञ्जः। "चर्मणोऽञ्" [३।४।१४] इत्यतः पूर्वनिर्णयेनायमेवेष्यते। औपानह्यं चर्म।

चर्मणोऽञ् ॥३।४।१४॥ तदर्थं विकृतेः प्रकृताविति वर्तते। चर्मण इति विकारसम्बन्धे ता। चर्मणो या विकृतिस्तद्वाचिनोऽञ् भवति। छस्याऽपवादः। वर्ध्र्यर्थं वार्ध्रम्। वर्त्रा (वरत्रा) र्थं वार्त्र (वारत्र) चर्म। सनङ्गुर्नाम चर्मविकारः, ततः पूर्वनिर्णयेन उवर्णान्तलक्षणो यो भवति। सनङ्गव्यं चर्म।

तदस्यास्मिन्निति ॥३।४।१५॥ प्रकृतिविकृतिभावस्तादर्थ्यं वेह न विवक्षित योग्यतामात्र विवक्षितम्। तदिति वासमर्थादस्य अस्मिन्नित्येतयोरर्थयोर्यथाविहित त्यो भवति। इतिकरणस्ततश्चेद् विवक्षा। अस्य सम्भावनेऽभिधानम्। तेन मत्वर्थीयाद् भेदः। प्रासादोऽस्य स्यात् प्रासादीयं दारु। प्राकारीया इष्टकाः। प्रासादोऽस्मिन् देशे स्यात् प्रासादीयो देशः। प्राकारीयो देशः। इह कस्मान्न भवति, प्रासादो देवदत्तस्य स्यात्? इति करणादविवक्षाऽत्र।

परिखाया ढञ् ॥३।४।१६॥ तदस्याऽस्मिन्निति वर्तते। परिखाशब्दाड्ढञ् भवति। छस्यापवादः। परिखाऽस्मिन्देशे सम्भाव्यते पारिखेयो देशः। पारिखेयी भूमिः। इत ऊर्ध्वं छयौ नानुवर्तेते।

आर्हाट्ठण् ॥३।४।१७॥ तदर्हतीति निवृत्तम्। प्रागेतस्मादर्हं सशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, तेषु ठणधिकृतो वेदितव्यः। प्रागिति वर्तमाने अभिविध्यर्थमाङ्ग्रहणम्। अर्हतीत्यस्मिन्नप्यर्थे ठण् भवति। वक्ष्यति "तेन क्रीतम्" [३।४।३५] वस्त्रेण क्रीतं वास्त्रिकम्। गौपुच्छिकम्।

शतादस्वार्थेऽसेठयो ॥३।४।१८॥ आर्हादिति वर्तते। स्वार्थे शतमेव। शतशब्दादस्वार्थेऽसेठय इत्येतौ त्यौ भवतः आर्हीयेष्वर्थेषु। कस्यापवादः। शतेन क्रीतम्, शतिकम्। शत्यम्। अस्वार्थे इति किम्? शतं परिमाणमस्य शतकं स्तोत्रम्। नात्र प्रकृत्यर्थादर्थान्तरभूतस्त्यार्थः समुदायः किन्तु शतमेव। यत्र त्यर्थान्तरभावस्तत्र विधिरेव न प्रतिषेधः। शतेन क्रीतं शतिकं पटशतम्। शत्यं पटशतम्। वाक्येन ह्यत्र त्यार्थस्य शतत्वं गम्यते न श्रुत्या। असे इति किम्? द्वौ च शतं च द्विशतम्। तेन क्रीतं द्विशतकम्। द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीतमिति रसे "राढुबहो" [१।४।२६] इत्युपि नास्ति विशेषः। ननु स-त्यविधौ तदन्तविधिर्नास्तीति असग्रहणमनर्थकम्? नाप्युत्तरत्र तदन्तविधेर्ज्ञापकम्। "प्राग्वत संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुर्पाति उपसंख्यानमवश्य कर्तव्यम्।" पारायणं वर्तयति पारायणिकः। द्विपारायणिकः। असंख्यापूर्वपदस्य न भवति। सहस्रेण क्रीतम्, साहस्रम्। सुवर्णशतसहस्रेण क्रीतमित्यत्राण् न भवति। तथा उवन्तायाः प्रकृतेर्यो। द्वाभ्यां सूर्पाभ्यां क्रीतम्, द्विसूर्पेण क्रीतम् तदन्तविधेरभावात् 'सूर्पाद्वा' [३।४।२२] इत्यत्र विधिर्न भवति। सामान्येन ठण्, द्विसौर्पिकम्। "परिमाणमस्याखुशाणे" [४।२।२२] इति चोरैप्। एव तर्हि पूर्वत्र तदन्त विधिरपि भवतीति ज्ञाप्यते। गव्यम्। अगव्यम्। दविषम्। प्रग्गहविष्यम्। अपूप्यम्। यवापूप्यम्। अष्टक्यम्। एकाष्टक्यम्। राजदन्त्यम्। माष्यम्। तिल्यम्। कृष्णतिल्यम्।

संख्याया कोऽतिशतः ॥३।४।१९॥ आर्हादिति वर्तते। संख्याया अतिशदन्ताया कन् भवति। आर्हीयेषु ठणोऽपवादः। संख्यायाः "कति संख्या" [१।१।३३] इति कतिशब्द प्रयोजनम्। ता

चाऽन्वर्थसंज्ञाग्रहणाद् यैरेकत्वादिभिः सङ्ख्यायते तेषां च ग्रहणे प्राप्तेऽतिशत इति प्रतिषेधः। त्यन्ता शदन्तां च सङ्ख्या वर्जयित्वेत्यर्थः। पञ्चभिः क्रीतः पञ्चकः। सप्तकः। "संख्या वाड्ढोऽबहुगणात्" [४।२।३६] इति पर्युदासाद्बहुगणयोः सङ्ख्यात्वम्। बहुकः। गणकः। अतिशत इति किम्? षाष्टिकः। साप्ततिकः। चत्वारिंशत्कः। पञ्चाशत्कः। अर्थवतस्तिशब्दस्येह ग्रहणाड्डतेर[ति] प्रतिषेधः। कतिभिः क्रीतः, कतिकः।

वतोर्वेट् ॥३।४।२०॥ वतुरिति त्यः पञ्चप्रकृतिः। "यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः" [३।४।१६०] "इदमो षो घः" [३।४।१६१] "किमः" [३।४।१६२] इति वतोः परस्य कस्य च इड्भवति। ननु च अज्ञाते यत्तेषु कतिशब्दस्यैव संख्यात्वमुक्तम्। तत्कथं वत्वन्तात्संख्यालक्षणः कः? इदमेव वत्वन्तात्परस्य कस्य वेड्वचनं ज्ञापक भवति वत्वन्तस्य सङ्ख्या सञ्ज्ञेति। यावता क्रीतः, यावतिकः, यावत्कः। तावतिकः। तावत्कः।

विंशतित्रिंशद्भ्यांड्वुरखौ ॥३।४।२१॥ विंशतित्रिंशच्छब्दाभ्यां ड्वुर्भवत्यखुविषये। विंशत्या क्रीतः, विंशकः। तेः खे कृते "असिद्धवदत्राभात्" [४।४।२१] इति टिखे प्रतिषिद्धे "एप्यतोऽपदे" [४।३।८४] इति पररूपम्। त्रिंशता क्रीतः, त्रिंशकः। अखाविति किम्? विंशतिः परिमाणमस्य, "परिमाणात्संख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने" [३।४।५६] "खौ" [३।४।५७] इति कः। विंशतिक परिमाणनामधेयम्। अनर्थकत्वादस्य तिशब्दस्य त्यन्तलक्षणः प्रतिषेधो न भवति। द्वयोर्दशतोर्वि(न्) भावः शतिश्चात्र त्यो निपातयिष्यते। त्रिंशत्परिमाणमेषा त्रिंशत्काः। शदन्तान्नेति प्रतिषेधः कस्मान्न भवति? विंशति त्रिंशद्भ्यामिति योगविभागात्को भवति।

कंसाट्टन् ॥३।४।२२॥ कंसशब्दाट्टन् भवति आर्हादर्थेषु। ठणोऽपवाद। कंसेन क्रान्तः (क्रीतः) कंसिकः। कंसिकी। "अर्धाच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] अर्द्धिकी।

कार्षापणाड्डा प्रतिश्च ॥३।४।२३॥ आर्हादिति वर्तते। कार्षापणशब्दात् ठड् भवति तस्य प्रतिरयं वादेशो वा भवति। कार्षापणेन क्रीतः, कार्षापणिकः। कार्षापणिकी। प्रतिकः। प्रतिकी।

शतमानविंशति(क)सहस्रवसनादण् ॥३।४।२४॥ शतमानादिभ्योऽण् भवति। आर्हादर्थे। ठणोऽपवादः। शतमानेन क्रीतम्, शातमानम्। वैंशतिकम्। साहस्रम्। वासनम्।

सूर्पाद्वा ॥३।४।२५॥ आर्हादिति वर्तते। सूर्पशब्दाद्वाऽण् भवति। नित्ये ठणि प्राप्ते विकल्पोऽयम्। सूर्पं परिमाणनाम। सूर्पेण क्रीतम्, सौर्पम्। सौर्पिकः।

राद्वुखौ ॥३।४।२६॥ आर्हादिति वर्तते। रादुत्तरस्य आर्हीयस्य त्यस्योब्भवत्यखौ। द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम्, द्विकंसम्। त्रिकंसम्। इदर्थे रसे कृते सङ्ख्यापूर्वपदानां तदन्तविधिना कंसाट्टट्, तस्योप्। अधिकमर्धमस्मिन्नित्यध्यर्धम्, सङ्ख्यासंज्ञाविधानेऽध्यर्धग्रहणं सकविध्यर्थमित्युपसङ्ख्यासंज्ञा। अध्यर्धेन कंसेन क्रीतं ठट उपि अध्यर्धकंसम्। द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम् इत्यागतयोरणठणोरुब्भवति। द्विसूर्पम्। त्रिसूर्पम्। अध्यर्धसूर्पम्। रादिति हेत्वर्थे का। रस्य हेतुर्निमित्तं यो हृत् तस्योप् न भवति। द्विसूर्पेण पटेन क्रीतम्, द्विसौर्पिकम्। "रसनिमित्तादपि समाहारलक्षणाद्रादुब्वक्तव्य." [वा०]। द्वयोः सूर्पयोः समाहारः द्विसूर्पी। द्विसूर्प्यात् क्रीतम् द्विसूर्पमिति। न वक्तव्य। अभिधानवशात् समाहारे वाक्यमेव भवति। न त्योत्पत्ति.। अखाविति किम्? पाञ्चलोहितिकम्। पाञ्चकलापिकम्। परिमाणनामधेये इमे। पञ्च लोहितानि परिमाणमस्य पञ्चकपालाः परिमाणमस्येति "परिमाणात्संख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने" [३।४।५६] "खौ" [३।४।५७]। इति ठण्। परिमाणस्य चोरादेरैपि प्राप्ते "अखुशाणे" इति प्रतिषिद्धे आदैप्। अन्ये पञ्चलोहित्यः परिमाणमस्येति विग्रहं "तस्य हत्यटे" [वा०] इति पुंवद्भावं विदधाति।

कार्षापणसहस्रसुवर्णशतमानाद्वा ॥३।४।२७॥ कार्षापण सहस्र सुवर्ण शतमान इत्येवमन्ता त्परस्यार्हीयस्य त्यस्य वोप् भवति। पूर्वेण नित्य उपि प्राप्ते विभाषेयम्। द्वाभ्या कार्षापणाभ्या क्रीत द्विकार्षापणं द्विकार्षापणिकम्। त्रिकार्षापण त्रिकार्षापणिकम्। अध्यर्धकार्षापणम्। अध्यर्धकार्षापणिकम्। "प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपतीति कार्षापणाद्वा प्रतिश्च" [३।४।२३] इति ठट्। अनुप्यत्ते च प्रतिरादेशो विकल्पितः। द्विप्रतिकम्। त्रिप्रतिकम्। अध्यर्धप्रतिकम्। द्वाभ्या सहस्राभ्या क्रीत द्विसहस्रम्। द्विसाहस्रम्। त्रिसहस्रम्। त्रिसाहस्रम्। अध्यर्धसहस्रम्। अध्यर्धसाहस्रम्। "संख्यायाः संर्यासंवत्सरस्य" [४।२।२७] इति द्योरैप्। द्वाभ्या सुवर्णाभ्या क्रीतं द्विसुवर्णम्। द्विसौवर्णिकम्। त्रिसुवर्णम्, त्रिसौवर्णिकम्। अध्यर्धसुवर्णम्, अध्यर्धसौवर्णिकम्। "परिमाणस्याखुशाणे" [४।२।२२] इति द्योरैप्। सुवर्णमुन्मान कथं परिमाणम्? अशाण इति प्रतिषेधात्। उन्मानस्यापि द्योरैम्भवति द्वाभ्या शतमानाभ्या क्रीत द्विशतमानम्। द्विशातमानम्। त्रिशतमानम्। त्रिशातमानम्। अध्यर्धशातमानम्।

द्वित्रिबहोर्निष्कविस्तात् ॥३।४।२८॥ द्वि त्रि बहु इत्येतेभ्यः परौ यौ निष्कविस्तशब्दौ तदन्ताद्रात्परस्यार्हीयस्य त्यस्य वोम्भवति। द्विनिष्कम्। द्विनैष्किकम्। त्रिनिष्कम्। त्रिनैष्किकम्। बहुनिष्कम्। बहुनैष्किकम्। द्विविस्तम्। द्विवैस्तिकम्। त्रिविस्तम्। त्रिवैस्तिकम्। बहुविस्तम्। बहुवैस्तिकम्।

विंशतिकात्खः ॥३।४।२९॥ वेति निवृत्तम्। रादिति वर्तते। विंशतिकशब्दान्तात् रात् आर्हीयेषु खो भवति। द्वाभ्या विंशतिकाभ्या क्रीतम्, द्विविंशतिकीनम्। त्रिविंशतिकीनम्। अध्यर्धविंशतिकीनम्। वचनात्खस्योम्न भवति।

खारीकाकणीभ्यां कप् ॥३।४।३०॥ रादिति वर्तते। खारी-काकणीशब्दान्तात् आर्हीयेषु कप् भवति। द्वाभ्या खारीभ्या क्रीतम्, द्विखारीकम्। त्रिखारीकम्। अध्यर्धखारीकम्। द्विकाकणीकम्। त्रिकाकणीकम्। अध्यर्धकाकणीकम्। "केवलाभ्यां चेति वक्तव्यम्" [वा०]। खार्या क्रीत, खारीकम्। काकणीकम्।

पणपादमाषाद्यः ॥३।४।३१॥ रादिति वर्तते। पण-पाद-माषशब्दान्ताद् रादार्हीयेषु यो भवति। द्वाभ्या पणाभ्या क्रीतम्, द्विपण्यम्। त्रिपण्यम्। अध्यर्धपण्यम्। द्विपाद्यम्। त्रिपाद्यम्। अध्यर्धपाद्यम्। "असिद्धवदत्राऽभात् [४।४।२१] इत्यखस्याऽसिद्धत्वात्पाच्छब्दस्य पद्भावो न भवति। "पद्" [४।३।११४] इति पदादेशोऽपि पादस्य केवलस्योक्तम् (क्तः)। द्विमाष्यम्। त्रिमाष्यम्। अध्यर्धमाष्यम्।

शताद्वा ॥३।४।३२॥ रादिति वर्तते। शतशब्दान्ताद् रादार्हीयेषु वा यो भवति। द्वाभ्या शताभ्या क्रीत द्विशत्यम्। त्रिशत्यम्। अध्यर्धशत्यम्। पक्षे ठण्। तस्य "रादुचरो" [३।४।२६] इत्युप्। द्विशत त्रिशतम्। अध्यर्धशतम्।

शाणात् ॥३।४।३३॥ रादिति वर्तते वेति च। शाणशब्दान्तादार्हीयेषु वा यो भवति। पक्षे ठण्। तस्य चोप्। पञ्चभि शाणैः क्रीत पञ्चशाण्यम्। पञ्चशाणम्। अध्यर्धशाण्यम्। अध्यर्धशाणम्। योग विभाग उत्तरार्थः।

द्वित्रिभ्यामण् च ॥३।४।३४॥ शाणादिति वर्तते। द्वित्रिशब्दाभ्या परो यः शाणशब्दस्तदन्ताद् रादार्हीयेष्वण् भवति यश्च वा। तेन त्रैरूप्यम्। द्वाभ्या शाणाभ्या क्रीतम्, द्विशाणम्। द्विशाण्यम्। त्रिशाण्यम्। त्रिशाणम्। अणि परत "अत्तुशाण" इति प्रतिषेधादैप्।

तेन क्रीतम् ॥३।४।३५॥ तेनेति भासमर्थात् क्रीतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं ठणादयो भवन्ति। निष्केण क्रीतम्, नैष्किकम्। शतिकम्। शत्यम्। साहस्रम्। द्विकम्। त्रिकम्। इह करणादिति वक्तव्यम्। कर्त्तरि माभूत्। देवदत्तेन क्रीतम्। "मूल्यादिति च वक्तव्यम्" [वा०]। इह मा भूत् पाणिना क्रीतमिति। "द्विबह्वन्ताच्च करणात्प्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०]। द्रोणाभ्यां क्रीतम्। द्रोणैः क्रीतम् इति। नेदं बहु वक्तव्यम्। अभिधानतो व्यवस्था भविष्यति। यत्र प्रकृत्यर्थस्य संख्याभेदावगतिरस्ति तत्र द्विबहुत्वविषयेऽपि भवति। द्वाभ्यां क्रीतम्, द्विकम्। मुद्गैः क्रीतम्, मौद्गिकम्।

तस्य वापः ॥३।४।३६॥ उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रम्। तस्येति तासमर्थात् वाप इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। प्रस्थस्य वापः, प्रास्थिकः। कौद्रविकः। खारीकः। "यस्य प्रकरणे वातपित्तश्लेष्मसन्निपातेभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानम्" [वा०] वातस्य शमनं कोपनं वातिकं द्रव्यम्। एवं पैत्तिकम्। श्लैष्मिकम्। सान्निपातिकम्।

निमित्तं संयोगोत्पादौ ॥३।४।३७॥ बुद्धिपूर्विका व्याप्तिः संयोगः। शुभाशुभयोः सूचकः उत्पादः। उत्पात इत्यर्थः। तस्येति तासमर्थान्निमित्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तन्निमित्तं संयोग उत्पादो वा स चेद् भवति। शतस्य निमित्तमीश्वरेण संयोगः शतिकः, शत्यः। साहस्रः। शतस्य निमित्तं दक्षिणाक्षिस्पन्दनमुत्पादः शतिकः। शत्यः। साहस्रः। सोमग्रहणस्य निमित्तमुत्पादो भूमिकम्पः। सौमग्रहणिकः।

योऽसंख्यापरिमाणाश्वादेः ॥३।४।३८॥ तस्येति तासमर्थाद्यो भवति संख्यापरिमाणाश्वादीन् वर्जयित्वा निमित्तं संयोगोत्पादावित्यस्मिन् विषये। ठणादीनामपवादः। वनं निमित्तं संयोग उत्पादो वा वन्यः। यशस्यः। स्वर्ग्यः। आयुष्यः। असंख्यापरिमाणाश्वादेरिति किम्? पञ्चानां निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पञ्चकः। सप्तकः। परिमाणात्। प्रस्थस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा प्रास्थिकः। द्रौणिकः। खारीकः। अश्वादिर्गणः। अश्वस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा आश्विकः। अश्व। अश्मन्। गण। ऊर्णा। उमा। भङ्गा। वर्षा। वत्स। वसु। संख्यापरिमाणयोरर्थभेदोऽस्ति। "ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः। आयामं तु प्रमाणं स्यात् संख्या तु गुणनात्मिका।"

गोब्रह्मवर्चसात् ॥३।४।३९॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते। गोब्रह्मवर्चसशब्दाभ्यां यो भवति। गोनिमित्तं संयोग उत्पादो वा गव्यः। ब्रह्मणो वर्चः, ब्रह्मवर्चसम्, अत एव निपातनात्सान्तः। ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा ब्रह्मवर्चस्यः। पूर्वेण ये सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय। एकाचो गोशब्दादेव बह्वचो ब्रह्मवर्चसशब्दादेव य.। इह न भवति। नावो निमित्तं संयोगः नाविकः। वास्तुयुगिकः। द्व्यच एव पूर्वेण यो वेदितव्यः।

पुत्राच्छ वा ॥३।४।४०॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते। पुत्रशब्दाच्छो यश्च। पुत्रस्य निमित्तं संयोग उत्पादो वा पुत्रीयः। पुत्र्यः।

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामण् ॥३।४।४१॥ तस्य निमित्तं संयोगोत्पादाविति वर्तते। सर्वभूमि-पृथिवीशब्दाभ्यामण् भवति। ठणोऽपवादः। सर्वभूमेर्निमित्तं संयोग उत्पादो वा, सार्वभौमः। अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः। पृथिव्या निमित्तं संयोग उत्पादो वा, पार्थिवः।

ईश्वरः ॥३।४।४२॥ तस्येति वर्तते। तासमर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यामीश्वर इत्यस्मिन्नर्थेऽण् भवति। ठणोऽपवादः। सर्वभूमेरीश्वरः, सार्वभौमः। पार्थिवः।

तत्र विदितः ॥३।४।४३॥ तत्रेतीपूसमर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यां विदित इत्यस्मिन्नर्थेऽण् भवति। सर्वभूमौ विदितः सार्वभौमः। पार्थिवः।

लोकात् ॥३।४।४४॥ तत्र विदित इति वर्तते । लोकशब्दादीप्समर्थाद्विदित इत्येतस्मिन्नर्थे ठण् भवति । लोके विदितः, लौकिकः ।

सर्वात् ॥३।४।४५॥ सर्वशब्दात्परो यो लोकशब्द , तदन्तान्मृदष्ठण् भवति तत्र विदित इत्यस्मिन्नर्थे । सर्वलोके विदितः, सार्वलौकिकः । अनुशतिकादित्वादुभयवृद्धिः ।

तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते ॥३।४।४६॥ तदिति वासमर्थाद् वृद्ध्यादिविशिष्टा दस्मिन्नितीत्यर्थे यथाविहितं त्यो भवति । यत्तद्वासमर्थं वृद्ध्यादिविशिष्टं दीयते चेत्तद् भवति । वृद्धिः कालान्तरादिका । नियनिबद्धा प्रासिराय । पटादीना मूल्यातिरेको लाभ । वा (व ,गिजा रक्षाकारितो राजभागः शुल्कः । उत्कोटः उपदा । दीयते इत्येकवचनान्तं वृद्ध्यादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । पञ्चास्मिन्वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयते, पञ्चकः । प्रास्थिकः । कौडविकः । "इह तदस्मै दीयते इति वक्तव्यम्" [वा०] पञ्चाऽस्मै वृद्ध्यादि दीयते, पञ्चकः । सतकः । न वक्तव्यम् । सम्प्रदानस्याधिकरणविवक्षया सिद्धम् ।

डडर्धाट्ठः ॥३।४।४७॥ डडिति प्रत्याहारग्रहणम् । "वस्य पूरणे डट्" [४।१।१] इत्यारभ्य आ तमःष्टकारात् । डडन्तान्मृद. अर्धशब्दाच्च ठो भवति तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते इत्यस्मिन्नर्थे । ठणः "अर्धाच्च" [४।२।१०३ (वा०)] इत्यौपसंख्यानिकस्य च ठटोऽपवादः । पञ्चमः दीयते वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा, पञ्चमिकः । द्वितीयिकः । अर्धिकः । स्त्रियाम्—अर्धिका ।

भागाद्यश्च ॥३।४।४८॥ भागशब्दोऽर्धवाची । तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते इति च वर्तते । भागशब्दाद्यो भवति ठश्च । भागो वृद्ध्यादिरस्मिन्दीयते भाग्य शतम् । भागिक शतम् ।

तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादेः ॥३।४।४९॥ वशादिभ्यः परो यो भारशब्दः तदन्तान्मृद ई (इ) प्समर्थाद् हरत्यादिष्वर्थेषु यथाविहित त्यो भवति । हरति नयतीत्यर्थः । वहति उत्क्षिपतीत्यर्थः । आवहति उत्पादयतीत्यर्थः । वशभारं हरति वहति आवहति वा, वाशभारिक । वाल्वजभारिकः । भारादिति किम् ? वत्स हरति । वशादेरिति किम् ? भार हरति । केवलान्न भवति । अन्ये पुनरन्यथा सूत्रार्थं आहिता. । वत्सा (वशा) दिभ्यो भारभूतेभ्यस्त्यो भवति । अर्थद्वारेण भारो वशादेर्विशेषणम् । भारभूतात् (न्) हरति, वाशिकः । वाल्वजिकः । भारादिति किम् ? एक वश हरति । वत्सा(वशा)देरिति किम ? भारभूतान् यवान् हरति । सूत्रार्थद्वयमपि प्रमाणम् । वश । वल्वज । कूट । मूल । स्थूल । खट्वा । अश्व । दन्तु ।

वस्नद्रव्याभ्यां ठकौ ॥३।४।५०॥ वस्नद्रव्यशब्दाभ्यामिप्समर्थाभ्या हरत्यादिष्वर्थेषु यथासंख्य ठ क इत्येतौ त्यौ भवतः । वस्न हरति वहति आवहति वा, वस्निकः । द्रव्यकः ।

सम्भवत्यवहरति पचति ॥३।४।५१॥ तदिति वर्तते । इप्समर्थान्मृद. सम्भवत्यादिष्वर्थेषु यथाविहित त्यो भवति । सम्भवति गृह्णातीत्यर्थः । अवहरति त्यज नयतीत्यर्थ. । पचति विक्लदन करोतीत्यर्थः । प्रस्थ सम्भवत्यवहरति पचति वा, प्रास्थिकी स्थाली । एव कौडविकी । खारीकी । ननु या प्रस्थ सम्भवति सा पचत्यपि, तत्कथ भेद ? इद तर्हि पचतेरुदाहरणम् । प्रस्थ पचति ब्राह्मणी, प्रास्थिकी । "तत्पचतीति द्रोणादण् च वक्तव्य." [वा०] । द्रोण पचति द्रौणी, द्रौणिकी ।

वाऽऽढकाचितपात्रात्खः ॥३।४।५२॥ आढकाचितपात्रशब्देभ्य इप्समर्थेभ्य "सम्भवति" इत्यर्थेषु वा खो भवति । पूर्वेण नित्ये ठणि प्राप्ते विधानमिदम् । आढक सम्भवति अवहरति पचति वा, आढकीना, आढकीकी । आचितीना, आचितिकी । पात्रीणा, पात्रिकी । आढकादीनि परिमाणानि ।

राड्ढट् च ॥३।४।५३॥ आढकाचितपात्रान्तात् रात् इप्समर्थात्सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ठट् भवति खश्च वा। तेन त्रैरूप्यं भवति। द्वे आढके सम्भवति अवहरति पचति वा द्व्याढकिकी। द्व्याढकीना। आभ्या मुक्ते टण् तस्य "राड्डुबखौ" [३।४।२६] इत्युप्। द्व्याढकी। "परिमाणाद्धद्रुपि" [३।१।२६] इति ङी-विधिः। ठट्खयोर्वचनाद्वम् (द्रुम्न) भवति। द्व्याचितीना, द्व्याचिता। "न विस्ताचितकम्बल्यात्" [३।१।२७] इति ङीप्रतिषेधः। द्विपात्रिकी। द्विपात्रीणा। द्विपात्री।

कुलिजाच्च ॥३।४।५४॥ चकारस्तिकाऽनुकर्षणार्थः। रादिति वर्तते। कुलिजशब्दान्तात् रात् इप्सम-र्थात् सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ठड् भवति खश्च वा। तेन त्रैरूप्यम्। कुलिज परिमाणविशेषः। द्वे कुलिजे सम्भ-वत्यवहरति पचति वा द्विकुलिजिकी, द्विकुलिजीना, द्विकुलिजी। केचिदुपोऽपि विकल्पमिच्छन्ति। पक्षे ठणः श्रवणम्। द्वैकुलिजिकीति। त एव "अखुञ्जाणे" [५।२।२२] इत्यत्र कुलिजस्यापि प्रतिषेधमिच्छन्ति।

तदस्यांशवस्नभृतयः ॥३।४।५५॥ तदिति वासमर्थात् अस्येति तार्थे यथाविहितं त्यो भवति यत्तद्वा समर्थम् अंशा वस्न भृतयश्चेत्तद् भवन्ति। पञ्च अंशा वा वस्नो वा भृतिर्वाऽस्य, पञ्चकः। सप्तकः। शतिकः, शत्यः। साहस्रः। खारीक।

परिमाणात्सङ्ख्यायाः सङ्घसूत्राऽध्ययने ॥३।४।५६॥ तदस्येति वर्तते। परिमीयते परिच्छिद्यते-ऽनेन परिमाणम्। परिच्छेदकमिदं तत् पारिभाषिकम्। तदिति वासमर्थात् सङ्ख्यावाचिनः परिमाणे वाधिका-दस्येति तार्थे यथाविहितं त्यो भवति। यत्तदस्येति सङ्घसूत्राऽध्ययनानि चेद् भवन्ति। सङ्घे पञ्च परिमा-णमस्य सङ्घस्य पञ्चकः। सप्तकः। सूत्रे ग्रन्थ इत्यर्थः। पञ्चाऽध्यायाः परिमाणमस्य, पञ्चक जैनेन्द्रम्। अष्टकं पाणिनीयम्। शतक स्तोत्रम्। अधीतिरध्ययनं तस्मिन्। पञ्च रूपाण्यस्याध्ययनस्य पञ्चकम्। सप्तकम्। कर्मणि यद्यध्ययनशब्दो व्युत्पाद्येत सूत्रान्न भेदः स्यात्। "स्तोमे डो वक्तव्यः" [वा०] पञ्चदशाद्यर्थः पञ्चदश मन्त्राः परिमाणमस्य स्तोमस्य पञ्चदशः स्तोमः। एवं सप्तदशः। एकविंशः। परिमाणादिति योग-विभागः कर्तव्यः। तदस्येति वर्तते। पञ्चकलापः परिमाणमस्य, पञ्चकलापिकम्। पाञ्चलोहितिकम्। प्रस्थ. परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः। कौतिकः। खारीशतिकः। वर्षशतं परिमाणमस्य वार्षशतिकः। "जीवितपरिमाण इति च वक्तव्यम्" [वा०] षष्टिः संवत्सरा जीवितपरिमाणमस्य, षाष्टिकः। साप्ततिकः। आशीतिकः। नेदं वक्तव्यम्। 'तमधी(धी)ष्टो भू(भृ)तो भूतो भावी" [३।४।७६] इत्येव सिद्धम्। षष्टि भूतो (तः) षाष्टिक.। एवञ्चानुपपि सिद्धः। द्वे षष्टी भूतो द्विषाष्टिकः। इह विधानो(ने) "राड्डुबखौ" [३।४।२६] इत्युप् प्रसज्येत।

खौ ॥३।४।५७॥ खुविषये च परिमाणविशिष्टाया सङ्ख्याया यथाविहितं त्यो भवति। विंशतिः परिमाणमस्य विंशतिक परिमाणनामधेयम्। स्वार्थे चाऽत्र त्यो द्रष्टव्य। पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः। त्रय एव त्रिका सा(शा)लङ्कायना।

पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् ॥३।४।५८॥ पङ्क्त्यादय. शब्दा निपात्यन्ते। यदत्र लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धम्। तदस्य परिमाणमिति वर्तते। पञ्चपादा. परिमाणमस्य पङ्क्तिश्छन्दः, समस्तत्स्विषेऽपि। पञ्चशब्दात्तिरित्ययं त्यष्टित्व च निपात्यते। द्वौ दश तौ परिमाणमस्य वर्गस्य विंशति। द्विविनाव. शतिश्च त्यः। त्रिचतुःपञ्चानाम् इमारिमाश्चान्तादेशाः शच्च त्यः। त्रयो दशत परिमाणमस्य वर्गस्य त्रिंशत्। चत्वारो दशतः परिमाणमस्य चत्वारिंशत्। पञ्च दशत परिमाणमस्य, पञ्चाशत्। षड्दशत परिमाणमस्य षष्टिः। षषस्तिरित्ययं त्योऽपदत्वं च। सप्त दशतः परिमाणमस्य सप्ततिः। सप्तनस्तिरिदं त्य.। अष्टौ दशतः परिमाणमस्य अशीतिः। अष्टनः अशीभाव. तिश्च

त्यः। नव दशतः परिमाणमस्य नवति। नवशब्दात्तिः। दश दशतः परिमाणमस्य शतम्। दशानां शभावः तश्च त्यः। विंशत्यादीनां क्वचित्संख्यानप्रधानत्वम्, क्वचित्संख्येयप्रधानत्वम्। लिङ्गवचनं च स्वाभाविकत्वादेव सिद्धम्। इह यथाकथञ्चिद्व्युत्पत्तिः क्रियते। सहस्रादयोऽप्यनयैव दिशाऽनुगन्तव्याः। दशशतानि परिमाणमस्य, सहस्रम्। दशसहस्राणि परिमाणमस्य, अयुतम्।

पञ्चदशतौ वर्गे वा ॥३।४।५९॥ पञ्चन् दशन् इत्येतौ शब्दौ वर्गेऽभिधेये वा निपात्येते। तदस्य परिमाणमित्यस्मिन्विषये नित्ये के प्राप्ते पक्षे डदित्ययं त्यो निपात्यते। पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गः। दशद्वर्गः। दशको वर्गः।

तदर्हति ॥३।४।६०॥ तदितीप्समर्थादर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। श्वेतच्छत्रमर्हति श्वैतच्छत्रिकः। आभिषेचनिकः। वास्त्रयुगिकः। दाध्योदनिकः। शतिक। शत्य। इह भोजनमर्हतीत्यनभिधानान्न भवति। "स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्" [३।१।७२] इत्येषोऽपि विधिरनभिधानान्नावतरति। ठणादय इमं योगं प्राप्य निवृत्ताः।

प्राग्वतष्ठञ् ॥३।४।६१॥ तदर्हं वदिति वक्ष्यते। प्रागेतस्माद्वत्संशब्दनाद्यानित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः तेषु ठञधिकृतो वेदितव्यः। वक्ष्यति "पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति" [३।४।९८] पारायणिकः। "प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपि" इति द्वैपारायणिकः। इह (ठणि) प्रकृते तस्योप् प्रसज्येत तेन ठञधिकृतः।

छेदादेर्नित्यम् ॥३।४।६२॥ नित्यग्रहणमर्हतीत्यस्य विशेषणम्। छेदादिभ्यो नित्यमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं त्यो भवति। छेदं नित्यमर्हति छैदिकः। छेद। भेद। द्रोह। द्रोह। तस्कर। नर्त। कर्ष। विकर्ष। विप्रकर्ष। प्रयोग। संप्रयोग। विप्रयोग। सम्प्रश्न। प्रेषण। विरागः विरङ्ग च।

शीर्षच्छेदाद्यश्च ॥३।४।६३॥ नित्यमिति वर्तते। शीर्षच्छेदशब्दात् इप्समर्थात् नित्यमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति ठञ् च। शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति शीर्षच्छेदिकः। अन्ये शिरश्छेदं नित्यमर्हतीति त्यसन्नियोगे शिरसः शीर्षभावं वर्णयन्ति। तदयुक्तं यत्नाभावात्। तस्मान्नियतविषयः शिरःपर्यायः शीर्षशब्दोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्।

दण्डादेः ॥३।४।६४॥ नित्यमिति निवृत्तम्। दण्ड इत्येवमादिभ्योऽर्हतीत्यस्मिन्नर्थे यो भवति। ठञोऽपवादः। दण्डमर्हति दण्ड्यः। दण्ड। मुशल। मधुपर्क। कशा। अर्घ। मेघा। मेघ। वध। उदक। युग। इभ (भ)।

पात्राद्घश्च ॥३।४।६५॥ तदर्हतीति वर्तते। पात्रशब्दाद्घो भवति चकाराद्यश्च। ठञोऽपवादः। पात्रमिति परिमाणं च गृह्यते। पात्रमर्हति पात्रियः। पात्र्यः।

कडङ्करदक्षिणास्थालीविलाच्छश्च ॥३।४।६६॥ तदर्हतीति वर्तते। कडङ्कर दक्षिणा स्थालीविल इत्येतेभ्यश्छो भवति यश्च। ठञोऽपवादः। मुद्गादि काष्ठं कडङ्करम्। कडङ्करमर्हति कडङ्करीयो गौः। दक्षिणामर्हति दक्षिणीयः। दक्षिण्यः। स्थालीविलमर्हति स्थालीविलीयाः स्थालीविल्यास्तण्डुलाः। पाकार्हा इत्यर्थः।

यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ ॥३।४।६७॥ तदर्हतीति वर्तते। यज्ञ-ऋत्विक्शब्दाभ्यां यथासंख्यं घखञौ भवतः। ठञोऽपवादः। यज्ञमर्हति यज्ञियः। आर्त्विजीनः। उपचारात् कर्मापि तयोरर्हम्। यज्ञमर्हति, यज्ञियो देशः। ऋत्विक्कर्मार्हति आर्त्विजीनं कुलम्।

पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति ॥३।४।६८॥ तदिति वर्त्तते। पारायणतुरायणचान्द्रायणशब्देभ्य इप्समर्थेभ्यो वर्तयतीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति। पारायणं वर्तयति पारायणिकः। शिष्य एवाभिधानं नाध्यापके। तुरायणं यज्ञं वर्तयति तौरायणिकः। यजमान एव न याजके। चान्द्रायणिकः।

संशयमापन्नः ॥३।४।६९॥ संशयशब्दादिप्समर्थादापन्न इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति। सशीतिः संशयः, तमापन्ने कर्तृकर्मणी भवतः। तत्र कर्त्तरि पुरुषेऽभिधानं नास्ति। संशयं विषयभावेनापन्नः सांशयिकः। स्थाण्वादि।

योजनं याति ॥३।४।७०॥ योजनशब्दादिप्समर्थाद्यातीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति। योजनं याति यौजनिकः। सङ्ख्यापूर्वपदादपि। द्वैयोजनिकः। 'क्रोशशतयोजनशतयोरुपसंख्यानम्' [वा०]। क्रोशशतं याति क्रौशशतिकः। यौजनशतिकः। "ततोऽभिगमनमर्हति च वक्तव्यम्" [वा०] क्रोशशतादभिगमनमर्हति क्रौशशतिकः। यौजनशतिको गुरुः।

पथः कट् ॥३।४।७१॥ तदिति वर्तते। पथिशब्दादिप्समर्थाद्यातीत्यस्मिन्नर्थे कट् इत्ययं त्यो भवति। पन्थानं याति पथिकः, पथिकी। द्वौ पन्थानौ याति, द्विपथिकः, द्विपथिकी। हृदर्थे रसे कृते रान्तात्पूर्वनिर्णयेनायमिष्यते।

पन्थो ण नित्यम् ॥३।४।७२॥ नित्यग्रहणं यातीत्यस्य विशेषणम्। पथिशब्दादिप्समर्थान्नित्यं यातीत्यस्मिन्नर्थे णो भवति तत्सन्नियोगे पन्थ इत्ययञ्चादेशः। पन्थानं याति पान्थः। नित्यमिति किम्? पथिकः।

उत्तरपथेनाहृतं च ॥३।४।७३॥ निर्देशादेव भाया उपादानम्। उत्तरपथशब्दाद् भासमर्थादाहृतं यातीति चानयोरर्थयोष्ठञ् भवति। उत्तरपथेनाहृतम्, औत्तरपथिकम्। उत्तरपथेन याति, औत्तरपथिकः। "वारिजङ्गलस्थलकान्ताराजशङ्कुपूर्वपदादिति वक्तव्यम्" [वा०] वारिपथेनाहृतं वारिपथिकः वारिपथेन याति वारिपथिकः। एवमर्थद्वयोऽपि। जाङ्गलपथिकः। स्थालपथिकः। कान्तारपथिकः। आजपथिकः। शाङ्कुपथिकः। "मधुकमरिचयोः स्थलपूर्वादण् वक्तव्यः"। स्थलपथेनाहृतं स्थालपथं मधुकं मरिचं वा।

कालेभ्यः ॥३।४।७४॥ बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थः। अधिकारोऽयम्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्याम. कालवाचिभ्य इत्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति "तेन निर्वृत्तः" [३।४।७५]। मासेन निर्वृत्तम् मासिकम्। आर्द्धमासिकम्।

तेन निर्वृत्तः ॥३।४।७५॥ तेनेति भासमर्थेभ्य. कालवाचिभ्यो निर्वृत्त इत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति। मासेन निर्वृत्तः, मासिकः। सांवत्सरिकः प्रासादः।

तमवो(धी)ष्टो भृतो भूतो भावी ॥३।४।७६॥ तमितीप्समर्थात् कालवाचिशब्दात् अधी-(धी)ष्टो भृतो भूतो भावीति एतेष्वर्थेषु ठञ् भवति। सत्कृत्य नियुक्तोऽधी(धी)ष्टः। वेतनेन क्रीतो भृतः। मासमधी(धी)ष्टो भृतो भूतो भावी वा मासिकः। आर्द्धमासिकः। सांवत्सरिकः। "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" [१।४।४] इतीप्। अधी(धी)ष्टभृ(भृ)तयोरर्थयोर्मासैकदेशे मुहूर्ते मासशब्दो वर्तते। तत्राऽध्येषणभरणक्रियाभ्यां कालस्याविच्छेदः। भूतभाविभ्यां तु स्वसत्तया (स्वसत्तया) कालस्याविच्छेदः सिद्ध एव। इह कथं भूतः पाक्षिकः। वासतिकः। इति कथं कालवाचित्वम्? कालस्य परिमाणात् कालनिमित्तत्वाद्वा। समयमपि कालं भूत इत्यत्राऽनभिधानान्न भवति।

---

१. पाठक स०, पृ०। २. स सत्वया स०, पृ०।

मासाद् वयसि खञ् ॥३।४।७७॥ तमधी(धी)ष्टो भृतो भूतो भावीति वर्तते। मासशब्दाद् वयस्यभिधेये खञ् भवति। ठञोऽपवादः। वयसीति वचनात्। अधी(धी)ष्टभृतग्रहणं नाभिसम्बध्यते। मास भूतो भावी वा, मासीनः। कथ भावि वयो विगमः इति चेत्, अरिष्टदर्शनात्। ञकारः "ञिद्वृद्धरक्त-विकारे" [४।३।१५१] इत्यत्र पुवद्भावप्रतिषेधार्थः। मासीनो दुहितृकः। वयसीति किम्? मासिकः।

यः ॥३।४।७८॥ मासशब्दाद् वयस्यभिधेये यश्च भवति। मासं भूतो भावी वा मास्यः। योग-विभाग उत्तरार्थः।

रात् ॥३।४।७९॥ मासाद् वयसीति वर्तते। मासान्ताद् राद् वयस्यभिधेये यो भवति। द्वौ मासौ भूतो भावी वा द्विमास्यः। प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानामनुपीति ठञपवादयोर्यखञोः प्राप्तयोरनेन यो विधीयते।

षण्मासाण्ण्यश्च ॥३।४।८०॥ षण्मासशब्दाद् वयस्यभिधेये ण्यो भवति यश्च। षण्मासाद् भूतो भावी वा षाण्मास्य। षण्मास्यः। अन्ये चशब्देन ठञ समुच्चिन्वन्ति। यस्त्वनुवर्त्तनादेव भवति तेषां षाण्मासिक इत्यपि।

ठश्चावयसि ॥३।४।८१॥ षण्मासशब्दादवयस्यभिधेये ठो भवति ण्यश्चानन्तरः। षाण्मासिको नायक। षाण्मास्यः।

समायाः खः ॥३।४।८२॥ अधी(धी)ष्टादयश्चत्वारोऽर्था अनुवर्त्तन्ते। समाशब्दादिप्समर्थादधीष्टा-दिष्वर्थेषु खो भवति। ठञोऽपवादः। समामधी(धी)ष्टो भूतो भावी वा समीनः।

राद् भूतबले ॥३।४।८३॥ समाशब्दान्ताद् निर्वृत्तादिषु पञ्चस्वर्थेषु खो भवति भूतबलेराचार्यस्य मतेन। नान्येषाम्। प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति पूर्वेण नित्ये खे प्राप्ते विभाषेयम्। द्वे समे भृते भूतो भावी वा द्विसमीनः। द्वैसमिकः। त्रिसमीनः। त्रैसमिकः। कालः परिमाणग्रहणेन न गृह्यते। तेन "परिमाणस्याखुशाणे" [४।२।२२] इति वोरैप्न भवति।

राज्यहःसंवत्सरात् ॥३।४।८४॥ रादिति वर्त्तते। अहन् सवत्सर इत्येवमन्तान्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु भूतबलेराचार्यस्य मतेन खो भवति। अहन्। द्व्यहीनः। द्वैयह्निकः। अत्रापि अहरन्तादिति वचनात् "राजाहःसखिभ्यष्ट" [४।२।१३] इति सान्तो न भवति। अन्यथा "एभ्योऽह्नोऽह्नः" [४।२।१०] इत्यह्नादेशे सति द्व्यह्नीन इत्यनिष्ट रूप स्यात्। द्वैयह्निक इति चेष्यते। तत्कथ सिद्ध्यति? द्वयोरह्नोः समाहारः टे सान्ते "न समाहारे" [४।२।११] इत्यह्नादेशप्रतिषेधे च सति सिद्ध्यति। संवत्सर, द्विसंवत्सरीणः। द्विसांवत्सरिकः। "संख्यायाः (सख्या) संवत्सरस्य" [४।२।२०] इति वोरादैप्।

वर्षाद्धुप् च ॥३।४।८५॥ रादिति वर्त्तते। वर्षशब्दान्तान्निर्वृत्तादिष्वर्थेषु भूतबलेराचार्यस्य मतेन ठञ उब्भवति खश्च। अन्येषां ठञेव। तेन त्रैरूप्यम्। द्वे वर्षे भूतः, द्विवर्षः, द्विवर्षीणः, द्विवार्षिकः। "वर्ष-स्याभाविनि" [५।२।२१] इति वोरादैप्। भाविनि द्विवार्षिक इति भवति।

प्राणिन्युप् ॥३।४।८६॥ पुनरुब्ग्रहणं नित्यार्थम्। वर्षशब्दान्तादुत्पाणिनि त्वार्थेऽभिधेये नित्य उ-ब्भवति। पूर्वेण विकल्पेन पक्षे ठञः श्रवणं खश्च न भवति। द्वे वर्षे भृतो भावी वा द्विवर्षो दारकः। भूतभाविनोरेवार्थयोरय नित्यउबिष्यते नान्यत्र। द्वे वर्षे अधीष्टो भृ(भृ)तो वा कर्म करिष्यति, द्विवार्षिको मनुष्यः।

तदस्य ब्रह्मचर्यम् ॥३।४।८७॥ तदितीप्समर्थात्कालवाचिनो मृडाऽस्येति ताथे ट[illegible] मासादि-दिप्समर्थं तस्य व्यापक तदर्थस्य च त्वं ब्रह्मचर्यं चेद् भवति। मासं ब्रह्मचर्यमस्य मासिको ब्रह्मचारी। उभयत्र [illegible] इति पुनरेऽभिधेयः। एवम्, आर्धमासिक। सांवत्सरिक। "[illegible] पूर्वपदस्य"

द्वादशवार्षिकः। "ब्रह्मचर्यमित्यस्मिन्नर्थे महानाम्न्यादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०]। महानाम्न्यो नाम ऋचः। महानाम्नीनां ब्रह्मचर्य्यम्, माहानाम्निकम्। आदित्यव्रतिकम्। गौदानिकम्। "तच्चरतीति च महानाम्न्यादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०]। महानाम्नीश्चरति माहानाम्निकः। महानाम्नीसहचरितं व्रतं चरतीत्यर्थः। एवम्, आदित्यव्रतिकः। गौदानिकः। "अवान्तरदीक्षादिभ्यो डिन् वक्तव्यः" [वा०]। अवान्तरदीक्षां चरति अवान्तरदीक्षी। देवव्रती। तिलव्रती। "अष्टाचत्वारिंशतो ड्वुडिनौ च वक्तव्यौ" [वा०]। अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि व्रतं चरति, अष्टाचत्वारिंशत्कः। अष्टाचत्वारिंशी। "चातुर्मास्यानां यज्ञे च ड्वुडिनौ च वक्तव्यौ" [वा०]। चातुर्मास्यानि चरति चातुर्मासकः। चातुर्मासी। अथ किमिदं चातुर्मास्यानीति? "चतुर्मासाण्ण्यो यज्ञे तत्रभवे वक्तव्यः" [वा०]। चतुर्षु मासेषु भवन्ति चातुर्मास्यानि। "संज्ञायामण् वक्तव्य" [वा०]। चतुर्षु मासेषु भवा पौर्णमासी चातुर्मासी। कार्त्तिकी। फाल्गुनी। आषाढी चेति। अथ मासोऽस्य ब्रह्मचर्य्यस्य मासिकं ब्रह्मचर्य्यम्। आर्धमासिकम्। सांवत्सरिकमित्यस्य सिद्धये यत्नः कर्तव्यः। न कर्तव्यः। मास भूत भावि वा ब्रह्मचर्य्यं मासिकमिति भविष्यति।

तस्य दक्षिणा यज्ञाख्यात् ॥३।४।८८॥ तस्येति तासमर्थात् यज्ञाख्यान्मृदो दक्षिणेत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति। यज्ञमाचष्टे यज्ञाऽख्यः। कप्रकरणे उषीति (सुपि [२।२।७] इति) योगविभागे "मूलविभुजादिभ्यः" [वा०] इति (वा) कः। अग्निष्टोमस्य दक्षिणा आग्निष्टोमिकी। "तस्येदम्" [३।३।८८] इत्यस्याऽणोऽपवादः। एवं राजसूयिकी। दाशौदनिकी। अकालार्थं चाऽख्यग्रहणम्। अन्यथा कालाधिकारात् एकाहद्वादशाहप्रभृतिभ्य एव यज्ञेभ्यः स्यात्। प्राग्वतः संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणमनुपीति कालावि (धि) कारेऽपि द्वादशाहादिष्वस्ति प्राप्तिः।

तत्र दीयते भववत् ॥३।४।८९॥ तत्रेतीप्समर्थात् कालवाचिनो मृदो दीयते इत्यस्मिन्नर्थे भव इव त्वविधिर्वेदितव्य। यथा मासे भव मासिकम्। आर्धमासिकम्। "कालाट्ठञ्" [३।२।१३१] इत्येवमादिर्विधिः। एवं मासे दीयते मासिकम्। आर्द्धमासिकम्। प्रावृषेण्यम्। हैमनम्। शैशिरम्। वद्ग्रहणं सर्वसादृश्यार्थम्। इह कार्यग्रहणमपि कर्त्तव्यम्। मासिकम्। वासन्तम्। हैमनम्। कर्त्तव्यम्, यन्मासे कार्यं तन्मासे भवमित्यपि भवति। ततः "तत्र भवः" [३।३।२८] इत्येव सिद्धम्। तदनुवर्थं तर्हीह कार्यग्रहणं सार्थकम्। द्वयोर्मासयोः कार्यं द्वैमासिकम्। भवार्थलक्षणस्य ठञः "रस्योवनपत्ये" [३।१।७४] इत्युप् प्रसज्येत। नेद युक्तम्। उक्तेवात्रेष्यते। यदन्यैरप्युक्तम्। कार्यग्रहणमप्यनर्थकम्। तत्र भवेन कृतत्वादिति। अथापि कार्यमनुपः प्रयोगो दृश्यते। एवं तर्हि "तेन कार्य" मित्यत्र स द्रष्टव्यः। द्वाभ्यां मासाभ्यां कार्यं द्वैमासिकम्। "जय्यह्मय्यकार्यहुकरम्" [३।४।९२] इति ठञ्। तत्र दीयते इति योगविभागः कर्त्तव्यः। यज्ञाख्यादित्यनुवर्त्तते। अग्निष्टोमे दीयते आग्निष्टोमिकमन्नम्। राजसूयिकम्। वाजपेयिकम्। द्वयोर्वाजपेययोर्दीयते द्वैवाजपेयिकम्।

व्युष्टादेरण् ॥३।४।९०॥ इह कालेभ्य इति नापेक्ष्यते। सामान्येन विधानात्। तत्रेति वर्तते। व्युष्ट इत्येवमादिभ्य ईप्समर्थेभ्यो दीयते इत्यस्मिन्नर्थेऽण् भवति। उच्छी विवास इत्यस्य क्ते व्युष्टमिति कालवाचि। व्युष्टे दीयते वैयुष्टम्। नित्यशब्दादनन्तादपि वचनाद् भवति। तीर्थ। निष्क्रमण। उपसंक्रमण। प्रवेशन। संग्राम। संघात। प्रवास। उपवास। अग्निपदी। पीलुमूल। "अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०] न कर्तव्यमिदं पाठात्।

तेन यथाकथाचहस्ताभ्यां णयौ ॥३।४।९१॥ अत्रापि कालेभ्य इति नापेक्ष (क्ष्य) ते। दीयते इति वर्तते। तेनेति भासमर्थाभ्यां यथाकथाच-हस्तशब्दाभ्यां दीयते इत्यस्मिन्नर्थे यथासंख्यं णयौ भवतः। यथाकथाच दीयते याथाकथाचम्। अनादरदत्तमित्यर्थः। हस्तेन दीयते हस्त्यम्।

जय्यलभ्यकार्यसुकरम् ॥३।४।९२॥ कालेभ्य इति वर्तते। तेनेति भासमर्थात् कालवाचिनो मृदो जय्य लभ्य कार्य्य सुकर इत्येतेष्वर्थेषु ठञ भवति। मासेन जय्यो मासिको हस्ती। मासेन शक्यते जेतुमित्यर्थः। मासेन लभ्यो मासिकः पटः। मासेन कार्यं मासिकं गृहम्। मासेन सुकरो मासिकः प्रासादः।

सम्पादिनि ॥३।४।९३॥ कालेभ्य इति निवृत्तम्। भासमर्थान्मृदः सम्पादिन्यर्थे ठञ् भवति। कर्णवेष्टाभ्यां सम्पादि शोभते कार्णवेष्टिकं मुखम्। वस्त्रयुगेन सम्पद्यते वास्त्रयुगिकं शरीरम्।

कर्मवेषाद्यः ॥३।४।९४॥ तेन सम्पादिनीति च वर्तते। कर्मवेषशब्दाभ्यां यो भवति। ठञोऽपवादः। कर्मणा सम्पद्यते कर्मण्यं शौर्यम्। वेषेण सम्पद्यते वेष्या नर्तकी। नेपथ्येन शोभते इत्यर्थः।

तस्मै प्रभवति सन्तापादेः ॥३।४।९५॥ तस्मै इति अप्समर्थेभ्यः सन्तापादिभ्यः प्रभवतीत्यस्मिन्नर्थे ठञ् भवति। अलमर्थेऽप्। सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः। सन्ताप। सन्नाह। संयोग। संग्राम। सम्पराय। सम्पेष। निष्पेष। निसर्ग। उपसर्ग। विसर्ग। प्रवास। उपवास। संघात। संमोहन। शक्तुमांसौदनाद् विगृहीतादपि। शाक्तुमांसौदनिकम्। शाक्तुकम्। मांसिकम्। औदनिकम्।

योगाद्यश्च ॥३।४।९६॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते। योगशब्दाद्यो भवति ठञ् च। योगाय प्रभवति, योग्यः। यौगिकः।

कर्मण उकञ् ॥३।४।९७॥ तस्मै प्रभवतीति वर्तते। कर्मशब्दादुकञ् भवति। कर्मणे प्रभवति कार्मुकं धनुः।

समयस्तदस्य प्राप्तम् ॥३।४।९८॥ तदिति वासमर्थात्समयादस्येति ताऽर्थे ठञ् भवति यत्तद्वासमर्थं प्राप्तं चेत्तद्भवति। समयः प्राप्तोऽस्य सामयिकम्। प्राप्तकालमित्यर्थः।

ऋतोरण् ॥३।४।९९॥ ऋतुशब्दात् वासमर्थात्प्राप्तोपाधिकादस्येति ताऽर्थेऽण् भवति। ऋतुः प्राप्तोऽस्य, आर्त्तवं पुष्पम्। "उपवस्त्रादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०]। उपवस्ता प्राप्तोऽस्य औपवस्त्रम्। प्राशिता प्राप्तोऽस्य प्राशितम्। कर्मनामधेयम्।

कालाद्यः ॥३।४।१००॥ तदस्य प्राप्तमिति वर्तते। कालशब्दाद्यो भवति। कालः प्राप्तोऽस्य, काल्यं शीतम्। रात्रावुषितायामहरादिः कालोऽपि काल्यः।

प्रकृष्टे ठः ॥३।४।१०१॥ तदस्येति वर्तते कालादिति च। प्रकृष्टे प्रकर्षे वर्तमानादस्येति ताऽर्थे ठो भवति। प्रकृष्टः दीर्घः कालोऽस्य कालिकम् ऋणम्। कालिकं सख्यम्। अन्ये प्रकृष्टे ठञिति पठन्ति। कालिका मैत्री।

प्रयोजनम् ॥३।४।१०२॥ कालादिति निवृत्तम्। तदस्येति वर्तते। प्रयोजयतीति प्रयोजनम्। नन्द्यादिपाठाल्ल्युः। बहुलवचनाद्वा कर्त्तरि युट्। तदिति वासमर्थात्प्रयोजनोपाधिकादस्येति ताऽर्थे ठञ् भवति। अर्हत्पूजाप्रयोजनमस्य आर्हत्पूजिकः। ऐन्द्रमहिकः।

वैशाखाषाढपाष्टिकैकागारिकडाकालिकट् ॥३।४।१०३॥ वैशाखादयः शब्दा निपात्यन्ते। यदत्र लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धं तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन्विषये। 'विशाखाषाढाभ्यां यथासंख्यं मन्थदण्डयोरण्निपात्यते।" विशाखा प्रयोजनमस्य वैशाखो मन्थः। आषाढो दण्डः। "षष्टिरात्रेण पच्यन्ते इत्यस्मिन्वाक्ये कः। रात्रशब्दस्य च लुक्।" षष्टिका नाम व्रीहयः। अन्यत्र वाक्यमेव भवति। षष्टिरात्रेण पच्यन्ते मुद्गा इति। "एकागारशब्दात्तदस्य प्रयोजनमित्यस्मिन्नर्थे चौरेऽभिधेये ठञ्।" एकागारं प्रयोजनमस्य ऐकागारिकश्चौरः। चौरादन्यत्र वाक्यमेव। एकागारं प्रयोजनमस्य भिक्षोरिति। अथवा "एकं समयं आकालिक

तुमिति वाक्ये एक शब्दाण्णागारिकछितीयं त्यो निपात्यते। ऐकागारिकश्चौरः । ऐकागारिकी चौरी। समानकालशब्दादाद्यन्तोपाधिविशिष्टादस्येति ताऽर्थे इकड्निपात्यते समानकालस्य च आकाल आदेशः। समानकालावाद्यन्तावस्य आकालिकः स्तनयित्नुः। आकालिकी विद्युत्। यस्तु प्रादिलक्षणे से आकाल इष्टः। आवृत्तः काल ईषत्कालो वा आकाल इति। तस्मात् ठञ् च ठश्चेष्यते। आकालिकी आकालिका विद्युत्।

छोऽनुप्रवचनादेः ॥३।४।१०४॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते। अनुप्रवचनादिभ्यश्छो भवति। ठञोऽपवादः। अनुप्रवचन प्रयोजनमस्य, अनुप्रवचनीयम्। अनुप्रवचन। उत्थापन। उपस्थान। संवेशन। प्रवेशन। अनुवाचन। अनुवचन। अनुपान। अनुवादन। अनुवासन। अन्वारोहण। प्रारोहण। आरोहण। आभरण। "विशिपूरिपादिरुहिप्रकृतेरनात्सपूर्वपदादुपसंख्यानम्" [वा०]। गृहप्रवेशनीयम्। प्रपापूरणीयम्। अश्वप्रपदनीयम्। प्रासादरोहणीयम्। एतस्मिंश्च वक्तव्ये सति यानि गणे विश्यादिप्रकृतीत्यनान्तानि पठ्यन्ते तेषां पाठोऽनर्थकः प्रपञ्चार्थो वा।

समापनात्सादेः ॥३।४।१०५॥ तदस्य प्रयोजनमिति वर्तते। समापनशब्दात्सादेश्छो भवति। ठञोऽपवादः। जैनेन्द्रसमापन प्रयोजनमस्य जैनेन्द्रसमापनीयम्। तर्कसमापनीयम्। "स्वर्गादिभ्यो यो वक्तव्यः" [वा०]। स्वर्गः प्रयोजनमस्य स्वर्ग्यम्। वन्यम्। यशस्यम्। आयुष्यम्। काम्यम्। "पुण्याहवाचनादिभ्य ठब्वक्तव्यः" [वा०]। पुण्याहवाचनं प्रयोजनमस्य पुण्याहवाचनम्। शान्तिवाचनम्। स्वस्तिवाचनम्। अक्षतपात्रम्। नेद वक्तव्यम्। तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं भविष्यति। अनभिधानाट्ठञ् भवति। "श्रद्धादिभ्योऽण् वक्तव्यः" [वा०]। श्रद्धा प्रयोजनमस्य श्राद्धम्। चूडा प्रयोजनमस्य चौडम्।

तदर्हं वत् ॥३ ४ १०६॥ अर्हतीत्यर्हः, तदितीप्समर्थाद् अर्हतीत्यर्थे वद् भवति। राजानमर्हति राजान (राजवद्) वृत्तम्। कुलीनवत्। इह कस्मान्न भवति शतमर्हति देवदत्तः। राजानमर्हति मणिः। उत्तरत्र क्रियाग्रहणं गुणभूतमपि सिंहावलोकनेन सम्बध्यते तेन क्रिया यत्रार्हतेः कर्तृत्वेन विवक्षिता तत्राऽयं विधिः।

तेन क्रिया तुल्ये ॥३।४।१०७॥ वदिति वर्तते। क्रिया तुल्या अस्य क्रियातुल्यम्। इच्छातो विशेषणविशेष्यभाव इति क्रियाशब्दस्य पूर्वनिपातः। तेनेति भासमर्थात्क्रियातुल्येऽर्थे वद् भवति। क्षत्रियेण तुल्य युध्यते क्षत्रियवद्युध्यते। "भाऽतुलोपमाभ्यां तुल्यार्थैः" [१।४।७६] इति भा। शिष्येण तुल्यं वर्तते, शिष्यवद् वर्तते। अश्ववद्धावति। साधुवद् भूते। इह कस्मान्न भवति। तैलपाकेन तुल्योऽद्दत पाक इति ? इह सूत्रे वर्ष (दृपर्या) क्रिया सा च साध्या पूर्वापरीभूताऽवयवा, असाध्यभूता[1] च। घञाद्यन्तेन पुनर्व- (द्रव) र्धत व (ध) र्म्म सिद्धतालक्षणो द्रव्यभूत उच्यते इति नास्ति प्राप्तिः। यदि घञाद्यन्तेन क्रिया नाभिधीयते कथं भोक्तु पाक भोजकस्य पाकः इति ? नैष दोषः ? "अतु[2] यादि (वुण्तुमादि)" [२।३।८] सूत्रे घञाद्यन्तायाः प्रकृतेरर्थः क्रियाऽऽधीयते। क्रियाग्रहण किमर्थम् ? ब्राह्मणेन तुल्यः पिङ्गलः। गुणतुल्ये मा भूत्।

तत्रेव ॥३.४।१०८। तत्रेतीप्समर्थात् इवार्थे वद् भवति। मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्रासादाः। मथुरावद् रमणीयता। मथुरावद् वर्तते।

तस्य ॥३।४।१०९॥ इवशब्दोऽनुवर्तते। तस्येति तासमर्थादिवार्थे वद् भवति। देवदत्तस्य इव देवदत्तस्य वाम्। रस इव शब्दवद् देवदत्तस्याथ। वत्करणे 'सोऽपुसान्तुक्त्वात्' [३।१।७२]

---

१. "असाध्यभूता च" इत्यादि पाठः। २ अतुमादि पु०।

इत्येष विधिर्न भवति । "भादौ वोक्तपुंस्कं पुंवत्" [४।१।५३] इति निर्देशात् । योगापेक्षं चेदं ज्ञापकम् । तेन स्त्रीवदित्यपि सिद्धम् । योगविभाग उत्तरार्थः ।

भावे त्वन्तलौ[1] ॥३।४।११०॥ तस्येति वर्तते । तासमर्थाद् भावेऽर्थे त्वन्[2] तल इत्येतौ लौ भवतः । नकारः "स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्" [३।१।७२] इत्यत्राऽस्यावधिरूपेण ग्रहणं मा भूत् इत्येवमर्थः । लकारस्तलन्तः स्त्रियामिति विशेषणार्थः । भावः शब्दप्रत्ययप्रवृत्तिकारणम् । तद्यथा भवतोऽस्माच्छ-ब्दप्रत्ययाविति भाव । उक्तं च "यस्य गुणस्य हि भावाद्द्रव्ये शब्दविनिवेशः[3], तदभिधाने त्वन्तलौ[4]" [पा० महा० ५।१।११९] इति । इह गुण इति विशेषणमात्रम्, द्रव्यमिति विशेष्यमात्रम् इष्टम् । अश्वस्य भावः, अश्वत्वम् । अश्वता । शुक्लत्वम् । शुक्लता । अत्र जातिगुणयोरभिधाने त्वन्तलौ । सम्बन्धस्तु गम्यो नाभिधेयः । इह पाचकत्वमिति क्रियाऽभिधाने । अथवा सम्बन्धप्रधानाः । सम्बन्धे चाभिधेये त्वन्तलौ । कारकत्वम् । औपगवत्वम् । राजपुरुषत्वमिति । एतेऽपि ये जातिगुणशब्दाः, तेभ्यो जातिगुणस्य चाभिधाने । कुम्भकारत्वम् । हस्तित्वम् । राजवृक्षत्वम् । ये गुणमात्रवचना रूपं रसो गन्ध इति, तेभ्य· सामान्याभिधाने रूपत्वम्, रसत्वम् । उपचारशब्देषूपचारनिमित्तेऽभिधेये गोत्व वाहीकस्य । अग्नित्वं माणवकस्य । पृथक्त्व नानात्वमित्येवमादौ असत्त्वभूतत्वेऽपि शब्दान्तरेण तासमर्थता पृथगित्यस्य भाव इति । यदृच्छा-शब्देषु डित्यादिषु संज्ञासम्बन्धाभिधाने सर्वावस्थाव्याप्याकृतिसामान्याभिधाने च डित्थत्वम् । उत्क्षे-पणादिषु सामान्येऽभिधेये उत्क्षेपणत्वम् ।

आ च त्वात् ॥३।४।१११॥ वक्ष्यति "ब्रह्मणस्त्वः" [३।४।१२६] इति । आ एतस्मात् त्व संशब्दनाद्यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्त्वन्तलौ तत्राऽधिकृतौ वेदितव्यौ । अपवादविषये समावेशार्थं कर्मणि च विधानार्थमेव तावधिक्रियेते । वक्ष्यति "पृथ्वादेर्वेमन्" [३।४।११२] प्रथिमा । पृथुता । ननु वावचनात् त्वन्तलौ स्वयमेव भविष्यतः ? नैतदेवम्, "ष्यादेरिकः" [३।४।१२१] इत्येवमादिसमावेशार्थं तद् वावचनम् । चकारकरणं किमर्थम् ? "स्त्रीपुंसान्नुक्त्वात्" [३।१।७२] इत्यस्मिन्नपि विषये प्रापणार्थम् । स्त्रीत्वम् । स्त्रीता । पुंस्त्वम् । पुंस्ता । प्राक्त्वादिति मर्यादाकरणसामर्थ्यादपि सिद्धः । स्त्रिया भावः स्त्रैणम् । पौंस्नम् ।

पृथ्वादेर्वेमन् ॥३।४।११२॥ पृथु इत्येवमादिभ्यो वा इमन् भवति तस्य भाव इत्यस्मिन्विषये । वावचनं "ष्यादेरिकः" [३।४।१२१] इत्यस्याणः, गुणवचनेभ्यष्ष्यणः, वयोवाचिभ्यस्त्वञः समावेशार्थम् । पृथोर्भावः, प्रथिमा, पार्थवम्, पृथुत्वम्, पृथुता । पृथु । मृदु । महि । पटु । तनु । लघु । बहु । आशु । ऊरु । बहुल । दण्ड । खण्ड । चण्ड । अकिञ्चन । बाल । होड । पाक । वत्स । मन्द । स्वादु । ऋजु । वृष । ह्रस्व । दीर्घ । क्षिप्र । क्षुद्र । प्रिय ।

वर्णदृढादेष्ट्यण् च ॥३।४।११३॥ वर्णशब्देन वर्णविशेषा गुणोपसर्जने द्रव्ये ये वर्तन्ते, तेषामिह ग्रहणम् । तादृशैरेव दृढादिभिर्गुणवचनै साहचर्याद् वर्णविशेषवाचिभ्यो दृढादिभ्यश्च ट्यण् भवति इमंश्च वा तस्य भाव इत्यस्मिन्विषये । शुक्लस्य भावः शौक्ल्यम्, शुक्लिमा, शुक्लत्वम्, शुक्लता । कार्ष्ण्यम् । कृष्णिमा । शैत्यम्, शितिमा, शितित्वम् । विभाषाऽनुकर्षणादन(ण)पि भवति । शैतम् । दृढादिभ्यः । दृढस्य भावः, दार्ढ्यम्, द्रढिमा, दृढत्वम्, दृढता । दृढशब्दस्य क्षुभ्नादिषु अनिट्त्व दृढ च निपात्यते । दृढ । वृढ । परिवृढ । कृश । भृश । चुक्र । अम्ल । लवण । "वेर्यातिक्षावरसमविमनःशारदानाम्"

---

1. त्वत्तलौ अ०, पु० । 2. त्वन् अ०, पु० । 3. -शब्दनिवेशः पा० महा० । 4. त्वतलौ पा० महा० । त्वत्तलौ अ०, पु० । 5. त्वन्तलौ अ०, पु० ।

[ग० सू०] वैयात्यम् । वैलात्यम् । वैरस्यम् ।। वैशारद्यम् । "समो मतिमनसोः" [ग० सू०] । साम्मत्यम् । साम्मनस्यम् । शीत । उष्ण । जड । बधिर । मूक । मूर्ख । पण्डित । मधुर इति । किमर्थमिदमुच्यते ? एषा गुणोक्तित्वादेव "गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः" [३।४।११४] इत्येव ट्यण् सिद्धः इमप्रापणार्थम् । एतत् ट्यण्ग्रहणमुत्तरत्राऽवश्यकर्तव्यमिहैव कृतम् ।

गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ॥३।४।११४॥ गुणोक्तिभ्यः शब्देभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च तासमर्थेभ्यष्ट्यण् भवति कर्मणि भावे चाभिधेये । उच्यते इत्युक्तिः, गुण उक्तिर्यस्य स गुणोक्तिः । प्रागुगुणमुक्त्वा गुणद्वारेण द्रव्ये यो वर्तत इत्यर्थः । जडस्य कर्म भावो जाड्यम् । मौढ्यम् । ब्राह्मणादिराकृतिगणः । आदिशब्दस्य प्रकारवाचित्वात् । एवं च गुणोक्तिग्रहणं गणे च ब्राह्मणादीनामनुक्रमणं स्वार्थेऽपि भवतीति प्रपञ्चार्थम्, बाधकबाधनार्थं च । ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा ब्राह्मण्यम् । वाडव्यम् । ब्राह्मणात् प्राणिजातिलक्षणोऽञ् प्राप्तः । माणव वाडव वृद्धलक्षणो वुञ् प्राप्तः । "अर्हतो नुम्च" [वा०] नुमर्थः पाठः । चोर । धूर्त । मनोज्ञादित्वाद् वुञ् प्राप्तः । आराव(ध)य । विराव(ध)य । उपराव(ध)य । अपराव(ध)य । एते "डप्चोलादेः" [३।१।१२६] इत्युबन्ताः । ततो वृद्धलक्षणो वुञ् प्राप्तः । प्राणिजातिलक्षणो वाऽञ् । एकभाव । द्विभाव । त्रिभाव । अन्यभाव । एतेभ्यः स्वार्थे । अक्षेत्रज्ञनञ् पूर्वार्थे ग्रहणम् । संवादिन् । सवेशिन् । सभाषिन् । बहुभाषिन् । शीर्षघातिन् । समस्थ । परस्थ । प्रस्थ[1] । आव्यस्थ । विषमस्थ । विशाल । एवं नञ्पूर्वार्थं ग्रहणम् । अनीश्वर नञ्पूर्वार्थपाठः । कुशल । चपल । निपुण । पिशुन । एभ्यो युवादित्वादण् प्राप्तः । बालिश (श) बालवयोवाचि(चि)त्वादञ् प्राप्तः । अलस । वसो[2]ऽयम् । इष । रुष । कापुरुष । अनयोर्नञ्पूर्वार्थम् । राजन्पुरोहितादित्वाण्ण्यः प्राप्तः । गणपति । अधिपति । पत्यन्तलक्षणो ण्यः प्राप्तः । गण्डुल । दायाद । विशस्ति । विशाप । विधान । निघात । एभ्यस्त्वत्तलोर्निवृत्त्यर्थम् । "सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे" [वा०] । सार्ववैद्यम् । सार्वलौक्यम् । धानुर्वेद्यम् । अनुशतिकादित्वादुभयत्रैप् । त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यम् । "वीरात्तेजसि यः" [वा०] । वीरस्य तेजः वीर्यम् । "विशेषेऽण् वक्तव्यः" [वा०] । वैरम् । ट्यणष्टित्करण ङ्यर्थम् । आचिती । सामग्री । "हलो हतो ङ्याम्" [४।४।१४०] इति यखम् ।

नञ्सेचतुरसंगतलव(व)णवडबुधकतरसलसेभ्यः ॥३।४।११५॥ प्रतिपदोक्ते नञ्से कृते चतुर संगत लवण (लवण) वड बुध कत रस लस इत्येतेभ्य एव भावकर्माभिधायिनस्त्या भवन्ति । ननु ग्रहणवद् यो विहिताः कथं तदन्तेभ्यः प्राप्नुवन्ति ? येनायं नियम उच्यते । ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वान्नञ्पूर्वादपि यण् (ट्यण्) प्राप्नोति । पत्यन्ताद्विहितो ण्यः, हायनान्तादण्, योङो वुञ्-पूर्वादपि प्राप्नोति । न चतुर अचतुरः, तस्य भावः कर्म वा आचतुर्यम् । आसंगत्यम् । आलवण्यम् । आवड्यम् । आबुध्यम् । आकत्यम् । आरस्यम् । आलस्यम् । एतेभ्य एव नञ्से कृते यथा स्युर्नान्येभ्य इति । अपटुत्वम् । अपटुता । अपतित्वम् । अपतिता । (अ)हायनत्वम् । (त्व) तलोर्नियमान्निर्वृत्तिर्न भवति, आ तलादिति वचनात् । प्रतिपदग्रहणं किमर्थम् ? नञ्पूर्वाद् बलात् भाववचनो यः प्राप्नोति स भवत्येव । न विद्यते पटुरस्य, अपटुः, अपटोर्भावः आपटवम् । अपतेर्भाव आपत्यम् । आहायनम् । आरमणीयकम् । अथ यत्र नञ्सस्य द्वन्द्ववृत्तेश्चैकमेव वाक्यं तत्र कथं भवितव्यम् न पटोर्भाव इति ? द्वन्द्वात् प्राग्भवितव्यं पश्चान्नञ्सः । अपाटवमिति । न कर्णवेष्टाऽभ्यासपादिसुखम् अकार्णवेष्टिकम् । तत्पुरुषादिश्चैवभिधानदर्शनान्न्ह । पश्चाद् भावे तः । न चतुरस्य भाव आचतुर्यम् ।

---

१. परस्य म०, मू० । २. स्यम । वसोऽयम् द०, स० ।

स्तेयसख्ये ॥३।४।११६॥ स्तेय सख्य इत्येते शब्दरूपे निपात्येते, स्तेनशब्दात्तत्समर्थात् भावकर्मणोर्यः, नशब्दस्य च ख निपात्यते। स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम्। यण् (ट्यण्) चानिष्यते। स्तैन्यम्। सखिशब्दाद् भावकर्मणोर्यः। सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम्। "दूतवणिग्भ्यां यो वक्तव्यः" [वा०] दूतस्य भावः कर्म वा दूत्या। वणिज्या।

कपिज्ञातेर्ढञ् ॥३।४।११७॥ कपि-ज्ञातिशब्दाभ्यां तत्समर्थाभ्यां ढञ् भवति भावे कर्मणि चाभिधेये। कपेर्भावः कर्म वा कापेयम्। इगन्तत्वादण् प्राप्तः। ज्ञातेर्भावः कर्म वा ज्ञातेयम्। प्राणिजातित्वादञ् प्राप्तः। त्वतलावपि भवतः। कपित्वम्। कपिता। ज्ञातित्वम्। ज्ञातिता।

पत्यन्तपुरोहितादेर्ण्यः ॥३।४।११८॥ पत्यन्तात्पुरोहितादेश्च ण्यो भवति। तस्य भावे कर्मणि चेति वर्तते। बृहस्पतेर्भाव कर्म वा, बार्हस्पत्यम्। सैनापत्यम्। इगन्तत्वादण् प्राप्तः। पुरोहितादिभ्यः। पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम्। राज्यम्। पुरोहित। "राजाऽसे" [ग० सू०]। असे इति किम्? सौराज्यम्। ब्राह्मणादित्वाट्ट्यण्। ग्रामिक। खण्डिक। दण्डिक। कर्म्मिक। वस्तिक[1]। शिलिक। सूचिक। अञ्जलिक। छत्रिक। वर्षिक। प्रतिक। सारथिक। साजनिक। आजनिक। साराह्नसूचक। ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वाट्ट्यणि सिद्धे स्त्रिया टाबर्थं वचनम्।

वयोवाक्प्राणिजात्युद्गात्रादिभ्योऽञ् ॥ ३।४।११९ ॥ वयसो वाग्भ्यः प्राणिजातिवाचिभ्य उद्गात्रादिभ्यश्चाञ् भवति। तस्य भावे कर्मणि चेति वर्तते। कुमारस्य भावः कर्म वा, कौमारम्। कैशारम्। कालभम्। प्राणिजातिभ्यः। आश्वम्। औष्ट्रम्। माहिषम्। उद्गातुर्भावः कर्म वा, औद्गात्रम्। उद्गातृ। उन्नेतृ। प्रतिहन्तृ। प्रशास्तृ[2]। होतृ। भर्तृ। रथगणक। पङ्क्तिगणक। सुष्टु। दुष्टु। अध्वर्यु। वधू।

हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ॥३।४।१२०॥ हायनान्तेभ्यो युवादिभ्यश्चाण् भवति। तस्य भावे कर्मणि चेति वर्तते। अवयोवाचित्वे हायनान्ताः प्रयोजयन्ति। द्विहायनस्य युवादेर्भावः कर्म वा, द्वैहायनम्। त्रैहायनम्। युवादिभ्यः—यूनो भावः कर्म वा यौवनम्। मनोज्ञादित्वाद् वुञ् प्राप्तः; अनेनाण्। "अन[3] अणि" [४।४।१२८] इति टिखप्रतिषेधः। पूर्वे सूत्रे यत्रण्ग्रहणं क्रियेत हस्तिनो भावः कर्म वा हास्त मित्यत्र "आयोऽनपत्येऽणीनः" [४।४।१५५] इति टिखप्रतिषेधः प्रसज्येत। मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि, युवतेर्भावः "भस्य ढ्त्यढे" [वा०] इति पुंवद्भावे कृते यौवनम्। युवन्। यजमान। "पुरुषादसे" [ग०सू०] असे इति किम्? राजपौरुष्यम्। अपुरुषत्वम्। कर्तृ। ऋत्विक्। कन्दुक। श्रवण। कुस्त्री। दुःस्त्री। सुस्त्री। सुहृदय। सुहृत्। दुर्हृत्। सुभ्रातृ। दुर्भ्रातृ। वृषल। परिव्राजक। सब्रह्मचारिन्। अनृशंस। "हृदयादसे" [ग०सू०] असे इति किम्? अहृदयत्वम्। चपल। निपुण। पिशुन। कुतूहल। क्षेत्रज्ञ। श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा श्रौत्रम्। उद्गात्रादिरत्रैव पठितव्य इति चेत्, न; अस्याऽनित्यत्वात्। तेनानृशंस्यमिति सिद्धम्।

ध्यादेरिकः ॥३।४।१२१॥ ध्यादिग्रहणमिको विशेषणम्। वि आदिर्यस्येकः स ध्यादिः, ध्यादिर् इक् तदन्तान्मृदोऽण् भवति। तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते। शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्। नागरञ्जनि। नागरञ्जनम्। हरीतकी। हारीतकम्। पृथु। पार्थवम्। वधू। वाधवम्। पितृ। पैत्रम्। यादिग्रहणं मृत्समुदायस्य विशेषणमित्यन्ये। ध्यादेर्मृद इगन्तात्। कृशानु। कार्शानवम्। प्रतिहर्तृ। प्रातिहार्त्र।

1. वस्तिक अ०, पु०। 2. प्रशास्तृ श०। 3 सूत्रम् "अन." इत्येव। अर्थादस्यानुवृत्त्यानेन "अनः अणि" इति।

इह (विश्च)ना च विनशे। चित्रे (वितु) भावः कर्म वा परत्वाद्द्वन्द्वलक्षणो वुञ्। चैत्र (वैत्र)-कमिति। कथं काव्यम्? कविशब्दो ब्राह्मणादिषु पठनीयः। ध्यादेरिति किम्? पाण्डुत्वम्। पाण्डुता। इक इति किम्? वकुलत्वम्।

योङो रूपोत्तमाद् वुञ् ॥३।४।१२२॥ त्रिप्रभृतीनामन्त्यम् उत्तमम्, उत्तमस्य समीपमुपोत्तमम्, रुपोत्तमं यस्य मृदः, तद्रुपोत्तमम्। योङो मृदो रूपोत्तमाद् वुञ् भवति। तस्य भावकर्मणोरिति वर्तते। रमणीयस्य भावः कर्म वा, रामणीयकम्। औपाध्यायकम्। योङ इति किम्? कापोतम्। रूपोत्तमादिति किम्? क्षानियम्। कुवलयत्वम्। रूपान्त्यादिति वक्तव्ये उत्तमग्रहणं त्रिप्रभृतिनामचां परिग्रहार्थम्। तेनेह न भवति। कायत्वम्, कायता। कथं ज्ञायते तमशब्दोऽयमातिशयिकः। अयमेतेषामतिशयेन उद्गततम इति, "सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टम्" [१।३।५६] इति निपातनात्। "किमेमिङ्क्षिक्षादामद्रव्ये" [४।२।२०] इति आम्न भवति। अव्युत्पन्नं वा मृद्रूपम्। त्रिप्रभृत्यन्तवाचि ह्युपोत्तमादिति सिद्धे रुग्रहणमनेकहल्व्यवधानेऽपि प्रापणार्थम्। आचार्यकम् इति। "सहायाद्वेति वक्तव्यम्" [वा०]। साहाय-कम्। साहाय्यम्।

द्वन्द्वमनोज्ञादेः ॥३।४।१२३॥ द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च वुञ् भवति। तस्य भावकर्मणोरिति वर्त्तते। कुरुकाशीनां भावः कर्म वा कौरुकाशिका। भारतबाहुबलिका। शैपालवसुपालिका। मनोज्ञादिभ्य। मनोज्ञस्य भावः कर्म वा, मानोज्ञः। प्रियरूप। आदो (अभि) रूप। कल्याण। मेधाविन्। आद्य (ढ्य)। सुकुमार। कुलपुत्र। छान्दस। छात्र। श्रोत्रिय। चौर। धूर्त। वैश्वदेव। युवन्। यौवनिका। "प्रकृत्याऽके राजन्य-मनुष्ययुवानः" [वा०] इति प्रकृतिभावः। ग्रामपुत्र। ग्रामखण्ड। ग्रामकुमार। अमुष्यपुत्र। अमुष्यकुल। शरपुत्र। गोत्र।

वृद्धचरणाच्छ्लाघाऽत्याकारावेते ॥३।४।१२४॥ वृद्धवाचिनश्चरणवाचिनश्च मृदो वुञ् भवति भावकर्मणोरर्थयोः श्लाघादिषु विषयभूतेषु द्योत्येषु वा। श्लाघो विकत्थनं स्मय इत्यर्थः। अत्याकारः पराधि-(धि) क्षेपः। अवेतः अवगतः। गार्गिकया श्लाघते। गार्गिकया अत्याकुरुते। गार्गिकामवेतः। चरणात्। काठिकया श्लाघते। काठिकया अत्याकुरुते। काठिकामवेतः। श्लाघादिष्विति किम्? काष्ठेन प्रसिद्धः। प्राणिजातिलक्षणोऽञ्।

होत्राभ्यश्छः ॥३।४।१२५॥ होत्राशब्द ऋत्विजां वाचकः। बहुत्वनिर्देशः स्वरूपनिरासार्थं। होत्राभ्य ऋत्विग्विशेषवाचिभ्यः शब्देभ्यश्छो भवति भावकर्मणोरर्थयोः। अच्छावाकस्य भावः कर्म वा, आच्छावाकीयम्। मैत्रावरुणीयम्। ब्राह्मणाच्छंसीयम्। अच्छावाकत्वम्। अच्छावाकता। अथवा होत्रा कठः। अच्छावाकशब्द-सहचरिता ऋक् अच्छावाक्। मैत्रावरुणीशब्दसाहचर्याद् मैत्रावरुणी। ब्राह्मणाच्छंसिशब्दसहचरिता ऋक् ब्राह्मणाच्छंसी। "होत्राया स्वार्थे को (छो) वक्तव्यः" [वा०]। होत्रैव होत्रीयः।

ब्रह्मणस्त्वः ॥३।४।१२६॥ ब्रह्मशब्दात् होत्रावाचिनस्त्वो भवति भावकर्मणोरर्थयोः। ब्रह्मणो भावः कर्म वा ब्रह्मत्वम्। पुनरारम्भः तलादिनिवृत्त्यर्थः। यस्तु जातिवाची ब्रह्मशब्दः ब्राह्मणपर्यायः, ततस्त्वतलौ भवतः। ब्रह्मत्वम्। ब्रह्मता।

धान्यप्ररोहणे खञ् ॥३।४।१२७॥ भावकर्मग्रहणं निवृत्तम्। तस्येति वर्तते। प्रकर्षेण रोहन्ति धान्यान्यस्मिन् प्ररोहणं क्षेत्रमित्यर्थः। धान्यविशेषवाचिभ्यः प्ररोहणेऽभिधेये खञ् भवति। प्रियङ्गूणां प्ररो-हणं क्षेत्रं प्रैयङ्गवीणम्। मौद्गीनम्। गौधूमीनम्। धान्यानामिति किम्? तृणानां प्ररोहणं चत्वरम्। प्रग्रहण

किम् ? रोहणमित्युच्यमाने मुद्गाना रोहणः कुशल इत्यत्रापि प्राप्नोति । प्रग्रहणे पुन सति प्रकर्षेण रोहत्यस्मिन् प्ररोहण केदारादि क्षेत्रमित्युक्त भवति ।

व्रीहिशालेर्ढञ् ॥३।४।१२८॥ व्रीहिशालिशब्दाभ्या तासमर्थाभ्या प्ररोहणेऽर्थे ढञ् भवति । खञोऽपवादः । व्रीहीणा प्ररोहणं क्षेत्रं व्रैहेयम् । शालेयम् ।

यवयवकषष्टिकाद्यः ॥३।४।१२९॥ यवादिभ्यस्तासमर्थेभ्यः प्ररोहणेऽर्थे खञ् भवति यश्च । उमाभङ्गयोरधान्यत्वेऽपि वचनाद्भवति । धान्यानि लोके प्रसिद्धानि मुद्गादीनि । "यवाश्च मे तिलाश्च" इत्यादौ पठितानीत्यपरे । तिलानां प्ररोहण तैलीनम् , तिल्यम् । माषीणम् । माष्यम् । औमीनम्, उम्यम् । भाङ्गीनम्, भङ्ग्यम् । आणवीनम्, अणव्यम् ।

सर्वचर्मणः कृतः खश्च ॥३।४।१३०॥ कृतशब्द कर्मणि । तदपेक्षया तासमर्था प्रकृतिः । सर्वचर्मशब्दात् कृत इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति खञ् च । सर्वचर्मणा कृतः सर्वचर्मीणः, सार्वचर्मीणः । यद्येव सर्वशब्दस्य कृत इति त्यार्थमपेक्षमाणस्य चर्मणा सह सो न प्राप्नोति । अतएव निपातनाद् भवति ।

यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः ॥३।४।१३१॥ दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शनो दर्पणादिः । यथामुखसम्मुखशब्दाभ्या तासमर्थाभ्या दर्शन इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । मुखस्य सदृशोऽर्थो यथामुखम् । अतएव निपातनात् "असादृश्ये" [१।३।६] इति हसप्रतिषेधो न भवति । सम मुखमस्य प्रतिबिम्बस्य सम्मुखम् । सम वा मुखम्, सम्मुखम् । निपातनात्समशब्दान्तखम् । यथामुख दर्शनः, यथामुखीनः । सम्मुखस्य दर्शनः सम्मुखीनः । कर्मणि ता ।

पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रमाप्नोति सर्वादे ॥३।४।१३२॥ निर्देशात्समर्थविभक्त्युपादानम् । पथिन् अङ्ग कर्मन् पत्र पात्र इत्येवमन्तात् सर्वशब्दादेर्मृद इप्समर्थादाप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । सर्वपथानाप्नोति सर्वपथीनमुदकम् । सान्तस्तद्ग्रहणेन गृह्यते । सर्वाङ्गीणः पटः । सर्वकर्मीण पुरुषः । सर्वपत्रीणः सारथि । सर्वपात्रीण ओदनः । सर्वादेरिति किम् ? पन्थानमाप्नोति ।

आप्रपदम् ॥३।४।१३३॥ आप्रपदशब्दादाप्नोतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । प्रवृद्ध पद प्रपदम् । पदस्योपरि गुल्फ, पदाग्रं वा । आ प्रपदादाप्रपदम् । "पर्यपाङ्बहिरञ्चवः कया" [१।३।१०] इति हस । क्रियाविशेषणमिद वान्तम् । ततो वचनात्त्यः । आप्रपदमाप्नोति आप्रपदीनः कम्बलः ।

सर्वान्नीनानुपदीनायानयीनागवीनाद्यश्वीनाः ॥३।४।१३४॥ सर्वान्नीन, अनुपदीन, अयानयीन आगवीन, अद्यश्वीन इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । सर्वान्नशब्दादिबन्तात् भक्षयतीत्यस्मिन्नर्थे खो निपात्यते । सर्वान्नानि भक्षयति सर्वान्नीनो भिक्षुः । पदसदृशमनुपदम्, यथार्थे हसः । अनुपदशब्दाद् वान्ताद्बद्धेत्यस्मिन्नर्थे खः । अनुपद बद्धा अनुपदीना उपानत् । पदप्रमाणेत्यर्थः । अयः प्रदक्षिणम्, अनय प्रसव्यम् । प्रदक्षिणप्रसव्यमागामिना यस्मिन् परैः पदानामसमावेशः सोऽयानयः । अयादप्रवृत्तोऽनयः, अयानयः । मयूरव्यंसकादित्वात् [१।३।६६] सविधि । अयानयशब्दादिबन्तात् नेय इत्यस्मिन्नर्थे खः । अयानयं नेयः शारोऽयानयीनः । स्वस्था दिशि फलकशिरोगत इत्यर्थः । गोरापूर्वाद्गोः अनिदानात्कर्म करोतीत्यस्मिन्नर्थे खः । आगवीनः कर्मकरः । यो गवा भृतः कर्म करोति आ तस्य गोः प्रत्यर्पणात्स एवमुच्यते । अद्यश्वशब्दादासन्ने विजनन खो निपात्यते । अद्य श्वो वा विजनिष्यते अद्यश्वीना गौः । अद्यश्वीना वडवा । केचिद् विजनन इति विशेषण नेच्छन्ति । आसन्नमात्रे निपातयन्ति । अद्यश्वीनो वियोग । अद्यश्वीनं मरणम् ।

परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ॥३।४।१३५॥ निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम्। परोवर परम्पर पुत्रपौत्र इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्योऽनुभवतीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति । परांश्च अवरांश्च अनुभवति परोवरीणः। त्यसन्नियोगे परोवरभावो निपात्यते। परांश्च परतरांश्च अनुभवति परम्परीणः। त्यसन्नियोगे परपरतरयोः परम्परभावः। कथं मन्त्रिपरम्परा मन्त्र भिनत्तीति प्रयोगः ? शब्दान्तरमप्यस्ति। पुत्रपौत्राननुभवति पुत्रपौत्रीणः।

अवारपारात्यन्तानुकामंगामी ॥३।४।१३६॥ अवारपार अत्यन्त अनुकाम इत्येतेभ्य इप्समर्थेभ्यो गामीत्यस्मिन्नर्थे खो भवति। गमिष्यतीति गामी। "आवश्यकाऽधमर्ण्ययोर्णिन्" [२।३।१४६] इति आवश्यकार्थे णिन्। वर्त्स्यत्कालभावस्य "गम्यादिर्वर्त्स्यति" [२।३।१] इति वचनात्। अवारपार गामी अवारपारीणः पोतः। विगृहीतादपि भवति। अवारीणः। पारीणः। "विपरीताच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] पारावारीणः। अतएव निपातनात्पारस्य वा पूर्वनिपातः। अन्तस्याभावोऽत्यन्तम्। "ऋि" [१।३।५] इति अर्थाभावे हसः। अथवा अन्तमतिक्रान्तः अत्यन्तः। "तिकुप्रादयः" [१।३।८१] इति षस। हसपदे वान्तादपि वचनात्खः। अत्यन्त गामी अत्यन्तीनः। कामस्याऽनुरूपमनुकामम्। यथार्थे हसः। अनुगतो वा कामः, अनुकाम। अनुकाम गामी अनुकामीन।

समां समां विजायते ॥३।४।१३७॥ समा सवत्सरः। तदेकदेशे समाशब्द उपचरितः। विजननक्रियायाऽवश्याविच्छेदात् "कालाध्वन्यविच्छेदे" [१।४।४] इतीप्। वीप्साया द्वित्वम्। समा समा शब्दाद्विजायते इत्यस्मिन्नर्थे खो भवति। मृदवि (घि) कारेऽपि सुबन्तसमुदायाद् वचनात्त्यः। समां समां विजायते समांसमीना गौः। समासमीना वडवा। त्ये कृते "सुपो धुमृदोः" [१।४।१४२] इति सुप उप्। पूर्वपदे सुपोऽनुब्वक्तव्यः। यदा सवत्सरे समाशब्दः प्रवर्तते तदा समाया समायामिति विग्रहेऽपि समासमीना गौ। त्यविषये पूर्वपदस्य समा भावो निपात्यते, उत्तरपदस्य च पादः खम्। परिशिष्टस्य तु सुपः "सुपो धुमृदोः" [१।४।१४२] इत्युप्।

अनुग्वलंगामी ॥३।४।१३८॥ अनुग्विति क्रियाविशेषणम्। अनुगुशब्दात् अलङ्गामी इत्येतस्मिन्नर्थे खो भवति। गवा पश्चात् अनुगु। पश्चादर्थे हसः। अनुगु अलङ्गच्छति अनुगवीन।

यखावध्वनः ॥३।४।१३९॥ इवत्र समर्था सभवति अध्वशब्दादिप्समर्थादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे यखौ त्यौ भवतः। अध्वानमलङ्गच्छति अध्वन्य, अध्वनीनः यदा यस्तदा "येऽङौ" [४।४।१५९] इति टिखप्रतिषेधः। अन्यत्र "खेऽध्वनः" [४।४।१६०] इति टिखाभावः।

छश्चाऽभ्यमित्रात् ॥३।४।१४०॥ अमित्रमभि अभ्यमित्रम्। "वीप्सेत्थभूतलक्षणेऽभिनेप" [१।४।११] इतीप् "लक्षणेनाभिमुख्येऽभिप्रती" [१।३।११] इति हसः। क्रियाविशेषणमेतत्। अभ्यमित्रशब्दाद् वासमर्थादलङ्गामीत्यस्मिन्नर्थे छो भवति यखौ च। अभ्यमित्रमलङ्गच्छति, अभ्यमित्रीयः, अभ्यमित्र्यः, अभ्यमित्रीण।

गौष्ठीनाश्वीनकौपीनशालीनप्रातीनसाप्तपदीनहैयङ्गवीनम् ॥३।४।१४१॥ गौष्ठीनादयः शब्दा निपात्यन्ते। गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति गोष्ठः। "सुपि" [२।२।७] "स्थ.[1] कः" [२।२।८] इति क। गोष्ठशब्दाद् भूतपूर्वोपाधिकाद् स्वार्थे खञ् निपात्यते। गोष्ठो भूतपूर्वो गौष्ठीनो देशः। चरटोऽपवादः। अश्व-

१ "स्थः" इत्येव सूत्रम्। अनुवृत्त्यभिप्रायेण "स्थः क" इति वृत्तौ।

शब्दात् तासमर्थादेकाहगम इत्यस्मिन्नर्थे खञ्। गम्यते गमः। एकमहः, एकाह। एकाहेन गमः, एकाहगमः। "साधनं कृता" [१।३।२९] इति सः। अश्वस्य एकाहगम आश्वीनोऽध्वा। आश्वीनानि पञ्चदशयोजनानि। कूपावतरणशब्दादिप्समर्थादर्हतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् घुख च निपात्यतेऽकार्येऽभिधेये। कूपावतरणमर्हति कौपीनं पापम्। करोतिः क्रियासामान्येन वर्तते। तेनाऽद्रष्टव्यमप्यकार्यम्। कौपीनमिन्द्रियम्। तात्स्थ्याद् वस्त्रमपि। शालाप्रवेशशब्दादिप्समर्थादर्हतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते घुखं चाधृष्टेऽभिधेये। शालाप्रवेशमर्हति शालीनः। अप्रगल्भ इत्यर्थः। व्रातकर्मशब्दाद् भासमर्थाज्जीवतीत्यस्मिन्नर्थे खञ् घुख च। नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः सङ्घा व्राताः। उत्सेधः शरीरम्, तदायासेन ये जीवन्ति ते उत्सेधजीविनः। व्रातकर्मणा जीवति व्रातीनः। तेषामेव व्रातानामन्यतमो यस्त्वन्यो व्रातकर्मणा भारोद्वहनेन जीवति स व्रातीन इति नेष्यते। सप्तपदशब्दाद् भासमर्थादवाप्यते इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते सख्येऽभिधेये। सप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीनं सख्यम्। कथं साप्तपदीनं मित्रमिति सामानाधिकरण्यम्? अर्शआदिपाठादकारो मत्वर्थीयो द्रष्टव्यः। ह्योगोदोहशब्दात्तासमर्थाद्विकार इत्यस्मिन्नर्थे खञ् निपात्यते प्रकृतेश्च हियङ्गुभावः। संज्ञाया ह्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनम्। अभिनवघृतस्य संज्ञैषा। अन्यत्र ह्योगोदोहस्य विकारः, अपि, ह्योगोदोहं तक्रम्।

भूतपूर्वे चरट् ॥३।४।१४२॥ पूर्वं भूतो भूतपूर्वः। "कालाः" [१।३।२५] इति क्तान्तेन षः। अतएव निपातनादेवजातीयेषु पूर्वशब्दस्य परनिपातो द्रष्टव्यः। भूतपूर्वे यन्ड्याम्मृद्रूप वर्तते तस्मात्स्वार्थे चरड् भवति। आढ्यो भूतपूर्व आढ्यचरः। आढ्या भूतपूर्वा आढ्यचरी। "तसादौ" [४।३।१४७] इति पुंवद्भावः। यद्यपि भूतशब्दः पूर्वशब्दश्च अतीतकालवाचिनौ तथापि विशेषणविशेष्यभाव उपपद्यते। किञ्चित्काल भूत.वेनावस्थाय दर्शनविषयता नेदानीमस्तीत्यय विशेषः पूर्वशब्दविशेषणात्प्रतीयते।

ताया रूप्यश्च ॥३।४।१४३॥ भूतपूर्व इति वर्तते। तान्तान्ड्याम्मृदो भूतपूर्वेऽर्थे रूप्यो भवति चरट् च। देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौः, देवदत्तरूप्यः, देवदत्तचरः। इहासामर्थ्यान्न भवति। कम्बलो देवदत्तस्य गौर्भूतपूर्वो जिनदत्तस्येति। इह आढ्यस्य देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौरिति समुदायस्यातान्तत्वादवयवस्य चासामर्थ्यान्न भवति।

पाकमूले पीलुकर्णादिभ्यः कुणजाहौ ॥३।४।१४४॥ ताया इति वर्तते। तासमर्थेभ्यः पील्वादिभ्यः कर्णादिभ्यश्च यथासङ्ख्य पाकमूलयोरर्थयोः कुण जाह इत्येतौ भवतः। पीलूना पाकः पीलुकुणः। पीलु। कर्कन्धु। शमी। करीर। बदर। कुवल। अश्वत्थ। खदिर। कर्णादिभ्यो जाह। कर्णस्य मूलं कर्णजाहम्। कर्ण। अक्षि। मुख। नख। पाद। गुल्फ। भ्रू। दन्त। ओष्ठ। केश। शृङ्ग। पुष्प।

पक्षात्तिः ॥३।४।१४५॥ ताया इति वर्तते। पक्षशब्दात्तान्मूलेऽर्थे तिर्भवति। द्वयोः पीलुपाकयोरनुवर्तनेऽपि पाकस्यासम्भवान्मूलग्रहणमेवाभिसम्बध्यते। पक्षस्य मूलं पक्षतिः।

तेन वित्तश्चुञ्चुचणौ ॥३।४।१४६॥ वित्तः प्रतीत इत्यर्थः। तेनेति भासमर्थाद्वित्त इत्यस्मिन्नर्थे चुञ्चु चण इत्येतौ त्यौ भवतः। न्यायेन वित्तो न्यायचुञ्चुः। न्यायचणः। केशवित्तः केशचुञ्चुः। केशचणः।

विनञ्भ्यां नानाञौ न सह ॥३।४।१४७॥ न सहेति प्रकृतिविशेषणम्। कर्मादिनासम्भवाद् वाविभक्त्यत्र समर्था। अव्ययार्थ वर्तमाना या विनञौ यथासङ्ख्य नानाञौ भवतः। स्वार्थे। न सह, विना। न सह, नाना।

वेः शालशङ्कटौ ॥३।४।१४८॥ प्रादयः पुनरेवमात्मका यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेषमाहुः। यत्र न प्रयुज्यते तत्र ससाधना क्रियामाहुरिति। वेः ससाधनक्रियावचनाच्छालशङ्कट इत्येतौ त्यौ भवतः स्वार्थे। विसृषे (विगते) शृङ्गे विशाले। विशङ्कटे। तद्योगात्ताच्छब्द्यो (च्छब्द्यम्) विशालो गौः। विशङ्कटो गौरिति। अथवा विशालादयः परमार्थतो गुणशब्दाः, ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्यन्ते। तेन विशालः पटः, विशालं यशः इत्येवमादि सिद्धम्।

सम्प्रोदश्च कटः ॥३।४।१४९॥ सम् प्र उद् इत्येतेभ्यो वेश्च कट इत्ययं त्यो भवति। अत्रापि ससाव(ध)नक्रियावचनेभ्यस्त्यो वेदितव्यः। सङ्कृष्टं सङ्कटम्। प्रकटम्। उत्कटम्। विकटम्। विकटदन्तयोगाद् विकटो हस्ती। "अलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसख्यानम्" [वा०] अलाबूना रजः अलाबूकटम्। तिलकटम्। उमाकटम्। भङ्गाकटम्।

कुटारश्चावात् ॥३।४।१५०॥ अवात् ससाव(ध)नक्रियावचनात् कुटार इत्ययं त्यो भवति कटश्च स्वार्थे। अवकृष्टः, अवकुटारः। अवकट। "गोष्ठादयस्त्याः स्थानादिषु पशूनामिति वक्तव्यम्" [वा०] गवां स्थान गोगोष्ठम्। महिषीगोष्ठम्। अजागोष्ठम्। "समूहे कटः" [वा०] अवीना समूह, अविकटः। पशुकटः। "विस्तारे पटः" [वा०] अवीना विस्तार, अविपटः। "द्वित्वे गोयुगः" [वा०] उष्ट्रगोयुगम्। अश्वगोयुगम्। महिषगोयुगम्। "प्रकृत्यर्थस्य षट्त्वे षड्गवः" [वा०] हस्तिना षट्त्वं हस्तिषड्गवम्। "संस्कृते शूल्यः" [वा०] पिठरे सस्कृतं पिठरशूल्यम्। "विकारे स्नेहे तैलः" [वा०] इङ्गुदीना स्नेह इङगुदीतैलम्। "प्ररोहणे शाकटशाकिनौ" [वा०] इक्षूणा प्ररोहणं क्षेत्रम्, इक्षुशाकटम्। मूलशाकटम्। इक्षुशाकिनम्। मूलशाकिनम्।

नते नासिकायाः खौ टीटनाटभ्रटाः ॥३।४।१५१॥ अवादिति वर्तते। नमनं नतम्। नासिका नतवाचिनोऽवशब्दाट्टीट नाट भ्रट इत्येते त्याः स्वार्थे भवन्ति खुविषये। नासिकाया इति सम्बन्धसामान्ये वा। तत्र यदा नासिकायाः कर्तृत्वविवक्षा, तदा सामानाधिकरण्येन विग्रहः। अवनता नासिका अवटीटा। अवनाटा। अवभ्रटा। यदा सम्बन्धित्वविवक्षा तदा वैयधिकरण्येन, नासिकाया अवनतम्, अवटीटम्। अवनाटम्। अवभ्रटम्। एवमुत्तरत्रापि विग्रहद्वय ज्ञातव्यम्। तद्योगात्पुरुषेऽपि तथोच्यते। अवटीटः पुरुषः।

नेर्बिडविरीसौ ॥३।४।१५२॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते। निशब्दान्नासिकानतार्थवचनाद् बिड बिरीस इत्येतौ त्यौ भवतः। निनता नासिका निबिडा। निबिरीसा। निबिडम् निबिरीसमिति वा। तद्योगात्पुरुषोऽपि निबिडः। निबिरीसः। कथं निबिडं वस्त्रं निबिडाः केशा इति। उपमानात्सिद्धम्।

इनचौ वि(चि)क् ॥३।४।१५३॥ नते नासिकायाः खाविति वर्तते निरिति च। नासिकानतार्थवाचिनो नेः क इन इत्येतौ त्यौ भवतः वि(चि)क् इत्ययञ्चादेशः प्रकृतेः। निनता नासिका वि(चि)क्का। वि(चि)क्किना। तद्योगाद् वि(चि)क्को देवदत्तः। वि(चि)क्किनः।

पिटे चिः ॥३।४।१५४॥ नासिकानतार्थवाचिनो नेः पिटे त्ये परतश्चिरित्ययमादेशो भवति। अनेनैव पिटत्य विधानम्। निनता नासिका चिपिटा। तद्योगाच्चिपिटो देवदत्त। "क्लिन्नस्य चिल्पिलौ लश्चक्षुषी च वक्तव्यम्" [वा०] क्लिन्नं चक्षु चिल्लम्, पिल्लम्। तद्योगाद्देवदत्तोऽपि चिल्लः। "चुल्लादेशश्च वक्तव्यः" [वा०] क्लिन्नं चक्षुः चुल्लम्। तद्योगाद्देवदत्तोऽपि चुल्लः।

उपत्यकाऽधित्यके ॥३।४।१५५॥ उपत्यका अधित्यका इत्येतौ शब्दौ निपात्येते। उपशब्दात्पर्वतासन्ने देशे वर्तमानात्स्वार्थे त्यक इत्यन त्यो निपात्यते इत्वाभावश्च स्त्रीलिङ्गे खुविषये। पर्वतमुपासन्नो देश

उपत्यका। अधीत्येतस्मात्पर्वतमारूढे देशे वर्तमानात्त्यक इत्त्वाभावश्च स्त्रीलिङ्गे खुविषये। पर्वतमध्यारूढो देशो ऽधित्यका।

कर्मठः ॥३।४।१५६॥ कर्मठ इति निपात्यते। कर्मशब्दादीप्समर्थाद्घटते इत्यस्मिन्नर्थेऽठो निपात्यते। कर्मणि घटते कर्मठः।

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतः ॥३।४।१५७॥ तदिति वासमर्थेभ्यः सञ्जातोपादि(धि)भ्यस्तारकादिभ्योऽस्येति ताऽर्थे इतो भवति। तारकः संजाता अस्य तारकितं नभः। पुष्पिता लता। तारका। पुष्प। कर्णक। ऋजीष। सूत्र। निष्क्रमण। पुरीष। उच्चार। प्रचार। कुड्मल। मुकुल। कुसुम। स्तवक। किसलय। वेग। वेश। निद्रा। बुभुक्षा। पिपासा। श्रद्धा। स्वभ्र (श्वभ्र)। अन्न। रोग। अङ्गारक। वर्णक। द्रोह। सुख। दुःख। उत्कण्ठा। भर। व्याधि। "गर्भादप्राणिनि" [ग० सू०] गर्भिताः शालयः। अप्राणिनीति किम्? गर्भिणी गौः।

प्रमाणे द्वयसड्दध्नण्मात्रटः ॥३।४।१५८॥ तदस्येति वर्तते। तदिति वासमर्थात्प्रमाणेऽर्थे वर्तमानादस्येति ताऽर्थे द्वयसट् दध्नट् मात्रट् इत्येते त्या भवन्ति। प्रमाणस्य प्रमेयापेक्षत्वात्प्रमेयस्त्यार्थः। ऊरुः प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्। ऊरुमात्रम्। यद्यप्यायामः प्रमाणत्वेन प्रसिद्धस्तथाप्यभिधानवशाद् द्वयसट्-दध्नटावूर्ध्वमाने, मात्रट् पुनरविशेषेण। कर्षमात्रं घृतम्। प्रस्थमात्रं धान्यम्। धनुर्मात्री भूमिः। "प्रमाण शब्दा ये प्रसिद्धास्तेभ्यो द्वयसडादीनां ध्वंसन वक्तव्यम्" [वा०] समः प्रमाणमस्य समः। दिष्टि प्रमाणमस्य दिष्टिः। वितस्तिः। "राच्च ध्वसन वक्तव्यम्" [वा०] द्वौ समे प्रमाणमस्य द्विसमम्। त्रिसमम्। द्विदिष्टिः। द्विवितस्तिः। तदन्तविध्यभावात्पूर्वेणाप्राप्तिः। चकारः किमर्थः? संशये स्थायिन मात्रटं वक्ष्यति। तत्राऽपि राद्ध्वसनमेव यथा स्यात्। "डट् स्तोमे वक्तव्यः" [वा०] पञ्चदशाहानि परिमाणमस्य यज्ञस्य पञ्चदशः स्तोमः। सप्तदशः। पञ्चदशी रात्रिः। छन्दसि पूर्वमेव सिद्धमछन्दोविषयार्थमेतत्। "शन्शतोर्डिनि-र्वक्तव्यः" [वा०] पञ्चदशाहोरात्राः परिमाणमेषां पञ्चदशिनोऽर्द्धमासाः। त्रिंशिनो मासाः। द्वात्रिंशिनो देवेन्द्राः। त्रयस्त्रिंश इत्यपीष्यते। "विंशतेश्चेति वक्तव्यम्" [वा०] विंशिनो भवनेन्द्राः। विंशिनोऽङ्गिरसः। "प्रमाण परिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये मात्रड् वक्तव्यः" [वा०] समः प्रमाणमस्य स्यात् सममात्रम्। वितस्तिमात्रम्। प्रस्थः परिमाणमस्य स्यात् प्रस्थमात्रम्। कुडवमात्रम्। पञ्च संख्याः यथा स्यात् पञ्चमात्राः। पुरुषा दशमात्राः। उक्तं च –

"प्रमाणध्वसनं राच्च डट्स्तोमे शन्शतोर्डिनिः। प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि संशये॥"

"स्वार्थे द्वयसण्मात्रटौ बहुलं वक्तव्यौ" [वा०] तावदेव तावद्द्वयसम्। तावन्मात्रम्। यावदेव यावद्द्वयसम्, यावन्मात्रम्।

पुरुषहस्तिनोऽण् च ॥३।४।१५९॥ तदस्येति वर्तते प्रमाण इति च। पुरुष-हस्तिशब्दाभ्यामण् च भवति, द्वयसडादयश्च भवन्ति। पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम्। पुरुषद्वयसम्। पुरुषदघ्नम्। पुरुषमात्रम्। हस्ती प्रमाणमस्य हास्तिनम्। "प्रायोऽनपत्येऽणीन." [४।४।१५५] इति टिखप्रतिषेधः। हस्तिद्वयसम्। हस्तिदघ्नम्। हस्तिमात्रम्। प्रमाणशब्दाच प्रसिद्धो "प्रमाणाद्ध्वंसनमिति" च भवति। पुरुषः प्रमाणमस्य पुरुषः। "अणादीनां ध्वंसनवचनाद्रवस्योच्चारणाच्चेति ध्वसनं द्वयसडादीनामेव द्रष्टव्यम्।" अणः तस्मात् न भवति। द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्य द्विपुरुषं जलम्। द्विपुरुषी द्विपुरुषा वा खाता। द्विहस्ति जलम्। द्विहस्तिनी नदी। नन्दुचन्द्रोविवि. ।

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुः ॥३।४।१६०॥ तदस्येति वर्तते। यद् तद् एतद् एतेभ्यः परिमाणोपाधिभ्योऽस्येति ताऽर्थे वतुर्भवति। यत्परिमाणमस्य यावान्। तावान्। एतावान्। "आ सर्वनाम्नः" [४।१।१६७] इति दकारस्यात्वम्। प्रमाणे ग्रहणेऽनुवर्तमाने परिमाणग्रहणं किम्? प्रमाणे द्वयसडादीना बाधा मा भूत्। यद्द्वयसम्। प्रमाणपरिमाणयोर्भेदाद्वत्वं तदपि (धत्वन्तादपि) द्वयसडादयः सिद्धाः। यावन्मानम्।

इदमो वो घः ॥३।४।१६१॥ इदमित्येतस्मादुत्तरस्य वतोर्वकारस्य घकार आदेशो भवति। इदमेव ज्ञापकम्। इदमो वतुर्भवतीति। इदम्परिमाणमस्य इयान्। घस्य इयादेशः। "किमिदमोः कीश्" [४।३।१६६] इति इदम ईशादेशः। "यस्य ङ्याञ्च" [४।४।१२६] इति खः। त्यमात्रमेवावशिष्टम्। तस्य व्यपदेशिवद्भावात् मृत्संज्ञा "परस्यादेः" [१।१।५१] इत्येव सिद्धे व इति स्थानिनिर्देशः किमर्थः? घस्य त्यान्तरत्वं मा भूत्।

किमः ॥३।४।१६२॥ किम इत्येतस्मात्परस्य वतोर्वकारस्य घकार आदेशो भवति। अनेनैव वतोर्विधानम्। किम्परिमाणमस्य कियान्।

सङ्ख्यापरिमाणे डतिश्च ॥३।४।१६३॥ किम इति वर्तते तदस्येति च। परिमितिः परिमाणम्। सङ्ख्यायाः परिमाण परिच्छित्तिः। सङ्ख्यापरिमाणे वर्तमानात् किमो वासमर्थादस्येति ताऽर्थे डती[1]त्यय त्यो भवति वतुश्च। वतोर्वकारस्य च घकारादेशः। का सख्या एषा कतीमे पुरुषाः। द्वित्वैकत्वयोः सम्परिप्रश्नस्याभावात्। बह्वन्तमेवोदाहरणम्। अथवा परिमीयतेऽनेनेति परिमाणम्, सङ्ख्यैव परिमाण सङ्ख्यापरिमाणमिति यथः। अस्मिन्पक्षे परिमाणग्रहणं सङ्ख्याविशेषणं किमर्थम्? तथाहि का सख्या एषाम्, किम्परिमाणमेषामिति एक एवार्थः। एवं तर्हि यत्र सङ्ख्याऽऽक्षेपविषया तत्र मा भूत्। केयमेषा सख्या पञ्चानामिति। परिमाणग्रहणेऽत्र वर्तमाने पुन परिमाणग्रहण विस्पष्टार्थम्।

सङ्ख्याया अवयवे तयट् ॥३।४।१६४॥ तदस्येति वर्तते। तदिति वासमर्थायाः सङ्ख्यायाः अवयवोपाधिकाया अस्येति तार्थे तयड् भवति। सामर्थ्यादवयविनि तयड् वेदितव्यः। पञ्च अवयवा यस्य पञ्चतयो यमः। दशतयो धर्मः। सप्ततयी नयष्टतिः।

उभात्खम् ॥३।४।१६५॥ उभशब्दादुत्तरस्य तयटः खं भवति। इदमेव ज्ञापकं भवत्युभशब्दात्तयटि। उभाववयवावस्य उभयो मणिः। उभये देवमनुष्याः। उभयशब्दः सर्वादिषु पठ्यते।

द्वित्रिभ्यां वा ॥३।४।१६६॥ द्वित्रिभ्यामुत्तरस्य तयटो वा ख भवति। "परस्यादेः" [१।१।५१] इति तकारस्य खम्। द्वयम्, द्वितयम्। त्रयम्, त्रितयम्। द्वये, द्वयाः। खेपनेष्याः (त्रये। त्रयाः) एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् "प्रथमचरम" [१।१।४१] इत्यादिना जसि वा सर्वनामसंज्ञा।

तदस्मिन्नधिकमिति शदशान्ताड्डः ॥३।४।१६७॥ तदिति वासमर्थात्शदशान्तान्मृदोऽधिकोपाधिविशिष्टादस्मिन्नितीवर्थे डो भवति। इतिकरणस्ततश्चेद् विवक्षा। सङ्ख्या इति वर्तते। त्रिंशदधिका अस्मिन् शते त्रिंश शतम्। चत्वारिंश शतम्। ननु शदिति त्यग्रहणे "त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणमित्यन्तग्रहणमनर्थकम्। एव तर्ह्यन्तग्रहणसामर्थ्यादेव त्रिंशदादीनामपि सङ्ख्याशब्दाना ग्रहणम्। एकत्रिंशदधिका अस्मिन् शते एकत्रिंश शतम्। द्वात्रिंशम्। त्रयस्त्रिंशम्। दशार्थे वाऽन्तग्रहणम्। एकादश अधिका अस्मिन् शते एकादश शतम्। एव द्वादशम्, त्रयोदशम्। इह कस्मान्न भवति। एकादश माषा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते इति? यज्जातीयत्यार्थस्तज्जातीय एव प्रकृत्यर्थे सति

---

१. डतिरिति पु०।

त्य इष्यते। इह तर्हि प्राप्नोति। एकादश कार्षापणा अधिका अस्मिन् कार्षापणशते, गोत्रिंशदधिका अस्मिन् गोशत इति सङ्ख्याया इत्यनुवृत्तेर्न भवति। इतिकरणः किमर्थः ? शतसहस्रयोरेवाभिधानमिति ज्ञापनार्थः। तेनेह न भवति। एकादश अधिका अस्या त्रिशति, एकत्रिंशदधिका अस्या षष्ठाविति। कथम् एकादशं शतसहस्रमिति ? अत्राऽपि शतसहस्रयोरन्यतरप्राधान्यमस्ति। उक्तञ्च—

"अधिके समानजाताविष्टः शतसहस्रयोः। यस्य सङ्ख्या तदाधिक्ये डः कर्तव्यो मतो मम॥"
[पा० म० ५।२।४४]।

विंशतेश्च ॥३।४।१६८॥ सङ्ख्याया इति वर्तते। विंशतिशब्दाद् वासमर्थादधिकोपाधिविशिष्टा दस्मिन्निती बर्थे डो भवति। चशब्दात् विंशत्यन्तादपि भवति। विंशतिरधिका अस्मिन् शते विंशं शतं सहस्रम्। तदन्तात्। एकविंशं शतम्। इकविंशं सहस्रम्। "ते विंशतेर्डिति" [४।४।१२८] इति टे कृते "एप्यतोऽपदे" [४।३।८४] इति पररूपत्वम्। संख्याया इत्येव। गोविंशतिरधिका अस्मिन् गोशते इति।

सङ्ख्याया गुणस्य निमाने मयट् ॥३।४।१६९॥ "तदस्य सञ्जातम्" [३।४।१५७] इत्यतः तदस्येत्यनुवर्तते। गुणो भाग इत्यर्थः। गुणो निमीयते परिवर्त्यते विक्रीयते वा येन तन्निमान मूल्यमित्यर्थः। तदपि सामर्थ्याद् भाग एव। यतो गुणैरेव गुणो निमीयते। तदिति वासमर्थायाः सङ्ख्याया गुणस्य निमाने वर्तमानाया अस्येति ताऽर्थे निमेयेऽभिधेये मयड् भवति। गुणस्येति कर्मणि ता। यवाना द्वौ भागौ निमानमस्योदश्विद्ग्रहणस्य द्विमयमुदश्वित् यवानाम्। द्विगुण मूल्यमित्यर्थः। एवं त्रिमयं चतुर्मयम्। यथा अणादयः शब्दशक्तिस्वाभाव्यादपत्यापत्यवत्सम्बन्धे विधीयमाना अपि प्राधान्येन सम्बन्धमाचक्षते। अपगवोदरक्षि(औपगवोदाक्षि)रिति। तथा मयड्भागो विधीयमानो भागवन्तमाचष्टे तेन द्विमयमुदश्वित् इति सामानाधिकरण्यम्। टिरकरण द्वौ गुडस्य एकं शर्करायाः द्विमयी शर्करा। गुणनिमान इति वक्तव्ये गुणस्येत्येकत्वं विवक्षितम्। तेनेह न भवति। यवाना त्रयो भागा निमानमुदश्वितः। द्वयोर्भागयोरिति अधिकायाश्च सङ्ख्यायास्त्य इष्यते। तेनेह न भवति। एको भागो निमानमस्योदश्विद्भागस्येति। इह तर्हि प्राप्नोति द्वौ यवानामध्यर्ध उदश्वित इति। अत्रापि गुणस्येति समर्थनिर्देशादेव न भवति। तदपेक्षया प्रकृतेरपि निरंशसङ्ख्यान द्रष्टव्यम्। तेनेह न भवति अध्यर्धो यवानाम् एकस्योदश्वित इति। न च सकविधेरन्यत्र अध्यर्धशब्दस्य संख्यात्वमिष्टम्। गुणस्येति किम् ? द्वौ व्रीहियवौ निमान मस्योदश्वितः। अत्र भागस्येति न प्रयुक्तम्। निमान इति किम् ? द्वौ गुणौ क्षारस्य पक्वतैलस्य द्विगुण क्षीरेण तैलपक्वम्। नात्र वासमर्थं गुणा निमाने वर्तते। अन्ये अन्यथा सूत्रार्थं वर्णयन्ति। निमीयते इति निमान निमातव्यम्। बहुलवचनात्कर्मणि युट्। गुणस्येति कर्तरि ता। करणस्यापि कर्तृत्वेन विवक्षितत्वात्। "वासमर्थायाः सङ्ख्याया गुणस्य निमेये वर्तमानयो" [वा०] निमानेऽभिधेये मयड् भवति। उदश्वितो द्वौ भागौ निमेयस्य यवभागस्य द्विमया यवा उदश्वितः। त्रिमयाः। चतुर्मया यवाः। अत्र व्याख्याने समर्थमुदश्वित्, यवास्तु त्यार्थः। पूर्वत्र मद्यार्थमुदश्वित्, तदेव च त्यार्थः। मतद्वयमपि प्रमाणम्।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः। समाप्तश्च तृतीयोऽध्यायः।

चतुर्थोऽध्यायः

तस्य पूरणे डट् ॥४।१।१॥ सङ्ख्याया इति वर्तते। पूर्यतेऽनेनेति पूरणम्। तस्येति तासमर्थात्सङ्ख्यावाचिनः पूरण इत्येतस्मिन्नर्थे डड् भवति। एकादशानां पूरण एकादशः। द्वादशः। द्वादशी। द्वितीयमपि सङ्ख्याग्रहणमनुवर्तते। तत्सङ्ख्यानप्रधानं सत् त्यार्थविशेषणम्। सङ्ख्याया डड् भवति सङ्ख्यानपूरण इति न सङ्ख्येयपूरणे डट् भवति। एकादशानामुष्ट्रिकाणां (मुष्टिकानां) पूरणो घट इति। ननु नात्र एकादशभ्यः प्रकृत्यर्थभूतेभ्योऽन्यः पूरण इत्यर्थ उपलभ्यते। अतो वृत्तिर्न प्राप्नोति। नैष दोषः। समुदायस्य चावयवानां च कथञ्चिद् भेद इति। यथा वृक्षान्तर्भूताऽपि शाखा वृक्षस्येति व्यवह्रियते। उक्तञ्च—

"बहूनां वाचिका (वाचिका) सङ्ख्या पूरणं स्वैक इष्यते। अन्यत्वादुभयोर्वृत्तिर्वाक्षौ शाखानिदर्शनम्॥"
[पा० म० ५।२।४८]।

नोऽसे मट् ॥४।१।२॥ न इति वर्णनिर्देशः। वर्णग्रहणं सर्वत्र तदन्तविधिं प्रयोजयति। नकारान्तात्सङ्ख्यावाचिनो मृदो मड् भवत्यसे तस्य पूरण इत्यस्मिन्विषये। डटोऽपवादः। पञ्चानां पूरणः पञ्चमः। सप्तमः। सप्तमी। असे इति किम्? एकादशानां पूरण एकादशः।

षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ॥४।१।३॥ मूलसूत्रे विहितो यो डट् तस्येहानुवर्तमानस्यार्थवशादीबन्तात्षट् कति कतिपय चतुर इत्येतेषां डटि परतस्थुगागमो भवति। इदमेव डटि थुग्वचनं ज्ञापकं भवति। कतिपयशब्दादपि डट्। षण्णां पूरणः षष्ठः। कतिथः। कतिपयथः। चतुर्थः। थुग्वचनसामर्थ्याट्टिख न भवति। पूर्वान्तकरणं पदकार्यनिवृत्त्यर्थम्। इह कतिपयानां स्त्रीणां पूरणी कतिपयथी। "तस्य इत्यढे" [वा०] इति विषयनिर्देशात्प्रागेव थुकः पुवद्भावः। "चतुरश्छयावाद्यक्षरस्य (स्य) खं चेति वक्तव्यम्" चतुर्णां पूरणः, तुरीयः, तुर्यः।

बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक् ॥३।१।४॥ डडिति वर्तते। बहु पूग गण सङ्घ इत्येतेषां डटि परतस्तिथुगागमो भवति। डडि (टि) ति थुग्वचनं ज्ञापकं भवति पूगसङ्घाभ्यां डट्। बहूनां पूरणः बहुतिथः। पूगतिथः। सङ्घतिथः। गणतिथः। इह बह्वीनां पूरणी बहुतिथी। "तस्य इत्यढे" [वा०] पुवद्भावे कृते तिथुग्वेदितव्यः।

वतोरिथुक् ॥४।१।५॥ डडिति वर्तते। वत्वन्तस्य डटि परत इथुगागमो भवति। "वतोर्वट्" [१।४।२०] इत्यत्र वत्वन्तस्य सङ्ख्यासंज्ञा प्रतिपादिता। यावतां पूरणः यावतिथः। तावतिथः। एतावतिथः। इयतिथः। कियतिथः।

द्वेस्तीयः ॥४।१।६॥ तस्य पूरण इति वर्तते। द्विशब्दात्तीय इत्ययं त्यो भवति। डटोऽपवादः। द्वयोः पूरणः द्वितीयः।

त्रेस्तृ च ॥४।१।७॥ तस्य पूरण इति वर्तते। त्रिशब्दात्तीयो भवति तृ इत्ययं चादेशः। अयमपि डटोऽपवादः। त्रयाणां पूरणः तृतीयः।

शतादिमासार्धमाससंवत्सरात्तमट् ॥४।१।८॥ शतादिभ्यो मासार्धमास संवत्सर इत्येतेभ्यश्च तमट् भवति तस्य पूरण इत्यस्मिन्विषये। डटोऽपवादः। शतस्य पूरणः शततमः। सहस्रतमः। लक्षतमः। "विंशत्यादेर्वा" [४।१।१०] इत्येषा विभाषा शतात् पूर्वां सङ्ख्यामवगाहते। मासार्धमाससंवत्सराणामसङ्ख्याशब्दत्वात् डटोऽप्राप्ते तमट्। मासस्य पूरणो मासतमो दिवसः। अर्धमासतमः। संवत्सरतमः। संवत्सरतमी तिथिः।

तेरसङ्ख्यादेः ॥४।१।९॥ तस्य पूरण इति वर्तते। "षड्क्त्यादि" [३।४।५८] सूत्रे तिरिति त्यो निपातितः। त्यन्तात्सङ्ख्यावाचिनो मृदोऽसङ्ख्यापूर्वात्तमड् भवति। "विंशत्यादेर्वा" [४।१।१०] इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थोऽयमारम्भः। षष्टेः पूरणः षष्टितमः। सप्ततितमः। अशीतितमः। नवतितमः। असङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधः किमर्थः? यावता तिरिति त्यः, त्यग्रहणे यस्मात्स तदादेर्ग्रहणमिति षष्ट्यादीनामेव ग्रहणम्, तदन्तानां ग्रहणं नास्तीत्यसङ्ख्यादेरिति प्रतिषेधोऽनर्थकः। इदमेव ज्ञापकं भवति। इह सङ्ख्यापूर्वपदानामपि ग्रहणम्। तेन एकषष्टेः पूरण एकषष्टः एकषष्टितम· इत्येवमादिषु "विंशत्यादेर्वा" [४।१।१०] इति वा तमड् भवति। पूर्वसूत्रेऽपि शतादेरुच्यमानस्तमट् तदन्तादपि भवति। एकशततमः। एकसहस्रतमः। शतसहस्रतमः।

विंशत्यादेर्वा ॥४।१।१०॥ तस्य पूरण इति वर्तते। विंशत्यादिभ्यो वा तमड् भवति। तमटा मुक्ते डट् भवति। विंशतेः पूरण विंशतितमः, विंशः। एकविंशतितमः, एकविंशः। त्रिंशत्तमः, त्रिंशः। सङ्ख्यापूर्वपदादपि भवतीति ज्ञापितम्। अथवा व्याप्तेर्न्यायात्। विंशत्यादयो लोकप्रसिद्धाः सङ्ख्याशब्दा गृह्यन्ते न "पङ्क्त्यादि" [३।४।५८] सूत्रे व्यवस्थिताः।

डटो ग्रहणे कः ॥४।१।११॥ डडिति प्रत्याहारः। गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम्। डडन्तान्मृदो ग्रहणोपाधिविशिष्टात्स्वार्थे क इत्यय त्यो भवति। द्वितीय ग्रहण द्वितीयकम्। तृतीयकम्। व्याकरणस्य ग्रन्थ एवाऽभिधानम्। अन्यत्र द्वितीयं ग्रहणं धान्यस्येति वाक्यमेव भवति। "डटो वा उब्वक्तव्यः" [वा०] द्विक द्वितीयकम्। तृकम्। तृतीयकम् व्याकरणस्य। तेन "गृह्णात्युप्चेति वक्तव्यम्" [वा०]। डडन्ताद् भासमर्थाद् गृह्णाति इत्यस्मिन्नर्थे को भवति डटश्च नित्यमुप्। द्वितीयेन रूपेण गृह्णाति। कः। तीयस्य च उप्। द्विको देवदत्तः। एव त्रिकः। "सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यभावः" इति तीये निवृत्ते प्रकृत्यादेशोऽपि निवर्तते। चतुर्थेन गृह्णाति चतुष्क। डटि निवृत्ते थुगपि निवर्तते। "इदुदुडोऽयमसुहुसः" [५।४।२८) इति रेफस्य सत्वम्। "इणः षः" (५।४।२७) इति षत्वम्। षष्ठेन गृह्णाति षट्कः। ग्रन्थ एवाभिधानम्। इह न भवति। द्वितीयेन गृह्णाति पुस्तकम्।

स एषां ग्रामणीः ॥४।१।१२ ग्रामणीर्मुख्य इत्यर्थः। स इति वासमर्थान्मृद एषामिति चतुर्थ को भवति। यत्तद् वासमर्थ ग्रामणीश्चेत्स भवति। देवदत्तो ग्रामणीरेषा देवदत्तका। जिनदत्तकाः। सङ्घेऽपीष्यते। देवदत्तो ग्रामणीरस्य सङ्घस्य देवदत्तकः।

स्वाङ्गेषु प्रसिते ॥४।१।१३॥ अद्रव मूर्तिमत्स्वाङ्गमित्यादिना परिभाषितमिह स्वाङ्गम्। निर्देशादेव समर्थविभक्त्युपादानम्। स्वाङ्गवाचिभ्य ईप्समर्थेभ्यः प्रसित इत्यस्मिन्नर्थे को भवति। प्रसितः प्रसक्तः। केशेषु प्रसितः केशकः। "प्रसितोत्सुकाभ्यां भा च" [१।४।४२] इतीप्। एवं दन्तकः। नखकः। केशादिसमुदाये केशादिशब्दा वर्तन्ते। बहुत्वनिर्देशः किमर्थः? स्वाङ्गसमुदायादपि यथा स्यात्। नखकेशकः। मुखदन्तकः।

तदस्मिन्नन्नं प्राये खौ ॥४।१।१४॥ तदिति वासमर्थादस्मिन्नितीवर्थे को भवति। यत्तद् वासमर्थमन्नं चेत्प्रायविषयं तद् भवति। खान्त चेत्सञ्ज्ञाया वर्तते। गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां गुडापूपिका पौर्णमासी। प्राय इति सूत्रे उपाधिलक्षणे वा विषयलक्षणे वा ईप्निर्देशः। विग्रहे तु करणत्वविवक्षाया भा। अनभिधेयत्वा-विवक्षाया वाऽपि भवति। गुडापूपाः प्रायोऽन्नमस्यामिति। एव गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्या गुडापूपिका। तिलापूपिका। कृशरिका। "वटकेभ्य इन्वक्तव्य" [वा०] वटकिनी। खाविति किम्? अपूपा. प्रायेणान्न(म) वन्त्विषु।

कुल्माषादण् ॥४।१।१५॥ कुल्माषशब्दादण् भवति तदस्मिन्नन्नं प्रायेण खाविति(?) ... कौल्माषः। कुल्माषाः प्रायेणान्नमस्यां कौल्माषी पौर्णमासी।

कालप्रयोजनाद्रोगस्य ॥४।१।१६॥ तदिति वर्तते खाविति च। तदिति वासमर्थान्मृदः कालप्रयोजनोपाधिकाद् रोगस्येति ताऽर्थे को भवति सञ्ज्ञाया गम्यमानायाम्। सतत कालोऽस्य सततकः। द्वितीयं कालोऽस्य द्वितीयको ज्वरः। तृतीयकः। चतुर्थकः। प्रयोजनाद्—विषपुष्पप्रयोजनमस्य विषपुष्पको ज्वरः। काशपुष्पकः। पर्वतकः। कालनिमित्ताद्रोगस्येति च वक्तव्ये प्रयोजनग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्। फलेऽपि प्रयोजने यथा स्यात्। उष्णकार्यमस्य उष्णकः। शीतको ज्वरः।

शृङ्खलकौदरिकसस्यकांशकतन्त्रकब्राह्मणकोष्णिकोष्मकशीतकाऽधिकाऽनुकाऽभिकाऽभीकाऽनुपदिपार्श्वकायःशूलिकादाण्डाजिनिकोत्कश्रोत्रियसाक्षीन्द्रियपरत्रेत्रियाः ॥४।१।१७॥ शृङ्खलक इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते। शृङ्खलशब्दाद् वासमर्थाद् बन्धनोपाधिकादस्येति ताऽर्थे को निपात्यते करभे। शृङ्खल बन्धनमस्य गोरिति वाक्यमेव भवति। उदरशब्दादीप्समर्थात् प्रसित इत्यस्मिन्नर्थे ठण् निपात्यते आद्यूने गम्यमाने। आद्यून उदरे अविजिगीषुरुच्यते। उदरे प्रसित औदरिक। आद्यून इत्यर्थ। उक्त च—

"मिताशिनं षट् गुणा भजन्ते (भजन्ते) आरोग्यमायुश्च वपुर्बलञ्च।
सनादिकश्चास्य भवत्यपत्यं न चैनमाद्यूनमिति क्षिपन्ति॥"

अन्यत्र उदरे प्रसित उदरकः। स्वाङ्गेषु प्रसित इति कः। सस्यशब्दाद् भासमर्थात्परिजात इत्येतस्मिन्नर्थे कः। सस्येन परिजातः सस्यकः शालिः। सस्यको देशः। सस्यको वत्सः। वैगुण्यरहित इत्यर्थः। सस्यमिव सस्यम्, तेन परिजातः सस्यको मणिः। आका(क)रशुद्ध इत्यर्थः। "विग्रहे (अंश) शब्दादीप्समर्थात् हरतीत्यस्मिन्नर्थे कः।" अंशं हरति अंशको दायादः। "तन्त्रशब्दात्कासमर्थादचिरापहृत इत्यस्मिन्नर्थे कः। तन्त्रादचिरापहृतः तन्त्रकः पटः। "ब्राह्मणक उष्णिक इत्येतौ शब्दौ खुविषये कस्यान्तौ निपात्येते।" ब्राह्मणको देशः। यत्रायुधजीविनो ब्राह्मणास्तस्य देशस्येय सञ्ज्ञा। उष्णादल्पान्ने। उष्णिका अल्पान्ना यवागूरुच्यते। "उष्णशीतशब्दाभ्यां क्रियाविशेषणाभ्यां वासमर्थाभ्यां करोतीत्यस्मिन्नर्थे कः।" उष्ण करोतीति उष्णकः। शीघ्रकारीत्यर्थः। शीत करोति शीतकः। जड इत्यर्थः। "अधिकमित्यत्र अध्यारूढशब्दात्स्वार्थे के उत्तरं च निपात्यते।" "श्लिषशीङ्स्थास" [२।४।५७] इत्यादिना यदाऽध्यारूढशब्दः कर्त्तरि व्युत्पाद्यते तदाऽधिको द्रोणः खार्यामित्युदाहरणम्। यदा कर्मणि व्युत्पाद्यते तदा अधिका खारी द्रोणेनेत्युदाहरणम्। "अनुक अभिक अभीक इत्येते शब्दाः कस्यान्ताः कमिता इत्यस्मिन्नर्थे निपात्यन्ते"। अनुकामयतेऽनुकः। अभिकामयतेऽभिकः। अभेर्वा दीत्व निपात्यते। "अनुपदशब्दादन्वेष्टरि इन्निपात्यते।" पदस्य पश्चादनुपदम्। (प) श्चादर्थे हसो भावप्रधानः। अनुपदमन्वेष्टा अनुपदी गवाम्। "पार्श्वशब्दाद् भासमर्थादन्विच्छतीत्यस्मिन्नर्थे क।" अनृजुरुपायः पार्श्वं पार्श्वेनान्विच्छति पार्श्वकः। "अय.शूलदण्डाजिनशब्दाभ्यां भासमर्थाभ्यामन्विच्छतीत्यस्मिन्नर्थे ठण्।" तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलम्, अयःशूलेनान्विच्छति आयःशूलिकः। दण्डाजिनेनान्विच्छति दाण्डाजिनिकः। दम्भप्रधान इत्यर्थः। "उत्क उन्मनसि को निपात्यते।" उत्कः प्रवासी। उत्कण्ठित इत्यर्थः। "छन्द.शब्दादिप्समर्थादधीते इत्येतस्मिन्नर्थे घो निपात्यते प्रकृतेश्च श्रोत्रभावः।" छन्दोऽधीते श्रोत्रियः। मनोज्ञादिपाठाच्छान्दस इत्यपि भवति। "साक्षात्शब्दाद् द्रष्टरि इन् खुविषये।" साक्षाद्द्रष्टा साक्षी। दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां योऽन्य उपद्रष्टा तस्येय सञ्ज्ञा। "इन्द्रशब्दात्तासमर्थाल्लिङ्ग इत्यस्मिन्नर्थे घ।" इन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रियम्। इन्द्र आत्मा। अथवा इन्द्र कर्म। इन्द्रेण जुष्टं सृष्टं दृष्टं दत्तं वा इन्द्रियम्। तन्त्राद् घ.। "परक्षेत्रशब्दादीप्समर्थाच्चिकित्स्य इत्यस्मिन्नर्थे घ्यः परशब्दस्य च लुम्।" परक्षेत्रे चिकित्स्यः क्षेत्रियो व्याधि.। परक्षेत्र जन्मान्तरशरीरमुच्यते।

श्राद्धं भुक्तं ठोऽनेन ॥४।१।१८॥ तदिति वर्तते। श्राद्धशब्दाद् वासमर्थाद् भुक्तोपाधिकादनेनेति

कर्तरि ठो भवति । श्राद्ध कर्मनामधेयम् । श्रद्धा प्रयोजनमस्य श्राद्धम् । "अण्प्रकरणे अग्निपदादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०] इत्यण् । "प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चा" [४।१।१८] आदिना मत्वर्थीयो वाण् । श्राद्धं भुक्तमनेन श्राद्धिको देवदत्तः ।

इन् ॥४।१।१९॥ श्राद्धं भुक्तमनेनेति वर्तते । इन् भवति श्राद्धशब्दात् । श्राद्धं भुक्तमनेनेति श्राद्धी देवदत्तः । योगविभाग उत्तरार्थः । "ठेनोः समानकालग्रहणं वक्तव्यम्" । यस्मिन्नहनि श्राद्धमनेन भुक्तं तस्मिन्नेव श्राद्धिकः श्राद्धी वाऽभिधीयते । अद्य भुक्ते श्राद्धे श्वः श्राद्धिकः श्राद्धीति च न भवति ।

पूर्वात् ॥४।१।२०॥ तदिति वर्तते अनेनेति च । पूर्वशब्दाद् वासमर्थात् अनेनेति कर्तरि इन् भवति । कर्ता क्रियामन्तरेण न भवतीति पाकादिक्रिया व्याहर्तव्या । पूर्वशब्दः क्रियाविशेषणमिह गृह्यते । पूर्वमनेन भुक्तं पीतं गतं वा पूर्वी । प्रतीयमानस्य कर्मणोऽनुप्रयोगः । ओदनं सुरा ग्राम वा ।

सपूर्वात् ॥४।१।२१॥ सपूर्वाच्च मृदः पूर्वशब्दान्ताद् वासमर्थादनेनेत्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । पूर्वं सूत्रे यत् क्रियापदमव्याहृतं तत्पूर्वात् पूर्वशब्दादिह त्यः । पूर्वं कृतमनेन कृतपूर्वी कटम् । भुक्तपूर्वी ओदनम् । पीतपूर्वी सुराम् । त्योत्पत्तेः प्राक् मयूरव्यंसकादित्वात् [१।३।६६] सविधिः । "भूतपूर्वे चरट्" [३।४।१४२] इति ज्ञापकात्पूर्वशब्दस्य परनिपातः । क्तान्त भावे व्युत्पादनीयम् । अथापि कर्मणि व्युत्पाद्यते । इत्युत्पन्ने क्रियाकर्म सम्बन्धं त्यक्त्वा कर्ता सह वर्तते । इति कर्मण्यनुक्ते इन्नेव भवति । कर्मसम्बन्धाभावादेव टापो निवृत्तिः । ननु "पूर्वात्" [४।१।२०] इत्युक्ते तत्र तदन्तविधिना सपूर्वाद् भविष्यति, व्यपदेशिवद्भावेन केवलाच्च भविष्यति, किमर्थं योगान्तरम् ? एव तर्हीदमेव योगद्वयं ज्ञापकम् । अस्तीदं परिभाषाद्वयम्, मृद्ग्रहणे न तदन्तविधिः, व्यपदेशिवद्भावो न मृदेति ।

इष्टादेः ॥४।१।२२॥ तदिति अनेनेति च वर्तते । इष्ट इत्येवमादिभ्यो मृद्भ्यो वासमर्थेभ्योऽनेनेत्यस्मिन्नर्थे इन् भवति । इष्टमनेन इष्टी यज्ञे । क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानमिति ईप् । इष्ट । पूर्त । उपपादित । निगदित । परिविदित । निकथित । निपतित । सङ्कलित । परिकलित । संरक्षित । परिरक्षित । गणित । अवकीर्ण । आयुक्त । निगृहीत । आभृत । श्रुत । आसेवित । अवधारित । अवकल्पित । निराकृत । उपाकृत । अनुयुक्त । अनुगणित । अनुपठित । व्याकुलित ।

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुः ॥४।१।२३॥ तदिति वासमर्थादस्य अस्मिन्नित्येतयोरर्थयोर्मतुर्भवति । यत्तद् वासमर्थमस्त्युपाधिकं चेत्तद् भवति । इति करणस्तत(श्चेत्)श्चेद्विवक्षा । प्रायो भूमादिषु विवक्षा ।

"भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां मत्वादिविधिरिष्यते ।"

भूम्नि–गावोऽस्य सन्ति गोमान् । निन्दायाम्–शङ्खोदकोऽस्यास्ति शङ्खोदकी । ककुदावर्ती । प्रशंसायाम्–रूपमस्यास्ति रूपवान् । नित्ययोगे–क्षीरमेषां सन्ति क्षीरिणो वृक्षाः । अतिशायने–उदरिणी कन्या । संसर्गे–दण्डी । भूमाद्यभावेऽपि विवक्षा । व्याघ्रवान् पर्वतः । स्पर्शवान् वायुः । दन्तिमती शाला ।

"मत्वर्थाच्छैषिकाच्चापि मत्वर्थे शैषिकस्तथा । सरूपस्य विधिर्नेष्टः सम्बन्धाद्य सनिष्यते ॥"

"गुणवचनेभ्यो मत्वर्थीयस्य लुग्वक्तव्यः" [वा०] । शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः । कृष्णः । "रसादिभ्यो मतुब्वक्तव्यः" [वा०] । रसवान् । रस । रूप । वर्ण । गन्ध । स्पर्श । शब्द । स्नेह । एते गुणशब्दाः । 'एकाचः' स्ववान् । स्वत्वान् । अन्यनिवृत्त्यर्थमिदं वक्तव्यम् । कथं रूपिणी कन्या । रसिको दारकः । रसिको नटः । इति ? इनिठनौ भवतः, अनुप्रयोगार्थं वा । अन्यानिवृत्तिरिति किमर्थमिति ? नाना

नियत समावेशः। देशान्तरे राज्ञो हस्तिनः। न वैते राज्ञि भवन्ति। कूपे गर्गाः। न च ते तस्य भवन्ति। अस्तिग्रहणं वर्तमानकालसत्तापतिपत्त्यर्थम्। इह मा भूत्। गावोऽस्याऽसन्। गावोऽस्य भवितारः इति। कथं गोमानासीत्, गोमान् भविता इति? "धुयोगे त्याः" [२।४।१] इत्यत्रोपपत्तिर्वक्तव्या।

प्राण्यङ्गादातो वा लः ॥४।१।२४॥ प्राण्यङ्गवाचिन आकारान्ताद्वा ल इत्ययं त्यो भवति मत्वर्थे। चूडालः। चूडावान्। घाटालः। घाटावान्। कथं तर्हि कर्णिकालः। कर्णिकावान्? प्राणिनि स्वङ्गं प्राण्यङ्गमिति विग्रहाल्लभ्यते। अथवा कर्णिका प्राण्यङ्गमप्यस्ति नाभरणविशेष एव। प्राणिग्रहणं (किम्)? शिखावान् प्रदीपः। अङ्गग्रहणं किम्? घर्मान्मा भूत्। चिकीर्षावान्। आत इति किम्? हस्तवान्।

सिध्मादेः ॥४।१।२५॥ सिध्म इत्येवमादिभ्यश्च वा लो भवति मत्वर्थे। वाग्रहणमिह मतोः समुच्चयार्थम्। न विकल्पार्थम्। उत्तरत्र वाग्रहणात्। तेन येऽनाकारान्तास्तेभ्यष्ठेनौ न भवतः। सिध्मान्यस्य सन्ति सिध्मलम्। सिध्म। वर्म। गडु। तुण्डि। मणि। नाभि। बीज। निष्पाव। सुयाल। दत्त। सक्तु। पर्शु। पाण्डु। माष। पार्ष्णिधमन्योर्दीर्घत्व च। "वा सदन्तवालललाटानामूङ् च" [वा०] "जटाघटाकालेभ्यः क्षेपे"। [वा०] पर्ण। उदक। प्रज्ञा। "क्षुद्रजन्तूपतापाभ्यां चेष्यते" [वा०] यूकालः। मक्षिकालः। उपतापात्–विचर्चिकालः। विपादिकालः। मूर्च्छालः।

फेनादिलश्च ॥४।१।२६॥ फेनशब्दादिलो भवति लश्च मत्वर्थे। वाग्रहणं मतुसमुच्चयार्थमनुवर्तते। फेनिलम्। फेनलम्। फेनवदुदकम्। "पिच्छादेश्चेति वक्तव्यम्" [वा०] पिच्छिलः। पिच्छलः। पिच्छवान्। पिच्छ। उरस्। भ्रुवक[1]। भ्रूवक। "जटा घटा काला त्रिभ्यः क्षेपे" [वा०] पर्ण। उदक। प्रज्ञा।

लोमपामादिभ्यां शनौ ॥४।१।२७॥ लोमादिभ्यः पामादिभ्यश्च यथासंख्यं श न इत्येतौ त्यौ भवतो मत्वर्थे। वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः। लोमान्यस्य सन्ति लोमशः। लोमवान्। लोमन्। रोमन्। बभ्रु। वल्गु (वल्गु)। हरि। कपि। मुनि। तरु[2]। पामादिभ्यः। पामनः। पामवान्। पामन्। वामन्। हेमन्। श्लेष्मन्। वलि। सामन्। अङ्ग. कल्याणे। अङ्गानि कल्याणान्यस्याः सन्ति अङ्गना। अङ्गवती अन्यत्र। लक्ष्म्या अच्च। लक्ष्मणः। दद्रुशाकी पलाली प्रश्च। दद्रुणः। शाकिनः। पलालिनः। "विष्वगिति घुस्य चावृतसन्धे."। विष्वञ्चोऽस्य सन्ति विषुणः। विषुशब्दो निरंशः।

प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चावृत्तिभ्यो णः ॥४।१।२८॥ प्रज्ञा श्रद्धा अर्चा वृत्ति इत्येतेभ्यो णो भवति मत्वर्थे। वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः। प्रज्ञाऽस्यास्तीति प्राज्ञः। प्रज्ञावान्। श्राद्धः। श्रद्धावान्। आर्चः। अर्चावान्। वार्तः। वृत्तिमान्।

तपःसहस्राभ्यां विनिनौ ॥४।१।२९॥ तपस् सहस्र इत्येताभ्यां यथासङ्ख्यं विन् इन् इत्येतौ त्यौ भवतो मत्वर्थे। तपस्वी। सहस्री। वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि। तपस्वान्, सहस्रवान्। तपसोऽसन्तत्वादेव विनि सिद्धे ठठसमावेशेनाणा बाधा मा भूदिति पुनर्वचनम्।

अण् ॥४।१।३०॥ अण् च भवति तपःसहस्राभ्यां मत्वर्थे। तापसः। साहस्रः। "अण्प्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०]। ज्योत्स्ना अस्मिन् सन्ति ज्यौत्स्नः पक्षः। तमिस्रा। तामिस्रः। कुण्डल। कौण्डलः। कुण्डलाः [illegible]। कुतप। कौतपः। विसर्प। वैसर्पः। विपादिका। वैपादिकः।

---

१ भ्रुवक। भूवक म०। भ्रुवका भ्रूवक पु०। भ्रुवका। ध्रुवका इति काशिकायाम्।
२ मरु म०, पु०।

सिकताशर्कराभ्याम् ॥४।१।३१॥ सिकता शर्करा इत्येताभ्यामण् भवति मत्वर्थे। सैकतः। शार्करः। अदेशार्थ आरम्भः।

उसिलौ च देशे ॥४।१।३२॥ सिकताशर्कराभ्यामुस् इल् इत्येतौ त्यौ भवतः, चकारादण् मतुश्च देशेऽभिधेये। तदस्यास्त्यस्मिन्निति वर्तते। कस्योस्? मतोः। तेन चत्वारः शब्दाः। सिकता देशः। सिकतिलः। सैकतः। सिकतावान्। शर्करा देशः। शर्करिलः। शार्करः। शर्करावान्। देश इति किम्? सैकतो घटः। शार्करो घटः।

मधूषशुषिमुष्कादः ॥४।१।३३॥ मधु ऊष शुषि मुष्क इत्येतेभ्यो रो भवति मत्वर्थे। वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति। इह मधुशब्दो रसवाची गृह्यते न द्रव्यवाची। मधु अस्मिन्नस्ति मधुरो गुड। रसवाचिनि मधुशब्दे कथं मधुरो रसः? इति चेत्, उपचारात्। रसवाचिनो मधुशब्दान्मतोरभिधानं नास्ति। ऊषरं क्षेत्रम्। शुषिरो वंशः। मुष्करः पशुः। "रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्" [वा०] ए महत्कण्ठविवरमस्यास्ति खरः। मुखमस्यास्ति मुखरः। कुञ्जोऽस्यास्ति कुञ्जरः। "रविधिर्नगपांशुभ्याम्" [वा०]। (नगरः। पांशुरः)।

द्युद्रुभ्यां मः ॥४।१।३४॥ द्युद्रुशब्दाभ्यां मो भवति मत्वर्थे। द्यौरस्यास्तीति द्युमः। "दिव उत्" [४।३।१०८] इति उत्। द्युशब्दो वा प्रकृत्यन्तरम्। द्रूण्यस्य सन्ति द्रुमः। रूढिशब्दावेतौ। यदा रूढिर्नास्ति तदा मतुरेव भवति। द्युमान्। द्रुमान्।

केशाद्वो वा ॥४।१।३५॥ केशशब्दाद् व इत्ययं त्यो भवति वा मत्वर्थे। प्रकृत वाग्रहणं मतुसमुच्चयार्थम्। इदं तु सर्वविकल्पार्थम्। तेन ठेनावपि भवतः। केशवः। केशवान्। केशिकः। केशी। "मणिप्रभृतिभ्य इति वक्तव्यम्" [वा०]। मणिवः। हिरण्यवः। कुररावम्। इष्टकावम्। राजीवम्। "अर्णसः स च" [वा०]। अर्णवः।

गाण्ड्यजगात्खौ ॥४।१।३६॥ गाण्डी अजग इत्येताभ्यां वो भवति मत्वर्थखुविषये। गाण्डीवं धनुः। अजगवं धनुः। प्रादपि भवति। गाण्डिवं धनुः। मत्वन्तेन संज्ञा न गम्यते इति मतुर्न भवति। खाविति किम्? गाण्डीमान् दण्डः।

काण्डाण्डादीरः ॥४।१।३७॥ काण्ड-अण्डशब्दाभ्यामीर इत्ययं त्यो भवति मत्वर्थे। ठेनोरपवादः। काण्डीरः। अण्डीरः। वेति मतुसमुच्चयार्थे वर्तते। काण्डवान्। अण्डवान्।

रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलः ॥४।१।३८॥ रज कृषि आसुति परिषद् इत्येतेभ्यो वलो भवति मत्वर्थे। रजसो विनि प्राप्ते इतरेभ्यो मतो वचनम्। रजस्वला नारी। कृषीवलः कुटुम्बी। आसुतीवलः कल्यपालः। 'वले" [४।३।२२१] इति दीत्वम्। परिषद्वलो नृपः। इतिशब्दः प्रयोगनियमार्थमनुवर्तते। परिषदः सामान्येन। इतरेभ्य. संज्ञाया प्रयोगः। तेनेह वलो न भवति। रजोऽस्मिन् ग्रामेऽस्ति, आसुतिरस्मिन् भाण्डेऽस्ति। "वलप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते इति वक्तव्यम्" [वा०]। पुत्रवलः। भ्रातृवलः। उत्सङ्गवल.। "वले" [४।३।२२१] इत्यत्र ण्याविनुवर्तनादस्लो दीत्व न भवति।

दन्तशिखात्खौ ॥४।१।३९॥ दन्त-शिखाशब्दाद् वलो भवति मत्वर्थे खुविषये। दन्तावलो नाम कश्चित्। शिखावलं नाम नगरम्। यत्र तदन्तेन संज्ञा गम्यते तत्र मतुरपि भवति। शिखावान् दीप इति। ननु देशे. स्त्रियुच्यमाने "शिखाया वल" [३।२।८८] इत्यनेन चातुरर्थिकेन सिद्धं किमर्थमिदं वक्तव्यम्? अदेशार्थमिदं वक्तव्यम्। तर्हि नियमार्थं वक्तव्यम्।

ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलवत्सलांशलदन्तुरहस्तिन्गोमिन्स्वामिन्वर्णिन्मलिनमलीमसाः ॥४।१।४०॥ ज्योत्स्नादयः शब्दा निपात्यन्ते मत्वर्थे । "ज्योतिष उङः खं नश्च सुविषये निपात्यते ।" ज्योत्स्नेति चन्द्रप्रकाशस्याख्या । अन्यत्र ज्योतिष्मती रात्रिः । "तमसः खं च उङश्च ह्रस्वं निपात्यते ।" तमिस्रा रात्रिः । स्त्रीत्वमतन्त्रम् । तेन तमिस्रं नभः । मतुरपि भवति । तमस्वती रात्रिः । "शृङ्गादिनो निपात्यते ।" शृङ्गिणः । शृङ्गवान् । "ऊर्जस्विन् ऊर्जस्वल इत्येतौ निपात्येते ।" ऊर्जस्वी, ऊर्जस्वलः, ऊर्जस्वान् । "वत्सांशशब्दाभ्यां यथासङ्ख्यं कामवति बलवति च लो निपात्यते ।" वत्सलः साधुः । स्नेहवान् इत्यर्थः । अंशलः पुरुषः । बलवानित्यर्थः । रूढिशब्दावेतौ । रूढिश्च मत्वन्तेन न गम्यते इति रूढेरन्यत्र मतुर्वेदितव्यः । "दन्तशब्दादुन्नतोपाधिकादुरः ।" दन्ता उन्नता अस्य सन्ति दन्तुरः । उन्नतविशेषणादन्यत्र दन्तवान् । "हस्तशब्दाज्जातावभिधेयायामिन्" । हस्ती । अन्यत्र हस्तवान् पुरुषः । "गोशब्दान्मिन्" । गावोऽस्य सन्ति गोमी । गोमानिति भवति । "स्वशब्दान्मिन् दीर्घत्वं च निपात्यत ऐश्वर्ये गम्ये" । स्वमस्यास्ति स्वामी । अन्यत्र स्ववान् । "वर्णादिन् ब्रह्मचारिणि" । वर्णी । ब्रह्मचारीत्यर्थः । "मलशब्दादिन ईमस इत्येतौ निपात्येते" । मलिनः । मलीमसः ।

ठेनावतः ॥४।१।४१॥ अकारान्तान्मृदष्ठ इन् इत्येतौ त्यौ भवतो मत्वर्थे । दण्डिकः । दण्डी । छत्रिकः । छत्री । वेत्यनुवृत्तेर्मतोः समुच्चयः । दण्डवान् । अत इति किम् ? खट्वावान् । अत्रेष्टिः ।

"एकाक्षरात् कृतो जातेरीवर्थे[1] च न तौ स्मृतौ" [पा. म. ५।२।११५] । एकाक्षरात्—खवान् । स्ववान् । कृदन्तात् । कारकवान् । हारकवान् । जातेः । व्याघ्रवान् । सिंहवान् । ईवर्थे । दण्डा अस्या सन्ति दण्डवती शाला । नेदं वक्तव्यम् । अनभिधानादेवात्र ठेनौ न भवतः । यत्राभिधानं तत्र भवत एव । कार्यी । हार्यी । तन्दुलिक । तन्दुली । ईवर्थे । खलिनी भूमिः । सा(शा)द्वलिनी भूमिः ।

व्रीह्यादेः ॥४।१।४२॥ व्रीहि इत्येवमादिभ्यष्ठेनौ भवतो मत्वर्थे । वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति । व्रीहयोऽस्य सन्ति व्रीहिकः, व्रीही, व्रीहिमान् । मायिकः, मायी, मायावान् । इतिशब्दः प्रयोगनियमार्थोऽनुवर्तते । न व्रीह्यादिषु ये शिखादयः पठ्यन्ते तेभ्य इन् भवति । यवखडादिभ्यष्ठो भवति । परिशिष्टेभ्य उभयं भवति । सर्वत्र आदिशब्दः प्रकारवाची । शिखाऽस्यास्ति शिखी । शिखावान् । शिखा । माला । मेखला । शाखा । वीणा । वशा । वडवा । अष्टका । बलाका । पताका । कर्मन् । धर्मन् । चर्मन् । यव । खड । नौ । कुमारी । एतेभ्य इन्नेष्यते । परिशिष्टेभ्यो द्वावपि भवतः । "शीर्षान्नञः" [वा०] अशीर्षिकः । अशीर्षी । अशीर्षवान् । शीर्षशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति ।

तुन्दादेरिलः ॥४।१।४३॥ तुन्द इत्येवमादिभ्य इलो भवति ठेनौ च मत्वर्थे । उत्तरान्नित्यग्रहणादिह ठेनोः समावेशो लभ्यते । मतोस्तु वेत्यनुवृत्तेरेव समुच्चयः । तुन्दमस्यास्ति तुन्दिल । तुन्दिकः । तुन्दी । तुन्दवान् । तुन्द । उदर । पिचण्ड । यव । व्रीहिग्रहणं सरूपार्थम्, अर्थनिर्देशार्थं च । व्रीहिलः, व्रीहिकः, व्रीहिमान् । शालिलः, शालिकः, शालिमान् । स्वाङ्गविवृद्धौ । कर्णौ विवृद्धावस्य कर्णिलः, कर्णिक, कर्णी, कर्णवान् । पिच्छादयोऽपि पठनीयाः । तेभ्यष्ठेनोरभिधानं नास्ति । पिच्छा । उरस् । ध्रुवका । जटाघाटा काला क्षिप. क्षेपे । पर्ण । उदक । प्रज्ञा ।

एकगोपूर्वाट्ठञ्नित्यम् ॥४।१।४४॥ एकपूर्वाद् गोपूर्वाच्च नित्यं ठञ् भवति मत्वर्थे । एकपूर्वात्समानाधिकरणाद्बलादेव विधिः । एकहलमस्यास्ति ऐकहलिकः । "हृदर्धे" [१।३।४६] इति रसे कृते ठञ् । ननु हृद्वलात् परत्वाद् दसे कृते वक्तोह्यलान्मत्वर्थीयो न प्राप्नोति यथा चित्रगुरिति । सत्यम् ।

---

1. -ते सहमर्थ च इति महाभाष्ये ।

इह तु वचनाद् भवति। एकस्य हलम्, एकहलम्, इत्यत्रानभिधानान्नेष्यते। एवम् ऐकशतिकः। ऐकसहस्रिकः। गवां शतं गोशतं तदस्यास्ति गौशतिकः। गौसहस्रिकः। यदि अत इति वर्त्तते इह न भवति। एकविंशतिरस्यास्ति, गोविंशतिरस्यास्ति। इष्ट तु न सिद्ध्यति। ऐकगविक इति सान्ते कृते भविष्यति। कथमेका शकटिरस्यास्ति, ऐकशकटिकः। गौशकटिक इति? अव्यभिचारन्यायेन शकटान्ता इलन्ति (न्तादुत्पत्तिः)। नित्यग्रहणं ठेनोर्मतोश्च बाधनार्थम्। कथमेकद्रव्यत्वादिति? चिन्त्यमेतत्।

निष्काच्छतसहस्रान्तात् ॥४।१।४५॥ निष्कात्परौ यौ शत-सहस्रशब्दौ तदन्तान्मृदो नित्यं ठन् भवति मत्वर्थे। निष्काणां शतम्, निष्कशतम्, तदस्यास्ति नैष्कशतिकः। नैष्कसहस्रिकः। सुवर्णनिष्कशतमस्यास्तीत्येवमादिष्वनभिधानान्न भविष्यति।

रूप्यहिम्यगुण्याः ॥४।१।४६॥ रूप्य हिम्य गुण्य इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते मत्वर्थे। रूपशब्दादाहतविशिष्टाच्च यत्यो निपात्यते। आहतं रूपमस्यास्ति रूप्यः कार्षापणः। प्रशस्तं रूपमस्यास्ति रूप्यो गौः। रूप्या कन्या। आहतप्रशंसाभ्यामन्यत्र रूपवान्। हिममस्यास्तीति हिम्यः पर्वतः। गुणा अस्य सन्ति गुण्यस्तपस्वी। नित्यग्रहणं ठना सह निवृत्तम्। वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति। रूपवान्। हिमवान्। गुणवान्।

विन्नस्मायामेधास्रजः ॥४।१।४७॥ असन्तान्मृदो माया मेधा स्रज् इत्येतेभ्यश्च विन् भवति। मत्वर्थे। वेत्यनुवृत्तेर्मतुरपि भवति। ओजस्वी। तेजस्वी। मायावी। मेधावी। स्रग्वी। तेजस्वान्। मेधावान्। स्रग्वान्। मायाशब्दस्य व्रीह्यादिपाठान्मतुठेनो भवन्ति।

वाचो ग्मिन् ॥४।१।४८॥ वाक्शब्दाद्ग्मिन् भवति मत्वर्थे। वाग्मी। "स्वादावधे" [१।२।१०६] इति पदत्वात् पूर्वस्य कुत्वजस्त्वे। वाग्वान्। "झयः" [५।३।२१] इति मतोर्वत्वम्।

बहुलापिन्यालाटौ ॥४।१।४९॥ वाच आल आट इत्येतौ त्यौ भवतो मत्वर्थे बहुलापिन्यभिधेये। वाचालः। वाचाटः। "कुत्सायामयं योगो वक्तव्यः।" यो हि समीचीनं बहु संलपति वाग्मीति भवति।

अर्शआदेरः ॥४।१।५०॥ अर्शस् इत्येवमादिभ्यः, अ इत्ययं त्यो भवति मत्वर्थे। आदिशब्दः प्रकारवाची। अर्शांस्यस्य सन्ति, अर्शसः। अर्शस्। उरस्। तुन्द। मुण्ड। चतुर। पलित। जटा। घाटा। आभ्यां सिध्मादित्वात् लमनू अपि भवतः। तुन्दादित्वादिलोऽपि भवति। अभ्र। अम्ल। लवण। स्वाङ्गाद्धीनात्। खञ्जः पादोऽस्यास्तीति खञ्जः। काणं चक्षुरस्य काणः। कथं कुणिः पुरुषः कुणिरुक्तः? तद्योगात्तथोक्तः। यथा पङ्गुः। वर्णात्। शुक्लं हरितम्। ननु शुक्लादीनां भेदोपचारादेव भविष्यति। एवं तर्हि द्रव्यवाचिभ्यो भविष्यति। शुक्लगुणयुक्ताः प्रासादा शुक्ला अस्मिन् सन्ति शुक्लं नगरम्। "ज्योत्स्नातमिस्राभ्यां णिद् भवति पक्षे" [वा०] ज्यौत्स्नः पक्षः। तामिस्रः पक्षः। नेदं वक्तव्यम्। "अणप्रकरणे ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानमिति" सिद्धम्। एवं च ज्यौत्स्नी रात्रिः, तामिस्री रात्रिरिति ङीविधेरपि लाभः।

द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः ॥४।१।५१॥ उपतापो व्याधिः, गर्ह्यं कुत्सितम्। अत इति वर्त्तते। द्वन्द्वशब्दादुपतापवाचिनो गर्ह्यवाचिनश्च मृदः प्राणिस्थानि वर्त्तमानादिन् भवति मत्वर्थे। शङ्खनूपुरिणी। कटककेयूरिणी। "अप्राण्यङ्गादेव वक्तव्यम्" [वा०] इह मा भूत्। पाणिपादवती। उपतापात्। कुष्ठी। किलासी। गर्ह्यात्। ककुदावर्ती। काकतालुकी। प्राणिस्थादिति किम्? पुष्पफलवान् वृक्षः। अत इत्येव। चित्रकण्ठिकावती। ठनश्चोपवचनार्थं (बाधनार्थं) सूत्रम्।

वातातीसाराभ्यां कुक् ॥४।१।५२॥ वात अतीसार इत्येताभ्यां मत्वर्थे इन् भवति, तत्सन्नियोगेन कुगागमः। उपतापप्राणिस्थेनेति निर्देशे कुगर्थ आगमः। वातकी। अतीसारकी। "पिशाचाच्चेति वक्तव्यम्" [वा०] पिशाचकी।

डटो वयसि ॥४।१।५३॥ इन्निति वर्तते। डडन्तान्मृद इन्नेव भवति वयसि गम्यमाने। पञ्चमोऽस्यास्ति संवत्सरो मासो वा पञ्चमी उष्ट्रः। एव नवमी। दशमी।

सुखादेः ॥४।१।५४॥ सुख इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे। सुखमस्यास्ति सुखी। सुख। दुःख। तृप्र। कृच्छ्र। अस्र। आस। अलीक। करुण। कृपण। सोढ। सोफ। प्रतीप। शील। हल। फल। माला क्षेपे। माली। अन्यत्र मालावान् माली च। व्रीह्यादिषु शिखादिमालाशब्दाः पठ्यन्ते, क्षेपे मतुबाधनार्थस्तस्येह पाठः।

धर्मशीलवर्णान्तात् ॥४।१।५५॥ धर्मान्तात् शीलान्तात् वर्णान्ताच्च मृद इन्नेव भवति मत्वर्थे। तपस्विना धर्मः तपस्विधर्मः, सोऽस्यास्तीति तपस्विधर्मी। तपस्विशीली। क्षत्रियवर्णी।

पुष्करादेर्देशे ॥४।१।५६॥ पुष्कर इत्येवमादिभ्य इन्नेव भवति मत्वर्थे देशेऽभिधेये। पुष्करिणी। पद्मिनी। देश इति किम्? पुष्करवान् हस्ती। पुष्कर। पद्म। उत्पल। कुमुद। तमाल। नड। कपित्थ। कर्दम। बिस। मृणाल। साल्वक। विगर्ह। करीष। शिरीष। यवास। हिरण्य। अत्रेष्टयः—"इन्प्रकरणे बलाद् बाहूरुपूर्वादुपसंख्यानम्"[वा०]। बाहुबली। ऊरुबली। "सर्वादेश्चेति वक्तव्यम्"[वा०]। सर्ववनी। सर्ववाजी। सर्वकेशी। "अर्थाद्वाऽसन्निहिते वर्तमानादिन् वक्तव्यः"[वा०]। असन्निहितस्यास्तित्वेन विरोध इति चेद्, एवं तर्हि तद्विषयाऽभिलाषस्याविरोधः। अर्थी। अर्थाभिलाषवानित्यर्थः। असन्निहित इति किम्? अर्थवान्। "तदन्ताच्चेति वक्तव्यम्"[वा०]। धान्यार्थी। हिरण्यार्थी। "शृङ्गवृन्दाभ्यामारको वक्तव्यः" [वा०] शृङ्गे अस्य स्तः शृङ्गारकः। वृन्दारकः। "फलबर्हाभ्यामिनः" [वा०] फलिनो वृक्षः। बर्हिणो मयूरः। "हृदयाच्चालुर्वा वक्तव्यः"[वा०]। हृदयालुः। हृदयिकः। हृदयी। हृदयवान्। 'शीतोष्णतृप्तेभ्यस्तन्न सहत इत्यालुर्वक्तव्यः" [वा०]। शीतं न सहते शीतालुः। उष्णालुः। तृप्तालुः। "हिमाच्चेलुः" [वा०]। हिमं न सहते हिमेलुः। "बलादूलः"[वा०]। बलं न सहते बलूलः। 'वातात्समूहे तन्न सहते इति च"[वा०]। वातसमूहो वातूलः। वातं न सहते वातूलः। "तः पर्वमरुद्भ्यां मत्वर्थे" [वा०]। पर्वाण्यस्य सन्ति पर्वतः। मरुत्तः।

बलादेर्मतुर्वा ॥४।१।५७॥ बल इत्येवमादिभ्यो मतुर्भवति। वावचनेन पक्षे इन् प्रकृतः समुच्चीयते। ठोऽत्र न भवति। बलमस्यास्ति बलवान्। बली। इदमेव मतुवचनं ज्ञापकम्, इन्विषये मतुर्न भवतीति। बल। उत्साह। उद्दास। उद्भास। वुल। दुष। पुल। दल। कुल। आयाम। व्यायाम। प्रयाम। उपयाम। आरोह। अवरोह। परिणाह। शिखादेराकृतिगणत्वात्सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम्।

मन्माभ्यां खौ ॥४।१।५८॥ मनन्तान्मशब्दान्ताच्च मृद इन् भवति मत्वर्थे खुविषये। धर्मिणी। चर्मिणी। चर्मवतीति निपातनं वक्ष्यति। तत एव मतुः। मान्तात्। भामिनी। कामिनी।

तुण्डिवटिवलेर्भः ॥४।१।५९॥ तुण्डि वटि वलि इत्येतेभ्यो भ इत्ययं त्यो भवति मत्वर्थे। विवृद्धा नाभिस्तुण्डिः, सोऽस्यास्ति तुण्डिभः। तुन्दादिषु स्वाङ्गविवृद्धाविति इलमतुठेनः प्राप्ताः। वटिभः। मतुः प्राप्तः। वलिभः। अस्मात्पामादिषु पाठात् नमतू च भवतः। वलिनः। वलिमान्।

कंशम्भ्याम् ॥४।१।६०॥ कंशंशब्दौ मकारान्तौ जलसुखयोर्वाचकौ। कं शं शब्दाभ्यां भत्यो भवति मत्वर्थे। कम्भः। शम्भः।

यवस्तितुताः ॥४।१।६१॥ कंशंभ्यां य व यस् ति तु त इत्येते त्या भवन्ति मत्वर्थे। कम्यः, शम्यः, कंवः, शंवः। सकारः "सिति" [१।२।१०५] इति पदसंज्ञाऽर्थः। पदत्वेनाधिकृत्य मकारस्यानुस्वारपरसवर्णे सिद्धे

भसंज्ञायां हि कम्यः शम्यः इत्यनिष्टं प्रसज्येत । कन्तिः, शन्तिः, कन्तुः, शन्तुः, कन्तः, शन्तः, । सर्वत्र पूर्वस्य पदत्वात् "मोऽनुस्वारः" [५।४।७] इत्यनुस्वारः । तस्य "वा पदान्तस्य" [५।४।१२३] इति परस्वत्वम् ।

ऊर्णाऽहंशुभंम्यश्च युस् ॥४।१।६२॥ ऊर्णा, अहम्, शुभम्, इत्येतेभ्यः कंशंभ्यां च युस् इत्ययं त्यो भवति मत्वर्थे । सकारः "सिति" [१।२।१०५] इति पदसंज्ञार्थः । ऊर्णायुः । अहमित्यहङ्कारवाचि शब्दान्तरम् । अहंयुः । शुभमिति मकारान्तः शुभपर्यायः । शुभंयुः । कंयुः । शंयुः । नाभिक्यस्य योरनादेशो वक्ष्यते इत्यस्य न भवति ।

सूक्तसाम्नोश्छः ॥४।१।६३॥ मृदश्छो भवति मत्वर्थे सूक्ते साम्नि चाभिधेये । वेदे वाक्यसमूहः सूक्तम्, सामेति च संज्ञा । मतुठेनामपवादः । अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्ति अच्छावाकीयं सूक्तम् । मैत्रावरुणीयं सूक्तम् । यज्ञशब्दोऽस्मिन्नस्ति यज्ञीयं साम । वारतन्तवीयं साम । अनुकरणशब्दा एतेऽनुकार्यशब्दैरर्थवन्त इति मृत्संज्ञा सिद्धा । तेऽन्यपदसङ्घातादपि अनुकरणात्त्यो न भवति । अस्यवामशब्दोऽस्मिन्नस्त्यस्यवामीयम् । कयाशुभशब्दोऽस्मिन्नस्ति कयाशुभीयम् ।

अध्यायाऽनुवाकयोर्वोप् ॥४।१।६४॥ अध्यायाऽनुवाकयोरभिधेययोर्मृदश्छो भवति मत्वर्थे तस्य च वा उब्भवति । गर्दभाण्डशब्दोऽस्मिन्नस्ति गर्दभाण्डीयः । गर्दभाण्डः । कूर्चमुखः । उच्छिष्टीयः । उच्छिष्टः । दीर्घजीवितीयः । दीर्घजीवितः । पदसमुदायात्त्यः । वलितरकम्भीयः । वलितरकम्भः ।

विमुक्तादिभ्योऽण् ॥४।१।६५॥ विमुक्त इत्येवमादिभ्योऽण् भवति मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयोरभिधेययोः । विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नस्ति वैमुक्तोऽध्यायोऽनुवाको वा । विमुक्त । देवासुर । रक्षोऽसुर । उपसत् । परिसारक । वसु । मरुत् । सत्वन्तु(त्) । पत्नीवन्तु(त्) । दशार्ह । वयस् । हविर्धाता । महित्री । सोमापूषन् । ईडा । आग्नाविपु (अग्नाविष्णू) । वृत्र । हर्तृ ।

घोषदादेर्वुन् ॥४।१।६६॥ अध्यायानुवाकयोरिति वर्तते । घोषदादिभ्यो मृद्भ्यो वुन् भवति मत्वर्थे । घोषच्छब्दोऽस्मिन्नर्थे (अस्मिन्नस्तीत्यर्थे) वुन् भवति । घोषदकोऽध्यायोऽनुवाको वा । घोषदिति केपाञ्चित्पाठः । घोषद् । इषेत्वा । मातरिश्वन् । देवस्य त्वा । देवीराया (रापः) । देवीस्त्वा । कृष्णो स्याखरेस्था (खरेष्ठ) । देवीन्धिया (देवीं धियम्) । रक्षोहण । अञ्जत । प्रतूर्त । दशान । अधार । अञ्जन । प्रभूता (प्रभृत) । कृशानु ।

वनहिरण्ये कामे ॥४।१।६७॥ वनहिरण्यशब्दाभ्यामीप्समर्थाभ्यां काम इत्येतस्मिन्नर्थे वुन् भवति । कामोऽभिलापः । वने कामः, वनको देवदत्तस्य । हिरण्यको देवदत्तस्य ।

किंबहुसर्वनाम्नोऽद्व्यादेः ॥४।१।६८॥ किमः बहुशब्दात्, सर्वनाम्नश्च द्व्यादिवर्जितात् वक्ष्यमाणास्त्या भवन्तीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः । 'ते विभक्त्याः' [४।१।८१] इति वक्ष्यति । प्रागिलगाद्यमधिकारः । द्व्यादिपर्युदासेन प्रतिषेधे प्राप्ते किमः पृथग्ग्रहणम् । वक्ष्यमाणास्त्यादयः स्वार्थिकाः । तेषु समर्थग्रहणं प्रथमग्रहणं च प्रतियोगिनो द्वितीयस्याऽभावान्न सम्भवति । वाग्रहणं तनुवर्तते । कुतः । कस्मात् । बहुतः । बहुत्र । बहुशब्दश्चेह संख्यावाची गृह्यते, न वैपुल्यवाची । तेनेह (न) भवति बहोः सूपात् । यतः । यस्मात् । ततः । तस्मात् ।

इदम इश् ॥४।१।६९॥ इदम इश् भवति वक्ष्यमाणेषु तसादिषु परतः । शकारः सर्वादेशार्थः । इतः । इह । इदानीम् ।

एतेतौ र्थोः ॥४।१।७०॥ इदम एत इत् इत्येतावादेशौ भवतो यथासङ्ख्य रेफथकारादौ तसादौ परतः। इशोऽपवादः। अस्मिन् काले एतर्हि। अनेन प्रकारेण इत्थम्। "इदमो र्हि" [४।१।८२] "किमिदंभ्यां थम्" [४।१।९०] इति र्हिथमौ।

एतदः ॥४।१।७१॥ एतदश्च एत इत् इत्येतावादेशौ भवतो यथासङ्ख्यं रेफथकारादौ परतः। एतस्मिन्काले, एतर्हि। "वाऽनद्यतने र्हि" [४।१।८६] इति र्हिः। इदमो यो रेफथकारादिः, तस्मिन्पर्गत इतीदं विशेषणम्। एतदोऽपि प्रकारे थं भवति। एतेन प्रकारेण इत्थम्।

अश् ॥४।१।७२॥ एतदोऽशित्ययमादेशो भवति वक्ष्यमाणेषु तसादिषु परतः। शकारः सर्वादेशार्थः। अतः। अत्र।

कायास्तस् ॥४।१।७३॥ किंबहुसर्वनाम्नोऽद्व्यादेरिति वर्तते। कान्तात्तस् भवति। कस्मात् कुतः। बहुभ्यो बहुतः। यस्माद् यतः। तसि कृते पूर्वस्य सुपः 'सुपो धुमृदोः" [१।४।१४२] इत्युप्। अद्व्यादेरित्येव। द्वाभ्याम्। युष्मत्। अस्मत्।

तसेः ॥४।१।७४॥ "प्रतियोगे कायास्तसिः"। [४।२।४६] "अपादानेऽहीयरुहोः" [४।२।५०] इत्येवमादिना विहितस्य तसेरिह ग्रहणम्। एतदर्थमेव च तत्रेकारेत्करणम्। किम्बहुसर्वनाम्नः परस्य तसेस्तसादेशो भवति। कुत आगतः। बहुत आगतः। यत आगत। विभक्तीसंज्ञार्थं तसेस्तसादेशः। पूर्वेणैव तसा सिद्धमिति चेत्, नैवं शंक्यम्, हीयरुहोः प्रयोगे कुतो हीनः यतो हीन इत्यत्र तसं पूर्वं सावकाशं बाधित्वा हीयरुहोरप्रयोगे (?) अपादाने किंबहुसर्वनामभ्यः परत्वात्तसिर्भवति।

पर्यभिभ्याम् ॥४।१।७५॥ परि अभि इत्येताभ्या तस् भवति। परित। अभितः। यथासङ्ख्यं सर्वोभयार्थे वर्तमानाभ्यामिष्यते। इह मा भूत्। परिभवति। अभ्येति।

ईपस्त्रः ॥४।१।७६॥ किम्बहुसर्वनामभ्यो द्व्यादिवर्जितेभ्य ईबन्तेभ्यस्त्र इत्यय त्यो भवति स्वार्थे। बहुषु बहुत्र। यस्मिन् यत्र। किमिदम्भ्यामपवादो वक्ष्यति।

इदमो हः ॥४।१।७७॥ इदम ईबन्तात् ह इत्यय त्यो भवति। त्रस्यापवादः। अस्मिन्, इह।

किमोऽः ॥४।१।७८॥ किम ईबन्तात् अ इत्यय त्यो भवति। त्रस्यापवादः। कस्मिन् कः। "कुश्नो तयो (कुस्वौ तयोः)" [५।१।१६३] इति किमः कशब्दादेशः। कथ कुत्रचित् इति? चिन्त्यमेतत्।

दृश्यन्तेऽन्यतोऽपि ॥४।१।७९॥ कामीप च विहाय अन्यविभक्त्यन्तेभ्योऽपि दृश्यन्ते तसादयः। किंबहुसर्वनाम्नोऽद्व्यादेरिति वर्तते। क पुनर्दृश्यन्ते? भवदादिशब्दस्य प्रयोगे। के पुनर्भवदादयः? भवान् दीर्घायुर्देवाना प्रियः। आयुष्मानिति। स भवान्। ततो भवान्। तत्र भवान्। तं भवन्तम्। ततो भवन्तम्। तत्र भवन्तम्। तेन भवता। ततो भवता। तत्र भवता। तस्मै भवते। ततो भवते। तत्र भवते। तस्माद् भवतः। ततो भवतः। तत्र भवतः। तस्य भवतः। ततो भवतः। तत्र भवतः। तस्मिन् भवति। तत्र भवति। ततो भवति। एवमन्यत्राप्युदाहरणानि योज्यानि। भवदादिभ्योऽन्यत्रापि प्रयोगवशात्तसादयो वेदितव्याः। इतो गतः। अनेन गतः। इत आस्यताम्। इह आस्यताम्।

दैकान्यकियत्तदः काले ॥४।१।८०॥ ईप् इति वर्तते। एक अन्य किं यत्तद् इत्येतेभ्य ईप्समर्थेभ्यः काले वर्तमानेभ्यो दा इत्यय त्यो भवति। त्रादेरपवादः। एकस्मिन् काले एकदा। अन्यदा। कदा। तदा। यदा। काल इति किम्? एकस्मिन् देशे एकत्र।

सर्वस्य सो वा दि ॥४।१।८१॥ सर्वशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति वा दा इत्येतस्मिन्परतः। ईप इति वर्तते। काल इति च। वृद्धकुमारीवरवाक्यन्यायेन इदमेव लक्षणं दाविधानस्य। सर्वस्मिन् काले सदा। सर्वदा।

इदमो र्हि ॥४।१।८२॥ इदम ईबन्तात् काले वर्तमानात् र्हित्यो भवति। ह्स्याऽपवादः। अस्मिन् काले एतर्हि। काल इत्येव। इह देशे।

अधुना ॥४।१।८३॥ अधुनेति निपात्यते। अस्मिन्काले अधुना। इदमः अश्भावो धुना त्यः। अथवा अधुना इति त्यो निपात्यते। इदम इशादेशः। "यस्य ङ्याञ्च" [४।४।१३६] इति तस्य खम्।

दानीम् ॥४।१।८४॥ इदम ईप्समर्थात्काले दानीमित्ययं त्यो भवति। अस्मिन्काले इदानीम्।

तदः ॥४।१।८५॥ तद ईबन्तात्काले दानीं भवति। तस्मिन्काले तदानीम्। तदः पूर्वं दाविहितः सोऽपि भवति। तदा।

वाऽनद्यतने र्हि ॥४।१।८६॥ किंयद्बहुसर्वनामभ्योऽद्व्यादिभ्य ईबन्तेभ्योऽनद्यतने काले र्हित्यो वा भवति। पक्षे यो यतो विहितः स च भवति। कर्हि, कदा। यर्हि, यदा। तर्हि, तदा। अमुर्हि, अमुत्र।

पूर्वान्यान्येतरेतरापरावरोभयोत्तरेभ्योऽहन्येद्युस् ॥४।१।८७॥ पूर्वादिभ्य ईप्समर्थेभ्योऽहनि वर्तमानेभ्य एद्युस् भवति। पूर्वस्मिन्नहनि पूर्वेद्युः। अन्येद्युः। अन्यतरेद्युः। इतरेद्युः। अपरेद्युः। अवरेद्युः। उभयस्मिन्नहनि उभयेद्युः। उत्तरेद्युः। "द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः" [वा०]। उभयद्युः।

सद्योऽद्यैषमः परेद्यविपरुत्परारि ॥४।१।८८॥ सद्य इत्येवमादयः शब्दा निपात्यन्ते। ईप इति वर्तते काल इति च। समानस्य सभावो द्यश्चाहनि निपात्यते। समानेऽहनि सद्यः प्राणकर जलपानम्। इदमोऽम्(श)भावोऽहनि द्य इत्ययं च त्यः। अस्मिन्नहनि अद्य। इदमः समसण् संवत्सरे। अस्मिन् संवत्सरे ऐषमः। अकार उच्चारणार्थं। इदम इशादेशः। आदेरैप्। "त्यादेशयोः" [१।४।३६] इति षत्वम्। परशब्दादहनि एद्यवि। परस्मिन्नहनि परेद्यवि। पूर्वपूर्वतरयोः परभावः उदारी च त्यौ संवत्सरे। पूर्वस्मिन् संवत्सरे परुत्। पूर्वतरे संवत्सरे परारि। कथं परुद्दास्यामि, परारि दास्यामि इति? एवं तर्हि परपरतरयोरपि प्रकृत्योः परिग्रहः कर्तव्यः।

प्रकारे था ॥४।१।८९॥ ईप् इति निवृत्तं काल इति च। किंयद्बहुसर्वनामभ्योऽद्व्यादिभ्यो यथासम्भवं सर्वविभक्त्यन्तेभ्यः प्रकारे वर्तमानेभ्यस्था इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे। सामान्यस्य भेदको विशेषनिर्देशः प्रकारः। गच्छतीति सामान्यम्। तस्य विशेषनिर्देशः रथेन अश्वेन पादाभ्यामित्यादि। पुरुष इति सामान्यम्। तस्य विशेषनिर्देशः बुद्धिमान् दक्षः शूर इत्यादि। वर्तत इति सामान्यम्। तस्य विशेषा अध्यासनादयः। सर्वेण प्रकारेण सर्वथा। यथा। तथा। अद्व्यादेरिति किम्? द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां गच्छति। था प्रकारो भवति। इतीय. पुनः प्रकारवति। यज्जातीयः। तज्जातीयः।

किमिदंभ्यां थम् ॥४।१।९०॥ किम् इदम् इत्येताभ्यां प्रकारे वर्तमानाभ्यां थमित्ययं त्यो भवति। था इत्यस्याऽपवादः। केन प्रकारेण कथम्। अनेन प्रकारेण इत्थम्।

ते विभक्त्यः ॥४।१।९१॥ ते दसादयन्ता विभक्तीसंज्ञा वेदितव्याः। विभक्तीमार्गे [illegible] नि दर्शितानि। "इदमादिभ्यस्त्वदस्य उभयादेशो वक्तव्य" [वा०]। [illegible] उभाभ्यां प्रकाराभ्यामुभयथा। [illegible] [illegible] पुत्र इत्येवमादौ।

दिक्छब्देभ्यो वाकेन्भ्योऽस्ताद्दिग्देशयोः ॥४।१।९२॥ दिशा शब्देभ्यः वा का ईप् इत्येवमन्तेभ्यो दिग्देशयोर्वर्तमानेभ्योऽस्तादित्यय त्यो भवति स्वार्थे। पूर्वा दिग् रमणीया। पूर्वा दिशो रमणीयाः। पुरस्ताद् रमणीयम्। "अस्ताति" [४।१।१०४] इति पूर्वावराधराणा पुरवध आदेशाः। अस्ताद्यन्ताः शब्दा अलिङ्ग-सङ्ख्या अनुप्रयोगाणा नपुसकलिङ्गहेतुर्भवति। पूर्वस्या दिश आगत, पूर्वस्माद्देशादागतः, पुरस्तादागतः। पूर्वस्या दिशि वसति, पूर्वस्मिन्देशे वसति, पुरस्ताद् वसति। एवमवस्ताद्रमणीयम्। अवस्तादागतः। अवस्ताद् वसति। दिक्छब्देभ्य इति किम्? ऐन्द्री दिग् रमणीया। ऐन्द्रीशब्द इन्द्रसम्बन्धिन स्त्रीलिंङ्गस्य वस्तुनो वाचको न तु दिक्छब्दः। वाकेन्भ्य इति किम्? पूर्वा दिश गतः। दिग्देश इति किम्? पूर्वस्मिन् गुरौ वसति। अत्र दिगाद्युपलक्षिते गुरौ पूर्वशब्दः प्रयुक्त।

काले ॥४।१।९३॥ काले वर्तमानेभ्यो दिग्शब्देभ्यो वाकेन्नन्ते योऽस्ताद् भवति। विभक्तीना दिगादिभिर्यथासङ्ख्य मा भूदित्येवमर्थं पृथक् सूत्रकरणम्। पूर्वकाले रमणीयः। पुरस्ताद् रमणीयः। पुरस्तादागतः। पुरस्ताद् वसति।

दक्षिणोत्तराभ्यामतस् ॥४।१।९४॥ दक्षिणोत्तरशब्दाभ्या दिग्देशकालेषु वर्तमानाभ्या वाकेन्नन्ता-भ्यामतस् भवति। अस्तातोऽपवादः। दक्षिणशब्दस्य काले वृत्तिर्न सम्भवति। दक्षिणतो रमणीयम्। दक्षिणत आगतः। दक्षिणतो वसति। उत्तरतो रमणीयम्। उत्तरत आगतः। उत्तरतो वसति। किमर्थमतस्कारः क्रियते? स्त्रीलिङ्गेऽपि नास्ति विशेषः। "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भाव" इति पुवद्भावो भविष्यति। एव तर्हि "ताऽतसर्थे त्येन" [१।४।३९] इति विशेषणार्थः।

वा परावराभ्याम् ॥४।१।९५॥ पर-अवरशब्दाभ्यामतस् वा भवति अस्तादर्थे। परतो रमणीयम्। परस्ताद्रमणीयम्। परत आगतः। परस्तादागत. । परतो वसति। परस्ताद्वसति। अवरतो रमणीयम्। अवरस्ताद्रमणीयम्। अवरत आगतः। अवरस्तादागतः। अवरतो वसति। अवरस्ताद्वसति। अवरशब्दो वावचन न प्रयोजयति। "पूर्वापराधराणां पुरवधोऽसि" [४।१।१०३] "अस्ताति" [४।१।१०४] इति च वचनादसस्तावपि भवतः।

अञ्चेरुप् ॥४।१।९६॥ अञ्च्यन्तेभ्यो दिक्छब्देभ्यः परस्यास्तात उब्भवति। प्राची दिग् रमणीया। प्राग्रमणीयम्। प्रागागतः। प्राग्वसति। अस्तात उपि "हृदुप्युप्" [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्योप्। एवं प्रत्यग्र-मणीयम्। प्रत्यगागत. । प्रत्यग्वसति। देशकालयोरप्युदाहरणानि नेयानि।

उपर्युपरिष्टात्पश्चात् ॥४।१।९७॥ उपरि उपरिष्टात् पश्चात् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते अस्तादर्थे। ऊर्ध्वशब्दस्य उपभावो रिरस्तातौ च त्यौ निपात्येते। ऊर्ध्वा दिग् रमणीया। उपरि रमणीयम्। उपरिष्टाद्रमणी-यम्। उपर्यागतः। उपरिष्टादागतः। उपरि वसति। उपरिष्टाद् वसति। अपरशब्दस्य पश्चभाव आश्च त्यः। अपरो देशो रमणीयः। पश्चाद्रमणीयम्। पश्चादागतः। पश्चाद्वसति। केचित्परशब्दस्येद निपातनमिच्छन्ति। "दिक्पूर्वपदस्य चापरस्य पश्चभावो वक्तव्य." [वा०]। आच्च त्यः। दक्षिणा परा दिग्रमणीया। दक्षिण-पश्चाद्रमणीयम्। उत्तरपश्चाद्रमणीयम्। "अधोत्तरपदस्य च दिक्छब्दस्य पश्चभावो वक्तव्यः" [वा०]। दक्षिणापरमर्द्धम्। दक्षिणपश्चार्द्धम्। उत्तरापरमर्द्धम्, उत्तरपश्चार्द्धम्। "अर्धे चोत्तरपदे केवलस्यार्धस्य पश्च-भावो वक्तव्यः" [वा०]। अपरमर्द्धं पश्चार्धम्।

दक्षिणोत्तराऽव(ध)रादात् ॥४।१।९८॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अधर) इत्येतेभ्य आदित्ययं त्यो भवति अस्तादर्थे। दक्षिणाद्रमणीयम्। दक्षिणादागतः। दक्षिणाद् वसति। उत्तराद्रमणीयम्। उत्तरादागतः। उत्तराद्वसति। अव(ध)राद्रमणीयम्। अव(ध)रादागतः। अव(ध)राद् वसति। दक्षिणोत्तराभ्यामतसपि पक्षान्तरे भवति। अस्तात पुनरणवादोऽयम्। अवर (अधर) शब्दाद् वक्ष्यमाणावसस्तातावपि भवतः।

वैनोऽदूरेऽकायाः ॥४।१।९९॥ दक्षिण, उत्तर, अवर (अधर) शब्देभ्यो वा एनो भवति अस्तादर्थेऽदूरे गम्येऽकायाः। कायाः पर्युदासेन वेपौ गृह्येते। दक्षिणेन रमणीयम्। दक्षिणेन वसति ग्रामम्। उत्तरेण रमणीयम्। उत्तरेण वसति। अवरेण (अधरेण) रमणीयम्। अवरेण (अधरेण) वसति। वावचनाद्यो यतो विहितः स च भवति। अदूर इति किम्? हिमवतो दक्षिणाद् वसति। अत्रावरे रवविमादूरे (अत्रावधिरवधिमान् दूरे) विवक्षितः। अकाया इति किम्? दक्षिणादागतः। "दिक्छब्दमात्रादयमेनो वक्तव्यः" [वा०] दक्षिणोत्तरावर (धर) ग्रहणं नानुवर्तनीयमिति केचित्। अच्यन्ता दिक्छब्दादनभिधानान्न भवति।

दक्षिणादा ॥४।१।१००॥ अकाया इति वर्तते। दक्षिणशब्दादा इत्ययं त्यो भवति अस्तादर्थे। दक्षिणा रमणीयम्। दक्षिणा वसति। सामान्येन दूरादूरयोरिहोदाहरणम्। उत्तरत्र दूरग्रहणात्। अकाया इत्येव। दक्षिणत आगतः।

आहि च दूरे ॥४।१।१०१॥ अकाया इति वर्तते। दक्षिणशब्दादाहित्यो भवति आभा (चादा) अस्तादर्थे दूरे गम्यमाने। दक्षिणाहि रमणीयम्। दक्षिणाहि वसति। दक्षिणा वसति काञ्चीपुरात्। अकाया इत्येव। दक्षिणत आगतः।

उत्तराच्च ॥४।१।१०२॥ अकाया इति वर्तते दूर इति च। उत्तरशब्दादाहि आ इत्येतौ त्यौ भवतो अस्तादर्थे। आ इत्यनुकर्षणार्थश्चकार। उत्तराहि रमणीयम्। उत्तरा रमणीयम्। उत्तराहि वसति। उत्तरा वसति। अकाया इत्येव। उत्तरत आगतः। दूर इत्येव। मार्गमुत्तरेण प्रया (पा)।

पूर्वावराधराणां पुरवधोऽसि ॥४।१।१०३॥ अकाया इति निवृत्तम् दूर इति च। पूर्व, अवर, अधर, इत्येतेषां यथासङ्ख्यं पुर् अव् अध् इत्येते आदेशा भवन्ति अस्तादर्थे असि परत। अनेनैवासो विधानम्। पुरो रमणीयम्। पुर आगतः। पुरो वसति। अवो रमणीयम्। अव आगतः। अवो वसति। अधो रमणीयम्। अध आगतः। अधो वसति।

अस्ताति ॥४।१।१०४॥ अस्ताति च परतः पूर्वादीनां पुरादयः आदेशा भवन्ति। इदमेव ज्ञापकम्। अस्तादपि भवतीति। अन्यथा विशेषविहितेनास्या बाधा स्यात्। पुरस्ताद्रमणीयम्। पुरस्तादागतः। पुरस्ताद् वसति। अधस्ताद् रमणीयम्। अधस्तादागतः। अधस्ताद्वसति।

वाऽवरस्य ॥४।१।१०५॥ अस्ताति परतोऽवरस्यावादेश। अवस्ताद्रमणीयम्। अवस्तादागतः। अवस्ताद् वसति।

सङ्ख्याया विधार्थे धा ॥४।१।१०६॥ यथासम्भव विभक्तीयोगः। सङ्ख्याशब्देभ्यो विधार्थे वर्तमानेभ्यो धा इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे। अर्थग्रहणसामर्थ्याद् विधाशब्द इह प्रकारवाची गृह्यते। स च प्रकारो द्रव्यगुणक्रियाविषयः। षड्भिः प्रकारैः षोढा द्रव्यम्। बहुधा गुणाः। पञ्चधा करोति रूपम्। द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा करोति। त्रिधा। चतुर्धा। "अधिकरणविचाले चेति वक्तव्यम्" [वा०]। अधिकरणं द्रव्यं। तस्य विचालः सङ्ख्यान्तरापादनम्। एकस्य नानात्वापादनम्। अनेकस्य वा एकत्वापादनमित्यर्थः। तस्मिन् गम्यमाने सङ्ख्याया धात्यो वक्तव्यः। एकं राशिं पञ्चधा कुरु। सप्तधा। नवधा। अनेकमेकधा कुरु। न वक्तव्यं। द्रव्यगुणक्रियाभेदेन त्रिविधो विधार्थ इष्टत्वम्। तत्र चान्तर्भावात्। "प्रकारोक्तौ थाल्" [४।१।१२८] इत्यस्मात्. ।

वैकाद्ध्यमुञ् ॥४।१।१०७॥ एकशब्दाद्ध्यमुञ् भवति। पक्षे धा भवति। ऐकध्यं कुरु। ऐकध्यं कुरु। ऐकध्येन भुङ्क्ते। एकधा भुङ्क्ते।

द्वित्र्योर्धमुञ् ॥४।१।१०८॥ वेति वर्तते। द्वित्रिभ्यां वा धमुञ् भवति विधार्थे। द्वैध द्विधा। त्रैध त्रिधा। "धमुञन्तात् स्वार्थे डो वक्तव्यः" [वा०]। मतिद्वैधानि। पथिद्वैधानि।

एधा ॥४।१।१०९॥ द्वित्रिभ्यामेधा भवति विधार्थे। द्वेधा। त्रेधा। यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थो योगविभागः।

याप्ये पाशः ॥४।१।११०॥ याप्य इह कुत्सितोऽभिप्रेतः। याप्यन्ते अपनीयन्तेऽस्माद् गुणा इति याप्यः। बहुलवचनादपादाने ण्यत्। याप्येऽर्थे वर्तमानान्मृदः पाश इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे। वैयाकरणो याप्यः, वैयाकरणपाशः। यत्र गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दविनिवेशः, तत्कुत्सने भवति। इह मा भूत्। चौ ये (रो) वैयाकरणः। इह याप्या कुमारी, कुमारपाशा। "तसादौ" [४।३।१४७] इति पुंवद्भावः। "वयस्यनन्त्ये" [३।१।२४] इत्यस्य ङीविधेः कृतत्वात्पाशान्ताट्टाप् भवति। उक्तं च—

"स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम्।
समवेतस्य तु वचने लिङ्गं संख्यां विभक्तीश्च॥
अभिधाय तान्विशेषानपेक्षमाणस्तु कृत्स्नमात्मानम्।
प्रियकुत्सनादिषु पुनः प्रवर्ततेऽसौ विभक्त्यन्तः"॥ [४।३।७४ पातं० भा०]

षष्ठाऽष्टमाद् भागे ञः ॥४।१।१११॥ षष्ठ-अष्टमशब्दाभ्यां भागे वर्तमानाभ्यां ञ इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे। षष्ठो भागः, षाष्ठः। आष्टमः। विकल्पाधिकारादनुत्पत्तिरपि भवति। षष्ठ। अष्टमः। भाग इति किम्? षष्ठः पुरुषः।

मानपश्वङ्गयोः कोपौ च ॥४।१।११२॥ भाग इति वर्तते। षष्ठाष्टमशब्दाभ्यां मानपश्वङ्गयो-र्भागविशेषयोरभिधेययोः क उप इत्येतौ भवतः। पूर्वेण विहितस्य ञस्य उप् द्रष्टव्यः। षष्ठशब्दान्माने भागविशेषे को भवति। अष्टमशब्दात्पश्वङ्गभागविशेषे ञस्य उब्भवति। षष्ठको भागो मानं चेत्तद् भवति। अष्टमो भागः पश्वङ्गं चेत्तद् भवति। विहितस्य ञस्योब्विधानसामर्थ्याद् वा सोऽपि भवति। षाष्ठः। षष्ठः। आष्टमः। अष्टमः।

एकादाकिञ्चासहाये ॥४।१।११३॥ एकशब्दादसहायवाचिन आकिनित्ययं त्यो भवति कोपौ च स्वार्थे। कस्योप्? आकिनो। एकाकी। एककः। एकः। असहाय इति किम्? यदैकशब्दः सङ्ख्याया-मन्यार्थे वा वर्तते तदा मा भूत्। अत एव द्विबहू अपि भवतः। एकाकिनौ। एकाकिनः। सङ्ख्यावाचित्वे (त्वे) एकवचनमेव स्यात्। अन्यार्थत्वे बहुवचनमेव स्यात्।

तमेष्ठावतिशायने ॥४।१।११४॥ अतिशायनं प्रकर्षः। "अन्दस्यादि" [४।३।२२२] इति दीर्घत्वम्। इदं च प्रकृत्यर्थविशेषणं सर्वेषां स्वार्थिकानां द्योत्यम्। अतिशायनविशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्मृदः स्वार्थे तम इष्ठ इत्येतौ त्यौ भवतः अतिशायने द्योत्ये। वान्तात्योत्पत्तिः। सर्वे इमे आढ्याः, अयमेषामाढ्य-तमः। सुकुमारतमः। सर्वे इमे पटवः, अयमेषां पटुतमः। कथं गोतमः। कारकतमः इति? अत्रापि क्रियागुणद्वारेण प्रकर्षविवक्षायोगोऽस्ति। "नेष्ठौ गुणवचनादेव" [४।१।११८] इति नियमो वक्ष्यते। सर्वे इमे पटव उच्चैर्वदन्ति। यदा प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षविवक्षा, तदा आतिशायिकान्तादपर आतिशायिकः। श्रेष्ठतमः। प्रकृष्टप्रकर्षदशा समानकक्षायां स्पर्धा। तेनेह न भवति। सर्वपारा महतामतिशायने महान् हिमवान् इति।

मिङः ॥४।१।११५॥ यद्यपि मिङन्ते साधनप्रधाने अभिधानरूपेण गुणीभूता क्रिया, तथापि तस्याः साध्यमानत्वात्प्राधान्यम्। तदपेक्षायां साधनप्रकर्षेऽयं विधिर्वेदितव्यः। मिङन्तादतिशायने तम इत्ययं त्यो भवति। ङ्याम्मृदधिकारात् पूर्वेण प्राप्तिर्नास्ति। सर्वे इमे पचन्ति, अयमेषां पचतितमाम्। पठतितमाम्। "किमेत्मिङ्व्ययादामद्रव्ये" [४।२।२०] इत्याम्। इष्टो "गुणवचनादेव" [४।१।११८] इति नियमादिह न सम्भवति।

द्विविभज्येतरेयसू ॥४।१।११६॥ द्वौ च विभज्य च, द्विविभज्यम्। द्विग्रहणमर्थनिर्देशपरम्। विभक्तव्य विभज्य पृथक्कर्तव्यमित्यर्थः। इदमेव निपातनं यविधे। द्व्यर्थे विभज्ये च प्रयुक्ते सति ङ्याम्मृदो मिङश्च अतिशायने द्योत्ये तर इयसु इत्येतौ त्यौ भवतः। तमेष्ठयोरपवादः। यथासङ्ख्यमस्वरितत्वादिह नेष्यते। उभाविमावाढ्यौ, अयमनयोराढ्यतरः। कारकतरः। द्वाविमौ पचतः। अयमनयोः पचतितराम्। ईयसुर्गुणवचनादेव। द्वाविमौ पटू, अयमनयोः पटीयान्। सूत्रे द्विशब्देन यद्यर्थग्रहणं द्वयोरर्थयोरेकतरस्यातिशायने इति तदा सिद्धमिदम्। अस्माकं देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतर इति द्व्यर्थत्वादस्य। इदं तु न सिद्ध्यति। दन्तौष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः। पाणिपादस्य पाणी सुकुमारतराविति। अत्रापि जात्यपेक्षयाऽर्थद्वित्वोपपत्तेः। विभज्ये। साकाश्यका माथुरेभ्य आढ्यतराः। पटीयांसः। अत्र जात्यभावादद्व्यर्थता नास्ति। तथापि नाशौ शब्दोपात्ता। अत एव दृष्टान्तमुदाहरणम्।

तादी म्नः ॥४।१।११७॥ अतिशायने चत्वारस्त्या विहितास्तेषु तकारादी म्नसंज्ञौ भवतः। कुमारितरा। कुमारितमा। "म्नरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहते ग्योऽनेकाचः" [४।३।१५५] इति पूर्वस्य प्रादेशः। म्नान्तादतष्टाप्।

शेषौ गुणवचनादेव ॥४।१।११८॥ तादी मुक्त्वा इष्ठेयसू शेषौ। शेषौ गुणवचनादेव भवतो नान्यस्मादिति नियमोऽयम्। सर्वे इमे पटवः अयमेषां पटिष्ठः। द्वाविमौ पटू, अयमनयोः पटीयान्। अयमस्मात्पटीयान्। शेषग्रहणं प्रकृततादिनिवृत्त्यर्थम्। गुणवचनादिति किम्? गोतमः। एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः। मैव विज्ञायि, शेषावेव गुणवचनादिति। एवं द्विपटुतम इति न स्यात्।

प्रशस्यस्य श्रः ॥४।१।११९॥ शेषग्रहणं प्रकृतम्। तदर्थवशादीपा विपरिणम्यते। प्रशस्यशब्दस्य श्र इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः। प्रशंसनीयः, प्रशस्यः। "शसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्" [२।१।९१ वा०] इत्युपसङ्ख्यानात्क्यप्। इदमेव ज्ञापकम्। इह शेषौ गुणवचनादेवेति नियमो न प्रा[illegible]। सर्वे इमे प्रशस्याः। अयमेषां श्रेष्ठः। द्वाविमौ प्रशस्यौ अयमनयोः श्रेयान्। "नेकाचः" [४।४।१५०] [illegible] शेषे टिख न। तरतमौ भवत एव। प्रशस्यतमः। प्रशस्यतरः।

ज्यः ॥४।१।१२०॥ प्रशस्यशब्दस्य ज्य इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः। सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेषां ज्येष्ठः। द्वाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोर्ज्यायान्। अयमस्मात् ज्यायान्। "ज्यादीयसः" [४।४।१५०] इति परस्यादेराकारः यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थं योगान्तरम्।

वृद्धस्य ॥४।१।१२१॥ वृद्धशब्दस्य च ज्य इत्ययमादेशो भवति शेषयोः परतः। सर्वे इमे वृद्धाः, अयमेषां ज्येष्ठः। द्वाविमौ वृद्धौ अयमनयोर्ज्यायान्। अयमस्मात् ज्यायान्। आरम्भ[illegible] तरतमौ सिद्धावेव। वृद्धतरः। वृद्धतमः। "बहुल्गुरूरुवृद्धादि" [४।४।१४१] [illegible] भवति। [illegible]। [illegible]।

वाढान्तिकयोः साधनेदौ ॥४।१।१२२॥ [illegible] [illegible]। [illegible]

साधिष्ठं जल्पति। अयमनयोः साधीयो जल्पति। यदि बाढशब्दो द्रव्यवचनः साधीयानिति। सर्वाणीमानि अन्तिकानि, इदमेषा नेदिष्ठम्। इदमेनयोर्नेदीयः। इदमस्मान्नेदीयः। तरतमौ भवत एव। बाढतरम्। बाढतमम्।

युवाऽल्पयोः कन्वा ॥४।१।१२३॥ युव अल्प इत्येतयोः कनित्ययमादेशो भवति वा शेषयोः परतः। शेषयोर्विधान पूर्ववद्व्याख्येयम्। सर्व इमे युवानः, अयमेषा कनिष्ठः। कनीयान्। यदा युवशब्दस्य कनादेशो न भवति तदा "स्थूलदूरेत्यादिना" [४।४।१४७] यणः खमिक एप्। यविष्ठः। यवीयान्। सर्व इमेऽल्पा अयमेषा कनिष्ठः। कनीयान्। अल्पिष्ठः। अल्पीयान्। तरतमौ भवत एव।

विन्मतोरुप् ॥४।१।१२४॥ विन् मतु इत्येतयोरुब्भवति शेषयो परतः। इदमेव ज्ञापकम्। शेषयोर्विधानस्य यथासङ्ख्यमत्र नेष्यते। सर्व इमे स्रग्विणः, अयमेषा स्रजिष्ठः। स्रजीयान्। सर्व इमे त्वग्वन्तः, अयमेषा त्वचिष्ठः, त्वचीयान्।

प्रशंसायां रूपः ॥४।१।१२५॥ ङ्याम्मृद इति वर्तते मिङ इति च। प्रशसाया वर्तमानान्ङ्याम्मृदो मिङश्च रूप इत्यय त्यो भवति प्रशसाया द्योत्यायाम्। स्वार्थिकाना प्रकृत्यर्थविशेषण द्योत्य भवति। वाच्य पुनरतत्प्रकृतेरेव। वैयाकरणः प्रशस्तः, वैयाकरणरूप। पटुरूपः। प्रशस्ता कुमारी कुमारिरूपा। "तसादौ" [४।३।१४७] इति पुवद्भावे प्राप्ते "ऋरूपेत्यादिना" [४।३।१५५] प्रादेशः। वयोलक्षणङीविधेः कृतत्वाद्रूपान्ताट्टाप्। कथ निन्दाया प्रयोगः? वृषलरूपोऽय यो मासेन सुरा पिबेत्। चौररूपोऽयं योऽक्षिस्थमञ्जनमपि हरेत्। अत्रापि प्रकृत्यर्थस्य वैस्पष्ट्यम्। प्रशसाया मिङः खल्वपि। पचति रूपम्। पचतो रूपम्। पचन्ति रूपम्। लोकाश्रयमिह नपुसकलिङ्गम्। क्रियाप्रधानमाख्यातम्। एका च क्रियेति रूपान्तादेकवचनमेव भवति।

आसिद्धौ देश्यदेशीयकल्पाः ॥४।१।१२६॥ सिद्धिः परिपूर्णता, न सिद्धिरसिद्धिः। ईषदसिद्धिरासिद्धिः। तद्विशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्ङ्याम्मृदो मिङन्ताच्च देश्य देशीय कल्प इत्येते त्या भवन्ति स्वार्थे। ईषदसिद्धः पटुः, पटुदेश्य। पटुदेशीयः। पटुकल्पः। स्त्रिया पट्विदेश्या तसादिष्वपरिगणनात् पुवद्भावो नास्ति। पटुदेशीया। "पुवद्यजातीय" [४।३।१२४] इति पुवद्भावः। पट्विकल्पा कल्पस्य तस्यातसादित्वात् "तसादौ" [४।३।१४७] इति पुवद्भावे प्राप्ते "ऋरूप" [४।३।१५५] इत्यादिनेकारान्तस्य प्रः। "त्वात् स्त्रियाम्" [४।२।२२] इत्यत्र वक्ष्यते। अतिवर्तते च स्वार्थिकाः प्रकृतिं लिङ्गसङ्ख्ये इति। तेन गुडकल्पा द्राक्षा। तैलकल्पा प्रसन्ना। पयस्कल्पा यवागूः। मिङः। ईषदसिद्ध पचति, पचतिदेशीयम्। पचतिकल्पम्। पचतःकल्पम्। पचन्तिकल्पम्।

वा सुपो बहुच्प्राक्तु ॥४।१।१२७॥ आसिद्धाविति वर्तते। ईषदसिद्धिविशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्मृदः सुबन्ताद् बहुच् वा भवति। स तु प्राग्भवति। विभाषया त्वोत्पत्तिर्यथा स्यात् प्राग्भावस्तु नित्यः। इत्यस्य [illegible]। ईषदसिद्ध कृतं बहुकृतम्। त्ये कृते मृत्संज्ञाया पुन सुप्। "कृद्धृत्साः" [१।१।६] इत्यत्र [illegible] सुबन्तत्वादपत्यान्तत्वान्तस्य च मृत्संज्ञा निर्वर्तयति। तेन बहुकृत-[illegible]। एवं बहुपटु। बहुपटुः। यदा द्राक्षाविशेषणं भवति तदा टाप्। बहुगुडा द्राक्षा। [illegible]। अन्यथा नित्यत्वे सावकाशान् देश्यादीनयं बाधेत। सुप इति किमर्थं यावता "[illegible] विकल्पयन्त" इत्युक्तं पुन सुब्ग्रहणं मिट्निवृत्त्यर्थम्। परत्वाद्देश्या-[illegible]। [illegible]। [illegible]तमः। ईषदसिद्धेः प्रकर्षो नास्तीति प्रकृत्यर्थप्रकर्षे तमादयः।

प्रकारोक्तौ जातीयः ॥४।१।१२८॥ प्रकारोक्तौ सुबन्ताज्जातीय इत्ययं त्यो भवति स्वार्थे । पटुप्रकारः पटुजातीयः । पण्डितजातीयः । यज्जातीयः । तज्जातीयः । प्रकारवति चायं वेदितव्यः । प्रकारमात्रे थायमौ । तेन तदन्तादपि । यथाजातीयः । कथंजातीयः । एवमर्थं वेहोक्तिग्रहणम् ।

एवात्कः ॥४।१।१२९॥ "इवे प्रतिकृतौ क." [४।१।१४०] इति वक्ष्यति । आ एतस्मादित संशब्दनात् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, तत्र क इत्ययमधिकृतो वेदितव्यः । आङिह मर्यादावचनः । वक्ष्यति "कुत्साऽज्ञातयोः" [४।१।१३१] । कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः । गर्दभकः । इह सुप इत्यनुवर्तनान्मिङन्तात्को नेष्यते ।

भिसर्वनाम्नोऽक्प्राक्टेः को दः ॥४।१।१३०॥ मिङ इति च वर्तते । भेः सर्वनाम्नश्च अगित्यय त्यः टेः प्राग्भवति ककारस्य च दकारः एवादर्थेषु । कस्यापवादः । मृदः सुप इति च वर्तते । तत्राभिधानवशाद् व्यवस्था । भिसंज्ञके नास्ति विशेष. । उच्चकैः । नीचकैः । यदि ककारोऽस्ति तस्य दकारः । हिरुक्, हिरकुत् । पृथक् पृथक्त् । सर्वनाम्नो मृदवस्थायामक् । सर्वके । विश्वके । उभकौ । उभयके । युष्मकाभि । अस्मकाभिः । युष्मकासु । अस्मकासु । युवकयोः । आवकयोः । इह सुबन्तादेव । त्वयका । त्वयकि । मयकि । सुप इत्यादिसम्बन्धादेव "ह्रपो धुमृदोः" [१।४।१४२] इत्युग्नेष्यते । मिङः खल्वपि । पचकति । पटतकि । "तन्मध्यपतितास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते" इति मिङन्तमेवैतत् । "अक्प्रकरणे तूष्णीमः काम् वक्तव्यः" [वा०] मकारः "परोऽचो मिद्" [१।१।४५] विशेषणार्थः । तूष्णीकामास्ते । "शीले को मलं च" [वा०] तूष्णीं शीलस्तूष्णीकः ।

कुत्साऽज्ञातयोः ॥४।१।१३१॥ कुत्साऽज्ञातत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानान्मृदः स्वार्थे यथाविहित त्यो भवति । कुत्सितोऽश्वः कस्यायमश्व इति वाऽश्वक । उष्ट्रकः । उच्चकैः । सर्वके । पचतकि । इह कुत्सित इत्यज्ञातार्थे । अज्ञातक इति कुत्सितेऽर्थे क । अत कविधेस्तमादयो भवन्ति । पूर्वनिर्णयेन, पश्चात्कादिविधि । पटुतरकः । मृदुतरक । पचतितरकाम । छिन्नकादिषु के कृते तमादयः । छिन्नकतरः । भिन्नकतर ।

अनुकम्पायाम् ॥४।१।१३२॥ सौहृदेन कारुण्येन वा परस्यानुग्रहोऽनुकम्पा तत्र वर्तमानान्मृद सुबन्तान्मिङश्च यथाविहित त्यो भवति । अनुकम्पितो माणवो माणवक । बुभुक्षितक । नीचकैः । याचतक ।

नीतौ च तद्युक्तात् ॥४।१।१३३॥ अनुकम्पाविषयाया नीतौ गम्यमानाया तद्युक्तादनुकम्पायुक्ता यथाविहित त्यो भवति । चकारोऽनुकम्पाऽनुकर्षणार्थः । तेन सामोपप्रदानलक्षणा नीतिरिह गृह्यते, न भेद-दण्डलक्षणा । पूर्वसूत्रेणानुकम्प्यमानवाचिनस्त्यो विहितोऽनेन पुनस्तद्युक्ताद्विधीयते । पुत्रक [illegible] । उपविश कर्दमकेनासि दिग्धक । हन्त ते तिलका । हन्त ते गुडकाः । एहकि । अद्धकि । उपविश, असि, ते, हन्त इत्येवमादिषु अनभिधानान्न भवति ।

बह्वचो नृनाम्नो वा ठ ॥४।१।१३४॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति सर्वमनुवर्तते । बह्वचो मृदो नृनामधेयाद् वा ठ इत्ययं त्यो भवति । अनुकम्पायां "नीतौ च तद्युक्तात्" [४।१।१३३] इति [illegible] के प्राप्ते वा ठ । अनुकम्पितो देवदत्तो देविक । देवदत्तक । [illegible] । जिनदत्तक । "ठाऽचि द्वितीयादचोऽ[illegible]" [४।१।१२१] इति दत्तशब्दस्य ख ठस्येकादेशश्च । बह्वच इति [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] देवदत्तको हन्त । [illegible] माणवक ।

[illegible] ॥४।१।१३५॥ अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तादिति वर्तते । [illegible] भवत । [illegible]

अडवू वोपादेः ॥४।१।१३६॥ अनुकम्पाया नीतौ च तद्युक्तादिति वर्तते। उपशब्दादेर्मृदो बह्वचो नृखोः अड वु इत्येतौ त्यौ भवतो घेलौ च वा। अनुकम्पित उपेन्द्रदत्तः उपडः, उपकः, उपियः, उपिलः, उपिकः, उपेन्द्रदत्तकः। यादिर्वुशब्दो यकारस्य खं कृत्वा निर्दिष्टः। तेन वोरकादेशः सिद्धः।

जातिनाम्नः कः ॥४।१।१३७॥ जातेर्नाम जातिनाम जातिशब्द इत्यर्थः। बह्वचोऽबह्वचश्च सामान्येनायं विधिः। जातिशब्दान्नृखो अनुकम्पाया नीतौ च गम्यमानायां क इत्ययं त्यो भवति। अनुकम्पितो महिषो महिषकः। वराहकः। शरभकः। व्याघ्रकः। सिंहकः। इह केचिद्घग्रहणमनुवर्त्य व्याघ्रिलः, सिंहिलः इत्युदाहरन्ति तत्तु नातिश्लिष्टम्, अस्य सूत्रस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तस्माद् घादीनां बाधैव युक्ता।

घोः खं चाऽजिनस्य ॥४।१।१३८॥ नृखोरिति वर्तते। अजिनशब्दान्तान्मृदो नृखो अनुकम्पाया नीतौ च गम्यमानायां क इत्ययं त्यो भवति तस्य च घोः खं भवति। अनुकम्पितस्तुलाजिनस्तुलकः। व्याघ्रकः। मृगकः। घुग्रहणं किमर्थम्? अजिनशब्दान्तस्य घोः खं यथा स्यात्। अनुकम्पितो व्याघ्रमहाजिनो व्याघ्रकः।

ठाऽचि द्वितीयात्परोऽचः ॥४।१।१३९॥ खमिति वर्तते। प्रकृते ठेऽजादौ च परतः। प्रकृतेर्द्वितीयादचः परशब्दो नाश्यते। परग्रहणं सर्वनाशार्थम्। अनुकम्पितो देवदत्तो देविकः, देवियः, देविलः। अनुकम्पित उपेन्द्रदत्त उपडः, उपकः। प्रथाजातित्वादेव सिद्धे पृथक् ठग्रहणं किमर्थम्? खे कृते इकादेशो यथा स्यादित्येवमर्थं। अन्यथा अनुकम्पितो भानुदत्तः भानुकः। पितृकः इत्येवमादि न सिद्ध्येत्। इकस्य स्थानिवद्भावाट्ठग्रहणेन ग्रहणत्कादेशो भविष्यतीति चेन्न, "सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" अजादिसन्निपातकृतमुगन्तत्वम्। "चतुर्थादचः परस्य खं वक्तव्यम्" [वा०] बृहस्पतिदत्तः। बृहस्पतियः। बृहस्पतिलः। बृहस्पतिकः। "अनजादौ द्वितीयादचः परस्य वा खं वक्तव्यम्" [वा०] देवदत्तकः। देवकः। जिनदत्तकः। जिनकः। "पूर्वपदस्य च ठाजादौ अनजादौ च खं वक्तव्यम्" [वा०] दत्तिकः। दत्तियः। दत्तिलः। दत्तकः। "विनापि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम्" [वा०]। सत्यभामा। भामा। सत्या वा। विष्णुगुप्तः। गुप्तः। विष्णुर्वा। "उवर्णादिलस्य च खं वक्तव्यम्" [वा०]। परस्यादेरितीकारस्य। भानुदत्तः, भानुलः। वसुलः। उक्तञ्च–

"चतुर्थादनजादौ च नाशः पूर्वपदस्य च। अनिमित्ते तथैवेष्टः उवर्णान्तादिलस्य च॥"

"उगन्तादियेलयोः खं वक्तव्यम्" [वा०]। प्रकृते ठाचि द्वितीयात्परस्य खे कृते इयेलयोश्च परस्यादेः खे कृते भसाद्योकारो ये दीत्वं रीङ्भाव इत्येते विधयो न भवन्ति। भानुयः। मातृयः। भानुलः। "एचो द्वितीयत्वे तदादेः खं वक्तव्यम्" [वा०]। लहोडः। लहिकः। कहोडः। कहिकः। कपोतरोमा। कपिकः। कपिलः। अमोघजिह्वः। अमिकः। अमिलः। "एकाक्षरपूर्वपदानां घोः खं वक्तव्यम्" [वा०] अनुकम्पितो वागाशीर्दत्तः वचिकः। त्वचिकः। शुचिकः। पूर्वस्य पदकार्यनिवृत्त्यर्थमेतत्। अपद इति किम्। षडङ्गुलिः षडिकः।

शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादेस्तृतीयात् ॥४।१।१४०॥ शेवल सुपरि विशाल वरुण अर्यमन् इत्येवमादेर्नृखोर्मृदस्तृतीयादचः परो नाश्यते ठाचि परतः। द्वितीयादचः परस्य खे प्राप्ते वचनम्। अनुकम्पितः शेवलदत्तः शेवलिकः। शेवलियः। शेवलिलः। सुपरिकः। सुपरियः। सुपरिलः। विशालिकः। विशालियः। विशालिलः। वरुणिकः। वरुणियः। वरुणिलः। अर्यमिकः। अर्यमियः। अर्यमिलः। "तृतीयादिखे शेवलादीनामिति वक्तव्यम्" [वा०]। शेवलेन्द्रदत्तः शेवलिकः। सुपर्याशीर्दत्तः सुपरिकः। शेवलादिः सुपर्यादिश्च न नञ्। नेह वक्तव्यम्। अङ्गवद्भावेन सिद्धम्। अङ्गवद्व्यूहो नाम लक्षणान्तरमस्मदभिमतम्।

अल्पे ॥४।१।१४१॥ समन्ततो हीन महत्प्रतिपक्षभूतमल्पम् । अल्पत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् यथाविहित त्यो भवति। सुप इति वर्तते। ङ्याम्मृदो क्रि। सर्वनाम्नो मिट इति च। अल्पमन्नमन्नकम्। घृतकम्। उच्चकैः। सर्वके। पचतकि। द्रव्यद्वारेण क्रियाया अल्पत्वमहृत्त्वे।

ह्रस्वे ॥४।१।१४२॥ आयामतो हीन दीर्घप्रतिपक्षभूतम् (ह्रस्वम्)। ह्रस्वत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानाद् यथाविहित त्यो भवति। ह्रस्व पट पटक। वृक्षकः। उच्चकै। सर्वके। पचतकि।

कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ॥४।१।१४३॥ ह्रस्व इति वर्तते। कुटी शमी शुण्डा इत्येतेभ्यो र इत्ययं त्यो भवति। कस्यापवाद। ह्रस्वा कुटी कुटीरः। शमीरः। शुण्डारः। लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति पुंल्लिङ्गता।

कुत्वा डुपः ॥४।१।१४४॥ कुतूः आवपनम्। कुतूशब्दाड्डुप इत्ययं त्यो भवति। कस्यापवादः। ह्रस्वा कुतूः कुतुपः स्नेहभाजनविशेषश्चर्ममयः।

कासूगोणीभ्यां तरट् ॥४।१।१४५॥ कासू शक्तिः आयुधविशेष इत्यर्थः। गोणीत्यावपनमुच्यते। कासूगोणीशब्दाभ्या तरट् भवति। कस्यापवादः। ह्रस्वा कासूः कासूतरी। ह्रस्वा गोणी गोणीतरी।

वत्सोक्षाऽश्वर्षभेभ्यस्तनुत्वे ॥४।१।१४६॥ ह्रस्व इति निवृत्तं विशेषणान्तरोपादानात्। वत्स, उक्षन्, अश्व, ऋषभ इत्येतेभ्यस्तनुत्वोपाधिकेऽर्थे वर्तमानेभ्यस्तरट् भवति स्वार्थे। यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दविनिवेशस्तस्य तनुत्वे तरट्। तनुर्वत्सो वत्सतर। उक्षतरः। अश्वतर। ऋषभतर। वत्सस्य तनुत्व यौवनप्राप्तिः। यौवन उपचीयमाने वत्सत्व तनुर्भवति। उक्षा तरुण उच्यते तस्य तनुत्व तस्मात्परस्य वयसः प्राप्तिः। अश्वेनाश्वायामुत्पन्नोऽश्वः। तस्य तनुत्व विजातीयादुत्पत्तिः। ऋषभा भारवहस्तस्य तनुत्वमसमर्थता।

कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरः ॥४।१।१४७॥ कि यत् तद् इत्येतेभ्यो द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्यमाने डतर इत्यय त्यो भवति। सामर्थ्यान्निर्धार्यमाणवाचिभ्यः किमादिभ्यस्त्यः। समुदायाज्जातिगुणक्रियासज्ञाभिरेकदेशस्य पृथक्करण निर्धारणम्। को भवता कठ। कतरो भवतोः पटुः। कतरो भवतो कारक। कतरो भवतोर्देवदत्त। एव यतर। ततर। महाविकल्पाधिकाराद्वाक्यमपि साधु। निर्धारणे इति किम्? को ग्रामयो कः स्वामी। द्वयोरेकस्य स्वामित्वे मा भूत्। द्वयोरिति किम्? यस्मिन् कुले य प्रधान च (स) आगच्छतु। एकस्येति किम्? एकग्रहणेऽक्रियमाणे बहुषु एकत्र वा द्वयोर्निर्धारण सम्भाव्येत। तेनेहापि प्रसज्येत। कौ भवता काञ्चीपुरकौ। कौ एतस्मिन् ग्रामे देवदत्तगुरुदत्ताविति।

वा बहूनां जातिप्रश्ने डतमः ॥४।१।१४८॥ एकस्य निर्धारण इति वर्तते। जातिश्च प्रश्नश्च जातिप्रश्नम्। बहूनामेकस्य निर्धारणे गम्यमाने किमादिभ्यो वा डतम इत्यय त्यो भवति जातिप्रश्नविषये। किमो जातिविषये प्रश्नविषये च त्यः। इतरेभ्यो जातिविषये। वावचनमुत्सर्गस्याकः प्रापणार्थम्। को भवतां कठः। कतमो भवतां कठः। अकि सति किम् [illegible] को भवतां कठः। यतमो भवतां कठः। यको भवतां कठः। ततमो भवतां कठः। अत्र वृत्त्यन्तरे पाठः। वा बहूनां परिप्रश्न इति। तेन को भवतां वैयाकरणस्तार्किको वा। कतम इति भवति। बहूनामिति किम्? द्वयोरेकस्य निर्धारणे जातिप्रश्ने [illegible] कतरो भवतोः कठ इति। जातिप्रश्न इति किम्? को भवतां देवदत्तः। [illegible] केचित्। कतरो भवतां कठः। कतमो भवतां कलाप इति।

एकाच्च ॥४।१।१४९॥ [illegible]

जातिप्रश्न इति नानुवर्तते । सामान्येन विधानम् । एकतरो भवतोर्देवदत्तः । एकतमो भवता देवदत्तः । किमादिष्वेकग्रहणं कर्तव्यमिति केचित् । न जातिप्रश्न एव डतमः स्यात् । उत्सर्गशाको निवृत्त्यर्थं च योगविभाग । महाविकल्पोऽनुवर्तत एव ।

इवे प्रतिकृतौ कः ॥४।१।१५०॥ इवार्थं सादृश्यम् । प्रतिकृतिः प्रतिबिम्बम् । विषयद्वारेण इवार्थविशेषणमेतत् । प्रतिकृतिविषये न इवार्थस्तस्मिन् वर्तमानान्मृदः को भवति स्वार्थे । अश्व इवायम् अश्वकः । अश्वप्रतिकृतिरित्यर्थः । एवम् उष्ट्रक । गर्दभक । प्रतिकृताविति किम् ? गौरिव गवयः । अश्व इवायं शीघ्रो गौः ।

खौ ॥४।१।१५१॥ इवार्थमात्रे गम्यमाने मृदः को भवति खुविषये । अप्रतिकृत्यर्थोऽयमारम्भः । अश्व इवायमश्वक । उष्ट्रक । गर्दभकः । संज्ञाशब्दा एते । संज्ञाशब्देषु च इवार्थो न गम्यते । केवलं वस्तुधर्मेण सादृश्येनान्वाख्यानं क्रियते, तेनेदमपि सिद्धम् । वंशकः । वेणुक । नडक । ह्रस्वत्वोपाधिका एताः संज्ञा । कथं शूद्रक । रावक । पूर्वकः' । एता अपि कुत्सितत्वोपाधिकाः संज्ञाः ।

उसमनुष्ये उपमेये ॥४।१।१५२॥ मनुष्य उपमेयत्वेनाभिधेये खौ वाऽखौ च विहितस्य कस्योस् भवति । कुक्कुट इव कुक्कुटो मनुष्य । चञ्चेव चञ्चा । वर्द्धिका । खरकुटी । दासी । "युक्तवदुसि लिङ्गसङ्ख्ये" [१।१।६८] इति युक्तवद्भावः । मनुष्य इति किम् ? अश्वकः पाषाण । देवपथादेराकृतिगणत्वात् प्रपञ्च ।

जीविकार्थेऽपण्ये ॥४।१।१५३॥ विक्रीयते यत्तत्पण्यम् । न पण्यमपण्यम् । जीविकार्थं यदपण्य तस्मिन्नुपमेयत्वेनाभिधेये कस्योस्भवति । वासुदेव इवाय देवलकाना वासुदेवः । "इवे प्रतिकृतौ" [४।१।१५०] इत्यनेनागतस्य कस्योस् । शिव । स्कन्द । विशाख । जीविकार्थादेव प्रतिकृतय एवमुच्यन्ते । जीविकार्थे इति किम् ? क्रीडार्थे हस्तीव हस्तिक. । अपण्य इति किम् ? यत्क विक्रीणीते । हस्तिक विक्रीणीते । रूपोऽपि देवपथादे. प्रपञ्चः ।

देवपथादिभ्यः ॥४।१।१५४॥ "इवे प्रतिकृतौ" [४।१।१५०] "खौ" [४।१।१५१] इति चागतस्य कस्योस् भवति देवपथादिभ्य. परस्य । देवपथ इव देवपथ । हंसपथः । वारिपथः । अजापथः । राजपथः । शतपथ । सिंहगति. । उष्ट्रग्रीव. । वाम । रज्जु । हस्त । इन्द्र । दण्ड । पुष्प । मत्स्य । आकृतिगणोऽयम् । "अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च । इवे प्रतिकृतौ नाशः कवो देवपथादिषु ॥" अर्चासु—अर्हन् । शिव. । स्कन्द । विष्णुः । चित्रकर्मणि—दुर्योधनः । भीमसेनः । अर्जुनः । ध्वजेषु च—ताल [illegible] ध्वजः. । कपि. । गरुड. । आकृतिगणत्वादेवेदमपि सिद्धम् ।

[illegible] चण्टार्धचन्द्राश्च पतत्रियश्च ।

हस्तिरूपो [illegible] । [illegible] प्रसार(प्रासाद)गुल्मार्कमया मृगाश्च ॥

[illegible] । "उसमनुष्ये" [४।१।१५२] "जीविकार्थेऽपण्ये" [४।१।१५३] [illegible] ।

[illegible] ।४।१।१५५। इव इत्यनुवर्तते । [illegible] इवार्थे टम् भवति । यस्मिन् प्रदेशे मल[illegible] । [illegible] वर्देदी प्रणालिका । इव ऊर्ध्वं सामान्येन [illegible] ।

[illegible] ।४।१।१५६॥ [illegible] भवति । शिलेव शिलेयं दधि । शिलाया [illegible] ।

शाखादेर्यः ॥४।१।१५७॥ शाखा इत्येवमादिभ्य इवार्थे यो भवति। शाखेव शाख्यः। मुखमिव मुख्यः। शाखा। मुख। जघन। स्कन्ध। मेघ। चरण। शृंग। उरस्। अग्र। शरण।

द्रव्यं भव्ये ॥४।१।१५८॥ द्रव्यमिति निपात्यते भव्येऽर्थे। भव्यविशेषे इवार्थे वर्तमानाद् द्रुशब्दाद् य इत्यय त्यो निपात्यते। द्रुरिव द्रव्यम् कार्षापणम्। इष्टार्थक्रियाहेतुरित्यर्थः। द्रव्यमय राजा आत्मवानित्यर्थः। भव्य इति किम्? द्रुरिवायं न चेतयते पुरुषः।

कुशाग्राच्छः ॥४।१।१५९॥ कुशाग्रशब्दादिवार्थे छो भवति। सूक्ष्मत्वेन कुशाग्रमिव कुशाग्रीया बुद्धिः। कुशाग्रीयं शास्त्रम्।

सात्तद्विषयात ॥४।१।१६०॥ इवशब्दः सादृश्यार्थस्तच्छब्देन परामृश्यते। इवार्थविषयात् सात् छो भवति। इवार्थविषयस्य च सस्येदमेव ज्ञापकम्। यदृच्छया अतर्कितोपनते चित्रीकरणे इवार्थविषये सो भवति। सुप्सुपेति सविधानमेवंविषयमेव द्रष्टव्यम्। काकतालीयम्। तालशाखाग्रे काकः प्राप्तः, ताल न पतितं तेन च पतता तालेन स काको हतः। इदं चित्रीकरणम्। तथा देवदत्तश्च वृक्षं श्रितः। तत्राशनिश्च पतितः। तत्र देवदत्तस्याशनेश्च समागमः काकतालसमागमसदृशः। काकवधसदृशश्च देवदत्तवधः इति समागमसादृश्ये सविधानम्। वध सादृश्ये त्यविधिः। एवमन्धकवर्तकीयम्। अजाकृपाणीयम्। इह शस्त्रीश्यामा। पुरुषव्याघ्र इति समुदाय इवार्थविषयो न भवति। किन्तु पूर्वपदमुत्तरपदं वा। तेन छो न भवति।

शर्करादिभ्योऽण् ॥४।१।१६१॥ शर्करा इत्येवमादिभ्यो इवार्थेऽण् भवति। शर्करेव शार्करम्। कपालिकेव कापालिकम्। "भस्य ढ्त्यढे" [४।३।१४७ वा०] इति पुंवद्भावे प्राप्ते "न वृद्धकोडः" [४।३।१४९] इति प्रतिषेध। शर्करा। कपालिका। कपिष्ठिका। गोमत्। गोपुच्छ। पुण्डरीक। शतपत्र। नराची। नकुल। सिकता।

अङ्गुल्यादेष्ठण् ॥४।१।१६२॥ अङ्गुली इत्येवमादिभ्य इवार्थे ठण भवति। अङ्गुलीव आङ्गुलिकम्। अङ्गुलि। भरुज। बभ्रु। वल्गु। रुप्। खल। उदश्वित्। गोणी। उरस्। मण्डर। मण्डल। शष्कुल। कुलिश। हरि। कपि। मुनि।

वैकशालायाष्टः ॥४।१।१६३॥ एकशालाशब्दादिवार्थे वा टो भवति। वावचनेनानन्तरस्य ठणः समुच्चयः। एकशालेव एकशालिकः। ऐकशालिकः।

कर्कलोहितादीकण् ॥४।१।१६४॥ कर्कलोहितशब्दाभ्यामिवार्थे टीकण् भवति। कर्कः शुक्लाश्वः। कर्क इव कार्कीकः। लौहितीकः। टकारः स्त्रिया ङयर्थः।

इत्यभयनन्दिविरचितायां[1] महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।

पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् ॥४।२।१॥ इव इति निवृत्तम्। पूगवाचिनो [illegible]ऽग्रामणीपू[illegible] [illegible] ञ्यो भवति। नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थ(र्थ)कामपरा [illegible] पूगाः। पूगशब्द [illegible] [illegible]न निर्देश.। यथा यूथं वनमिति। ये त्वस्य विशेषवाचिन शब्दास्तेषा भेदवाचिनान [illegible] भवन्ति। लोहध्वज इति पूगः। लौहध्वज्य लौहध्वजौ। लोहध्वजा। शैब्यः। शैब्यौ। [illegible]। [illegible]। [illegible]। "ञ्यादिभ्यो नेऽबाह्मिणात्" [१।४।१२४] इति बहुषु। अग्रामणीरिति [illegible]। [illegible] [illegible]। [illegible] पूर्वो [illegible] ग्रामणीपूर्व। [illegible] [illegible] [illegible] ग्रामणीरित्युच्यते। स पूर्वोऽवयवो यस्य पूगस्य स ग्रामणीपूर्व.। न [illegible]। [illegible] न भवत। देवदत्ता ग्रामणीरेषां देवदत्तकाः। 'स पूर्वो ग्रामणी' [[illegible]] [illegible]।

---

1. जैनेन्द्रमहावृत्तौ स०।

व्रातञ्फादस्त्रियाम् ॥४।२।२॥ नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः संघाः व्राताः। ञ्फ इति "वृद्धे कुञ्जादिभ्यो ञ्फः" [३।१।८७] इत्यापत्यस्त्यो गृह्यते। व्रातविशेषवाचिभ्यो ञ्फान्तेभ्यश्च स्वार्थे यो भवत्यस्त्रियाम्। कापोतपाक्यः। कापोतपाक्यौ। कपोतपाकाः। व्रैहिमत्यः। व्रैहिमत्यौ। व्रीहिमताः। ञ्फान्तात् कुञ्जस्यापत्यं कौञ्जायन्यः। कौञ्जायन्यौ। कुञ्जायनाः। ब्राध्नायन्यः। ब्राध्नायन्यौ। ब्राध्नायनाः। अस्त्रियामिति किम्? कपोतपाकी। व्रीहिमती। कौञ्जायनी। "वृद्ध च चरणैः सह" इति ञ्फान्तस्य जातिवाचित्वान्ङीविधिः।

शस्त्रजीविसङ्घाञ्ञ्यड् वाहीकेष्वविप्रराजन्यात् ॥४।२।३॥ वाहीकेषु यः शस्त्रजीविसङ्घस्तद्वाचिनो मृदो विप्रराजन्यवर्जितात् स्वार्थे ञ्यड् भवति। टित्करणं स्त्रियां ङ्यर्थम्। कौण्डीवृस्यः। कौण्डीवृस्यौ। कुण्डीवृसाः। क्षौद्रक्यः। क्षौद्रक्यौ। क्षुद्रकाः। मालव्यः। मालव्यौ। मालवाः। कौण्डीवृसी। क्षौद्रकी। मालवी स्त्री। "हलो हृतो ङ्याम्" [४।४।१३८] इति यकारस्य खम्। शस्त्रजीविग्रहणं किम्? मल्लाः। सङ्घग्रहणं किम्? वागुरः। सम्राट्। वाहीकेष्विति किम्? शबराः। पुलिन्दाः। अविप्रराजन्यादिति किम्? गौपालयः (ब्राह्मणाः)। शालङ्कायनाः राजन्याः। विप्रप्रतिषेधे विप्रविशेषप्रतिषेधः। नहि विप्रशब्दवाच्यो वाहीकेषु शस्त्रजीविना सङ्घोऽस्ति। राजन्यप्रतिषेधे तु स्वरूप इति प्रतिषेधः। राजन्यविशेषस्यापि प्रतिषेध केचिदिच्छन्ति। कावच्यः। कावच्यौ। कावच्याः। ञ्यटि सति स्त्रियां ङी प्रसज्येत। शस्त्रजीविसङ्घादिति योगविभागादन्यत्रापि केचिदिच्छन्ति। शाबर्यः। शाबर्यौ। शबराः। पौलिन्द्यः। पौलिन्द्यौ। पुलिन्दाः। योगविभागकृतमनित्यम्? तेन शबरः पुलिन्द इत्यपि भवति।

वृकाट्टेण्यण् ॥४।२।४॥ शस्त्रजीविसङ्घवाचिनो वृकशब्दात् स्वार्थे टेण्यण् भवति। वार्केण्यः। वार्केण्यौ। वृकाः। स्त्रियां वार्केणी। "हलो हृतो ङ्याम्" [४।४।१४०] इति यखम्। हल् उत्तरस्य यकारस्य खं भवति स चेद्यकारो गोरवयवभूत इति। वाहीकेषु ञ्यटि प्राप्ते, अन्यत्राप्राप्ते विधानम्। शस्त्रजीविसङ्घविशेषणं किम्? मति (जाति) शब्दान्माभूत्।

"कामक्रोधौ मनुष्याणां खादितारौ वृकाविव। तस्मात्क्रोधं च कामं च परित्यक्तुं बुधोऽर्हति॥"

दामन्यादेश्छः ॥४।२।५॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति वर्तते। दामनि इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविसङ्घवाचि यस्छो भवति स्वार्थे। दामनीयः। दामनीयौ। दामनयः। दामनि। औलपि। वैजवापि। औदकि। आच्युतन्ति। शाकुन्तकि। सार्वसेनि। बिन्दु। तुलभ। मौञ्जायन। सावित्रीपुत्र। त्रिगर्तषष्ठाः दामन्यादौ पठ्यन्ते। शस्त्रजीविनां षड्वर्गाः। तत्र त्रिगर्तवर्गः षष्ठो यषां ते त्रिगर्तषष्ठाः। कौण्डोपरथीयः। कौण्डोपरथीयौ। कौण्डोपरथाः। दाण्डकिः। क्रौष्टुकिः। जालमाली। ब्रह्मगुप्तः। जानकिः। उक्तं च—

"आहुस्त्रिगर्तषष्ठांस्तु कौण्डोपरथदाण्डकी। क्रौष्टुकिर्जालमाली च ब्रह्मगुप्तोऽथ जानकिः॥"

पर्श्वादेरण् ॥४।२।६॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति वर्तते। पर्शु इत्येवमादिभ्यः शस्त्रजीविसङ्घवाचिभ्योऽण् भवति स्वार्थे। पार्शवः। पार्शवौ। पर्शवः। पर्शु। रक्षस्। असुर। वाह्लीक। वयस्। वसु। मरुत्। सत्वत्। दशार्ह। पिशाच। अशनि। कार्षापण। यौधेय। शौभ्रेय। धार्तेय। ज्यावाणेय। त्रिगर्त। भरत। उशीनर। अत्रापि यौधेयादिभ्यः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् आपत्यस्वार्थिकाः आपत्यग्रहणेन गृह्यन्त इति। तेनात्र [illegible] प्रतिषेधवचनं तत् सार्थकम्। पर्श्वादिभ्यः पुनरुत्पन्नस्याणः स्वार्थिकस्य स्त्रीविवक्षायां "[illegible]" [३।१।५०] इत्यधिकृत्य "अतोऽप्राच्यभर्गादेः" [३।१।१५८] इत्युप्। "द्रञ" [३।१।७६] इत्युप्। पर्शवः। असुराः(री)। रक्षः।

अभिजिद्विदभृतोऽणो यञ् ॥४।२।७॥ शस्त्रजीविसङ्घादिति निवृत्तम् । अभिजित् विदभृत् इत्येताभ्यामणन्ताभ्यां स्वार्थे यञ् भवति । "वृद्धाद् वृद्धवदिति वक्तव्यम्" [वा०] वृद्धापत्ये योऽण् विहितः तदन्तादयं यञ् वृद्धवच्च भवति । अभिजितोऽपत्यमण् । आभिजित. । तदन्ताद्यञ् आभिजित्यः । आभिजित्यौ । आभिजिताः । वैदभृत्यः । वैदभृत्यौ । वैदभृताः । वृद्धादिति किम् ? अभिजिद् देवताऽस्य आभिजितः । विदभृत इद वैदभृतम् । वृद्धवदिति किम् ? आभिजित्यस्यापत्यं युवाऽऽभिजित्यायनः । "यञिञोः" [३।१।६०] इति फण् सिद्ध ।

शिखाशालाशम्यूर्णाश्रियां मतोः ॥४।२।८॥ शिखा, शाला, शमी, ऊर्णा, श्री, इत्येतेषां शब्दानां मतोर्योऽण् तदन्तात्स्वार्थे यञ् भवति । शिखावतोऽपत्यमित्यण् । तदन्ताद्य यञ् । शैखावत्यः । शैखावत्यौ । शैखावताः । शालावत्यः । शालावत्यौ । शालावताः । शामीवत्यः । शामीवत्यौ । शामीवताः । और्णावत्यः । और्णावत्यौ । और्णावताः । श्रैमत्यः । श्रैमत्यौ । श्रैमताः । वृद्धादित्येव शिखावत इद शैखावतम् । "वृद्धवदिति वक्तव्यम्" [वा०] शैखावत्यायनः । नेद वक्तव्यम् । आपत्यस्वार्थिकाः आपत्यग्रहणेन गृह्यन्त इत्येव सिद्धम् ।

ते द्व्यः ॥४।२।९॥ ते ञ्यादयो द्विसंज्ञका भवन्ति । तथैवोदाहृतम् । ते ग्रहणम् अनुक्रान्तासर्गिप्रतिपत्त्यर्थम् ।

संख्यायाः पादशतेभ्यो वीप्सादण्डत्यागे वुन् ॥४।२।१०॥ सख्यादेः पादशतान्तान्मृदः वीप्सा त्यागेषु गम्यमानेषु वुन् भवति । तासन्निधानेऽन्त्यस्यालः ख च । "यस्य ङ्यां च" । [४।३।१२१] इति यदि ख क्रियते, तस्य परनिमित्तत्वात् "परेऽचः पूर्वविधौ" [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावात् "पाद पत्" [४।४।११६] इति पद्भावो न स्यात् । इद पुनः खमनिमित्तमिति न स्थानिवद्भावः । द्वौ द्वौ पादौ भुङ्क्ते द्विपदिका भुङ्क्ते । त्रिपदिकां भुङ्क्ते । हृदर्थे रसः । वुनैव वीप्सार्थस्य द्योतितत्वात् वीप्सालक्षणं द्वित्वं निवर्तते । द्वे द्वे शते भुङ्क्ते द्विशतिका भुङ्क्ते । त्रिशतिका भुङ्क्ते । दण्डे—द्वौ पादौ दण्डित. द्विपदिका दण्डित. । त्रिपदिका दण्डितः । त्यागे—द्वौ पादौ व्यवसृजति द्विपदिका व्यवसृजति । त्रिपदिका व्यवसृजति । त्रिशतिका व्यवसृजति । वुन्नन्तं स्वभावतः स्त्रिया वर्तते । सख्याया इति किम् ? पादं पाद ददाति । पादशतेभ्य इति किम् ? द्वौ द्वौ प्रस्थौ ददाति । बहुलनिर्देशादन्यत्रापि भवति । द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विमोदकिका ददाति । द्विद्विलिका ददाति । वीप्सादिग्रहण किम् ? द्वौ पादौ भुङ्क्ते ।

स्थूलादिभ्यः प्रकारोक्तौ क ॥४।२।११॥ स्थूल इत्येवमादिभ्यः प्रकारोक्तौ गम्यमानायां को भवति । जातीयस्यापवादः । अत्रापि प्रकारवति त्वः स्थूलाणुमाषेषु । स्थूलप्रकारः स्थूलकः । अणुकः । माषकः । इषुकः । अपरेषां व्याख्या । माषेष्विन्युपाधिः । स्थूलका माषाः । अणुका माषाः । स्थूलाणुमा[illegible] । कृष्णतिलेषु । पाद्यकालावदाताः सुरायाम् । गोमूत्र आच्छादने । सुराया अहौ । जीर्णशालिषु । पत्रमूल समस्तव्यस्ते । यवव्रीहिषु । कुमारीपुत्र । कुमारी । श्वशुरः । मणि दन्तु तिल । चन्द्[illegible] पाठः कर्तव्यः ।

छादनत्यन्ते ॥४।२।१२॥ अनत्यन्त[illegible] । [illegible] भवति । अनत्यन्ते भिन्न भिन्नकम् । छिन्नकम् । अनत्यन्त इति किम् ? [illegible] । [illegible] कार्त्स्न्येन सम्बन्धः ।

न सामेः ॥४।२।१३॥ [illegible]

तत्वात्को न प्राप्नोतीति प्रतिषेधवचनमनर्थकम्। एवं तर्हीदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकं स्वार्थेऽप्ययं को भवति। तेन सिद्धम्। भिन्नतरकम्। बहुतरकम्। अर्धच्छिन्नकम्। अर्धभिन्नकम्।

बृहतिका ॥४।२।१४॥ बृहतिकेति निपात्यते। बृहतीशब्दादाच्छादने वर्तमानात्स्वार्थे नित्यं को निपात्यते। बृहतिका साटी। आच्छादनादन्यत्र को न भवति। बृहती ओषधिः।

खोऽलङ्कर्मपुरुषात् ॥४।२।१५॥ अलङ्कर्मन् अलम्पुरुष इत्येताभ्यां स्वार्थे खो भवति। अलङ्कर्मणेऽलङ्कर्मीणः। अलम्पुरुषायालम्पुरुषीणः। "नमस्स्वस्ति" [१।४।२६] इत्यादिनाऽप्। 'तिकुप्रादयः" [१।३।८१] इत्यत्र "पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे अपा" [वा०] इति षस।

अषडक्षाशितङ्ग्वधिग्वोः ४।२।१६॥ अषडक्ष, आशितङ्गु, अधिगु इत्येतेभ्यः स्वार्थे खो भवति। अविद्यमानानि षडक्षीण्यस्मिन्निति अषडक्षीणो देवदत्तः। पितृपितामहपुत्राणामक्षीणि न पश्यतीत्यर्थः। मन्त्रोऽपि द्वाभ्यां यः क्रियते, येन वा कन्दुकेन द्वौ क्रीडतः सोऽप्येवमुक्तः। अथवाऽक्षशब्द इन्द्रियपर्यायोऽस्ति। अविद्यमानानि षडक्षाण्यस्य अषडक्षीणो मत्स्यः। गुणदोषविचारक्षम षष्ठमक्षमस्य नास्तीत्यर्थः। आशिता गावोऽस्मिन्नित्याशितङ्गवीनमरण्यम्। अतएव निपातनात्कर्तरि क्तः। पूर्वपदस्य च मुगागमः। राज्ञि अधि राजाधीनम्। पुण्येऽधि पुण्याधीनम्। 'ईश्वरेऽधिना" [१।४।१८] इति अधिना योगे ईप् गिति संज्ञाप्रतिषेधश्च। अधिशब्द. शौण्डादिषु पठ्यते, तेन षसः। नित्यश्चेह ख इष्यते, उत्तरसूत्रे वाग्रहणात्।

वाऽञ्चेरदिक्स्त्रियाम् ॥४।२।१७॥ अञ्च्यन्तान्मृदोऽदिक्स्त्रियां वर्तमानात् खो भवति स्वार्थे वा। अदिक्स्त्रियामिति प्रसज्यप्रतिषेधादिह तदन्तविधिर्लभ्यते। प्राञ्चतीति प्राङ् (प्राक्) प्राचीनम्। उदक् उदीचीनम्। अवाङ् (क) अवाचीनम्। अदिक्स्त्रियामिति किम्? प्राची दिक्। प्रतीची। दिग्ग्रहणं किम्? प्राचीना शाला। तिरश्चीना स्थूणा। स्त्रीग्रहणं किम्? प्राचीनं दिग्रमणीयम्। प्राची दिग्रमणीयेति विग्रहे "दिक्छन्द" [४।१।९२] इत्यादिना अस्तात्। "अन्चेरुप्" [४।१।९६] इति तस्योप्। स्वभावत उप्यस्तातेर्नपुंसकलिङ्गम्। वावचनात् स्वार्थिकेषु निवृत्तो महाविकल्पाधिकार इति गम्यते। तेन पाशतमादयः प्राक् [इवेला देशात्] कल्पदेशीयात्। ञ्यादयः प्राग्वुनः। आमादयः प्राड्मयटः नित्या वेदितव्याः। याप्यो वैयाकरणः। अयमेषामतिशयेन पटुरित्येवमादौ वाक्ये न प्रकृतिर्याप्येऽतिशायने वा वर्तते किन्तु पदान्तरमतस्त्यो न भवति।

जातेश्छो बन्धुनि ॥४।२।१८। बध्यतेऽस्मिन् जातिरिति बन्धुद्रव्यमिह जात्यधिकरणभूतं गृह्यते तथा निर्देशात्। जातिशब्दाद्बन्धुनि वर्तमानात् छो भवति। केवलजातिशब्दस्य बन्धुनि वृत्त्यसम्भवात्तदन्तविधिः। क्षत्रियो जातिरस्य क्षत्रियजातीयः। क्षत्रिय एवोच्यते। शोभना जातिरस्य शोभनजातीयः। दुष्टा जातिरस्य दुर्जातीयः। या जातिर्भवत, विजातीयो भवान्। द्वयोर्विकल्पयोर्मध्ये नित्योऽयं विधिः। "प्रकारोक्तौ जातीयः" [४।१।१२८ इत्येव सिद्धे किमर्थमिदं जात्यन्तस्य प्रकृतस्य केवलस्य च प्रयोगो माभूत् इत्येवमर्थम्। एवं दुर्जाते कृतपुत्रस्येति प्रयोग.। चिन्त्यमेतत्। बन्धुनीति किम्? ब्राह्मणजातिरदृश्यपापा[1]।

इवे स्थानान्तात् ॥४।२।१९॥ स्थानान्तान्मृद इवार्थे वा छो भवति। पितुः स्थानमिव स्थानमस्य पितृस्थानः। "पूर्वोत्तरपदस्य सुप् वा" [वा०] इति। उपमानपूर्वस्य खसो भवति खोश्च खम्। यथा उष्ट्रमुखः। एवं स्थानान्तो मृद इवार्थे वर्तते, तस्माद्वा छो भवति। पितृस्थानीय.। पितृस्थानः। गुरुस्थानीयः। गुरुस्थानः। [illegible] स्थानमिति। इव इति किम्? गवां स्थानम् गोस्थानम्। "मृद्ग्रहणे [illegible] । इह [illegible] भवति। गोः स्थानमिति। नैष दोषः। इवग्रहणं

1 [illegible]—६०।

स्थानविशेषणम् । इवार्थे यः स्थानशब्दो वर्तते, तदन्तादिति । वत्से च स्थानशब्द इवार्थे वर्तते । वत्से तु पदसङ्घात इवार्थे वर्तते इति न भवति ।

किमेत्मिङ्क्रिभादामद्रव्ये ॥४।२।२०॥ किम एकारान्तस्य मिङः क्रिभसंज्ञकस्य च अनन्तरो यो भस्तदन्तान्मृद आमित्यय त्यो भवत्यद्रव्ये । लिङ्गसंख्यायुक्तप्रत्ययकारणं द्रव्यम् । द्वाविमौ किम्पचतः, अयमनयोः किंतरा पचति । कितमाम् पचति । एतौ द्वाविमौ पूर्वाह्णे भुञ्जाते । अयमनयोः पूर्वाह्णेतरां भुङ्क्ते । एतद्ग्रहणसामर्थ्याद् द्रव्येऽपि काले विधिरयम् । इह कस्मान्न भवति । जयतेविंचि तरे च कृते जेतर इति । अनभिधानादत्र विजेव नास्ति । मिङ्—पचतितराम् । पचतितमाम् । द्वाविमौ उच्चैर्हसत । अयमनयोरुच्चैस्तरां हसति । अद्रव्य इति किम् ? उच्चैस्तरो वृक्षः । उच्चैस्तमो वृक्षः ।

ञिनोऽण् ॥४।२।२१॥ "ञिन्नभिविधौ" [२।३।१६] इति भावे ञिन् विहितः । ञिन्नन्तादण् भवति स्वार्थे । "कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्" [प] साङ्कोटिनम् । साराविणम् । सामाजिनम् । "प्रायोऽनपत्येखीन" [४।४।१५५] इति टिखप्रतिषेधः ।

व्यात्स्त्रियाम् ॥४।२।२२॥ स्त्रियामित्यधिकृत्य "कर्मव्यतिहारे जः" [२।३।७६] इति जो विहितस्तदन्तात्स्वार्थेऽण् भवति स्त्रियाम् । व्यावक्रोशी । व्यात्युक्षी । व्यावचर्ची वर्तते । "पदे स्वोरैयौव्" [५।२।८] इति तस्य विधे "न जे" [५।२।११] इति प्रतिषेधे कृते । आदैरैप् । स्त्रीग्रहणं किम् ? स्त्रियामेव हि जो विहितस्तस्मादयं स्वार्थिकः । स्वार्थिकाश्च प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अनुवर्तन्त इति । एवं तर्हि इदमेव ज्ञापकम् । क्वचित्स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसंख्ये अतिवर्तन्तेऽपि । कुटीरः । देवता । गुडकल्पा द्राक्षा इत्येवमादि सिद्धम् ।

विसारिणो मत्स्ये ॥४।२।२३॥ विसारिन्शब्दात्स्वार्थेऽण् भवति मत्स्येऽभिधेये । विसारीति वैसारिणो मत्स्यः । अह्नादिपाठाणिणन् । मत्स्य इति किम् ? विसारी तैलबिन्दुरिवाम्भसि ।

संख्याया ध्वभ्यावृत्तौ कृत्वस् ॥४।२।२४॥ ध्वर्थः क्रियारूपः साहचर्याद्गुणशब्देनोक्तः । अभ्यावृत्तिः अभिन्नकर्तृकायाः क्रियायाः पौनःपुन्यम् । ध्वभ्यावृत्तौ वर्तमानेभ्यः संख्याशब्देभ्यः स्वार्थे कृत्वसित्ययं त्यो भवति । अस्वपदेनात्र विग्रहः । पञ्चवारान् भुङ्क्ते पञ्चकृत्वोऽद्यो भुङ्क्ते । शतं वारान् भुङ्क्ते शतं वा वाराणां भुङ्क्ते शतकृत्वः । बहुकृत्वः । तावत्कृत्वः । कतिकृत्वः । संख्याया इति किम् ? मुहुर्मुहुर्भुङ्क्ते । प्रभूतान् वारान् भुङ्क्ते । ध्वग्रहणं किम् ? द्रव्यस्य गुणस्य वा अभ्यावृत्तौ माभूत् । पञ्चसु कालेषु दण्डी । पट्सु कान्तेषु शुक्लः । अभ्यावृत्तिग्रहणं किम् ? पञ्च पाकाः । नात्राभिन्नस्य पाकस्य पौनःपुन्यं किन्त्वोदनमुद्गादीनां पाकाः ।

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ॥४।२।२५॥ द्वि त्रि चतुर् इत्येतेभ्यो ध्वभ्यावृत्तौ सुच् भवति । कृत्वसोऽपवादः । चकारः "कालेऽधिकरणे सुजर्थे" [१।४।६७] इत्यत्र विशेषणार्थः । उकार उच्चारणार्थः । द्विर्भुङ्क्ते । त्रिर्भुङ्क्ते । भुजिक्रिया सामान्येनैका । सा कालभेदाद्भिद्यते ।

एकस्य सकृत् ॥४।२।२६॥ एकशब्दस्य सकृदित्ययमादेशो भवति सुच् च । [illegible] अभिन्नकर्तृकत्वेनाभिसम्बन्धे । एकवारं भुङ्क्ते सकृद् भुङ्क्ते । एकः पाक इत्यत्र [illegible] ।

बहोर्धा वाऽऽसत्तौ ॥४।२।२७॥ [illegible] । [illegible] बहुधा [illegible] । [illegible] भुङ्क्ते । आसत्ताविति किम् ? बहुकृत्वो भुङ्क्ते [illegible] ।

तत्प्रकृतोक्तौ मयट् ॥४।२।२८॥ प्रकर्षेण कृतं प्रकृत प्रचुरमित्यर्थः । तदिति वासमर्थात् प्रकृतोक्तौ वर्तमानात् स्वार्थे मयड् भवति । अन्न प्रकृतम् अन्नमय पूजायाम् । दधिमय पूजायाम् । यवागूः प्रकृता यवागूमयी । पेयामयी । स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसख्ये अनुवर्तन्तेऽपि । अथवा नाय स्वार्थिकः । अधिकरणार्थेऽय विधीयते । कथ ज्ञायते । उक्तिर्वचनम् । प्रकृतस्योक्तिः प्रकृतोक्तिः । तदिति वासमर्थात् प्रकृतोक्तावर्थे मयड् भवति । घृत प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन् घृतमय उत्सव. । घृतमयी पूजा । पुष्पमय उत्सवः । पुष्पमयी पूजा । उक्तिग्रहणसामर्थ्यात् उभयोऽपि सूत्रार्थः प्रमाणम् ।

समूहवच्च बहुषु ॥४।२।२९॥ तत्प्रकृतोक्ताविति वर्तते । समूहवत् त्वविधिर्भवति मयट् च बहुषु प्रकृतेषु । यथेह भवति । अपूपाना समूहः आपूपिकम् । "अचित्तहस्तिधेनोष्ठण्" [३।२।३१] इति ठण् । एवम् अपूपाः प्रकृता आपूपिकम् । पक्षे अपूपमयम् । एव मौदकिकम् । मोदकमयम् । शाष्कुलिकम् । शाष्कुलीमयम् । प्रकृतिलिङ्गसख्यातिवर्तनम् । द्वितीयसूत्रार्थे अपूपाः प्रकृता अस्मिन्नुच्यन्ते आपूपिक उत्सव । अपूपमयः । आपूपिकी अपूपमयी पूजा । शाष्कुलिकः शष्कुलीमय उत्सवः । शाष्कुलिकी शष्कुलीमयी पूजा ।

भेषजानन्तावसथेतिहाञ्ज्यः ॥४।२।३०॥ भेषजादिभ्यः स्वार्थे ञ्यो भवति । कण्ड्वादिषु भिषजिति पठ्यते औषधस्य करणम् । तस्य कर्तृत्वविवक्षाया भिषज्यतीति भेषजम् । पचादित्वादच् । "हलो य" [४।४।२१] इति यखम् । अत एव निपातनादेप् । भेषजमेव भैषज्यम् । अनन्तमेवानन्त्यम् । आवसथ एवावसथ्यम् । इतिहैत्यैतिह्यम् । विभाषेह सम्बध्यते ।

देवतान्तात्तादर्थ्ये यः ॥४।२।३१॥ तस्मै इति तदर्थम् । तदेव तादर्थ्यम् । देवताशब्दान्तात्तादर्थ्ये वाच्ये यो भवति । गुरुदेवतायै इदम् गुरुदेवत्यम् । पितृदेवत्यम् ।

पाद्यार्घ्ये ॥४।२।३२॥ पाद्यार्घ्यशब्दौ निपात्येते । पादशब्दात्तादर्थ्ये यः पाच्छन्दस्य पदादेशाभावश्च निपात्यते । पादार्थमुदकम् पाद्यम् । अर्घशब्दात्तादर्थ्ये य । अर्घार्थमर्घ्यम् ।

ण्योऽतिथेः ॥४।२।३३॥ तादर्थ्ये इति वर्तते । अतिथिशब्दात्तादर्थ्येऽभिधेये ण्यो भवति । अतिथ्यर्थमिदमातिथ्यम् ।

देवात्तल् ॥४।२।३४॥ तादर्थ्य इति निवृत्तम् । देवशब्दात् स्वार्थे तल् भवति । देव एव देवता ।

कोऽवियावादेः ॥४।२।३५॥ अविशब्दाद् याव इत्येवमादिभ्यश्च मृद्भ्यः स्वार्थे को भवति । अविरेव अविकः । यावादिष्वेव अविशब्द पठितव्यः । पृथग्ग्रहण किमर्थम् ? अवेर्विकार आविकमित्येवमादौ के कृतेऽन्यथा स्यात् । यवाना विकारो यावः । याव एव यावक । यान । मणि । अस्थि । ताल । मद्र । पीत । स्तम्ब । ऋतावुष्णशीते । पशौ लूनवियाते । अणु निपुणे । पुत्रात् कृत्रिमे । पुण्य । शार । स्नात । स्नात वेदसमाप्तौ । शून्य रिक्ते । तनु सूत्रे । ईयसश्च । भूयस्कम् । श्रेयस्कम् । कुमार क्रीडायां च । कन्दुक । देवनुवर्तने ।

लोहितान्मणौ ॥४।२।३६॥ लोहितशब्दान्मणौ वर्तमानात् स्वार्थे को भवति । लोहित एव लोहितको मणिः । "लोहितशब्दात् [illegible] परत्वात् [illegible] केन बाधनं वक्तव्यम्" [वा०]। [illegible] नक्षत्रविधानमिति, अतत्रापि कृते लोहितका मणिः । [illegible] । "केऽणः" [२।२।१२५] इति प्रादेशः । लोहितिका मणिः । मणेरन्यत्र किम् ? लोहितः खदिरः ।

वर्णेऽनित्ये ॥४।२।३७॥ अनित्ये वर्णे वर्तमानाल्लोहितशब्दात्को भवति। कोपेन लोहितकं चक्षुः। स्त्रिया पूर्ववदुभयं भवति। लोहितिका कन्या कोपेन लोहिनिका वा। अनित्य इति किम्? लोहित इन्द्रगोपकः। लोहितं रुधिरम्।

रक्ते ॥४।२।३८॥ लाक्षाकृमिरागादिना रक्ते वस्त्रादिके वर्तमानात् लोहितशब्दात्को भवति। लोहितकः पट्टसाटकः। लोहितकः कम्बलः। अत्र योगवशात् यावद् द्रव्यभावि लोहितत्वमिति पूर्वेण प्राप्तिः। स्त्रिया पूर्ववदुभयम्। लोहितिका पट्टसाटिका लोहिनिका वा।

कालाच्च ॥४।२।३९॥ वर्णे नित्ये रक्ते इति द्वयस्यानुकर्षणार्थश्चकारः। अनित्ये वर्णे रक्ते च वर्तमानात् कालशब्दात् को भवति। कोपेन कालकं वस्त्रम्। कालिका साटी। अनुक्रान्तेषु चतुर्ष्वपि चेति वर्तते।

विनयादेष्ठण् ॥४।२।४०॥ विनय इत्येवमादिभ्यः स्वार्थे ठण् भवति। विनय एव वैनयिकम्। विनयः। समय। उपायात्प्रश्न। सङ्गति। कथञ्चित्। अकस्मात्। उपचार। समाचार। व्यवहार। सम्प्रदान। समुत्कर्ष। समूह। विशेष। अत्यय। वेत्यनुवर्तत एव। अनुगादिशब्दोऽपीह पठनीयः।

वाचस्तदर्थायाः ॥४।२।४१॥ सा वाक् अर्थोऽभिधेयोऽस्या इति तदर्था। तदर्थाया वाचः स्वार्थे ठण् भवति। देवदत्तेन सन्दिष्टा वाग् जिनदत्ते। सा यया वाचा जिनदत्तेन परस्य प्रकाश्यते सा वाक्तदर्था वागर्थेत्यर्थः। वागेव वाचिकम्। तदर्थाया इति किम्? स्निग्धवाक् सुजनस्य च व्यवह्रियते।

तद्युक्तात्कर्मणोऽण् ॥४।२।४२॥ तया वाचा युक्तं यत्कर्म तदभिधायिनः स्वार्थेऽण् भवति। यदेव वाचा व्यवह्रियते इदं कर्म कुर्विति, तदेव क्रियमाणं कर्म वाग्युक्तमुच्यते। कर्मैव कार्मणम्। तद्युक्तादिति किम्? स्वयमेव देवदत्तेन कर्मकृतम्।

ओषधेरजातौ ॥४।२।४३॥ ओषधिशब्दादजातौ वर्तमानादण् भवति। ओषधिरेव औषधं पीयते। अजाताविति किम्? स्थिरोऽयमस्त्वोषधिः क्षेत्रे।

प्रज्ञादेः ॥४।२।४४॥ प्रज्ञ इत्येवमादिभ्यः स्वार्थेऽण् भवति। प्रजानातीति प्रज्ञः। प्रज्ञ एव प्राज्ञ। "प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चावृत्तिभ्यो णः" [४।१।२८] इति मत्वर्थीयेन सिद्धेऽपि स्त्रिया विशेष। अणि प्राज्ञी। णे प्राज्ञा। प्रज्ञ। वणिज्। उशिक्। उष्णिज्। प्रत्यक्ष। विद्वस्। विदन। वणिज्। हिदश। षोडन्। [illegible]। मनस्। श्रोत्र शरीरे। जुहत्। कृष्ण मृगे। चिकीर्षत्। वसु। मरुत्। [illegible]। दशार्ह। वयस्। [illegible]। रक्षस्। असुर। शत्रु। चोर। योध। चक्षुष्। पिशाच। अशनि। कार्षापण। देवता। बन्धु। आकृति गणोऽयम्। विकृतिरेव वैकृतम्।

मृदस्तिकः ॥४।२।४५॥ मृत्-शब्दात्स्वार्थे तिको भवति। मृदेव मृत्तिका। [illegible] "त्यस्थे क्यापीत" [४।२।५०] इत्यादिना इत्वं सिद्धं इकारोच्चारणं किम्? [illegible] द्विर्मात्रिकम्। "हृद्युषुप्" [१।१।४] इति [illegible] अवधारणार्थम्।

सस्नौ प्रशंसे ॥४।२।४६॥ प्रशंसे वर्तमानान्मृच्छब्दात् [illegible]। प्रशंस इति प्रकृत्यर्थविशेषणमेतत्। मृत्स्ना। मृत्स्ना। [illegible]। प्रशंसे [illegible] किन्तु [illegible]।

[illegible] ॥४।२।४७॥ [illegible] इह [illegible]। अत्र [illegible]।

बहुभ्य आगतः। बहुश आगतः। भूरिश आगतः। बहुभ्यो देहि। भूरिशो देहि। बहुभिर्लुनाति। बहुशो लुनाति। भूरिशो लुनाति। बहुषु वसति। बहुशो वसति। भूरिशो वसति। बहून् देहि। बहुशो देहि। भूरिशो देहि। बहुभिर्भुक्तम्। बहुशो भुक्तम्। भूरिशो भुङ्क्ते। अल्पेभ्य आगत। अल्पश आगतः। स्तोकश आगतः। इत्येवमादि ज्ञेयम्। बह्वल्पार्थादिति किम्? ग्रामादागच्छति। कारकादिति किम्? बहुभि सह भुङ्क्ते। वाग्रहणेऽनुवर्तमाने पुनर्वाग्रहण पूर्वस्य विधेर्नित्यार्थम्। प्रशस इति वर्तते तदिह बह्वल्पार्थान्मङ्गले गम्यमाने शस् भवतीत्यर्थः। बहुशो ददाति आभ्युदयिकेषु कर्मसु। अल्पशो ददाति अनिष्टेषु कर्मसु।

संख्यैकाद्वीप्सायाम्॥४।२।४८॥ कारकादिति वर्तते। सख्यावाचिनः एकान्ताच्च कारकाद्वीप्साया वर्तमानाद्वा शस् भवति। वीप्साद्वित्वस्यापवादः। अथवा शसैवोक्तत्वाद् द्वित्व निवर्तते। एकशो देहि। वाक्यपदे वीप्साया द्वित्वम्। "एको यवत्" [५।३।७] इति यवद्भावात् "सुपो धुमृदोः" [१।४।१४२] इति सुप उपि कृते समुदायादम्। एकैक देहि। द्वौ द्वौ देहि द्विशो देहि। त्रिशो देहि। एकान्तात्। माष माष देहि माषशो देहि। कार्षापणशो देहि। प्रस्थशो देहि। सख्यैकादिति किम्? माषौ माषौ देहि। वीप्सायामिति किम्? द्वौ ददाति। माष ददाति। कारकादित्येव। द्वाभ्यां द्वाभ्या सह भुङ्क्ते। प्रस्थस्य प्रस्थस्य स्वामी। कथमेकैकशो मन्त्रिणः पृच्छेदिति? चिन्त्यमेतत्। यथा वा स्त्रीत्यान्तात् स्वार्थिके उत्पन्ने पुनः स्त्रीत्यः कुमारीतरेति। एव द्वित्वे कृते पुनः शस्।

प्रतियोगे कायास्तसिः ॥४।२।४९॥ वेति वर्तत। "यतः प्रतिदाप्रतिनिधी प्रतिना" [१।४।२२] इति प्रतिना योगे का विहिता। तदन्तात्तसिर्भवति वा। इकारः "कायास्तस्" [४।१।७३] "तसेः" [४।१।७४] इति विशेषणार्थ। अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति। श्रेणिकात् प्रति। प्रद्योतनो वृत्तिषेणतः प्रति। वृत्तिषेणात् प्रति। "तसिप्रकरणे आद्यादिभ्यः उपसख्यानम्" [वा०]। आदौ। आदित। मध्यतः। अन्ततः। पृष्ठत.। आकृतिगणोऽयम्।

अपादानेऽहीयरुहोः ॥४।२।५०॥ "काऽपादाने" [१।४।२७] इति अपादाने का विहिता। तदन्तात्तसिर्वा भवति हीयरुहसबन्धि न चेदपादानम्। स्रुघ्नादागतः। स्रुघ्न आगतः। चौरेभ्यो विभेति चौरतो विभेति। अपादान इति किम्? अन्यो देवदत्तात्। अहीयरुहोरिति किम्? सार्थाद्धीन। कर्मण्ययं यतः। पर्वतादवरोहति। हीय इति जहातेः कर्मणि यक् तस्यानुकरणम्। किमर्थम्? जिहीतेः प्रतिषेधो माभूत्। उदपेपज्जिहीते। उदपित उज्जिहीते। "मध्यो वर्णतो हीन." इत्यत्र आद्यादित्वात् भान्तात्तसिः।

क्षेपाव्यथाऽतिग्रहेष्वकर्तृभायाः ॥४।२।५१॥ क्षेप, अव्यथा, अतिग्रह, इत्येतेषु विषयभूतेषु या कर्तुरन्यत्र विहिता भा तदन्ताद्वा तसिर्भवति। क्षेपे—वृत्तेन क्षिप्तः वृत्ततः क्षिप्तो निन्दित इत्यर्थः। अव्यथायाम्—वृत्तेन न व्यथते वृत्ततो न व्यथते न चलतीत्यर्थ.। अतिग्रहे—वृत्तेनातिगृह्यते वृत्ततोऽतिगृह्यते। अतिमात्र गृह्यत इत्यर्थ। सर्वत्र करणे हेतौ वा भा। क्षेपादिष्विति किम्? दात्रेण लुनाति। अकर्तृग्रहण किम्? देवदत्तेन क्षिप्तः। भाया इति किम्? वृत्तमत्र क्षिप्यते।

हीयमानपापयोगात् ॥४।२।५२॥ अकर्तृभाया इति वर्तते। हीयमानपापाभ्या योगो यस्य तस्मादकर्तरि भा तदन्ताद्वा तसिर्भवति। हीयमानयोगात् वृत्तेन हीयते। वृत्ततो हीयते। चारित्रेण हीयते। पापयोगात् वृत्तेन पाप। अत्रापि करणे हेतौ वा भा द्रष्टव्या। नन्वत्रापि क्षेपोऽस्तीति पूर्वेणैव तसिः सिद्धः। नैष दोषः। [illegible]। नीचवृत्तो हीयते। पापवृत्तो हीयते। यदि वा तत्वाख्यानमत्र सूत्रे [illegible]। [illegible]। देवदत्तेन हीयते।

ताया व्याश्रये ॥४।२।५३॥ नानापक्षाश्रयो व्याश्रयः। तान्ताद्वा तसिर्भवति व्याश्रये गम्यमाने।

नमिरर्ककीर्तितोऽभवत् । अर्ककीर्तेरभवत् । मेघप्रभो मेघेश्वरतोऽभवत् । गम्यमानपञ्चम्यपेक्षा ता । व्याश्रय इति किम् ? देवदत्तस्य हस्तः ।

रोगादपनये ॥४।२।५४॥ अपनयः चिकित्सेत्यर्थः । ताया इति वर्तते । रोगवाचिनस्तान्तात् वा तसिर्भवति अपनये गम्यमाने । प्रवाहिकायाः कुरु । प्रवाहिकातः अपनयमस्याः कुर्वित्यर्थः । अपनय इति किम् ? प्रवाहिकायाः करोति प्रकोपमित्यर्थः ।

कृभ्वस्तियोगेऽतत्तत्त्वसम्पत्तरि च्विः ॥४।२।५५॥ वेतीहानुवर्तते । न सः अतः कारणमित्यर्थः । अतस्य तत्त्वम् विकाररूपापत्तिः अतत्तत्त्वम् । सम्पद्यते इति सम्पत्ता सम्पद्यतेः कर्तेत्यर्थः । अतत्तत्त्वे गम्यमाने सम्पद्यतेः कर्तरि वर्तमानात् सुबन्तात् उत्तरावस्थाभिधायिनश्च्विर्भवति कृभ्वस्तिभिर्योगे । अल्पान्तरार्थेन शब्देन विग्रहः क्रियते । अशुक्लं शुक्लं करोति शुक्लीकरोति प्रासादम् । अत्र करोतेः कर्मभावमापन्नोऽपि प्रासादः सम्पद्यतेः कर्ता भवति अत एवं विग्रहः । अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति शुक्लीकरोति । शुक्लीभवति । शुक्लीस्यात् । शुक्लशब्दाच्च्विः । इकारः "च्वौ" [४।२।१३५] इति विशेषणार्थः । चकारोऽपि तेन विशेषणार्थः । तत्र विरित्युच्यमाने दर्विः,जागृविरित्यत्र "रीङ् ऋतः" [५।२।१३६] इति रीङ्भावः प्राप्नोति । वकारः "च्विवडाजूर्यादिः" [१।२।१३२] इति विशेषणार्थः । तत्र इ विग्रहणेऽक्रियमाणे चिनोतेस्तद्धिकाराणां वा ग्रहणं प्रसज्येत । पूर्वस्य सुपः "सुपो धुमृदोः" [१।४।१४२] इत्युप् । "अस्य च्वौ" [५।२।१३१] इतीत्वम् । परस्य सुपः "सुपो मेः" [१।४।१५०] इत्युप् । कर्मभावाभिधायिन्यपि कृञादौ च्विर्भवति । शुक्ली क्रियते । अशुक्लस्य शुक्लस्य क्रिया शुक्लीभवनमिति द्रव्यस्य गुणक्रियाद्रव्यसमूहविकारयोगेऽतत्तत्त्वमुदाहार्यं क्रियायोगे—कारकीभवति । कारकीकरोति । कारकीस्यात् । द्रव्ययोगे—दण्डीकरोति । दण्डीभवति । दण्डीस्यात् । "दीरकृद्गे" [४।२।१३४] "च्वौ" [४।२।१३५] इति दीत्वम् । समूहे-गा असङ्घ सङ्घं करोति सङ्घीकरोति । सङ्घीभवन्ति गावः । सङ्घीस्युः । विकारे—पटीकरोति तन्तून् । पटीभवन्ति । पटीस्युः । घटीकरोति मृदः । घटीस्यात् । अत्रायमर्थः । यत्र कारणाद्विकारस्याभेदो विवक्ष्यते तत्राय च्विः । न तु यत्र कारणात्कार्यस्य भेदः । यथा वीरणेभ्यः कटं करोति । मृदो घटं करोति । कृभ्वस्तियोगे इति किम् ? अशुक्लः शुक्लो जायते । अतत्तत्त्वे इति किम् ? शुक्लं करोति । घटं करोति । अत्र विकारस्यैव विवक्षा कारणस्याविवक्षितत्वात् । सम्पत्तृग्रहणं किम् ? कर्तुरन्यस्मिन् कारके मा भूत् । अशुक्ले सत् शुक्ले सम्पद्यते । अदेवगृहे सत् देवगृहे सम्पद्यते । कथं समीपीभवति । दूरीभवति । अत्राप्युपचारात् । तत्स्थे द्रव्ये वर्तमानस्य कर्तृत्वम् ।

मनोऽरुश्चक्षुश्चेतोरहोरजसः खम् ॥४।२।५६॥ मनःप्रभृतीनां शब्दानामन्त्यस्य खं भवति च्वौ परतः । अविशेषेण पूर्वेणैव च्विः सिद्धः । खमनेन विधीयते । न च खविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधः । सत्त्वविधौ तदन्तविधिप्रतिषेधात् । तदन्तानां केवलानां चेह ग्रहणम् । अनुन्मनसम् उन्मनसं करोति उन्मनीकरोति । उन्मनीभवति । उन्मनीस्यात् । अरूकरोति । अरूभवति । अरूस्यात् । "दीरकृद्गे" [४।२।१३४] "च्वौ" [५।२।१३५] इति दीत्वम् । उच्चक्षूकरोति । उच्चक्षूभवति । उच्चक्षूस्यात् । विचेतीकरोति । विचेतीभवति । विचेतीस्यात् । विरहीकरोति । विरहीभवति । विरहीस्यात् । विरजीकरोति । विरजीभवति । विरजीस्यात् ।

साद्वा कार्त्स्न्ये ॥४।२।५७॥ कृभ्वस्तियोगेऽतत्तत्त्वे सम्पत्तरि इति वर्तते । अतत्तत्त्वविषये कार्त्स्न्ये गम्यमाने सातिप्रत्ययो भवति वा । अनग्निम् कृत्स्नमग्निम् अग्निसात्करोति अग्निसात्करोति । अग्निसाद्भवति । अग्निसात्स्यात् । उदकसात्करोति । उदकसाद्भवति । उदकसात्स्यात् । वावचनाच्च्विरपि भवति । अग्नीकरोति । उदकीकरोति । कार्त्स्न्यादन्यत्र च्विरेव भवति ।

सम्पदा चाभिविधौ ॥४।२।५८॥ [illegible] सर्वात्मना एकदेशेन वा [illegible] । एकदेशेन सर्वात्मना विकारात्मतापत्तिः [illegible] । अभिविधौ गम्यमाने [illegible]

कृभ्वस्तिभिश्च योगे। वर्षासु सर्वं लवणमनुदकमुदकं सम्पद्यते उदकसात्सम्पद्यते। उदकसात्करोति। उदकसाद्भवति। उदकसात्स्यात्। अस्मिन् कटके उत्पातेन सर्वं शस्त्रमग्निः सम्पद्यते अग्निसात्सम्पद्यते। अग्निसात्करोति। अग्निसाद्भवति। अग्निसात्स्यात्। वेत्यनुवृत्तेः कृभ्वस्तिभिर्योगे च्विरपि भवति। उदकीकरोति। उदकीभवति। उदकीस्यात्।

तदधीनोक्तौ ॥४।२।५९॥ अतत्त्वे इति निवृत्तम् अर्थान्तरोपादानात्। तदधीनेऽभिधेये साद्भवति। कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे। उक्तिग्रहणसामर्थ्यात् यत्र तदायत्त प्रतीयते, तस्मात्स्वामिविशेषवाचिनस्त्यः। राज्ञ आयत्तं राजाधीनं करोति। राजसात्करोति। राजसात्स्यात्। राजसात्सम्पद्यते। आचार्यसात्करोति। आचार्यसाद्भवति। आचार्यसात्स्यात्। आचार्यसात्सम्पद्यते। वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि साधु।

देये त्रा च ॥४।२।६०॥ तदधीनोक्ताविति वर्तते। देयं दातव्यमित्यर्थः। तदधीने देयेऽभिधेये त्रा इत्ययं त्यो भवति साच्च कृभ्वस्तिभिः सम्पदा च योगे। आचार्याधीनं देयं करोति आचार्यत्रा करोति। आचार्यसात्करोति। आचार्यसात्स्यात्। आचार्यत्रा सम्पद्यते। आचार्यसात्सम्पद्यते। वेत्यनुवृत्तेर्वाक्यमपि। देय इति किम्? राजसाद्भवति राष्ट्रम्।

अव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाच् ॥४।२।६१॥ शब्द इति सामान्येन व्यक्तोऽव्यक्तोऽकारादिवर्णविशेषेणाव्यक्तः। तस्यानुकरणं यत्तस्मादव्यक्तानुकरणादनेकाचोऽनितौ डाजित्ययं त्यो भवति कृभ्वस्तिभिर्योगे। पटत्करोति। पटपटाकरोति। पटद्भवति। पटपटाभवति। पटत्स्यात्। पटपटास्यात्। पटदिति क्रियाविशेषणम्। एतत् प्रादिवत् करोत्यर्थं विशिनष्टि न पुनः कारकत्वेनाभिसम्बध्यते। डकारः टिखार्थः। चकारो "डाचि" इति विशेषणार्थः। डाचीति विशेष्यनिर्देशात् प्रागेव टिखाद् द्वित्वम् "औ डाचि" [४।३।८७] इति पूर्वस्य तकारस्य पररूपम्। डाजन्तस्य "च्विडाजूर्यादिः" [१।२।१३२] इति तिसंज्ञा। एवं दमदमाकरोति। दमदमाभवति। दमदमास्यात्। अव्यक्तानुकरणादिति किम्? दृषत् करोति। अनेकाच इति किम्? खात् करोति। अनिताविति किम्? पटिति करोति। "डाजर्हस्येतावतः" [४।३।८९] इत्यच्छब्दस्य पररूपम्। अनिताविति प्रतिषेधार्थकः। कथमिति चेत्? डाजन्तस्य तिसंज्ञा। तस्य "प्राग्धोस्ते" [१।२।१४१] इति कृभ्वस्तिभ्यः प्राक्प्रयोगेऽनिति परतैव भवति। एवं तर्हि इतौ प्रतिषेधवचनम् अनिष्टशब्दनिवृत्त्यर्थम्। पटच्छब्दादिति शब्दप्रयोगे डाचि कृते इति पटपटाकरोतीत्यनिष्टः शब्दो मा भूत्।

कृञो द्वितीयतृतीयशवबीजात्कृषौ ॥४।२।६२॥ कृञो ग्रहणं भ्वस्त्योर्निवृत्त्यर्थम्। कृञो योगे द्वितीय तृतीय शव बीज इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो डाज्भवति कृषिविषये। द्वितीयं विलेपनं करोति क्षेत्रस्य द्वितीयाकरोति क्षेत्रम्। डाचि द्वित्वमनित्यमिति वक्ष्यते। योऽसौ करोतेः कर्मणश्च विग्रहे सम्बन्धः, स उत्पन्ने डाचि निवर्तते। द्वितीयादयस्तु शब्दाः प्रादिवत् क्रियाविशेषणभूताः। क्षेत्रं कर्म भावमुपयाति। एवं तृतीयाकरोति क्षेत्रम्। शवं करोति कुलिजस्य शवाकरोति कुलिजम्। अन्ये तु शवाकरोतीत्येव सार्थं दर्शयन्ति। अनुलोमविलोमाभ्यां कर्षतीत्यर्थः। बीजं करोति क्षेत्रस्य बीजाकरोति क्षेत्रम्। वपतीत्यर्थः। सह बीजेन विलेखनं करोतीत्यर्थः। कृषाविति किम्? द्वितीयं विवरणं करोति छत्राणाम्।

गुणात्सङ्ख्यादेः ॥४।२।६३॥ कृञि इति वर्तते। कृषाविति च। गुणशब्दान्तात्सङ्ख्यादेर्मृदो डाज्भवति कृषौ। द्विगुणं विलेखनं करोति क्षेत्रस्य द्विगुणाकरोति क्षेत्रम्। अथवा द्वौ गुणौ विग्रहे [illegible]। [illegible]। गुणादिति किम्? द्वे परिवर्तने करोति क्षेत्रस्य। सङ्ख्यादेरिति किम्? समगुणं करोति [illegible]। कृषाविति किम्? द्विगुणं करोति वस्त्रम्।

समयापथनिष्पत्रानिष्कुलात्सुखप्रियाद्दुःखाच्छूलात्त्यामद्रामद्राः ॥४।२।६४॥ समया-

दयः शब्दा डाजन्ता निपात्यन्ते । सर्वत्र कृञ्योगे निपातनम् । समयशब्दाद्यापनायां गम्यमानायां डाज्निपात्यते । कालकृता पुरुषकृता वा सस्था समयः । तस्यातिक्रमः कालक्षेपो यापना । समयं करोति पटस्य । श्वो दातास्मीति तस्यातिक्रमे समयाकरोति पटं कुविन्दः । यापनाया अन्यत्र डाज् न भवति । समयं करोति विवाहस्य । सपत्रनिष्पत्रशब्दाभ्याम् अतिव्यथने गम्यमाने डाच् । सपत्रशब्द इह विपरीतलक्षणतया निष्पत्रशब्दार्थे वर्तते । सपत्राकरोति मृगं व्याधः । अतिपीडयतीत्यर्थः । एवं निष्पत्राकरोति । अतिव्यथनादन्यत्र सपत्रं वृक्षं करोति जलसेचकः । निष्पत्रं वृक्षतत्त्वं करोति वाटिकापालः । निष्कुलशब्दान्निष्कोषणेऽर्थे डाच् । प्रच्छन्नावयवानां बहिर्निष्कासनं निष्कोषणम् । निष्कुलाकरोति पशुं चाण्डालः । निष्कोषणादन्यत्र निष्कुलं करोति पुरुषम् । उच्छिनत्तीत्यर्थः । सुखप्रियशब्दाभ्यामानुलोम्येऽर्थे डाच् । सुखाकरोति । प्रियाकरोति । स्वाम्यादेरानुकूल्येन वर्तत इत्यर्थः । आनुकूल्यादन्यत्र सुखं करोति धर्मः । दुःखशब्दात् प्रातिलोम्येऽर्थे डाच् । दुःखाकरोति । प्रातिकूल्येन वर्तत इत्यर्थं । प्रातिकूल्यादन्यत्र दुःखं करोति दुष्कृतम् । शूलशब्दात् पाकार्थप्रायें डाच् । शूलाकरोति मांसम् । शूले मांसं पचतीत्यर्थः । पाकादन्यत्र शूलं करोति सिप्रिम् (कदन्नम्) । सत्यशब्दादशपथेऽर्थे डाच् । सत्याकरोति वणिग् भाण्डम् । अहमेतद्भाण्डं क्रेष्यामीति । अन्तराले द्रव्यं सत्यकारं व्यवस्थाप्य तथ्यं करोति । (अशपथे किम् ? सत्यं करोति ब्राह्मणः) । शपथं करोतीत्यर्थ. । भद्रमद्रशब्दाभ्यां परिवापणेऽर्थे डाच् । भद्राकरोति नापितः शिशून् । मद्राकरोति नापितः शिशून् । परिवापणादन्यत्र भद्रं करोति साधुः ।

सान्ताः ॥४।२।६५॥ सान्तमि(न्ता इ) त्ययमधिकारो वेदितव्यः । आपादपरिसमाप्तेर्य विषयो वक्ष्यते सस्यान्ता अवयवास्ते भवन्तीत्यर्थः । ननु वक्ष्यमाणेषु सूत्रेषु कश्चित्सविशेषाधिकारोऽस्ति कश्चित्पूर्वपदोत्तरपदनिर्देशः । ततः सामर्थ्यादेव सान्ता विषयो भविष्यन्तीति नार्थोऽनेन, यत्रार्थविभागोऽस्ति तदर्थोऽधिकारः । यथा "ऋक्पूरब्धूःपथोऽनक्षे" [४।२।७०] इति । अर्धर्चम् । सग्रहणं किम् ? ऋक् । अन्तग्रहणं किमर्थम् ? तद्ग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात् । इ-र-द्वन्द्वसज्ञा. प्रयोजयन्ति । उपराजम् । "हे शरदादे." [४।२।१०१] "अनः" [४।२।११०] इति सान्ते कृते इसजाश्रयाऽभ्भावादिः सिद्धः । द्वे धुरौ समाहृते द्विधुरी । त्रिधुरी । "रात्" [३।१।२५] इत्यकारान्तलक्षणो ङीविधिः सिद्धः । नृपुरोपानहिनी । "द्वन्द्वाच्चुदहषो राथे" [४।२।१०८] इति सान्ते कृते "द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनीन्" [४।१।५१] इतीन्विधिः सिद्धः । व्यादशो च प्रयोजयति । व्याघ्रपात् । "ख पादस्याहस्त्यादेः" [४।२।१३१] इति परस्यादमाभूत् । "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" [४।२।१३६] इति परस्यादेरिल्लम्मा भूत् ।

न स्वतिकिमः ॥४।२।६६॥ सु अति किम् इत्येतेभ्यः परस्य सान्तो न भवति । वक्ष्यमाणेन लक्षणेन विहित. सर्वः सान्तः प्रतिषिध्यते । शोभनो राजा सुराजा । सुसखा । सुगौः । अतिराजा । अतिसखा । अतिगौः । को राजा किंराजा यो न रक्षति । किंसखा यो न स्निह्यति । किंगौर्या न वहति । इ' स्वाप्रतिषेधो न भवति शोभने अक्षिणी यस्य स्वक्षः । "स्वाङ्गाद्वेऽक्षिसक्थ्न" [४।२।११३] इत्यमान्त' । अत्रोच्यते-"स्वती पूजायाम्" इति विशिष्योक्तत्वात्प्रतिपदोक्तस्य पसस्यैव ग्रहणम् न अमस्य । पूजायामनयोरस्वाश्रयणात् । पूजार्थस्यातेर्ग्रहणम्, तेन "यन्यादय. क्रान्ताद्यर्थ इणा" इति प्रतिपदविधान निप्रतिषेधो न भवति । अतिक्रान्तो राजानम् अतिराज. इति । क्षेपे किमिति प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणात् इहापि प्रतिषेधो न भवति । को राजा किराजः । किंसख. । किंगव. ।

नञः ॥४।२।६७॥ नञः परस्याः प्रकृतेः सान्तो न भवति । अराजा । असखा । अगौः । इहापि नञिति प्रतिपदोक्तस्य पसस्य ग्रहणादन्यत्राप्रतिषेधः । अराजकं दण्ड. । अनृचा माणवक ।

पथो वा ॥४।२।६८॥ नञः परस्य पथिशब्दान्तस्य सान्तो न भवति । पूर्वेण नित्ये प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् । अपथम् । अपन्थाः । इह नञः तत्पुरुषस्य नियमः । अपथानि ।

संख्यावाड्डोऽवहुगणात् ॥४।२।६९॥ "संख्येये संख्यया भ्यासन्ना" [१।३।८७] इत्यादिना प्रतिपदोक्तो य संख्याया वसस्तस्मादबहुगणान्ताड्डः सान्तो भवति। समीपे दशानामिमे उपदशाः। आसन्ना विंशतेरिमे आसन्नविंशाः। अदूरे त्रिंशतोऽदूरत्रिंशाः। द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः। पञ्चषाः। संख्याग्रहणं किम्? चित्रगुः। संख्यावसस्य प्रतिपदोक्तस्य ग्रहणादिह न भवति। द्विगुः। दशगुः। अबहुगणादिति किम्? उपबहवः। इदमेव ज्ञापकं बहुगणयोः संख्या संज्ञा भवति। गणशब्दस्य डे सत्यसति च नास्ति विशेषस्तस्य प्रतिषेधोऽन्यसंख्याकार्यलाभार्थः। गणकल्पः। गणधा। "डप्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं निस्त्रिंशाद्यर्थम्"। निर्गतानि त्रिंशतो निस्त्रिंशानि। निश्चत्वारिंशानि। निरशीतानि वर्षाणि वर्तन्ते। निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः। आदिशब्दः प्रकारवाची तेन त्र्यादेर्न भवति।

ऋक्पूरब्धूःपथोऽनक्षे ॥४।२।७०॥ ऋच, पुर्, अप्, धूः, पथिन् इत्येवमन्तेभ्यः अ इत्ययं सान्तो भवति अक्षसम्बन्धी चेद्धूःशब्दो न भवति। वादिति निवृत्तं सामान्येन विधानम्। सान्ताधिकारसामर्थ्यात्तदन्तग्रहणम्। अकारस्यानक्षशब्दे परतः स्वेऽको दीत्वं कस्मान्न कृतम्? शकन्ध्वादित्वात्पररूपं द्रष्टव्यम्। सौत्रो वा निर्देशः। अर्धर्चम्। अनृचो माणवकः। अबह्वृचम्। ललाटस्य पूर्ललाटपुरम्। द्विर्गता आपोऽस्मिन् द्वीपः। समीपः। राज्यस्य धूः राज्यधुरा। महाधुरा। मोक्षपथः। राजपथः। अनक्ष इति किम्? अक्षस्य धूः अक्षधूः। दृढधूरक्षः। अत्र केषाञ्चिदस्ति। "अनृचो माणवो ज्ञेयो बह्वृचश्चरणे स्मृतः।" तेनेह न भवति। अनृचकं साम। बह्वृक्कं सूक्तम्।

प्रत्यन्ववात्सामलोम्नः ॥४।२।७१॥ प्रति अनु अव इत्येवम्पूर्वात्सामान्ताल्लोमान्ताच्च अः सान्तो भवति। प्रतिगतं साम प्रतिसामम्। अनुसामम्। अवसामम्। प्रतिलोमम्। अनुलोमम्। अवलोमम्। "तिष्ठद्ग्वादयः" [१।३।८१] इति षसः। अन्यपदार्थे वसो वा कर्तव्यः। यदा तु हसः, तदा "अनः" [४।२।११०] "नपो वा" [४।२।१११] इति परत्वाद्विकल्पः। प्रतिसामम्। प्रतिसाम। प्रतिलोमम्। प्रतिलोम।

"कृष्णोदक्पाण्डुपूर्वाया भूमेरत्योऽयमिष्यते। गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ॥" [वा०]
कृष्णभूमः। पाण्डुभूमः। वसो षसो वा। द्वे गोदावर्यौ समाहृते द्विगोदावरम्। पञ्चनदम्। "नदीभिश्च" [१।३।१७] इति हसः। चकाराद्भूमिरपि भवति। द्विभूमः। शतभूमः प्रासादः। क्वचिदन्यत्रापीष्यते। पद्मनाभः। ऊर्णनाभः। वर्षरात्रः।

अजीवेऽक्ष्णः ॥४।२।७२॥ अजीवे वर्तते योऽक्षिशब्दस्तदन्तात्सात् अ इत्ययं त्यो भवति। कमलस्याक्षि कमलाक्षम्। अथवा कमलमक्षीव कमलाक्षम् एव लक्षणाक्षम्[1]। पुष्कराक्षम्। कत्रस्याक्षि कत्राक्षम्। [illegible] इत्यर्थः। अजीव इति किम्? अजाक्षि। कथं प्रासादस्य गवाक्षम्। [illegible]। एवमादयोऽपि रूढिशब्दा इति न जीवेऽक्षिशब्दस्य वृत्तिः।

स्त्रीधेनुवाग्दारात्पुंसनडुन्मनोगोभ्यः[2] ॥४।२।७३॥ स्त्री, धेनु, वाक्, दार इत्येवम्पूर्वेभ्यो यथासंख्यं पुंस्, अनडुह्, मनस्, गो इत्येतेभ्यः अः सान्तो भवति। स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ। क्वचिद्यसेऽपि भवति। पूर्वं स्त्री पश्चात्पुमान् स्त्रीपुंसं [illegible]। स्त्रीपुंसः शिखण्डी। द्वन्द्वयसाभ्यामन्यत्र न भवति। स्त्रियाः पुमान्। परिशिष्टेभ्यो द्वन्द्व एव त्यो भवति। धेनुश्च अनड्वांश्च धेन्वनडुहौ। वाक्च मनश्च वाङ्मनसम्। दाराश्च गावश्च दारगवम्।

---

१ [illegible] ९०। २ 'गोभ्यः' इति बहुवचनान्तः पाठविस्मयः, ग्रन्थे सर्वत्रैकवचनस्यैव [illegible]।

ऋचः सामयजुर्भ्याम् ॥४।२।७४॥ ऋचः पराभ्यां सामयजुर्भ्याम् अः सान्तो भवति द्वन्द्व-एवाभिधानम्। ऋक्च साम च ऋक्सामे। ऋक्च यजुश्च ऋग्यजुषम्।

नञ्विसूपत्रिभ्यश्चतुरः ॥४।२।७५॥ नञ्, वि, सु, उप, त्रि इत्येतेभ्यः परश्चतुर्शब्दोऽस्यान्तो निपात्यते। अदृश्यानि चत्वारि अनेन अचतुरः। विगतानि चत्वार्यस्य विचतुरः। शोभनानि चत्वार्यस्य सुचतुरः। समीपे चतुर्णामयमुपचतुरः। त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः। बस एवेद् निपातनम्, नान्यत्र। न चत्वारोऽचत्वार इति।

नक्तंरात्रिमहोभ्यो दिवम्॥४।२।७६॥ नक्तम्, रात्रिम्, अहन् इत्येतेभ्यः परो दिवशब्दो निपात्यते द्वन्द्वे। नक्तञ्च दिवा च नक्तन्दिवम्। अः सान्तो निपात्यते। रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम्। सूत्रे निपातनादेव रात्रिशब्दस्य मुम्। अहश्च दिवा च अहर्दिवम्। अहःशब्दसन्निधाने दिवाशब्दो रात्रिपर्यायः शक्तिस्वाभाव्यात्।

द्वित्रिपुरुषादायुषः ॥४।२।७७॥ द्वि, त्रि, पुरुषशब्देभ्यः पर आयुषशब्दो निपात्यते। द्वे आयुषी समाहृते द्व्यायुषम्। त्र्यायुषम्। असस्तान्तो निपात्यते। रसादन्यत्र न भवति। द्वयोरायुर्द्व्यायुः। त्र्यायुः। पुरुषस्यायुर्वर्षाणि पुरुषायुषम्। तास एवेद् निपातनम्, द्वन्द्वे न भवति। पुरुषश्च आयुश्च पुरुषायुषी।

जातमहद्वृद्धादुक्षः ॥४।२।७८॥ जात, महत्, वृद्ध इत्येतेभ्यो पर उक्ष इति निपात्यते। सर्वत्र यसेऽकारः सान्तो निपात्यते। जातश्च स उक्षा च जातोक्षः। महोक्षः। वृद्धोक्ष। यसादन्यत्र न भवति। जातस्य उक्षा जातोक्षा। महदुक्षा। वृद्धोक्षा।

सरजसोर्वष्ठीवपदष्ठावाक्षिभ्रुवो(व दारगवो[1]) पशुनगोष्ठश्वाः ॥४।२।७९॥ सरजसादयः शब्दा अत्यान्ता निपात्यन्ते। सह रजसा सरजसमभ्यवहरति। साकल्ये हसः। हसादन्यत्र न भवति। सरजः सलिलम्। उरू च अष्ठीवन्तौ च उर्वष्ठीवम्। अकारस्त्यष्टिस च निपात्यते। अष्ठीवन्तौ गुल्फावुच्येते। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। पादौ च अष्ठीवन्तौ च पदष्ठीवम्। द्वन्द्वेऽकार सान्तष्टिस पूर्वपदस्य पद्भावो निपात्यते। अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम्। द्वन्द्वे वुवल्लिङ्गम्। दारगवमित्यवादशश्च निपात्यते। शुनः समीपम् उपशुनम्। हसे अः सान्तष्टिखाभावो जिश्च निपात्यते। गोष्ठे श्वा गोष्ठश्व। अः सान्तः।

पल्यराजहस्तिभ्यो वर्चस ॥४।२।८०॥ पल्य, राजन्, हस्तिन् इत्येतेभ्यः परो यो वर्चःशब्दस्तदः सान्तो भवति। अत्र तास सम्भवति। पल्यस्य वर्चः पल्यवर्चसम्। राजवर्चसम्। हस्तिवर्चसम्। 'ब्रह्मवर्चसादिभ्योऽपि वक्तव्यम्'' [वा०]। तेनात् (नाते) ब्रह्मवर्चसमिति भवति।

तमसोऽवसमन्धात् ॥४।२।८१॥ अव, सम्, अन्ध इत्येतेभ्य परात्तमःशब्दादः सान्तो भवति। अवहीन तम, अवहीन तमोऽस्मिन्वाऽवतमसम्। सन्तमसम्। अन्धतमसम्। पला नसो वा।

निसः श्रेयसः ॥४।२।८२॥ निःशब्दात् परो य श्रेय शब्दस्तदन्तदस्या भवति। निश्चित श्रेयः निःश्रेयसम्। अत्र (यस एव) विधान न वस इति केचित्। निश्चित श्रेयोऽनेन निःश्रेयस।

श्वसो वसीयसश्च ॥४।२।८३॥ श्वस [illegible] त् वसीयसः श्रेयसश्च अः सान्तो भवति। [illegible] 'विन्मतोर्लुक्'' [४।१।१२४] इति ईयसो मतोर्लोपि कृते वसीय [illegible] भवति। [illegible] [illegible] श्रेयस्त्व [illegible] ते। [illegible]।

---

1 [illegible] सूत्रे [illegible] एव।

तप्तान्ववाद्रहसः ॥४।२।८४॥ प्रच्छन्न उपांशुप्रयोगो वा रहः। तप्त अनु अव इत्येतेभ्यः परो यो रहःशब्दस्तदन्तादस्त्यो भवति। सम्भवतः सस्य ग्रहणम्। तप्तं रहः तप्तरहसम्। अनुगतं रहः अनुरहसम्। अनुगत रहोऽस्मिन्वाऽनुरहसम्। अवरहसम्।

प्रतेरुरस ईपः ॥४।२।८५॥ प्रतेः परात् उरःशब्दादीबर्थे वृत्ते अस्सान्तो भवति। उरसि वर्तते प्रत्युरसम्। विभक्त्यर्थे हसः। अथवा विग्रहवाक्ये ईबन्तादुरःशब्दादस्त्यो भवति। प्रतिष्ठितमुरसि प्रत्युरसम्। ''तिक्प्रादय'' [१।३।८१] इति षस। ईप इति किम्? प्रतिगतमुरः प्रत्युरः।

द्विस्तावात्रिस्तावाऽनुगवम् ॥४।२।८६॥ द्विस्तावा त्रिस्तावा, अनुगव इत्येते शब्दा निपात्यन्ते। द्विस्तावतीति विग्रह द्विस्तावा वेदिः। काचिदभिधीयते। मयूरव्यंसकादित्वात्सः। अः सान्तः पुंवद्भावष्टिखं च निपात्यते। एव त्रिस्तावती त्रिस्तावा वेदिः। वेद्यभिधानादन्यत्र न भवति द्विस्तावती त्रिस्तावती परिखा। अत्रापि अध्याहृतक्रियापेक्षया क्रियाभ्यावृत्तिरस्ति। द्विस्तावती मीयते परिच्छिद्यते वा। तेन सुप् सिद्ध। अनुग [वेऽभिधेये] वमिति [अस्सान्तो] अत्यान्तो निपात्यते आयामिन्यभिधेये। गामन्वायतम् अनुगव यानम्। ''आयामिना'' [१।३।१३] इति हस। यथा गौरायतस्तथा यानमप्यायतमित्यर्थः। आयाम्यभिधानादन्यत्र न भवति। गवा पश्चादनुगु।

नेरध्वनः ॥४।२।८७॥ गिवर्जोपलक्षितेभ्यः पराद्ध्वशब्दादस्त्यो भवति। सम्भवतः सस्य (षसस्य) ग्रहणम्। प्रगतोऽध्वान प्राध्वो रथः। प्राध्व शकटम्।

पेऽङ्गुलेर्भिसंख्यादेः ॥४।२।८८॥ भिसंख्यादेरङ्गुलिशब्दादस्सान्तो भवति। अतिक्रान्तमङ्गुली-रत्यङ्गुलम्। निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्। संख्यादेः—द्वयोरङ्गुल्यो. समाहारो द्व्यङ्गुलम्। त्र्यङ्गुलम्। चतु-रङ्गुलम्। तथा द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम्। ''इदर्थे'' [१।३।४६] इति रसः। प्रमाणेऽर्थे आगतस्य मात्रट: ''रादुक्तौ'' [३।१।२६] इत्युप्। वस इति किम्? पञ्चाङ्गुलीर्हस्तः।

अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ॥४।२।८९॥ पे इति वर्तते। अहन्, सर्व, एकदेश, संख्यात, पुण्य इत्येतेभ्यः पराद्रात्रिशब्दाद् भिसंख्यादेश्च अस्त्यो भवति पसे। अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः। पसासम्भवात् अत्र द्वन्द्वो वेदितव्यः। ''अहो रविधौ रात्रिरूपरथन्तरेषु'' [वा०] इति रित्वम्। सर्वा रात्रिः सर्वरात्र.। ''पूर्वकालैक'' [१।३।४४] इत्यादिना पस। एकदेशात्—पूर्वा रात्रि. पूर्वरात्र.। अपरा रात्रिः अपररात्र.। उत्तरा रात्रि. उत्तररात्र.। रात्र्येकदेशे रात्रिशब्दो वर्तते। तत. सामानाधिकरण्यम्। ''विशेषण विशेष्येणेति'' [१।३।५२] इति पस। संख्यातरात्रः। पुण्यरात्र.। भ्यादेः—अतिक्रान्तो रात्रिमतिरात्रः। नीरात्र। संख्यादे.—द्वयो रात्र्यो. समाहारो द्विरात्रम्। त्रिरात्रम्।

एभ्योऽह्नोऽह्नः ॥४।२।९०॥ यत्राऽह सङ्ख्यादौ विधास्यते, तस्मिन् सति अहन्नित्येतस्य अह्नादेशो भवति एभ्यः सर्वादिभ्य परस्य। एभ्य इति निर्देशो भिसंख्यादेरपि ग्रहणार्थः। तत्प्रभवादहःशब्दपूर्वत्वं नास्ति। सर्वमहः सर्वाह्नः। ''टखोरेवाहः'' [४।४।१३३] इति टिखे प्राप्तेऽनेनाह्नादेशः। ''मतोऽह्नः'' [५।४।६१] इति णत्वम्। पूर्वाह्णः। अपराह्णः। संख्याताह्नः। पुण्यशब्दात्प्रतिषेध वक्ष्यति। भिसंख्यादेः—निर्गतमह्नो निरह्णो दृष्टः। द्वयोरह्नोर्भवा द्व्यह्नी पूजा। त्र्यह्नी पूजा। इदर्थे रसे कृते भवार्थे आगतस्याणः 'रसोऽचमणः' [३।१।६४] इत्युप्। द्वौ रसे सङ्ख्यादि: प्रयोजनं तु। द्वेऽहनी जातस्य द्व्यह्नजात.। त्र्यह्न-जातः। ''कालात्तद्धे'' [१।३।६७] इति द्विगुः पस। एकशब्दात्प्रतिषेध वदन्ति।

न समाहारे ॥४।२।९१॥ समाहारविषये पसे अहन्नित्येतस्याह्नादेशो न भवति। पूर्वेणैव संख्यादे-रिति प्राप्तः प्रतिषिध्यते। द्वयोरह्नो समाहारो द्व्यहः। त्र्यहः। ''टखोरेवाहः'' [४।४।१३३] इति टिखम्।

अत्र संख्यादेरिति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । सङ्गतानि समाहृतान्यहानि समहा इति नैष दोषः । प्रतिपदं "द्व्यर्थद्यु समाहारे" [१।३।४६] इति समाहारे विहितस्य षसस्येह ग्रहणं न प्रादिलक्षणस्य । समाहार इति किम् ? द्वयोरह्नोर्भवो द्व्यह्नः उत्सवः । हृदर्थे रखे कृतेऽण आगतस्य "रस्योऽनपत्ये" [३।१।७४] इत्युप् ।

पुण्यैकाभ्याम् ॥४।२।९२॥ पुण्यैकशब्दाभ्यां परस्य अहन्नित्येतस्य अह्नादेशो न भवति । पुण्यमहः पुण्याहः । एकमहः एकाहः । "पूर्वकालैक" [१।३।४४] इत्यादिना षसः ।

राजाऽहःसखिभ्यष्टः ॥४।२।९३ राजन्, अहन्, सखि, इत्येतदन्ताट्टो भवति । देवराजः । द्वयोरह्नोः समाहारो द्व्यहः । परमाहः । राजसख । स्त्रियाः पूर्वपदार्थप्राधान्येऽतिक्रान्ता राजानम् अतिराजी । नकारान्तलक्षणाङ्डीविधेः परत्वादनेन टः । "मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्"[प०]इतीह कस्मान्न भवति ? मद्राणां राज्ञी मद्रराज्ञी । मद्रसखी । अनित्यैषा परिभाषेति न भवति ।

गोरहृदुपि ॥ ४।२।९४ ॥ गोशब्दाट्टो भवति अहृदुब्विषये । पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् । महागवः । राजगवी । अतिगवी । पञ्चगवधनः । अहृदुपीति किम् ? पञ्चभिः क्रीतः पञ्चगुः । दशगुः । हृदर्थे "संख्यादी रश्च" [१।३।४७] इति रखे कृते क्रीतार्थे आगतस्य आर्हीयस्य टणो "रादुब्वसो" [३।४।२६] इत्युप् । अत्रान्तरङ्गत्वात्प्रागेव षान्तो भविष्यतीति प्रतिषेधोऽनर्थकः । नैव शङ्क्यम् अनुपीति विषयनिर्देशादुब्विषये प्रतिषेधः । हृद्ग्रहणं किम् ? सुबुब्विषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चगवमिच्छति पञ्चगवीयति । उब्ग्रहणं किम् ? हृतः श्रवणविषये प्रतिषेधो मा भूत् । पञ्चभ्यो गोभ्य आगतं पञ्चगवरूप्यम् । पञ्चगवमयम् । हृदर्थे रखे कृते टः षान्तः । "हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः" । [३।३।५५] "मयट्" [३।३।५६] इति रूप्यमयटौ ।

उरसोऽग्रे ॥४।२।९५॥ अग्रं प्रधानम् । अग्रे वर्तते य उरःशब्दस्तदन्तात्षाट्टो भवति । हस्तिनामुरः हस्त्युरसम् । अश्वोरसम् । रथोरसम् । समानाधिकरणे वा षसः । हस्तिन इवोरसः हस्त्युरसम् । यथा शरीरावयवानाम् उरोऽग्रम् प्रधानम् एवमिहाप्युरःशब्देन प्रधानभूतं विवक्षितम् । अग्र इति किम् ? पुरुषस्योरः पुरुषोरः ।

सरोऽनोऽश्मायसः खुजात्योः ॥४।२।९६॥ सरस्, अनस्, अश्मन्, अयस्, इत्येवमन्तात्षाट्टो भवति खुविषये जातौ च । जलसरसमिति संज्ञा । मण्डूकसरसमिति जातिः संज्ञा वा । महानसमिति संज्ञा । उपानसमिति जातिः संज्ञा वा । स्थूलाश्मः । अमृताश्म इति जातिः । पिण्डाश्म इति संज्ञा जातिर्वा । कनकाश्म इति जातिः । लोहितायस इति संज्ञा जातिर्वा । कालायसमिति जातिः । खुजात्योरिति किम् ? परमसरः ।

ग्रामकौटाभ्यां तक्ष्णः ॥४।२।९७॥ ग्राम कौट इत्येताभ्यां परो यस्तक्षन्शब्दस्तदन्तात्षाट्टो भवति । ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः । कुट्यां भव कौटः, कौटश्चासौ तक्षा कौटतक्षः । स्वायत्तकर्मजीवीत्यर्थः । ग्रामकौटाभ्यामिति किम् ? राज्ञस्तक्षा राजतक्षा ।

शुनोऽतेः ॥४।२।९८॥ अतिशब्दात्परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात्षाट्टो भवति । अतिक्रान्तः श्वानमतिश्वो वराहः । अतिश्वो नीचजनः ।

मृगोत्तरपूर्वात्सक्थ्नः ॥४।२।१०१॥ मृग, उत्तर, पूर्व इत्येतेभ्यः परो यः सक्थिशब्दस्तदन्तात्पाट्टो भवति। मृगस्य सक्थि मृगसक्थम्। उत्तरसक्थम्। पूर्वसक्थम्। उपमानादिति वर्तते। फलकमिव सक्थि फलकसक्थम्। "विशेषणम्" [१।३।५२] इत्यादिना षसः।

नावो रात् ॥४।२।१०२॥ नौशब्दान्ताद्राट्टो भवति। द्वयोर्नावोः समाहारो द्विनावम्। पञ्चनावम्। पञ्चनावप्रियः। द्वाभ्यां नौभ्यामागतं द्विनावरूप्यम्। द्विनावमयम्। अहृदुपीत्यनुवर्तते। पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः। आर्हीयस्य ठण्. "राद्वुबखौ" [३।४।१२६] इत्युप्। रादिति किम्? परमनौः।

अर्द्धाच्च ॥४।२।१०३॥ अर्द्धाच्च परो यो नौशब्दस्तदन्तात्पाट्टो भवति। अर्द्धं च सा नौश्च अर्द्धनावी। "विशेषणम्" [१।३।५२] इत्यादिना सः। लोकाश्रय नपुंसकलिङ्गमपि दृश्यते। अर्द्धनावमिति।

खार्या वा ॥ ४।२।१०४॥ खारीशब्दान्ताद्राट्टो भवति। द्वे खार्यौ समाहृते द्विखारम्। यदा टो न भवति तदा "प्रो नपि" [१।१।७] इति प्रादेशः। द्विखारि। केचित्पुलिङ्गं पठन्ति। तेषां "स्त्रीगोर्नीचः" [१।१।८] इति प्रादेशे द्विखारिरिति। पञ्चखारप्रियः। पञ्चखाररूप्यम्। पञ्चखारीरूप्यम्। पञ्चखारमयम्। पञ्चखारीमयम्। पञ्चसु खारीषु भवः पञ्चखारी। टपक्षे ङी सिद्ध एव। इहार्द्धादिति वर्तते। अर्द्धशब्दात्परो यः खारीशब्दस्तदन्तात्पाट्टो भवति। अर्द्धखारम्। अर्द्धखारी।

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ॥४।२।१०५॥ द्वित्रिभ्यां परो योऽञ्जलिशब्दस्तदन्ताट्टो भवति। द्वयोरञ्जल्योः समाहारो द्व्यञ्जलम्। त्र्यञ्जलम्। द्व्यञ्जलं वनम्। त्र्यञ्जलरूप्यम्। द्व्यञ्जलमयम्। केचिद् वेत्यनुवर्तयन्ति। तेन द्व्यञ्जलिः। त्र्यञ्जलप्रियः। इहाहृदुपीति वर्तते। हृदुपि न भवति। द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतो द्व्यञ्जलिः। रादित्येव। द्वयोरञ्जलिः द्व्यञ्जलिः।

ब्रह्मणो राष्ट्रेभ्यः ॥४।२।१०६॥ राष्ट्रेभ्यः परो यो ब्रह्मन्शब्दस्तदन्तात्पाट्टो भवति। रादिति निवृत्तम्। अवन्तिषु ब्रह्मा अवन्तिब्रह्मः। सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः। ईविति योगविभागात्सः। राष्ट्रेभ्यः किम्? देवब्रह्मा नारदः।

कुमहद्भ्यां वा ॥४।२।१०७॥ कुमहद्भ्यां परो यो ब्रह्मास्तदन्तात्पाद्वा टो भवति। कुब्रह्मः। कुब्रह्मा। महाब्रह्मः। महाब्रह्मा।

द्वन्द्वाच्चुदषहो सार्थे ॥४।२।१०८॥ सार्थः समाहारः। द्वन्द्वाद्सार्थे वर्तमानाच्चवर्गदकारहकारषकारान्ताट्टो भवति। वाक्च त्वक्च वाक्त्वचम्। श्रीस्रजम्। वाग्दृषदम्। छत्रोपानहम्। वाग्विप्रुषम्। द्वन्द्वादिति किम्? पञ्चानां त्वचां समाहारः पञ्चत्वक्। चुदषह इति किम्? वाक्समित्। सार्थे इति किम्? [illegible]

गिरिनदीपौर्णमास्याग्रहायणीझयः ॥४।२।११२॥ वेति वर्तते। गिरि नदी पौर्णमासी आग्रहायणी झय इत्येवमन्ताद्वा टो भवति। गिरेरन्तरन्तर्गिरम्। अन्तर्गिरि। तिष्ठद्ग्वादित्वात्सविधि.। अथवा विभक्त्यर्थे हसः। बहिर्गिरम्। बहिर्गिरि। "पर्यपाङ् बहिरञ्चवः" [१।३।१०]। उपनदम्। उपनदि। नदि प्र०। उप पौर्णमासम्। उपपौर्णमासि। उपाग्रहायणम्। उपाग्रहायणि। झय—उपसमिधम्। उपसमिन्। उपदृषदम्। उपदृषत्।

स्वाङ्गाड्डेऽक्षिसक्थ्नः ॥४।२।११३॥ स्वाङ्गशब्दाद् यो अक्षिसक्थिशब्दौ तदन्तात् वाड्डो भवति। ह इति वेति च निवृत्तम्। कल्याणेऽक्षिणी अस्य कल्याणाक्ष.। विशालाक्षी। गौरे सक्थिनी अस्य गौरसक्थ.। स्वक्षः इत्यत्र "न स्वतिकिम" [४।२।६६] इति प्रतिषेध. कस्मान्न भवति? पदस्य ग्रहणं तत्र नाक्षितम् इत्यदोषः। स्वाङ्गादिति किम्? स्थूलाक्षिरिक्षुः। दीर्घसक्थि शकटम्। अप्राणिस्थस्य स्वाङ्गस्य न भवति। ड इति किम्? उत्तमाक्षि। आपादपरिसमाप्तेर्डसाधिकारः प्रत्येतव्यः।

द्वयङ्गुलेः ॥४।२।११४॥ द्व दारु। अङ्गुलिशब्दान्ताद्वाड्डो भवति दारुण्यभिधेये। द्वे अङ्गुली अस्य द्व्यङ्गुलं दारु। त्र्यङ्गुलम्। चतुरङ्गुलम्। धान्यानां विक्षेपणम् अग्रेऽङ्गुलीसदृशावयवं काष्ठं दारु तस्मिन् गुणे। यत्तु द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलं दारु। तत्र हृदर्थे वमे कृते "अङ्गुलेर्भिसंख्यादे" [४।२।६६] इत्य. मात्र.। मात्रटश्चोप्। द्रुणीति किम्? पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः।

द्वित्रिभ्यां मूर्ध्नः ॥४।२।११५॥ द्वित्रिभ्यां परो यो मूर्धन्शब्दस्तदन्ताद्वाड्डो भवति। द्विमूर्ध.। त्रिमूर्ध.। सान्तो विधिरनित्य इति तेन द्विमूर्धा। त्रिमूर्धा।

डन्स्त्रीप्रमाण्योरः ॥४।२।११६॥ ड इति निवृत्तम्, स्यात्लोपादानात्। डन्ता ये स्त्रीशब्दाः प्रमाणी शब्दश्च तदन्ताद्वा अन्यो भवति। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां कल्याणीपञ्चमा रात्रय। कल्याणीपञ्चमा भार्या। स्त्री प्रमाणी येषां स्त्रीप्रमाणा.। कल्याणी प्रमाणी अस्याः कल्याणप्रमाणा भार्या। [illegible] काश. कल्याणीद्वितीया। कल्याणीतृतीया। कल्याणीपञ्चमा रात्रय इति। [illegible] व्यम। अन्यपदार्थवाच्याना डडन्ता स्त्री प्रधान यदि भवति तदाय सान्तो भवतीत्यर्थ.। [illegible] पुवद्भावप्रतिषेधोऽप्यस्मिन्नेव विषये वक्तव्ये। तेनेह सान्त. पुवद्भावप्रतिषेधश्च न भवति। कल्याणी पञ्चमी अस्मिन् पक्षे कल्याणपञ्चमीक पक्ष इति। "नेतुर्नक्षत्रे उपसंख्यानम्" [वा०]। मृगो नेता आसां रात्रीणां मृग नेत्रा.। पुष्यनेत्रा.। नक्षत्रादन्यत्र न भवति। देवदत्तनेतृक सैन्यम।

लोम्नोऽन्तर्बहिर्भ्याम् ॥४।२।११७॥ अन्तर्, बहिस् इत्येताभ्या परो यो लोमशब्दस्तदन्ताद [illegible] भवति। अन्तर्गतानि लोमान्यस्य अन्तर्लोम। बहिर्लोमः। "मासाद्भृतिप्रत्ययपूर्वपदात् ठञ् वक्तव्य" [illegible] पञ्च कार्मामाणा भृतिरस्य मासस्य "तदस्य संजातन्तरत्र" [३।४।५५] इत्य "संख्याया अतिशदन्त" [illegible] इति क। पञ्चको मासोऽस्येति वमे कृते ठ। पाञ्चकमासिक। दशकमासिक।

नेः ॥४।२।११९॥ नेः परो यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद्बादस्त्यो भवति। नश्चादेशः अयमखुविषये विधिः। उन्नता नासिकाऽस्य उन्नसः। प्रवृद्धा नासिकाऽस्य प्रणसः। "णत्वविधौ गेर्नस उपसंख्यानम्" [वा०] इति णत्वम् भवते। "वे. ग्रादेशो वक्तव्य" [वा०] विगता नासिकाऽस्य विखुः।

सोः प्रातर्दिवाश्वसः ॥४।२।१२०॥ सोः परे ये प्रातर्, दिवा, श्वस् शब्दास्तदन्ताद्बादस्त्यो भवति। शोभन प्रातरस्य सुप्रात.। "कर्ममात्रे टिखम्" [वा०] इति टिखम्। विग्रहवाक्ये शोभनमिति नपुसकत्व गम्यमानकर्मापेक्षम्। शोभन प्रातःकाले कर्मास्येत्यर्थः। एव शोभन दिवा अस्येति सुदिवः। शोभन श्वोऽस्य सुश्व।

प्रोष्ठैण्यजात्पदः ॥४।२।१२१॥ प्रोष्ठ, एणी, अज इत्येतेभ्यः परः पदशब्दो बसे निपात्यते। प्रवृद्धोष्ठ. प्रोष्ठो गौरित्यर्थः। प्रोष्ठस्येव पादावस्य प्रोष्ठपद.। अस्मान्तः पादशब्दस्य च पद्भावो निपात्यते। एण्या इव पादावस्य एणीपद.। अजपदः।

चतुश्शारेरक्षिकुक्षेः ॥४।२।१२२॥ चतुरशारिशब्दाभ्या परौ यौ अक्षिकुक्षिशब्दौ तदन्ताद्बादत्यो भवति। चतस्रोऽक्षयोऽस्य चतुरक्षः। शारेरिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः।

नञ्दुस्सोः सक्थिहलेर्वा ॥४।२।१२३॥ नञ्, दुस्, सु इत्येतेभ्यः परौ यौ सक्थिहलिशब्दौ तदन्ताद्बादस्त्यो वा भवति। अविद्यमान सक्थि अस्य असक्थः। असक्थिः। दुस्सक्थः। दुस्सक्थिः। सुसक्थः। सुसक्थिः। महद्धल हलिः। अविद्यमानो हलिरस्य अहल.। अहलिः। दुर्हलः। दुर्हलिः। सुहलः। सुहलिः। सक्थिशब्दस्थाने सक्तिशब्द केचित्पठन्ति। सज्जन सक्ति.।

प्रजामेधाद्स् ॥४।२।१२४॥ वेति नाधिकृतम्। नञ्, दुस् सु इत्येतेभ्यः परौ यौ प्रजामेधाशब्दौ तदन्ताद्बादसित्ययं त्यो भवति। न विद्यते प्रजा अस्य अप्रजा.। दुष्प्रजाः। सुप्रजा.। न विद्यते मेधा अस्य अमेधा.। दुर्मेधा। "अल्पाच्च मेधाया इति वक्तव्यम्" [वा०] अल्पमेधा.। अल्पमेधसौ। अल्पमेधसः।

धर्मात्केवलादन् ॥४।२।१२५॥ केवलो धर्मशब्द एव यत्रोत्तरपदम् अन्यमा (म)ध्यपद नास्ति तदन्ताद्बादनित्ययं त्यो भवति। साधुनामिव धर्मोऽस्य साधुधर्मा। प्रियधर्मा। केवलादिति किम्? परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्म। सन्दिग्धधर्मा ऽधर्म।

द्विदण्ड्यादिः ॥४।२।१२९॥ द्विदण्ड्यादयः शब्दा इजन्ता निपात्यन्ते। यथा गणे पठितास्तथैव साधवो वसेऽन्यत्र च भवन्तीत्यर्थः। द्वौ दण्डौ अस्मिन् प्रहरणे द्विदण्डि प्रहरति। द्विमुसलि प्रहरति। क्रियाविशेषणा-दन्यत्र न भवति। द्विदण्डा शालेति। वसेऽपि भवति। निकुच्य कर्णौ निकुच्यकर्णि धावति। आकुच्य पादौ आकुच्यपदि शेते। मयूरव्यंसकादित्वात्पसः। पादस्य च पद्भावो निपातनात्। प्रोह्य पादौ प्रोह्यपदि हस्तिनं वाहयति। द्विदण्डि। द्विमुसलि। उभाञ्जलि। उभयाञ्जलि। उभाकर्णि। उभयाकर्णि। उभाहस्ति। उभयाहस्ति। उभापाणि। उभयापाणि। उभावाहु। उभयावाहु। निपातनादिचः खम्। एकपदि। प्रोह्यपदि। आकुच्यपदि। निकुच्यकर्णि। मद्रतपुच्छि।

सम्प्राज्जानुनो ज्ञः ॥४।२।१३०॥ सम् प्र इत्येताभ्यां परस्य जानुशब्दस्य ज्ञ इत्ययमादेशो भवति वसे। सङ्गते जानुनी अस्य संज्ञः। प्रकृते जानुनी अस्य प्रज्ञः। ज्ञ इत्युकारान्तः केषाञ्चिदादेशः। मतद्वयमपि प्रमाणम्।

वोर्ध्वात् ॥४।२।१३१॥ ऊर्ध्वशब्दात्परस्य जानुशब्दस्य वा ज्ञ इत्ययमादेशो भवति वसे। ऊर्ध्वे जानुनी अस्य ऊर्ध्वज्ञः, ऊर्ध्वजानुः, ऊर्ध्वजानुको वा।

ऊधसोऽनङ् ॥४।२।१३२॥ ऊधःशब्दान्तस्य वसस्य अनङादेशो भवति सान्तः। कुण्डमिव ऊधोऽस्याः कुण्डोध्नी। परत्वात्सकारस्य अनङादेशे कृते पश्चात् "ऊधसः" [३।१।१३] इति ङीविधिः। एवं घट इव ऊधोऽस्या घटोध्नी। इह मा भूत्। महोधाः पर्जन्यः। अनङयकार उत्तरत्र सार्थकः। इह नङादेशेऽपि न दोषः।

धनुषः ॥४।२।१३३॥ धनुःशब्दान्तस्य वसस्य अनङादेशो भवति। गाण्डीवं धनुरस्य गाण्डीवधन्वा। अजगवधन्वा। शार्ङ्गधन्वा।

वा खौ ॥४।२।१३४॥ धनुःशब्दान्तस्य वसस्य वा अनङादेशो भवति सान्तः खुविषये। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विभाषेयम्। दृढं धनुरस्य दृढधन्वा। दृढधनुः। पुष्पधन्वा। पुष्पधनुः।

जायाया निङ् ॥४।२।१३५॥ जायाशब्दान्तस्य वसस्य निङादेशो भवति। युवतिर्जाया यस्य युवजानिः। वधूजानिः। आकारस्य निङादेशः। "वलि व्योः खम्" [४।३।५५] इति यकारस्य खम्।

गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥४।२।१३६॥ उत्, पूति, सु, सुरभि इत्येतेभ्यः परस्य गन्धशब्दस्य इकार आदेशो भवति सान्तो वसे। उद्गतो गन्धोऽस्य उद्गन्धिः। पूतिर्गन्धोऽस्य पूतिगन्धिः। सुगन्धिः। सुरभिगन्धिः। अत्र गन्धशब्दोऽस्त्येव गुणवचनः। तद्यथा उत्पलगन्धः। चन्दनगन्ध इति। अस्ति द्रव्यवचनः। तद्यथा गन्धान् पिनष्टीति। तद्यो गुणो गुणवचनस्तस्य ग्रहणम्। तेनेह न भवति। शोभनो गन्धोऽस्य सुगन्ध आपणिकः।

अल्पाख्यायाम् ॥४।२।१३७॥ अल्पपर्यायो यो गन्धशब्दस्तदन्तस्य वसस्य वा इकारादेशो भवति सान्तः। अभिधानवशाद् व्यवस्थितविभाषेयं वा। अल्पोऽस्य गन्धोऽस्मिन् घृतगन्धि। घृतगन्धम्। ...... घृतगन्धम् भोजनम्। अथवा अत्र गन्धोऽस्यास्मिन्निति समानाधिकरणो वसः।

सुसंख्यादेः ॥४।२।१४०॥ सुश्च संख्या च सुसंख्ये ते आदी यस्य तस्य स्वादेः संख्यादेश्च पाद-शब्दस्य खं भवति बसे। शोभनौ पादावस्य सुपाद्। द्वौ पादावस्य द्विपाद्। त्रिपाद्। चतुष्पाद्।

कुम्भपद्यादिः ॥४।२।१४१॥ कुम्भपदीप्रभृतयः शब्दा निपात्यन्ते। कचिद्वेऽपि खे कृते "पादो वा" [३।१।१५] इति ङीविकल्पे प्राप्ते नित्यो ङीविधिर्निपात्यते। कुम्भ इव पादावस्या कुम्भपदी। एकः पादोऽस्या एकपदी। शितिपदी। सूत्रपदी। सूत्रसितपदी। सितसूत्रपदी। गोधापदी। जालपदी। जलपदी। कलशपदी। विपदी। सुपदी। निष्पदी। आर्द्रपदी। द्रोणपदी। कुटीपदी। कृष्णपदी। सूकरपदी। मुनिपदी। शकृत्पदी। अष्टापदी।

वयसि दन्तस्य दतृ ॥४।२।१४२॥ सुसंख्यादेरिति वर्तते। स्वादेः संख्यादेश्च दन्तशब्दस्य दतृ इत्ययमादेशो भवति बसे वयसि गम्यमाने। शोभना दन्ता अस्य सुजाता वा सुदन् कुमारकः। द्वौ दन्तावस्य बालकस्य द्विदन्। त्रिदन्। चतुर्दन्। वयसीति किम्? सुदन्तो दाक्षिणात्यः। चतुर्दन्त ऐरावतः।

स्त्रियां खौ ॥४।२।१४३॥ स्त्रीलिङ्गेऽन्यपदार्थे दन्तशब्दस्य दतृ इत्ययमादेशो भवति सान्तः खुविषये। अय इव दन्ता अस्या अयोदती। फालदती। स्त्रियामिति किम्? नागस्येव दन्ता अस्य नागदन्तको नाम कश्चित्। खाविति किम्? समदन्ती। "नासिकोदरोष्ठ" [३।१।४०] इत्यादिना ङीविधिः।

वा श्यावारोकात् ॥४।२।१४४॥ स्त्रियामिति निवृत्तम्। खाविति वर्तते। श्याव अरोक इत्येताभ्यां परस्य दन्तशब्दस्य वा दतृ इत्ययमादेशो भवति सान्तो बसे। श्यावा दन्ता अस्य श्यावदन्। श्यावदन्तः। अरोका निश्छिद्रा निर्दीप्तयो वा दन्ता अस्य अरोकदन् अरोकदन्तः।

शुद्धाग्रान्तशुभ्रवृषवराहात् ॥४।२।१४५॥ खाविति निवृत्तम्। वेति वर्तते। शुद्ध, अग्रान्त, शुभ्र, वृष, वराह इत्येतेभ्यः परस्य दन्तशब्दस्य दतृ इत्ययमादेशो भवति बसे सान्तः। शुद्धा दन्ता अस्य शुद्धदन्, शुद्धदन्तः। कुड्मलाग्रमिव दन्ता अस्य कुड्मलाग्रदन्। कुड्मलाग्रदन्तः। शिखराग्रदन्। शिखराग्रदन्तः। शुभ्रदन्। शुभ्रदन्तः। वृषदन्। वृषदन्तः। वराहदन्। वराहदन्तः। "अन्येभ्योऽपि भवतीति वक्तव्यम्" [वा०] अहिदन्। अहिदन्तः। मूषिकादन्। मूषिकादन्तः।

ककुदस्यावस्थायां खम् ॥४।२।१४६॥ कालादिकृतो बालादिभावोऽवस्था। ककुदशब्दान्तस्य खं भवति सान्ते अवस्थायां गम्यमानायाम्। असञ्जातककुदमस्य असञ्जातककुत्। पूर्णककुद्। वृद्ध इत्यर्थः। [illegible]ककुद्। मध्यशरीर इत्यर्थः। अवस्थायामिति किम्? श्वेतककुदः। कथं ककुद्मानिति? यावादिषु हलन्तानिपातनात्सिद्धम्।

अद्रौ त्रिककुद् ॥४।२।१४७॥ अद्रावन्यपदार्थे खं निपात्यते। त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिककुद्। अद्रे-रि[illegible]। अन्यत्र त्रिककुद इति भवति।

व्युदः काकुदान्तात् ॥४।२।१४८॥ वि उद् इत्येताभ्यां परस्य काकुदशब्दस्य खं भवति सान्त बसे। विशिष्टं काकुदमस्य विकाकुद्। उत्कृष्टं काकुदमस्य उत्काकुत्।

चित्रोपानत्कः । उरस् । सर्पिस् । उपानह् । पुमान् । अनड्वान् । पुमानित्येवमादयः पञ्चशब्दा विभक्त्यन्ता पठ्यन्ते । एकवचनान्तानामेव यथा स्यात् । द्विवचनबहुवचनान्ताना मा भूत् । तत्र "शेषाद्वा" [४।२।१५४] इति विकल्प एव भवति । द्विपुंस्कः । द्विपुमान् । बहुपुंस्कः । बहुपुमान् । दरी । "ऋन्मोः" [४।२।१५३] इत्येव सिद्धः किमर्थं दरीशब्दः पठ्यते ? "सहेति तुल्ययोगे" [१।३।६१] इतीह सूत्र कबभावार्थमित्यस्मिन् पक्षे कब्ग्रहणार्थमिदं वचनम् । दधि । मधु । शालि । अर्थान्नञः । कथमयं प्रयोगः । "अन्यथैवकथमित्थं-स्वनर्थात्" [२।४।१३] इति सौत्रोऽयम् ।

इनः स्त्रियाम् ॥४।२।१५२॥ इनन्ताद् बात् कबित्ययं त्यो भवति स्त्रियामन्यपदार्थे । बहवो दण्डिनोऽस्या बहुदण्डिका । एवं बहुस्वामिका । बहुवाग्मिका । स्त्रियामिति किम् ? बहुदण्डी ग्रामः । बहुदण्डिको वा ।

ऋन्मोः ॥४।२।१५३॥ ऋकारान्तान्मुसञ्ज्ञान्ताच्च बात्कब् भवति सान्तः । बहुकर्तृकः । तथा उदाहरणार्थः । बहुकुमारिकः । बहुब्रह्मबन्धूकः ।

शेषाद् वा ॥४।२।१५४॥ यस्माद्बात्सान्तो न विहितः स शेषः । शेषाद्बात् वा कब् भवति सान्तः । महाः खट्वा यस्य सः बहुखट्वाकः । बहुखट्वः । "ऋक्पूरब्धूः" [४।२।७०] इत्यादिना सूत्रेण विशेषो व्याख्यातः । "अनृचो माणवो ज्ञेयो बह्वृचश्चरणे स्मृतः" ततोऽन्यत्रायं विकल्पः । अनृक्कम् साम । अनृक् साम । बह्वृक्सूक्तम् । बह्वृक्कसूक्तम् । शेषादिति किम् ? प्रियपुरः । प्रियपथः ।

न खौ ॥४।२।१५५॥ खुविषये बात् कब् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य कपोऽयं निषेधः । नामग्र(गा)मः ? . . . । विश्वदेवः । विश्वयशाः । श्वेता अश्वतर्यो यस्य श्वेताश्वतिः ।

ईयसश्च ॥४।२।१५६॥ ईयसन्ताद्बात्कब् न भवति । येन केनचित्प्राप्तस्य प्रतिषेधः । बहवः श्रेयांसोऽस्मिन् बहुश्रेयान् । विद्यमानश्रेयान् । "शेषाद्वा" [४।२।१५४] इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः । "मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्" [वा०] बह्व्यः श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी पुरुषः । "ऋन्मोः" [४।२।१५३] इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः । अत्र "स्वोगोर्नीच" [१।१।८] इति प्रादेशोऽपि न भवति । उक्तं हि तत्र—"ईयसो बहौ पुंवद्भावावचनम्" [वा०] । नात्र पुंवद्वचनेन स्त्रीत्वस्य निवृत्तिरिष्टा किं तर्हि यथा पुंसि ईकारस्य प्रादेशो न भवति । ग्रामणी नाम इति । एवमीकम पस्याणि स्त्रीत्वस्य । अथवा प्रश्लेषनिर्देशात् ईकारः सिद्धः । ई ईयस ईयस इति । नाप्य स्त्रियामित्यस्यानुकर्षणार्थं । तेन स्त्रियामपि कप्रादेशो भवति । न प्रादेश इति ।

स्तुतेऽभ्रातुः ॥४।२।१५७॥ स्तुत प्रशंसामित्यर्थः । स्तुतेऽयं यो भ्रातृशब्दस्तदन्ताद्बात्कब् न भवति । शोभनो भ्राता यस्य सुभ्राता । दर्शनीयभ्राता । स्तुत इति किम् ? दुर्भ्रातृकः । मूर्खभ्रातृकः ।

आदेरेकाचो द्वे ॥४।३।१॥ आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। यदित ऊर्ध्वं वक्ष्याम आदेरेकाचो द्वे भवत इत्येव तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति "लिड्युक्कचिधौः" [४।३।७] धोगदेरवयवस्यैकाचो द्वे भवत। पपाच। जुहोति। अपीपठत्। एकोऽच् अवयवोऽस्य सोऽयमेकाच्। अवयवेन विग्रहः, समुदायो वृत्त्यर्थः। तद्गुणसंविज्ञाने वसे समुदायान्तर्भूतोऽवयव इति साचकस्य द्वित्वम्। परत्वादेपि कृते पाच्छब्दस्य शब्दतोऽर्थतश्चान्तरतमो द्वौ पाच्छब्दौ। द्विःप्रयोगश्च द्वित्वम्। स्थाने हि द्वित्वे जिघ्रासतीत्यत्र शब्दान्तरत्वाद्धन्तेः कुत्वं न स्यात्। आदेरिति किम्? जजागार। इत्यनाद्यस्य माभूत्। एकाच इति किम्? हल्मात्रस्य माभूत्। पपाचेत्यत्रादिन्य व्यपदेशिवद्भावेन यथा प्रथमगर्भेण हता नारी। इयाय आरेत्यत्र एकाच्त्वमपि उपचारात्। यथा स्थूलशिरा राहुरिति।

अचः ॥४।३।२॥ इहादेरित्यचो विशेषणम्। आदेः परस्यैकाचो द्वे भवत इत्यधिक्रियते। अटिटिषति। आटाट्यते। आटिटत्। सत्यपि सम्भवे आदेर्द्वित्वस्य बाधकमिदम्। दधिदानस्येव तक्रदानम्। शास्त्रेऽपि द्वीप इत्यत्र "द्व्यन्तरोरीदप." [४।३।२०२] इत्ययमादिविकारोऽन्त्यविकारस्य बाधकः। यथाऽन्यस्याचो द्वित्वं न भवति तथा व्यञ्जनस्यापीति न दोषः।

न स्फादौ न्द्रोऽयि ॥४।३।३॥ इहादेरच इति वर्तते। आदेरचः परे स्फादौ वर्तमाना नकारदकाररेफा न द्विरुच्यन्ते यकारे। इन्दिदिषति। उन्दिदिषति। आड्डिडिषति। अर्चिचिषति। उब्जिजिषति। इत्यत्र दकारोड्‌पत्ते नुना योगे च "उद्गेः" इति बत्वमुक्तम्। तस्यासिद्धत्वात्प्रतिषेधः। अभ्युद्ग इत्यत्र कुत्वस्य सिद्धत्वाद्‌द्वित्वं न भवति। "ईर्ष्यतेस्तृतीयस्य द्वे भवत इति वक्तव्यम्" [वा०] केचिदाहुस्तृतीयस्यैकाच इति। तेन मतो लिते ईर्ष्यियिषति। अपर आहुस्तृतीयस्य हल इति। ईर्ष्यिष्यिषति। "कण्ड्वादीनां तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवतिः" [वा०] कण्डूयियिषति। "सुब्धातूनांच तृतीयस्यैकाचो द्वित्वं भवति"। [वा०] अश्वियियिषति। अपर आहु। "यथेष्टं सुब्धातु वक्तव्यम्" [वा०] पुपुत्रीयिषति। पुतित्रीयिषति। पुत्रीयियिषति।

थः ॥४।३।४॥ द्वे इति वर्तते। तस्य संज्ञेयम्। ते द्विरुक्ते समुदिते थसंज्ञे भवतः। ददति। ददतु। अददुः। दधति। दधतु। अदधुः। थसंज्ञायां सत्याम् झस्य "अत्थात्" [५।१।४] इत्यदादेशः। "थस्नोरात." [४।४।१००] इत्याकारस्य खम्। लटो झे "थविल्सेः" [२।४।८८] इति झस्योत्। समुदायस्य थसंज्ञा ना[?] प्रयोजनम्? नास्य गे मा भूत्। ईरसन्ति। ऐरसन्। प्रत्येकं पर्यायेण च माभूत्। थप्रदेशाः। "थविल्से." [२।४।८८] इत्येवमादयः।

जक्षित्यादयः ॥४।३।५॥ जक्षित्यादयश्च पञ्च थसंज्ञका भवन्ति। जक्षति। जक्षतु। अजक्षुः। जाग्रति। दरिद्रति। चकासति। शासति। जक्षितेस्तिपीट कृत्वा गुरुनिर्देशः किम्? "रुदादेर्गे" [५।१।१२५] इत्यत्र पञ्चानामनुवर्तते इति ज्ञापनार्थं।

पूर्वोऽभ्यः ॥४।३।६॥ द्विरुक्तयोः पूर्वोऽवयवोऽभ्यसंज्ञो भवति। पपाच। पिपक्षति। पापच्यते। अपीपचत्। अभ्यसंज्ञायाः प्रदेशाः। "सन्यतः" [५।२।१७६] इत्वम्। "हलोऽनादेः" [५।२।१६१] खम्। "दीरक्तिः" [५।२।१८०] इति "ऐती" [५।२।१६०] प्रकृतिवत् प्रकृतिवत् इत्यादि कार्यम्। चप्रदेशा. "चस्यात्र खम्" [५।२।१८८] इत्येवमादयः।

प्रति स्थानिवद्भाव इति घो कच्यनक्खे सन्वदिति धौ परतः सन्वद्भावो विधीयमानः प्रस्य स्थानिव [द्भावात्] प्रतिपिध्यते ।

सन्यङोः ॥४।३।८॥ पे प्यस्य पुत्रपत्योर्जिः ॥४।३।९॥ वन्यौ वे ॥४।३।१०॥ वचिस्वपियजादीनां किति ॥४।३।११॥ ग्रहिज्यावयिव्यधिवशिव्यचिव्रश्चिप्रच्छिभ्रज्जां ङिति च ॥४।३।१२॥]

नर्थकः । यङुबन्तस्य प्रकृतिवद्भावो यङोऽन्यस्मिन्नेति तिपा निवर्त्यो यथास्तिभवत्योर्मिङीति यङु बन्तन् मिङ्येऽप्रतिषेधो मा भूत् । बोभवीति । इह तु यङुपि त्यखे त्याश्रयमिति प्राग् द्वित्वाज्जिर्भवत्येव । वेविक्ति । वर्मर्ष्टि । वर्भृज्जीति ।

वस्येषां लिटि ॥४।३।१३॥ एषा वच्यादीना लिटि परतश्चस्य जिर्भवति । उवाच । उवचिथ । इयाज । इयजिथ । उवाप । उवपिथ । सुष्वाप । सुष्वपिथ । जिज्यौ । जिज्याथ । वेजः स्थानिवद्भावेन उवाय । ऊयिव । उवाम । उवमिथ । विव्याध । विव्यधिथ । विव्याच । विव्यचिथ । ग्रहिभ्रस्जप्रच्छामनिषेधः । वव्रश्च वव्रश्चिथ "न जौ जिः [४।३।२१] इति वकारस्य न भवति । पिदर्थमिदम् । किमु परत परा ज्जौ कृते द्वित्वम् । ऊचतुः । ऊचुः । अनन्तरपरिभाषा ह्यनित्या । अभिकाराद्वच्यादीनामेव ग्रहणे सिद्धे एषा ग्रहण चखनिवृत्यर्थम् ।

कचि स्वापे ॥४।३।१४॥ कचि परतः स्वापेर्जिर्भवति । असूषुपत् । असूषुपताम् । असूषुपन् । स्वापेर्णि चि लुटि कचि च कृते द्वित्वात्परत्वादनेन जिः । "घ्युङ" [५।२।८३] एप् । "णौ कच्युङ" [५।२।११५] इति प्रादेशो द्वित्वम । येर्दीर्घत्वम । कचीति किम् ? स्वापितः । स्वाप्यते । स्वापेरिति किम् ? स्वपेर्णिजुपादान वचनात्केवलादपि स्यात् । स्वाप करोतीत्यत्रापि केचिदिच्छन्ति । केवलमपि (स्वपत) सन्ना भावाभावात् येर्दीर्घ न भवति । असुषुपत् ।

स्वपिस्यमिव्येञां यङि ॥४।३।१५॥ स्वपि स्यमि व्येञ् इत्येतेषां यङि जिर्भवति । सोषुप्यते । सेसिम्यते । वेवीयते । स्वपिस्येनोः किति जिर्विहित । यङि सर्वेषामप्राप्ते विधि । "वशेर्यङि प्रतिषेधो वक्तव्य" [वा०] वावश्यते । 'ग्रहिज्यावशि" [४।३।१२] इति पाठे प्राप्तिः । यङीति किम ? स्वप्नः ।

चाय. कीः ॥४।३।१६॥ चाय की इत्ययमादेशो भवति यङि परत. । चेकीयते । चेकीयेते । चेकीयन्ते । दीर्घोच्चारणं किम् ? 'दीरकृद्गे" [५।२।१३४] इति यत्र दीर्घ नास्ति तत्र यङुपि श्रवणार्थम । चेकीत । चेकीथ. ।

स्फाय स्फीस्ते ॥४।३।१७॥ स्फाय स्फी इत्ययमादेशो भवति तसंज्ञे परत । स्फीतः । स्फीतवान् । त इति किम् ? स्फायते । स्फाति । स्फतीभवतीति च्यन्तस्य रूपम ।

प्रते. ॥४।३।२०॥ प्रतिपूर्वस्य श्यायतेर्जिर्भवति ते परतः। प्रतिशीनः। प्रतिशीनवान्। अद्रवघनस्पर्शार्थोऽयमारम्भ.।

घाऽभ्यवात् ॥४।३।२१॥ अभि अव इत्येवपूर्वस्य श्यायतेर्वा जिर्भवति ते परतः। अभिशीनः। अभिश्यान.। अवशीनः। अवश्यानः। अभ्यवशीनः। अभ्यवश्यानः। विपर्यासे प्रयोगो नास्ति। द्रवघनस्पर्शविवक्षाया प्राप्तेऽन्यत्राप्राप्त इत्युभयत्र विकल्पः। अन्यगियोगे केचिन्नेच्छन्ति। समभिश्यानम्। समवश्यानम्। अन्ये तु पूर्वमात्रेऽन्यगियोगेऽपीति विकल्पमिच्छन्ति। अभिसशीनम्। अभिसश्यानम्। अवसशीनम्। अवसश्यानम्।

क्षीरहविषोः शृतम् ॥४।३।२२॥ शृतमिति निपात्यते क्षीरहविषोः पाके। शृत क्षीरम्। शृत हविः स्वयमेव देवदत्तेन वा। श्रै पाके इति कृतात्वस्य भौवादिकस्य श्रा पाके इत्यादादिकस्य च ग्रहणम्। तथा श्रा पाके इति चौरादिकस्य णिचि पुकि च कृते श्रा पाक इति मित्सु पाठात्प्रादेशेऽपि। अनयोः श्राश्रप्योः क्ते परतः शृभावो निपात्यते। क्षीरहविषोरिति किम्? श्राश्राणा यवागूः। वेति व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेर्हेतुमति णिचि नेष्यते। श्रपित हविर्देवदत्तेन जिनदत्तेन।

प्याय' पी ॥४।३।२३॥ प्याय. पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः। पीनौ स्तनौ। पीनावसौ। "ओदित." [५।३।६३] इति नत्वम्। प्रकृतौ जिरस्तस्य यत्व प्रसज्येत। लिडाडोरवलादौ च यत्व नास्ति। तद र्थ्श्चादेश'।

आङः ॥४।३।२४॥ आङ. परस्य प्यायः पी इत्ययमादेशो भवति ते परतः। आपीनः। आपीनवान्। आङ एव प्याय पी भवति नान्यस्माद्। प्रप्यानश्चन्द्रमा'।

अन्धूधसो. ॥४।३।२५॥ अन्धूधसोरर्थयो आङ. परस्य प्याय. पी भवति ते परत'। आपीनोऽन्धुः। आपीनमूध। अन्धुर्बन्धनम्। ऊध. स्तनपर्यायः। अयमपि नियम। आङ्पूर्वात्प्यान्धूधसोरेव। नान्यस्मिन्। आप्यानश्चन्द्रमाः।

लिड्यङो ॥४।३।२६॥ त इति निवृत्तम् निमित्तान्तरोपादानात्। लिटि यङि च परतः प्याय. पी इत्ययमादेशो भवति। आपिप्ये। आपिप्याते। आपिप्यिरे। परत्वात्पीभावे कृते पुन. प्रसङ्गाद् द्वित्वम्। "णिवारयाद्योऽसुधिय" [४।४।७८] इति यणादेश। यङि—आपेपीयते। आपेपीयेते। आपेपीयन्ते। यङुपि "स्यते स्याद्गम" [५।१।६२] इति आपेपेति। आपेपीत'। आपेप्यति।

न वा श्वे ॥४।३।२७॥ जिरिति वर्तते। श्वयतेर्न वा जिर्भवति लिड्यङो परत.। शुशाव। शिश्वाय। शुशुव। शिश्वियतु। शोशूयते। शेश्वीयते। लिटि कित्ति यजादिप्राप्तिर्नेति प्रतिषिध्यते। तत' समीकृते [illegible]। कित्ति कित्ति च लिटि यङि च प्रवर्तते। ननु शिश्वायेत्यत्र जिना मुक्ते पक्षे "चस्यैव लिटि" [४।२।१३] इति यत्व प्राप्नोति नात दोषो नेत्यनेन श्वयतेर्जावती प्राप्ति सा सर्वा प्रतिषिध्यते। ततो [illegible] नित्येन पश्चिमेऽनर्थक स्यात्।

आदेरेकाच इत्यनुवर्तनात्। एवं तर्हीदमेव ज्ञापकम्। थस्य निमित्तेऽन्येन व्यवहिते जिर्न भवति। तेन ह्वि... । जिह्वायकीयिषति। ह्वायकमिच्छति। ह्वायकीयतेः सन्।

थस्य ॥४।३।३०॥ ह्वयतेस्थस्य जिर्भवति। जुहूषति। जोहूयते। जुहाव। सामर्थ्यात्थनिमित्ते परतो जिर्विधातव्यः। अत्रोपचारात्थार्थो ह्वयतिस्थः तस्य जौ कृते द्वित्वम्।

न जौ जिः ॥४।३।३१॥ जौ परतः पूर्वस्य जिर्न भवति। विद्धः। विचितः। संवीतः। वर्तेर्जिनानन ज्ञापकम्। "अन्तेऽन्तः" [१।१।४६] इति नाश्रीयते। "अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य" [प०] इत्यनित्या। तत एकेनापि योगेन यावन्तो यणस्तेषां सर्वेषां जौ प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम्। ननु तथाप्येकयोगेन युगपज्जेः पूर्वस्य परस्य न नि... त्वात्सिद्धस्य कथं प्रतिषेधः? अत्रोच्यते—न जौ जिरिति स्वाश्रयकार्यस्य जेः परपूर्वत्वस्य प्रतिषेधः। ततो ... देशे सति सिध्यति रूपम्। पुनर्जिग्रहणं प्रकरणान्तरविहितस्यापि जेः प्रतिषेधार्थम्। यूना। यूने। "श्वयु... मघोनोऽह्नति" [४।४।१२१] इति जिः। अत्र स्वेऽको दीर्घत्वस्य स्थानिवद्भावात्कारणे व्यापारान्न निवारितः। "अपूर्वस्य स्य" [४।३।१८] इत्यत्र पूर्वस्येति वर्तते। तेन पूर्वमात्रस्य प्रतिषेधः। उपोगुषा। उपोगुषे ... भिन्ननिमित्तत्वान्न प्रतिषेधः। जाविस्यत्रेकारोऽपि प्रश्लिष्यते ततः श्वयतेः कनि न जिः। अशिश्वियत्।

लिटि वेञो यः ॥४।३।३२॥ न जिरिति वर्तते। लिटि परतो वेञो यकारस्य जिर्न भवति। ... वकारस्याभावात् वयेर्वकारस्य प्रतिषेधः। वेञ्ग्रहणस्योत्तरत्र प्रयोजनम्। ऊयतुः। ऊयुः। स्थानिवद्भावात् यजादित्वात् किति जिः प्राप्तः। लिट्ग्रहणमुत्तरार्थम्।

वो वा किति ॥४।३।३३॥ लिटि किति परतो वेञो वकारस्य जिर्न भवति। ऊवतुः। ऊवुः। ... द्वित्वाज्जिः प्राप्तः "प्ये च" [४।३।३४] इति वक्ष्यमाणेन प्रतिषिद्धोऽनेन विकल्प्यते। पक्षान्तरे जौ कृते ... "वार्णाद् गाङ्गं बलीयः" [परि०] इत्युवादेशे कृते स्वेऽको दीर्घत्वम्। पक्षे—ववतुः। ववुः। ... स्थानिवद्भावेन वयि वकारस्य न प्रतिषेधः। कितीति किम्? ववियः।

प्ये च ॥४।३।३४॥ प्ये लिटि च वेञो जिर्न भवति। प्रवाय। उपवाय। ववौ। ववतुः। ववुः। ... लिद्ग्रहणं वाग्रहणं चानपेक्षितम्। "चस्यैषां लिटि" [४।३।१३] इति यजादित्वाच्च जौ प्राप्ते प्रतिषेधः। अस्मिन्नेव नित्ये प्राप्ते किन्तु 'वो वा किति' [४।३।२३] इति विकल्पः। वेञ्ग्रहणानुवृत्तेरिह स्थानिवद्भावाभावे वयेरप्रतिषेधः। उवाय। ऊयतुः। ऊयुः। स्थानिवद्भावे हि "लिटि वेञो यः" [४।३।३२] ... अनेनैव वकारस्यापि प्रतिषेधः स्यात्।

न व्यो लिटि ॥४।३।३९॥ व्ययतेर्लिट्यात्व न भवति। संविव्याय। संविव्ययिथ। णलि "चस्यैषां लिटि" [४।३।१३] इति जि. । "ञ्णित्यच. " [५।२।३] इत्यैप्। आयादेशः। थे "वोपदेशे" [५।१।१०८] इति सूत्रे "अवाद्" इति प्रतिषेधात्क्रादिनियमादिट्।

स्फुरिस्फुल्योर्घञि ॥४।३।४०॥ स्फुरि स्फुलि इत्येतयोरेच आत्व भवति घञि परतः। विस्फारः। विस्फालः। "भावे" [२।३।१७] "अकर्तरि" [२।३।१८] "हल " [२।३।१०२] इति "करणाधिकरणयोः" [२।३।९९] वा घञ्। "स्फुरिस्फुल्योर्निर्निवे " [५।४।५८] इति वा षत्वम्।

क्रीङ्जेर्णौ ॥४।३।४१॥ क्री इङ् जि इत्येतेषामेच आत्व भवति णौ परतः। क्रापयति। अध्यापयति। जापयति। परनिमित्तत्वात्पेच आत्वमनेन विधीयते।

सिध्यतेरज्ञाने ॥४।३।४२॥ णाविति वर्तते। सिध्यतेरेच आत्व भवति ज्ञानादन्यत्र णौ परतः। अन्न साधयति। अर्थ साधयति। अज्ञान इति किम्? आचारः कुल सेधयति। क्षमा धर्म सेधयति। तापसनील [illegible]ः। श्यविकरणनिर्देशात्षिध गतावित्यस्य भौवादिकस्याग्रहणम्।

मिञ्मीञ्दीडां प्ये च ॥४।३।४३॥ मिञ् मीञ् दीङ् इत्येतेषा प्ये च एचश्चात्व भवति। प्ये प्रमाय। एज्विषये प्रमाता। प्रमातुम्। प्रमापयति। मिञो निमाय। निमाता। निमातुम्। निमापयति। दीङः-उपदाय। उपदाता। उपदातुम्। उपदापयति। चकारो ज्ञापकः। परनिमित्तस्यैच आत्व न भवति। तेन चेतादिष्वात्वाभावः। एच इत्यर्थवशाद्विशेषणलक्षणा [illegible]ता। एचो या प्रकृतिलक्षणाः प्राक्योत्पत्तेरात्व भवति। एव चाकारायणयन्युचः सिद्धाः। उपदायः "श्यादृव्यध" [२।१।११४] आदीति णः। उपदायो वर्तते। सुदानम्। "निमिमीलियां खाचोरात्वप्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०] सुनिमयः। निमीनाति निमान वा निमयः। "अकर्तरि वाऽचि प्रतिषेधः"। एव मिनोतेरपि। लियो "विभाषा लियो." [४।३।४४] इति व्यवस्थितविभाषा ज्ञापनादेव खाचोः प्रतिषेधः सिद्धः।

विभाषा लियोः ॥४।३।४४॥ लिनाते लीयतेश्च विभाषयाऽऽत्व भवति प्ये एज्विषये च। विलाय विलीय। एज्विषये विलाता। विलेता। विभाषेति व्यवस्थितविभाषा। तेन धाष्टर्यसम्माननयोरात्वम्। [illegible]लापयते।

णम्यपगुरो वा ॥४।३।४५॥ एच इति वर्तते। णमि परतः अपगुर एच आत्व भवति वा। अपगारम्। अपगोरम्। [illegible]पगार युध्यन्ते। अस्यपगार युध्यन्ते। "प्रमाणासत्यो." [२।४।३६] इति णम्। "वा भादि" [१।३।८४] [illegible]। पुनर्वाग्रहण पूर्वस्य व्यवस्थितविभाषाज्ञापनार्थम्।

चिस्फुरोर्णौ ॥४।३।४६॥ चिञ् स्फुर इत्येतयोर्णौ परत एचो वाऽऽत्वं भवति। धर्म चापयति। धर्म चाययति। [illegible] स्फारयति। नगन स्फोरयति।

प्रजने वातेः ॥४।३।४७॥ प्रजनेऽर्थे वातेर्णौ परतो वाऽऽत्व भवति। पुरो वातो गाः प्रवापयति। पुरो वातो गाः [illegible]। लवण गाः प्रवपयति। लवण गा. प्रवापयति। प्रजनो गर्भाधानम्। वातेः प्रजनेऽर्थे [illegible]।

ईतः पुङ् नित्यम् ॥४।३।४९॥ बिभेतेरीकारान्तस्य हेतुभयेऽर्थे नित्यं पुगागमो भवति णौ परतः । मुण्डो भीषयते । जटिलो भीषयते । ईत इति निर्देशादैपः प्रागेव पुक् । हेतुभय इत्येव । कुञ्चिकयैनं भाययति । नात्र साक्षात्प्रयोजको भयकारणम् किन्तर्हि ? करणात् । दविधिश्च न भवति ।

स्मिङः ॥४।३।५०॥ हेतुभय इति वर्तते णाविति च । स्मिङ् इत्येतस्य णौ परत आत्वं भवति हेतुभयेऽर्थे । मुण्डो विस्मापयते । जटिलो विस्मापयते "णेर्भीस्मेर्हेतुभये" [१।२।६४] इति दः । हेतुभय इति किम् ? कुञ्चिकयैनं विस्माययति । स्मयत्यर्थ एव भयमित्युपचर्यते । नहि मुख्यवृत्त्या भये स्मयतेर्वृत्तिः ।

झल्यकिति सृजदृशोऽम् ॥४।३।५१॥ झलादावकिति परतः सृजदृशोरमागमो भवति । स्रष्टा । स्रष्टुम् । स्रष्टव्यम् । द्रष्टा । द्रष्टुम् । द्रष्टव्यम् । विशेषविहितत्वात्सामान्यविहितस्य "व्युङः" [५।२।८३] गुणो बाधकोऽयम् अस्राक्षीत् इत्यत्र पूर्वममि कृते "वजवद" [५।१।७९] इत्यादिनैप् । झलीति किम् ? सर्जनम् । दर्शनम् । अकितीति प्रसज्यप्रतिषेधादिह न भवति रज्जुसृड्भ्याम् । देवदृग्भ्याम् । धोः स्वरूपग्रहणे तत्यनिरासात् ।

वाऽनुदात्तस्यर्दुङः ॥४।३।५२॥ अनुदात्तस्य धोः ऋदुङो वा अमागमो भवति झलाद्यकिति परतः । त्रप्ता । तर्प्ता । द्रप्ता । दर्प्ता । तृपिदृपी रधादौ विकल्पितेटौ तत्रानुदात्तपाठोऽमागमार्थः । अनुदात्तस्येति किम् ? वर्ढा । तर्ढा । वृढः । तृढः । उदित्त्वात्पक्षेऽनिटौ । ऋदुङ इति किम् ? भेत्ता । भेत्तुम् । झलीत्येव । तर्पणम् । दर्पणम् । अकितीत्येव । दृप्तः ।

ध्वादेः षस्सः ॥४।३।५३॥ धोरादेः षकारस्य सकारादेशो भवति । अजन्त्यपराः षादयः षोपदेशाः । सृपिसृजिस्तृस्त्यास्तृसेकृसृवर्जम् । स्मिङ्स्विदिस्वदिस्वञ्जिस्वपयस्तु मूर्धन्यादिपाठाः । उदाहरणम् । षह सहते । षिच सिञ्चति । निषद् सुपः । "ष्यादेशयोः" [५।४।३९] इति षत्वार्थ आदेशः । धोरिति किम् ? षोडन् । षडिकः । आदेरिति किम् ? लषति । धोरिति वर्तमाने पुनर्ग्रहणं सुब्धोः षकारस्य सत्वार्थम् । सुब्धोर्मा भूदिति । षोडीयति । षण्डीयति । "ष्ठिवतिष्वष्कतिष्वायतीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा०] । ष्ठिव् धकारपरः टकारपरश्चोच्यते । तेन चावसारे तेष्ठीव्यते । टेष्ठीव्यते ।

णो नः ॥४।३।५४॥ धोरादेर्णकारस्य नकार आदेशो भवति । सर्वे नादयो णोपदेशाः । नृतिनन्दि नर्दिनटिनाथृनाधृवर्जम् । णम् नमति । णी नयति । णश् नश्यति । "गेऽन्तेऽपि विकृते" [५।४।१८] इति णत्वम् । मादेश । पुनर्ग्रहणात्सुब्धोर्णकारस्य नत्वं न भवति । णकारीयति । आदेरित्येव । चणति । धोरिति ... दीयते तत्करणार्थं ।

प्रात् ॥४।३।५८॥ प्रान्तात्परस्य केः ख भवति । हे देवदत्त । हे जिनदत्त । बसपद्धेऽनजिति वर्तते तच्च प्रादिति कानिर्देशात् तान्त सम्पद्यते । ततः केरवयवस्यानचः ख भवति । एवं हे कुण्डेत्यत्र हलो मकारस्य ख भवति । हे कतरदित्यत्र स्वमोः परतः किकृते "नपः स्वमोः" [५।१।२०] इत्युप् ।

पिति कृति तुक् ॥४।३।५९॥ प्रादित्यस्य ताप्रक्लृप्तिः । पिति कृति तुगागमो भवति प्रान्तस्य । प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । अग्निचित् । सोमसुत् । कृतीति वचनाद्धोरय तुक् । पितीति किम् ? चितम् । स्तुतम् । कृतीति किम् ? बहुकर्तृक । प्रत्येति किम् ? प्रलूय । ग्रामणी । ग्रामणीकुलमित्यत्र बहाश्रयस्य प्रादेशस्यासिद्धत्वान्नान्तरङ्गस्तुक् ।

सन्धौ ॥४।३।६०॥ सन्धावित्यधिकारो वेदितव्यः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः सन्धिविषये तद्वेदितव्यम् । लोक्त एव नस्लेषः सन्निकर्षो वा सन्धिरिति ज्ञातव्यम् । यथा "एप्यतोऽपदे" [४।३।८४] अत्रेकारादिः । वक्ष्यति "अचीको यण्" [४।३।६५] । दध्यशान । सन्धाविति किम् ? दधि अशान ।

छे ॥४।३।६१॥ छकारे परतः सन्धौ प्रस्य तुग्भवति । गच्छति । इच्छति । पृच्छति । प्रस्यात्र तुङ्न तदन्तस्य । यदि प्रान्तस्य स्यामिच्छिदुरित्यत्र "हलोऽनादेः" [५।२।१६१] ख प्रसज्येत । नन्ववयवावयवोऽपि समुदायावयव इति न प्राप्नोति । एवं तर्हि पूर्वान्तकरणाधिकारात्ख न भवति ।

आङ्माङोः ॥४।३।६२॥ आङ् माङ् इत्येतयोश्छे परतस्तुग् भवति ।

"ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः । एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित् ॥"

ईषच्छाया आच्छाया । क्रियायोगे—आच्छिनत्ति । मर्यादाऽभिविध्योः । आच्छायायाः । माङः । माच्छिदन् । माच्छासीत् । "वा पदस्य" [४।३।६४] इति विकल्पः प्राप्तः । अनूत्व (नुबन्ध) करण किम् ? आच्छायामानय । आछात्रमानय । स्मरणे ङित्त्व नास्ति । नपमा छत्रमानयति । "ग्रामादाग्रहणेष्वविशेष" [प०] इति प्राप्ति । अथवा नेद प्रत्युदाहरणम् । आङा सहचरितस्य माङो निमज्ञकस्य ग्रहणाद्धोरप्राप्तिः ।

दीः ॥४।३।६३॥ दीमन्तस्य छे तुग्भवति । ह्रीच्छति । म्लेच्छति । अपचाच्छायते ।

वा पदस्य ॥४।३।६४॥ दीमन्तस्य पदस्य छे वा तुग्भवति । कुवलीच्छाया । कुवलीछाया । शमीच्छाया । शमीछाया । दीमन्तस्य तुग्भवति स चेत्पदस्येति । तेनासामर्थ्येऽपि तुग्विकल्पः सिद्धः । तिष्ठतु कुमारी छत्र हर देवदत्त ।

अचीको यण् ॥४।३।६५॥ अचि परत इको यणादेशो भवति । दध्यशान । मध्वपनय । "अनचि" [५।४।१२७] इति द्वित्वम् । भर्त्रर्थ । लाकृतिः । "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" [प०] इति यादीना न स्कान्तखम् । अचीति किम् ? दधि करोति । मधु कृतम् । इक इति किम् ? भवानन्त । हलो मा भूत् । स्तेऽचि दीत्व वक्ष्यति । परिलोपामन्त्र यत् ।

एचोऽयवायाव ॥४।३।६६॥ एच स्थाने अय् अव् आय् आव् इत्येते आदेशा भवन्ति अचि परतः । चयनम् । लवनम् । चायक । लावक । कवै । पटविः ।

शक्तौ ॥४।३।६९॥ अयमपि नियमः। शक्तावेव क्षिज्योरयादेशो नान्यस्मिन्नर्थे। क्षेयम्।

धोस्तस्मिन्नेव ॥४।३।७०॥ धोस्तस्मिन्नेव यि त्ये य एच् तस्यायादयो भवन्ति। लव्यम्। अवश्यलाव्यम्। धोरिति किम्? मृदो नियमो मा भूत्। माण्डव्यः। गव्यम्। तन्निमित्तस्यातन्निमित्तस्य च "यि त्ये" [४।३।६७] इत्यादेशः। तन्निमित्तस्येति किम्? उपोयते। औयत। लौयमानिश्चैत्रः। कर्मणि लट्। यक् जित्वम्। णिधोर्ये त्कार्यं तदन्तरङ्गमिति "आदेप्" [४।३।७५]। लटि लावस्थायामडागमोऽन्तरङ्ग इति "अटश्च" [४।३।७८] इत्यैप्। अन्तरङ्गपरिभाषा ह्यनित्या तेन बहिरङ्गत्वेऽप्यैप्। लौयमानिरिति प्रत्युदाहरणम्। एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः। धोरेव तस्मिन्निति नियमो मा भूत्। एवं हि बाभ्रव्य इत्यत्र न स्यात्।

क्रय्यः स्वार्थे ॥४।३।७१॥ क्रय्य इति निपात्यते स्वार्थे गम्ये। स्वार्थो द्रव्यविनिमयः। क्रय्यः कम्बल। क्रय्या गौः। क्रयार्थं प्रसारितः। अन्यवस्तुसंग्रहार्थमिति यावत्। क्षिज्योरिति नियमादप्राप्तोऽयादेशो निपात्यते। स्वार्थं इति किम्? क्रेय धान्यं न चास्ति क्रय्य स्वीकर्तव्यं धान्यं किं तर्हि परकीयम्। क्रयार्थं प्रसारितं नास्तीत्यर्थः।

द्वयोरेकः ॥४।३।७२॥ "ख्यत्यादुत." [४।३।६६] इति वक्ष्यति। प्रागेतस्माद् द्वयोः पूर्वपरयोरेको भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः। वक्ष्यति आदेप्। देवेन्द्रः। द्वयोर्ग्रहणं किम्? पूर्वपरयोर्युगपदादेशप्रतिपत्त्यर्थम्। इतरथा हि यत्र कानिर्देशः सावकाशस्तत्र पूर्वस्य निर्देशः। यत्रेम्निर्देशः सावकाशस्तत्र परस्य। ततश्च पर्यायेण कार्यं स्याद् यथा "सचस्योभौ" [५।४।१०५] इत्यत्र णकारद्वयम्। एवमिहापि कार्यद्वय माभूदित्येकग्रहणं क्रियते।

तद्वत् ॥४।३।७३॥ द्वयोरेक इति वर्तते। तयोरिव तद्वत्। तयोर्विद्यमानयोर्यत्कार्यं तत्कृतेऽप्येकादेशे यथा स्यात्। यत्पूर्वमवयवमाश्रित्य कार्यं क्रियते, यच्च पर तत् कृतेऽप्येकादेशे भवति। असति सूत्रेऽवयवग्रहणेन न गृह्येत। क्षीरोदकवत्। पूर्वावयवे प्रयोजनम्। वामोरूरिति मृद ऊरित्यमृदो मृदमृदोरेकादेशो मृद्वद्भवति। यथा शक्येत कर्तुं मृद इति स्वादिविधिः। अन्यथा वृक्षः प्लक्ष इत्यादावेव स्यात्। परावयवे प्रयोजनम्- देवावित्यत्रौकारः सुप्। असुबकारः। सुबसुपोरेकादेशः सुब्वद् भवति। यथा शक्येत कर्तुम् "सुम्मिङन्त पदम्" [१।२।१०३] इति। अन्यथा साधुः पूज्य इत्यादावेव स्यात्। अधीत्येत्यत्र द्वयोरेकादेशेऽपि प्राश्रयस्तुक् सिद्धः। "उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः" [वा०]। तेन उपोह्यते। प्रोह्यते इत्यत्र "गेरूहः प." [५।२।१२२] इति उभयाश्रयः प्रादेशो न भवति। इह कार्यातिदेशोऽभिप्रेतो न रूपातिदेशः। तेन वर्णाश्रये विधौ तद्वद्भावो न भवति। मालाभिरित्यत्र पूर्वान्तत्वमाश्रित्य "भिसोऽत ऐस्" [५।१।८८] इति न भवति। युवनेत्यत्र "यस्य" [४।३।३०] इति ह्यतेजौ कृते "जेः" [४।३।८५] परपूर्वत्वे च तस्य परवद्भावात् "जातो णल. आ" [५।२।३७] इति न भवति। अस्त्रै अङ्कः परवद्भावाभावात्। "एङोऽति पदान्तात" [४।३।८६] इति न भवति। अस्या अङ्क इति सिद्धम्। वत्करणात् स्वाश्रयमपि। तेन ङीप्रत्युक प्रति परादित्वाभावे "वा पदस्य" [४।३।६३] इति विकल्पः सिद्धः। वृक्षेच्छत्रम्। वृक्षेछत्रम्। अपचेच्छत्रम्। अपचेछत्रम्। सवेनः क्वौ जि.। जे. पूर्वत्वम्। तत्र परादित्वाभावे प्राश्रयस्तुक् सिद्धः। समुत्।

षत्वेऽसद्वत् ॥४।३।७४॥ षत्वे कर्तव्ये एकादेशोऽसद्वद्भवति। त्यादेशलक्षणे प्राप्ते प्रतिषेधार्थमिदम्। कोऽस्य। योऽस्य। कोऽस्मै। कोऽसिचत्। योऽसिचत्। "हान्लिप्सिचः" [५।१।४६] इत्यट्। "एङोऽति पदान्तात्" [४।३।८६] इत्येकादेशस्यासिद्धत्वादिण उत्तरस्य त्यादेशसकारस्य षत्वप्रसङ्गो न भवति। "नाद्यन्ते" [५।४।७६] इति षत्वप्रतिषेधो न सिध्यति तद्वद्भावेन पदादित्वादेकादेशस्य। ननु चैकादेशस्य षत्वेऽन्तरङ्गे एकादेशस्यासिद्धत्वम्। अनित्यैषा परिभाषा। ततोऽन्तरङ्गेऽपि बहिरङ्ग अट् एकादेशे नासिद्धः। षेऽसद्वदिति सिद्धे षत्वे इति गुरुनिर्देशः किमर्थः? पदान्तपदाद्योरेकादेशः षत्वेऽसद्वद्भवति। नान्यत्र

ज्ञापनार्थः। तेन उपसेदुषः पश्य। अनुपुषः पश्य। "वसोर्जिः" [४।४।१२०] "जेः [४।३।६५] पूर्वत्वम्। उकाराकारयोरेकादेशः पत्वेऽसद्वन्न भवति।

आदेप् ॥४।३।७५॥ अवर्णान्तादचि परत एप् भवति। देवेन्द्रः। गन्धोदकम्। महर्षिः। द्वयोः स्थाने एको भवति। "एङि पररूपम्" [४।३।८१] इत्यत्र परग्रहणं पूर्वापेक्षं तेन परस्यान्तरतमो एप् ऋवर्णे परतः प्रसज्यमान एव परस्यान्तरतमोऽकारः "रन्तोऽणुः" [१।१।४८] इति रन्तो भवति।

एच्यैप् ॥४।३।७६॥ अवर्णान्तादेचि परतो द्वयोरेक ऐप् भवति।

"प्रसिद्धैकसुरैश्वर्यस्य सर्वज्ञस्य महौजसः। व्यतीतौपम्यधर्मार्थं वचः पायान्महौपधम् ॥"

"अक्षादूहिन्यामैब्वक्तव्यः" [वा०] अक्षौहिणी। "प्रादूहोढोढ्येष्यैष्येषु" [वा०] प्रौढः। प्रौढिः। प्रैष। प्रैष्यः। "स्वादीरेरिणोः" [वा०] स्वैरः। स्वैरी। लिङ्गविशिष्टस्य स्वैरिणी। "ऋते भासे" [वा०] दुःखार्तः। ऋत इति किम्? सुखेतः। भास इति किम्? परमर्तः। स इति किम्? सुखेनर्तः। "ऋण-दशप्रवत्सतरकम्बलवसनानामृणे" [वा०] ऋणार्णम्। दशार्णम्। प्रार्णम्। वत्सतरार्णम्। कम्बलार्णम्। वसनार्णम्।

इत्येधत्यूठ्सु ॥४।३।७७॥ एति एधति ऊठ् इत्येतेषु परतोऽवर्णान्तादैप् भवति। एचीति वर्तमानमेते-विशेषणम्। एधतेर्व्यभिचाराभावात्। ऊठ्स्वरूपेण गृह्यते। उपैमि। उपैषि। उपैति। उपैधते। प्रैधते। एङि-पररूपापवादः। पुरस्तादपवादोऽनन्तरस्य एङि पररूपस्य बाधकः नोत्तरस्य "ओमाङोः" [४।३।८२] इति आ ङ पर-रूपस्य। तेन आ इतः। एतः। उपेतः। ऊठ्—धौतः। धौतवान्। एचीत्येव। उपेतः। प्रेतः।

अटश्च ॥४।३।७८॥ एचीति निवृत्तमचीति वर्तते। अटश्च अचि द्वयोरेक ऐप् भवति। ऐक्षिष्ट। ऐहिष्ट। औब्जीत्। औम्भीत्। ऐक्षत। ऐहत। आर्ध्नोत्। ऐक्षिष्यत्। औम्भिष्यत्। चशब्दोऽवधारणार्थः। अट एवैचि यथा स्यात्। यदन्यत्प्राप्नोति तन्मा भूत्। ओङ्कारमैच्छत्। औङ्कारीयत्। "एप्यतोऽपदे" [४।३।४४ "ओमाङोः" [४।३।८२] इति पररूपं प्राप्तम्। आ उढ ओढः ओढमैच्छत् औढीयत्। "ओमाङोः" [४।३।८२] इति पररूपं प्राप्तम्। उस्रामैच्छत् औस्रीयत्। प्रतिपदोक्तपरिभाषानाश्रयणे "उसि" [४।३।८३] इति पररूपं प्राप्तम्।

धावृति गेः ॥४।३।७९॥ आदिति वर्तते। अवर्णान्ताद्गेः ऋकारादौ धौ द्वयोरेक ऐप् भवति। उपार्च्छति। प्रार्च्छति। उपार्ध्नोति। प्रार्ध्नोति। प्रसज्यमान एवैप् "रन्तोऽणुः" [१।१।४८] इति रन्तो भवति। गेरिति किम्? खट्वर्च्छति। प्रगता ऋच्छका अस्मिन् देशे प्रर्च्छको देशः। ऋतीति किम्? प्रेक्षते। तपरकरणं किम्? उप ऋकारीयति उपकरीयति। "वा सुपि" [४।३।८०] इति विकल्पः प्रसज्येत। गेरिति निर्देशाद् धुग्रहणे लब्धे धाविति किम्? धावेव यथा स्यात् "ऋत्यक" [४।३।१०५] इति प्रकृतिभावो धोर्मा भूत्।

वा सुपि ॥४।३।८०॥ ऋकारादौ सुब्धौ गेरिवर्णान्तस्य वा ऐप् भवति। उपार्षभीयति। उपर्षभीयति। प्रार्षभीयति। प्रर्षभीयति। "गेरध्वन" [४।२।८७] इत्यत्र यथा गिसंज्ञोपलक्षितानां ग्रहणं तथेह मा भूदिति धुग्रहण-मनुवर्तते। प्रर्षभं वनम् इत्यत्र न भवति।

एङि पररूपम् ॥४।३।८१॥ आदिति वर्तते। गेर्धाविति च। अवर्णान्ताद्गेः एङादौ धौ पररूपमेकादेशो भवति। उपेलयति। प्रेलयति। उपोषति। ऐपि प्राप्ते "वा सुपि" [४।३।८०] इत्यपि वर्तते। उपेलकीयते। उपैलकीयते। उपोदनीयति। उपौदनीयति। एङि परमिति सिद्धे रूपग्रहणादिष्ट लभ्यते। "एवे चानियोगे पररूपम्" [वा०] इहेव। क्वेव। अनियोग इति किम्? इहैव भव माऽन्यत्र गाः। "शकन्ध्वादिषु पररूपम्" [वा०] शकन्धुः। कर्कन्धुः। कर्क अन्धु कर्कन्धु। कुलटा। सीमन्तः केशेषु। सीमान्तोऽन्यत्र। "ओत्वोष्ठयोः से वा पररूपम्" [वा०] स्थूलोतुः। स्थूलौतुः। बिम्बोष्ठी। बिम्बौष्ठी। "नासिकोदरौष्ठ" [३।१।४८] इत्यादिना ङी। स इति किम्? वाक्ये मा भूत्। परमोष्ठ देवदत्त।

ओमाङोः ॥४।३।८२॥ गेरिति निवृत्तम्। आदिति वर्तते। ओम् आङ् इत्येतयोः परतोऽवर्णान्तात्पररूपं भवति। का ओमित्यवोचत् कोमित्यवोचत्। योमित्यवोचत्। सोमित्यवोचत् स्त्री। आङि आ ऊढा ओढा। अद्योढा। कदोढा। सोढा स्त्री। आ उप्ता ओप्ता। कदोप्ता। आङनाङोरेकादेशः तद्वदित्याङ्ग्रहणेन गृह्यते। गिव्योर्यत्कार्यं तदन्तरङ्गमिति पूर्वमाङः परेण योगः। मर्यादाभिविध्योश्च परेण योगे सति पूर्वेण सह एच्यैप् प्रसज्येत। आ ऋणात् अर्णात्। अद्यर्णात्। आङीति पररूपम्। ननु मध्येऽपवादोऽयमेच्यैपो बाधकः कथमुत्तरस्य स्वेऽको दीत्वस्य स्वेऽको दीत्वेऽपीदमनुवर्तत इति तस्यापि बाधा।

उसि ॥४।३।८३॥ उसि परतोऽवर्णान्तात्पररूपं भवति। भिन्द्युः। छिन्द्युः। अपुः। अदुः। "आत" [२।४।६०] "लङो वा" [२।४।६१] इति जुस्। लिङादेशे उसि प्रयोजनं नास्तीति जुसो ग्रहणम्। नोद्या। कोपिता इत्यत्र अनर्थकत्वाल्लाक्षणिकत्वाच्चाग्रहणम्। आदित्येव। अबिभयुः।

एप्यतोऽपदे ॥४।३।८४॥ अकारस्य पररूपं भवति एप्यपदे परतः। पचन्ति। पचे। एपीति किम्? अपचे। आदिति वर्तमाने अत इति तपरकरणं किम्? यान्ति। वान्ति। अपद इति किम्? दण्डाग्रम्। पदादिरयमेप्।

डाजर्हस्येताघतः ॥४।३।८५॥ डाजर्हस्य योऽच्छब्दस्तस्येतौ पररूपं भवति। पटत् इति पटिति। छुपत् इति छुपिति "नानर्थकेऽन्त्येऽल्लोऽन्त्यविधिः" [प०]। इति सर्वस्यातः परत्वम्। डाजर्हस्येति किम्? अदित्याद् अदिति। अव्यक्तानुकरणैकाचौ डाजमुत्पादयतः। इताविति किम्? पटदत्र। अत इति किम्? छुपिदिति

न म्रेस्तो वा ॥४।३।८६॥ म्रिमजकस्य योऽच्छब्दस्तस्येतौ पररूपं न भवति तकारस्य तु वा भवति। पटत् इति पटत्पटेति। पटत्-पटदिति। छुपच्छुपेति। छुपच्छुपदिति। "वीप्सा" [५।३।३] आदि सूत्रेण द्वित्वम्। समुदायानुकरणे भवत्येवातः पररूपम्। पटत्पटिति।

म्रौ डाचि नित्यम् ॥४।३।८७॥ डाजन्ते म्रौ परतो डाजर्हस्यातस्तकारस्य नित्यं पररूपं भवति। पटपटाकरोति। इदमेव ज्ञापकम्। टिखात्पूर्वं "डाचि" इति द्वित्वम्।

स्वेऽको दीः ॥४।३।८८॥ अकः स्वेऽचि परतो दीर्भवति। द्वयोरेक इति वर्तते। लोकाग्रम। विद्यान्त.। कवीन्द्रः। मधूदकम्। पितॄषभः। स्वे इति किम्? दध्यत्र। अक इति किम्? एप्यतोऽपदे इत्यनुवृत्तौ अग्नये। नावाविल्यत्रैकारौकारयोर्दीत्वे द्वयोरैक्य प्रसज्येत। यथा मागता। अचीत्येव। दधि शीतम। दीत्ववचनं त्रिमात्राद्यादेशप्रतिषेधार्थम्।

सुटि पूर्वस्वम् ॥४।३।८९॥ अको दीरचीति वर्तते। अचि सुटि परतः पूर्वस्य दीर्द्वयोरेको भवति। अग्नी। वायू। "एप्यतोऽपदे" [४।३।८४] इत्यनेन अकारे परतः पररूपविधि. स्वेऽको दीत्वमनन्तर बाधते नोत्तरं सुटि पूर्वस्वदीत्वम्। पूर्वग्रहणम् अग्नीत्यादिषु परस्वदीत्वनिवृत्त्यर्थम्। अक इत्येव। रायो। राय.। द्वयोरेकत्व स्यात। अचीत्येव। देवः।

शसि ॥४।३।९०॥ शसि परत. पूर्वस्य दीर्भवति। मालाः। बुद्धी.। कुमारी.। धेनू. पश्य।

नश्च पुंसि ॥४।३।९१॥ शसि परत. पूर्वस्य दीर्भवति नकारश्चान्तादेश. पुंसि गम्यमाने। देवान्। कवीन्। पटून्। कर्तॄन्। पुमीति लिङ्गनिर्देशः। लिङ्ग च प्रत्ययधर्म.। वस्तुधर्मं मन्यमति वा यत्र शब्द पुंलिङ्गाकारं प्रत्ययं जनयति तस्मिन् प्रत्ययधर्मे पुंसि गम्ये नकारो भवति। वस्तुनि नपुंसकेऽपि। षण्ढान् पश्य। स्त्रीरूपेऽपि वस्तुनि दारान् पश्य। स्थूणान् पश्य। अरण्यान् पश्य। स्थूणाः अरण्याः आर्यानि गर्गादिष्वायन्, तस्य बहुत्वे "यञञो" [१।४।१३५] इत्युप्। "हृद्युप्" [१।१।८] इति सौत्रस्य दापो निवृत्तौ शस्न (शसो न)। इह च पुंलिङ्गाकारप्रत्ययाभावात् सत्यपि प्राणिधर्मे पुंस्त्वे न भवति। चञ्चा पश्य। वधिका पश्य। चञ्चा इव चञ्चाः चञ्चाम्भूतान पुरुषान पश्येत्यर्थः। स्त्रीत्वेऽपि भवति अनुमान पश्य। अयत्नपि वस्तुधर्मे नस्य वृत्तान् पश्य।

नेच्यात् ॥४।३।६२॥ इचि सुटि परतोऽवर्णान्तात्पूर्वस्य दीर्न भवति । इन्द्रौ । चन्द्रौ । विगे । अद्धे । इत्यत्र परत्वादुत्तरसूत्रेण प्रतिषेधो न्याय्यः । इचीति किम् ? देवाः । आदिति किम् ? अग्नी ।

यो जसि च ॥४।३।६३॥ आदिति नाधिकृतम् । यन्ताज्जसिचि च परतः पूर्वस्य दीर्न भवति । कुमार्यौ । कुमार्यः । वामोर्वौ । वामोर्वः । विधे । शुद्धे । माला इत्यत्र "स्वेको दीः" [४।३।८८] इति दीत्वं द्रष्टव्यम् । च इति स्पष्टार्थं वचनम् । इचि प्रसङ्गयाऽपि अवर्णस्य यत्रनेन प्रतिषेधः स्यान्नेच्यादिति सूत्रमनर्थकं स्यात् । कवयः । पटव इत्यत्र जसि परत्वादेपा भवितव्यम् । देवाः । अग्नी । वायू इत्यत्र "सुटि पूर्वस्वम्" [४।३।८६] इति सुड्ग्रहणसामर्थ्याद्दीत्वम् ।

पूर्वोऽमि ॥४।३।६४॥ अकोऽमि परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । देवम् । कविम् । मालाम् । भानुम् । पूर्वग्रहणं पूर्वस्य दीत्वप्रतिषेधार्थम् । पूर्वरूपं यथा स्यात् । यदि पूर्वः प्रो द्वयोरेकादेशः प्रो भवति अथ दीसञ्ज्ञो दीर्भवति । अचीत्यनुवर्तनान्मकारस्य पूर्वस्य न भवति । अक इत्येव । रायम् । नावम् । सुटीत्येव । अचिनवम् । असुनवम् ।

जेः ॥४।३।६५॥ जेरचि परतः परः पूर्वो भवति । इष्टः । उप्तः । गृहीतः । जिविधानसामर्थ्याद्यणादेशो न स्यात् । पूर्वत्वं पुनर्लभ्येत । इद शकह्वे शकह्वर्थमिति वोरधः (ओरचः) प्रत्यासन्नस्य पूर्वत्वे कृते पुनः पूर्वत्वं न भवति ।

एङोऽति पदान्तात् ॥४।३।६६॥ एङः पदान्तादति परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । मुनेऽनघ । साधोऽनघ । एङ इति किम् ? दध्यत्र । अतीति किम् ? पटविह । तपरकरणं किम् ? पटवायाहि । पदान्तादिति किम् ? नयनम् । मुनयः ।

ङसिङसोः ॥४।३।६७॥ एङोऽति वर्तते । एङो ङसिङसोरति परतो द्वयोरेकः पूर्वो भवति । अपदान्तोऽयमारम्भः । कवेरागच्छति । कवेः स्वम् । पटोरागच्छति । पटोः स्वम् । ङसिङसोरेङश्च यथासङ्ख्यं न भवति । "ओरावश्यके" [२।१।१०२] "ओः पुयण्ज्ये" [५।२।१७८] इति ङसिना ङसा च निर्देशात् ।

ऋत उत् ॥४।३।६८॥ ङसिङसोरति परत ऋत उद्भवति द्वयोरेक इत्येव । कर्तुरागच्छति । कर्तुः स्वम् । उभो स्थान आदेशोऽन्यतरेण व्यपदेशं लभते इति "रन्तोऽणुः" [१।१।४८] इति रन्तत्वम् । "रात्सः" [५।३।४२] इति सलम् । ङसिङसोः सकारस्य वा रित्वविसर्जनीयौ रन्तत्वं दुरुपपादं चेत् । ऋत इति तपरकरणं किमर्थम् ? "ओऽचात्" [१।२।४७] इत्यादावनुकरणस्य द्विमात्रस्य माभूत् । उदिति तपरकरणं स्पष्टार्थम् ।

ख्यत्यादतः ॥४।३।६६॥ ख्यत्यात्परयोर्ङसिङसोरत उद्भवति । ख्यत्यादिति खीखिशब्दयोस्तीतिशब्दयोश्च यणादेशे कृते आगन्तुनाऽऽकारेणानुकरणनिर्देशः । सख्युरागच्छति । सख्युः स्वम् । पत्युरागच्छति । पत्युः स्वम् । अतीत्यनुवर्तमानेऽत इति स्थानिनिर्देशो द्वयोरेकस्य निवृत्त्यर्थः । ख्यत्यादिति विकृतनिर्देशः किम् ? यणादेशाभावे मा भूत् । अतिसखेरागच्छति । अतिसखेः स्वम् । अतिपतेरागच्छति । अतिपतेः स्वम् । "रवसखि" [१।२।६७] इत्यत्र पर्युदास आश्रितः सखिशब्दादन्यः समुदायः सुसञ्ज्ञो भवति । इदं च विकृतनिर्देशस्य प्रयोजनम् । सह खेन वर्तते इति सखः सखमिच्छतीति सखीयति सखीयतेः क्विप् । अतः स्वम् । "वलि य्वो खम्" [४।३।५५] इति यकारस्य खम् । यत्नविधि प्रत्ययस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधः । ननु "वर्णाश्रये नास्ति स्थानिवत्त्वम्" [प०] इति वचने स्थानिवत्त्वेनापि क्विपो नष्टस्य वलादित्वं नास्ति क्वावुपसङ्ख्यानमित्यदोषः । ङसिङसोः ... भवति । तथा लून्यु । पून्यु । लूनमिच्छति पूनमिच्छति । लूनीयतेः क्विबन्तस्य ... । ...ल्वादुत्वं भवति ।

रेरद्वसोः ॥४।३।१००॥ अत इत्यस्यार्थात्कान्तता । अतः परस्य रेरुत्व भवति अकारे हमि च परतः । इन्द्रोऽत्र । यशोऽत्र । इन्द्रो भवति । यशो भाति । रेगश्रयातिसङ्गत्वम् । "सम्जुषो रिः" [५।३।७६] इति रेरनुबन्धकरणादिह सत्कस्य (सकारस्य) रेरुत्वं न भवति । अरिनाशः । मानुबन्धकनिर्देशः किमर्थ. ? स्वरत्र । प्रातर्भवति । अङ्मोगिति किम् ? इन्द्र इह । यश. शोभते । अदिति तपरकरण किम ? दीपयोः परतो मा भूत् । इन्द्र आयाति । तिष्ठतु पय आ३ स्वदत । "अनृतोऽनन्तस्य" [५।३।६४] इत्यादिना पः । "प्रकृत्याऽचि दिपाः" [४।३।१०३] इति प्रकृतिवचन ज्ञापक सन्धिकार्ये पः सिद्ध इति प्रग्रहणेनाग्रहणम । अत इन्द्रेत्र । मुनिरमौ । अनुवर्तमानस्यातः तपरकरण किम् ? स्वग्रहण माभूत् । देवा अत्र । आगच्छ स्थूलशिरा अत्र ।

गोरिन्द्रेऽवङ् ॥४।३।१०१॥ अचीति वर्तते । गोः इन्द्रस्थेऽचि परतोऽवङादेशो भवति । गवामिन्द्रः गवेन्द्रः । ङित्करणमन्त्यादेशार्थम् । अचीत्वप्राधान्यात्तदादावपि भवति । गवेन्द्रकुलम् ।

विभाषाऽन्यत्र ॥४।३।१०२॥ इन्द्रशब्दादन्यत्र शब्दे गोऽच्, तस्मिन् विभाषया गोरवङादेशो भवति । गवाग्रम् । गोऽग्रम् । गवाजिनम् । गोऽजिनम् । विभाषाग्रहणादिह नित्य भवति । गवाक्षः ।

प्रकृत्याऽचि दिपाः ॥४।३।१०३॥ दिसज्ञाः पसज्ञाश्च अचि परतः प्रकृत्या भवन्ति । मुनी इमौ । पटू इह । अधीयेते आगमम् । अमी अत्र । "ईदूदेद्‌दिद्वि" [१।१।२०] "म्र" [१।१।२१] इति च दिसज्ञा । पः खल्वपि देवदत्त ३ अत्र त्वमसि । जिनदत्त ३ इदमानय । पविधिराश्रयात्सिद्ध. । नेति कर्तव्ये प्रकृतिग्रहण कृत्स्नस्य स्वरसन्धेः प्रतिषेधार्थम् । अचीत्यनुवर्तमाने पुनरज्ग्रहण किम् ? परमचमाश्रित्य यत्कार्यं क्रियते तत्र प्रकृतिभावो यथा स्यात् । पूर्वमचमाश्रित्य यत्क्रियते तत्र माभूदित्येवमर्थम् । जानु उ अस्य रुजति । जानु अस्य रुजति । जान्वस्य रुजति । "निरेकाजनाङ्" [१।१।२२] इत्युकारस्य दिसज्ञा । पूर्वेण मह स्वेऽको दीर्घे कृते । एकादेशो दिग्रहणेन गृह्यते । इति यणादेशस्य प्रकृतिभावः प्राप्तः । "मयो वो" [५।४।१५] इति वकारादेश. ।

विभाषेकोऽस्वे प्रश्च ॥४।३।१०४॥ इकोऽस्वेऽचि परतो विभाषया प्रकृत्या भवन्ति प्रादेशश्च प्रकृतिभावे । दधि अत्र । दध्यत्र । कुमारि अत्र । कुमार्यत्र । विभाषाग्रहण व्यवस्थितविभाषार्थम् । तेन दिपाना मस्वेऽचि अनेन प्रकृतिभावविकल्पः प्रादेशश्च न भवति । पटू अत्र । देवदत्ता ३ इहान्वसि । सविधौ च न भवति । व्याकरणम् । न्याय्य. । न्यासः । कुमार्यर्थ. । अस्व इति किम् ? दधीदम् । कुमारीयम् ।

ऋत्यकः ॥४।३।१०५॥ ऋकारे परतोऽको विभाषया प्रकृत्या भवन्ति पश्च भवति यदा प्रकृतिभाव । खट्व ऋश्यः । खट्वर्श्यः । माल ऋश्य । मालर्श्य. । स्वेऽपि भवति । पितृ ऋश्यः । अन्यत्र पूर्वेणैव सिद्धम । व्यवस्थितविभाषानुवर्तनादिह न भवति उपार्ध्नोति । प्रार्ध्नोति । ऋतीति किम् ? दण्डाग्रम । मालाग्रम । तपरकरणं किम ? देवदत्ताया ॠकार. देवदत्तर्कारः । दीपयो. परतो मा भूत् ।

दिव उत् ॥४।३।१०८॥ "एङोऽति पदान्तात्" [४।३।६६] इत्यतः पदग्रहणमनुवर्तते। दिवित्येतस्य पदस्योकारादेशो भवति। द्युभ्याम्। द्युभिः। पदस्येति किम्? दिवा। दिवे। "निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य" [प०] इति मृद एव दिवेर्डिविल्वनन सिद्धस्य ग्रहणं न घोरुकारानुबन्धकस्य। अक्षद्युभ्याम्। अक्षद्युभिः। दिव्यते. क्विप्। "च्छ्वोः शूट् च" [४।४।१७३] इति ऊठ्। उदिति तपरकरणं किम्? यावताऽर्धमात्रस्य हलः स्थाने आनन्तर्यान्मात्रिक एव भविष्यति। "च्छ्वोः शूट् च" इत्यत्र क्ङितीत्यनुवर्तनादूठोऽपि निवृत्त्यर्थं नोपपद्यते। इहाद्यौनां भवतीति च्वावागते निवृत्ते भ्रु (भ्रि)स्तजकस्य दिव उत्त्वे कृते द्यु भवतीति "च्वौ" [५।२।१३५] इति दीत्व निवृत्त्यर्थम्।

हल्येतत्तदोऽरनञ्सेऽकोः सुखम् ॥४।३।१०९॥ सन्धाविति वर्तते। एतत्तदोरककारयोर्हलि परतः सुख भवत्यनञ्से। एष ददाति। स ददाति। हलीति किम्? एषोऽत्र। सोऽत्र। एतत्तदोरिति किम्? को दाता। यो धन्य। अनञ्स इति किम्? अनेषो ददाति। असो ददाति। अनञ्स इति प्रसज्यप्रतिषेधः। पर्युदासे हि उत्तरपदार्थप्रधानवृत्त्यन्तर एव सुख स्यात्। परमैष ददाति। परमस ददाति। केवलयोरनञ्स इति किम्? वाक्ये भवत्येव। नैष ददाति। नस ददाति। अकोरिति किम्? एषको ददाति। सको ददाति। "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" [प०] इति प्राप्तिः। सग्रहणं किम्? एतौ तौ चरतः। एतत्तदोरिति द्वित्वनिर्देशाद् वाया एक मुग्र्ह्यते। ईषो बहुत्वे हि एतत्तेषामिति ब्रूयात्। सुखमिति गमकत्वात्सः।

सम्पर्युपात्कृञः सुड्भूषे ॥४।३।११०॥ सम्, परि, उप इत्येतेभ्यः परस्य कृञः सुडागमो भवति भूषेऽर्थे। संस्करोति। समस्करोत्। संस्कारः। अन्तरङ्गत्वेन द्वित्वाडागमाभ्यां प्राक्सुट्। परिष्करोति। "सिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्" [५।४।५२] इति षत्वम्। पर्यस्करोत्। परिचस्कार। उपस्करोति। उपास्करोत्। उपचस्कार। भूष इति किम्? उपकरोति।

समवाये ॥४।३।१११॥ संसर्गः समुदायो वा समवायः। तस्मिन् समादिभ्यः कृञः सुड् भवति। तत्र न संस्कृतमनित्यम् अत्रापि कारणसमवायो गम्यते।

उपात्प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारे ॥४।३।११२॥ उपात्परस्य कृञः प्रतियत्न वैकृत वाक्याध्याहार इत्येतेष्वर्थेषु सुड् भवति। विद्यमानस्य गुणाधानमपूर्वार्जनं वा प्रतियत्नः। तत्र एधोदकस्योपस्कुरुते। काण्ड शरस्योपस्कुरुते। "प्रतियत्ने कृञ" [१।४।६०] इति कर्मणि ता। विकृतत्वं वैकृतम्। तत्र उपस्कृत भुङ्क्ते। उपस्कृत गच्छति। वाक्यैकदेशो वाक्यगम्यमानार्थस्य वाक्यस्य वाक्यावयवस्य स्वरूपेणोपादानं वाक्याध्याहारः। तस्मिन् उपस्कृत जल्पति। उपस्कृतमधीते। सोपस्कार व्याचष्टे। पदान्तराण्यध्याहृतानि कथयतीत्यर्थः। एष्विति किम्? उपकरोति।

किरतेर्लवे ॥४।३।११३॥ उपादिति वर्तते। उपात्परस्य किरतेर्लवविषये सुड् भवति। उपस्कीर्य मद्रका लुनन्ति। उपस्कार मद्रा लुनन्ति। "णञ्चाभीक्ष्ण्ये" [२।४।८] इति णम्। "वा चेष्टिवेष्ट्योः" [५।२।१६३] इत्यतो विकल्पानुवृत्तेराभीक्ष्ण्येऽपि द्वित्वाभाव. "युड्व्या बहुलम्" [२।३।६४] इति बहुलवचनादनाभीक्ष्ण्ये वा णम्। लव इति किम्? उपकिरति देवदत्त।

वधे प्रतेश्च ॥४।३।११४॥ प्रतेरुपाच्च परस्य किरते. सुड् भवति वधेऽर्थे। प्रतिस्कीर्णं हि ते वृषल भूयात्। उपस्कीर्णं हि ते वृषल भूयात्। अत्र वध. किरतेरभिधेयत्वेन विवक्षितो न विषयतया। तदुक्तम्—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह सैंहीमतनुं तनुं त्वया।
न मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुरोविदार प्रतिचस्करे नखैः॥ [शिशु० १।४७]

इत उत्तरर्थं। वध इति किम्? प्रतिकीर्णं बीजम्। "हनश्च वधः" [२।३।६३] इति हन्तेरचि वध भवति।

चतुष्पाच्छकुनिष्वपाद्धर्षादौ ॥४।३।११५॥ अपात्परस्य किरतेश्चतुष्पात्सु शकुनिषु च यो हर्षादिस्तस्मिन् विषये सुड् भवति। टविधिप्रकरणे "किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणे" [१।२।२३] इत्यत्र स्थितो हर्षादिर्गणो गृह्यते। हर्षे—अपस्किरते वृषभो हृष्टः। जीविकायाम्—अपस्किरते कुक्कुटो भक्षार्थी। कुलायकरणे—अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी। चतुष्पाच्छकुनिष्विति किम्? अपकिरति देवदत्तो हृष्टः। हर्षादाविति किम्? अपकिरति धान्यं काकश्चापलेन।

कुस्तुम्बुरुगोष्पदास्पदाश्चर्यावस्करापस्करापरस्परविष्किरमस्करमस्करिप्रतिष्कशप्रस्कण्वहरिश्चन्द्रपारस्करप्रभृतीनि च ॥४।३।११६॥ कुस्तुम्बुरुप्रभृतीनि पारस्करप्रभृतीनि च शब्दरूपाणि निपात्यन्ते। कुस्तुम्बुरुशब्दो जातौ निपात्यते। कुस्तुम्बुरुर्धान्यकं तृणजातिः। तत्फलान्यपि कुस्तुम्बुरूणि। जातेरन्यत्र कुत्सितानि तुम्बुरूणि। कुत्सितानि तिन्दुकीफलानीत्यर्थः। **गोष्पदशब्दे सुडागमः षत्वं च निपात्यते सेविते।** गवा पदमस्मिन् देशे। गावः पद्यन्ते वाऽस्मिन्निति गोष्पदो देशः। गोष्पदमरण्यम्। असेविते नञ्पूर्वस्य निपात्यते। न विद्यते गवा पदमस्याम् अगोष्पदा अरण्यानी। सेवितत्वप्रतिषेधे हि यत्र सेवितत्वसम्भवस्तत्रैव स्यादन्यत्रासम्भवे न स्यादिति पृथगसेवितग्रहणम्। न विद्यतेऽस्मिन्निति विग्रहात्। प्रमाणे गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्। गोष्पदपूरं वृष्टो देवः। एतेष्विति किम्? गोपदम्। **आस्पदमिति प्रतिष्ठायाम्।** आस्पदमनेन लब्धम्। अन्यत्र आपदापदम्। **आश्चर्यमित्यद्भुतेऽर्थे।** आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत। आश्चर्यमाकाशेऽनिबन्धनानि नक्षत्राणि न पतन्ति। आचर्यं व्रतमन्यत्र। "चरेराङि चागुरौ" [वा०२।१।८७] इति यः। **अवस्कर इति वर्चस्के।** अवपूर्वात्किरतेः कर्मणि "ग्रहवृदृनिश्चिगमोऽच्" [२।३।५२] इति अच्। कुत्सितं वर्चो वर्चस्कम् अन्नमलम्। तत्सम्बन्धाद्देशोऽपि तथोक्तः। अवकरोऽन्यत्र। **अपस्कर इति रथाङ्गे।** अपकीर्यतेऽसावित्यपस्करो रथावयवः। अपकर इत्यन्यत्र। अपरस्पर इति क्रियासातत्ये। अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति। सततं गच्छन्तीत्यर्थः। अपरे परे चेति द्वन्द्वः।

व्यान्तेऽप्यवश्यमोनाशस्तुमः कामे मनस्यपि। हिते तते समो वा ख मांसस्य पचि युड्घञो ॥

इति समो मकारस्य खे। सततशब्दात्स्यणि सातत्यम्। अपरपराः सार्थाः गच्छन्तीत्यन्यत्र। "विष्किर इति शकुनौ सुडागमो वा निपात्यते। विकिरतीति विष्किरः विकिरो वा शकुनिः। "ज्ञाकॄप्री" [४।१।१०८] इत्यादिना कः। सुट् पक्षे "सिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्" [५।४।५२] इति षत्वम्। मस्करमस्करिणो वेणुपरिव्राजकयोः। मस्करो वेणुः दण्डो वा हस्तिदमनः। मस्करी भिक्षुः। मकरो ग्राहः मकरी समुद्रः इत्यत्र। अथवा "**शमस्य करे शमाडः करिशब्दे प्रादेशश्च निपात्यते वेणुपरिव्राजकयोः। प्रतिष्कश इति निपात्यते सहायश्चेत्।**" कश गतिशासनयोरित्यस्य प्रतिपूर्वस्य पचाद्यचि सुडागमः षत्वं च निपात्यते। देशान्तरमहं व्रजामि भवने त्वं प्रतिष्कशः। प्रतिकशोऽन्यः। प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ भवत ऋषी चेत्। प्रकण्वो देशः। हरिचन्द्रो माणवक इत्यन्यः। पारस्करप्रभृतीनां च खौ सुडागमो निपात्यते। पारस्करो देशः। कारस्करो वृक्षः। वनस्पतिश्चेत्रथस्पातीति। रथस्पा नदी। किष्कुः प्रमाणम्। किष्किन्धा गुहा। तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तस्य च। तस्करः। बृहस्पतिः। तत्करो बृहत्पतिरित्यन्यत्र। अजस्तुन्दम्। कास्तीरं च नगरम्। अजतुन्दं कातीरमित्यन्यत्र। प्रात्तुम्पतौ गवि कर्तरि। प्रस्तुम्पति गौः। अन्यत्र प्रतुम्पति स्त्री। पारस्करप्रभृतिराकृतिगणः।

प्रायाच्चित्तिचित्तयोः ॥४।३।११७॥ प्रायात्परयोः चित्तिचित्तयोः सुट् भवति। प्रायस्य चित्तम् प्रायश्चित्तम्। प्रायश्चित्तिः। "स्तोः श्चुना श्चुः" [५।४।११६] इति सुटः श्चुत्वम्।

भादाविदमोऽन्वादेशेऽश् ॥४।३।११८॥ भादौ परत इदमोऽशादेशो भवत्यन्वादेशे। [illegible] क्रियागुणद्रव्यैः सम्बन्धं कृत्वान्येन पश्चात्क्रियागुणद्रव्यान्तरेण सम्बन्धे क्रियमाणेऽन्वादेशोऽनुकथनं भवति। [illegible] इमकाभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता। अथो आभ्यां दिवा च कृता। कुम्भाऽऽभ्यां "[illegible]

ो दः" [४।१।१३०] इत्यकि कृते साकइदमो हलि ल न भवति। "अनाप्यकः" [५।१।१७०] इत्यत्र ककारस्येत्यनुवर्तनात् तेनादेशः। गुणसम्बन्धे इमकस्य छात्रस्य कुलमशोभनम् अथो अस्य शीलमपि। द्रव्य-म्बन्धे इमकस्य राज्ञो जनपदो दुर्विहितः अथो अस्य भृत्याश्चावश्याः।

टौसिप्येनदेतदश्च ॥४।३।११९॥ टा ओस् इप् इत्येतेषु परत एतद् इदमश्च एनदित्ययमादेशो भवति अन्वादेशे। एतेन छात्रेण रात्रिरधीता अथो एनेन निपुणमधीता। एनदादेशे कृते त्यदात्वम्। दकारान्तत्व नपुसके प्रयोजयति। एतयोश्छात्रयोश्शोभन शीलम् अथो एनयो रूपमपि। एत छात्र काव्यमध्यापय अथो एन गणितमपि। एत जैनेन्द्रमध्यापय अथो एन तर्कमपि। एतमर्थिनः संभजन्ते अथो एन मित्राणि च। इदमः खल्वपि अनेन छात्रेण रात्रिरधीता अथ एनेन निपुणमधीता। अनयोश्छात्रयोः शोभन शीलम् अथो एनयो रूपमपि। इम छात्र काव्यमध्यापय अथो एन गणितमपि। इद सरो भ्रमराः सेवन्ते अथ एनद्विहङ्गाश्च। इदमस्टौसोः परतः पूर्वेणाशादेशः प्राप्तोऽन्यत्राप्राप्त एनदादेशः।

ग्यावनुप् ॥४।३।१२०॥ ग्याविति अनुबिति च एतद् द्वितयमधिकृत वेदितव्यम्। "ज्योतिरुद्गतौ" [१।२।३६] इति निर्देशान्न सामान्येन ग्यावनुप्। प्राग्गोरधिकाराद् ग्याविल्यधिकारः। अनुबधिकारः प्रागानङः। वक्ष्यति "कायाः स्तोकादेः" [४।३।१२१] स्तोकान्मुक्तः। अल्पान्मुक्तः। "स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्ते" [१।३।३४] इति पस.। द्वित्वबहुत्वयोरनभिधानान्न सः। अभिधानेन भवति। गोषुचरः। वर्षासुजः इति। ग्याविति किम्? निष्क्रान्तः स्तोकान्निःस्तोकः। "आनङ् द्वन्द्वे" [४।३।१३८] इति ग्यावानङादेशः। होता-पोतारौ। नेष्टोद्गातारौ। ग्यावित्येव। होतारौ। होतृभ्याम्। सुपि माभूत्। "इकः प्रो ङ्याः" [४।३।१७२] इति प्रादेशो ग्यौ। ग्रामणिपुत्र.। सेनानिपुत्रः। सुपि माभूत्। ग्रामणीभ्याम्।

कायाः स्तोकादेः ॥४।३।१२१॥ स्तोकादिभ्यः परस्याः काया अनुप् भवति ग्यौ। "स्तोकान्तिक-दूरार्थकृच्छ्रं क्तेन" [१।३।३४] इत्यत्र स्थितः स्तोकादिर्गृह्यते। "स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्रं क्तेन" इति सः। अपादानलक्षणेय का। काया इति किम्? स्तोकेन मुक्तः स्तोकमुक्त.। स्तोकादेरिति किम्? वृकाद्भय वृकभयम्। कथ ब्राह्मणाच्छसी ऋत्विग्विशेषः। उच्यते रूढशब्दोऽय गोशब्दवदस्य व्युत्पत्तिः। ब्राह्मणा-दध्याहृत्यावयवमर्थं वा शसतीत्येवशीलः ब्राह्मणाच्छसी। अपादाने का। "साधनं कृता" [१।३।२६] इति पसः। "वे कृति बहुलम्" [४।३।१३२] इत्यनुप्।

भाया ओजस्सहोऽम्भस्तपोऽञ्जसः ॥४।३।१२२॥ ओजस्, सहस्, अम्भस्, तपस्, अञ्जस् इत्येतेभ्य. परस्या भाया अनुप् भवति। अञ्जसा कृतम्। सहसा कृतम्। अम्भसा कृतम्। तपसा कृतम्। "साधनं कृता बहुलम्" [१।३।२६] इति पसः।

खौ मनसः ॥४।३।१२३॥ खुविषये मनसः परस्या भाया अनुप् भवति। मनसा गुप्ता। मनसा गता। करणे भा। खाविति किम्? मनोदत्ता।

आज्ञायिनि ॥४।३।१२४॥ आज्ञायिनि ग्यौ मनस परस्या भाया अनुप् भवति। मनसा आजानाति-त्येवशीलो मनसाऽऽज्ञायी। करणवपि यत्नोऽयम्। "पुंसाऽनुजो जनुषान्ध इत्यनुवक्तव्यः" [वा०]। अनुजातोऽनुजः। पुसा हेतुना करणेन वा अनुज पुसाऽनुजः। "साधन कृता" [१।३।२६] इति पसः। यदा पुमास-मनुजातस्तदा पुमनुज इति। जनुषा जन्मनाऽन्धो जनुषान्ध.। "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०] इति भा। "भा गुणोक्तयार्थेनोनैः" [१।३।२७] इति स।

डङ्यात्मनः ॥४।३।१२५॥ डङन्ते ग्यौ आत्मनः परस्या भाया अनुब् भवति। आत्मना पञ्चमः आत्मना षष्ठः। "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" [वा०] इति भा। डङन्तेन भान्तस्य सविधेरिदमेव ज्ञापकम्। गम्यमानक्रियापेक्षया करणे वा भा। आत्मना कृतः पञ्चमः आत्मना पञ्चमः कथमयं प्रयोगः। जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव। बमोऽयम्। आत्मा चतुर्थः। व्यपदेशिवद्भावादन्यपदार्थत्वम्। यथा चारुशरीरः शिलापुत्रक इति।

ङेः खौ पराच्च ॥४।३।१२६॥ खुविषये पराच्चात्मनश्च परस्य ङेरनुब् भवति। प्रतिपदोक्तस्य ङेर्ग्रहणम्। परस्मैभाषः। परस्मैपदम्। आत्मनेभाषः। आत्मनेपदम्। ताडर्थ्येऽनुक्ता। आत्मार्थं पदमात्मनेपदम्। सविधेरिदमेव ज्ञापकम्। असदर्थार्थं इति विकृतेः प्रकृत्या षस उक्तः।

ईपोऽद्धलः ॥४।३।१२७॥ अदन्ताद्धलन्ताच्च सामर्थ्यान्मृदः परस्या ईपोऽनुब् भवति खुविषये। अरण्येतिलकाः। अरण्येमाषकाः। वनेकिंशुकाः। वनेबल्वजकाः। वनेहरिद्रकाः। पूर्वाह्णेस्फोटकाः। कूपेपिशाचकाः। "खौ" [१।३।२८] इति षसः। हलन्तात्। त्वचिसारः। दृषदिमाषकः। युधिष्ठिरः। निपातनाद्‌षत्वम्। युविष्ठिरः। नन्ववादेशेऽन्तरङ्गे कृते हलन्तता न। "अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उब्बाधते" [प०]। अन्यथा नदीकुक्कुटिकादिषु यणादेशे सत्यनुप् प्रसज्येत। अद्धल इति किम्? नद्या कुक्कुटिका। भूमिशर्करा। भूमपाशः। "अखौ हृद्द्युभ्यामिवर्थे ईप् तस्याश्चानुब् वक्तव्यः" [प०]। हृदिस्पृक्। दिविस्पृक्। न वक्तव्यः। यो हि हृदयं स्पृशति। "पे कृति बहुलम्" [४।३।१३२] इत्यनुप्। स चानुप् हृदिति प्रकृत्यन्तरं यत्तस्माद्भवति। "अप्सुमति चाखौ वक्तव्यम्" [वा०]। अप्सुमान् "अप्सव्य इत्यादावपि वक्तव्यः" [वा०]। अप्सु भवोऽप्सव्यः। अप्सुयोनिः।

कारे प्रायः ॥४।३।१२८॥ यूथे गृहे क्षेत्रे धान्याद्यं वस्तु रक्षानिर्देशार्थं यदवश्यं राज्ञे देयं स कारः। तद्वाचिनि ग्यौ ईपोऽनुब् भवति खौ प्रायः। खाविति वर्तते। अद्धल इति च। अदन्तात्। स्तूपे शाणः। मुकुटे कार्षापणः। हले द्विपदिका। हले त्रिपदिका। द्वौ द्वौ पादौ देयौ। "वीप्सादण्डत्यागे वुन्" [४।२।१०] इति वुन्। "खौ" [१।३।२८] इति षसः। हलन्ताद्—दृषदि माषकः। समिधि माषकः। खुविषये पूर्वेणैव सिद्धे प्रायोग्रहणार्थमेतत्। तेन कारे कचिदनुप्न भवति। यूथे पशुः। यूथपशुः। यूथे वृषः। यूथवृषः। "खौ" [१।३।२८] इति षसः। कार इति किम्? अभ्यर्हिते पशुः। कारादन्यस्य देयस्य नामैतत्। उप् युपि पशुरि— इत्यर्थः। "ईपोऽद्धलः" [४।३।१२७] इत्यनेनापि कारग्रहणादिहानुप्न भवति। अद्धल इत्येव नद्यां कार्षापणः। मषीकार्षापणः। नदीदोहः। कारसंज्ञा एताः।

हलि ॥४।३।१२९॥ हलादौ कारे ग्यौ ईपोऽनुब् भवति। स्तूपेशाणम्। नियमार्थमिदम्। हलादौ नाजादौ। अविकटोरणः।

मध्यान्ताद्गुरौ ॥४।३।१३०॥ मध्य अन्त इत्येताभ्याम् ईपोऽनुब् भवति गुरौ ग्यौ। मध्येगुरुः। अन्तेगुरुः। सविधेरिदमेव ज्ञापकम्। असञ्ज्ञार्थोऽयं यत्नः।

अकामेऽमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गात् ॥४।३।१३१॥ मूर्धमस्तकवर्जितात्स्वाङ्गात्परस्या ईपोऽनुब् भवति अकामे ग्यौ। कण्ठेकालः। उरसिलोमा। वक्षे गडुः। उदरे मणिः। व्यधिकरणानामपि कचिद्बसः। उरसिलोमा इत्यत्र मत्वर्थीये कृते उरसीत्यनेन योगः। अकाम इति किम्? मुखे कामोऽस्या मुखकामा स्त्री। अमूर्धमस्तकादिति किम्? मूर्धशिखः। मस्तकशिखः।। उभयप्रतिषेधात्स्वमपग्रहणात्। तेन पर्यायान्नुप्। शिरसिशिखः। स्वाङ्गादिति किम्? पानशौण्डः। स्वाङ्गादिति कर्तुमशक्यम्। मूर्धमस्तकपर्युदासेन स्वाङ्गं तत्र नास्ति। तच्चिन्त्ये "अद्रवं मूर्तिमत्" इत्यादिपरिभाषितस्वाङ्गसम्प्रत्ययार्थम्। तेनाप्राणिस्थात्नुप्न भवति। मुखे पुष्पा अस्या मुखपुष्पा शाला। अद्धल इत्येव। अङ्गुलिव्रणः। जङ्घावर्तः। वक्षसिर्मा। अर्थनागमः।

षे कृति बहुलम् ॥४।३।१३२॥ षे कृदन्ते घो बहुलमीपोऽनुब् भवति। बहुलग्रहणं सर्वविकल्पसंग्रहार्थम्। स्तम्बेरम.। कर्णेजपः। "प्रावृड्वर्षाशरत्कालदिवां जेऽनुप्" [वा०] प्रावृषिजः। वर्षासुजः। शरदिजः। कालेजः। दिविजः। न भवति कुरुचरः। मद्रचरः। "इन्सिद्धबध्नातिस्थेषु च न भवति" [वा०] स्थण्डिलशायी। स्थण्डिलवर्ती। "व्रते" [२।२।६८] इति णिन्। साङ्काश्यसिद्धः। काम्पिल्यसिद्धः। चक्रेबन्धनम। चक्रबन्धनम्। समस्थ.। विषमस्थः। कूटस्थः। पर्वतस्थः। समानाधिकरणे च नेष्यते। परमे कारके। "वर्षक्षरशरवराज्जे द्विधा" [वा०] वर्षजः। वर्षेजः। क्षरजः। क्षरेजः। शरजः। शरेजः। वरजः। वरेजः। "शयवासवासिष्वकालवाचिनो द्विधा" [वा०] खशयः। खेशय.। बिलशयः। बिलेशयः। वनवासः। वनेवासः। ग्रामवासः। ग्रामेवासः। नववासी। नवेवासी। ग्रामवासी। ग्रामेवासी। अकालवाचिन इति किम्? पूर्वाह्णेशयः। अपराह्णेशय.। "बन्धे द्विधा" [वा०] हस्तेबन्धः। हस्तबन्धः। स्वाङ्गादिति नित्यं प्राप्तिः। चक्रबन्धः। चक्रेबन्धः। हलन्तो अनुप् प्रतिषेधः प्राप्त.। अहल इत्येव। भूमिशयः। गुप्तिबन्धः। "कृद्ग्रहणे तिकारकपूर्वस्यापि" [प०] अवतप्तेनकुलस्थितम्। उदकेविशीर्णम्। "क्षेपे" [१।३।४१] इति षसः। "क्वचिदन्यत्रापि"। ब्राह्मणाच्छंसी। पूर्वस्यैवाय प्रपञ्चः।

भकालतनेकालेभ्यो वा ॥४।३।१३३॥ भसंज्ञके कालशब्दे तनशब्दे च परतः कालवाचिभ्यः परस्या ईपो वाऽनुब् भवति। भ इति तरतमौ। "तादी भ." [४।१।११७] इति वचनात्। पूर्वाह्णेतराम्। पूर्वाह्णेतरे। अस्मिंश्च पूर्वाह्णे अस्मिन्नतिशयेन पूर्वाह्णे इति विगृह्यते। "द्विविभज्ये तरेयसू" [४।१।११६] इति। अहराश्रयस्य पूर्वस्य प्रकर्षेतरः। अनुप्पदे "किमेत्तिङव्ययभादामद्रव्ये" [४।२।२०] इति एतदन्तात्परो भ इत्याम् भवति। सर्वेषु पूर्वाह्णेषु अतिशयेन पूर्वाह्णे इति विगृह्यते। "तमेष्ठावतिशायने" [४।१।११४] इति तमः। पूर्वाह्णेतमाम्। पूर्वाह्णेतमे भुङ्क्ते। पूर्वाह्णेकाले "विशेषणं विशेष्येणेति" [१।३।५२] षसे कृते। पूर्वाह्णेकाले पूर्वाह्णकाले गतः। पूर्वाह्णे जातो भवो वा पूर्वाह्णेतनः। पूर्वाह्णतन.। "वा पूर्वापराह्णात्" [३।२।१४१] इति तनट्। इदमेव ज्ञापकं सुबन्तात् ट्युत्पत्तेः। कालेभ्य इति किम्? शुक्लतरे। शुक्लतमे। अहल इत्येव। रात्रितरायां गतः। अस्यां च रात्रौ अस्यामतिशयेन रात्राविति। "त्यग्रहणे चाकाय." [प०] इति कान्तात्परौ भतनौ स्वरूपेण गृह्येते न तदन्तविधिना। अपि च "हृदयस्य हृल्लेखयाचलासेषु" [४।३।१६१] इत्यत्राणग्रहणेन सिद्धे लेखग्रहणं ज्ञापकं "द्याविल्यधिकारे त्यग्रहणं स्वरूपग्रहणमेव" [प०]।

ताया आक्रोशे ॥४।३।१३४॥ ताया अनुब् भवति धौ आक्रोशे गम्यमाने। चौरस्य कुलम्। दासस्य कुलम्। वृषलस्य भार्या। "ता" [१।३।७०] इति षसः। आक्रोश इति किम्? मोक्षमार्गः। असूयाविरहे दासकुलमिति भवति। ताया इति योगविभागः। "तेन वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेष्वनुप्" [वा०] वाचो युक्तिः। दिशोदण्ड.। पश्यतोहर.। "ता चानादरे" [१।४।४६] इति ता। "देवानां प्रियादिष्वनुप्" [वा०] देवानां प्रियः। दिवोदास.। आमुष्यायणः। नडादित्वात्फण्। आमुष्यपुत्रिका। आमुष्यकुलिका। मनोज्ञादिपाठाद्वुञ्। "शुनः खौ शेपपुच्छलाङ्गूलेषु" [वा०] शुनःशेफ.। शुनःपुच्छः। शुनोलाङ्गूल.।

पुत्रे वा ॥४।३।१३५॥ पुत्रे धौ ताया वाऽनुब् भवति आक्रोशे। दास्या. पुत्रः। दासीपुत्रः। चौर्याः पुत्र.। चौरीपुत्र.। पूर्वेण नित्यं प्राप्त.।

ऋतो विद्यायोनिसंबन्धात् ॥४।३।१३६॥ ऋकारान्तेभ्यो विद्यासम्बन्धेभ्यो योनिसम्बन्धेभ्यश्च परस्यास्ताया अनुब् भवति। सामर्थ्याद्विद्यायोनिसम्बन्धि धौ। होतुः पुत्र.। होतुरन्तेवासी। पोतुः पुत्रः। पोतुरन्तेवासी। योनिसम्बन्धात्। मातुः पुत्र.। मातुरन्तेवासी। पितु. पुत्रः। पितुरन्तेवासी। ऋत इति किम्? उपाध्यायपुत्र.। मातुलपुत्र.। उपाध्यायशिष्यः। पुत्रशिष्य.। विद्यायोनिसम्बन्धादिति किम्? कर्तृपुत्रः। कर्तृशिष्य.। विद्यायोनिसम्बन्धिध्वादिति किम्? होतृगृहम्। पितृधनम्।

वा स्वसृपत्योः ॥४।३।१३७॥ ऋकारान्तेभ्यो विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः परस्यास्ताया वाऽनुब् भवति स्वसृपत्योः परतः। मातृष्वसा। मातुः स्वसा। मातुः ष्वसा। पितृष्वसा। पितुः स्वसा। पितुः ष्वसा। उपि "मातृपितृभ्यां स्वसुः" [५।४।६६] इति षत्वम्। अन्यत्र "वाऽनुपि [५।४।६७] इति वा षत्वम्। दुहितुः पतिः। दुहितृपतिः। स्वसुः पतिः। स्वसृपतिः। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पः।

आनङ् द्वन्द्वे ॥४।३।१३८॥ ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धादिति वर्तमानम् अर्थात्तान्त सम्पद्यते। ऋका रान्तानां विद्यायोनिसम्बन्धानां यो द्वन्द्वस्तत्र द्यौ पूर्वस्यानङादेशो भवति। होतापोतारौ। नेष्टोद्गातारौ। प्रशास्ताप्रतिहर्तारौ। एककर्तृकर्मणि विद्याकृतः सम्बन्धोऽस्ति। योनिसम्बन्धे मातापितरौ। माताननान्दारौ। नकारोच्चारणं किम्? आ इत्युच्यमाने "रन्तोऽणुः" [१।१।४८] इति रन्तः स्यात्। ऋत इति किम्? पितृपितामहौ। विद्यायोनिसम्बन्धादिति किम्? कर्तृकारयितारौ। सम्बन्धग्रहणं किम्? पितृभ्रातरौ। नात्र विद्यातो योनितो वा परस्पर संबन्धोऽस्ति। मण्डूकप्लुत्या पुत्रग्रहणमनुवर्तते। तेन पुत्रेऽपि द्यौ ऋकारान्तस्य आनङ् भवति। पितापुत्रौ। मातापुत्रौ।

देवताद्वन्द्वे॥४।३।१३९॥ देवतावाचिना च द्वन्द्वे द्यावानङादेशो भवति। इन्द्रावरुणौ। इन्द्रासोमौ। इन्द्राबृहस्पती। सूर्याचन्द्रमसौ। द्वन्द्व इति वर्तमाने पुनर्द्वन्द्वग्रहणं सहवापनिर्देशार्थम्। तेन ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ इत्येवमादिषु शास्त्रे सहदाननिर्देशाभावान्न भवति। इष्टद्वन्द्वपरिग्रहार्थं वा पुनर्वचनम्। अत्यन्तसहचरिते लोकविज्ञाते द्वन्द्वशब्दो निपातितः। ततो लोकप्रसिद्धसाहचर्याणामानङ् भवति। "वायोरुभयत्र प्रतिषेधः इष्यते" [वा०] अग्निवायू। वाय्वग्नी।

सोमवरुणेऽग्नेरीः ॥४।३।१४०॥ सोमवरुण इत्येतयोः परतोऽग्नेरीकारादेशो भवति देवताद्वन्द्वे। अग्नीषोमौ। अग्नीवरुणौ। अन्तस्यालः स्थाने आनङोऽपवाद ईकारः। "स्तुत्सोमौ चाग्ने" [५।४।६५] इति षत्वम्। द्वन्द्वे इत्येव। उपचारादग्निसोमौ माणवकौ।

ऐपीत् ॥४।३।१४१॥ साहचर्यादैप् भाजि द्यौ अग्नेरिकारादेशो भवति देवताद्वन्द्वे। अग्निश्च वरुणश्च देवते अस्या आग्निवारुणी। आग्निमारुतम्। देवतार्थेऽणि उभयोः पदयोरैपि कृते इत्यानङोरपवाद इकारः। "विष्णोः प्रतिषेधो वक्तव्यः" [वा] अग्निश्च विष्णुश्च देवतेऽस्य आग्नावैष्णवम्। आनङेव भवति। ऐपीति किम्? आग्नेन्द्रः। "नेन्द्रस्य" [५।२।०७] इतिद्यो रैप्रतिषेधः।

दिवो द्यावा ॥४।३।१४२॥ दिवो द्यावा इत्ययमादेशो भवति द्यौ देवताद्वन्द्वे। द्यौश्च भूमिश्च द्यावाभूमी। द्यावानक्ते। द्यावाक्षमे। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः।

दिवसश्च पृथिव्याम् ॥४।३।१४३॥ दिवो दिवस इत्ययमादेशो भवति द्यावा च पृथिव्यां द्यौ देवताद्वन्द्वे। दिवस्पृथिव्यौ। द्यावापृथिव्यौ। उच्चारणार्थेनाकारेण निर्देशो रित्वबाधनार्थः।

उषासोषसः ॥४।३।१४४॥ उषस उषासा इत्ययमादेशो भवति द्यौ देवताद्वन्द्वे। उषश्च नक्तं च उषासानक्तम्। उषासानक्ते। नक्तशब्दो मकारान्तो ऽव्ययं नकोऽकारान्तश्च नपुंसकलिङ्गोऽस्ति।

मातरपितरौ वा ॥४।३।१४५॥ मातरपितराविति वा निपात्यौ। मातरपितरौ। द्यौ ऋकारस्यारभावो निपात्यते। पक्षे "आनङ् द्वन्द्वे" [४।३।१३८] इत्यानङि कृते मातापितरौ।

स्त्र्युक्तपुंस्कादनूङेकार्थेऽङट्प्रियादौ स्त्रियां पुंवत् ॥४।३।१४६॥ उक्तपुंस्कात्परो यः स्त्रीत तदन्त एकार्थे द्यौ स्त्रियां वर्तमाने ऊङन्तप्रियादिवर्जिते पुंवद्भवति। स्थानेऽन्तरतम इत्यन्तरतमः पुंशब्दस्तुल्यो भवतीत्यर्थः। दर्शनीया भार्या अस्य दर्शनीयभार्यः। शोभनभार्यः। नाटन्द्रः। स्त्री इति किम्? ग्रामणि कुलं दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिः। उक्तपुंस्कादिति किम्? माता वृन्दारिकः। तथा कल्याणीभार्य कन्दुर। ग्रामणि

हमः। वडवाभार्योऽश्वः। तथा अङ्गारकाः शकुनयः। कालिकाश्चैता स्त्रियः। कालिकाभार्या अङ्गारकाः। नहि द्रुण्यादयः शब्दाः समानायामाकृतौ पुंसि वृत्ताः। पुंवद्भावेऽर्थतः आन्तरतम्ये कच्छपादिप्रयोगः प्रसज्येत। अनूरिति किम्? वामोरूभार्यः। अनूरिति स्त्रीत्यपर्युदासाद् अन्योऽपि स्त्रीत्य एव गृह्यते इति स्त्रीग्रहणमनर्थकं तत्कृतमस्त्रीत्यान्तापि स्त्री पुंवद्भवतीति ज्ञापनार्थम्। ऐडिविडभार्यः। पार्थभार्यः। दारदभार्यः। औसिजभार्य इति सिद्धम्। इडिविड पृथु अनयो राष्ट्रसमानशब्दत्वादपत्यार्थेऽञ्। दरद, उशिजा आभ्या द्व्यञ्मगधेत्यादिनाऽण्। स्त्रियाम् "अतोऽप्राच्यभर्गादेः" [३।१।१५८] इत्यणञोर्लुप्। इडिविडभार्या अस्येति पुंवद्भावे ऐडिविडभार्य इत्यादि। एकार्थ इति किम्? कल्याण्या माता कल्याणीमाता। अडट्प्रियादाविति किम्? कल्याणी पञ्चमा रात्रयः। कल्याणीपञ्चमः। कल्याणीदशमः। "डट्स्त्रीप्रमाण्योरः" [४।२।११६] इत्यः सान्तः। यदि डडन्ता स्त्री तद्गुणसंविज्ञानादिना प्रधानं तदा पुंवद्भावप्रतिषेधः सान्तश्चाकारो वेदितव्यः। इह माभूत् कल्याणपञ्चमीकः पक्षः। कल्याणीमनोज्ञः। प्रिया। मनोज्ञा। कल्याणी। सुभगा। दुर्भगा। भक्तिः। सचिवा। स्वा। कान्ता। समा। चपला। दुहिता। वामा इति प्रियादिः। दृढ भक्तिरस्य दृढभक्तिः। शोभनभक्तिरित्यादौ न पूर्वपदं स्त्रीलिङ्गमिति। तेन प्रियादौ वौ पूर्वस्य टाबाशङ्का न कर्तव्या। स्त्रियामिति किम्? कल्याणी प्रधानमेषा कल्याणीप्रधाना। उक्तः पुमान् समानायामाकृतौ अभिन्ने प्रवृत्तिनिमित्ते जात्यादिके येन शब्देन स तथोक्तः। अथवा उक्तः पुमान् यस्मिन्नर्थे त्यादिके स तथोक्तः। तद्वाच्यपि शब्दं उक्तपुंस्क इति व्युत्पादनं किमर्थम्। द्रोणीभार्यः। कुटीभार्यः। अत्र द्रोणकुटशब्दौ आकृत्यन्तरे पुंलिङ्गौ। कथं गर्गभार्यः, प्रसूतभार्यः। प्रजातभार्यः इति। अत्राप्येकजात्यपेक्षया कथञ्चित्समानाकृतित्वमूह्यम्।

तसादौ ॥४।३।१४७॥ तसादिषु परतः उक्तपुंस्कादनूः स्त्री पुंवद्भवति। आदिशब्दः प्रकारवाची। तस्। त्र। तर। तम। चरट्। जातीय। देश्य। देशीय। कल्प। पाश। रूप। था। थम्। दा। र्हि। थ्य। केषु परतः। तस्यास्ततः। तस्या तत्र। आढ्यतरा। आढ्यतमा। पट्वी भूतपूर्वा पटुचरी। पट्वीप्रकारा। पटुजातीया। ईषदसिद्धा पट्वी पटुदेश्या। पटुदेशीया। वृद्धकल्पा। याप्या वृद्धा वृद्धपाशा। प्रशस्ता वृद्धा वृद्धरूपा। तया प्रकृत्या तथा। कया प्रकृत्या कथम्। तस्या वेलाया तदा। अस्या वेलायाम् एतर्हि। अजार्थे हितम् अजथ्यम्। "अजाविभ्यां थ्य" [३।४।६] इति थ्यः। दरच्छब्दात्के पुंवद्भावे च कृते दारदिका। के पुंवद्भावात्परत्वेन प्रादेश। पटिवका। मृद्विका। बह्वल्पार्थाच्छसि बह्वीभ्यो देहि बहुशो देहि। अल्पाभ्यो देहि अल्पशो देहि। "गुणवचनात्त्वतलो" [वा०] पट्व्या भावः पटुत्वम्। पटुता। गुणवचनादिति किम्? क्षत्रियात्वम्। क्षत्रियाता। कठीत्वम्। कठीता। "भस्य हृत्यढे पुंवद्भावो वक्तव्यः" [वा०]. हस्तिनीना समूहो हास्तिकम्। ईकस्य स्थानिवद्भावाट्टिस न स्यात्। अढ इति किम्? श्यैन्याः अपत्यं श्यैनेयः। रौहिणेयः। कथम् आग्नायी देवता अस्य आग्नेयः? "अग्निकलिभ्यां टण्" [३।२।२८] इति। "ढेऽपि क्वचित्पुंवद्भावो वक्तव्यः" [वा०] "ठण्छसोश्च" [वा०]। भवत्या इद भावत्कम्। भवदीयम्। अवस्थाया पुंवद्भावे "इसुसुक्तः कः" [५।२।७२] इति कादेशः।

क्यङ्मानिनोः ॥ ४।३।१४८ ॥ क्यङि मानिनि च परतः उक्तपुंस्कादनूः स्त्री पुंवद्भवति। एनीवाचरति एतायते। हरिणीवाचरति हरिणायते। मानिनि खौ। इमां दर्शनीया मन्यते दर्शनीयमानी देवदत्तः। "स्वदृक्त्वे लिङ्गविशिष्टस्यापि" [प०]। दर्शनीया मन्यते देवदत्ता जिनदत्तां दर्शनीयमानिनी। एकार्थे स्त्रीलिङ्गे णौ पूर्वेणैव सिद्धः पुंवद्भावः। दर्शनीयामात्मानं मन्यते दर्शनीयमानिनी स्त्री।

न वुट्क्कोडः ॥४।३।१४६॥ वोट्तश्च यः क्वारस्तदुङः स्त्रिया न पुंवद्भावः। वु—पाचिकाभार्यः। कारिकाभार्यः। लाक्षिकीता। लाक्षिकीपाशा। लाक्षिकीयते। लाक्षिकीमानिनी स्त्री। निलेपिकाया धर्म्यं वैलेपिकम्। "कन्महिष्यादेः" [३।३।१६६] इत्यणि कृते "भस्य हृत्यढे" [वा०] इति पुंवद्भावः प्राप्तः। पुंवद्भावे वैलेपिकमिति स्यात्। नाम्नान्तेनाप्र प्रतिषेधः। इह तस्य किम्? मूकभार्यः। जागरूकभार्यः। वराकभार्यः।

डट्रवोः ॥४।३।१५०॥ डडिति प्रत्याहारेण डडन्ता खुश्च स्त्री न पुंवद्भवति। पञ्चमीभार्यः। दशमीभार्यः। पञ्चमीतमः। पञ्चमीपाशः। पञ्चमीयते। पञ्चमीमानिनी। खौ—दत्ताभार्यः। दानक्रिया व्युत्पत्तिद्वारेण संज्ञाशब्देऽप्युक्तपुंस्कत्वमस्ति। दत्तो माणवकः इति पुंवद्भावः प्राप्तः। एवं गुप्ताभार्यः। दत्ततः। गुप्तत.। दत्तिकामानिनी। दत्तिकायते।

ञिण्वृद्रक्तविकारे ॥४।३।१५१॥ रक्तविकारवर्जितेऽर्थे यो हृत् ञिणत् तदन्तस्त्री न पुंवद्भवति। ञित्-औत्सीभार्यः। णित्—स्त्रौघ्नीभार्यः। माथुरीभार्यः। अर्धखार्यां भवा अर्धखारी। "परिमाणस्थानतोऽर्थाद्वा पूर्वस्य" [५।२।२२] नैप्। अर्धखारी भार्या अस्य अर्धखारीभार्यः। वैयाकरणी भार्या अस्य वैयाकरणीभार्यः। स्रौघ्नीतः। स्रौघ्नीपाशा। स्रौघ्नीयते। स्रौघ्नीमानिनी। ञिणदिति किम्? तावतीभार्या अस्य तावद्भार्यः। मध्ये भवा मध्यमा भार्या अस्य मध्यमभार्यः। त्रिपृष्ठायनिभार्यः। त्रिपृष्ठस्यापत्यं स्त्री "फिञ्जोः" [३।१।१४७] इति फिः। "इतो मनुष्यजातेः" [३।१।५५] इति ङी पुंवद्भावः। हृदिति किम्? पुष्पलावी भार्या अस्य पुष्पलावभार्य.। अरक्तविकार इति किम्? कषायेण रक्ता काषायी बृहतिकाऽस्य काषायबृहतिकः। लोहस्य विकारो लौही ईषा अस्य लौहेषो रथः।

अमानिनीत्स्वाङ्गात् ॥४।३।१५२॥ स्वाङ्गात्परो य ईत् तदन्ता स्त्री न पुंवद्भवति अमानिनि खौ। दीर्घकेशीभार्यः। श्लक्ष्णमुखीभार्य.। दीर्घकेशीतः। दीर्घकेशीपाशा। दीर्घकेशीयते। अमानिनीति किम्? श्लक्ष्णमुखमानिनी। ईदिति किम्? पृथुजघनभार्यः। अकेशभार्यः। "न क्रोडादिबह्वचः" [३।१।४६] "सहनञ्विद्यमानात्" [३।१।५०] इति च ङीप्रतिषेधः। स्वाङ्गादिति किम्? पटुभार्यः।

जातिश्च ॥४।३।१५३॥ जातिश्च स्त्री न पुंवद्भवति अमानिनि खौ। कठीभार्यः। बह्वृचीभार्य.। कठीतः। कठीपाशा। कठीयते। "वृद्धं च चरणैः सह" इति वचनाज्जाति.। अमानिनीत्येव। कठमानी। कठमानिनी। चशब्द. किमर्थः? "भस्य ह्रत्यढे" [वा०] इति प्राप्तस्य पुंवद्भावस्य प्रतिषेधो न भवतीत्युक्तसमुच्चयार्थः। तेन हस्तिनीनां समूहो हास्तिकम्।

पुंवद्यजातीयदेशीये ॥४।३।१५४॥ उक्तपुंस्कादनूः स्त्री पुंवद्भवति यसञ्ज्ञके से स्त्रीलिङ्गे यो जातीयदेशीय इत्येतयोश्च परतः। यसे आद्यसूत्रेण पुंवद्भावः सिद्धः। जातीयदेशीययोश्च तसादौ पाठात्। तन्नास्प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थं आरम्भः। "न बुहन्कोड." [४।३।१४६] इत्युक्तं तत्रापि पुंवद्भवति। पाचकवृन्दारिका। पाचकजातीया। पाचकदेशीया। "टट्रवोः" [४।३।१५०] इत्युक्तं तत्रापि भवति। पञ्चमवृन्दारिका। पञ्चमजातीया। पञ्चमदेशीया। दत्तवृन्दारिका। दत्तदेशीया। "ञिण्वृद्रक्तविकारे" [४।३।१५१] इत्युक्तं तत्रापि भवति औत्सवृन्दारिका। औत्सजातीया। औत्सदेशीया। स्रौघ्नवृन्दारिका। स्रौघ्नजातीया। "अमानिनीत्स्वाङ्गात्" [४।३।१५२] इत्युक्तं तत्रापि भवति। दीर्घकेशवृन्दारिका। दीर्घकेशजातीया। दीर्घकेशदेशीया। "जातिः" [४।३।१५३] इत्युक्तं तत्रापि भवति। कठवृन्दारिका। कठजातीया। कठदेशीया। पुंवद्भाववचनात्स्त्रीप्रत्ययस्य निवृत्ति.। उक्तपुंस्कादनूरित्यनुवर्तते। उक्तपुंस्कादिति किम्? मालावृन्दारिका। मालाजातीया। मालादेशीया। कालिकाश्च ता वृन्दारिकाश्च कालिकावृन्दारिका। कालिकाजातीया। कालिकादेशीया। अनूरिति किम्? वामोरूवृन्दारिका। वामोरूजातीया। वामोरूदेशीया। "अटूप्रियादौ" [४।३।१४६] इत्युक्तं। तत्राप्यनेन पुंवद्भवति। कल्याणी चासौ पञ्चमी कल्याणपञ्चमी। कल्याणी चासौ प्रिया कल्याणप्रिया। कल्याणमनोज्ञा। अथात्र कथं पुंवद्भावः, मृग्याः क्षीरम् मृगक्षीरम्, कुक्कुट्या अण्डम् कुक्कुटाण्डम्। [illegible] ? अर्थनिमित्तस्य पूर्वपदस्य समासेन निमित्तत्वाभावात्। [illegible] पुंवद्भावोऽनुक्तः। [illegible]

भरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहते प्रोऽनेकाचः ॥४।३।१५५॥ ईदिति वर्तते। भ, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र, मत, हत इत्येतेषु परतः उक्तपुंस्कात्परो य ईकारः स्त्रीत्यस्तदन्तस्यानेकाचः प्रो भवति। कुमारितरा। कुमारितमा। कुमारिरूपा। कुमारिकल्पा। "तसादौ" इति पुंवद्भाव ईकारादन्यत्र सावकाशोऽनेन प्रादेशेन बाध्यते कुमारिचेली। कुमारिब्रुवा। कुमारिगोत्रा। कुमारिमता। कुमारिहता। चेलट्शब्द. पचादौ पठ्यते। ब्रूञ. टो ब्रुव इहैव निपात्यते। चेलड्ब्रुवगोत्रशब्दाः कुत्सनशब्दाः। "कुत्स्य कुत्सनै." [१।३।४८] इति स.। मतहताभ्यां विशेषणलक्षणो बसः। अनेकाच इति किम्? स्त्रीतरा। स्रितरा। "वा मो." [४।३।१५६] इति विकल्प.। उक्तपुंस्कादिति किम्? आमलकीतरा। बदरीतरा। अनुक्तपुंस्कादपि क्वचिदिष्यते। लक्ष्मितरा। तन्त्रितरा। ईदिति किम्? दत्तातरा। गुप्तातरा। स्त्रीत्य इति किम्? ग्रामणीतरा। सेनानीतरा। वा मोरिति विकल्पे प्राप्ते पुरस्तादपवादोऽयम्।

वा मोः ॥४।३।१५६॥ मुसंज्ञकस्य वा प्रो भवति भादिषु परतः। अनेन विशेषेण विकल्पे प्राप्ते पुरस्तादनेकाच ईकारस्य नित्यः प्रादेश उक्तः। ततोऽन्यदुदाहरणम्। एकाच् ईकारः ऊकारः सर्व.। स्त्रितरा। स्त्रीतरा। स्त्रितमा। स्त्रीतमा। वामोरुतरा। वामोरूतरा। एव रूपादिष्वपि नेयम्। उक्तपुंस्कादनूरिति निवृत्तम्। एकार्थ इत्येतदनुवर्तते। तेन स्त्रिया हत. स्त्रीहत इत्यत्र न प्रादेशः। कृत्स्नशब्दस्य मोर्न भवतीत्येके। लक्ष्मीतरा। लक्ष्मीतमा।

उगितश्च ॥४।३।१५७॥ उगितश्च परस्य मोर्वा प्रादेशो भवति भादिषु परतः। श्रेयसितरा। श्रेयसीतरा। विदुषितरा। विदुषीतरा। चशब्दः पक्षे पुंवद्भावसमुच्चयार्थः। श्रेयस्तरा। विद्वत्तरा। "भरूप" [४।३।१५५] आदिना नित्य. प्रादेशः प्राप्तः पूर्वसूत्राद्वेति व्यवस्थितविभाषाऽपेक्ष्यते। तेनाञ्चतेर्नित्यः प्रादेश.। प्राचितरा।

आन्महतो जातीये च ॥४।३।१५८॥ आकारादेशो भवति महतो जातीये एकार्थे द्यौ च परतः। महाजातीय। महापुरुष.। महत. सन्महत्परमेत्यादिना प्रतिपदोक्ते द्यौ आत्वं सिद्धम्। एकार्थवर्तन बसेऽपि प्रापणार्थम्। महाप्राण। महाबाहुः। जातीये चेति किम्? महतः पुत्रो महत्पुत्र.। आदिति द्विमात्रोच्चारणमुत्तरार्थम्। पुंवद्यजातीयादिसूत्रे पुंवदिति योगविभागात्पुंवद्भावः। इहादिति योगविभागादात्वम्। तेन "महत्या घासकारविशिष्टेषु व्यधिकरणत्येऽपि पुंवद्भावात्वे भवत." [वा०] महत्या घासो महाघास। महत्या कारो महाकार.। महत्या विशिष्टो महाविशिष्टः। अमहान् महान् सम्पन्नो महद्भूतश्चन्द्रमा इत्यत्र च्वौ निवृत्ते "च्विडाजूर्यादि" [१।२।१३२] इति तिसंज्ञा। भूतशब्देन 'तिकुप्रादयः" [१।३।८१] इति षसे कृते गौरत्वाभावादर्थस्याभावा। पूर्वोक्तयोगविभागात्त्विह महतीशब्दस्य पुंवद्भावः अमहती महती सम्पन्ना महद्भूता कन्या।

वा चत्वारिंशदादौ ॥४।३।१६०॥ चत्वारिंशदादौ सङ्ख्यायां यो अनाशीत्योर्द्व्यष्टीना यदुक्तं तद्वा भवति । द्वाचत्वारिंशत् । द्विचत्वारिंशत् । द्वापञ्चाशत् । द्विपञ्चाशत् । अष्टाचत्वारिंशत् । अष्टचत्वारिंशत् । अष्टाषष्टिः । अष्टषष्टिः । त्रयश्चत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत् । अनाशीत्योरित्येव । द्विचत्वारिंशाः । द्व्यशीतिः । अष्टचत्वारिंशाः । अष्टाशीतिः । त्रिचत्वारिंशाः । त्र्यशीतिः । प्राक्शतादित्येव । द्विशतम् । "अष्टनः कपाले हविष्यात्वं वक्तव्यम्" [वा०] अष्टाकपालं हविः । अष्टसु कपालेषु संस्कृतं हव्यं षसः । "संख्यादी रश्च" [१।३।४७] इति रसञः । "संस्कृतं भक्ष्या." [३।२।११] इत्यण् । तस्य "रस्योवनपत्ये" [३।१।७४] इत्युप् । हविषीति किम् ? अष्टानां कपालानां समाहारः अष्टकपालं भिक्षोः । पात्रादित्वान्नपुंसकलिङ्गता । "गवे च युक्ते अष्टनः आत्वं वक्तव्यम्" [वा०] अष्टागवेन शकटेन वहति । अष्टौ गावो युक्ता अस्मिन्निति । अस्मादेव निपातनात् वसेऽपि टः सान्तः । युक्त इति किम् ? अष्टानां गवां समाहारः अष्टगवम् । नेद वक्तव्यम् । आन्महत इति आदिति योगविभागादन्यस्यापीति दीत्वेन वा सिद्धेः ।

हृदयस्य हृल्लेखयाण्लासेषु ॥ ४।३।१६१ ॥ हृदयस्य हृदित्ययमादेशो भवति लेख य अण् लास इत्येतेषु परतः । हृदयं लिखतीति हृल्लेखः । हृदयाय हितं हृद्यम् । "प्राग्यज्ञरथ" [३।४।५] इत्यादिना यः । हृदयस्येदं हार्दम् । हृदयस्य भावो वा युवादिषु "हृदयादसे" [३।४।१२० ग० सू०] इति पाठादण् । अणि घञि वा हृल्लासः । लेख इत्यण्णन्तस्य ग्रहणम् । घञि तु हृदादेशो नेष्यते । हृदयस्य लेखः हृदयलेखः । एव च लेखग्रहणं ज्ञापकम् "दृस्वधिकारे त्यग्रहणे स्वरूपग्रहणं न तदन्तविधि" [प०] "लिप्यके." [४।३।१७६] इत्यत्र खिल्यनन्तरः प्रादेशभाग्नास्तीति तदन्तविधिरिष्टः ।

वा ट्यण्रोगशोके ॥४।३।१६२॥ ट्यण् रोग शोक इत्येतेषु परतो हृदयस्य वा हृदित्ययमादेशो भवति । सौहार्द्यम् । ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वाट्ट्यण् । "हृत्सिन्धुभगे द्वयोः" [५।२।२४] पदयोरैप् । पक्षे सौहृदय्यम् । हृद्रोगः । हृदयरोगः । हृच्छोकः । हृदयशोकः । ननु हृदयशब्देन समानार्थो हृच्छब्दोऽस्ति तेनोभयं सिद्धम् । न सिद्ध्यति । अन्येष्वप्युत्तरपदेषु हृच्छब्दस्य प्रयोगः प्रसज्येत ।

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ॥४।३।१६३॥ पादस्य पद इत्ययमादेशो भवत्याजि आति ग उपहत इत्येतेषु परतः । पादाभ्यामजति पादाभ्यामतति । अजातिभ्यां पाद इण् । वाक्ससः । केवलेन आजिशब्देन "साधनं कृता" [१।३।२६] इति षसः । अतएव निपातनादजेर्विभावाभाव. । पदाजिः । पदातिः । पादाभ्यां गच्छति पदगः । गमेर्डः । पादाभ्यामुपहत. पदोपहतः । पदशब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति तेन सिद्धेऽपि पादशब्दस्यास्मिन् विषये प्रयोगो मा भूदित्येवमर्थम् ।

पद्ये ॥४।३।१६४॥ पादं विध्यन्ति पद्या. शर्कराः । "विध्यत्यकरणेन" [३।२।१६४] इति यः । तादर्थ्ये तु 'पाद्यार्घ्ये' [४।२।२२] इति निपातनमुक्तम् । पादार्थमुदकं पाद्यम् । कथं पादाभ्यां चरति पदिक इति ? "पर्पादेः" [३।३।१३३] पादः पदिति पाठात्सिद्धम् । पूर्वसूत्रे पादस्येति सम्बन्धलक्षणा ता । तेन पादशब्दस्य यो यन्तस्मिन् पदित्ययमादेशो भवति । सामर्थ्यात्पादान्तस्य न भवति । द्वाभ्यां पादाभ्यां क्रीतं द्विपाद्यम् । त्रिपाद्यम् । "पणपादमाषात्." [३।४।२१] इति यः ।

हिमकाषिहतौ ॥४।३।१६५॥ हिम काषिन् हति इत्येतेषु परतः पादस्य पदित्ययमादेशो भवति । पादस्य हिमं पद्धिमम् । पत्काषी । वाक्ससः । पादाभ्यां हति पद्धतिः । "साधनं कृता" [१।३।२६] इति षः । णिनि तदन्तविधिरपि । पदससकाषी ।

ऋचः शे ॥४।३।१६६॥ ऋचः पादस्य शे परतः पद्भवति । पादं पादं गायत्र्या शंसति पच्छो गायत्रीं शंसति । "सङ्ख्यैकार्थाद्वीप्सायाम्" [४।२।४८] इति शस् । ऋच इति किम् ? पादं पादं कार्षापणस्य ददाति पादशः कार्षापणं ददाति । 'त्यादावप्रत्ययस्य ग्रहणम्' [प०] इति शस एव न तस्मिन्नपि न भवति । पादशो गायत्रीं ।

वा निष्कघोषमिश्रशब्दे ॥४।४।१६७॥ निष्क घोष मिश्र शब्द इत्येतेषु परतः पादस्य वा पद्भवति। पादस्य निष्कः पनिष्कः। पादनिष्कः। पद्घोषः। पादघोषः। पन्मिश्रः। पादमिश्रः। "पूर्वावरसदृग" [१।३।२८] इत्यादिना भासः। पच्छब्दः। पादशब्दः।

उदकस्योद घोश्च खौ ॥४।३।१६८॥ उदकस्य उद इत्ययमादेशो भवति घोश्च तस्योदकस्य खुविषये। उदकस्य मेघ उदमेघो नाम यस्यौदमेघिः [पुनः]। उदकं वहतीत्युदवाहो नाम यस्योदवाहिः पुत्रः। अपत्येन पिता लक्ष्यते। उदकस्य घोष उदघोषः। लोहितोदा क्षीरोदा नदी। खाविति किम्? उदकपर्वतः।

पेषमि ॥४।३।१६९॥ पेषमि ञो उदकस्य उद इत्ययमादेशो भवति। उदकेन पिनष्टि उदपेषं पिनष्टि नगरम्। "स्नेहने पिषः" [२।४।२७] इति णम्। कथम् उदवास उदवाहनः उदधिरिति? सज्ञाशब्दा अमी पूर्वेण सिद्धाः। कथमुदधिर्घटः? उपमानाद्भविष्यति।

वैकहलि पूर्ये ॥४।३।१७०॥ एकोऽसहायस्तुल्यजातीयेन यो हल् तदादौ ञौ पूर्ये उदकस्य वा उद इत्ययमादेशो भवति। उदकस्य कुम्भः उदकुम्भः। उदककुम्भः। उदघटः। उदकघटः। उदपात्रम्। उदकपात्रम्। एकहलीति किम्? उदकस्थालम्। पूर्ये इति किम्? उदकगिरिः। अखावप्राप्ते विभाषेयम्।

मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहे ॥४।३।१७१॥ मन्थ ओदन सक्तु बिन्दु वज्र भार हार वीवध गाह इत्येतेषु परत उदकस्य वा उद इत्ययमादेशो भवति। अपूर्यार्थोऽयं यत्नः। उदमन्थः। उदकमन्थः। उदकेनौदनः उदौदनः। उदकौदनः। उदकेन सक्तुः उदसक्तुः। उदकसक्तुः। "भक्ष्यान्नाभ्यां मिश्रणव्यञ्जने" [१।३।२०] इति भासः। उदबिन्दुः। उदकबिन्दुः। उदवज्रः। उदकवज्रः। उदभारः। उदकभारः। उदहारः। उदकहारः। उदवीवधः। उदकवीवधः। उदगाहः। उदकगाहः। मन्थभारहारा अणन्ता घञन्ता वा।

इकः प्रोऽङ्याः ॥४।३।१७२॥ इगन्तस्य ञौ वा प्रो भवत्यङ्याः। ग्रामणिपुत्रः। ग्रामणीपुत्रः। यवलुपुत्रः। यवलूपुत्रः। अलाबु कर्कन्धु दम्भु फलम्। अत्र पूर्वपूर्वस्य प्रादेशे सति उत्तरेण सविधिः। इक इति किम्? खट्वापादः। मालापादः। अङ्या इति किम्? गार्गीपुत्रः। दासीपुत्रः। वेति व्यवस्थितविभाषाश्रयणादिह न भवति। कारीषगन्धीपुत्रः। कारीषगन्धीपतिः। भ्रिष्वेयुवा च न प्रादेशः। काण्डीभूतम्। कुड्यीभूतम्। श्रीकुलम्। भ्रूकुलम्। भ्रूकुसादीना तु प्रादेशो भवत्येव। भ्रुकुसः। क्वचिदन्यदेव। भ्रुकुसादीनामकाराश्चान्तादेश इष्यते। भ्रकुसः। भ्रकुटिः।

त्वे ङ्यापो क्वचित्खौ च ॥४।३।१७३॥ त्वे परतो ङ्यन्तस्य आबन्तस्य क्वचित्प्रो भवति खौ च ञौ। राजत्वम्। अजात्वम्। रोहिणित्वम्। रोहिणीत्वम्। त्वे छान्दसः प्रयोग इति केचित्। खौ—रेवतिमित्रः। रोहिणिमित्रः। भरणिमित्रः। क्वचिन्न भवति। नान्दीकरः। नान्दीघोषः। आबन्तस्य शिलाया वहः शिलवहः। शिलप्रस्थः। शिलापरस्थलम्। न च भवति लोपिकाहटम्। लोपिकापण्डम्। क्वचिद् ग्रहणं बहुलार्थम्।

तसि चैका ॥४।३।१७४॥ तसि परतो ञौ च एका इत्येतस्य प्रो भवति। एकस्या आगतम् एकरूप्यम्। एकमयम्। "हेतुमनुष्याद्वा रूप्य" [३।३।५५] "मयट्" [३।३।५६] इति च रूप्यमयटौ। एकस्या भाव एकत्वम्। एकता। गुणवचनत्वे "तसादौ" [४।३।१४७] त्वतलोर्गुणवचनस्य इति पुंवद्भावेन सिद्धत्वादन्येः प्रयोजनम्। ञौ एकस्याः क्षीरम् एकक्षीरम्। एकदुग्धम्। एका प्रिया अस्य एकप्रियः। एकमनोज्ञः।

मालेषीकेष्टकानां भारितूलचिते ॥४।३।१७५॥ माला, इषीका, इष्टका इत्येतेषां प्रो भवति भारिन् तूल चित इत्येतेषु परतः। मालभारी। मालभारिणी। इषीकतूलम्। इष्टकचितम्। क्वचिदित्यनुवृत्तेर्मालादिभिस्तदन्तविधिरपि। उत्पलमालभारिणी। मुञ्जेषीकतूलम्। पक्वेष्टकचितम्।

खित्यखेः ॥४।३।१७६॥ खिदन्ते थौ अजन्तस्य प्रो भवत्यखेः। कालीमात्मानं मन्यते कालिम्मन्या। रोहिणिम्मन्या। "खश्चात्मनः" [२।२।७१] इति खश्। खिदनन्तरः प्रादेशभाग्नास्तीत्युक्तम्। अखेरिति प्रतिषेधाच्च खिदन्ते थौ पूर्वस्य प्रपरोऽपि "मुमचः" [४।३।१७७] इति प्रादेशेन बाध्यते। अखेरिति किम्? दोषामन्यमहः। दिवामन्या रात्रिः।

मुमचः ॥४।३।१७७॥ पूर्वस्य पदस्याजन्तस्य खिदन्ते थौ मुम् भवत्यखेः। प्रियवदः। वशवदः। कालिम्मन्या। हरिणिम्मन्या। "विध्वरुषोस्तुदः सखम्" [२।२।३७] इति सखे कृते मुम्। विधुन्तुदः। अरुन्तुदः। "द्विषन्तपेरम्मद" [२।२।३८] इति निपातनाद् द्विषन्तपः। अच इति किम्? विद्वन्मन्यः।

अमेकाचोऽम्वत् ॥४।३।१७८॥ अच इति वर्तते। अजन्तस्य पूर्वपदस्यैकाचोऽम् भवति खिदन्ते थौ अमीवास्मिन् कार्यं भवति। आत्वपूर्वस्यैवि युवादिप्रयोजनम्। अवर्णान्तस्यामि नास्ति विशेषः। अनवर्णान्तमुदाहरणम्। गाम्मन्यः। स्त्रीम्मन्यः। स्त्रियम्मन्यः। नृशब्दस्य नरम्मन्यः। श्रियम्मन्यः। भ्रुवम्मन्यः। नावमात्मानं मन्यते नावम्मन्यः। प्रादेशमुमोरयमपवादः। एकाच इति किम्? लेखाभ्रू मन्यः। अच इत्येव द्विषन्मन्यः। निपातनाद् वाचयमपुरन्दरौ। अमित्यागमलिङ्गादपरोऽपि मकारः प्रयोगश्रवणार्थः स्यान्तत्वेन निर्दिष्टः। अथेह कथम्भवितव्यम्, श्रियमात्मानं कुलं मन्यते इति? उच्यते—श्रीशब्द आविष्टलिङ्गः स्त्रियामेव वर्तत इति श्रियम्मन्यमिति भवितव्यम्। अन्ये मन्यन्ते स्वलिङ्गान्तरेऽपि वृत्तिर्दृष्टा। यथा प्रष्ठादिशब्दानां पुंयोगात् स्त्रियां वृत्तिः। प्रष्ठी। प्रचरी। गणकी। एवं श्रीशब्दस्य कुले वर्तमानस्य नपुंसकलिङ्गत्वे "प्रो नपि" [१।१।७] इति प्रादेशः। अम्वदतिदेशात् "नपः स्वमोः" [५।१।२०] इत्युप्। "मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" [प०] इति "सुपो धुमृदोः" [१।४।१४२] इत्यस्यैवोपोऽमागमो बाधको नोत्तरस्य तेन श्रिमन्यमिति भवितव्यम्। एतच्च नातिश्लिष्टम्। वेदः प्रमाणमित्यादौ लिङ्गान्तरं प्रसज्येत।

सत्यागदास्तोः कारे ॥४।३।१७९॥ सत्य, अगद, अस्तु इत्येतेषां कारे थौ मुमागमो भवति। सत्यङ्कारः। अगदङ्कारः। अणि घञि वा काररूपम्। अस्तुशब्दो निपातकोऽभ्युपगमे वर्तते। अस्मिन्नर्थे करणम् अस्तुङ्कारः।

रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य ॥४।३।१८०॥ रात्रिशब्दस्य कृति थौ मुमागमो भवति प्रभाचन्द्रस्याचार्यस्य मतेन। रात्रिञ्चरः। रात्रिचरः। रात्रिमटः। रात्र्यटः। कृद्ग्रहणसामर्थ्यादयमप्राप्ते विकल्पः। खिति पूर्वेण नित्यं मुमागमः। रात्रिंमन्यमहः। रात्रेरनन्तरः कृन्नास्तीति कृदन्तग्रहणम्। ननु रात्रिमिवाचरतीति "आचारे सर्वमृद्भ्यः क्विप्" [२।१।६ वा०] इति तदन्तात्क्विबस्ति। यदि तदर्थं कृद्ग्रहणं स्यात्। रात्रेः क्विपि निर्देशं कुर्यात्। क्विबन्तस्य तु रात्रिशब्दस्य अन्यस्मिन् कृदन्ते मुम्न स्यात् गौणत्वात्।

नञोऽन् ॥४।३।१८१॥ नञोऽनित्ययमादेशो भवति थौ। न हिंसा अहिंसा "नञ्" [१।३।६८] इति षस.। अनेनाच्चान्त्यादेशोऽन्। स्थानिवद्भावेन पदादेशः पदवद्भवति इति नलम। एवम् अब्राह्मणः। अन्तैयम्। सानुबन्धनिर्देशः किमर्थ? वामनपुत्र पामनपुत्र इत्यत्र माभूत्। सार्वैरेव। न भुङ्क्ते। "नञोऽनु-भावे क्षेपे मिङ्युपसंख्यानम्" [वा०]। अपचसि त्वं जाल्म। अकरोषि त्वं जाल्म।

अचि ॥४।३।१८२॥ अजादौ च थौ नञोऽन् भवति। अनन्तः। अनादिः। अनुमानो [illegible]। [illegible] नत्वनिवृत्त्यर्थम्। "अटोऽनन्ते" [५।२।६०] इति ज्ञापकान्नो [illegible] न भवति।

नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकनगाः ॥४।३।१८३॥ नभ्राड् नपात् नवेदा नासत्या नमुचि नकुल नख नपुंसक नक्षत्र नक्र नाक नग इत्येते [illegible]। [illegible] आजते न [illegible] न भाजते [illegible] [illegible] नभ्राट्। [illegible]

नशब्दो निपात्यते। न पाति न वा न पाति नपात्। नपुंसकलिङ्गे शत्रन्ते पातौ पूर्ववन्निपातनम्। न वेत्ति न वा न वेत्ति नवेदाः। "असु सर्वधुभ्यः" [उ० सू०] इति विदेरसु। "अत्वसोऽधोः" [४।४।१२] इति दीर्घत्वम्। सत्सु साध्वी सत्या न सत्या नसत्या। पुनर्नञ्से नासत्या। नञः प्रकृतिभावः। पुंस्त्वपीह निपातनम्। नासत्या नाम केचित्। न मुञ्चति न वा न मुञ्चति मुचेरौणादिके इकि नमुचिः। नास्य कुलमस्ति न वानकुलमस्ति नकुलम्। नास्य खमस्ति न वा न खमस्ति नखः। न स्त्री न पुमान् नपुंसकः। स्त्रीपुंसयोर्नपुंसकभावो नञश्च प्रकृतिभावः। न क्षरति न क्षीयते इति वा नक्षत्रम्। क्षरतेः क्षीयतेर्वा क्षद्भावो नञश्च प्रकृतिभावः। न क्रीणाति न क्रामतीति वा नक्रः। क्रीञः क्रमेर्वा डलो नञश्च प्रकृतिभावः। अक अग कुटिलायां गतावित्यनयोः पचाद्यचि नकनगौ भवतः। नाकः। नागः। नञः प्रकृतिभावः अथवा नास्मिन् कं दुःखमस्ति नाकः। न गच्छतीत्यगः। एतेषां रूढिशब्दानां यथा कथञ्चिद् व्युत्पत्तिः।

एकान्नः ॥४।३।१८४॥ एकान्न इति निपात्यते ग्यौ। एकेन न विंशतिः एकान्नविंशतिः। एकेन न त्रिंशत्। नञो विंशतिशब्देन "नञ्" [१।३।६८] इति षसः। एकशब्दस्य भान्तस्य न विंशतिशब्देन "साधनं कृता बहुलम्" [१।३।२६] इति बहुलवचनाद् भेति योगविभागात्षसे कृते एकशब्दस्यादुक् नञश्च प्रकृतिभावो निपात्यते। अदुकः पूर्वान्तकरणं "यरो ङो विभाषा ङे" [५।४।१२५] इति विकल्पेन टार्थम्। एकाद्नविंशतिः। एकाद्नत्रिंशत्।

नगो वाऽजीवे ॥४।३।१८५॥ नग इति वा निपात्यते अजीवेऽर्थे।। नगा वृक्षाः। नगाः शालयः। नगाः पर्वताः। अगा वृक्षाः। अगाः शालयः। अगाः पर्वताः। न गच्छन्तीति सुपि वाचि "गमेर्डः" [२।२।४६] वाक्सः। अजीव इति किम्? अगो देवदत्तः शीतेन।

सहस्य सः खौ ॥४।३।१८६॥ सहस्य स इत्ययमादेशो भवति खुविषये। ग्याचिति वर्तते। सहाश्वत्थेन वर्तते साश्वत्थम्। सपलाशम्। सशिंशपम्। वननामधेयम्। सरसा दूर्वा। "तेन" [१।३।६०] "सहेति तुल्ययोगे" [१।३।६१] इति बसः। "वा नीचः" [४।३।१६०] इति विकल्पे प्राप्ते अयं विधिः। खाविति किम्? सहयुध्वा। सहकृत्वा। सहयुद्धवान्। "राज्ञि युधि कृञः" [२।२।८२] "सहे" [२।२।८३] इति क्वनिप्।

ग्रन्थान्तेऽधिके ॥४।३।१८७॥ ग्रन्थान्ते अधिके च वर्तमानस्य सहस्य स इत्ययमादेशो भवति। ग्रन्थान्ते हसः। सकलं ज्यौतिषमधीते। समुहूर्तमधीते। कला कलावशेषः मुहूर्तश्च तत्सहचरितो ग्रन्थोऽपि तथोक्तः। कलामन्तं कृत्वा मुहूर्तमन्तं कृत्वा। साकल्यान्तोक्तौ हसः। "हेऽकाले" [४।३।१८६] इति काले प्रतिषेधादनेन सादेशः। अधिके बसः। सह द्रोणेन वर्तते सद्रोणा खारी। समाषः कार्षापणः। सकाकणीको माषः। "वा नीचः" [४।३।१६०] इति विकल्पे प्राप्तः।

द्वितीयेऽनुपाख्ये ॥४।३।१८८॥ द्वितीयेऽनुपाख्यायमाने सहस्य स इत्ययमादेशो भवति। द्वयोः सहयुक्तयोर्यन्यभूतो द्वितीयः। स एवाप्रत्यक्षोऽनुपाख्य उक्तः। साग्निः कपोतः। समूसलः व्रीहिकसः। सपिशाचा वात्या। सराक्षसीका शाला। अग्न्यादयोऽप्रत्यक्षेणानुपलभ्यमानाः कपोतादिभिरनुमीयमानत्वादनुपाख्याः। अनुपाख्य इति किम्? सच्छात्र सहच्छात्र उपाध्यायः। उपाख्यायत इत्युपाख्यः। "युड्भ्यां बहुलम्" [२।३।६४] इति बहुलवचनात् "आतो गौ" [२।१।१०६] इति कर्मणि कः।

हेऽकाले ॥४।३।१८९॥ हसन्ते सहस्य स इत्ययमादेशो भवत्यकालवाचिनि ग्यौ। सचक्रं धेहि। सधुरं प्राज। सवत्से। सपल्लवे। "यौगपद्य" [१।३।७] इति हसः। "ऋक्पूरब्धूःपथोऽनक्षे" [४।२।७०] इति [illegible]। अकाल इति किम्? सहपूर्वाह्णम्। सहापराह्णम्। योगपद्ये साकल्योक्तौ वा हसः।

धा नीचः ॥४।३।१६०॥ नीचोऽवयवस्य सहशब्दस्य वा स इत्ययमादेशो भवति धौ। सशिष्यः सहशिष्य आचार्यः। सपुत्रः सहपुत्रः पिता। नीच इति किम् ? सहयु वा। सहकृत्वा। नात्र समुदायस्य नीचोऽवयवः सह-शब्दः। नीच इति समुदायस्य विशेषणं सहशब्दस्य सर्वत्र विधौ व्यक्तत्वात्। इह सहयुद्धप्रियः। प्रियसहयुध्वेति च सहस्य सः कस्मान्न भवति। यदत्र धु तदपेक्षया न सहशब्दो नीचोऽवयव इति न भवति।

नाशिष्यगोवत्सहले ॥४।३।१६१॥ आशिषि सहस्य सादेशो न भवति गोवत्सहलवर्जिते धौ। स्वस्ति सहशिष्याय गुरवे। स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय। अगोवत्सहल इति किम् ? स्वस्त्यस्तु सगवे सहगवे। सवत्साय सहवत्साय। सहलाय सहहलाय।

समानस्य स ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु ॥४।३।१६२॥ समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ज्योतिष्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु इत्येतेषु परतः। समान ज्योतिरस्य सज्योतिः। यदि वा समानं च तज्ज्योतिश्च सज्योतिः। "पूर्वापरप्रथम" [१।३।५२] इत्यादिना षसः। सजनपदः। सरात्रिः। सनाभिः। सनामः। सगोत्रः। सरूपः। सस्थानः। [सवर्णः। सवयाः।] सवचनः। सबन्धुः। बसेऽभिधेयवल्लिङ्गम्। षसे च परवल्लिङ्गम्। समानस्येति योगविभागादन्येष्वपि सादेशः। तेन सधर्मा। सपक्षः। सगन्धः। सदेशः। समानजातीयः। "जातेश्छो बन्धुनि" [४।२।१८] इति स्वार्थे छः। समाने तीर्थे भवः सतीर्थ्यः। दिगादित्वाद्यः इत्येवमादि सिद्धम्।

सब्रह्मचारी ॥४।३।१६३॥ सब्रह्मचारीति निपात्यते चरणे गम्यमाने। समानो ब्रह्मचारी समाने ब्रह्मणि व्रतं चरति वा सब्रह्मचारी। समाने आगमे व्रतचारीत्यर्थः।

सोदर्ये ॥४।३।१६४॥ उदर्यशब्दे धौ समानस्य वा स इत्ययमादेशो भवति। समानोदरे शयितः सोदर्यः। समानोदर्यः। "समानोदरे शयितः" [३।३।२०८] इति यः। कथं युधिष्ठिरसोदरो वृकोदर इति। समानस्येति योगविभागात्।

दृशदृग्दृक्षवतौ ॥४।३।१६५॥ दृश दृक् दृक्ष वतु इत्येतेषु परतः समानस्य स इत्ययमादेशो भवति। समानो दृश्यते सदृशः। बहुलवचनात्कर्मणि टगादिः। अन्यथा वा व्युत्पत्तिमात्र सर्वम्। समानमात्मानं पश्यति सदृशः। सदृक्। सदृक्षः। "त्यदादौ दृशोऽनालोके टक् च" [२।२।७८] इत्यत्र 'समानान्ययोश्च" [वा०] इति वचनाट्टक्क्सिश्च भवति। क्सोऽप्यस्मादेव निर्देशात् तत्र स्मर्तव्यः। वतु' समानशब्दात्परो न सम्भवतीति नाम' गणमुत्तरार्थम्।

किमिदमोः कीश् ॥४।३।१६६॥ किम् इदम् इत्येतयोः की ईश इत्येतावादेशौ भवतः दृगादिषु परतः। क इव दृश्यते कमिव पश्यति वा कीदृशः। कीदृक्। कीदृक्षः। किम्परिमाणमस्य कियान्। "किमः" [३।४।१६२] इति वतुर्घस्य च घः। अयमिव दृश्यते इममिव पश्यति वा ईदृशः। ईदृक्। ईदृक्षः। इदम्परिमाणमस्य इयान्। 'इदमो वो घ" [३।४।१६१] इति वतुर्घस्य च घः। "आ सर्वनाम्नः" [४।३।१६७] इत्यस्यायमपवादोऽयम्।

विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चौ क्वौ ॥४।३।१९८॥ विष्वग् देव इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च टेरद्रिगादेशो भवत्यञ्चतौ क्व्यन्ते परतः। विषुवतीति विषुः। विषुमञ्चतीति ऋत्विगादिसूत्रेण क्वौ कृते विष्वक्। विष्वञ्चमञ्चतीति क्वावागतनिवृत्ते नलम्। वान्ते सुः। "उगिदचाम्" [५।४।४९] इति नुम्। हल्ङ्यादित्वे। स्कान्तखे। "क्विन्प्रत्ययस्य कु." [५।३।७५] इति नकारस्य ङकार। विष्वद्र्यङ्। यद्र्यङ्। तद्र्यङ्। कद्र्यङ्। विष्वग्देवयोश्चेति किम्? वृक्षमञ्चतीति वृक्षाङ्। अञ्चाविति किम्? विष्वग्युक्। देवयुक्। क्वाविति किम्? विष्वगञ्चनम्। देवाञ्चनम्। ननु क्वावेवाञ्चति. केवलो धुर्भवति तत्कि क्विग्रहणेन। इद क्विग्रहण ज्ञापकम्—"अन्यत्र धुग्रहणे ध्वादेः समुदायस्य ग्रहणम्" [प०] इति। तेन कृकम्यादिसूत्रे अयस्कृतमयस्कार इत्यादौ सत्व सिद्धम्। अन्यथेहैव स्यात्। अयस्कृदिति।

समः समि ॥४।३।१९९॥ समः समीत्ययमादेशो भवत्यञ्चतौ क्व्यन्ते परतः। सम्यङ्। सम्यञ्चौ। सम्यञ्च.। एका सिद्धे समिरिति वचनम् "अनित्यमागमशासनम्" [प०] इति ज्ञापयति। तेन वान्त इत्यादि सिद्धम्।

तिरसस्तिर्यखे ॥४।३।२००॥ तिरसस्तिरिरित्ययमादेशो भवत्यञ्चतावक्व्यन्ते परतो यत्राञ्चतेरकारस्य खो न भवति। तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिर्यञ्चः। तिर्यग्भ्याम्। तिर्यग्भिः। अखे इति किम्? तिरश्चः। तिरश्चा। अत्र इत्कारस्य खम्। न विद्यते अञ्चतेर्विशेषविहितमकारस्य ख यस्मिन्। हलुङो नरा तु सर्वसाधारण न तस्येह पर्युदास। न त्वस्य खाभिति तस्मिन् तिरिभाव. "तिरश्च्यपवर्गे" [२।४।४५] इति निर्देशात्। ननु च "तिवाक्कारकाणा कृद्भिः सविधि." [प०] इति कृदन्ते नैवाञ्चतिना वृत्तौ कृताया सुबन्तत्वाभावात्कथमञ्चतेर्धुसज्ञा। नैष दोष.। अभ्रविलिप्सीत्येवमादौ विषये तिवाक्कारकाणामित्यस्य व्यापारो न सर्वत्र।

सहस्य सध्रिः ॥४।३।२०१॥ सहस्य सध्रिरादेशो भवत्यञ्चतौ क्व्यन्ते परतः। सध्र्यङ्। सध्र्यञ्चौ। सध्र्यञ्च.। सध्रीचः। सध्रीचा। "अच" [४।४।१२५] इत्यखम्। "चौ" इति दीत्वम्।

द्व्यन्तगेरीदपः ॥४।३।२०२॥ द्विशब्दादनवर्णान्ताच्च गेः परस्य अपशब्दस्य ईकारादेशो भवति। द्विगता आपो यस्मिन्निति द्वीप.। प्राक् "परस्यादे." ईकारः पश्चात् "ऋक्पूरब्धूः" इत्यः सान्तः। "अन्त शब्दस्य अ(त्वा)ङ्किविधिणत्वेषु गिसञ्ज्ञोक्ता" [वा०] अन्तर्गता आपोऽस्मिन्नन्तरीपः। समीपम्। वीपम्। इह क्रियायोगाभावाद्गिसञ्ज्ञोपलक्षिताना प्रादीना ग्रहणम्। अनगेरिति किम्? प्रापम्। परापम्। समापम्।

देशेऽनोरु ॥४।३।२०३॥ देशाभिधानेऽनो. परस्यापः उकारादेशो भवति। अनुगता आपोऽस्मिन्निस्यनूपो देश। देश इति किम्? अन्वीप वनम्। कथ कूप. सूपः अनूप इति? पृषोदरादिपाठात्।

छकारकेऽन्यस्य दुक् ॥४।३।२०४॥ छे कारके च परतोऽन्यस्य दुगागमो भवति। अन्यस्येदम् अन्यस्मिन् भव वा अन्यदीयम्। गहादिपाठाच्छः। अन्यस्य कारकम् अन्यत्कारकम्। अन्यः कारकः अन्यत्कारकः।

अताभास्थस्याशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिरागे ॥४।३।२०५॥ अतास्थस्याभास्थस्य चान्यस्य दुगागमो भवति आशिष् आशा आस्था आस्थित उत्सुक ऊति राग इत्येतेषु परतः। अन्या आशी. अन्यदाशीः अन्या आशा अन्यदाशा। अन्या आस्था अन्यदास्था। अन्य आस्थित. अन्यदास्थितः। अन्य उत्सुक. अन्यदुत्सुकः। अन्या ऊति अन्यदूति। अन्यो राग. अन्यद्राग.। "विशेषणं विशेष्येणेति" [१।३।५२] यसः। अताभास्थस्येति किम्? अन्यस्याशा अन्याशा। अन्येनास्थित. अन्यास्थितः।

वाऽर्थे यौ ॥४।३।२०६॥ अन्यस्य वा दुग् भवति। अन्योऽर्थ., अन्यस्मै अर्थः अन्यदर्थ.। अताभास्थस्येत्येव। अन्यस्मा अर्थोऽन्यार्थ.। अन्येनार्थोऽन्यार्थ.।

रथवदयोः ॥४।३।२०८॥ रथ वद इत्येतयोः परतः कोः कद् भवति षसे। कुत्सितो रथः कद्रथः। कुत्सितो वदः कद्वदः।

तृणे जातौ ॥४।३।२०९॥ तृणे षो कोः कद्भवति समुदायेन जातावभिधेयायाम्। कत्तृणा नाम जातिः। तस्या अवयवः कत्तृणम्। जाताविति किम्? कुत्सितानि तृणानि कुतृणानि।

का पथ्यक्षयोः ॥४।३।२१०॥ कोः का इत्ययमादेशो भवति पथिन् अक्ष इत्येतयोः परतः। कुत्सितः पन्थाः कापथः। कुत्सितमक्षं काक्षम्। अक्षशब्दस्य अकारान्तस्य कृतसमासान्तस्य चाविशेषेण ग्रहणम्। षस इति निवृत्तम्। कुत्सितेऽक्षिणी अस्य काक्षः। "स्वाङ्गाद्धेऽक्ष्णिसक्थ्नः" [४।२।११३] इति टः समासान्तः। पथशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति। तस्य कुपथमिति षे भवति।

ईषदर्थे ॥४।३।२११॥ ईषदर्थे कोः का भवति। ईषत्कटुकं काकटुकम्। कामधुरम्। कालवणम्। "तिकुप्रादयः" [१।३।८१] इति सः। "कत्कोः षेऽचि" [४।३।२०७] इति तत्रोपलक्षणमात्रम्। अजादावपि परत्वात्कादेश एव। काम्लम्।

पुरुषे वा ॥४।३।२१२॥ पुरुषशब्दे षे कोः का इत्ययमादेशो भवति वा। कुत्सितः पुरुषः कापुरुषः। कुपुरुषः। अप्राप्ते विकल्पोऽयम्। ईषदर्थे पूर्वनिर्णयेन नित्यं कादेशः।

कवमुष्णे ॥४।३।२१३॥ कोः स्थाने कवरूपं भवति उष्णे परतः का च वा। कवशब्दो नपुंसकलिङ्गो निर्दिष्टः। कवोष्णम्। कोष्णम्। आभ्यां मुक्ते "कत्कोः षेऽचि" [४।३।२०७] इति कद्भावे कदुष्णम्। अनीषदर्थे कदुष्णमेव।

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ॥३।३।२१४॥ पृषोदरप्रकाराणि शब्दरूपाणि यथोपदिष्टं साधूनि भवन्ति। यथा तेषु वर्णनाशागमवर्णविकाराः शिष्टैः प्रयुक्ता दृश्यन्ते तथैव तेषां साधुत्वमित्यर्थः। उपदिष्टानतिक्रमेण यथोपदिष्टम्। ये ये उपदिष्टाः इति वीप्सायां वा हसः। पृषदुदरमस्य पृषोदरः। पृषोदरा कन्या। पृषत उद्वानं पृषोद्वानम्। तकारस्य खं निपात्यम्। अश्वत्थः। कपित्थः। महित्थः। दधित्थः। अश्वा इव तिष्ठति कपिरिव तिष्ठति मह्यां तिष्ठति दधीव तिष्ठति। "सुपि" [२।२।७] इति स्थः कः। सकारस्य तत्वं निपात्यम्। महीशब्दस्य "त्वे ङ्यापो कचित्त्वौ च" [४।३।१७३] इति प्रादेशः। वारिवाहको बलाहकः। वारिशब्दस्य बशब्दः परस्य चादेर्लत्वं निपात्यम्। जीवनस्य मूतः जीमूतः। वनशब्दस्य खम्। मह्यां रौतीति मयूरः। रौतेरचि टिखं महीशब्दस्य च मयूभावः। शवस्य शयनं श्मशानम्। शवशब्दस्य श्मादेशः शयनस्य च शानम्। ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्तीति बृसी। ब्रुवच्छब्दस्य बृभावः सदेर्डन्तस्य च सीभावः। 'षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च' "धाशब्दे तु वा षष उत्वम्"। षड् दन्ता अस्य षोडन्। "वयसि दन्तस्य दतृ" इति दत्रादेशः। षट् च दश चेति षोडश। षड्भिः प्रकारैः षोढा। षड्धा। षड् दधातीति स्त्री। आत के कृते टापि च षड्धा। लाक्षणिकस्याउत्वाभावः। 'दिक्शब्देभ्यस्तीरस्य तारभावः'। दक्षिणस्य तीरम्, दक्षिणतारम्। उत्तरतारम्। "वाचो वादे डत्वं बलभावश्चोत्तरपदस्येति निपात्यते"। वाग्वादस्यापत्यं वाड्बलिः। एवमन्येऽप्यूह्याः शब्दाः। पिशिताशः। पिशाचः। मुहुः स्वनं लातीति मुसलम्। ऊर्ध्वकर्णा उलूकः। मेहनस्य खस्य माला मेखला। कौ जीर्यति कुञ्जरः। ऊर्ध्वं खमस्य उलूखलम्।

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थोऽतिशयेन योगस्तदुच्यते वर्णविधो निरुक्तम् ॥"

भवार्थे आगतस्य कालाट् ठञः "रस्योवनपत्ये" [३।१।७४] इत्युपि डो कृते "वा ङिश्यो." [४।४।१२४] इति वाऽनोऽखम्। द्व्यह्नि। द्व्यहनि। द्व्यह्ने। यावत्सु अहस्सु भवो यावदहः। "वतोर्वेट्" [३।४।२०] इत्यत्र वत्वन्तस्य सख्यासंज्ञोक्ता। ङौ यावदह्नि। यावदहनि। यावदह्ने। विगतमहर्व्यहः। "तिकुप्रादय" [१।३।८१] इति षसः। ङौ व्यह्नि। व्यहनि। व्यह्ने। सायमहः। सायाह्नः। विशेषणसविधिः। सायशब्दस्य भिन्नप्रकरणात एव निपातनान्मकारस्य खम्। अकारान्तस्य सम्भवेऽह्नादेशो निपात्यः। सायाह्नि। सायाहनि। सायाह्ने। सख्याविसायादेरिति किम्? पूर्वाह्णे गतः। पूर्वमहः पूर्वाह्णः। विशेषणसविधिः। "अतोऽह्नः" [५।४।६१] इति णत्वम्।

ढ्रखे पूर्वस्याणो दीः ॥४।३।२१६॥ ढकाररेफयोः ख यस्मिन् वर्णे स ढ्रखस्तस्मिन् पूर्वस्याणो दीर्भवति। षसेऽप्यदोषः। खस्याभावरूपत्वेऽपि पौर्वापर्यं बुद्धिकृतम्। यथा वर्णयोरयौगपद्येऽपि अचीको यणित्येवमादौ। लीढमुपगूढ मूढेन। अग्नी रथम्। वायू रथम्। पुना रक्तं वासः। ढ्रख इतीङ्निर्देशात् पूर्वस्येति लब्धे पूर्वग्रहणं किम्? पूर्वमात्रस्य यथा स्यादेव स्यात्। अन्यथा स्यादेव स्यात्। नीरक्तम्। दूरक्तम्। इह न स्याद् अजर्घाः इति। जर्गृधः लङः सिप् एप्। भष्भावः। धकारस्य जश्त्वम्। "सिपि रिर्वा" [५।३।८१] "द." [५।३।८२] इति रिः। अण इति किम्? तृढः तृढः। वृढः वृढः।

सहिवहोऽस्यौः ॥४।३।२१७॥ सहिवहोरवर्णस्य ओकारादेशो भवति ढ्रखे। सोढा। सोढुम्। सोढव्यम्। वोढा। वोढुम्। वोढव्यम्। अस्येत्यणग्रहणादैपि कृतेऽपि भवति। उदवोढाम्। उदवोढम्। उदवोढ। उत्पूर्वाद्वहेर्लुङ्। तसस्ताम्। थसस्तम्। थस्य तः। "झलो झलि" [५।३।४४] इति सेः खम्। ढत्वादेरसिद्धत्वाद् "मजवद" [५।१।७६] इत्यादिना प्रागैप्। अस्येति किम्? ऊढवान्।

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चभिन्नछिन्नछिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य ॥४।३।२१८॥ कर्णे यो लक्षणवाचिनो दीर्भवति विष्टादीन् वर्जयित्वा। दात्रमिव दात्राकर्णः। शङ्कुकर्णः। द्विगुणाकर्णः। द्व्यङ्गुलाकर्णः। द्व्योरङ्गुल्योः समाहारो द्व्यङ्गुलम्। "षेऽङ्गुलेर्भिसंख्यादेः" [४।२।८८] इति सान्तः। लक्षणस्येति किम्? शोभनकर्णः। शोभनत्व तत्त्वाख्यान न तु लक्षणम्। अतएव तत्त्वाख्यानादिहापि न भवति। लम्बकर्णः। प्रविद्धकर्णः। अथवा लक्षणशब्देन चिह्नविशेषोऽभिप्रेतः स्वामिविशेषसम्बन्धज्ञापनार्थम्। पशूना दात्राकारादि चिह्नं लक्षणम्। तदभावाल्लम्बकर्णादिषु न भवति। अविष्टादेरिति किम्? विष्टकर्णः। अष्टकर्णः। पञ्चकर्णः। भिन्नकर्णः। छिन्नकर्णः। छिद्रकर्णः। स्रुवकर्णः। स्वस्तिककर्णः।

नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ ॥४।३।२१९॥ नहि वृति वृषि व्यधि रुचि सहि तनि इत्येतेषु क्विबन्तेषु परतः पूर्वपदस्य दीर्भवति। नहि—उपानत्। परीणत्। वृत्—नीवृत्। उपावृत्। वृषि—प्रावृट्। व्यधि—मर्माविध्। हृदयाविध्। श्वाविध्। रुचि—अतीरुक्। अभीरुक्। कथं मलरुक्। श्वेतरुक्? सम्पदादिक्विपि न भवतीत्यदोषः। अथवा तिमिरकदीत्वमिष्यते। सहि—जलासट्। तुरासट्। तनि—परीतत्। "गमः क्वौ"[४।४।४१] इत्यत्र "गमादीना खमिष्यते" [वा०]। क्वाविति किम्? उपनहनम्।

गिरिवने किंशुलुककोटरादीनाम् ॥४।३।२२०॥ गिरि वन इत्येतयोः परतो यथासख्यं किंशुलुकादीनां कोटरादीनां च दीर्भवति खौ। गिरौ—किंशुलुकागिरिः। अञ्जनागिरिः। नलागिरिः। वने—कोटरावणम्। मिश्रकावणम्। सिध्रकावणम्। किंशुलुककोटरादीनामिति किम्? कृष्णगिरिः। भद्रसालवनम्। नन्दनवनम्।

वले ॥४।३।२२१॥ वले त्ये परतः पूर्वस्य दीर्भवति। आसुतीवलम्। दन्तावलः। मत्वर्थे "रजःकृष्यासुतिपरिषदो वल" [४।१।३८] "दन्तशिखात् सौ" [४।१।३९] इति च वलः।

मतौ बह्वच्छरादेरनजिरादेः ॥४।३।२२२॥ मतौ परतः बह्वचः शरादीनां च दीर्घो भवति अजिरादीन् वर्जयित्वा खौ। उदुम्बरावती। मशकावती। वीरणावती। पुष्करावती। उदुम्बरा अस्मिन् देशे सन्ति "तदस्मिन्नस्तीति देशः खौ" [३।२।७७] इत्यणि प्राप्ते "नद्यां मतुः" [३।२।६५] इति मतुः। शरादीनां शरावती। वशावती। [शर।] वंश। धूम। अहि। कपि। मणि। मुनि। शुचि। इति शरादि। बह्वच्छरादेरिति किम्? इक्षुवती। मधुवती। "खौ" [५।३।२२] इति मतोर्वत्वम्। अनजिरादेरिति किम्? अजिरवती। खदिरवती। अलिनवती। चक्रवाकवती। कारण्डवती। खाविति किम्? वलयवती।

इको घहेऽपीलोः ॥४।३।२२३॥ इगन्तस्य पीलुवर्जितस्य वहे घौ दीर्घो भवति। खाविति वर्तते। ऋषीवहम्। मुनीवहम्। पचाद्यजन्तेन वहशब्देन दासः। इक इति किम्? पिण्डवहम्। अपीलोरिति किम्? पीलुवहम्। "अपील्वादेरिति वक्तव्यम्" [वा०]। दारुवहम्।

गेः कासे ॥४।३।२२४॥ इक इति वर्तते। इगन्तस्य गेः कासे घौ दीर्घो भवति। नीकासम्। वीकासम्। अनूकासम्। पचाद्यजन्तस्य कासस्येह ग्रहणम्। इक इत्येव। प्रकाशते इति प्रकाशः।

दस्ति ॥४।३।२२५॥ दा इत्येतस्य यस्तकार आदेशस्तदादौ परतः इगन्तस्य गेर्दीर्घो भवति। नीत्तम्। वीत्तम्। परीत्तम्। "गेस्तोऽचः" [५।२।१४६] इत्याकारस्य तकारः। दकारचर्त्वस्यासिद्धत्वात् एव दीत्ववचनात्सिद्धत्वम्। "गेस्तोऽचः" इत्यत्र द्वितकारको वा निर्देशः इति सर्वादेशः। द इति किम्? विगीर्णम्। तीति किम्? निदत्तमिति वेप्यते। इक इत्येव। प्रत्तम्। आत्तम्।

घञ्यमनुष्ये प्रायः ॥४।३।२२६॥ इक इति निवृत्तम्। घञन्ते घौ गेः प्रायो दीर्घो भवति अमनुष्येऽभिधेये। अपामार्गः। नीमार्गः। नीक्लेदः। प्रावारः। "आच्छादने वृञः" [२।३।५०] इति घञ्। नीवारः। "नौ वुर्धान्ये" [२।३।४४] इति घञ्। प्राकारः कर्मणि। अविकरणे प्रासादः। अमनुष्य इति किम्? निषीदन्त्यस्मिन्निति निषादः। "हलः" [२।३।१०२] इत्यधिकरणे घञ्। "सदोऽप्रतेः" [५।४।४७] इति षत्वम्। प्राय इति किम्? प्रमदन प्रमादः। निवेशः। प्रकामः। प्रकरणं प्रकारः। वेशादिष्वभयम्। प्रतिवेशः। प्रतीवेशः। प्रतिबोधः। प्रतीबोधः। गेरित्येव। चन्दनसारः।

खावष्टनः ॥४।३।२२७॥ खुविषयेऽष्टन्नित्येतस्य दीर्घो भवति घौ। अष्टापदः। अष्टावक्रः। अष्टाबन्धनः। अष्टाविटपः। खाविति किम्? अष्टमहाप्रातिहार्यो जिनः। अष्टगुणः सिद्धः। "अष्टनः कपाले हविषि वक्तव्यम्" [वा०]। अष्टसु कपालेषु संस्कृतमष्टाकपालं हविः। संस्कृतार्थे आगतस्याण "स्यो-वनपन्ये" [३।१।७४] इत्युप्। "गवे च युक्ते" [वा०]। अष्टाभिर्गोभिर्युक्तम् अष्टागवं शकटम्। उत्तरशब्दस्याप्रयोगः। यथा भीमसेनशब्दे सेनशब्दस्य।

चितेः कपि ॥४।३।२२८॥ चितेर्दीर्घो भवति कपि परतः। एका चितिरस्य एकचितीकः। द्विचितीकः। त्रिचितीकः।

अन्यस्यापि ॥४।३।२३२॥ अन्यस्यापिशब्दस्य श्चावण्यन्यावपि दीर्भवति । कस्यान्यस्य ? यस्य शिष्टै-र्दीत्वं प्रयुक्तम् । "शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्भवति" । श्वादन्तः । श्वादंष्ट्र. । श्वाकर्ण. । श्वाकुन्दः । श्वावराहः । श्वापुच्छः । श्वापदम् । श्वावराहमिति द्वन्द्वोऽन्यत्र षसो बसो वा । एकश्च दश चैकादश । केशाकेशि । केशेषु केशेषु च गृहीत्वेदं युद्ध वृत्तम् । "तत्रेदमिति सरूपे" [१।३।८६] इति बसः । "अ इच्" [४।२।१२८] इति इच्सान्तः । तिष्ठद्ग्वादिषु इजन्तस्य हसंज्ञा । अणावपि पूरुषः । सादनम् । नारकः । न भवत्यपि पुरुषः । सदनम् । नरक इति ।

क्वि ॥४।३।२३३॥ अण इति इक इति च निवृत्तम् । च् इति अञ्चतिर्नष्टनकाराकारो गृह्यते । तस्मिन् परतः पूर्वपदस्य दीर्भवति । प्राचः पश्य । प्राचा । प्राचे । दधीचः पश्य । दधीचा । दधीचे । मधूचः पश्य । मधूचा । मधूचे । कर्तृचा । कर्तृचे । "अचश्च" [१।१।१२] इत्यचः स्थाने दीत्वम् । दधीच इत्यत्र यणादेशमन्तरङ्गमपि बाधित्वा "अचः" [४।४।१२५] इत्यकारस्य ख भवत्यस्मादेव वचनात् ।

ञेः ॥४।३।२३४॥ ञेर्दीर्भवति घौ । कारीषगन्धीपुत्रः । कारीषगन्धीपतिः । कौमुदगन्धीपुत्रः । कौमुदगन्धीपति । करीषस्येव गन्धो यस्य करीषगन्धिः । तस्यापत्यं स्त्री । आगतस्याणः "ष्योऽङ्गु रूपान्त्ययोः" [३।१।६३] इति ष्यादेशः । टाप् । "षे ष्यस्य पुत्रपत्योर्ञि." [४।३।६] इति ञिः । ञौ कृते अत्राकृते एव ञेर्दीत्वे ग्रामणिकुलमित्यत्र सावकाशः "इक प्रोऽड्याः" [४।३।१७२] इत्यय प्रादेशः प्राप्तः । प्रादेशाभाव-पदे सावकाशमिदं च दीत्वं प्राप्तम् । परत्वाद्दीत्वं भवति । सकृद्गतन्यायेन पुनः प्रसङ्गान्न प्रादेशः ।

इत्यभयनन्दिविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

[गोः[1] ॥४।४।१॥ हलः ॥४।४।२॥ नाम्यतिसृचतसृ ॥४।४।३॥ नुवा ॥४।४।४॥ नोङः ॥४।४।५॥ घेऽर्का ॥४।४।६॥ सन्तस्फमहतोः ॥४।४।७॥ स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृत्रपाम् ॥४।४।८॥ इन्हन्पूषार्यम्णाम् ॥४।४।९॥]

शौ ॥४।४।१०॥ शौ परत इन् हन् पूषन् अर्यमन् इत्येवमन्तानां दीर्भवति । बहुदण्डीनि । बहुवाग्मीणि बहुपूषाणि । बह्वर्यमाणि । द्वितीयोऽयं नियमः । शावेवेन्नादीनां दीर्भवति नान्यत्र । दण्डिनौ । दण्डिनः । वृत्रहणौ । पूषणौ । अर्यमणौ । तदन्तस्यापि न भवति । परमदण्डिनौ । बहुदण्डिनौ । बहुदण्डिनः ।

सौ ॥४।४।११॥ सौ परत इन्नादीनामुङो दीर्भवति । दम्भी । वाग्मी । तपस्वी । वृत्रहा । पूषा । अर्यमा पूर्वेण नियमेनाप्राप्तविध्यर्थमिदम् । अकाविल्येव । हे दण्डिन् । हे पूषन् । हे अर्यमन् ।

अत्वसोऽधोः ॥४।४।१२॥ साविति वर्तते । अत्वन्तस्य असन्तस्य च किवर्जिते सौ परतः उङ दीर्भवत्यधो । गोमान् । धनवान् । भुक्तवान् । तत्परिमाणमस्य तावान् । अतोरर्थवतोऽनर्थकस्य च ग्रहणम् नन्वेवं भवद्ग्रहणं कुर्यात् । अन्यथा साहचर्याद्वा । अतो रुडो दीत्ववचनसामर्थ्याद्दीत्वे कृते नुम् । अस इत्यहा । हन्तोता । पिनरेरि चेति लुवल्लुडिति लोलुट् । अधोरिति किम् ? इषुमत्यति इष्व. । दृषदमस्यति दृषदः अधेयरधोरिति किमर्थम् ? अनस् इत्येन दन्तव्यम् ? न । अन्येषां प्रतिषेधार्थम् । पिण्डग्रः । चर्मणः । ज्ञापना

१ प्रतिषु [ ] कोष्ठान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्त्रुटिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसृत्य निर्दिष्टानि ।

चास्तीदम्। "अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च" [प०] इति। अधोरित्यानन्तर्यादसन्तस्यैव प्रतिषेधः। तेनात्र दीत्वम्। गोमन्तमिच्छति गोमन्यते. क्विप्। गोमान्। अकाविल्येव। हे गुणवन्। हे सुपथ.।

ङस्य किझलोः क्ङिति ॥४।४।१३॥ ङान्तस्य गोरुङो दीर्भवति कौ झलादौ च क्ङिति परतः। प्रशान्। प्रतान्। प्रशान्भ्याम्। झलि किम्? शान्तः। तान्तः। क्ङितीति किम्? अशान्तः। तनान्त.। यङ् पीडम्। ङस्येति किम्? ओदनपक्। पक्ति.। किझलोरिति किम्? गम्यते। क्ङितीति किम्? यन्ता। यन्तु।

हनिङ्गम्यचां सनि ॥४।४।१४॥ हन्तेरिङ्गमेरजन्ताना च दीर्भवति सनि झलादौ परतः। जिघांसति। इङ्गमि–अधिजिगांसते। इङ् इति विशेषणं किम्? सञ्जिगंसते वत्सो मात्रा। अजन्तानां चिचीषति। सुलूषति। चिकीर्षति। उङ इति निवृत्तम्। अचश्चेति हनिङ्गम्योर्योऽच् तस्य स्थाने दीत्वे कृते द्वित्वम्। गोरित्येव। दधि सनोति।

तनोतेर्वा ॥४।४।१५॥ तनोतेः सनि झलादौ वा दीर्भवति। तितांसति। तितंसति। झलीत्येव। तितनिषति। "सनीवन्तर्ध" [५।१।६७] आदिसूत्रे तनिपतिदरिद्राम् इड्विकल्पः।

क्रमः क्त्वि ॥४:४।१६॥ वेति वर्तते। क्रमो वा दीर्भवति झलादौ क्त्वाख्ये परतः। क्रान्त्वा। क्रन्त्वा। अचश्चेत्यस्य गृह्यमाणेन विशेषणादचः स्थाने दीत्वम्। "ङस्य" [४।४।१३] इत्यादिना नित्ये प्राप्ते विकल्पः। झलीत्येव। क्रमित्वाऽक्रम्येत्यत्र "प्यादेशोऽन्तरङ्गस्यापि विधेर्बाधकः" [वा०] इति पूर्व दीत्वस्याप्रवृत्तिः। अनचि धाविति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्पश्चादपि झलादित्वं नास्ति।

छ्वोः शूड्के च ॥४।४।१७॥ वेति निवृत्तम्। छकारवकारयोः स्थाने श् ऊठ् इत्येतावादेशौ भवतो ड सञ्के परतः कौ हलादौ च क्ङिति। प्रश्नः। विश्नः। "वार्णाद् गाङ्ग बलीयः" [प०] इति छे तुकः परत्वान्नित्यत्वा द्वा शादेशः। अपि च विच्छेरेत्प्रतिषेधार्थं नङो ङित्करणं ज्ञापकं प्रागेव तुकश्छस्य शत्वादेशाविति। "प्रश्ने चान्तर्युगे" [२।२।६७] इति निपातनाज्जिर्न भवति वकारस्य। स्यो न.। सिवेरौणादिको न.। येऽड एषः पूर्वमत्रा देशः। "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" [प०] इत्यनित्यमेतत्। तेन यणादेशः। ऊठ् एप्। सिवेरौणादिके मनि स्यूम। छस्य कौ वर्मप्राट्। गोविट्। वकारस्य कौ हिरण्यष्ठ्यूः। अक्षद्यूः। अक्षद्युवौ। अक्षद्युवः। छस्य झलादौ पृष्ट.। पृष्टवान्। पृष्ट्वा। पृष्टिः। वकारस्य द्यूत.। द्यूतवान्। क्ङितीत्येव द्युभ्याम्। द्युभि.। अत्र दिविस्वव्युत्पन्न गृह्यते। ननु क्ङितिग्रहणं नानुवर्त्यं "दिव उत्" [४।३।१०८] इति ऊठ उदादेशे कृते सिद्धम्। एवं च "व्रश्च" [५।३।८३] आदिसूत्रे छकारग्रहणं न कर्तव्यं स्यात्। न चावश्यमुत्तरार्थं क्ङिद्ग्रहणमनुवर्त्यम्। प्रपञ्चार्थमिति प्रश्चात् छकार.। व्रश्चादिसूत्रेण यत्र षत्वं नास्ति तत्र श्रवणार्थं शकार.। प्रश्नः। वाछेः क्विपि वाट्। वाशौ। वाशः। गोविशौ। गोविशः। गोविशा। शकारस्मात्तत्र्यादपृयादेशः ठित्वा।

शठोरयमपवादः। क्ङितीति निवृत्तम्। यङ्लुपि जोहोर्ति। मोमोर्ति। "न धुवेऽगे" [१।१।१८] इति गविधेर प्रतिषेधो न भवति।

इटीटः ॥४।४।२०॥ इटि परत इट उत्तरस्य ख भवति। इडीटोर्मध्ये सामर्थ्यात्से: खम्। अदेवीत। असेवीत्। अग्रहीदित्यत्र "ग्रहोऽलिटि दी." [५।१।८५] इति दीत्वे कृते इटः स्थानिवद्भावात्से: खम्।

असिद्धवदत्राभात् ॥४।४।२१॥ असिद्धवच्छास्त्रं भवति आ भसशब्दनात्। अत्र शास्त्रे कर्तव्य इत्यधिकारो वेदितव्यः। आङभिविधौ द्रष्टव्यः। एधि इत्यत्र नित्यत्वादस एत्वखभावयोः कृतयोर्झल्लक्षणं धित्वमप्राप्तमसिद्धत्वाद्भवति। जहीत्यत्र जादेशे कृते "अतो हे." [४।४।९६] इत्युप् प्राप्नोति असिद्धत्वान्न भवति। गतमित्यत्र क्ङिति झलि ङखे कृते अतः ख प्राप्तमसिद्धत्वान्न भवति। एवं यथायोगमुत्सर्गलक्षणसमावेशः। आदेशलक्षणप्रतिषेधश्च वेदितव्यः। वत्करणं किम्? स्वाश्रयमपि यथा स्यात्। देभतुः। देभुः। दम्भेरुपसंख्यानेन लिटः कित्त्वे कृतेऽनु नखस्य सिद्धत्वात् "हल्मध्ये लिट्यतः" [४।४।१०८] इत्येत्वं भवति। तथा वुगागमे उवादेशो सिद्धः। बभूव। बभूवतुः। बभूवुः। युडागमः "एर्गिवाक्चादुडोऽसुधियः" [४।४।७८] इति यणादेशे कर्तव्ये सिद्धः। उपदिदीये। उपदिदीयेते। उपदिदीयिरे। अद्ग्रहणं किम्? अभाजि रागः। "उदोऽत" [५।२।४] इत्येषि कर्तव्ये नकारस्य ख नासिद्धम्। आभादिति किम्? ररन्धिव। ररन्धिम। हल्मध्ये लिट्यत इति एत्वे कर्तव्ये नुम्शास्त्रं नासिद्धम्।

श्नान्नखम् ॥४।४।२२॥ श्नात्परस्य नकारस्य ख भवति। भनक्ति। हिनस्ति। सशकारस्य ग्रहणं किम्? नन्दिता। नन्दक.। नैतदस्ति मण्डूकप्लुत्या क्ङिद्ग्रहणानुवृत्तेः। क्ङितो नात्परस्य खमिष्टम्। इह तर्हि मा भूत्। यज्ञानाम्। यत्नानाम् "नामि" [४।४।३] इति दीत्वात्परत्वेन नखमिदं स्यात्। "सुपि" [५।२।९७] इति तु दीत्वं सन्निपातपरिभाषया वार्यते। स्थानिवद्भावाद्वा नखं प्राप्नोति। प्रश्नानाम्, विश्नानाम् इत्यत्र लाक्षणिकत्वान्न भवति। श्नादिति श्नमो नष्टनकारस्य ग्रहणम्। न इति ङसो नाशे अकारेणोच्चारणार्थेन निर्देशः।

हलुङः क्ङित्यनिदितः ॥४।४।२३॥ हल उङो नकारस्य ख भवत्यनिदितो गोः क्ङिति परतः। स्रस्तः। स्रस्यते। ध्वस्तः। ध्वस्यते। स्रस्नाति। सनीस्रस्यते। भ्रश्नाति। बनीभ्रश्यते। हल इति जातिग्रहणमपि। मग्नः। मग्नवान्। हल इति किम्? नीतम्। नेनीयते। उङ इति किम्? नद्धम्। नानह्यते। क्ङितीति किम्? स्रंसित्वा। मृडादिनियमादकित्त्वम्। अनिदित इति किम्? शङ्क्यते। मङ्क्यते। तपरकरणं किम्? समिद्धम्। हलुङः इति योगविभागः। तेन "लङ्घिकम्प्योरुपतापशरीरविकारयोर्नखम्"। विलगितः। विकपितः। विलङ्घित.। विकम्पित. इत्यन्यत्र।

दंशसंजस्वञ्जां शपि ॥४।४।२४॥ दश सञ्ज स्वञ्ज इत्येतेषां शपि परत उङो नकारस्य ख भवति। दशति। सजति। परिष्वजते।

रञ्जेः ॥४।४।२५॥ रञ्जेश्च शपि परत उङो नकारस्य ख भवति। रजति। रजतः। रजन्ति। योगविभाग उत्तरार्थः।

णौ मृगरमणे ॥४।४।२६॥ रञ्जेर्णौ परतो मृगरमणेऽर्थे नकारस्य ख भवति। रजयति मृगान् व्याधः। मृगान् रमयमाणान् दर्शयतीत्यर्थः। "जनीजॄक्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च" इति मित्त्वाद्दुङः प्रादेशः। मृगरमण इति किम्? रञ्जयति वस्त्रम्।

घञि भावकरणे ॥४।४।२७॥ भावकरणाभिधायिनि घञि परतो रञ्जेर्नकारस्य ख भवति। आश्चर्यो रागः। विचित्रो रागः। करणे रजति तेन रागः। भावकरण इति किम्? रजत्यस्मिन्निति रङ्गः। अधिकरणे न "हल" [२।३।१०२] इति घञ्। घिनुणि कथं नखम्। रागी। "दुहानुरुध" [२।२।११८]

आदि सूत्रे त्यजरजादि निपातनात्सिद्धम् । "दशनहः करणे ष्ट्रन्" इति सूत्रे दशेति विकरणनिर्देशेन निपातनम् । अजादिषु पाठाद् दंष्ट्रेति "रजकरजनरजःसु नखे यत्नः कर्तव्यः" [वा०] "शिल्पिनि ष्वुन्" । युः । औणादिकश्च "असुन् सर्वधुभ्यः" इत्यसुन् ।

स्यदावोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः ॥४।४।२८॥ स्यद, अवोद, एध, ओद्मन्, प्रश्रथ, हिमश्रथ इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । स्यद इति स्यन्देर्घञि नखमैत्रभावश्च निपात्यते जवेऽभिधेये । गोस्यदः । अश्वस्यदः । कृद्योगे तासः । जवादन्यत्र तैलस्यन्दो घृतस्यन्दः । अवोद इति उन्देरवपूर्वस्य घञि नख निपात्यते । एध इन्धेर्घञि नख-मेप् च निपात्यते । "न धुखेऽगे" [१।१।१८] इति प्रतिषेधो मा भूत् । ओद्म इति उन्देरौणादिके मनि नखम् । प्रश्रथः हिमश्रथ इति श्रन्थेः प्रपूर्वस्य हिमपूर्वस्य च घञि नखमैत्रभावश्च निपात्यते । "न धुखेऽगे" [१।१।१८] इत्यत्र इकोऽनुवर्तनादेपः प्रतिषेधो न स्यात् ।

नाञ्चेः पूजे ॥४।४।२९॥ अञ्चतेः पूजेऽर्थे नकारस्य ख न भवति । अञ्चितोऽस्य गुरुः । समञ्चित जिन गतः । "अञ्चेः पूजायाम्" [५।१।१०१] इति तक्त्वोरिट् । हलुङ इति नखप्राप्तिः । पूज इति किम् ? उदक्तमुदकं कूपात् । अक्त्वा रज्जुम् । "वोदितः" [५।१।१०४] इत्यनेनेट्पक्षे मृडादिनियमादकित्त्वम् । अञ्चित्वा । ते "यस्य" [५।१।१२१] इति प्रतिषेधः । नाञ्चेरित्यनेनैव प्रतिषेधेन नकारः कृतचुत्वो निर्दिष्टः ।

क्त्वि स्कन्दस्यन्दोः ॥४।४।३०॥ क्त्वात्ये परतः स्कन्द स्यन्द इत्येतयोर्नकारस्य ख न भवति । स्कन्त्वा । स्यन्त्वा । स्यन्देः "स्वरति" [५।१।६२] इत्यादिनाऽनिट्पक्षे किक्त्वान्नख प्राप्तम् । इट्पक्षे तु मृडादिनियमादेवाकित्त्वे सति नखाभावः सिद्धः । क्त्वीति द्वितकारकनिर्देशः । तकारादौ क्त्वात्ये इति । तेन प्रस्कद्य प्रस्यद्येत्यत्र "अनल्विधौ" [१।१।५६] इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्तकारादित्व नास्तीति ख भवत्येव ।

जनशोर्वा ॥४।४।३१॥ ज इति वर्णग्रहणम् । जान्तस्य गोर्नशेश्च वा नख भवति क्त्वात्ये परतः । रक्त्वा । रक्त्वा । भक्त्वा । भक्त्वा । नष्ट्वा । नंष्ट्वा । नशे "रधादेः" [५।१।६३] इति विभाषितेटोऽनिट्पक्षे "मस्जिनशोर्झलि" [५।१।२६] इति नुम् । "हलुङः" [४।४।२३] इति नित्ये नखे प्राप्ते विकल्पः । हल इति जातिग्रहणपक्षे मस्जेरपि नित्य नखे प्राप्ते मक्त्वा । अनखपक्षे द्वयोः स्कमजामाश्रित्य स्कादिसखम् ।

भञ्जेर्ञौ ॥४।४।३२॥ भञ्जेः ञौ परतो वा नख भवति । अभाजि । अभञ्जि पापं मुनिना । नखम् प्राप्तमनेन पक्षे विधीयते ।

अनेनान्त्यस्य सम्भवादाकारे कृते पूर्वेण उङ इत्वे चानिष्ट रूपं स्यात्। ननूङ आत्वे कृते "घि" [५।३।४३] इति सखे च सिद्धं शाधीति उङ इति तर्हि निवृत्तम्। अपि च प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि सत्त्वस्य यथा स्यादित्येवमर्थः शादेशः।

हन्तेर्जः ॥४।४।३६॥ हन्तेर्ज इत्ययमादेशो भवति हौ परतः। जहि मन्युम्। जहि पापम्। तिपा निर्देशाद् यङ्लुबन्तनिवृत्तिः। जघ्नहीति।

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनां ङखं झलि क्ङिति ॥४।४।३७॥ अनुदात्तोपदेशाना गूना वनतेस्तनोत्यादीना च ङस्य ख भवति झलादौ क्ङिति परतः। क्ङितीति निर्देशात्पूर्वस्याव्यवहितस्य खम्। यत्वा। यतिः। यतः। यतवान्। ङखे विहतनिमित्तत्वात् "ङस्य" [४।४।१३] इति दीत्व न भवति। अनुदात्तोपदेशाः यमिरमिनमिगमिहनिमन्यतय. पट्। वतिः। वनतेः स्त्रिया क्तौ। तनोत्यादीना तत्वा। ततिः। ततः। ततवान्। मनोतेरात्व वक्ष्यति। क्षतः। क्षतवान्। ङिति। हतः। हथः। अतत। अतथाः। "तनादिभ्यस्तथासोः" [१।४।१४८] इति सेलुप्। एतेषा ग्रहण किम्? शान्त.। तान्तः। ङस्येति किम्? पक्ववान्। झलीत्येव। गम्यते। क्ङितीति किम्? यन्ता। यन्तुम्। उपदेशग्रहणमुत्तरार्थम्। वनतेस्तिपा निर्देशाद्यङ्लुबन्तस्य निवृत्ति.। ववातः।

शपा तिपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च।
यच्चैकाज्ग्रहणं किञ्चित्पञ्चैतानि न यङ्लुपि ॥

तनोतेर्गणनिर्देशादेव यङ्लुबन्तस्य न भवतीति सिद्धे तिपा निर्देशः "द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति" [प०] इति निदर्शनार्थस्तेन सकृदुक्त ऐप् क्वचिन्न भवति। ज्योतींष्यधिकृत्य कृतो ग्रन्थो ज्यैतिपः। पुनः क्ङितीति ग्रहण विस्पष्टार्थम्।

ल्यपि ॥४।४।३८॥ ल्यपि च परतोऽनुदात्तोपदेशादीना ङख भवति। प्रहत्य। प्रमत्य। प्रवत्य। प्रतत्य। प्रगत्य। प्रक्षत्य। अझलादावपि विध्यर्थमिदम्।

वा मः ॥४।४।३९॥ अनुदात्तोपदेशादिषु मकारान्ताना वा ङख भवति ल्यपि परतः। प्रयत्य। प्रयम्य। प्ररत्य। प्ररम्य। प्रणत्य। प्रणम्य। प्रगत्य। प्रगम्य। पूर्वेण नित्ये खे प्राप्ते विकल्पः।

न क्तिचि दीर्घ ॥४।४।४०॥ क्तिचि परतः अनुदात्तोपदेशादीना ङख दीर्घश्च न भवति। यन्तिः। रन्ति। नन्ति.। वन्ति.। तन्तिः। क्षन्तिः। अनुदात्तोपदेशादीनामित्येव। शान्तिः। दीत्व भवत्येव।

गमः क्वौ ॥ ४।४।४१॥ गमः क्वौ परतो ङस्य ख भवति। जनगत्। कलिगत्। मोक्षगतो मुनयः। "वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्" [प०] इति झलाद्यभावादप्राप्त ङखमनेन विधीयते। पूर्वसूत्राच्चकारोऽनुवर्तते, सोऽनानुक्तसमुच्चयार्थ.। तेन गमादीना क्वौ ङख द्रष्टव्यम्। सयत्। परीतत्। "वागमिङ्" [१।३।८२] इति पक्षे कृते "नहिवृति" [४।३।२१६] इत्यादिना परेदीत्वम्।

वन्या ॥४।४।४२॥ अनुदात्तोपदेशादि निवृत्तम्। ङस्येति वर्तते। टान्तस्य गोर्वनि परत आत्व भवति। दिजावन इति विजावा। "मन्वन्क्वनिव्विच. क्वचित्" [२।२।६२] इति वन्। "वशि" [५।१।११४] इतीट्प्रतिषेधः। अन्तेऽल. स्थाने आत्वम्। एवम् अग्रेगावा। दधिक्रावा। दीर्घोच्चारण किमर्थम्? ओण् अपनयन इत्यस्माद्वनि अवावा। घुण घूर्ण भ्रमणे। घ्वावा। इवि व्याप्तौ—यावा। "इदिद्धोर्नुम्" [५।१।३७] "वलि ध्यो लम्" [४।३।७७] इति वनि परतो नकारस्य लम्। एतच्च वर्णनिमित्त नागनिमित्तमिति न धखेऽवात् "णुट" [५।२।८२] इत्येव प्राप्तमन्तरङ्गत्वात्राणादेशो बाधते।

जनसनखनाम् ॥४।४।४३॥ जन सन खन इत्येतेषां टस्य झलादौ क्ङिति परत आकारादेशो भवति। जातः। जातवान्। जातिः। सातः। सातवान्। सातिः। खात.। खातवान्। खातिः। सनोतेस्तनादौ पाठस्य "तनादिभ्यस्तथासोः" [१।४।१४८] इत्यादिकार्यमवकाशः। इह पाठस्य च सनि परत आत्वमवकाशः। झलादौ क्ङिति इ खादित्व परत्वात्। ननूभयोः सिद्धत्वे स्पर्धः इह च "असिद्धवदत्राभात्" [४।४।२१] इत्युभयम प्यसिद्ध तत्कथ परत्वम्। अत्रोच्यते "भुमास्थागा" [४।४।६७] आदिसूत्रे हलीति हल्ग्रहण ज्ञापक भवति स्पर्धः। तथाहि तस्यैतत्प्रयोजन हलादावीत्वं यथा स्यात्। अजादौ मा भूत्। । गोदः कम्बल्द. इति। अस्यासी-त्व तस्यासिद्धत्वात् "इटि चात्" [४।४।६२] खेन सेत्स्यति नार्थो हल्ग्रहणेन। तदेतत्स्पर्धे सति सार्थकम्। कि मार्गे हल्ग्रहणे गोद इत्यत्र परत्वादीत्वे "सकृद्गते परनिर्णये विधिर्बाधितो बाधित एव" [प०] इत्यात्व न स्यादिति मन्यमानो हलीत्याह।

सनि ॥४।४।४४॥ सनि च झलादौ परतो जनादीना टस्य आकारादेशो भवति। सिषासति। झलित्येव। जिजनिषते। सिसनिषति। चिखनिषति। "सनीवन्तर्ध" [५।१।६७] इत्यादिनाऽनिट्पक्षे सनोतेरेव सन् झलादिः सम्भवति। क्ङिद्ग्रहणमसम्भवादिह न सबध्यते।

ये च ॥४।४।४५॥ क्ङितीति वर्तते। क्ङिति यकारे त्ये परतो वा जनादीनामाकारादेशो भवति। जायते। जन्यते। जाजायते। जञ्जन्यते। श्ये परत्वाद् "ज्ञाजनोर्जा" [५।२।७७] इति नित्यो जादेशः। सायते। सन्यते। सासायते। संसन्यते। खायते। खन्यते। चाखायते। चङ्खन्यते। अझलादावपि यथा स्यादित्यारम्भः। क्ङितीत्येव। जन्यम्। "शकिसहश्च" [२।१।८६] इति चशब्देनान्येभ्योऽपि य। यथे न सान्यम्। खान्यम्। य इति त्यनिर्देशो न वर्णनिर्देशः। तेनेह न भवति सन्यात्। खन्यात्। "किदाशिषि" [१।४।८५] इति कित्वम्।

तनोतेर्यकि ॥४।४।४६॥ तनोतेर्यकि परतो वा आकारादेशो भवति। तायते। तन्यते। यकीति किम् ? तन्तन्यते। अप्राप्ते विकल्पः।

सनः क्तिचि खं च ॥४।४।४७॥ सनः क्तिचि परत. ख भवत्याकारश्च वा। सतिः। सातिः। सतिः।
"न क्तिचि दीर्घश्च" [४।४।४०] इति इत्वदीर्घयोः प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम्।

भ्रस्जोरसोरम्वा ॥४।४।४६॥ भ्रस्जो रेफसकारयोर्वा रमादेशो भवति । भर्ष्टा । भ्रष्टा । भर्ष्टुम् । भ्रष्टुम् । भर्ष्टव्यम् । भ्रष्टव्यम् । रसोरिति पुनस्तयोः उपादानादादेशोऽय रसोः स्थाने भवति मित्त्वोच्चारणमाम-र्थ्यादचोऽन्त्यात्परो भवति । रमभावपक्षे रुपादेः सत्वम् । ननु रेफस्यैव रमादेशो वक्तव्यः । द्वयोः रुकागमाश्रित सत्वेन सिद्धमिति चेदजादौ न सिध्यति । भर्जनम् । भ्रज्जनम् । भर्गः । भ्रज्गः । पक्षे "झला जश् झशि" [५।४।१२८] इति सकारस्य दत्वम् । रमादेशस्यावकाशोऽक्ङिति भ्रष्टा । भर्ष्टा । जेरवकाशो भृज्जति । इहोभय प्राप्नोति भृष्टा । भृष्टवानिति । कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यो जिर्भवति । जौ कृते रमादेशो न भवति । उपदेश इत्यनुवर्तनात् । तेनेहापि न भवति बरीभृज्यते ।

अतः खम् ॥४।४।५०॥ अगेऽकारान्तस्य खं भवति । चिकीर्षिता । धिनोति । धिनुतः । कृणोति । कृणुतः । इवि दिवि धिवि प्रीणने । कृवि हिंसाकरणयोश्च । "इदिद्वोर्नुम्" [५।१।३७] । "धिन्विकृण्व्योर च" [२।१।७५] इति उविकरणः । अकारश्चान्तादेशः । तस्य खे । तपरकरणं किम् ? याता । णेपोऽवकाशः प्रियमाचष्टे प्रापयति । कारयति । अत्खस्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभय प्राप्नोति चिकीर्षक इति । दीत्वस्या-वकाशः पण्डितायते । लूयते । अत्खस्यावकाशः चिकीर्षिता । इहोभय प्राप्नोति चिकीर्ष्यते इति । किमत्र तत्त्वम् ? "ऐन्दीत्वाभ्यासमतः खं पूर्वनिर्णयेन" [वा०] "लिप्स्यसिद्धौ" [२।३।५] इत्यत्र लिप्स्य इति विग्रहनिर्देशात् ।

हलो यः ॥४।४।५१॥ हलन्तादगोरुत्तमस्य यकारस्य ख भवत्यगे । बेभिदिता । बेभिदितुम् । बेभिदित-व्यम् । पूर्वेणातः खे कृते यखविधिं प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधादनेन यखम् । तृचमपेक्ष्य "ध्युङः" [५।२।८३] एप्राप्तोऽतः खस्य स्थानिवद्भावान्न भवति । "न धुखेऽगे" [१।१।१८] इत्यत्र तु प्रतिषेधो हलचोः खे त्रल्मानस्य खे न प्रवर्तते । लोलुवः । देध्यः इति । अत्र "यङोऽचि" [१।४।१४४] इत्युच्छास्त्र कृत प्रसङ्गेन नित्यम् । अपि तु कृतेऽतः खे शास्त्र न प्रवर्तते इत्यनित्यम् । तेन हलचोरपि कृते स्थानिवद्भावाभावात् "न धुखेऽगे" [१।१।१८] इत्यनेन प्रतिषेधः । हल इति किम् ? लोलूयिता । पोपूयिता । गोर्निमित्तत्वेन विशेषणा-दिह न भवति । ईर्ष्यिता । समिध्यिता । अतः खे कृतेऽपि यकारमात्रस्य त्यस्य गुणज्ञानिमित्तत्वमस्ति यथा अकरोदित्यत्र तिप इकाराभावेऽपि ।

वा क्यस्य ॥४।४।५२॥ क्यस्य हल उत्तरस्य वा ख भवत्यगे । समिधिता । समिध्यिता । दृषदिता । दृषद्यिता । समिधमिच्छति आत्मनः "स्वेपः क्यच्" [२।१।६] समिधमिवाचरति "गौणादाचारे" [२।१।८] इति वा क्यच् । समिदिवाचरतीति "कर्तुः क्यङ् स खं विभाषा" [२।१।६] इति क्यङ् । तान्येवोदाहरणानि । हलन्तात् क्यस्योऽसम्भवः । "न क्ये" [१।२।१०४] इति पूर्वपदत्वाभावः ।

णेः ॥४।४।५३॥ अगे णेः ख भवति । अततक्षत् । इयादेशः प्राप्तः । आटिटत् । इयादेशापवादः "गुर्गिवाकृ चादुटोऽसुधिय" [४।४।७८] इति यत्व प्राप्तम् । कारणा । हारणा । ऐप् प्राप्तः । ज्ञीप्स्यति सनि दीत्व प्राप्तम् । कार्यते । हार्यते "दीरकृद्गे" [५।२।१३४] इति दीत्व प्राप्तम् । कारको हारकः । ऐप् प्राप्तः । णिङ् कामनम् । कामक । काम्यते । इत्यादिभिः सर्वस्य विषयस्यावष्टब्धत्वात्सामान्यरूपेण तेषामयमपवादः ।

ते सेटि ॥४।४।५४॥ तसञ्के सेटि परतो णेः ख भवति । कारितम् । गणितम् । लक्षितम् । ज्ञपित । रूपे सनि विकल्पितेटोऽपि "यस्य वा" [५।१।१२१] इत्यनेन प्रतिषेधः । एकाच इत्य-पेक्षणात् । व । लोहि विरुत प्रभुरिति विकल्पेन "क्षुब्धस्व" [५।१।१२४] इति निपातनात् । नियमार्थोऽय-मारम्भ । त एव सेटि नान्यस्मिन् । कारयिता । हारयिता । ते सेट्येवेत्यवधारणं न भवति णेः परस्यानिटस्तस्या ल्पार्थत्वाभावात् । सेटीति वचनात्पूर्वमिडागम पश्चात्खम् । अन्यथा कृताकृतप्रसङ्गेन नित्ये णिखे कृते "स्वदेशविहितस्यानन्यत्वात्" [प०] कारितमित्यत्र "एकाचोऽनुदात्तात्" [५।१।११५] इतीट्प्रतिषेधः प्रसज्येत ।

अयामन्ताल्वाय्येत्नुषु ॥४।४।५५॥ णेरयादेशो भवति आम् अन्त आलु आय्य इत्नु इत्येतेषु परतः । आम् । कारयाचकार । अन्त । गडयन्तः । मण्डयन्तः । "दृविशिभ्यां झः" [उ० सू०] । "गडिमदिमण्डिजिनन्दिभ्यश्च" [उ० सू०] इति झ. । आलु. । स्पृहयालुः । आय्य. । स्पृहयाय्य । "महिस्पृह-चिस्पृहिभ्य आय्यः" [उ० सू०] इत्याय्यः । इत्नुः । स्तनयित्नुः । गदयित्नुः । "स्तनिहृषिपुषिगदिमदि-भ्यो णेरित्नुः" [उ० सू०] । णिखस्यायमपवादः । नेति सिद्धेऽयादेश उत्तरार्थ. ।

ल्ये विपूर्वात् ॥४।४।५६॥ ल्ये परतो विपूर्वाद्वर्णात्परस्य णेरयादेशो भवति । प्रशमय्य । प्रतमय्य । लवणं कृतवान् प्रलवणय्य । प्रस्तनय्य । यदन्तादिणिचि प्रवेविदय्य गतः । ननु आदेशदित्वात्लयखानामाभाच्छा स्त्वादसिद्धत्वे कथं विपूर्वाद्वर्णात्परो णिः । व्याश्रयत्वात्सिद्धत्वम् । आदेशादयो णौ ल्ये परतो णेरादेश इति वचनाद्वा सिद्धत्वम् । विपूर्वादिति किम् ? प्रहास्य प्रचिकीर्ष्य गतः ।

वाऽऽपः ॥४।४।५७॥ आपः परस्य णेः ल्ये परतो वाऽयादेशो भवति । प्रापय्य प्राप्य गतः । स्वादिस्य चौरादिकस्य चापेर्ग्रहणम् । सूत्रमध्याप्य गतः इत्यत्र लाक्षणिकत्वान्न भवति । अपजकल्ने प्रापय्य गतः इत्यादेशस्यासिद्धत्वादयेव भवति ।

क्षियो दीः ॥४।४।५८॥ वेति नाधिकृतम् । क्षियो दीर्भवति ल्ये परतः । आक्षीय । लुकि प्राप्ते दीत्वम् ।

तेऽण्ये ॥४।४।५९॥ अण्यार्थे विहिते ते परतः क्षियो दीर्भवति । कः पुनरण्यार्थो यः पर्युदस्यते । भावकर्मणो "तयोर्व्यक्तखार्थः" [२।४।५५] इति वचनात् आक्षीणः । परिक्षीणः । "थिगत्यर्थाच्च" [२।४।५८] इति कर्तरि क्तः । दीत्वे कृते क्षीत इति तस्य नत्वम् । इदम् क्षीणं सार्थस्य । क्षीयतेऽस्मिन्निति "अधिकरणे चाद्यर्थाच्च" [२।४।५९] इत्यधिकरणे क्तः । "क्तस्याधिकरणे" [१।४।७०] इति कर्तरि ता । अण्य इति किम् ? आक्षितमस्य । भावे दीत्वाभावान्नत्वं नास्ति । मगेः क्षियः सकर्मकत्वे कर्मण्यपि ।

वा दैन्याक्रोशे ॥४।४।६०॥ अण्यार्थे ते परतो दैन्ये आक्रोशे च गम्ये क्षियो वा दीर्भवति । दैन्ये क्षितोऽयं क्षीणोऽयं वराकः । आक्रोशे क्षितोऽसि क्षीणोऽसि जाल्म । क्षितायुः । क्षीणायुः । कर्तरि क्तः । अण्य इत्येव । क्षितं वराकस्य । क्षितं जाल्मस्य ।

सिस्यसीयुट्तासौ ङौ ग्रहाज्झनदृशां ञिवदिट् च ॥४।४।६१॥ सि स्य सीयुट् तासि इत्येतेषु परतो डावर्थे ग्रहेरजन्तानां हनि दृशि इत्येतयोश्च वा ञिवत्कार्यं भवति । यदा ञिवद्भावस्तदा इडागमश्च भवति स्यसिच्सीयुट्तासीनाम् । अग्राहिषाताम् । अग्रहीषाताम् । "ग्रहोऽलिटि दीः" [५।१।८५] इत्यत्र प्रकृतत्वेऽपि दीत्वम् । ग्राहिष्यते । ग्रहीष्यते । ग्राहिषीष्ट । ग्रहीषीष्ट । ग्राहिता । ग्रहीता । इटो दीत्वार्थं ञित्व च प्रयोजनम् । अजन्तानाम्—अचायिषाताम् । अचेषाताम् । अग्लायिषाताम् । अग्लासाताम् । अ

"णिणमोर्दीर्मिताम्" [४।४।८६] इति वा दीत्वे कृते द्वे रूपे शामिष्यते। शमिष्यते। नित्यत्वाद्दलात्प्रागन्तेरु- त्पाधित्वा णिवदिट्। तस्यासिद्धत्वाण्णित्वम्। अन्यत्र शमयिष्यते। णो दृष्ट कार्यं सामान्येनातिदिश्यते। तेन घानिष्यते। ग्लायिष्यते। अध्यापिष्यते इत्यत्र हनिणिङा णिवद्भावे वधादय आदेशाः लुटि विहिता न भवन्ति।

दीङोऽचि क्ङिति युट् ॥४।४।६२॥ दीङोऽजादौ क्ङिति परतो युडागमो भवति। उपदिदीये। उपदि- दीयाते। उपदिदीयिरे। दीङ इति कानिर्देशोऽचीत्यस्योत्तरत्र सावकाशस्य ता कल्पयति। वचनाद्युटः सिद्धत्वात् "युर्भिवाश्वादुङोऽसुधियः" [४।४।७८] इति यणादेशो न भवति। अचीति किम्? उपदीयते। क्ङितीति किम्? उपादानम्। "गागयोः" [५।२।८१] इत्येप्। "मिन्मीञ्दीङां प्ये च" [४।३।४२] इत्यात्वम्। यद्युन्त्ता- दामा भवितव्यमित्यनुबन्धनिर्देशो विस्पष्टार्थः। पूर्वान्तकरणे उपदिदीयिध्वे इत्यत्र इणन्तादुगोरुत्तरस्य टत्व प्रसज्येत।

इटि चात्खम् ॥४।४।६३॥ इटि अजादौ च क्ङिति परत आकारान्तस्य गोः ख भवति। पपिथ। जग्लिथ। "वोपदेश" [५।१।१०८] इत्यादिनेट्। पपतुः। पपुः। तस्थतुः। तस्थुः। गोदः। कम्बलदः। ङिति- प्रपा। मत्था। अचीत्येव। दासीय। ग्लायते। "रुञ्जभेद." [२।४।८६] इतीटोऽकारादेशः। अग इत्येव। यानि। व्यत्यस्ते। इटीति यद्यविशेषेणग्रहणं तदा गेऽप्यातः खेन भवितव्यम्। व्यत्यस्तोति। एतच्च अगाधि- कारेण विरुद्धमिव लक्ष्यते।

ईप्ये ॥४।४।६४॥ आकारान्तस्य गोरीकारादेशो भवति ये परतः। देयम्। धेयम्। ग्लेयम्। "गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्" [प०] इति अनित्यमेतत्। "देयमृणे" [३।३।२२] इत्येपो निर्देशात्। यदेप् क्रियते दीत्वोच्चारणं किमर्थम्? पीतम्। हीनम्। य इति "निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य" [प०]। ग्लायते। म्लायते।

भुमास्थागापाहाक्सां हलि ॥४।४।६५॥ क्ङितीति वर्तते। भु मा स्था गा पा हाक् सा इत्येतेषा- मीकारादेशो भवति हलादौ क्ङिति परतः। भुसञ्ज्ञानाम्। दीयते। देदीयते। धीयते। देधीयते। पीतं वत्सेन। मा इत्यविशेषेण ग्रहणम्। "गामादाग्रहणेष्वविशेष" [प०] इति। मीयते। स्था—स्थीयते। तेष्ठीयते। गा इत्यविशेषेण ग्रहणम्। गीयते। जेगीयते। अध्यगीष्ट। "लुङ्लङोर्वा" [१।४।१२२] इति ईङो गादेशः। पा इत्यनुविकरणपिबतेर्ग्रहणम्। पीयते। पेपीयते। पातेस्तु पायते। पानम्। हाक्—अवहीयते। अवजेहीयते। जिहीतेस्तु हायते। हातम्। सा—अवसीयते। अवसेषीयते। हलीति किम्? ददतुः। ददुः। क्ङितीत्येव। दाता।

लिङ्येत् ॥४।४।६६॥ लिङि परतो भुमादीनामेकारादेशो भवति। देयात्। धेयात्। मेयात्। स्थेयात्। गेयात्। पेयात्। अवहेयात्। अवसेयात्। क्ङितीत्येव। दासीष्ट।

वाऽस्थः स्फादेः ॥४।४।६७॥ आकारान्तस्य स्फादेः स्थावर्जितस्य गोरेकारादेशो भवति वा लिङि परतः। ग्लेयात्। ग्लायात्। म्लेयात्। म्लायात्। अस्थ इति किम्? स्थेयात्। अन्यथोभयप्राप्तौ परत्वादेतेन विकल्पः स्यात्। स्फादेरिति किम्? यायात्। क्ङितीत्येव। ग्लासीष्ट। गोरित्येव। निर्यायात्।

न प्ये ॥४।४।६८॥ वेति नाधिकृतमुत्तरत्र वाग्रहणात्। प्ये परतो भुमादीना यदुक्तं तन्न भवति। प्रदाय। प्रधाय। प्रमाय। प्रगाय। प्रस्थाय। प्रपाय। अवहाय। अवसाय। ईत्वप्रतिषेधोऽयम्। वचनात् "अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग प्यादेशो बाधते" [प०] इति ज्ञापितम्। तेन "द्यो दङ्गोः" [५।२।१४८] इति दत्वम्। स्थामोर्हि ह्रस्वेत्व। "हाकः क्त्वि" [५।२।१४७]। मास्थाहत्यतीनामित्त्वं च न भवति। प्यादेशे इत्यादि ... अन्तिवृत्तावप्रतिषेधात्सातिः।

वेमेङः ॥४।४।६९॥ मेङः ल्ये परतो वा इकारादेशो भवति । अपमित्य । अपमाय । "मेङो व्यतीहारे" [२।४।५] इति क्त्वा ।

लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वट् ॥४।४।७०॥ लुङि लङि लृङि च परतो गोरडागमो भवति । अकार्षीत् । अकरोत् । अकरिष्यत् । ऐक्षिष्ट । औम्भीत् । ऐक्षत । औम्भत् । ऐक्षिष्यत । औम्भिष्यत् 'अटश्च [५।३।७८] इत्यैप् । आसन् आयन् इत्यत्र लावस्थायामडागमेऽन्तरङ्गत्वादेत्यायादेशे च कृतेऽत इत्यनुवृत्तेः "श्नसः खम्" [४।४।१०१] यणादेशश्च न भवतः ।

न माङ्योगे ॥४।४।७१॥ माङ्योगेऽडागमो न भवति । मा कार्षीत् । मास्म करोत् । मानिरमीत् । मास्म निरस्साम् । योगग्रहणं किम् ? मा भवान् कार्षीत् । इदमेव ज्ञापकं 'माङि लुङ्" [२।३।१५१] इत्यत्र माङ्योगे लुङ् द्रष्टव्यः ।

श्नुधुभ्रुवां य्वोरचीयुवौ ॥४।४।७२॥ श्नु धु भ्रू इत्येतेषां गोनामिवर्णोवर्णयोरजादौ परत इय् उव् इत्यादेशौ भवतः । श्नु । प्राप्नुवन्ति । राध्नुवन्ति । धु–चिक्षियतुः । चिक्षियुः । लुलुवतुः । लुलुवुः । नियौ । नियः । लुवौ । लुवः । भ्रू । भ्रुवौ । भ्रुवः । निर्दिश्यमानयोरिवर्णोवर्णयोरादेशः । यथा "पादः पत्" [४।४।११६] इति पाच्छब्दस्य पदादेशो न पादन्तस्य । नयति । भवति । नायकः । भावकः इत्यत्र परत्वादैपौ । अचीतीम्निर्देशाद् व्यवधाने न भवति । विविदतुः । विविदुः । गोरित्येव । न्यर्थम् । भ्र्वर्थम् ।

चस्याऽस्वे ॥४।४।७३॥ चस्येवर्णोवर्णयोरस्वेऽचि परत इयुवौ भवतः । इयेष । उवोष । पूर्वेण गुणनिमित्तेऽचि आदेश उक्त इति न प्राप्नोति । अस्व इति किम् ? ईयतुः । ईयुः । ऊषतुः । ऊषुः । अनीत्येव । इयाज । उवाप ।

स्त्रियाः ॥४।४।७४॥ स्त्रियाश्च इयादेशो भवति अचि परतः । स्त्रियौ । स्त्रियः । परमस्त्रियौ । परमस्त्रियः । अलैवानर्थकेन तदन्तविधिः नाऽन्यथातेन । तेन शास्त्रीशब्दस्य न भवति । स्त्रीणामित्यत्र परत्वान्नुट् । पृथक्करणमुत्तरार्थम् ।

वाम्शसोः ॥४।४।७५॥ अमशसोः परतः स्त्रिया वा इयादेशो भवति । स्त्रियं पश्य । स्त्रीं पश्य । स्त्रियः पश्य । स्त्रीः पश्य ।

औतः ॥४।४।७६॥ आकारादेशो भवति औतोऽम्शसोः परतः । द्यौरिति न स्यादिति गां गाः पश्य । गां गाः पश्य च गोशब्दस्य अमि शसि पूर्वनिर्णयेनात्वम् । चित्रगुं पश्येत्यत्रान्तरङ्गत्वात्प्रादेशे सत्याभावात् । तथा सहचरितत्वादिह न भवति । अचिनवम् । असुनवम् ।

दृन्कारापुनर्वर्षाभ्यो भुवः ॥४।४।८०॥ दृन् कारा पुनर् वर्षा इत्येतेभ्य उत्तरस्य भुवो यणा-देशो भवत्यचि सुपि परतः। दृन्भ्वौ। दृन्भ्वः। काराभ्वौ। काराभ्वः। पुनर्भ्वौ। पुनर्भ्वः। वर्षाभ्वौ। वर्षाभ्वः। नियमार्थोऽयमारम्भः। एतेभ्यः एव भुवो यण् नान्यस्मात्। प्रतिभुवौ। प्रतिभुवः। स्वयम्भुवौ। स्वयम्भुवः। मित्रभुवौ। मित्रभुवः। "भुवः स्वन्तरे" [२।२।१५२] इति क्विप्।

लुङ्लिटोर्वुक् ॥४।४।८१॥ भुवो वुगागमो भवति लुङ्लिटोरचि परतः। अभूवन्। अभूवम्। "स्येरिषव" [१।४।१४६] इत्यादिना सेरुप्। मिपोऽमादेशे "सूभवत्योर्मिङि" [५।२।८६] इत्येपि प्रति-षिद्धे वुक्। लिटि—बभूव। बभूविथ। बभूवतुः। बभूवुः। णलि थे च पूर्वविप्रतिषेधेनैवैपोर्वुका बाधा। लुङ्-लिटोरिति किम्? व्यतिभविषीष्ट। ओरित्यनुवर्तते तेन यङुबन्तस्य परत्वादेपि कृते न भवति। अबोभवम्।

हुश्नुवोर्गे वः ॥४।४।८२॥ हु श्नु इत्येतयोरुकारस्य वकारादेशो भवत्यजादौ गे परतः। जुह्वति। जुह्वतु। चिन्वन्ति। "प्रहाज्भ्रून्दशाम्" [४।४।६१] इत्यतो मण्डूकगत्याऽज्ग्रहणमनुवर्तते। तेनाच उत्तरस्य श्नोर्वकारादेशः। इह मा भूत्—प्राप्नुवन्ति। राध्नुवन्ति। हुश्नुवोरिति किम्? योयुवति। रोरुवति। चादित्यनु-वर्तनात्प्रसज्येत। ग इति किम्? जुहुवतुः। जुहुवुः। जुहवानि चिनवानीत्यत्र परत्वादेप्।

गोहेरूङः ॥४।४।८३॥ गोह उङ ऊकारादेशो भवत्यचि परतः। निगूहयति। निगूहकः। साधु निगूही। निगूहन्ति। निगूहम्। निगूहो वर्तते। गोहेरित्येप कृत्वा विकृतनिर्देशः किम्? यत्रास्यैतद्रूप तत्र न यथा स्यादिह माभूत्। निजुगुहतुः। निजुगुहुः। उङ इति किम्? अन्त्यस्य मा भूत्। प्रकृतिग्रहणे यङुबन्तस्य ग्रजि जोगूहः इत्यत्र चस्य च मा भूत्। ओरित्यनुवृत्तेः तद्विकारस्य चस्यापि प्रसज्येत। अचीत्येव। निगोढा। निगोढुम्। ऊ इत्यविभक्तिको निर्देशः। द्विमात्रश्चायमादेशः। अन्यथा एप्प्रतिषेधः क्रियेत।

दोषो णौ ॥४।४।८४॥ दोष उङः ऊकारादेशो भवति णौ परतः। दूषयति। दूषयते। दोप इति विकृतग्रहणं किम्? एपि कृते ऊकारो यथा स्यात्। अन्यथा प्रदूष्य गत इत्यत्र ऊकारस्यासिद्धत्वाण्णेरयादेशः प्रसज्येत। एपि कृते षिपूर्वत्व नास्तीत्यप्राप्तिः। णाविति किम्? दोषण दोषः।

वा चित्तविकारे ॥४।४।८५॥ चित्तविकारेऽर्थे दोपो णौ परत उङो वा ऊकारादेशो भवति। चित्त दूषयति। चित्त दोषयति। प्रज्ञा दूषयति। प्रज्ञा दोषयति। दोषमाचष्टे दोषयतीत्यत्र टिखस्यासिद्धत्वादुङः ओः स्थाने विकारो न भवतीत्यप्राप्ति। चित्तविकार इति किम्? एकान्तवादप्रयोग दूषयति। णावित्येव। चित्तस्य दोषः।

ञिणमोर्दीर्मिताम् ॥४।४।८६॥ ञिणम्परे णौ परतो मिता गूनामुङो वा दीर्भवति। अघटि। अघाटि। घट घटम्। घाट घाटम्। अशमि। अशामि। शम शमम्। शाम शामम्। घटते कश्चित्। शाम्यति कश्चित्। तमन्य प्रयुङ्क्ते इति णिच्। उङ एप्। वक्ष्यमाणेन 'प्र.' [४।४।८७] इत्यनेन प्रादेशः। ञौ णमि चानेनोङो वा दीर्भवति। ननु प्रादेश एव विकल्प्य। दीरिति किमर्थम्? न शक्यमेवम्। शमयतेर्णिचि कृते णौ णिखस्य स्थानिवद्भावात् उङः प्रादेशविकल्पो न स्यात्। दीत्वविधौ तु न स्थानिवद्भाव इति ञिपरो णिर्मितोऽनन्तर इति दीत्वविकल्प सिद्धः। अशमि। अशामि। तथा अत्यर्थ शाम्यतीति यङ्। शशम्यतेर्णिच्। 'अत. खम्" [४।४।७०]। "हलो य [४।४।७१] इति यखम्। अत्रापि यङोऽकारस्य दीत्वविधि प्रति न स्थानिवद्भाव इति अशंशमि। अशंशामि। स्वस्थानिवद्भावः शक्यम् व्याश्रयत्वात्। णौ हि णियङो. स ञिणम्परे णौ गोर्दीत्वमिति।

प्र ॥४।४।८७॥ णाविति वर्तते। मिता गूनामुङः प्रो भवति णौ परत। घटयति। व्यथयति। जनयति। "णिच्येपि" इति णिचि परत एप्प्रतिषेध उक्तस्ततो जेरन्युदाहरणम्। मितामिति किम्? कामयति। [illegible]। [illegible]। "न कम्यमिचमाम्" इति मित्संज्ञाप्रतिषेध। प्रशमय्य गत इत्यत्र णावुङः प्रादेशः

ण्ये परतो णेरयादेश इति व्याश्रयत्वात्प्रादेशस्यासिद्धत्वं न भवति। कथं सकामयति। केचिद् वेत्यनुवर्तयन्ति। सा च व्यवस्थितविभाषा ततो न दोषः।

खचि ॥४।४।८८॥ खच्परे णौ परतो ओरुटः प्रो भवति। युगन्धरः। वसुन्धरः। "भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः खौ" [२।२।४४] इति खच्। "खित्यखेः" [४।३।१७६] "मुमच." [४।३।१७७] इति मुमागमः।

ह्लादस्ते ॥४।४।८९॥ ह्लादस्ते परत उटः प्रो भवति। प्रह्लन्नः। प्रह्लन्नवान्। न इति किम्? प्रह्लादयति। ह्लाद इति योगविभागात्प्रह्लत्तिः।

छादेर्घे ॥४।४।९०॥ छादेर्घे परत उटः प्रो भवति। प्रच्छदः। उपच्छदः। "निकुप्रादय" [१।३।८१] इति षसः। उरश्छदः। तनुच्छदः। कृद्योगे तासः। छद अपवारणे इति चौरादिकः। अस्मात् "पुंसो घ प्रायेण" [२।३।१००] इति घे कृते णिखस्यासिद्धत्वम् "परेऽचः पूर्वविधौ" [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावो वा वचनसामर्थ्यान्न भवति। ततः उटः प्रादेशः। घ इति किम्? प्रच्छादनम्। तनुच्छादनम्।

नानेकणेः ॥४।४।९१॥ अनेको णिर्यस्य तस्य छादेरुटः प्रो न भवति। समुपच्छादः। एकणिग्रहणश्च छादिः पूर्वेण प्रादेशं प्रयोजयति।

मन्त्रेस्क्विषु ॥४।४।९२॥ मन् त्र इस् क्वि इत्येतेषु परतश्छादेरुटः प्रो भवति। छद्म। छत्रम्। छदिः। समुच्छद्। उपच्छत्। "सर्वधुभ्यो मनत्रौ" [उ० सू०] उणादिषु विहितौ। "अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इस्" [उ० सू०] इति इस्। "छादेर्घे" [४।४।९०] इत्यतः पृथक्करणमनेकणेरपि प्रादेशार्थम्। समुपच्छा। समुपाचिच्छत्। मिवसिधसामि पत्वम्।

गमहनजनखनघसां क्ङित्यनङि ॥४।४।९३॥ गम हन जन खन घस इत्येतेषां कुटः खं भवति अनङि किति ङिति परतः। अनङीति किम्? अगमत्। अघसत्। क्ङीति किम्? गमनम्। गमनीयम्। अचीत्येव। गम्यते। हन्यते।

हुझल्भ्यो हेर्धिः ॥४।४।९४॥ हु इत्येतस्मात् झलन्तेभ्यश्चोत्तरस्य हेर्धिरित्ययमादेशो भवति। जुहुधि। झलन्तेभ्यः–छिन्धि। भिन्धि। "श्नसः खम्" [४।४।१०१] इत्यस्य अनुस्वारविधिं प्रति न स्थानिवत्त्वम् इति अनुस्वारपरसवर्णौ। झल्भ्य इति किम्? लुनीहि। हेरिति किम्? जुवा जुहुतम्। "शुमाम्नागापाला नमा हलि" [४।४।६७] इत्यतो मण्डूकगत्या हल्ग्रहणमनुवर्तते। तेनाहलादेर्न भवति। रुदिहि। स्वपिहि। अथवा अत्र परत्वादिटि कृते "सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव" [प०]। जुहुतात्। भिन्तात्त्वमिति तातो परत्वात्तातङादेशः।

ञेरुप् ॥४।४।९५॥ ञेस्तस्य उप् भवति। अकारि। अलावि। लावस्यायमडागमः। पश्चात्... स्यमिति वर्तते। उप्ग्रहणं सर्वापहारार्थं पस्यादेर्मा भूत्। गोरित्यधिकारात् गोर्निमित्तस्य तस्योप् भवति अपाठि ग्रन्थः। अकारितरामित्यत्र तरस्यासिद्धत्वान्न भवति। ... पदार्थं प्रतिप्रत्ययं ... इति तदेव शास्त्रं तस्मिन् कथमसिद्धमिति नाशङ्कनीयम्।

अतो हेः ॥४।४।९६॥ अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य हेरुब्भवति। पच। हृष। गच्छ। अत इति किम्? ...हि। तपरकरणं किम्? याहि। लुनीहि। ईत्वस्यासिद्धत्वादाकारः। हेरिति वर्तमाने पुनर्हेरिति किम्? ...त्वं यथा स्यात् ... जीवतात्त्वम्।

उतस्त्यादस्फात् ॥४।४।९७॥ अस्फादिर्यो य उकारस्तदन्तात्त्यात्परस्य हेरुब् भवति। चिनु। सुनु। कुरु। तन्वादि ... अस्फादिति किम्? आप्नुहि। तक्ष्णुहि।

वा म्वोः खम् ॥४।४।६८॥ असंयोगपूर्वो य उकारस्तदन्तस्य वा खं भवति मकारवकारादौ परतः । सुन्वः । सुनुवः । सुन्मः । सुनुमः । सुन्वहे । सुनुवहे । सुन्महे । सुनुमहे । तन्वः । तनुवः । तन्मः । तनुमः । उदिति वर्तमाने खग्रहणमन्तेऽलो नाशार्थम् । उत इत्येव । क्रीणीवः । क्रीणीमः । लस्येत्येव । युवः । रुवः । असादित्येव । आप्नुवः । तक्ष्णुवः । सुनोम्यादिषु परत्वादेप् ।

कृञो ये च ॥४।४।६६॥ कृञ उत्तरस्य उतः खं भवति यकारादौ म्वोश्च परतः । कुर्यात् । कुर्याताम् । कुर्युः । कुर्वः । कुर्मः । कुर्वहे । कुर्महे । नित्यत्वात्खे कृते "स्थखे स्थाश्रयम्" [१।१।६३] इत्येप् । म्वोरनुकर्षणार्थाच्चकारात् ज्ञायते वेति निवृत्तम् ।

गेऽत उत् ॥४।४।१००॥ उत्यान्तस्य करोतेरकारस्य उकारादेशो भवति क्ङिति परतः । कुरुतः । कुर्वन्ति । कुरुथः । कुरुथ । कुर्वः । कुर्मः । उदिति तपरकरणाद्विकरणमपेक्ष्य घुटुम्न भवति । ग इति किम् ? भूतपूर्वेऽपि गे यथा स्यात् । अत इति तपरकरणमुत्तरार्थम् ? क्ङितीत्येव । करोमि । करोषि । करोति । एपि कृते उकारान्तत्वाभावाद्वा न भवति । "एकान्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य" [प०] इति अकुरुतामित्यत्राटो न भवति ।

श्नसः खम् ॥४।४।१०१॥ श्नमः अस्तेश्च अतः खं भवति गे क्ङिति परतः । भिन्नः । भिन्दन्ति । छिन्नः । छिन्दन्ति । णत्वस्यासिद्धत्वाद्लुडो नकारस्य खं न भवति । अस्तेः स्तः । सन्ति । क्ङितीत्येव । भिनत्ति । अस्ति । श्नस इति श्नमो नष्टमकारस्य पररूपत्व ज्ञापकं शकन्ध्वादिषु पररूपं भवति । अत इति तपरकरणस्यानुवृत्तिः किमर्था । आस्ताम् आसन्नित्यत्र लावस्थायामडागमे ऐपि च कृते माभूत् । नन्वटोऽसिद्धत्वादाकारस्य न प्राप्तम् इदमेव तपरकरणं ज्ञापकम् आभाच्छास्त्रस्य कचिदसिद्धता । तेन देभतुः । देभुरित्यत्र नखस्य सिद्धत्वादेत्वचरे भवत ।

घ्वश्नोरातः ॥४।४।१०२॥ घसञ्ज्ञकस्य श्ना इत्येतस्य च य आकारस्तस्य खं भवति गे क्ङिति परतः । मिमते । मिमताम् । अमिमत । सञ्जिहते । सञ्जिहताम् । समजिहत । 'देऽनतः [५।१।५] इति झस्यादादेशः । लुनते । लुनताम् । अलुनत । पुनते । पुनताम् । अपुनत । हलीत्व वक्ष्यते । तस्मादचि खम् । भृञ्ञकाना इत्यपि दत्तः । दत्ते । घश्नोरिति किम् ? यान्ति । वान्ति । आत इति किम् ? बिभ्रति । इयूति । क्ङितीत्येव । जहाति । लुनाति ।

हल्यभोरीः ॥४।४।१०३॥ हलादौ क्ङिति परतः घश्नोरात ईकारादेशो भवत्यभोः । सञ्जिहीते । सञ्जिहीषे । सञ्जिहीध्वे । सञ्जिहीवहे । सञ्जिहीमहे । मिमीते । मिमीषे । मिमीध्वे । मिमीवहे । मिमीमहे । लुनीते । लुनीषे । लुनीते । लुनीध्वे । लुनीवहे । लुनीमहे । अभोरिति किम् ? दत्तः । क्ङितीत्येव । जहाति । लुनाति ।

त्यनुवर्तनात् हित्वे कृते इत्वादिविधिः। अथवा अल्पाश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात्प्रागेव द्वित्वम्। हलीत्येव। जहति। ग इत्येव। हीनः। हीयते। जेहीयते। योगविभाग उत्तरार्थः।

आ च हौ ॥४।४।१०७॥ हाक आकारादेशो भवति इच्च वा हौ परतः। जहाहि। जहिहि। जहीहि।

यि खम् ॥४।४।१०८॥ यकारादौ गे क्ङिति परतो हाकः खं भवति। जह्यात्। जह्यातम्। जह्युः। ग इत्येव। हीयते। जेहीयते।

घ्वसोरेच्च खं हौ ॥४।४।१०९॥ घुसञ्ज्ञकानाम् अस्तेश्च हौ परत एकारादेशो भवति चस्य च खम्। देहि। धेहि। एधि। खमिति वर्तमाने पुनः खग्रहणं सर्वस्य चस्य नाशार्थम्। अस्तेश्च न न सम्भवति। "श्नसः खम्" [४।४।१०१] इत्यखम। अनेन सकारस्यैत्वम्। हाविति वर्तमाने पुनर्हाविति किम्? रूपान्तरापत्तौ माभूत्। दत्तात्। धत्तात्। स्तात्।

अतो हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥४।४।११०॥ हलोर्मध्ये वर्तमानस्यात एकारादेशो भवति चस्य च ख लिटि क्ङिति परतः। पेचतुः। पेचुः। शेकतुः। शेकुः। रेणतुः। रेणुः। हल्मध्य इति किम्? आटतुः। आटुः। थपिग्रहणं नियमार्थं वक्ष्यति। अनेक हल्मध्यगतस्य थपेरेव नान्यस्य। ततक्षतुः। पपथे। पप्रथो। पप्रथिरे। लिटीति किम्? पापच्यते। पापठ्यते। अत इति किम? दिदिवतुः। दिदिवुः। तपरकरणं किम्? शशासतुः। शशासुः। क्ङितीत्येव। अहं पपच। "फलिभजो" [४।४।३२०] इति नियमो वक्ष्यते। एतयो रेव लिट्यादेशाद्योरेच्चखे भवतो नान्यस्य। बभणतुः। बभणुः। चकणतुः। चकणुः। नमिमह्योर्नु लिट्युत्पत्तेः प्रागेव नत्वमत्वे भवत इति नियमान्न निवृत्तिः। नेमतुः। नेमुः। मेहे। मेहाते। मेहिरे।

सेटि ॥४।४।१११॥ सेटि च लिटि परतो हल्मध्येऽत एत्वं भवति चस्य च खम्। अक्ङिदर्थोऽपि यथा स्या दित्यारम्भः। पेचिथ। शेकिथ। नेमिथ। "वोपदेशे" [५।१।१०८] इत्यादिना वेट्। सेटीति किम्? पपक्थ। लिटीत्येव। पठितः। पठितवान्। अत इत्येव। दिदेविथ।

फलिभजोः ॥४।४।११२॥ फलि भजि इत्येतयोरत एत्वं भवति चस्य च खं लिटि क्ङिति सेटि च परतः। फेलतुः। फेलुः। फेलिथ। भेजतुः। भेजुः। भेजिथ। भेजे। भेजाते। भेजिरे। नियमार्थोऽयमारम्भः। फलिभजोरेव लिट्यादेशाद्योर्नान्यस्य। चकणतुः। चकणुः। चकणिथ। बभणतु। बभणु। बभणिथ। फलिभजोर्विकारलक्षण आदेशः अन्यस्यापि विकारादेशादेर्निवृत्ति शसिदद्योः प्रतिषेधाच्च। तेन प्रकृतिं च। प्रकृतिचर प्रकृतिजशा प्रकृतिजशो भवन्तीति। नात्र नियमान्निवृत्तिः। तेनतुः। तेनुः। देभतुः। देभुः।

तृत्रपोः ॥४।४।११३॥ तॄ त्रपि इत्येतयोरत एत्वं भवति चस्य च खं लिटि क्ङिति सेटि च परतः। तेरतुः। तेरुः। तेरिथ। "ऋच्छत्यॄताम्" [५।२।१२३] इत्येव। त्रेपाते। त्रेपिरे। "श्रन्थेश्चेति वक्तव्यम" [वा०] श्रेथतुः। श्रेथुः। उपसङ्ख्यानेन लिटः क्ङित्वम्। इदमपि नियमार्थं सूत्रम्। एभिरेव नियमात्तल्लक्षणस्य नान्यस्य। विशशरतुः। विशशरुः। विशशरिथ। लुलुविथ। अनेकहल्मध्यगतस्य थपेरेव नान्यस्य। ततक्षतुः।

फणां सप्तानाम् ॥४।४।११६॥ फणादीनां सप्तानां वा एत्वं भवति खस्य च खं लिटि क्ङिति सेटि च परतः। फेणतुः। फेणुः। फेणिथ। पफणतुः। पफणुः। पफणिथ। रेजतुः। रेजुः। रेजिथ। रराजतुः। रराजुः। रराजिथ। भ्रेजे। भ्रेजाते। भ्रेजिरे। बभ्राजे। बभ्राजाते। बभ्राजिरे। भ्रेसे। बभ्रासे। म्लेसे। बभ्लासे। स्येमतुः। स्येमुः। स्येमिथ। सस्यमुः। सस्यमिथ। स्वेनतुः। स्वेनुः। स्वेनिथ। सस्वनतुः। सस्वनुः। सस्वनिथ। सप्तानामिति किम्? दध्वनतुः। दध्वनुः। जज्वलतुः। जज्वलुः। जज्वलिथ।

न शसददवादीनाम् ॥४।४।११७॥ शस दद इत्येतयोर्वादीनां च लिटि क्ङिति सेटि च परत एत्व-खखे न भवतः। विशशसतुः। विशशसिथ। ददे। ददाते। ददिरे। वादीनाम्—ववणतुः। ववणुः। ववणिथ। ववले। ववलाते। ववलिरे।

भस्य ॥४।४।११८॥ भस्येत्ययमधिकारो वेदितव्य आ पादपरिसमाप्तेः। वक्ष्यति "पादः पत्" [४।४।११६] इति। द्विपदा। द्विपदे। भस्येति किम्? द्विपादौ। द्विपादः। घे भसंज्ञा न भवति।

पादः पद् ॥४।४।११६॥ पादन्तस्य गोर्भस्य पदित्ययमादेशो भवति। द्विपदः पश्य। द्विपदा। द्विपदे। द्वौ पादावस्येति वसे "सुसंख्यादेः" [४।२।१४०] इति पादस्यातः खम्। "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति" [प०] इति पाच्छब्दस्य पदादेशः। द्वौ द्वौ पादौ ददाति द्विपदिकां ददाति। "संख्यायाः पादशतेभ्यो वीप्सा-दण्डत्यागे वुन्" [४।२।१०] खं च। वैयाघ्रपद्यः। व्याघ्रस्येव पादौ यस्य "खं पादस्याहस्त्यादेः" [४।२।१२६] इति खम्। गर्गादित्वाद्यञ्। भस्येति किम्? द्विपाद्भ्याम्। द्विपाद्भिः। पादवतेः क्विबन्तस्य प्रयोगो नास्ति।

वसोर्जिः ॥४।४।१२०॥ वस्वन्तस्य गोर्भस्य जिर्भवति। उपसेदुषः पश्य। उपसेदुषा। उपसेदुषे। "वस्सदिणो वसुर्लिड्वत्" [१।२।८८] इति वसुः। द्वित्वम्। हल्मध्ये लिट्यत इति एत्वखखे। क्रादिनियमादिट्। जौ कृते निमित्ताभावादिडिनवृत्तिः। भस्येत्येव। विद्वस्यति। विद्वस्यते। क्यच्क्यङोः स्वादित्वाभावाद्भसंज्ञा नास्ति। "नः क्ये" [१।२।१०४] इति नियमात्पदसंज्ञाविरहेण रित्वाद्यभावः।

श्वयुवमघोनोऽहृति ॥४।४।१२१॥ श्वन् युवन् मघवन् इत्येतेषां जिर्भवति अहृति परतः। शुनः पश्य। शुना। शुने। यूनः पश्य। यूना। यूने। "अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य" [प०] इति यकारस्य न भवति। मघोनः पश्य। मघोना। मघोने। अहृतीति किम्? शौवनं मांसम्। यौवनं वर्तते। माघवनम्। शुनो विकारः "प्राणितालादेः" [३।३।१०५] इत्यण्। "द्वारादेः" [५।२।६] इत्यैच्। यूनो भावः 'हायनान्त-युवादिभ्योऽण्'। मघोन इदम्। उत्तरत्र अन इति योगविभागः। अन्नन्तानां श्वादीनां जिर्भवति। तेन युवतीः पश्येत्यत्र "मृद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य" [प०] इति न भवति।

अनोऽखमम्वस्फात् ॥४।४।१२२॥ अन्नन्तस्याखं भवति स चेदन् मकारवकारान्तस्फात्परो न भवति। राज्ञः पश्य। राज्ञे। 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" इति चुत्वम्। तक्ष्णः पश्य। तक्ष्णा। तक्ष्णे। अन्नन्त-स्येति वचनात् राजकीयं इत्यत्र न भवति। अम्वस्फादिति किम्? धर्मणः। धर्मणे। तत्त्वदृश्वनः पश्य। तत्त्वदृश्वना। तत्त्वदृश्वने।

पादिहनधृतराज्ञोऽणि ॥४।४।१२३॥ पकारादेरनः हन् धृतराजन् इत्येतयोश्चाणि परतोऽकारस्य खं भवति। ताक्ष्ण। ताक्ष्ण। हन्—भ्रौणघ्नः। वार्त्रघ्नः। धृतराजन्—धार्तराज्ञः। अपत्यार्थेऽण् "अनः" [४।४।१५८] इति अकारस्य प्रतिषेधे प्राप्ते सूत्रम्। एतेषामिति किम्? सामनो धौमनः। ताक्षण्यः। "सेनान्त-लक्षण" [३।१।१४०] इत्यादिना ण्य।

वा ङिङ्योः ॥४।४।१२४॥ अनोऽकारस्य वा खं भवति ङौ शीशब्दे च परतः। राज्ञि। राजनि। सोम्नि। सोमनि। साम्नी। सामनी। दाम्नी। दामनी। भस्येत्यधिकारात् "नपः" [५।१।१६] इत्यनेना-ङि शीशब्दे खं [illegible]।

अचः ॥४।४।१२५॥ अच इत्यन्त्येनंष्टनकारो गृह्यते। तदन्तस्य भस्य ख भवति। प्रतीचः पश्य। प्रतीचा। प्रतीचे। मधूचः पश्य। मधूचा। मधूचे। भस्येत्येव। प्रत्यञ्चमिच्छति प्रत्यञ्चति। क्यन्। स्वादिष्वभावात्पूर्वस्य भसंज्ञा नास्ति। अच इति नष्टनकारग्रहणं किम्? प्रत्यञ्चः पश्य। प्रत्यञ्चा। प्रत्यञ्चे। "नाञ्चेः पूजे" [४।४।२६] इति नखाभावः।

ईदुदः ॥४।४।१२६॥ उदः परस्याच ईकारादेशो भवति भस्य। उदीचः पश्य। उदीचा। उदीचे। उदीच्यः। "द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यः" [३।२।८०] इति यः। अखापवादोऽयम्।

आतो धोः ॥४।४।१२७॥ आकारान्तस्य धोर्भस्य ख भवति। कीलालपः पश्य। कीलालपा। कीलालपे। शुभंयः पश्य। शुभया। शुभये। आत इति किम्? ग्रामण्या। ग्रामण्ये। धोरिति किम्? माला पश्य। "जृव्रश्चः क्त्वः" [५।१।१०३] "थग्नोरातः" [४।४।१०२] इत्यादयः सौत्रा निर्देशाः। भस्येत्येव। क्षीरपामिच्छति क्षीरपीयति।

तेर्विंशतेर्डिति ॥४।४।१२८॥ भस्य विंशतेर्डिति परतस्तिशब्दस्य ख भवति। विंशत्या क्रीतो विंशकः। "विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुरखौ" [३।४।२१] इति ड्वुः। तिखे कृते "एप्यतोऽपदे" [४।३।८४] इति पररूपत्वम्। विंशतेः पूरणं विंशं शतम्। विंशतिरधिका अस्मिन्निति "तदस्मिन्नधिकमिति शदशान्ताड्." [३।४।१६७] "विंशतेश्च" [३।४।१६८] इति डः। आसन्ना विंशतेरिमे आसन्नविंशाः। "सख्येये" [१।३।८७] इत्यादिना षसः। "संख्यावाड्डोऽबहुगणात्" [४।२।६९] इति डः सान्तः। डितीति किम्? विंशत्या।

टेः ॥४।४।१२९॥ टिसंज्ञकस्य डिति परतः ख भवति। त्रिंशता क्रीतः त्रिंशकः। त्रिंशं शतम्। आसन्नाश्चतुरर्णामिमे आसन्नचताः। कुमुद्वान्। नड्वान्। वेतस्वान्। कुमुदान्यस्मिन् देशे सन्ति "कुमुद-नडवेतसाड्डित्" [३।२।६७] इति मतुः। नड्वलम्। नडा अस्मिन् देशे सन्ति "नडशादाड्डित्" [३।२।६८] इति वलः। टिखकरणसामर्थ्यादभस्यापि टेः खम्। अतएव उपसरे जात उपसरजः। मन्दुरायां जातः मन्दुरजः। "खे ङ्यापोः क्वचित्खौ च" [४।३।१७३] इति प्रः।

नोऽपुंसो ह्ति ॥४।४।१३०॥ नकारान्तस्य भस्य ह्ति परतष्टिख भवत्यपुंसः। आग्निशर्मिः। दैवशर्मिः। औडुलोमिः। बाह्वादित्वादिञ्। न इति किम्? वैद्युतोऽग्निः। अपुंस इति किम्? पुंस इदं पौंस्नम्। "स्त्रीपुंसाभ्यां न-स्नञौ" [३।१।७२] इति अस्नञ्। ह्तीति किम्? शर्मणा। शर्मणे। भस्येत्येव। शर्मणा आगतं शर्मरूप्यम्। शर्ममयम्। "हेतुमनुष्याद्वा रूप्यः" [३।३।७५] इति रूप्यमयटौ।

टखोरेवाह्नः ॥४।४।१३३॥ अहनित्येतस्य टखो: परतः टे: खं भवति। द्व्यहः। त्र्यहः। द्वे अहनी समाहृते, त्रयाणामह्नां समाहारः रसे कृते "राजाहःसखिभ्यष्ट" [४।२।९३] इति टः सान्तः। "न समाहारे" [४।२।९१] इति अह्नादेशप्रतिषेधः। द्वे अहनी भूतो भावी वा द्व्यहीनः। त्र्यहीणः। हृदयं रसः। "समायाः खः" [३।४।८२] इत्यधिकारे "रात्र्यहःसंवत्सरात्" [३।४।८४] इति खः। अह्नां समूहः अहीनः। क्रतु इति बहुवचननिर्देशात्खः। टखोरेवेति किम्? अह्ना निर्वृत्तमाह्निकम्। "तेन निर्वृत्तः" [३।४।७५] इति प्राग्वतष्ठञ्। एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः। अह्न एव टखोरिति मा भूत्। एवं हि मद्रराज इति न स्यात्। "खेऽध्वनः" [४।४।१६०] इति प्रतिषेधारम्भात् इष्टतोऽवधारणे प्रतिपत्तिगौरवं स्यात्।

कद्र्वोरोऽस्वयम्भुवः ॥४।४।१३४॥ कद्रूशब्दस्य उवर्णान्तस्य च भस्य हृति परत ओकारादेशो भवति स्वयम्भूशब्दं वर्जयित्वा। कद्र्वा अपत्यं काद्रवेयः। "स्त्रीभ्यो ढण्" [३।१।१०९] इति ढण्। "ढे खम्" [४।४।१३५] इत्यस्यापवादार्थं कद्रूग्रहणम्। उवर्णान्तस्य माण्डव्यः। बाभ्रव्यः। औपगवः। कापटवः। अस्वयम्भुव इति किम्? स्वायम्भुवं धाम स्वायम्भुवी प्रक्रिया। "तस्येदम्" [३।३।८८] इत्यण्। ओत्वे प्रतिषिद्धे उवादेशः।

ढे खम् ॥४।४।१३५॥ ढे परत उवर्णान्तस्य खं भवति। कामण्डलेयः। शैतिबाहेयः। जाम्बेयः। "बाह्वन्तकद्रुकमण्डलुभ्य खौ" [३।१।६०] इति ऊत्ये कृते। अपत्यार्थे "चतुष्पाद्भ्यो ढञ्" [३।१।१२३] इति ढञ्। जम्ब्वाः जाम्बेयः। "द्व्यचः" [३।१।११०] इति ढण्। इयुवौ परत्वात् खं बाधते। वात्सप्रेयः। लैखाभ्रेयः। वत्सप्री चतुष्पाद्। लेखाभ्रूः शुभ्रादिः। ढ इति किम्? कमण्डलवे हिता कमण्डलव्या मृत्।

यस्य ङ्यां च ॥४।४।१३६॥ इवर्णान्तस्यावर्णान्तस्य च खं भवति ङीत्ये हृति च परतः। दाक्षी। प्लाक्षी। "इतो मनुष्यजातेः" [३।१।५५] इति ङीः। स्वेकौ दीत्वे क्रियमाणे अतिसखेरागच्छतीत्यत्र दोषः स्यात्। सखीमतिक्रान्त अतिसखिः। "स्त्रीगोर्नीचः" [१।१।८] इति प्रादेशे कृते सख्यसख्योरेकादेशः सखिशब्दवद्भवतीति "स्वसखि [१।२।६७] इति सुसञादिरहादेश्न स्यात्। खे तु न दोषः। अवर्णान्तस्य-गौरी। कुमारी। इति–नाभेयः। नैधेयः। "इतोऽनिञः" [३।१।१११] "द्व्यचः" [३।१।११०] इति ढण्। श्रैमतः। अवर्णान्तस्य–दैवदत्तिः। वासुवेयः।

मत्स्योऽङ्यो ङ्याम् ॥४।४।१३७॥ मत्स्यशब्दस्य उङो यकारस्य खं भवति ङीत्ये परतः। मत्सी। "गोरादेः" [३।१।२३] इति ङीः। मत्स्यस्यापत्यं स्त्री मात्सी। "द्व्यञ्मगध" [३।१।१५२] आदिसूत्रेणाण्। तदन्तान्डी। ङ्यामवर्णस्यासिद्धत्वादुङो यकारस्य खम्। अणि परतोऽखस्य व्याश्रयत्वासिद्धत्वम्। उङ इति किम्? मत्स्यचरी। यान्मुत्तरार्थम्। ङ्यामिति किम्? मत्स्यस्येदं मात्स्यम्।

सूर्यागस्त्ययोश्छे च ॥४।४।१३८॥ सूर्य अगस्त्य इत्येतयोश्छे ङ्या च परत उङो यकारस्य खं भवति। सौरीयः। सौरी। आगस्तीयः। आगस्ती। सूर्यागस्त्यशब्दौ केवलौ ङीं न प्रयोजयत इत्यणन्तौ गृह्येते। सूर्यो देवता अस्य सौर्यः तस्यायं सौरीयः। सूर्यस्येयं सौरी। अगस्त्यस्यापत्यम् ऋष्यादण्। आगस्त्यः। तस्यायमागस्तीयः। ङे ङ्यां चाणः खस्यासिद्धत्वादुङः यकारः। अणखस्य व्याश्रयत्वादसिद्धत्वं नास्ति। सूर्याय हितमगस्त्याय हितमिति प्राक्क्रछो नास्त्यनभिधानात्। छे चेति किम्? सौर्यं तेजः। आगस्त्यं स्थानम्।

तिष्यपुष्ययोर्भाणि ॥४।४।१३९॥ तिष्य पुष्य इत्येतयोर्भाणि परत उङो यः खं भवति। तिष्येण युक्तः तैषः। पौषः। तिष्यपुष्ययोरिति किम्? निष्येन युक्तः नैष्यमः। भाणीति किम्? पुष्यो देवताऽस्य पौष्यं ह्विः।

हलो हलो ङ्याम् ॥४।४।१४०॥ हल उत्तरस्य हलो यकारस्य उङः खं भवति ङ्या परतः। गार्गी। वात्सी। "यञः" [३।१।१९] इति ङी। यखविधिं प्रति न स्थानिवदिति हलः परस्य यकारस्य। हल इत्य-

विशेषेण ग्रहणम्। इतोऽन्यस्य वा हलः परस्य ह्यकारस्य ख भवति। तेन "वृकाट्टेण्यण्" [४।१।४] वार्केणी। हल इति किम्? वायुवेगेयी। इत इति किम्? भव्याम्। गौरादित्वान्ङीः। वैयस्य भार्या वैया। ट्यामिति किम्? आवट्या। अवटस्यापत्य स्त्री।

क्यच्व्यनाद्युत्यापत्यस्य ॥४।४।१४१॥ क्य च्वि इत्येतयोरनाकारादौ च हलि परत आपत्यस्य यकारस्य हलः परस्य ख भवति। गार्गीयति। वात्सीयति। गार्गायते। वात्सायते। च्वि। गार्गीभूत। वात्सीभूत। अनाति इति—गार्ग्याणां समूहो गार्गकम्। वात्सकम्। "वृद्धोक्षोष्ट्रोरभ्र" [३।२।३४] आदिना वुञ्। गर्गाणां सङ्घोऽङ्को वा गार्ग। वात्सः। अनातीति किम्? गार्ग्यायणः। इतीति किम्? सामान्येनापत्यस्य ख यथा स्यात्। आपत्यस्येति किम्? साङ्काश्यकः। काम्पिल्यः। सङ्काशेन निर्वृत्तः। कम्पिलेन निर्वृत्त। "वुञ्छण्" [३।२।६०] आदिना ण्यः। ततो भवार्थे "वन्धयोङः" [३।२।६६] इति वुञ्। हल इत्येव। वायुवेगेयः।

तस्यन्तिकस्य कादेः ॥४।४।१४२॥ तसि परतोऽन्तिकस्य ककारादेः ख भवति। अन्तिकात् अन्ति आगतः। "तमे परतः तादेः कादेश्चान्तिकस्य खं वक्तव्यम्" [वा०]। अतिशयेन अन्तिकः "तमेष्ठावतिशायने" [४।१।११४] इति तमे कृते। अन्तमः। अन्तितमः। "भिसंज्ञकस्य भमात्रे टिखं च वक्तव्य सायम्प्राति काद्यर्थम्" [वा०]। सायम्प्रातर्भवः सायम्प्रातिकः। पौनःपुनिकः। आकस्मिक। शाश्वतिक इत्यत्र "येषा च द्वेष शाश्वतिकः" [१।४।८५] इति निपातनान्न भवति। शश्वच्छब्दो लक्षणम्। आरातीयः। शाश्वत इत्यादिषु न न भवति। "कालाट्ठञ्" [३।२।१२१] इत्यत। कालादिति योगविभागः। तेन शश्वच्छब्दाट्ठण्।

विल्वकादेश्छस्य ॥४।४।१४३॥ विल्वकादीनां छस्य खं भवति इति परत। नडादिषु बिल्वादय पठ्यन्ते कुक्कुगागमाः इह निर्दिष्टाः। विल्वा अस्मिन् देशे सन्ति 'उत्करादेश्छः' [३।२।७०] "नडादे. कुक्" [३।२।७१] चागम। विल्वकीयः। तत्र भवो वैल्वकः। सर्वस्य छस्य खम्। अन्यथा अनर्थक स्यात्। वेणुकीय वेत्रकीयः। व॰कः। वेतसकीयः। वैतसकः। तृणकीयः। तार्णक। इक्षुकीय। ऐक्षुक। कपिष्ठलकीय। कापिष्ठलकः। कपोतकीयः। कापोतकः। "कुञ्चायाः ह्रस्वश्च"। कुञ्चकीय। कौञ्चक। कुक् छ ण्य भवति। छस्येति किमर्थम्? कुको निवृत्तिर्मा भूत्। अन्यथा "सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः" [प०] इति यथा पञ्च इन्द्राण्यो देवता अस्य "हृदर्थे" [१।३।४६] इति ग्मे कृते आगतस्यागो 'रस्योऽनपत्ये" [३।१।७४] इत्युप्। "हृदुष्युप्" [१।१।६] इति स्त्रीत्यस्य निवृत्ता आनुकोऽपि निवृत्ति। पञ्चेन्द्रः।

तुरिष्ठेमेयस्सु ॥४।४।१४४॥ तृशब्दस्य ख भवति इष्ठेमेयस्सु परतः। करिष्ठः। करीयान। [illegible]। [illegible]। सर्वे कर्तृमन्तोऽयमेषामतिशयेन कर्तृमान् "विन्मतोरुप्" [४।१।१२४] इत्यनेनोप्। "इष्ठेमनि च सर्वस्य तुः खम्"। अन्तस्य 'टेः' [४।४।१४५] इति सिद्धम्। इमनग्रहणमुत्तरार्थम्।

टेः ॥४।४।१४५॥ टेश्च ख भवति इष्ठेमेयस्सु परतः। पटिष्ठ। पटिमा। पटीयान। लघिष्ठः। लघिमा। लघीयान्।

क्षोदीयान् । क्षोदिमा । ह्रस्वादय. पृथ्वादौ पठ्यन्ते । यणः परस्य तु "टेः" [४।४।१४५] इति खम् । टक इति किमर्थम् ? क्षेपिष्ठ इत्यत्र अनन्त्यस्याप्येव यथा स्यात् । णौ ह्रस्वमाचष्टे ह्रसयति । गुकार्यस्य निर्वृत्तत्वान् उङ एम्न भवति ।

प्रियस्थिरस्फिरयादेः ॥४।४।१४८॥ प्रिय स्थिर स्फिर इत्येतेषाम् इकारादेर्वर्णसंघातस्य अकाराग-देशो भवति इष्ठेमेयस्सु परतः । प्रेष्ठः । प्रेयान् । प्रेमा । स्थेष्ठ. । स्थेयान् । स्थेमा । स्फेष्ठः । स्फेयान् । स्फेमा । प्रियमाचष्टे प्रापयति । स्थापयति । "देयमृखे" [३।३।२२] इति निर्देशात् गुकार्यपरिभाषाया अनित्यत्वम । तेन णिचि "ल्णित्यच" [५।२।३] इत्यैप् । ।

बहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां वंहिगर्वर्षित्रप्द्राघवृन्दाः ॥४।४।१४९॥ बहुल गुरु वृद्ध तृप्र दीर्घ वृन्दारक इत्येतेषां वंहि गर् वर् वर्षि त्रप् द्राघ वृन्द इत्येत आदेशा भवन्ति इष्ठेमेयस्सु परतः । वंहिष्ठः । वंहीयान् । वंहिमा । गरिष्ठः । गरीयान् । गरिमा । उरु-वरिष्ठ. । वरीयान् । वरिमा । वृद्धस्य ज्यादेश उक्तः । वचनादयमपि भवति । वर्षिष्ठः । वर्षीयान् । त्रपिष्ठः । त्रपीयान् । द्राघिष्ठः । द्राघीयान् । द्राघिमा । वृन्दिष्ठः । वृन्दीयान् । णावपि वंहयति । गरयतीत्यादि योज्यम् । स्फिरवृद्धतृप्रवृन्दारकवर्जिताः पृथ्वादौ द्रष्टव्याः । अगुणवचनेभ्योऽपि अत एव वचनात् इष्ठेयसू ।

बहोर्भूर्वस्मात्खम् ॥४।४।१५०॥ बहोर्भू इत्ययमादेशो भवति अस्माच्च परेषाम् इष्ठेमेयसां ख भवति । भूयान् । भूमा । "परस्यादे." [१।१।५१] खम् । भूभावस्यासिद्धत्वात् उकारस्यौत्त्व न भवति । बहोः पृथ्वादित्वादिमन् ।

यिट् चेष्ठस्य ॥४।४।१५१॥ इष्ठस्य यिडागमो भवति बहोश्च भूरादेशः । भूयिष्ठः । खापवादो यिडागमः । टकार उच्चारणार्थः । भूभावस्यासिद्धत्वादौत्वाभावः ।

ज्यादेयसः ॥४।४।१५२॥ ज्यादेशात्परस्य ईय आकारादेशो भवति । ज्यायान् । ज्यायांसौ । ज्यायांस. । "प्रशस्यस्य श्र" [४।१।११६] "ज्यः" [४।१।१२०] इति ज्यादेशः । प्रकृते खे परस्यादौ कृते "दीरकृद्गे" [५।२।१३४] इति पूर्वस्य च दीत्वे सिद्धमिति चेत् "गुकार्ये निर्वृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्" [प०] इति दीत्व न स्यादित्याकारवचनम् ।

ऋरोऽनादेर्घेः ॥४।४।१५३॥ ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यनादेर्घिसंज्ञकस्य इष्ठेमेयस्सु परतः । प्रथिष्ठः । प्रथीयान् । प्रथिमा । म्रदिष्ठ. । म्रदीयान् । म्रदिमा । अकारान्तो रेफादेशः । ऋरिति किम् ? पटिष्ठः । अनादेरिति किम ? अतिशयेन ऋतवान् ऋतीयान् "विन्मतोरुप्" [४।१।१२४] इति मतोरुप् । ईयम् । घेरिति किम् ? कृष्णिष्ठ । कृष्णीयान् । कृष्णिमा ।

पृथुमृद्वो. कृशभृशयोर्दृढपरिवृढयोश्चरो भवत्येव ।
सिंहावलोकतोऽग्रे प्रायोग्रहणादय नियमः ॥

तेनेह न भवति । मातरमाचष्टे मातयति । परत्वाट्टिखस्यायमपवादः स्यात् । तथा कृतमाचष्टे कृतयति ।

नैकाच. ॥४।४।१५४॥ एकाचो भस्य यदुक्त तन्न भवति । स्रग्विष्ठ. । स्रग्वीयान् । स्रुचिष्ठः । स्रुचीयान् । "विन्मतोरुप्" [४।१।१२४] इति मतोरुपि कृते "टे." [४।४।१४५] इति ख प्राप्तम् । णावपि स्रग्वन्तमाचष्टे स्रग्वयति । स्रुचयति । एकाच इति किम् ? अतिशयेन वसुमान् वसिष्ठ. । वसीयान् । वसयति । नेति योगविभाग । तेन "राजन्यमनुष्ययूनामके यदुक्त तन्न भवति" राजन्याना समूहो राजन्यकम् । मनुष्याणा समूहो मानुष्यकम् । "क्यच्व्यनादृत्यापत्यस्य" [४।४।१४१] इति यख प्राप्तम् । यूनो भावो यौवनिका । मनोज्ञादित्वाद्वुञ् "नोऽपुंसो ह्रति" [४।४।१२०] इति टिख प्राप्तम् ।

प्रायोऽनपत्येऽणीन ॥४।४।१५५॥ अनपत्यार्थेऽणि परत इन्नन्तस्य यदुक्त तन्न भवति प्राय । [illegible] । तथा सांराविणम् । सागविणम् । साम्मार्जिनम् । "जिन्नभिविधौ" [२।३।६६] इति

जिन्। तदन्तात् स्वार्थे "जिनोऽण्" [४।२।२१] इत्यण्। अनपत्य इति किम्? बाहुबलिनोऽपत्यं बाहुबलः। अणीति किम्? मेधाविने हितं मेधावीयम्। प्रायोग्रहणात्क्वचित्प्रतिषेधो न भवति। दण्डिना समूहो दाण्डम्। छात्रम्।

औक्षम् ४।४।१५६॥ औक्षमिति निपात्यतेऽनपत्ये। उक्ष्ण इदम् औक्षम्। अपत्ये औक्ष्ण इत्येव। "पादिहन्धृतराज्ञोऽणि" [४।४।१२३] इत्यखम्। "अनः" [४।४।१५८] इत्यस्यापवादोऽयं योगः।

गाथिविदथिकेशिपणिगणिस्फादेः ॥४।४।१५७॥ गाथिन् विदथिन् केशिन् पणिन् गणिन्। इत्येतेषां स्फादेश्च इनो यदुक्तं तन्न भवति। गाथिनोऽपत्यं गाथिनः। वैदथिनः। कैशिनः। पाणिनः। गाणिनः। स्फादेः शाङ्खिनः। चाक्रिणः। भाद्रिणः। अपत्यार्थेऽप्यणि प्रतिषेधार्थमिदम्।

अनः ॥४।४।१५८॥ अनपत्य इति निवृत्तम्। सामान्येनाणि परतोऽनो यदुक्तमन्त्यटिखं न तन्न भवति। कर्मणा इदं कार्मणम्। साम देवता अस्य सामनः। हेम्नो विकारो हैमनः। सुत्वनोऽपत्यं सौत्वनः। प्राय इत्यनुवृत्तेरिकेऽपि टिखाभावः। उपचारादथर्वा ग्रन्थोऽपि तमधीते आथर्वणिकः।

येऽडौ ॥४।४।१५९॥ अडावर्थे यकारादौ इति परतोऽनो यदुक्तं तन्न भवति। सामनि साधुः सामन्यः। वेमन्यः। कर्मण्यः। राज्ञोऽपत्यं राजन्यः। तक्ष्णोऽपत्यं ताक्षण्यः। "सेनान्तलक्षण" [३।१।१४०] आदिना तक्ष्णो ण्यः। अडाविति किम्? राज्यम्। "गुणोक्तिब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" [३।४।११४] इति ष्यण्।

खेऽध्वनः ॥४।४।१६०॥ अध्वनः खे परतो यदुक्तं तन्न भवति। अध्वानमलङ्गामी अध्वनीनः। "यखावध्वनः" [३।४।१२६] इति खः। खे इति किम्? प्राध्वं कृत्वा गतः "गेरध्वनः" [४।२।८७] इत्य-कारः सान्तः।

न मादेरपत्येऽवर्मणः ॥४।४।१६१॥ मकारादेरनो वर्मवर्जितस्यापत्यार्थेऽणि परतो यदुक्तं तन्न भवति। सुषाम्नोऽपत्यं सौषामः। भाद्रसामः। "नोऽपुंसो हृति" [४।४।१३०] इति टिख भवत्येव। मादेरिति किम्? सौत्वनः। अपत्य इति किम्? चर्मणा परिवृतश्चार्मणो रथः। "परिवृतो रथः" [३।२।८] इत्यण्। अवर्मण इति किम्? हैरण्यवर्मणः। प्रायोग्रहणानुवृत्तेर्हितनाम्नो विकल्पः। हितनाम्नोऽपत्यं हैतनामः। हैतनामनः।

ब्राह्मोऽजातौ ॥४।४।१६२॥ अपत्य इति वर्तमानं जातेर्विशेषणम्। ब्राह्म इति निपात्यतेऽजातेरन्यत्र। ब्राह्मणो (ब्राह्मो) गर्भः। ब्राह्ममस्त्रम्। "तस्येदम्" [३।३।८८] इत्यण्। अजाताविति किम्? ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः। अपत्यजातिरियम्। अजाताविति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम्। तेन अपत्यजातेरन्यत्रापि निपातनमिष्यते। ब्रह्मण इयं ब्राह्मी औषधिः।

भ्रौणहत्यम्। इदमेव ज्ञापकं "हनस्तोऽजिण्लोः" [५।२।३६] इति घोरस्य एव नान्यत्र हन्तेस्तत्वम्। तेनेह न भवति। वार्त्रघ्न इति। धीव्नो भावो धैवत्यम्। सरयूशब्दस्य अणि परतो यस्य निपात्यते। सारवं जलम्। इक्ष्वाको-रपत्यम् ऐक्ष्वाकः। "राष्ट्रशब्दाद्राज्ञोऽञ्" [३।१।१५०] इति अञि उकारस्य खं निपात्यते। "तस्येदम्" [३।३।८८] इति वा भवार्थे "कोङः" [३।२।११०] इति वाऽणि; मित्रयोरपत्यं मैत्रेयः "गृष्ट्यादेः" [३।१।१२४] इति ढणि कृते "यादेरिय्" [५।२।७] यादौ युशब्दस्य खं निपात्यते। यादेरियादेशस्तु विदादित्वादञि कृते द्रष्टव्यः। अज-न्तस्य सङ्घादिविवक्षाया "सङ्घाङ्कलक्षणघोषेऽन्ययञिञामण्" [३।३।९५] इति अणि कृते मैत्रेयः सङ्घः। ढणन्तस्य सङ्घादौ "वृद्धचरणाञ्जित्" [३।३।९४] इति वुनि मैत्रेयकः सङ्घ इति भवति। हिरण्यस्य विकारः। "मयड्वैतयोरभक्ष्याच्छादनयोः" [३।३।१०८] इति मयटि कृते यशब्दस्य खम्। हिरण्मयं जिनगृहम्।

इत्यभयनन्दिविरचितायां महावृत्तौ चतुर्थस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।

पञ्चमोऽध्यायः

युवोरनाकौ ॥५।१।१॥ युवु इत्येतयोर्गोनिमित्तभूतयोः अन अक इत्येतावादेशौ भवतः। युवोरित्यु-त्सृष्टविशेषणयोः सामान्यग्रहणम्। योरनः। वोरकः। नन्द्यादेर्युः नन्दनो रमणः। "ण्वुतृचौ" [२।१।१०६] कारको हारकः। एवमाङ्कको वाङ्ककः। अङ्गेषु जातो भवो वेति विगृह्य "बहुल्वेऽदोरपि" [३।२।१०३] इति वुञ्। योः कृत एव ग्रहणं व्याख्यानात्। तेनेह न भवति। उर्णायुः। शुभंयुः। उणादीनां बहुलवचनात् तेनेह न भवति भुज्युः। "भुजिमृड्भ्यां युक्त्युकौ" [उ० सू० ३।२१] इति युक्।

आयन्नेयीनीयियः फढखछघां त्यादीनाम् ॥५।१।२॥ फ ढ ख छ घ इत्येतेषां त्यादौ वर्तमानानां निरनुबन्धानाम् आयन् एय् ईन् ईय् इय् इत्येते आदेशा यथासङ्ख्यं भवन्ति। "नडादेः फण्" [३।१।८८] नाडायनः। चारायणः। "स्त्रीभ्यो ढण्" [३।१।१०९] वायुवेगेयः। वासवदत्तेयः। "प्रतिजनादेः खञ्" [३।३।२०३]। प्रतिजने साधुः प्रतिजनीनः। ऐदंयुगीनः। "दोश्छः" [३।२।९०] वासवीयो ध्वजः। वैश्रवणीया शिबिका। क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः। त्यादेः किम्? फक्कति। ढौकते। आदिग्रहणं किम्? जानुदघ्नम्। षण्ढः। शङ्खः। इत्यादौ "उणादयो बहुलम्" [२।२।१६७] इत्यादेशा न भवन्ति।

झोऽन्तः ॥५।१।३॥ त्य इत्यनुवर्तते। आदिग्रहणं निवृत्तम्। स्वरितलिङ्गाभावात्। झ इति झकारस्य त्यावयवस्य अन्त इत्ययमादेशो भवति। जानन्ति। पश्यन्ति। "जृविशिभ्यां झः" [उ० सू०] जरन्तः। वेशन्तः। त्यस्येति किम्? उज्झितः।

वेत्तेः सिद्धसेनस्य ॥५।१।७॥ वेत्तेर्गोनिमित्तभूतस्य झस्य रुडागमो भवति सिद्धसेनस्याचार्यस्य मतेन । सविद्रते । सविदते । सविद्रताम् । सविदताम् । समविद्रत । समविदत । "समो गम्यृच्छि" [१।२।२४] इत्यादिना विदेर्दः । तिपा निर्देश उविकरणार्थः । तेन "विद विचारणे" [धा.] इत्यस्य रौधादिकस्य ग्रहणं न भवति । विन्दते ।

भिसोऽत ऐस् ॥५।१।८॥ अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः । अत अकारान्तात् गोरुत्तरस्य भिस ऐस् भवति । सुरैः । असुरैः । अत्र "बहो झल्येत्" [५।२।९८] इति एत्वादेत्त्वं कस्मान्न भवति । कृतेऽप्येत्वे भूतपूर्वगत्या पुनः प्राप्नोतीति नित्यत्वादैस् । एसिति सिद्धे ऐस्ग्रहणं किम् ? अतिजरसैः । "निकुप्रादः" [१।३।८१] इति से "स्त्रीगोर्नीचः" [१।१।८] इति ह्रस्वे च कृते । "एकदेशविकृतमनन्यवत्" [प०] इति [illegible] सदादेशः । "सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" [प०] इति परिभाषेयमनित्या "[illegible]" [[illegible]] इति ज्ञापकात् । अत इति किम् ? साधुभिः । तपरकरणं किम् ? विद्याभिः ।

इदमदसोः सकोः ॥५।१।९॥ इदम् अदस् इत्येतयोः सककारयोरेव भिस ऐस् भवति । इमकैः । "किम्सर्वनाम्नोऽक् प्राक्टेः को दः" [४।१।१२०] इत्यक् । "दः" [५।२।८२] इति तस्य मत्वम् । अदस "दादु दोर्मोऽदसोऽस्ये" [५।२।८८] इति दात्परस्य वर्णमात्रस्योत्वं दस्य च मत्वम् । सकोरिति किम् ? एभिः । "बहो झल्येत्" [५।२।९८] इत्येत्वम् । "हलि खम्" [५।१।७१] इतीदम इदः खम् । अमीभिः । "बहावीत्" [५।२।८९] इतीत्वम् । इदमदसोरेव सकोरित्येवमवधारणं मा विज्ञायीति ज्ञापनार्थः ।

टेनान्ङसस्स्यात्ङसेः ॥५।१।१०॥ अकारान्ताद्गोः परेषां टा ङस् ङसि इत्येतेषां इन स्य आत् इत्येते आदेशा भवन्ति । इन्द्रस्य । चन्द्रस्य । इन्द्रेण । चन्द्रेण । इन्द्रात् । चन्द्रात् । अत इत्येव । कर्त्रा । कर्तुः ।

ङेर्यः ॥५।१।११॥ अकारान्ताद्गोरुत्तरस्य ङे इत्येतस्य य इत्ययमादेशो भवति । इन्द्राय । चन्द्राय । अत इति किम् ? गवे । नावे ।

"अनुरक्तः शुचिर्दक्षः श्रुतवान् देशकालवित्।
वपुष्मान् कान्तिमान् वाग्मी दूतः स्यादष्टभिर्गुणैः ॥"

"गोरधिकारे तदन्तस्य च" [प०] इति तदन्तादपि भवति । परमाष्टौ । प्रधाने कार्यसम्प्रत्यया-द्वसे न भवति । प्रियाष्टान इति । "उषिलः" [५।१।१९] इति उपि प्राप्ते औशारभ्यते न "सुपो धुमृदोः" [१।४।१४२] इति । तेन अष्टौ गुणा यस्य सोऽष्टगुणः । औमिति सिद्धे औशूकरण किम् ? अष्टावानयते अष्टयन्तीति । क्विप्यागतनिवृत्ते अष्टाविति यथा स्यात् ।

उषिलः ॥५।१।१९॥ इस्सकाकादुत्तरयोर्जश्शसोरुब्भवति । षट् तिष्ठन्ति । षट् पश्य । पञ्च पश्य । नव । परमपञ्च । प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययादिह न भवति । प्रियषषः । प्रियपञ्चानः ।

नपः स्वमोः ॥५।१।२० नविति नपुंसकलिङ्गं पूर्वाचार्यस्य संज्ञेयम् । तस्मादुत्तरयोः स्वमोरुब्भवति । दधि पश्य । मधु तिष्ठति । मधु पश्य । तत्कुलमित्यत्र त्यदाद्यत्वं बाधित्वा कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वादुप् । नन्वत्वे कृते लक्षणान्तरेणाभावे सत्यनित्य उप् ? नैवम् । "यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम्" [प०] इति ।

अतोऽम् ॥५।१।२१॥ अकारान्तान्नपः परयोः स्वमोरम्भवति । धनम् । वनम् । तपरकरणं मुखमुखा-र्मम् । मादेशे क्रियमाणे सुपीति दीर्घत्वं स्यात् । अतिजरसं कुलं पश्येति च न स्यात् । "सन्निपातलक्षणो विधि-रनिमित्तं तद्विघातस्य" [प०] इत्यम उम्न भवति ।

डतरादेः पञ्चकस्य दुक् ॥५।१।२२॥ डतरादेः पञ्चकस्य दुगागमो भवति स्वमोः परतः । कतरत्तिष्ठति । कतरत्पश्य । एवं कतमत् । इतरत् । अन्यत् । अन्यतरत् । पञ्चकस्येति किम् ? समम् । सिमम् । डतरेण सिद्धे अन्यतरग्रहणं किमर्थम् ? अन्यतमं वनम् । अनित्यमागमानुशासनमिति नेकतरस्य न भवति । एकतरं वनम् ।

युष्मदस्मदो ङसोऽश् ॥५।१।२३॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यामुत्तरस्य ङसोऽश् भवति । तव स्वम् । मम स्वम् । शित्करणं सर्वादेशार्थम् ।

ङेसुटोरम् ॥५।१।२४॥ युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य सुटश्च अमित्ययमादेशो भवति । तुभ्यम् । मह्यम् । त्वम् । अहम् । युवाम् । आवाम् । यूयम् । वयम् । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । "युवावौ द्वौ" [५।१।५१] । "आवि" [५।१।४७] इति यस्यात्वम् । इपि पुन. "इपि" [५।१।४६] इत्यात्वम् ।

शसो नः ॥५।१।२५॥ युष्मदस्मदित्येताभ्यां परस्य शसो नकारादेशो भवति । युष्मान् । अस्मान् पातु जिन. । "परस्यादे" [१।१।५१] इत्यकारस्य नकार. । "स्फान्तस्य खम् [५।३।४१] इति सकारस्य खम् । "इपि" [५।१।४६] इत्यात्वम् । "नश्च पुंसि" [४।३।६१] इति नत्वं न सिध्यत्यलिङ्गत्वाद्युष्मदस्मदोः ।

भ्यसोऽभ्यम् ॥५।१।२६॥ युष्मदस्मद्भ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यमित्ययमादेशो भवति । युष्मभ्यं देयम् । अस्मभ्यं देयम् । "शमादेते [५।१।४६] इति टखम् । "एप्यतोऽपदे" [४।३।८४] इति पररूपत्वम् ।

पञ्चम्या अत् ॥५।१।२७॥ युष्मदस्मद्भ्यां परस्य काया भ्यसोऽदित्ययमादेशो भवति । युष्मदधीते । अस्मदधीते ।

ङसेः ॥५।१।२८॥ युष्मदस्मद्भ्याम् परस्य ङसेरदादेशो भवति । "त्वमावेके" [५।१।५६] । त्वत् । मत् ।

साम आकम् ॥५।१।२९॥ युष्मदस्मद्भ्याम् परस्य साम आकमादेशो भवति । युष्माकम् । अस्मा-कम् । नाविति कृते सानुबन्धक साम इति निर्देशः कृतः । आकमि कृते सुडनिवृत्त्यर्थः । कमि क्रियमाणे

एव स्यात्। अकग्यकारोच्चारणसामर्थ्यात्पररूपाभावे स्वेऽको दीर्घेन सिद्धमाकारवचनं किम्? हलन्तादपि यथा स्यात्। युष्मानाचक्षते युष्मयन्ति। तेषां युष्माकम्।

तुह्योस्तातङ्ङाशिषि ॥५।१।३०॥ तु हि इत्येतयोराशिष्यर्थे तातङादेशो भवति वा। जीवताद्भवान्। जीवतु भवान्। जीवतात्त्वम्। जीव त्वम्। तातङि ङित्करणमेवैषोऽर्थः इटश्च प्रतिषेधार्थं नन्वन्तादेशार्थं व्याख्यानात्। तेन कुरुतात्। मृष्टात्। बूताद्भवानिति सिद्धम्। आशिषीति किम्? किं करोतु भवान्। कुरु त्वम्। जीवतात्त्वमित्यत्र "अतो हे:" [४।४।६६] इति स्थानिवद्भावादुप् प्राप्नोति। नैव "हुझल्भ्यो हेर्धिः" [४।४।६४] इत्यत्राधिकारे अतो हेरिति पुनर्हिग्रहणाद् हिरूपस्यैव हेरुब्भवति। उक्तं च—

"तातङि ङित्त्वं सङ्क्रमकृत्स्यादन्यविधिश्चेत्तच्च तथा न।
हेरधिकारे हेरविकारो नाशविधौ तु ज्ञापकमाह॥"

ल्यस्तिवाक्से त्क्वः ॥५।१।३१॥ क्त्वा इत्येतस्य ल्य इत्ययमादेशो भवति तिसे वाक्से च। तिसे—प्रकृत्य। वाक्से—उच्चैःकृत्य। नीचैःकृत्याचष्टे। तिवाक्स इति किम्? अकृत्वा। परमकृत्वा।

यभेऽश्ववृषयोः क्यचि सुक् ॥५।१।३२॥ यभविषये अश्व वृष इत्येतयोः क्यचि परतः सुगभागो। अश्वस्यति वडवा। वृषस्यति गौः। यभ इति किम्? अश्वीयति। वृषीयति देवदत्तः।

क्षीरलवणयोर्लौल्ये ॥५।१।३३॥ क्षीरलवणयोर्लौल्ये क्यचि परतः सुग् भवति। क्षीरस्यति माणवकः। लवणस्यति उष्ट्रः। लौल्य इति किम्? क्षीरीयति। लवणीयति बालकः। यभेऽश्ववृषयोः क्यचि स इति सिद्धे गुरुनिर्देशात् "कचिदन्यत्रापि सुगसुक्च सर्वमृद्भ्यो लौल्ये भवति"। दधिस्यति। मधुस्यति। दध्यस्यति। मध्वस्यति इत्यादि सिद्धम्।

आम्यात्सर्वनाम्नः सुट् ॥५।१।३४॥ आवर्णान्तात्सर्वनाम्न आमि परतः सुट् भवति। सर्वेषाम्। देवाम्। तेषाम्। केषाम्। सर्वासाम्। यासाम्। तासाम्। कासाम्। आदिति कात्निर्देशः आमीत्यस्योत्तरत्र सावकाशस्य तात्निर्देशं प्रकल्पयति। आदिति किम्? भवताम्। सर्वनाम्न इत्येव। नराणाम्।

त्रेस्त्रयः ॥५।१।३५॥ त्रि इत्येतस्य त्रय इत्ययमादेशो भवत्यामि परतः। त्रयाणाम्। परमत्रयाणाम्।

प्रेल्म्वाप्चतुरो नुट् ॥५।१।३६॥ प्र इल् मु इत्येतत्संज्ञकेभ्य आबन्ताच्चतुर्शब्दाच्च आमि परतः नुट् भवति। प्र—देवानाम्। कवीनाम्। साधूनाम्। इल्—षण्णाम्। पञ्चानाम्। मु—नदीनाम्। वधूनाम्। आप्—विद्यानाम्। बहुराजानाम्। चतुर्—चतुर्णाम्। "गोरविकारे तस्य तदन्तस्य च" [वा०] इति। परमपञ्चानाम्। मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययादिह न भवति। प्रियपञ्चाम्। प्रियपञ्चानाम्।

भित्य स्फादेः सस्य खम्। नुमोऽनुस्वारपरस्वत्वे। झलीति किम्? मज्जनम्। नगिता। मस्जे. "झलां जश् झशि" [५।४।१२८] इति सकारस्य दत्वम्। दस्य च चुत्व जकारः। "रधादे." [५।१।६३] वेट्।

रधिजभोरचि ॥५।१।४०॥ रधि जभ इत्येतयोः अजादौ परतो नुम् भवति। रन्धयति। रन्धकः। साधुरन्धी। रन्ध रन्धम्। रन्धो वर्तते। जम्भयति। जम्भकः। साधुजम्भी। जम्भो वर्तते। कृताकृतप्रसङ्गित्वेनैपः प्रागेव नुम्। अचीति किम्? रद्धा। जभ्यम्।

लिटीटि रधेः ॥५।१।४१॥ रधेर्नुम् भवति इडादौ लिटि परतः। ररन्धिव। ररन्धिम। नुम्विधान-सामर्थ्यत् "हलुङः क्ङित्यनिदित." [४।४।२२] इति नत्व न भवति। नित्यार्थोऽय योगः। लिट्येव इडादौ नान्यस्मिन्। रधिता। रधितुम्। विपरीतो नियमः कस्मान्न भवति? इडादावेव लिटीति। इह न स्यात्। ररन्धतुः। ररन्धुः। नैव योगविभागादिष्टप्रसिद्धेः। लिटीटीति योगः कर्तव्यः। तदनु रधेरिति। रधेर्लिटीटि नुम् भवति। रधेरिति पृथक्करण किमर्थम्? लिटीटीत्यनेष्टनियमसिद्धिर्यथा स्यात्। लिट्येवेडादौ रधेर्नुमिति।

रभोऽशब्लिटोः ॥५।१।४२॥ रभो गोर्नुम् भवति अजादौ न तु शब्लिटोः। आरम्भयामि। आरम्भकः। साध्वारम्भी। आरम्भमारम्भम्। आरम्भो वर्तते। अशब्लिटोरिति किम्? आरभते। आरेभे। अचीत्येव। आरभ्यम्। अशब्लिटोरित्यत्र प्रसज्यप्रतिषेध.। नञः सापेक्षस्यापि गमकत्वादनुष्णभोज्यादिवत्सविधिः।

लभेः ॥५।१।४३॥ लभेः शब्लिड्वर्जितेऽजादौ नुम्भवति। आलम्भयति। आलम्भकः। साध्वालम्भी। आलम्भमालम्भम्। आलम्भो वर्तते। अशब्लिटोरित्येव। आलभते। आलेभे। अचीत्येव। लभ्यम्। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम्।

आङो यि ॥५।१।४४॥ आङ्पूर्वस्य लभेर्यकारादौ त्ये परतो नुम् भवति। आलम्भ्या गौर्ब्राह्मणेन। आङ इति किम्? लभ्यम्। यीति किम्? आलब्धा। आलभ्य गत इत्यत्र कृतेऽपि नुमि "हलुङः क्ङित्यनिदितः" [४।४।२२] इति नत्वम्। नुम्वचन त्वन्यत्र सावकाशम्।

उपात्प्रशंसायाम् ॥५।१।४५॥ उपात्परस्य लभेः प्रशसायामर्थे नुम् भवति यकारादौ। उपलम्भ्या भवता विद्या। उपलम्भ्यानि धनानि। प्रशसायामिति किम्? उपलभ्यमस्माद् वृषलात् किञ्चित्।

गे. खघञोः ॥५।१।४६॥ गेरुत्तरस्य लभेर्नुम् भवति खघञोः परतः। सुप्रलम्भः। दुष्प्रलम्भः। प्रलम्भ। उपलम्भः। गेरिति किम्? ईषल्लभो लाभः। नियमार्थोऽय योगः। गेरेव खघञोः। अथ गेः खघञोरेव कस्मान्न भवति 'लभ उपलम्भने' [धा०] इत्यादिनिर्देशात्।

न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम् ॥५।१।४७॥ सु दुस् इत्येताभ्या केवलाभ्या परस्य लभेर्नुम्न भवति। सुलभो दुर्लभ। कृच्छ्राकृच्छ्रार्थदन्यत्र घञ्। सुलाभो दुर्लाभः। केवलाभ्यामिति किम्? सुप्रलम्भः। दुष्प्रलम्भः। अतिसुलम्भ। ग्रिग्रहणानुवृत्ते' सुदुसोर्ग्योर्ग्रहणम्। अतिसुलभमिति कथम्? "अतिक्रमे चाति." [१।४।८] इति अतेर्गित्वाऽभावात् सु केवल एव गि'। केवलग्रहण हि तुल्यजातीयस्य गेर्निवर्तकम्। अक्रियमाणेऽपि केवल-ग्रहणे द्वयो सन्निधाने उच्यमान कार्य कथमन्याधिकयोरपि। इदमेव ज्ञापक क्वचित्केवलस्य सन्निधाने उच्यमानमन्याधिकस्यापि भवति। तेन "निविश" [१।२।११] इत्यत्र निविशते अभिनिविशत इति सिद्धम्।

जिणमोर्वाऽगे ॥५।१।४८॥ अगिपूर्वस्य लभेर्वा नुम् भवति जिणमोः परतः। अलम्भि। अलाभि। लम्भ लम्भम्। लाभ लाभम्। अगेरिति किम्? प्रालम्भि। प्रलम्भ प्रलम्भम्।

उगिदचां घेऽधोः ॥५।१।४९॥ उगिता गृनाम् अञ्चतेश्च घे परतो नुम् भवत्यधोः। गोमान्। धनवान्। [illegible]। [illegible]। [illegible]। पचन्। पचन्तौ। पचन्तः। अञ्चतेः प्राङ्। प्राञ्चौ। प्राञ्चः। उगिद-[illegible] [illegible]। [illegible]। दाचौ। दाच.। घे इति किम्? पचतः पश्य। गोमतः पश्य। अञ्चतिग्रहण निय-

मार्थम्। उगितकार्यं धुप्यस्यैव। तेनेह न भवति। उखास्रत्। पर्णध्वत्। अवोरिति ग्रहणं पर्युदासार्थम्। वोरन्यस्य अधुभूतपूर्वस्य यथा स्यात्। गोमत्यत इति गोमान्। गोमानिवाचरति "कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा" [२।१।६] इति क्यङि कृते क्विप्यागतनिवृत्ते अत. के यखे च कृते सौ नुम् "अन्त्यमोऽधो." [४।४।१०] इति दीत्वम्।

युजेरखे ॥५।१।५०॥ युजि इत्येतस्यासे नुम्भवति धे परतः। युङ्। युञ्जौ। युञ्जः। "ऋत्विग्दधृक्" [२।२।५७] इत्यादिना क्विः। "क्विन्प्रत्ययस्य कु." [५।३।७५]। अस इति किम्? अश्वयुक्। अश्वयुजौ। "सत्सूद्विष" [२।२।५६] इत्यादिना क्विप्। "वागमिङ्" [१।३।८२] इति षस.। अस इत्यनर्थकम्। युजे रुच्यमानः कथं तदन्तस्य नुम्। इदमेव ज्ञापकम् "धोरविकारे तदन्तविधिर्नास्ति" [प०] इति। युजेरितीकारनिर्देशः किम्? "युज् समाधौ" [धा०] इत्यस्य ग्रहणं मा भूत्। युजमिच्छति मोक्षाय।

नपोऽज्झलः ॥५।१।५१॥ नपुंसकलिङ्गस्याजन्तस्य झलन्तस्य च नुम् भवति जे परतः। वनानि। धनानि। दधीनि। मधूनि। उदश्विन्ति। सर्पींषि। अज्झल इति किम्? विमलदिवि। चत्वारि। बहुगिरि। अहानि। "उगिदचां धेऽधो." [५।१।४६] इति नुम बाधित्वा परत्वादनेन नुम्। ददन्ति। जाग्रन्ति। जगन्ति।

सुपीकोऽचि ॥५।१।५२॥ अजादौ सुपि परत इगन्तस्य नपो नुम् भवति। तुम्बुरुणे। त्रपुणे। सुपीति किम्? तुम्बुरुणो विकार' तौम्बुरव चूर्णम्। "कद्र्वोरोऽस्वयम्भुवः" [४।४।१२४] इत्युकारस्योत्वम्। इक इति किम्? वने। जन्मे। अचीति किम्? जतुभ्याम्। अज्ग्रहणमनर्थकम्। हल्यपि नुमि नखे कृते सिध्यति जतुभ्यामिति। तथा अतिराभ्याम् प्रियतिसृभ्या कुलाभ्यामित्यपि। रायमतिक्रान्ताभ्या कुलाभ्याम। "निकुप्रादयः" [१।३।८३] इति षसे कृते। "ग्रो नपि" [१।१।७] इति प्रादेशः। प्रियास्तिस्रो ययोः कुलयो रिति विग्रहे बसः। अत्र परत्वान्नुम बाधित्वा "रायो हलि" [५।१।१४४] इत्यास्य तिसृभावः। "सकृद्गते परनिर्णये बाधित एव" [प०] इति तिसृशब्दस्य पुनर्नुम्न भवति। शुचिशब्दस्यापि नपुंसकलिङ्गविवक्षायामामि परतः पूर्वविप्रतिषेधेन नुटि कृते नुम। मृदन्तस्य नुम. खम्। "लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्" [प०] इति "इन्हन्पूषार्यम्णाम्" [४।४।६] "औ" [४।४।१०] इत्यस्य नियमस्याभावात् "नोङ." [४।४।७] इति दीत्वे कृते सिद्ध शुचीनामिति। यत्र नस्य नास्ति तत्र श्रवणं स्यात्। हे जानो। "नोमता गो" [१।१।६४] इति प्रतिषेधात्कथन्नुम्? इदमेवाज्ग्रहणं ज्ञापकम्। अनित्य. सप्रतिषेधः। तेन को प्रत्ययेऽपि कृते सिद्ध नपो इति। उत्तरार्थं च।

सक्थ्यस्थिदध्यक्ष्णामनङ् ॥५।१।५४॥ सक्थि अस्थि दधि अक्षि इत्येतेषां नपामनङादेशो भवति। सक्थ्ना। सक्थ्ने। अस्थ्ना। अस्थ्ने। दध्ना। दध्ने। अक्ष्णा। अक्ष्णे। भादावित्येव। अस्थिनी। अचीत्येव। अस्थिभ्याम्। प्रियसक्थ्ना व्याधेन। गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरपि सक्थ्यादीनां नपुंसकानाम्। तदन्तस्य नपुंसकस्यानपुंसकस्य च गोरनङादेशो भवति। केवलानां सक्थ्यादीनां व्यपदेशिवद्भावाद्गुत्वम्। "व्यपदेशिवद्भावो न मृदा" [प०] इतीयं परिभाषा लविषया नेहावतिष्ठते। नप इति किम्? दधिर्नाम कश्चित् तेन दधिना। लोकप्रसिद्धशब्दानुशासनं हीदमिति लोकसिद्धेनानङा सूत्रनिर्देशः। सुपीकोऽचीत्येव। नप इति प्रकृतिविशेषणमिदं वक्ष्यमाणविशेषणमिति पुलिङ्गः समुदायोऽनङोऽवकाशः प्रियसक्थ्ना पुरुषेण। नुमस्तु दधिनी सक्थिनी। दध्नेत्यादौ परत्वादनङ्।

विदेः शतुर्वसुः ॥५।१।५५॥ भादावजादौ सुपीति निवृत्तम्। विदेः परस्य शतुर्वसुरादेशो भवति। विद्वान्। विद्वांसौ। विद्वांसः। विद्वांसम्। विद्वांसौ। विदेरिति कानिर्देशाद्विन्दतेर्निवृत्तिः। वेत्यनुवर्तत इत्येके। विदन्। विदन्तौ।

न थात् ॥५।१।५६॥ नुमनुवर्तते प्रकृतत्वात्। थादुत्तरस्य शतुर्नुम्न भवति। ददत्। ददतौ। ददतः। ददतम्। ददतौ। जाग्रत्। जाग्रतौ। जाग्रतः। जाग्रतम्। जाग्रतौ। "उगिदचां घेऽधोः" [५।१।४६] इत्यस्य प्रतिषेधः।

वा नपः ॥५।१।५७॥ थादुत्तरस्य नपुंसकस्य शतुर्वा नुम् भवति। ददन्ति कुलानि। ददति कुलानि। जाग्रन्ति कुलानि। जाग्रति कुलानि। "नपोऽझलः" [५।१।५१] इति नुम्विकल्पितः। उगिल्लक्षणस्तु "सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव" [प०] इति।

शीम्स्योरात् ॥५।१।५८॥ अवर्णान्ताद् गोः परस्य शतुर्वा नुम् भवति शी मु इत्येतयोः परतः। तुदती कुले। तुदन्ती कुले। तुदती स्त्री। तुदन्ती स्त्री। याती कुले। यान्ती कुले। याती वडवा। यान्ती वडवा। करिष्यती कुले। करिष्यन्ती कुले। करिष्यती स्त्री। करिष्यन्ती स्त्री। आदिति किम्? अदती स्त्री। घ्नती स्त्री। अवर्णमानाश्रयत्वेनान्तरङ्गत्वात्प्राङ्नुमः पररूपम् "वार्णाद् गाङ्गं बलीयः" [प०] इत्यपि नास्ति भिन्नकालत्वात्। समकाले हि बलाबलं चिन्त्यते। भिन्नकालता च पूर्वमेकादेशः पश्चान्नुम्। एकादेशे कृते व्यपवर्गाभावादवर्णान्ताद्गोरुत्तरस्य शतुरिति न घटते। "आद्यन्तवदेकस्मिन्" [तद्वत् ४।३।७३] इति तद्वद्भागेऽपि न सम्भवति। "उभयत आश्रयणे न तद्वद्भावः" [प०] इति वचनात्। उभयं ह्यत्राश्रीयतेऽवर्णान्तो गुः शता च। यद्येकादेशः पूर्वं प्रत्यन्तवद्भवति तदा शता न विद्यते। अथ परं प्रत्यादिवत्तदाऽवर्णान्तो गुर्नास्ति। भूतपूर्वगत्याऽवर्णान्तस्य गोराश्रयणे अदतीत्यादिष्वपि स्यात्। अत्रापि भूतपूर्वगत्या शप्। एवं तर्हि सूत्रसामर्थ्याद्भूतपूर्वगतिराश्रयणीया। अदतीत्यादिषु तु नुम्न भवति आदिति निर्देशात्। अन्यथा शीम्योरित्येव वाच्येत अवर्णस्यासम्भवात्।

श्यशपः ॥५।१।५९॥ श्य शप् इत्येताभ्यां परस्य शतुर्नुम् भवति शीम्योः परतः। दीव्यन्ती कुले। दीव्यन्ती स्त्री। पचन्ती कुले। पचन्ती स्त्री। पुनरारम्भो नित्यार्थः।

स्वावनडुहः ॥५।१।६०॥ वेति निवृत्तम्। अनडुह इत्येतस्य नुम् भवति सौ परतः। अनड्वान्। हे अनड्वन्।

दिव औत् ॥५।१।६१॥ दिव् इत्येतस्य सौ परत औकारादेशो भवति। द्यौरारक्ष्यते पुण्येन। हे द्यौः। [illegible] "अनल्विधौ" [१।१।५६] इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्पुनर्न सुखम्। अथेह [illegible] अन्तरङ्गत्वादूट्। अन्तरङ्गता च धौ वकारस्योट् ङ्यन्तस्य सावौकारः। [illegible] "दिवेर्दिन्" [उ० सू०] इति दिव्।

पथिमथ्यृभुक्षामात् ॥५।१।६२॥ पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन् इत्येतेषामाकारादेशो भवति सौ परतः। पन्थाः। मन्थाः। ऋभुक्षाः। "अन्तेऽलः" [१।१।४६] इति नकारस्यात्वम्। "एर्धे" [५।१।६३] इती कारस्यापि। "स्वेऽक्को दी." [४।३।८८]।

एर्धे ॥५।१।६३॥ पथ्यादीनामवयवस्येकारस्याकारादेशो भवति धे परतः। पन्थाः। पन्थानौ। पन्थानः। पन्थानम्। पन्थानौ। एवं मन्थाः। मन्थानौ। ऋभुक्षाः। ऋभुक्षाणौ। एरित्यत्र तपरत्वाभावादिह कस्मान्न भवत्यात्वं पथीगिति? पन्थानमिच्छति। "स्वेप. क्यच्" [२।१।६]। "नः क्ये" [१।२।१०४] इति पदत्वम्। मृग्न नखम्, "दीरकृद्गे" [५।२।१३४] इति दीत्वम्। पथीयतेः क्विप्। "अत. खम्" [४।४।५०]। "वलि य्वो खम्" [४।३।५५] इति यखम्। इदानीं धे परत आत्वं प्राप्नोति। "परेऽच. पूर्वविधौ" [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावादकारेण व्यवधानान्न भवति। "न पदान्तद्वित्व" [१।१।५८] इत्यादिना तु यखविधिमेव प्रति स्थानिवद्भावप्रतिषेधः। आत्वविधिश्चायम्। ईविधिं प्रति कस्मान्न स्थानिवद्भावप्रतिषेध.। ईकारे विनिर्गे पथीगिति तत्र विग्रहः। धे चायं विधिर्नेकारे। "क्वौ नष्टं न स्थानिवत्" [प०] इति कस्मान्न प्रतिषेध.। तत्रापि "क्वौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्" [प०]। धे चायं विधिर्न क्वौ। अवश्यमेव विज्ञेयम्। अन्यथा क्वौ निमित्तभूते नष्टं न स्थानिवद्भवतीत्युच्यमाने लौरिति न सिध्यति। लवमाचष्टे णिच्। "अत. खम्" [४।४।५०] लवते. क्विप्। णेः खम्। अत्रापि णिखमेव क्विनिमित्तम् नातः खम्। तत. "परेऽच पूर्वविधौ" [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावादकारेण व्यवधानादूण्न स्यात्। "क्वौ विधिं प्रति नष्टं न स्थानिवत्" [प०] इत्युच्यमाने सर्वस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधाल्लौरिति सिद्धम्।

थो न्थः ॥५।१।६४॥ पथ्यादीनां थकारस्य न्थादेशो भवति धे परत.। उक्तान्येवोदाहरणानि। तयाणामनुवृत्तौ सम्भवात्पथिमथोरेवास्य न्थादेशः।

भस्य टेः खम् ॥५।१।६५॥ पथ्यादीनां भसञ्ज्ञानां टेः खं भवति। पथ पश्य। पथा। पथे। मथ मथा। मथे। ऋभुक्ष. पश्य। ऋभुक्षा। ऋभुक्षे। भस्येति किम्? पथिभ्याम्। ध इत्यनुवर्तमानमपो' न सम्बध्यते।

ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसाम् ॥५।१।७१॥ ऋकारान्तानाम् उशनस्, पुरुदंशस्, अनेहस् इत्येतेषां चानङादेशो भवति सावकौ परतः । कर्ता । पिता । माता । उशना । पुरुदंशा । अनेहा । अकाविति किम् ? हे कर्तः । हे मातः । हे पितः । हे उशनः । हे पुरुदंशः । हे अनेहः । "उशनसः कौ त्रैरूप्यमेके वाञ्छन्ति" । नान्तमदन्तं सान्तमिति । कथं नान्तता । अकावित्यनुवर्तते । स च नञीपदर्थे द्रष्टव्यः । तेन क्वचित्काववनङ् । हे उशनन् । तथा "नखं मृदन्तस्याकौ" [५।३।३०] इत्यत्रापि नञीपदर्थ एव । तेन कावपि नलम् । हे उशन । यदा अनङ् न भवति तदा हे उशनः । ऋदिति तपरकरणमसन्देहार्थम् । "गॄ निगरणे" [धा०] इत्यस्यानुकरणनिवृत्त्यर्थं च गॄरिति मया श्रुतः ।

चतुरनडुहोर्वा ॥५।१।७२॥ चतुर् अनडुह् इत्येतयोरुकारस्य वा इत्ययमादेशो भवति घे परतः । अनडुह इत्यत्र "द्वन्द्वाच्चुदहषो टाथे" [४।२।१०८] इत्यः सान्तोऽन्यथाऽन्तर्वर्तिविभक्तिकृतपदाश्रयो हकारस्य दः स्यात् । चत्वारि । चत्वारः । अनड्वान् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरपि । चतुरडुहन्तस्य गौर्वाऽऽदेशो भवत्यभिसम्बन्धात् । केवलयोस्तु व्यपदेशिवद्भावः । प्रियचत्वारि । प्रियचत्वारः । प्रियानड्वान् । प्रियानड्वाहौ । प्रियानड्वाहः । अनडुह् अनड्वाह् इति गौरादावुभयग्रहणात् अनडुही । अनड्वाही । क्रुष्टु क्रोष्टृ क्रोष्टुशब्दा एकार्था ऋदुदन्तौ स्तस्तत्र घे स्त्रिया च क्रोष्टृशब्दस्यैव प्रयोगः—क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रोष्टारौ । क्रोष्ट्री । भादिष्वजादिषु भयोः । क्रोष्ट्रा । क्रोष्टुना । क्रोष्ट्रे । क्रोष्टवे । क्रोष्टुः । क्रोष्टोः । क्रोष्ट्रोः । क्रोष्ट्वोः । क्रोष्टरि । क्रोष्टौ । कौ शस्यामि हलादौ च क्रोष्टुशब्दस्यैव । हे क्रोष्टो । क्रोष्टून् । क्रोष्टुभ्याम् । क्रोष्टुभिः । क्रोष्टुभ्यः । क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टुषु । अभिधानलक्षणाः कृद्वृत्ताः । "सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुः" [उ० सू०] ।

घः कौ ॥५।१।७३॥ चतुरनडुहोरुकारस्य व इत्ययमादेशो भवति कौ परतः । हे अतिचत्वः । हे अनड्वन् । वाऽऽदेशापवादोऽयम् ।

ऋत इद्धोः ॥५।१।७४॥ ऋकारान्तस्य धोर्गोरिकारादेशो भवति । किरति । गिरति । आस्तीर्णः । विस्तीर्णः । विकीर्यते । स्तॄञः क्ते वृतः "सनीड्वा" [५।१।८९] इति विभाषित इट् । "यस्य वा" [५।१।१२१] इति प्रतिषेधः । धोरिति किम् ? मातॄणाम् । पितॄणाम् । ननु लाक्षणिकं तदत्र कथं प्रातिलाक्षणिकस्याप्यत्र ग्रहणमिष्यते । चिकीर्षिता ।

[**उदोष्ठ्यात्** ॥५।१।७५॥ **पुचादुप्** ॥५।१।७६॥ **सावेम्मे** ॥५।१।७७॥ **हलामचः** ॥५।१।७८॥ **मजवदत्रोऽतः** ॥५।१।७९॥ **नेटि** ॥५।१।८०॥ **हम्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्** ॥५।१।८१॥]

वोर्णुवः ॥५।१।८२॥ ऊर्णुञ इडादौ सौ मपरे वा ऐब्भवति । प्राप्ते विकल्पोऽयम् । प्रोर्णावीत् । प्रोर्णवीत् । यदा तु "इड्विजः" [१।१।७६] इत्यनुवर्तमाने "वोर्णोः" [१।१।७७] इति ङित्वम्, तदा ऐपो प्रतिषेधः । प्रोर्णुवीत् ।

व्यवधानम् । नन्वग्रहीदित्यत्रापि सकारेण व्यवधानमस्ति, नैव "येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि" [प०] इति वचनप्रामाण्यात् । हलन्तानुवृत्तेरेकेण हला व्यवधानेऽप्यलसङ्घातेन व्यवधाने न भवति । योग विभाग व्यर्थम् । अतक्षीदित्यत्र समुदायेन व्यवधानात् वर्णसङ्घातेन व्यवधाने भवति । न च न भवतीति परिभाषाऽऽश्रयणाद्दोषः ।

वलाद्यगस्येट् ॥५।१।८४॥ वलादेरगस्य इडागमो भवति । लविता । लवितुम् । लवितव्यम् । वलादेरिति किम् ? लव्यम् । लवनीयम् । अगस्येति किम् ? आस्ते । शेते । ननु "ऋत इद्धो." (५।१।७३) इत्यनुवर्तमाने धोः सम्बन्धेन विहितस्य वलादेरिड्भवतीत्युच्यमाने "रुदादेर्गे" [५।१।१३५] इत्यत्र रुदादेर्गे नान्यस्येति रुदादीनामुदात्त पाठसामर्थ्येनेष्टावधारणात् रुदादेरेवागस्येड्भविष्यतीति व्यर्थमगग्रहणम् । नैवं प्रतिपत्तिगौरवं स्यात् । जुगुप्सते इत्यादौ धोः सम्बन्धेन सन्विहित इत्येण् न भवति ।

ग्रहोऽलिटि दीः ॥५।१।८५॥ ग्रह उत्तरस्य इटोऽलिटि दीर्भवति । षष्ठ्यन्त इडनुवर्तमानोऽर्थवशात्षष्ठ्या विपरिणमते । ग्रहीता । ग्रहीतुम् । ग्रहीतव्यम् । अलिटीति किम् ? जगृहिम । "लिडस्फाक्डित" [१।१।७६] "ग्रहिज्या" [४।२।१२] आदिना जिः । यङन्तस्य कस्माद्दीर्न भवति । जरीगृहिता । जरीगृहितुम् । तत्र ग्रहेर्या विहित इट् तस्य दीर्भवतीति विहितविशेषणात् । "प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्य ग्रहणम्" [प०] तस्मात भवति ? "एकाचोऽनुदात्तात" [५।१।११५] इति सिंहावलोकनेनैकाज्ग्रहणं सम्बध्यते । तेन ग्रहेरेकाच कार्यं तदुक्त्वा न भवति । ईटि कृते अग्रहीदित्यादौ "ईटीट." [४।४।७०] इत्यादिक दीत्वे कस्मान्न कार्यम् ? स्थानि वद्भावात् । "अनल्विधौ" [१।१।५६] इति कथं न प्रतिषेधः ? नायमल्विधिरागमनिमित्तमस्य । आकृतस्य ग्रहणाभावात् ग्राहिता ग्राहिष्यते इत्यादौ चिण्वदिटो दीर्न ।

[वृतो वा ॥५।१।८६॥ न लिडि ॥५।१।८७॥]

सौ मे ॥५।१।८८॥ मपरे सौ परत. वृत इटो दीर्न भवति । प्रावारिषाम । प्रावारिषुः । आस्तारिष्टाम् । आस्तारिषुः । "सिच्यसुध" [५।४।८२] इत्यादिना तपस्थाम । "वलाद्यगस्येट" [५।१।८४] मे इति किम् ? प्रावरिष्ट । प्रावरीष्ट । "लिङ्स्योर्ते" [५।१।९०] इतीट् ।

सनीड् वा ॥५।१।८९॥ सनि परत वृत इट् वा भवति । वुवूर्षते । विवरिषते । विवरीषते । प्रावुवूर्षते । प्राविवरिषते । प्राविवरीषते । प्रावुवूर्षति । प्राविवरिषति । प्राविवरीषति । आतिस्तीर्षति । आतिस्तरिषति । आतिस्तरीषति । "सनि ग्रहगुहश्च" [५।१।११८] इतीट् प्रतिषेधे प्राप्ते पक्षे इट् । विशीर्षति इति दीत्वे ऋतो लाक्षणिकत्वादिङ्भावः ।

समस्कृत। सम्पूर्वस्य कृञः "सम्पर्युपात्कृञ." [४।३।११०] इति सुट्। पूर्वं धुगिना युज्यते पश्चात्साधनवाचिना तेनेत्यन्तरङ्गः सुट्। अहिङ्गाते समकृतेत्यत्र काल्पवमट् स्यात्।

स्वरतिपूङ्धूञ्सूत्यूदितः ॥५।१।६२॥ स्वरति पूङ् धूञ् सूति इत्येतेभ्यः ऊदिद्भ्यश्च वलादेर्गस्य वा इट् भवति। "लिङ्स्लोदे" [५।१।६०] इत्येतन्निवृत्तम्। वेत्यनुवर्तते। इतोऽधिकाराणां प्रवृत्तिनिवृत्ती इति स्वरतेरप्राप्ते विकल्पोऽन्येषां प्राप्ते। स्वर्ता। स्वरिता। स्वर्तुम्। स्वरितुम्। विसोता। विसविता। विधोता। विधविता। सोता। सविता। ऊदितः। विगाढा। विगाहिता। निगोढा। निगूहिता। स्वरतेर्दितपा निर्देशो यङ्लुगन्तनिवृत्त्यर्थः। सरीस्वरिता। सूङ्धूञोरनुबन्धनिर्देश. सुवतिधुवत्योर्विकल्पनिवृत्त्यर्थः। सविष्यति। धुविष्यति। स्वरतेः स्यविषये "हनृतः स्ये" [५।१।१२६] इति परत्वादिट्। स्वरिष्यति। क्विद्विषयेऽपि परत्वात् "श्र्युकः किति" [५।१।११७] इति प्रतिषेधः। सूत्वा। धूत्वा। स्वरत्यादीनां प्रतिपदग्रहणं किम्? ऊदित एव ते पठितव्याः? पृथग्ग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्। अनुबन्धकृतमनित्यं भवति। तेन उपलब्धिः। दृष्ट्वा इत्यत्र क्त्वादट् दित्वान्डीर्न भवति। अनुबन्धनिर्दिष्टं यङ्लुगन्तस्य न भवति। जोगूहिता।

रधादेः ॥५।१।६३॥ रध इत्येवमादिभ्यश्च वा इड् भवति। रद्धा। रधिता। नंष्टा। नशिता। रधादयोऽष्टौ तृपर्यन्ताः। प्रकृतस्येटः स्याद्विकल्पः, क्रादिनियमाल्लिटि कथम्? रधादिपूदात्तानुदात्तपाठाभावात् "येन नाप्राप्ते तस्य तद्बाधनम्" इत्यस्य न्यायस्यासम्भवात्, अविशेषेण विकल्पः। ररन्थ। ररन्म। ररन्धिव। ररन्धिम।

निष्कुपः ॥५।१।६४॥ निस्पूर्वात्कुपः वलादेर्गस्य वा इड् भवति। निष्कोष्टा। निष्कोषिता। "इदुदुटोऽन्यपुम्मुहुस." [५।४।२८] इति रेफस्य सत्वम्। इणः षत्वम्। निस् इति किम्? कोषिता। प्रकोषिता।

इट् ते ॥५।१।६५॥ निस्पूर्वात् कुपः ते परतः इड् भवति। निस्कुषितः। निस्कुषितवान्। पुनरिड्ग्रहणं नित्यार्थमन्यथा विकल्प. स्यात्। आरम्भो हि "यस्य वा" [५।१।१२१] इत्यस्य बाधनार्थो न नित्यार्थ.। वेत्युत्तरत्रानुवर्तत एव।

तीषसहलुभरुषरिषः ॥५।१।६६॥ तकारादावगे परतः इष सह लुभ रुष रिष इत्येतेभ्यो वा इड् भवति। एष्टा। एषिता। सोढा। सहिता। लोब्धा। लोभिता। रोष्टा। रोषिता। रेष्टा। रेषिता। तकारादाविति किम्? एषिष्यति। इषेर्भौवादिकस्य ग्रहणं सहिसाहचर्यात्। तेनेतरयोर्विकल्पो न भवति। को विशेष ते "यस्य वा" [५।१।१२१] इति प्रतिषेधो न भवति। इषितः। इषितवान्। लुभ इत्यविशेषणग्रहणम्।

सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुस्तृश्रियूर्णुभरज्ञपिसनाम् ॥५।१।६७॥ इवन्तानां धूनाम् ऋध् भ्रस्ज दम्भु स्तृ श्रि यु ऊर्णु भर ज्ञपि सन इत्येषां च सनि परतः वा इड् भवति। दुद्यूषति। दिदेविषति। सुस्यूषति। सिसेविषति। अनिट्पक्षे "हलन्तात्" [१।१।८४] इति सनः कित्त्वम्। "छ्वोः शूड्ठे च" [४।४।१७] इत्यूट्। षत्वादेशो न "षणि चाषिणस्तोरेव" [५।४।४१] इति नियमात् सिवेश्चात् परस्य षत्वं न भवति। ईर्त्सति अर्दिधिषति। ऋधेः सन्। अच इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम्। "आप्ज्ञप्यृधामीत्" [५।२।१५७] इति ऋकारस्य ईत्वम्। रत्वम्। "खस्यात्र खम्" [५।२।१६०]। इटि अर्धिस इति। "न स्फाद्यौ न्द्रोऽयि" [४।३।३] इति निषेधस्य द्वित्वम्। "झं चर्चम्" [५।४।१२१] इति द.। बिभर्क्षति। बिभक्षति। बिभर्जिषति बिभ्रज्जिषति। "भ्रस्जो रलोरम्" [४।४।२६] इति रेफोपधयोर्वा परो रम् भवति। धिप्सति। धीप्सति। दिदम्भिषति। "दम्भ इच्च" [५।२।१५८] इति अस्य इत्वमी ईत्वम्। "खस्यात्र खम्"। "हलन्तात्" [१।१।८४] इति कित्त्वम्। "एकाचो बश." [५।२।५४] इति धत्वम्। "खरि" [५।४।१२०] इति चर्त्वम्। तिस्तीर्षति।

सिखवियिपति। शिश्रीपति। शिश्रयिषति। सयुयूषति। सयियविषति। इति कृते "द्विर्वेऽचि" [१।१।७४] इत्येयवादेशयोः स्थानिवद्भावात् इति द्वित्वम्। प्रोर्णुनूषति। प्रोर्णुनविषति। प्रोर्णुनुविषति। इट्पक्षे "वोर्णोः" [१।१।७७] इति वा ङित्वम्। बुभूर्षति। यङ्लुबन्तनिवृत्त्यर्थः शपा निर्देशः। जीर्षति। जिजरिषति। "आप्ज्ञप्यृधामीत्" [५।२।१५७] इतीत्वे। सिसासति। सिसनिषति। "जनसनखनाम्" [४।४।४३] "सनि" [४।४।४४] इत्यात्वम्। सनीति योगविभागात् "तनिपतिदरिद्रो ग्रहणम्"। तितांसति। तितनिषति। तितनिषति। पित्सति। पिपतिषति। दिदरिद्रासति। दिदरिद्रिषति। सनीति किम्? देविता।

क्लिशस्तक्त्वोः ॥५।१।९८॥ क्लिशः त क्त्वा इत्येतयोर्वा इड् भवति। क्लिष्टः। क्लिशितः। क्लिष्टवान्। क्लिशितवान्। क्लिष्ट्वा। क्लिशित्वा। इट्पक्षे क्त्वात्यस्य "क्लिशः" [१।१।८१] इति कित्वम्। क्लिशू इत्येतस्य क्त्वात्ये स्वरत्यादिना सिद्धो विकल्पः। ते "यस्य वा" [५।१।१२१] इति प्रतिषेधं प्राप्नोति। क्लिश उपताप इत्यस्य तु तक्त्वोर्नित्यमिटि प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम्।

पूङः ॥५।१।९९॥ पूङश्च त क्त्वा इत्येतयोः परतः वेड् भवति। "श्र्युकः क्ङिति" [५।१।११७] इति प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पः। पूतः। पवितः। पूतवान्। पवितवान्। पूत्वा। पवित्वा। इट्पक्षे ते "न सेट् पूङ" [१।१।८२] इत्यादिना क्त्वा त्ये तु "मृड" [१।१।८०] आदिनियमेन कित्वाभावः। सानुबन्धनिर्देशः पूञो निवृत्त्यर्थः। इति सति पुवित इत्यनिष्टं स्यात्।

क्षुधवसतेरिट् ॥५।१।१००॥ क्षुध वसति इत्येताभ्यां त क्त्वा इत्येतयोरिड् भवति। क्षुधितः। क्षुधितवान्। क्षुधित्वा। क्षोधित्वा। उषितः। उषितवान्। उषित्वा। क्षुधेः क्त्वात्य "व्युतोऽञो हलः सन्" [१।१।८७] इति वा कित्वम्। तिपा निर्देशो यङ्लुबन्तनिवृत्त्यर्थः। वावस्तः। वावस्तवान्। पुनरिड्ग्रहणं नित्यार्थम्।

अञ्चेः पूजायाम् ॥५।१।१०१॥ अञ्चतेः पूजायामर्थे त क्त्वा इत्येतयोरिड् भवति। अञ्चितः। अञ्चितवान्। अञ्चित्वा गुरून् गतः। "नाञ्चेः पूजे" [४।४।२६] इति नखाभावः। "वोदितः" [५।१।१०४] इति विकल्पे ते "यस्य वा" [५।१।१२१] इति प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम्। पूजायामिति किम्? उदक्तमुदकं कूपात्।

स्वार्थे लुभात् ॥५।१।१०२॥ स्वार्थे विमोहने वर्तमानात् लुभात् त क्त्वा इत्येतयोरिड् भवति। विलुभिताः केशाः। विलुभिताः सीमन्ताः। विलुभितानि पदानि। लुभित्वा। लोभित्वा। क्त्वात्ये "तीषसह" [५।१।९६] इति विकल्पे ते "यस्य वा" [५।१।१२१] इति प्रतिषेधे वचनम्। स्वार्थ इति किम्? लुब्धो वृषलः। विविधं मोहनं विमोहनमाकुलीभवनमित्यर्थः। लुभादिति शविकरणनिर्देशात् "लुभ गार्ध्ये" [तु०] इत्यस्य निवृत्तिः।

नर्त्स्यति । अनर्त्स्यत् । निनृत्सति । नर्तिष्यति । अनर्तिष्यत् । निनर्तिषति । सीति किम् ? कर्तिता । अशादिति किम ? अकर्त्तात् । अप्राप्ते विकल्पोऽयम् ।

गमेरिण्मे ॥५।१।१०६॥ गमेरिड् भवति सकारादौ मे । इड्ग्रहणं नित्यार्थम् । गमेरिति मम् । "गम्लृ सृप्लृ गतौ" [धा०] । "सनि" [१।४।११६] इति इणो गमादेशस्य "इण्वदिकः" [वा०] इति वचनेन "इक् स्मरणे [धा०] इत्यस्य "इङः" [१।४।१२०] इति "इङ् अध्ययने" [धा०] इत्यस्य चाविशेषेण ग्रहणम् । गमिष्यति । अगमिष्यत् । अनादेशस्येदम् । जिगमिष्यति । इणादेशस्यापीदम् । अधिजिगमिषति । "इण्वदिकः" [वा०] । गमेरिति किम् ? एष्यति । म इति किम् ? सगसीष्ट । सगस्यते । सजिगसते वत्सो मात्रा । अधिजिगासते । "हनिङ्गम्यचां सनि" [४।४।१४] इति दीर्घत्वम् । म इति विषयनिर्देशोऽयम् । मे यो गमिस्तल्लब्ध-स्तस्य सकारादाविड् भवतीति । तेन हेरपि कृति चेट् सिद्धः । जिगमिष त्वम् । जिगमिषिता । गमेरिति योग-विभागो द्रष्टव्यः । तत्र वेति सम्बध्यते । क्वचिदन्यत्रापि वा सकारादाविड् भवति । सजिगमिषिता । सजिगंसिता । अधिजिगांसिता व्याकरणस्य ।

न वृतादेः ॥५।१।१०७॥ वृतादेर्मे इण् न भवति । सकारादाविति निवृत्तम् । वर्त्स्यति । अवर्त्स्यत् । वृधु । वर्त्स्यति । अवर्त्स्यत् । विवृत्सति । शर्त्स्यति । अशर्त्स्यत् । शिशृत्सति । स्यन्त्स्यति । अस्यन्त्स्यत् । सिस्यन्त्सति । कल्प्स्यति । अकल्प्स्यत् । चिक्लृप्सति । कल्प्ता । कल्प्तारौ । कल्प्तारः । म इत्येव । वर्तिष्यते "स्यसनोर्वृद्भ्यः" [१।२।८८] "लुटि च क्लृपः" [१।२।८९] इति वा मविधिः । वृतादयः पञ्च वृत्पर्यन्ताः । वृत्करणमिहार्थं वृतार्थं च । द्विगता अपि हेतवो भवन्तीति । इह कथं विवृत्सत्वम् । अत्रापि मे इति विषयनिर्देशात्मेनोपलक्षितानां वृतादीनां नेड् भवति । तेन हेरपि कृति च इडभावः सिद्धः । विवृत्सिता । तद्विपर्यये तु विवर्तिषस्व । विवर्तिषितुम् ।

घोपदेशेऽत्वदच्सृजिदृशस्तासौ नित्यानिटस्थेऽव्यादः ॥५।१।१०८॥ उपदेशे अकारवद्भ्य अजन्तेभ्यः सृजि दृशि इत्येताभ्यां च तासौ नित्यानिड्भ्य थे वा इड् भवति व्या अद इत्येतौ वर्जयित्वा । आदिनियमादिटि प्राप्ते विकल्पः । अत्वान्—पक्ता । पपक्थ । पेचिथ । शक्ता । शशक्थ । शेकिथ । अच्—याता । ययाथ । ययिथ । चेता । चिचेथ । चिचयिथ । होता । जुहोथ । जुहविथ । स्रष्टा । ससृष्ठ । ससर्जिथ । दृश्—द्रष्टा । ददृष्ठ । ददर्शिथ । उपदेश इति किम् ? कर्ष्टा । चकर्षिथ । एतेषामिति किम् ? भेत्ता । बिभेदिथ । तासाविति किम् ? गन्ता । जगन्थ । जगमिथ । नित्यानिट एवोच्यमाने अय गमिर्नित्यानिण्न भवति । सकारादाविट्त्वात् "गमेरिण्मे" [५।१।१०६] इति । अतोऽस्य विकल्पो न स्यात् । तथा—जिघृक्षति । [illegible] । लूला । लुलविथ । "सनि ग्रहगुहश्च" [५।१।११८] "श्र्युकः किति" [५।१।११७] इति सनि [illegible] च नित्यानिटाविमौ न तु तासौ । नित्यग्रहणं किम् ? अङ्क्ता । अञ्जिता । आनञ्जिथ । विधोता । [illegible] । विदुधविथ । तासौ विभाषितेडतोऽनिट्कार्यं मा भूत् । असति तु नित्यग्रहणे पाक्षिकेणापि [illegible] । यथा गुणे विभाषितेटोऽपि अनिट्कार्यं "शलोऽनिटोऽदृशः क्सः" [२।१।४०] [illegible] । [illegible] । थ इति किम् ? पेचिम । ययिव । ययिम । अव्याद इति किम् ? व्याता । विव्ययिथ । [illegible] । [illegible] । "तदादेशास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते" [प०] जघसिथ । अत्वदिति तपरकरणं किम् ? [illegible] । [illegible] ।

अर्तेः ॥५।१।११०॥ अत "ऋत." इत्यनेन यदुक्त तन्न भवति। अर्ता। आरिथ। प्रतिषेध स्तावन्नाभिसम्बध्यते। ऋत इत्येव सिद्धत्वात्। विकल्पोऽपि यदीष्ट. स्यात् "अञ्चञ्चसृजिदृश." इत्यत्रैवास्य ग्रहण क्रियेत। ततः सूत्रारम्भसामर्थ्याद् विधिरभिसम्बध्यते।

स्नोर्दार्थात् ॥५।१।१११॥ नेत्यनुवर्तते। स्नु इत्येतस्माद् दार्थाद्निमित्तादगे इण्न भवति। प्रस्नोष्यते। प्रस्नोष्टीष्ट। प्रास्नोष्ट। "डौ" [१।२।७] इति द। "स्नोश्च जिश्च' [१।१।५६] इति लुटि न जिः। सुस्नुषिष्यते इत्यत्र "सनि ग्रहगुहश्च" [५।१।११८] इत्यनेनैव प्रतिषेधः। इह कथ प्रस्नविषेनानयति प्रस्नविषीयते। नात्र स्नौतिर्दार्थः। कि तर्हि ? क्यङन्तो धुः। "रीङ् ऋत [५।२।१३६] इति रीङ्। दोऽर्थो यस्य सोऽयं दार्थः। दप्रयोजन इत्यर्थ.। कदा च स्नुर्दार्थ.। यदा भावकर्मकर्मव्यतिहारा विवक्षिता। सति च दे दार्थत्व तेन कृति न भवति। प्रस्नवितुम्। यदि सति दे दार्थत्व दे इति वक्तव्यम्। न दे परत इत्यानन्तर्यं विज्ञायेत। स्यादिव्यवधाने न स्यात् प्रतिषेधः। दार्थादिति किम् ? प्रस्नविता। प्रस्नवितुम्।

क्रमः ॥५।१।११२॥ दार्थादिति वर्तते। क्रमश्च दार्थादिण् न भवति। प्रक्रंस्यते। प्रक्रंसीष्ट। प्रचिक्रंसते। प्रचिक्रंसिष्यते। सन्नन्तप्रयोगेऽपि क्रमिरेव दार्थः। "सन पूर्ववत्" [१।२।५८] इति क्रमि सम्बन्धिनो दस्यातिदेशात्। अत्रापि दार्थत्व भावकर्मकर्मव्यतिहारा वृत्त्यादयोऽर्थाः "वाऽगे." [१।२।३६] इति योगश्च। दार्थादित्येव। प्रक्रमितव्यम्। प्रक्रमितुम्। सति दे दार्थत्वमिति। "प्रादारम्भे" [१।२।२८] इति दः।

कर्तरि कृति ॥५।१।११३॥ क्रमेर्दार्थाद्विषयात् कर्तरि कृति नेड् भवति। इह कृतीति वचन सामर्थ्याद्दस्यासम्भवाद्दार्थादिति दविषयादित्यवगन्तव्यम्। अप्रयोगेऽपि दस्य दविषयत्व पूर्व तु सत्येव दार्थत्व व्याख्यातम्। प्रक्रन्ता। उपक्रन्ता। प्रचिक्रमिता। कर्तरि कृति। प्रक्रमितव्यम्। उपक्रमितव्यम्। प्रचिक्रमिषा। दार्थादिति किम् ? निष्क्रमिता। "इदुदुडोऽन्यपुस्मुहुस्मः" [५।४।२८] इति सत्वम्। "इण. प" [५।४।२७] षत्वम्।

वशि ॥५।१।११४॥ कृतीत्येकदेशोऽनुवर्तते। वशादौ कृति नेड् भवति। प्राप्ते प्रतिषेधः। ईश्वर। दीप्र। भस्म। यत्नः। वग्-रग्म ना एव प्रयोजनमस्तीति केचित्। तदयुक्तम। अन्यत्रापि दर्शनात्। "जमन्ताड्ड" [उ० सू०]। दण्डः। "मुदिग्रोर्ग" [उ० सू०]। मुद्ग.। गर्ग। "दरिदलिभ्या भ" [उ० सू०]। दर्भ। दल्भः। कृतीति किम ? रुरुदिव। रुरुदिम।

झल्यकित्यमागमार्थः। नता। तर्ता। द्रष्टा। दर्मा। अदि (हदि)नुदितुदिस्कन्दिछिदिभिदिशदिक्षुदिपदिखिदिस्विद्यति(विद्यति)विन्तयः पञ्चदश ।१५। स्विद्यतीति स्यनिर्देशो ञिस्विदा स्नेहने इत्यस्य निवृत्त्यर्थः। विद्यतिविन्त्योर्विकरणनिर्देशोऽन्यविकरणनिवृत्त्यर्थः। वेदिता शास्त्रस्य। वेदिता वनस्य। केचित्तु विन्दतिमनिटमिच्छन्ति। वेत्ता वनस्य। पचिवचिविचिरिचिसिचिशुचयः षट् ।६। प्रच्छि ।१। युजिरुजिरञ्जिभुजिभञ्जिसृजिसञ्जित्यजियजिमस्जिनिजिभस्जिस्वञ्जयश्चतुर्दश ।१४। एकाच इति किम्? बेभिदिता। अस्त्ययमङ्से यङ्लुकि च कृते उदात्तः। न त्वेकाच्। नन्वयमप्युपदेशे एकाच्। नैव बेभिद्यरूपेणोपदेशात्। यत्रैव निभित्सतीत्यत्रापि स्यात्। सन्नतस्येड्भवत्येव। बिभित्सता। सनि तु परे न भवति। द्वित्वमिति स एवायं भिदिरेकाजदनुदात्तश्च। यदि वा उपदेशे अयमेकाच्? अनुदात्तादिति किम्? लविता। लवितुम्। उपदेश इति किम्? पेचिव। पेचिम। कथमिदमुदाहरणं युक्तम्। असत्युपदेशाधिकारे एकाचोऽनुदात्तस्य यदि लिटि प्रतिषेधः सिद्धः स्यात्तदा नियमः स्याच्चक्रवादौ। न च लिटि प्रतिषेधः प्राप्नोति, द्वित्वे कृतेऽनेकाच्त्वात्। सति तूपदेशाधिकारे उपदेशावस्थायामेकाजिति कृत्वा प्रतिषेधः सिद्धस्ततो नियमः।

तितुत्रतथसिसुसरकसेऽग्रहादेः ॥५।१।११६॥ अग्रस्यापि प्रतिषेधोऽयम्। ति तु त्र त थ सि सु सर क स इत्येतेषु परतो नेड् भवति ग्रहादीन् वर्जयित्वा। ततिः। क्तिच्। "न क्तिचि दीर्घश्च" [४।४।४०] इति नलदीर्घत्वयोरभावः। सक्तुः। "सितनिगमिमनिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुः" [उ० सू०]। पत्रम्। "दाम्नीशसयुयुज" [२।२।१६०] इत्यादिना त्रट्। हस्तः। "हसिमृगृण्वमिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तु." [उ० सू०] औणादिकस्यैव तस्य ग्रहणं व्याख्यानात्। क्ते तु हसितमित्येव भवति। काष्ठम्। "हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यस्थः" [उ० सू०]। कुक्षिः। "प्लुषिप्लुषिकुष्यशिभ्यः क्सिः" [उ० सू०]। इक्षुः। "इष्यशिभ्यां क्सु." [उ० सू०] "कृधूभ्यां क्सर."। धूसरः। शल्कः। "इणभीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कः" [उ०सू०]। वत्सः। "वृतृवदिहनिकमिकषिमुचिभ्यः सः" [उ० सू०]। अग्रहादेरिति किम्? निगृहीतिः। अपस्निहितिः। निकुचितिः।

श्र्युकः किति ॥५।१।११७॥ श्रि इत्येतस्मादुगन्तेभ्यश्च कितीण्न भवति। निपठितिः। "स्त्रियां क्ति" [२।३।७५] श्रित्वा। श्रितः। श्रितवान्। युत्वा। युतः। युतवान्। वृत्वा। वृतः। वृतवान्। उपदेश इत्येव। तीर्त्वा। तीर्णः। तीर्णवान्। श्र्युक इति किम्? श्वयित्वा। श्वेः क्त्वा। अत्र ञिरिट् च युगपत्प्राप्नुतः। परत्वादिट्। "मृडादि" [१।१।८०] नियमादकित्त्वम्। कितीति किम्? श्रयिता। यविता। भूष्णुरित्यत्र गिति सनो व प्रतिषेधः द्वितीयस्य गकारोऽपि कृतचर्त्वो निर्दिष्टः। तस्य पूर्वत्रासिद्धत्वमाश्रित्य पूर्वं विसर्जनीयः कृतो यथा रेफस्य स्यात्। एवभावोऽपि "क्ङिति" [१।१।१६] इति गकारप्रश्लेषादेव। ऊर्णुञो गुणवद्भावः। प्रोर्णुतः। प्रोर्णुतवान्। एकाच इत्येव। जागरितः। जागरितवान्।

सनि ग्रहगुहश्च ॥५।१।११८॥ ग्रह गुह इत्येताभ्याम् उगन्तेभ्यश्च सनि नेड् भवति। जिघृक्षति। जुघुक्षति। रुरूषति। "रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च" [१।१।८२] इति कित्वाज्जिः। गुहेरुदित्वाद्विकल्पः प्राप्तः। तत्र भवति "झलिकः" [१।१।८२] इति कित्त्वं मा भूदिति वा परत्वादिट् प्राप्तस्तस्यानेन प्रतिषेधे झलादित्वात् कित्त्वम्। तीर्णस्य न प्राप्नोति "श्रियूर्णुभर" [५।१।९७] विकल्पितेट्त्वात् ततोऽपि "सनीङ् वा" [५।१।८९] तिस्तीर्षति।

बिभिदिव । बिभिदिम । ददिव । ददिम । "श्र्युकः किति" [५।१।११७] इति प्रतिषेधे सिद्धे वृग्रहणं नियमार्थम् । वृञ्वृङोरेवोदात्तेषु लिटि नेट् । तेन लुलुविव । लुलुविम । अथ (प्रति)षेधार्थं वृग्रहणं कस्मान्न भवति ? यदि प्रतिषेधः इष्टः स्यात् थाधिकारे वृग्रहणं क्रियेत न क्रादिविकारे । इह वरणं ज्ञापकं थे प्रतिषेधाभावस्य । ववरिथ । स्तुप्रभृतिग्रहणं तु प्रतिषेधार्थम् । (थे) "वोपदेशे" [५।१।१०६] इति प्राप्तः । वसयोस्तु कृसृभृ नियमादिट् (इट्) प्राप्तः प्रतिषिध्यते । असुट इत्यनुवर्तते । सञ्चस्करिव । सञ्चस्करिम ।

श्वीदितस्ते ॥५।१।१२०॥ श्वयतेरीदिद्भ्यश्च ते परत इण्न भवति । शूनः । शूनवान् । लग्नः । लग्नवान् । आपीनः । आपीनवान् । श्वि ई ईदित ईकारोऽप्यत्र प्रश्लिष्यते । शीङः "तः सेट् पूङ्शीङः" [१।१।६२] इति ज्ञापकादिट् । पारिशेष्यादीकारान्तस्य डीङो ग्रहणम् । उड्डीनः । उड्डीनवान् । "ओदितः" [५।३।६३] इति त्वत्वम् । स्वादय ओदितः ।

यस्य वा ॥५।१।१२१॥ यस्य वाऽन्यस्मिन्निडुक्तस्तस्य ते परत इण्न भवति । गूढः । गूढवान् । हृष्टः । हृष्टवान् । धूतः । धूतवान् । "तनिपतिदरिद्राणाम्" [वा०] इति वेट्त्वेऽपि पतित इत्यत्र "इडभिकृतात्तीतपतित" [१।२।२१] इति ज्ञापकादिट् ।

आदितः ॥५।१।१२२॥ आकारेतश्च धोस्ते परत इण्न भवति । मिन्नः । मिन्नवान् । स्विन्नः । स्विन्नवान् । क्ष्विण्णः । क्ष्विण्णवान् । धृष्णः । धृष्णवान् । "शमः शमि" [४।३।१६८] इत्यादिना इडागमवचनात्सिद्धे आदेशवचनं ज्ञापकमनित्यमागमशासनमिति । तेन वान्तः । विश्वस्तः ।

वा भावारम्भयोः ॥५।१।१२३॥ भावे आरम्भे च आदितो धोस्ते परतो वा इड् भवति । मिन्नमस्य । मेदितमस्य । प्रमिन्नः । प्रमेदितः । क्ष्विण्णमस्य । क्ष्वेदितमस्य । प्रक्ष्विण्णः । वेति योगविभागात् शकेर्वा शकेरिट् । आदित इति तु न सन्निधीयते । शकितो घटः कर्तुम् । शक्तो घटः कर्तुम् । भावो नपुं । आद्यः क्रियाक्षणः प्रत्यादिना योग्य आरम्भः । भावग्रहणं तस्य विशेषणम् आरम्भो वा । "नब्भावे क्तः" [२।३।६५] इति भावे क्तः । "कर्तरि चारम्भे" [२।४।५६] इति कर्तरि क्तः ।

दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टछन्नज्ञप्ताः ॥५।१।१२४॥ दान्तादयः शब्दा ण्यन्ताद्वा निपात्यन्ते । दान्तः । दमितः । शान्तः । शमितः । पूर्णः । पूरितः । दस्तः । दासितः । स्पष्टः । स्पाशितः । छन्नः । छादितः । ज्ञप्तः । ज्ञपितः । ते वाऽनिट्त्वं निपात्यते । दस्तादिषु ह्रस्वादेशश्च । शमिदम्योर्णिचि दीर्घः प्राप्तो न स्यादिति "इस्य क्विब्झलोः क्ङिति" [४।४।१३] इति दीर्घत्वम् । अन्यत्र मितां ह्रस्वः । ज्ञप्तस्तु "ज्ञपिमारणतोषणनिशामन" [५।१।६७] इति विकल्पितेटो "यस्य वा" [५।१।१२१] इति प्रतिषेधे प्राप्ते ग्रहणम् ।

इति निपात्यते स्वरश्चेत् । विरेभितमन्यत् । इत्वमेतो निपातनात् । फाण्टमिति निपात्यते अनायासे । फाणितमन्यत् । अग्निना तत यत्कथोष्ण तत्फाण्टम् । अथवा यदपक्वमचूर्णितमनिष्यन्दितमुदकादिसंयोगाद्विभक्तरसम् । वाढमिति भवति नष्ट (भृश) चेत् वाहितमन्यत् । वाहृ प्रयत्ने इत्यस्यानिट्त्वम । विशस्तधृष्टाविति भवनः वियातो चेत् । विशस्तो वादी धृष्टो वादी प्रगल्भोऽविनीतो वा शसुधृषोः "यस्य वा" [५।१।१२१] "ञ्यादितः" [५।१।१२२] इति च प्रतिषेधे सिद्धे नियमार्थं वैयात्य एवेति । भावारम्भयोर्धृषे वैयात्येऽनभिधानम् । नियमादन्यत्नेट् । विशसितः पशुः । धर्षितः शत्रुणा । कष्टमिति भवति कृच्छ्रे गहने च । कृच्छ्र दुःख दुःखहेतुश्चोपचारात् । गहन वनम् । घुषेरविशब्दनेऽनिट्त्व निपात्यते । घुष्टा रज्जुः । घुष्टो पादौ । अविशब्दने इति किम् ? अवघुषित वाक्यमाह । शब्देनाभिप्रायनिवेदन विशब्दन तदपि घुषेरर्थः । अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् । दृढ इति स्थूले बलवति च । दृहेः क्तेऽनिट्त्व न हस्य परस्य च ढत्वं निपात्यते । दृहेर्वा नलवर्जम् । ननु दृहेर्हस्य ढत्व च न निपात्य ढत्वे ढुत्वे च कृते सिध्यति । नैवम् । द्रढिमा । द्रढयति । परिद्रढय्य गतः इत्यत्र पूर्वत्रासिद्धत्वात् "ऊ रोऽनादेर्घेः" [४।४।१५३] इति रत्वम् "ल्यपि लघुपूर्वात्" [४।४।५६] इति णेरयादेशश्च न स्यात् । इह च परिदृढस्यापत्यं पारिदृढी कन्येति "प्योऽक्षु स्पान्त्ययो." [३।१।६३] इति ष्यः प्रसज्येत । स्थूलबलवतोरिति किम् ? दृहितम । दृंहित वा । परिवृढ इति निपात्यते प्रभुश्चेत् । परिपूर्वस्य वृंहेर्वृहेर्वा न इत्वम् । ढत्वे प्रयोजन पूर्वोक्तम् । परिद्रढय्य गतः इत्यत्र सग्राम युद्धे इति सगे. पाठात् णिगर्हितस्य णिनुत्पद्यते । तेन "तिकुमाद्यः" [१।३।८१] इति पक्षे क्त्वाल्यस्य ल्यादेशः । प्रभाविति किम् ? परिवृंहितम् । परिवृहितम् । अभ्यर्ण इति निपात्यते आविदूर्ये । अभ्यर्णे शेते । अभ्यर्णा शरत् । विदूर विप्रकृष्ट ततोऽन्यत्सर्वमविदूरं तस्य भाव आविदूर्यम् । "नञ्सुभ्यां चतुर" [३।४।११५] इत्यत्र नञ्स इति योगविभाग त्वपेक्ष्यतेऽपि टप्रत्ययः । आविदूर्ये इति किम् ? अभ्यर्दितश्चौरः शीतेन । वृत्तमित्यध्ययनेऽर्थे निपात्यते । वृतेर्ण्यन्तादिट्भावो णेरुप् च क्ते निपात्यते । वृत्त जैनेन्द्रम् । वृत्तस्तर्को देवदत्तेन । अध्ययन इति किम् ? वर्तितो घटः कुम्भकारेण । यदा वृत्तिरकर्मकस्तदाऽस्य ण्यन्तस्य वृत्तस्तर्क इति न भवति । यदा तु "तेन निर्वृत्त." [२।२।५८] इति णापवादन्तर्भावितार्थः सकर्मकस्तदा कर्मणि क्तः "यस्य वा" [५।१।१२१] इति प्रतिषेधाद्वृत्तस्तर्क । ण्यन्तस्य अध्ययने वर्तित इति भवति ।

समिनिविभ्योऽर्दे ॥५।१।१२७॥ सम् नि वि इत्येवपूर्वादर्देरिण्न भवति ते परतः । समर्णः । न्यर्णः । व्यर्णः । समिनिविभ्य इति किम् ? अर्दित. । प्रार्दित. ।

न वा रुष्यमत्वरसंघुषास्वनः ॥५।१।१२८॥ रुषि अम् त्वर सघुष आस्वन् इत्येतेभ्यः ते न वा इड् भवति । रुष्ट । रुषित. । अभ्यन्त. । अभ्यमितः । तूर्ण । त्वरितः । संघुष्ट. पादः । संघुषितः पाद. । संघुष्ट वाक्यम् । संघुषित वाक्यम् । आस्वान्तो देवदत्त. । आस्वनितो देवदत्त. । आस्वान्त मनः । आस्वनित मन । रुषेः "तीषसहलुभरुषरिष." [५।१।६६] इति विकल्पेऽटो "यस्य वा" [५।१।१२१] इति निषिद्धे त्वरम प्राप्ते त्वर "ञ्यादितः" [५।१।१२२] इति प्रतिषिद्धे सघुषास्वनोरविशब्दनमनसोरप्राप्ते अन्योरप्राप्तौ नित्यं प्रतिषिद्धाया सर्वत्र वेति विकल्पः ।

यमरमनमातः सक् च ॥५।१।१३२॥ यम रम नम इत्येतेषाम् आकारान्तानां च सवर्गे सौ परतः सगागमो भवति इट् च । अयमीत् । अयसिष्टाम् । अयंसिषुः । व्यरंसीत् । व्यरंसिष्टाम् । व्यरंसिषुः । अनंसीत् । अनंसिष्टाम् । अनंसिषुः । अनंसीदिति हलन्तलक्षण ऐप् स्यात् । सति तु "नेटि" [५।१।८०] इति प्रतिषिध्यते । आतः—अयासीत् । अयासिष्टाम् । अयासिषुः । म इत्येव । उपायंस्त । उपायंसाताम् । उपायंसत । अरंस्त । अरंसाताम् । अरंसत ।

स्मिपूङ्रञ्ज्वशः सनि ॥५।१।१३३॥ स्मिङ् पूङ् ऋ अञ्ज अशू इत्येतेभ्यः सनीट् भवति । सिस्मयिषते । पिपविषते । अरिरिषति । अञ्जिजिषति । अशिशिषते । पूङः सन । "सनि ग्रहगुहश्च" [५।१।११८] इति प्रतिषिद्धेऽनेनेट् । द्वित्वात्पर एप् "द्वित्वेऽचि" [१।१।५६] इति स्थानिवद्भावेन द्वित्वम् । "ओः पुयण्ज्ये" [५।२।१७८] इति इत्वम् । अञ्जेरूदित्वाद्विकल्पः प्राप्तः अशेरनातेःदात्त्वस्य नेट प्राप्तम् ।

किरश्च पञ्चभ्यः ॥५।१।१३४॥ किरादिभ्यः पञ्चभ्यः सनीड् भवति । उचिकरिषति । निजिगरिषति । दिदरिषते । दिधरिषते । पिपृच्छिषति । "प्रच्छेः" [४।३।१२] इति जिः । पञ्चभ्य इति किम् ? सिसृक्षति । किरतिगिरत्योः "सनीड् वा" [५।१।८६] इति विकल्पः प्राप्तः । "वृतो वा" [५।१।८६] इति अयाविभाषाश्रयणादस्येटो दीर्घ भवति । किर इति आदिशब्दस्य खे "सप्तेऽस्मिन् सुपिपिगिष्ट" [५।२।११२] इति ङ्यसः स्थाने ङसिः । चकारः सनोऽनुकर्षणार्थः, अन्यथा निमित्ते सन्देहः स्यात् सेऽपि पञ्चभ्य इति । अनुक्तसमुच्चयार्थ इति केचित् । तेन क्वचिदन्यत्रापीट् । "जुगृहिषत् मत्तगजोऽस्य गात्रम्" ।

रुदादेर्गे ॥५।१।१३५॥ रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः वलादौ गे इट् भवति । रोदिति । स्वपिति । श्वसिति । निश्वसिति । प्राणिति । जक्षिति । "णोऽनितेः" [५।४।१०४] इति णत्वम् । पञ्चभ्य इत्येव जाग्रति । ग इति किम् ? स्वप्ता । स्वप्तुम् । अन्ये तदात्ताः । वलादाविन्येव । रुदन्ति । स्वपन्ति । रुदादिभ्येव सानिर्गो ग इत्यस्येभिर्निर्देशस्योत्तरत्र सावकाशस्य ता प्रकल्पयति ।

ईडः स्ध्वे ॥५।१।१३६॥ ईडः सकारादौ ध्वे च गे परतः इट् भवति । ईडिषे । ईडिध्वे । ईडिष्वम् ।

ईशः ॥५।१।१३७॥ ईश इत्येतस्माच्च इट् भवति सकारादौ गे ध्वे च । ईशिषे । ईशिध्वे । ईशिध्वे । ईशिष्वम् । योगविभागो यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थः ।

ङिदिति । ङितीव ङिद्वदिति कार्यातिदेशः । तेन चुकुटिषति इत्यत्र सनोऽटित्वाद्गो न भवति । 'गोऽपित्' [१।१।७८] इत्यत्र तु ङित इव ङिद्वदिति द्रष्टव्यम् । न कार्यातिदेशः । कार्यस्यावयवासम्भवात् । ङिति किम् ? पचावहै । आत इति किम् ? पचन्ति ।

आने मुक् ॥५।१।१४१॥ अत आने मुगागमो भवति । आन इति ईम्निर्देशो अत इति कानिर्देशस्य पूर्वसूत्रे कृतार्थस्य ताप्रकृतिं करोतीति अकारान्तस्य मुक् । पचमानः । वपमानः ।

ईदासः ॥५।१।१४२॥ आस उत्तरस्य आनस्य ईकारादेशो भवति । आसीनोऽधीते । आस इति कानिर्देशोऽनवकाश आनस्य ता प्रकल्पयति । परस्यादेरीत् ।

विभक्त्यामाष्टनः ॥५।१।१४३॥ अष्टन आकारादेशो भवति विभक्त्या परतः । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः । अष्टासु । अष्टानामित्यष्टन आम्यात्वे च कृते नान्तत्वाभावादिलसञ्ज्ञा नास्ति । कथ नुड् । "ष्णान्तेल्" [१।१।३४] इत्यत्रान्तग्रहणमुपदेशार्थमुक्तमित्यदोषः । विभक्त्यामिति किम् ? अष्टमहाप्रातिहार्यो जिनः । "नोमता नो." [१।१।६४] इति प्रतिषेधात्त्याश्रयमात्व न भवति । कथ "दूतः स्यादष्टभिर्गुणैः" इति ? "अष्टाभ्य औश्" [५।१।१८] इति कृतात्वोच्चारण ज्ञापकम्, यत्रैवात्व तत्रैवौशूभाव इति तेनानित्यमात्वम् । आ इति विशेषनिर्देशो नकारस्य स्थाने ङसञ्ज्ञकाकारनिवृत्त्यर्थः । आत्वमिति जातिनिर्देशे प्रसज्येत ।

रायो हलि ॥५।१।१४४॥ रै इत्येतस्य हलादौ विभक्त्यामाकारादेशो भवति । राः । राभ्याम् । राभिः । राभ्यः । रासु । हलीति किम् ? रायौ । रायः । विभक्त्यामेव । रैत्वम् । रैता ।

युष्मदस्मदोः ॥५।१।१४५॥ युष्मदस्मदित्येतयोर्हलादौ विभक्त्या परतः आत्व भवति । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः । युष्मासु । अस्मासु । "अन्तेऽलः" [१।१।४६] इति दकारस्य भवति ।

इपि ॥५।१।१४६॥ इपि च विभक्त्या परतः युष्मदस्मदोरात्व भवति । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । युष्मान् । अस्मान् । "खमादेशे" [५।१।१४९] इति खे प्राप्ते पुरस्तादपवादोऽयम् । "ङेसुटोरम्" [५।१।२४] इत्यम् । "शसो न." [५।१।२५] इति नकारः ।

आचि ॥५।१।१४७॥ ओकारे परतः युष्मदस्मदोरात्व भवति । युवां जैनेन्द्रमधीयाथे । आवाम् अधीवहे ।

यः ॥५।१।१४८॥ यकारादेशो भवति युष्मदस्मदोर्विभक्त्या परतः । त्वया । मया । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । उत्सर्गोऽयम् । आत्व स चापवादः । पारिशेष्यादच्यनादेशेऽवतिष्ठते ।

खमादेशे ॥५।१।१४९॥ आदेशे विभक्त्या युष्मदस्मदोः ख भवति । आदिश्यत इत्यादेशो विभक्ती । त्वम् । अहम् । यूयम् । वयम् । तुभ्यम् । मह्यम् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । त्वत् । मत् । युष्मत् । अस्मत् । तव । मम । युष्माकम् । अस्माकम् । विभक्त्यामिति किम् ? युष्मदीयः । "त्यदादि" [१।१।६६] [illegible] । "दोच्छ" [३।२।६०] इति छः । इद खवचन ज्ञापकम् । अत्वविधिं प्रति द्विपर्यन्तास्त्यदादयः । [illegible] इति ।

आवाभ्याम् । युवयोः । आवयोः । माववेरित्येव । युवकाम । आवकाम् । अस्मद्दितस्य न भवति । सेऽपि यदा युष्मदस्मदी द्वित्वे वर्तते समुदायः एकत्वे बहुत्वे वा तदापि युवावौ भवतः । न चेत् परत्वाद् 'यूयवयौ जसि" [५।१।१५२] "त्वाहौ सौ" [५।१।१५३] "तुभ्यमह्यौ ङयि" [५।१।१५४] "तवममौ ङसि" [५।१।१५५] इत्यादेशान्तरेण बाध्येते । अतिक्रान्त युवाम् अतियुवाम् । अत्यावाम । अतिक्रान्तान युवाम अतियुवान् । अतिक्रान्तेन युवाम् अतियुवया । अत्यावया । अतिक्रान्तैर्युवाम् अतियुवाभिः । अत्यावाभिः । अतिक्रान्तेभ्यो युवा देहि वा अतियुवभ्याम् । अत्यावभ्यम् । अतिक्रान्तात् युवा अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्तेभ्यो युवाम अतियुवत् । अत्यावत् । अतिक्रान्ताना युवाम् अतियुवाकम । अत्यावाकम् । अतिक्रान्ते युवाम् अतियुवयि । अत्यावयि । अतिक्रान्तेषु युवाम् अतियुवासु । अत्यावासु । यदा समुदायोऽपि द्वित्वे वर्तते तदा सुतरां भवतः । अतिक्रान्तौ युवाम् अतियुवाम् । अत्यावामित्यादि । अपवादविषये न भवतः । अतिक्रान्तो युवाम् अतित्वम् । अत्यहम् । अतिक्रान्ता युवाम् अतियूयम । अतिवयम् । अतिक्रान्ताय युवाम् अतितुभ्यम् । अतिमह्यम । अतिक्रान्तस्य युवाम् अतितव । अतिमम । यदा च युष्मदस्मदी एकत्वे बहुत्वे च वर्तेते समुदायो द्वित्वे तदापि न भवतः । अतिक्रान्तौ त्वाम् अतित्वाम् । अतिमाम् । अतिक्रान्तौ युष्मान् अतियुष्मान् । अत्यस्मान् । [illegible] वम् । अतिक्रान्ताभ्या त्वाम् अतित्वाभ्याम् । अतिमाभ्याम् । अतिक्रान्ताभ्या युष्मान् अतियुष्माभ्याम । अत्यस्माभ्या कृतम् । अतिक्रान्ताभ्या युष्मान् अतियुष्माभ्या देहि । एवम अतित्वाभ्याम् । अतियुष्माभ्या निर्मितम् । अतित्वयोः । अतियुष्मयोः स्वम । अतित्वयोः । अतियुष्मयोर्निधेहि ।

यूयवयौ जसि ॥५।१।१५२॥ युष्मदस्मदोर्जसि परतो यूय वय इत्येतावादेशौ भवतः । यूयम । वयम । गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरप्यत्र । अतिक्रान्तास्त्वा युवा युष्मान् वा अतियूयम । अतिवयम । परमयूयम । परमवयम ।

त्वाहौ सौ ॥५।१।१५३॥ युष्मदस्मदोर्मान्ते त्व अह इत्येतावादेशौ भवतः सौ परतः । त्वम । अहम । परमत्वम । परमाहम् । अतिक्रान्तस्त्वा युवा युष्मान् वा अतित्वम । अत्यहम् ।

तुभ्यमह्यौ ङयि ॥५।१।१५४॥ तुभ्य मह्य इत्येतावादेशौ भवतः युष्मदस्मदोर्ङयि परतः । तुभ्यम । मह्यम । तदन्तविधिना अतिक्रान्ताय त्वा युवा युष्मान् वा अतितुभ्यम । अतिमह्यम । परमतुभ्यम । परममह्यम ।

तवममौ ङसि ॥५।१।१५५॥ युष्मदस्मदोर्ङसि परतः तव मम इत्येतावादेशौ भवतः । तव मम । मम स्वम । अतिक्रान्तस्य त्वा युवाम युष्मान वा अतितव । अतिमम । परमतव । परममम ।

तव मम विषये प्रापणार्थम्। चकारो भविष्यदनुकर्षणार्थः। ननु तवममाद्यादेशापवादादेव भावविधिन लभ्यम्। नैव शक्यम्। विभक्त्या ऽपि कृते तवममाद्यादेशाभावात्कृत्स्नयोर्युष्मदस्मदो: स्थाने स्यात्। ननु बहिरङ्ग उदित्युक्तम्। इदमेव च शब्दोपादान ज्ञापकम् "अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उच् बाधते" [प०] तेन यूय पुत्रा यस्य स युष्मत्पुत्र. यूयादेशाभाव.। गोमान् प्रियो यस्येति गोमत्प्रियः इत्यादौ नुमादीनामभावः सिद्धः।

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥५।१।१५८॥ गोविभक्त्या परतः त्रि चतुर् इत्येतयोः स्त्रिया वर्तमानयोस्तिसृ चतसृ इत्येतावादेशौ भवतः। तिसृभि.। चतसृभिः। तिसृषु। चतसृषु। स्त्रियामित्येतत् त्रिचतुरोरेव भूतत्वाद्विशेषण किमर्थम्? यदा त्रिचतुरो स्त्रिया वर्तेते समुदायः पुंसि नपुंसके वा तदापि तदन्तविधिना तिसृचतसृभावो यथा स्यात्। प्रियतिसा। प्रियतिसौ। प्रियतिसः। प्रियतिसृ कुलम्। प्रियतिसृणी। प्रियतिसृणि। यदा तु त्रिचतुरो पुंसि नपुंसके वा वर्तेते समुदायः स्त्रिया तदा न भवति। प्रियाः त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्या स प्रियत्रिः। एव प्रियचत्वाः। स्त्रियामिति किम्? त्रयश्चत्वारः। त्रीणि। चत्वारि। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थोऽनुवर्तते। तेन "क्वचित्केऽपि खौ"। तिसृका ग्रामः।

रोऽच्युः ॥५।१।१५९॥ तिसृ चतसृ इत्येतयोः ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यचि परतः। तिसस्तिष्ठन्ति। तिस्रः पश्य। चतस्रस्तिष्ठन्ति। चतस्रः पश्य। प्रियतिस्रो भयम्। "ऋतो ङिघे" [५।२।१०५] इत्येप् शसि "नुटि पूर्वस्वम्" [४।३।८६] दीत्व ङसिङसोः "ऋत उत्" [४।३।९८] इति उः प्रसज्येत। ननु "मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" [प०] इति ऋतो ङिघे इत्येप. कथ बाधा "स्पर्द्धे परम्" [१।२।६०] इति परत्वादनिष्टत्वाच्चित्वाद्रेफादेशः इष्टः। डावेप्। प्रियतिसरि। अथ प्रियतिसृ इत्यादौ कप्सान्तः कस्मान्न भवति। समुदायविभक्त्या तिसृभाव इति तयाऽन्तो व्यात इति न कप्। अचीति किम्? तिसृभिः। तिसृणी। नन्वामि परत्वाद्रेफः प्राप्नोति। नैवम्। "नाम्यतिसृचतसृ" [४।४।२] इति ज्ञापकान्नुटि नुम्भावौ न स्तः। उरिति किम्? "अन्तेऽल" [१।१।४९] इत्येव सिद्धम्। उरित्यक्रियमाणे "येन नाप्राप्त" न्यायेन तिसृचतसृभावस्यापवादो रेफः स्यात्।

जराया वाऽसङ् ॥५।१।१६०॥ जराया अचि परतो वा असङादेशो भवति। जरसौ। जरे। जरसः। जराः। जरसा। जरया। आमि परत्वान्नुटोऽसङ्। जरसाम्। जराणाम्। नुमः परत्वादसङ्। अतिजरांसि तपांसि। प्रादेशे "एकदेशविकृतमनन्यवद्" [प०] इति। अतिजरस कुल पश्येत्यत्राम विभक्तीमपेक्ष्यासङ्। सकारान्तो जात.। स तत्त्वोपो निमित्त न भवति सन्निपातलक्षणत्वात्। अतिजर तिष्ठति। अतिजरैरित्यत्र सन्निपातलक्षणत्वादैस्भावो। तेन नाऽसङ्। अनित्यैषा परिभाषेति केचित्तेन अतिजरसं तिष्ठति। अतिजरसैरिति।

आवाभ्याम्। युवयोः। आवयोः। मावधेरित्येव। युवकाम्। आवकाम। अकसहितस्य न भवति। सेऽपि यदा युष्मदस्मदी द्वित्वे वर्तेते समुदायः एकत्वे बहुत्वे वा तदापि युवावौ भवतः। न चेत् परत्वात् "यूयवयौ जसि" [५।१।१५२] "त्वाहौ सौ" [५।१।१५३] "तुभ्यमह्यौ ङयि" [५।१।१५४] "तवममौ ङसि" [५।१।१५५] इत्यादेशान्तरेण बाध्येते। अतिक्रान्त युवाम् अतियुवाम्। अत्यावाम्। अतिक्रान्तान् युवाम् अतियुवान्। अतिक्रान्तेन युवाम् अतियुवया। अत्यावया। अतिक्रान्तैर्युवाम् अतियुवाभिः। अत्यावाभिः। अतिक्रान्तेभ्यो युवा देहि वा अतियुवभ्याम्। अत्यावभ्यम्। अतिक्रान्तात् युवा अतियुवत्। अत्यावत्। अतिक्रान्तेभ्यो युवाम् अतियुवत्। अत्यावत्। अतिक्रान्ताना युवाम् अतियुवाकम्। अत्यावाकम्। अतिक्रान्ते युवाम् अतियुवयि। अत्यावयि। अतिक्रान्तेषु युवाम् अतियुवासु। अत्यावासु। यदा समुदायोऽपि द्वित्वे वर्तते तदा सुतरां भवतः। अतिक्रान्तौ युवाम् अतियुवाम्। अत्यावामित्यादि। अपवादविषये न भवत.। अतिक्रान्तो युवाम् अतित्वम्। अत्यहम्। अतिक्रान्ता युवाम् अतियूयम। अतिवयम्। अतिक्रान्ताय युवाम् अतितुभ्यम्। अतिमह्यम्। अतिक्रान्तस्य युवाम् अतितव। अतिमम। यदा च युष्मदस्मदी एकत्वे बहुत्वे च वर्तेते समुदायो द्वित्वे तदापि न भवतः। अतिक्रान्तौ त्वाम् अतित्वाम्। अतिमाम्। अतिक्रान्तौ युष्मान् अतियुष्मान्। अत्यस्मान्। इत्येवम्। अतिक्रान्ताभ्या त्वाम् अतित्वाभ्याम्। अतिमाभ्याम्। अतिक्रान्ताभ्या युष्मान् अतियुष्माभ्याम्। अत्यस्माभ्या कृतम्। अतिक्रान्ताभ्यां युष्मान् अतियुष्माभ्या देहि। एवम् अतित्वाभ्याम्। अतियुष्माभ्या बिभेति। अतित्वयोः। अतियुष्मयोः स्वम्। अतित्वयोः। अतियुष्मयोर्निधेहि।

यूयवयौ जसि ॥५।१।१५२॥ युष्मदस्मदोर्जसि परतो यूय वय इत्येतावादेशौ भवतः। यूयम्। वयम। गोः प्राधान्यात्तदन्तविधिरप्यत्र। अतिक्रान्तास्त्वा युवा युष्मान् वा अतियूयम्। अतिवयम्। परमयूयम्। परमवयम्।

त्वाहौ सौ ॥५।१।१५३॥ युष्मदस्मदोर्मावधेः त्व अह इत्येतावादेशौ भवत. सौ परत.। त्वम्। अहम। परमत्वम्। परमाहम्। अतिक्रान्तस्त्वा युवा युष्मान् वा अतित्वम्। अत्यहम्।

तुभ्यमह्यौ ङयि ॥५।१।१५४॥ तुभ्य मह्य इत्येतावादेशौ भवतः युष्मदस्मदोर्ङयि परत.। तुभ्यम्। मह्यम्। तदन्तविधिना अतिक्रान्ताय त्वा युवा युष्मान् वा अतितुभ्यम। अतिमह्यम्। परमतुभ्यम्। परममह्यम्।

तवममौ ङसि ॥५।१।१५५॥ युष्मदस्मदोर्ङसि परतः तव मम इत्येतावादेशौ भवतः। तव स्वम। मम स्वम्। अतिक्रान्तस्य त्वा युवाम् युष्मान् वा अतितव। अतिमम। परमतव। परममम।

त्वमावेके ॥५।१।१५६॥ एक इत्ययमन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशस्तेन एकत्वे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मावधेः त्व म इत्येतावादेशौ भवतः। त्वाम्। माम्। त्वत्। मत्। त्वयि। मयि। अत्रापि यदा युष्मदस्मदावेकत्वे वर्तेते समुदायो द्वित्वे बहुत्वे वा तदापि त्वमादेशौ भवत., यदि "यूयवयौ जसि" [५।१।१५२] इत्यादिभिरादेशान्तरैर्न बाध्येते। कथं बाधा? अतीताश्चत्वारो योगा इहानुवर्तन्ते। ततो बाधा तद्विषयादन्यत्रायं विधिः। अतिक्रान्ता त्वा तिष्ठत. पश्येति वा अतित्वाम्। अतिमाम्। अतिक्रान्तान्स्त्वाम् अतित्वान्। एवम् अतित्वाभ्याम। अतितुभ्य देहि। अतित्वत्। अतित्वयोः। अतित्वाकम। अतित्वयो.। अतित्वासु। यदा समुदायोऽप्येकत्वे तदा सुतराम्। अतिक्रान्त त्वाम् अतित्वाम्।

त्यदोश्च ॥५।१।१५७॥ त्वमावेके इत्यनुवर्तते। एकार्थविषययोर्युष्मदस्मदो. त्व म इत्येतावादेशौ भवतः त्ये मौ च परत.। त्वत्तरो मत्तर.। त्वदीयो मदीय। त्वत्प्रधानाः। मत्प्रधाना.। त्वद्धितम्। मद्धितम्। त्वच्छ्रियो मच्छ्रिय.। विभक्त्या परतः पूर्वो योगस्तत्या उपि प्रापणार्थं वचनम्। ननु नानापदाश्रयत्वादिरङ्ग उप् विभक्तिमात्राश्रयत्वादन्तरङ्गस्त्वामादेशः पूर्वं भविष्यतीत्यनर्थकमिदम्। नानर्थकम। त्वाह तुभ्यमह्य

तव मम विषये प्रापणार्थम्। चकारो मविष्यनुकर्षणार्थः। ननु तवममादेशापवादादेव मावधिरन लब्धम्। नैव शक्यम्। विभक्त्या ऽपि कृते तवममादेशाभावात्कृत्स्नयोर्युष्मदस्मदोः स्थाने स्यात्। ननु बहिरङ्ग उक्तम्। इदमेव च शब्दोपादानं ज्ञापकम् "अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ग उब् बाधते" [प०] तेन यूय पुना वस्य स युष्मपुन. यूयादेशाभावः। गोमान् प्रियो यस्येति गोमत्प्रियः इत्यादौ नुमादीनामभावः सिद्धः।

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥५।१।१५८॥ गोविभक्त्या परतः त्रि चतुर् इत्येतयोः स्त्रिया वर्तमानयोस्तिसृ चतसृ इत्येतावादेशौ भवतः। तिसृभिः। चतसृभिः। तिसृषु। चतसृषु। स्त्रियामित्येतत् त्रिचतुरोरेव प्रत्ययादिविशेषणं किमर्थम्? यदा त्रिचतुरौ स्त्रिया वर्तेते समुदायः पुंसि नपुंसके वा तदापि तदन्तविधिना तिसृचतसृभावो यथा स्यात्। प्रियतिसा। प्रियतिसौ। प्रियतिसः। प्रियतिसृ कुलम्। प्रियतिसृणी। प्रियतिसृणि। यदा तु त्रिचतुरौ पुंसि नपुंसके वा वर्तेते समुदायः स्त्रिया तदा न भवति। प्रियाः त्रयः प्रियाणि त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रिः। एवं प्रियचत्वाः। स्त्रियामिति किम्? त्रयश्चत्वारः। त्रीणि। चत्वारि। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थोऽनुवर्तते। तेन "क्वचित्केऽपि खौ"। तिसृका ग्रामः।

रोऽच्युः ॥५।१।१५९॥ तिसृ चतसृ इत्येतयोः ऋकारस्य रेफादेशो भवत्यचि परतः। तिस्रस्तिष्ठन्ति। तिस्रः पश्य। चतस्रस्तिष्ठन्ति। चतस्रः पश्य। प्रियतिस्रो भयम्। "ऋतो ङिघे" [५।२।१०५] इत्येष् शमि "सुटि पूर्वस्वम्" [४।३।८९] दीत्व ङसिङसोः "ऋत उत्" [४।३।९८] इति उः प्रसज्येत। ननु "मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" [प०] इति ऋतो ङिघे इत्येपः कथं बाधा "स्पर्द्धे परम्" [१।२।९०] इति परत्वादयमेवादेशः। डावेप्। प्रियतिसरि। अथ प्रियतिस इत्यादौ कप्यान्तः कस्मान्न भवति। ननु तावद्विभक्त्या तिसृभाव इति तदाऽन्तो व्याप इति न कप्। अचीति किम्? तिसृभिः। तिसृणी। नन्वामि परत्वाद्रेफ प्राप्नोति। नैवम्। "नाम्यतिसृचतसृ" [४।४।२] इति ज्ञापकान्नुटि नुम्भावौ न स्तः। उरिति किम्? "अन्तेऽल" [१।१।४९] इत्येव सिद्धम्। उरित्यक्रियमाणे "येन नाप्राप्ते" न्यायेन तिसृचतसृभावस्यापवादो रेफः स्यात्।

जराया वाऽसङ् ॥५।१।१६०॥ जराया अचि परतो वा असङादेशो भवति। जरसौ। जरे। जरसः। जरा[illegible]। [illegible]। जरया। आमि परत्वान्नुटोऽसङ्। जरसाम्। जराणाम्। नुमः परत्वादसङ्। अतिजरांसि [illegible]। प्रादेशे "एकदेशविकृतमनन्यवद्" [प०] इति। अतिजरस कुलं पश्येत्यत्राम विभक्तीमपेक्ष्यासङ्। [illegible] स तल्लोपो निमित्तं न भवति सन्निपातलक्षणत्वात्। अतिजर तिष्ठति। अतिजरैरित्यत्र सन्निपातलक्षणत्वा[illegible]। तेन नाऽसङ्। अनित्यैषा परिभाषेति केचित्तेन अतिजरसं [illegible]। [illegible]

कुको तयोः ॥५।१।१६३॥ किमः कु क इत्येतावादेशौ भवतस्तकारादावकारे च परतः। कुतः। क। "कुतसोः" इति सूत्रे गित्करणसामर्थ्यात्पदसञ्ज्ञया भसञ्ज्ञाकार्यं उत्वे बाधिते यणादेशेन सिद्धे करूपे माको यथा स्यादित्येवमर्थः कादेशः।

तोः सः साबनन्त्ये ॥५।१।१६४॥ त्यदादीना तवर्गस्यानन्त्ये सकारादेशो भवति सौ परतः। स्यः। सः एषः। अनन्त्य इति किम् ? यः। सः। त्यदाद्यत्वस्येदमादयोऽवकाशाः। सत्वस्यानन्त्यस्तवर्गः। परत्वाद् दस्य सत्व स्यात्। ननु सत्वेऽपि यत्वे सिध्यति। नैवम् "अनिनस्मिन्ग्रहणेऽनर्थकस्यापि ग्रहणात्" [प० ४।४।१७] इति टीत्व स्यात्। इह च स पुरुष इति हलि सुखे दोषः स्यात्। सा इत्यत्र "अतः" [३।१।४] इति टाम्न स्यात्। तस्मादनन्त्य इत्युच्यते। अनेप इत्यत्र नकारस्य कस्मान्न भवति ? "नञोऽन्" [४।३।१८१] इति नकारस्य त्यदादिविहितेनाग्रहणात्। भवानित्यत्र "स्फान्तस्य खम्" [५।३।४१] इति तत्वस्यासिद्धत्वात्तकारस्य प्राप्नोति। यत्रैव परस्त्वत्वस्याप्यसिद्धत्वान्नकारो नास्ति। ततोऽन्तरङ्गत्वादनुस्वार एव स्यात्।

असौ ॥५।१।१६५॥ असाविति निपात्यते। अदसः सकारस्यौत्व सौ सुखम्। अत्वबाधनार्थम्। "तोः" [५।१।१६४] इति दस्य च सत्वम्। असौ। हे असौ। स्त्रीपु सयोगिदम्। सावित्येव। अदः कुलम्। अदस परस्य सोरौत्वमेव निपात्यमिति चेत्, न, कुत्साद्यर्थविवक्षायामकि त्यदाद्यत्वे टापि कृते "त्यस्थे स्यापीदत" [५।२।५०] इति इत्व स्यात्। तेन असकौ स्त्रीति न सिध्येत्। सकारस्य त्वौत्वे टाम्नास्तीति न दोष.।

इदमो मः ॥५।१।१६६॥ इदमित्येतस्य मकारादेशो भवति विभक्त्या परतः। साविति निवृत्तम्। उत्तरत्र माविति निर्देशात्। इमौ। इमे। इमे। इमाः। इमे। इमानि।

दः[1] ॥५।१।१६७॥

यः सौ ॥५।१।१६८॥ इदमो दस्य यकारादेशो भवति सौ परतः। उत्तरत्र पुंसीति निर्देशात् स्त्रियामय विधिः। इय स्त्री। नपुसके सुखे नास्ति।

पुंसीदोऽय् ॥५।१।१६९॥ इदम इद्रूपस्य अयादेशो भवति सौ परतः पुंस्त्वभिधेये। अयम्। परमायम्। "पूर्वोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं पश्चादेकादेशः"। "नेन्द्रस्य" [५।२।२७] इति ज्ञापकात्।

अनाप्यकः ॥५।१।१७०॥ इदम इद्रूपस्याककारस्यान इत्ययमादेशो भवति आपि विभक्त्या परतः। अनेन। परमानेन। अनयोः। अक इति किम् ? इमकेन। इमकयोः। आबिति प्रत्याहारः टादिरासुपः पर्यन्तेण।

हलि खम् ॥५।१।१७१॥ हलादावपि परतः अककारस्येदम इद्रूपस्य ख भवति। आभ्याम्। एभि। एभ्यः। एषु। अक इत्येव। इमकेभ्यः। "अन्तेऽलः" [१।१।४६] कस्मान्न भवति। "नानर्थकेऽन्तेऽलो विधि." [प०]। अथवा अर्थवशाद्विभक्तीपरिणाम इति पूर्वेण सिद्धस्यानोऽन्तेऽल इति नखम्।

इत्यभयनन्दिविरचिताया जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।

मृजेरैप् ॥५।२।१॥ गोरित्येतदेवानुवर्तते। मृजेरिक ऐब्भवति। मार्ष्टि। मृजेरितीग् निर्देशः "धो. स्वरूप ग्रहणात्तत्स्यविज्ञानम्" [प०] औणहत्येति तत्त्वनिपातनाज्ज्ञायते। अन्यथा "हनस्तो जिणलोः" [५।२।३६] इत्येव तत्वं स्यात्। धोर्विहिते त्ये ऐब्भवति। न मृदन्त्ये तेन कसपरिमृड्भिरिति। ननु "क्ङिति" [१।१।१६] इति प्रतिषेधः सिद्धो नैवम। क्ङिन्निमित्तयोरैपोः स प्रतिषेध.।

क्ङित्यचि वा ॥५।२।२॥ मृजेरजादौ क्ङिति वा ऐब्भवति। परिमृजन्ति। परिमार्जन्ति। परिममृजतु.। परिममार्जतुः। क्ङितीति किम् ? परिमार्जनम्। अचीति किम् ? मृष्ट। क्ते तमि वा द्रष्टव्यम्।

---

1. प्रतिपु सूत्रस्यास्य वृत्तिस्त्रुटिता।

ञ्णित्यचः ॥५।२।३॥ ञिति णिति च परतोऽजन्तस्य गोरैब्भवति । प्राकारः । अन्यायः । "अध्यायानुवाकयोर्वाप्" [४।१।६४] इति निपातनाद्घञ् । कारको हारकः । नायकः । लावकः । सखायो । सखायः । अनर्थकमिदम् । एचिग्नत्वे अयवोश्च कृतयोः "उडोऽतः" [५।२।४] इत्येवा सिद्धम् । मैव शक्यम । "गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्" [प०] इति असि च सख्युरेन्न विहितः गोजैत्रमित्यत्र चावयादेशाभावादेम्न सिद्ध्येत । अजग्रहणमनिगर्थ गौरिति । णित्करण तु गावो गावः इत्यत्रावादेशे सति "उडोऽतः" [५।२।४] इत्येपि चरितार्थ स्यात् ।

उडोऽतः ॥५।२।४॥ गोरकारस्य उडः ऐब् भवति ञ्णिति परतः । पाकः । पाठः । पाचकः । पाचकः । पाचयति । उड इति किम् ? पिपठिषकः । पकाराकारस्य मा भूत् । अन्त्यस्य पूर्वेण प्राप्नोति । नैवम् । पूर्वविप्रतिषेधेनातः एव भवति । अतः इति किम् ? भेदकः । तपरकरण मुखसुखार्थम् ।

हृत्यचामादेः ॥५।२।५॥ अच इत्यनुवर्तते । हृति ञ्णिति परतः अचामादेरच ऐब् भवति । आश्वग्रीविः । त्रैपृष्ठिः । सौलोचनः । सौतारः । "नदीमानुषी" [३।१।१०२] इत्यादिनाण् । अचामिति किम् ? हलामविवक्षार्थमन्यथा अजादीनामेव स्यात् । अजन्तलक्षणस्योड्लक्षणस्य चैपः परत्वादादेरैप । त्वाष्ट्रः । जागतः । "तस्येदम" [३।३।८८] इत्यण् । "सकृद्गते परनिर्णये बाधितः एव" [प०] पुनः प्रसङ्गविज्ञानपक्षेऽपि न दोषः । अनुशतिकादिषु पुष्करसच्छब्दपाठात् पौष्करसादिः । बाह्वादेरिञ् [३।१।८५] । अन्यथा तत्रोभयोः पदयोरनर्थपाठोऽनर्थकः स्यात् ।

देविकाशिशपादीर्घसत्रश्रेयसामाः ॥५।२।६॥ देविकादिभिराद्यचो विशेषणात् केवलाना तदादीना च ग्रहणम । देविकाया भव दाविकमुदकम् । आत्त्विशेषणाद्देविकूले भवा दाविकूलाः शालयः । शिंशपाया विकार शाशप भस्म । शिंशपास्थले भव शाशपास्थलम् । दीर्घसत्रे भव दार्घसत्रम । श्रेयोऽधिकृत्य कृतो ग्रन्थः श्रेयसि भवो वा श्रायस. स्याद्वादः । देविकादीनामादेरच इति किम ? सुदेविकाया भवा सौदेविकाः । पूर्वदेविकाया भवः पूर्वदाविकः । पूर्वशाशपः । प्राचा ग्रामौ । "प्राचां ग्रामाणाम्" [५।२।१६] इति ग्रोरैप्प्रसङ्गे अनेनाकारः ।

केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरिय् ॥५।२।७॥ केकय मित्रयु प्रलय इत्येतेषा यकारादेरियादेशो भवति इति ञ्णिति परत । केकयस्यापत्यम् । "राष्ट्रशब्दाद्राज्ञोऽञ्" [३।१।१५०] । आदेरैप । कैकेयः । मित्रयोर्भाव. "वृद्धचरणाद्वुलाघान्याकारावेते" [३।४।१२४] इति वुञ् । लोकिक तत्र वृद्ध गृह्यते । मैत्रेयक भारलायो । प्रलयादागत प्रालेयम् ।

ग्रहणम्। द्वारपाल्या अपत्यं दौवारपालिकः। "रेवत्यादेष्ठण्" [३।१।१३४] इति ठण्। स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौवरः। तदादेरपि। स्वगत्याये भवः सौवगत्यायः। व्यल्कमे भवः वैयल्कमः। स्वस्तीत्याह सौवस्तिकः। तदाहेत्यस्मिन्नर्थे ठणुक्तः। स्वर्भव सौवम्। "मेर्समात्रे टिखम्" [वा०] इति टिखम्। स्वर्गमनमाह सौवर्गमनिकः। स्वः अध्याय स्वाध्यायः। स्वाध्यायेन चरति सौवाध्यायिकः। अचामादेरित्यनुवर्तनादाद्यचः समीपस्य यण एयैवादेशो स्वशब्दस्यैव। तदादिविधिना सिद्धमिति चेत, न "स्वशब्देन तदादिविधिरनित्यः" इतीदमेव ज्ञापकम्। तेन स्वपतो साधु स्वापतेयमिति। स्यकृतस्यापत्य स्यैयकृतः। "कुर्व्रीयन्यकवृस्रेः" [३।१।१०३] इत्यण्। स्वादुप्यस्येदं सौवादुप्यम्। शुनो विकारः शौवः सङ्कोचः "श्वाश्मचर्मणा सकोचविकार-कोशेषु" [४।४।१३२] इति टिखम्। शुनो दंष्ट्रा श्वादंष्ट्रा। "अन्यस्यापि" [४।३।२३२] इति दीखम्। तत्र भवः शौवादंष्ट्रो मणिः। तथा शौवाहननम्। स्वस्येदं सौवम्। तदादेः स्वग्रामे भवः सौवग्रामिकः। अध्यात्मादित्वाट्ठण्।

न्यग्रोधस्य केवलस्य ॥५।२।१०॥ न्यग्रोधस्य केवलस्य यो यकारस्तस्य ऐयित्ययमादेशो भवति इति ञिणति परतः। न्यग्रोधस्याय नैयग्रोधो दण्डः। केवलस्येति किम्? न्यग्रोधा अस्मिन्देशे सन्ति 'बुञ्छणुठ' [३।२।६१] इत्यादि पाठात्कः। टाप् "त्यस्थे क्यापी" [५।२।५०] इत्यादिनेत्वम्। न्यग्रोधिकाया भवः न्याग्रोधिकः। अत्र "भस्य ढ्ल्यढे" [वा०] इति पुवद्भावः प्राप्तः। "न बुहल्कोड" [४।३।१८६] इति प्रतिषेधः। तथा न्यग्रोधमूले भव न्याग्रोधमूल तृणम्। ऐत्वेव भवति। ननु न्यग्रोधस्योच्यमान कथमन्यार्थिकस्य स्यात्? तदन्तविधिना। यद्येव नार्थः केवलग्रहणेन न्यग्रोधस्य प्राधान्येनाश्रयणात्तदन्तविध्यभावः। एवं तर्हि तदादिनिवृत्त्यर्थं केवलग्रहणम्। अन्यत्रेह तदादिविधिरस्तीति ज्ञाप्यते। न्यग्रोधतीति व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। केवलस्यैव। अव्युत्पत्तिपक्षे विध्यर्थं सूत्रम्।

न ञे ॥५।२।११॥ ञे जार्थे कर्मव्यतिहारे ञिणति इति यदुक्तं तन्न भवति। व्यात्युक्षी। व्याक्रोशी। व्यापचोरी वर्तते। "कर्मव्यतिहारे ञः" [२।३।७६] इति ञः। "जात् स्त्रियाम्" [३।२।२२] इत्यण्। तस्मिन् प्रतिषेधः।

स्वागतादेः ॥५।२।१२॥ स्वागतादेश्च यदुक्तं तन्न भवति। स्वागतेन चरति स्वागतिकः। स्ववरस्यापत्य स्वावरिः। स्वङ्गः स्वाङ्गिः। व्यङ्गः व्याङ्गिः। व्यडः व्याडिः। व्यवहारेण चरति व्यावहारिकः। व्यवहारशब्दो न कर्मव्यतिहार एव वर्तते किन्तर्हि लोकवृत्तेऽपि। ततः पाठः। स्वपतौ साधु स्वापतेयम्।

श्वादेराचतः ॥५।२।१३॥ श्वादेर्गोरिकादौ यदुक्तं तन्न भवति। अतश्च य उत्पद्यते तस्मिश्च। चकारमन्तरेणापि समुच्चयो गम्यते। यथा पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति। श्वाभस्त्रिः। श्वादंष्ट्रिः। श्वाकर्णिः। श्वाशीर्षिः। श्वागणिकः। श्वेव भस्त्रास्य, शुन इव दंष्ट्राऽस्य, शुन इव कर्णावस्य, शुन इव शिरोऽस्य। स्वशिरसोऽपत्य बाह्वादिपाठादिञ्। अजादौ इति शिरसः शीर्षादेश उपसङ्ख्यानेन। इहार्थस्य व्यपदेशिवद्भावेन। अतो य उत्पद्यते तत्रापि प्रतिषेधः। श्वाभस्त्रेरिदं श्वाभस्त्रम्। श्वाकर्णम्। "इञः" [३।२।८६] इत्यण्। श्वन्शब्दो द्वारादिषु पठ्यते। तस्य तदादिविधिः अस्तीति इदमेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम्। श्वादेरिति किम्? श्वभिश्चरति शौविकः। केवलस्य न प्रतिषेधः "नोऽपु सो इति" [४।४।१३०] इति टिखम्। आवत इति किम्? श्वाभस्त्रस्येदं शौवाभस्त्रम्। शौवादंष्ट्रो मणिः।

वा पदान्तस्य ॥५।२।१४॥ श्वादेर्गोः पदशब्दान्तस्य यदुक्तं तन्न भवति वा। किमुक्तम्? इहागत श्वशब्दस्य तदादिविधिना ओवुक्तः। श्वापदानां समूहः श्वापदम्। शौवापदम्। शुन इव पदमस्य श्वापदः। "अन्यस्यापि" [४।३।२३२] इति दीत्वम्। इहागतौ पूर्वनिर्णयेन नित्यं प्रतिषेधः। श्वापदेन चरति श्वापदिकः। अन्तग्रहणं न कर्तव्यम्। "येनालि विधिस्तदन्ताद्यो" [१।१।६७] इति स्वयमेव पदान्तस्य श्वादेर्गोः

वर्तमानाच्च नान्यस्य कस्यचिद् भविष्यति। एवं तदन्तग्रहणं ज्ञापकमनित्यस्तदन्तविधिः। तेन "सञ्ज्ञा-विधौ न तदन्तविधिः" [प०] इति न वक्तव्यम्।

घोः ॥५।२।१५॥ घोरित्ययमधिकारो वेदितव्यः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः घोरित्येवं तद् वेदितव्यम्। "हनन्नोऽञिणलोः [५।२।३६] इत्यतः प्रागवद्यति। "प्रोष्ठपदानां जाते" [५।२।२३] प्रोष्ठपदासु जातः प्रोष्ठपादो माणवकः। घोरेप्। पूर्वपदस्य तेन न भवति। "येन नाप्राप्ते तस्य तद्बाधनम्" [प०] इति न्यायात्। ननु "ईप्स्यैव्यवाये पूर्वपरयोः" [१।१।६०] इति न्यायेन "अवयवादृतोः" [५।२।१६] इत्यादौ कार्निर्देशाद् घोरेव भविष्यति नार्थोऽनेन ? "प्रोष्ठपदानां जाते" इत्यादौ कार्निर्देशो नास्ति तदर्थं वचनम्। अन्यथा प्रोष्ठपदादौ नियमो न शक्येत।

अवयवादृतोः ॥५।२।१६॥ अवयववाचिनः शब्दादुत्तरस्य ऋतोर्घोरचामादेरच ऐप्भवति। पूर्ववार्षिकः। अपरवार्षिकः। पूर्वासु वर्षासु जातः। द्व्यर्थविवक्षाया "द्व्यर्थचुसमाहारे" [१।३।४६] इति षसः। "कालाट्ठञ्" [३।२।१२१] इति ठञ्। ननु कालाट्ठञुक्तः। "सञ्ज्ञा-विधौ न तदन्तविधिः" [प०]। कथं कालान्तात् ? नैष दोषः। "ऋतोर्जिद्विधावव्यवात्" इति तदन्तविधिरुपसङ्ख्यातः। एवं पूर्वहैमनः। अपरहैमनः। "भसन्ध्या" [३।२।१२७] इत्यादिनाऽण्। "हेमन्तात्तखम्" [३।१।१२८] इति तखम्। अवयवादिति किम् ? पूर्वान्वतीतासु वर्षासु जातः पौर्ववर्षः। आपरवर्षः। "प्राग्द्घोरण्" [३।१।६८]। पूर्वशब्दोऽत्र कालवाची नावयववाची। अत एवावयवलक्षणतदन्तविध्यभावात् "कालाट्ठञ्" [३।२।१२१] नेष्यते।

सुसर्वार्द्धाद्राष्ट्रस्य ॥५।२।१७॥ सु सर्व अर्द्ध इत्येव पूर्वस्य राष्ट्रवाचिनः शब्दस्य घोरचामादेरच ऐप् भवति। सुपाञ्चालकः। सर्वपाञ्चालकः। अर्द्धपाञ्चालकः। शोभनाः पाञ्चालाः। प्रादिलक्षणः षसः। सर्वे पाञ्चालाः। "पूर्वकाल" [१।३।४४] इत्यादिना षसः। अर्द्धपाञ्चाला इति। "विशेषणं विशेष्येणेति" [१।३।५२] षसः। सुपञ्चालेषु जातः "राष्ट्रावध्योः" [३।२।१०२] "बहुत्वेऽद्घोरपि" [३।२।१०३] इति वुञ्। कथं राष्ट्रादुच्यमानस्तदन्ताद्वुञ्। "सुसर्वार्द्धादिक्शब्देभ्यो जनपदस्य" इति तदन्तविधिरुपसङ्ख्यातः। एवं सुमागधकः। सर्वमागधकः। अर्द्धमागधकः।

दिशोऽमद्राणाम् ॥५।२।१८॥ राष्ट्रस्येत्यनुवर्तते। दिक्शब्दादुत्तरस्य राष्ट्रस्य मद्रवर्जितस्य घोरचामादेरच ऐप् भवति। पूर्वपाञ्चालकः। अपरपाञ्चालकः। दक्षिणमागधकः। उत्तरमागधकः। पूर्वेषु पाञ्चालेषु [illegible] षसः। पूर्ववत्तेन तदन्तविधिना वुञ्। अमद्राणामिति किम् ? पौर्वमद्रः। "मद्रेभ्योऽण्" [३।२।८५]। दिश इति किम् ? पूर्वेष्ववयवभूतेषु पाञ्चालेषु भवः। अणि। पौर्वपञ्चालः। दिशि यः पूर्वशब्दो वर्तते स [इ]ह दिक्शब्दोऽभिप्रेतो नावयवे वर्तमानः। अत एव तदन्तविध्यभावाद्वुञ् नास्ति। योगविभाग उत्तरार्थः।

इति वुञ्। पूर्वपाटलिपुत्रकः। अपरपाटलिपुत्रकः। पूर्वकन्याकुब्जाया पूर्वस्यां कन्याकुब्जाया वा जातः अणि णे च कृते पूर्वकान्यकुब्जः। ननु चैकमेव पाटलिपुत्रम्। पाटलिपुत्रान्तरस्य व्यवच्छेद्यस्याभावाद् कथं पूर्वशब्देन विशेष्यते ? पाटलिपुत्रैकदेशे पाटलिपुत्रशब्दो वर्तते इत्यदोषः।

सङ्ख्यायाः सङ्ख्यासंवत्सरस्य ॥५।२।२०॥ सङ्ख्यायाः परस्य सङ्ख्याशब्दस्य संवत्सरस्य च द्वोरचामादेरच ऐभवति ञ्णिति इति परतः। द्विनावतिकम्। त्रिनावतिकम। द्वाभ्या नवतिभ्या क्रीतम्। इदये रसः। "आर्हाट्टण्" [३।४।१७]। तस्य "राद्रुवखौ" [३।४।२६] इत्युप्। द्विनवतिना द्रव्येण क्रीत पुनष्टण। अथवा द्वौ च नवतिश्च। "वा चत्वारिंशदादौ" [४।३।१६०] इत्यनात्वम्। "लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य" [प०] इति नैकवद्भावेऽपि नपुंसकत्वम्। "द्वन्द्वे युवल्लिङ्गम्" [१।४।१०२] द्विनवत्या क्रीतम्। एव द्वे षष्ठी भूतो भावी वा द्विषाष्ठिक.। द्विषष्ठ्यादिशब्दो वर्षेषु सङ्ख्येयेषु वर्तमानः कालवाची। तेन कालाधिकारविहितष्ठञ्। द्वौ सवत्सरौ भूतो भावी वा द्विसावत्सरिकः। त्रिसावत्सरिक.। सवत्सरग्रहण निरर्थकम्। "परिमाणस्याखुशाणे" [५।२।२२] इत्येव सिद्धम्। तत्र अशाण इति प्रतिषेधात् परिच्छेदमात्र गृह्यते नारोहपरिणाहलक्षणम्। तेन द्विवैतस्तिकम्, त्रिवैतस्तिकमिति सिद्धम्। एव तर्हि सवत्सरग्रहण ज्ञापकम्। "परिमाणग्रहणेन कालपरिमाणं गृह्यते"। तेन द्वे समे अधीष्टो द्वैसमिकः। ञोरैम्न भवति तथा द्विवर्षमाणविका। "परिमाणाद्ष्टदुपि" [३।१।२६] "रात्" [३।१।२५] इति टीर्न भवति। द्वे वर्षे भूता प्राग्वतष्ठञः "वर्षादुप् च" [३।४।८५] "प्राणिन्युप्" [३।४।८६]।

वर्षस्याभाविनि ॥५।२।२१॥ सङ्ख्याया इति वर्तते। सङ्ख्यायाः परस्य वर्षशब्दस्य अचामादेरच ऐभवति इति ञ्णिति परतः अभाविन्यर्थे इत्तदैव स्यात्। द्वे वर्षे भूत द्विवार्षिकम। अभाविनीति किम् ? त्रीणि वर्षाणि भावि त्रैवर्षिक धान्यम्। ननु द्वे वर्षे अधीष्टो भृतो वा कर्म करिष्यति द्विवार्षिको मनुष्य इति भाविता गम्यते कथ न प्रतिषेध. ? नैवम्, करिष्यतीति प्रयोगे भाविता गम्यते न तु इदर्थो भावी। ननु मनुष्याभिधाने "प्राणिन्युप्" [३।४।८६] इति ठण उप् कस्मान्न भवति। भूतविषये सोऽभ्युपगम्यते नाधीष्टादौ। ततो "वर्षादुप्च" [३।४।८५] इति विकल्प उप् भवति।

परिमाणस्याखुशाणे ॥५।२।२२॥ सङ्ख्याया इति वर्तते। सङ्ख्याया परस्य परिमाणस्य समुदायेनानागम्यमानायामशाणे च ञोरचादेरचो ऐप् भवति। अखुशाण इति विषयलक्षणेयमीप्। द्विसौवर्णिकम्। द्वाभ्या सुवर्णाभ्या क्रीतम्। आर्हाट्टण: "कार्षापणसहस्रसुवर्णशतमानाद्वा" [३।४।२७] इति वानुप्। एव द्विनैष्किकम। त्रिनैष्किकम्। बहुनैष्किकम्। "द्वित्रिबहोर्निष्कविस्तात्" [३।४।२८] इति वोप्। द्विकौडविकम्। द्वाभ्या कुडवाभ्या क्रीतम्। "राद्रुवखौ" [३।४।२६] इत्युप्। द्विकुडवेन द्रव्येण क्रीत पुनष्ठण्। अखुशाण इति किम् ? पञ्च लोहितानि परिमाणमस्य, पञ्च कलापाः परिमाणमस्य पाञ्चलौहितिकम्, लोहिनीशब्दस्य "वा ठण् छसो" [ठक् छसोश्च] [वा०] इति पुवद्भावे रूपम्। पाञ्चकलापिकम्। "परिमाणात्सङ्ख्याया. सहसूत्राध्ययने" [३।४।५६] इति ठणः "राद्रुवखौ" [३।४।२६] इति नोप्। द्वैशाणम्। त्रैशाणम्। 'द्वित्रिभ्यामण्' [३।४।३४] इत्यण्। "कुलि जस्यापि प्रतिषेधो वक्तव्य." [वा०]। द्विकुलिजे प्रयोजनमस्य द्वैकुलिजिकम्।

प्रोष्ठपदानां जाते ॥५।२।२३॥ योरिति वर्तते। प्रोष्ठपदाना ञोरचामादेरच ऐप् भवति जाताय इति ञ्णिति परत.। प्रोष्ठपदाभिर्युक्त. कालः। "भाद्युक्त: काल." [३।२।४] इत्यण्। तस्य "उप्मभेदे" [३।२।५] इत्युप्। उपि युक्तवल्लिङ्गसङ्ख्यातिदेश.। प्रोष्ठपदासु जातः। अण्। तस्य "भेभ्यो बहुलम्" [३।३।१३] इति बहुलवचनादिहानुप्। प्रोष्ठपादो माणवक.। जात इति किम् ? प्रोष्ठपदासु भवः प्रौष्ठपदो मेघः।

हृत्सिन्धुभगे द्वयो. ॥५।२।२४॥ हृत्सिन्धु भग इत्येषु उप् द्वयो पदयोरचामादेरच ऐभवति। सुहृदयस्येदं सौहार्दम्। "हृदयस्य हृल्लेखयाण्लासेषु" [४।३।१६१] इति हृद्भाव। अथवा "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रा-

मित्रयोः" [४।२।१५०] इत्यनयोर्ग्रहणम्। महासिन्धौ भवः माहासैन्धवः। "कच्छादेः" [३।२।१११] इत्यण्। सिन्धुशब्दस्य तत्र तदन्तविधिरपि। सौभाग्यम्। दौर्भाग्यम्। सुभगाया अपत्य ढणि "कल्याण्यादीनामिनट्" [३।१।११५] सौभागिनेयः।

अनुशतिकादेः ॥५।२।२५॥ अनुशतिक इत्येवमादीनां शब्दाना द्वयोः पदयोरचामादेरच ऐप् भवति। अनुशतिकस्येदम् आनुशातिकम्। आनुशातकिः। अनुहोड–आनुहौडिः। अनुसवरण–आनुसावर्णिः। अगारवेणोरिदम् आगारवेणवम्। असिहत्यायां भवम् आसिहात्यम्। अस्यहत्य इति केषाञ्चित् पाठः। अस्य-हत्यशब्दोऽस्मिन्नस्ति आस्यहात्यम्। "विमुक्तादिभ्योऽण् [४।१।६५] अस्यहेतीति पाठान्तरम्। अस्यहेतिः प्रयोजनमस्य आस्यहैतिकम्। अध्ययः। आध्यायिः। वध्योगस्यापत्य वाध्योगः। "विदादिभ्योऽनृष्यानन्तर्येऽञ्" [३।१।६३]। पुष्करसद्–पौष्करसादिः। अनुबाहुः–सान्वबाहुः। सान्वबाहविः। "बाह्वादेरिञ्" [३।१।८५]। कुरुकत्–कौरुकात्यः। "गर्गादेर्यञ्" [३।१।६४]। कुरुपञ्चालेषु भवः कौरुपाञ्चालाः। "प्राग्द्रोरण्" [३।१।६८]। राष्ट्रसमुदायो राष्ट्रग्रहणेन न गृह्यते। तेन "राष्ट्रावध्योः" [३।२।१०२] इति वुञ् नास्ति। उदकशुद्ध–औदक-शाद्धिः। इहलोक–ऐहलौकिकः। पारलौकिकः। प्रयोजनार्थे वुञ्। सर्वलोकः–सर्वस्मिन् लोके विदितः सार्वलौकिकः। "लोकात्" [३।४।४४] "सर्वात्" [३।४।४५] इति ठण्। सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः। "सर्वभूमिपृथिवी-भ्यामण्" [३।४।४१]। सार्वपौरुषम्। तस्येदमर्थे प्रायोगिकम्। आधिदैविकम्। आधिभौतिकम्। भवार्थे अध्या-त्मादित्वाट्ठण्। परस्त्री–पारस्त्रैणेयः। ढणि "कल्याण्यादीनामिनट्" [३।१।११५]। सूत्रनट–सौत्रनाटिः। अभिगममर्हति आभिगामिकः। राजपुरुषात्फिञ्। राजपुरुषायणिः।

देवताद्वन्द्वे ॥५।२।२६॥ देवताद्वन्द्वे च द्वयोः पदयोरचामादेरच ऐप् भवति। आग्निवारुणम्। अग्निश्च वरुणश्च देवते अस्य। ऐब्विषये "ईपीत्" [४।३।१४१] इत्यग्नेरित्वम्। एवम् आग्निमारुतम्। अभिधानवशादनट् विषयेऽय विधिरन्यत्र न भवति। स्कान्दविशाखः। ब्राह्मप्रजापत्यः। तस्येदमर्थे अण्। "दिति" [३।१।७०] आदिना ण्यश्च।

नेन्द्रस्य ॥५।२।२७॥ घोरिति वर्तते। इन्द्रस्य घोरैप्न भवति। आग्नेन्द्रः। "देवताद्वन्द्वे" [५।२।२६] इति पूर्वपदस्यानट्। इन्द्रस्य घोरेकादेशे कृते "यस्य ङ्यां च" [४।४।१२६] इत्यखे च आदेरचो नाशात्सम्भवः प्राप्ति। इदमेव ज्ञापकम् "पूर्वोत्तरपदयोः कार्यमन्तरङ्गमप्येकादेशं बाधते"। तेन पूर्वेषुकाम-शमादय सिद्धाः भवन्ति। घोरिति किम्? ऐन्द्राग्नः। "अजाद्यत्" [१।३।६६] इत्यत्रेन्द्रस्य वा पूर्वनिपात इष्यते।

वा द्योः ॥५।२।३१॥ जङ्गल धेनु वलज इत्येतस्य द्योरचामादेरच ऐभवति वा। कौरुजाङ्गलः। कोरुजङ्गलः। वैश्वधैनवः। वैश्वधेनवः। सौवर्णवालजः। सौवर्णवलजः। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पः।

परिमाणस्याऽनतोऽर्धाद्वा पूर्वस्य ॥५।२।३२॥ परिमाणस्यार्द्धादुत्तरस्य अनतः स्थाने ऐच् भवति पूर्वपदस्य तु वा। अर्धद्रोणं पचति आर्द्धद्रोणिकः। अर्द्धद्रौणिकः। आर्धकौडविकः। अर्द्धकौडविकः। "पूर्वपदस्य वा" इति वचनाद् युविशेषणं वाग्रहणं नेहाभिसम्बध्यते। अनत इति किम्? आर्द्धप्रस्थिकः। अर्द्धप्रस्थिकः। अर्धचमसेन क्रीतम् आर्धचमसिकम्। अर्धचमसिकम्।

प्रवाहणस्य ढे ढस्य ॥५।२।३३॥ प्रवाहणस्य ढे परतः द्योरैच् भवति पूर्वपदस्य तु वा टान्तस्य चान्यस्मिन् ञ्णिति परतः। प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणेयः। "शुभ्रादेः" [३।१।११२] इति ढण्। ढान्तस्य प्रावाहणेयस्यापत्यं प्रावाहणेयिः। प्रवाहणेयिः। प्रवाहणेयस्येदम्। "वृद्धचरणाञ्जित्" [३।३।६४] इति वुञ्। प्रावाहणेयकम्। द्योरैपि सत्यसति च नास्ति विशेषः। पूर्वपदस्य विकल्पार्थः।

नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलचपलनिपुणानाम् ॥५।२।३४॥ द्योरैप्पूर्वस्य वेति वर्तते। नञः परेषां शुचि ईश्वर क्षेत्रज्ञ कुशल चपल निपुण इत्येतेषामचामादेरच ऐभवति पूर्वपदस्य तु वा। न शुचिरशुचिः अशुचेरिदम् अशौचमाशौचम्। अथवा नास्य शुचिरस्ति अशुचि। अशुचेर्भावः "व्यादेरिकः" [३।४।१२१] इत्यण्। "नञ्सेऽचतुरसङ्गत" [३।४।११५] इत्यत्र व्याख्यातम्। चतुरादिभ्यो नञ्स एव भावकर्मह्वद्विधिः। अन्येभ्यस्तु नञ्सात्पूर्वमिति। न पटोर्भावः अपाटवम्। तेन नञ्सेभावाभिधायी त्यो नोक्तः। अनैश्वर्यमानैश्वर्यम्। अक्षैत्रज्ञ्यम्। आक्षैत्रज्ञ्यम्। ब्राह्मणादिषु नञ्सावेतौ। अकुशलस्येदम् अकौशलमाकौशलम्। अचपलस्येदम् अचापलमाचापलम्। अनिपुणस्येदम् अनैपुणमानैपुणम्। यद्यपि कुशलचपलनिपुणशब्दा ब्राह्मणादिषु युवादिषु च पठ्यन्ते तथापि तत्र तदन्तविधेरभावान्नञ्से त्रमे वा कृते ष्यणणावप्राप्तावाकृतिगणत्वाद्द्रष्टव्यौ।

यथातथयथापुरयोः क्रमेण ॥५।२।३५॥ यथातथ यथापुर इत्येतयोः नञ उत्तरयोः क्रमेण द्वयोरैभवति। अयाथातथ्यमायथातथ्यम्। अयाथापुर्यमायथापुर्यम्। ब्राह्मणादिषु नञ्सावेतौ। यथातथा यथापुरा "सुप्सुपा" [१।३।२] इति सविधिः। अयथातथाभावः अयथापुरा भावः इति विग्रहः। सौत्रत्वान्निर्देशस्येति प्राप्ता पठितौ। यदि वा "यावद्यथावध्यत्यसादृश्ये" [१।३।६] इति ह्से कृते पश्चान्नञ्सः। नन्वेकत्र नञ्सात्पूर्वं त्वविधिः अन्यत्र नञ्से। तेनोभयं सिद्धमतो व्यर्थमिदम्। न व्यर्थम्। नञ्सात्पूर्वं प्राप्नोतीत्युक्तम्।

हनस्तोऽञ्चिणलोः ॥५।२।३६॥ ह्वतीति निवृत्तम्। अञ्चिणलोरिति प्रतिषेधात् सामान्येन ञ्णितीति वर्तते। हनस्तकारादेशो भवति ञ्णिति परतः अञ्चिणलोः। घातयति। घातक। "अन्तेऽल" [१।१।४८] इति नकारस्य तत्त्वम्। देशघाती। सर्वघाती। "सुपि शीलेऽजातौ णिन्" [२।२।६६] घातघातम्। "णम् चाभीक्ष्ण्ये" [२।४।८] इति णम्। द्वित्वम्। घञि घातः। सर्वत्र "हो हन्तेर्ञ्णिन्नि" [५।२।५६] इति कुत्वम्। अञ्चिणलोरिति किम्? अघानि। जघान। इह कस्मान् न भवति वृत्र हतवानिति वृत्रहा। तन्वेद वार्त्तनन। "पादिहन्स्तराज्ञोऽणि" [३।४।१२३] इत्यत्वम्। "घोः स्वरूपग्रहणे तत्त्वविज्ञानम्" [प०] इति धोरेव भवति।

आतो णल औः ॥५।२।३७॥ आकारान्ताद्गोरुत्तरस्य णल औकारादेशो भवति। पपौ। तस्थौ। पा इत्येतस्माण्णलि परतः युगपत्त्रीणि कार्याणि प्राप्नुवन्ति द्वित्वमेकादेश औत्वं च। तत्रैकादेशादनवकाशत्वेन परमौत्वम्। द्वित्वादपि परत्वादैप्। इदानीमपि कृते निमित्तनिमित्तिनोर्विभागाभावात् लिटि परतो द्वित्वमनुमान न स्यात्। "द्वित्वेऽचि" [१।१।५६] इति स्थानिवद्भवति। ननु द्वित्वनिमित्ते अचि स्थानिवद्भावः उच्यो

चाग्राचो निमित्तत्व भेदाभावात् । एवं तर्हि "द्विर्वेऽचि" [१।१।५६] इति सूत्रे द्वित्व इति योगविभागादिह स्थानिवद्भावः ।

ञिकृतोर्युक् ॥५।२।३८॥ आकारान्तस्य गोः जौ कृति ञिणति च परतः युगागमो भवति । अदायि । अधायि । दायः । धायः । दायकः । धायक । ञिकृतोरिति किम् ? ययो । यभो । ववौ । जा दवला अत्र अणि ज ।

न सेटस्तासि मोऽवमिकमिचमः ॥५।२।३९॥ मान्तस्य गोः तासि सेटः जौ कृति ञिति च यदुक्त तन्न भवति । किन्नोक्तम् ? ञ्णितीत्यनुवर्तनाद् "उडोऽतः" [५।२।४] इत्यैप् । अशमि । अतमि । अदमि । शमकः । दमकः । तमक. । शमः । तमः । दमः । विश्रमः । कथ सुर्वविश्रामभूमिः ? प्रमादप्रयोग एषः । तासि सेट इति किम् ? यामकः । रामकः । म इति किम् ? चारकः । पाठकः । अवमिकमिचम इति किम् ? वामः । कामः । आचामः । ञिकृतोरिति किम् ? शशाम । तताम । कथमुद्यमः । उपरमः ? "अड उद्यमे" [धा०] "यम उपरमे" [धा०] इति निपातनात् ।

जनिवध्योः ॥५।२।४०॥ जनि वधि इत्येतयोश्च ञिकृतोर्यदुक्त तन्न भवति । अजनि । अवधि । जनकः । वधकः । जनः । वधः । वधिरिति प्रकृत्यन्तर हलन्तमस्ति । तस्येद ग्रहणम् । न हनादेशस्यादन्तत्वात् । तेन सिद्धम् । "भक्तकश्चेन्न विद्येत वधकोऽपि न विद्यते" ।

अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग् णावैप् ॥५।२।४१॥ गोरिति वर्तते । अर्ति ह्री व्ली री क्नूयी क्ष्मायी इत्येषामाकारान्ताना च गूना णौ परतः पुग् भवति एप्च । अर्तिरिति तिपा निर्देशः ऋकारान्तनिवृत्त्यर्थः । इयर्ति ऋच्छति वा कश्चित् त प्रयुङ्क्ते अर्पयति । ह्रेपयति । विजनातेर्व्लेपयति । रीयते रिणातेश्च रेपयति । निरनुबन्धपरिभाषा नाश्रीयते । क्नूयी क्नोपयति । "वलि व्योः खम्" [४।३।५५] इति यखम् । "न धुखेऽगे" [१।१।१८] इत्येप्प्रतिषेधः प्राप्नोति अगनिमित्ते खे स प्रतिषेधः । वर्णनिमित्त चेदम् । क्ष्मायी क्ष्मापयति । आकारान्तानाम् । दापयति । धापयति । लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषेह नाश्रीयते । ग्लापयति । अध्यापयति । "इवस्तौ" [१।१।१७] इत्याश्रयणात् आतः एप् न भवति । पुकः पूर्वान्तकरण किम् ? दापयतेर्लुङि अदीदपदित्यत्र "णौ कस्युङ." [५।२।११५] प्रादेशार्थः ।

शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् ॥५।२।४२॥ शा च्छा सा ह्वा व्या वे पा इत्येतेषां णौ परतः युगागमो भवति । निशाययति । अपच्छाययति । अवसाययति । सह्वाययति । सव्याययति । पाययति । शादीना कृतात्वाना ग्रहण लाक्षणिकस्यापि पूर्वेण पुकमाख्यातुम् । क्षापयति । जापयति । वेञ एकारान्तनिर्देश "ओवै शोषणे" [धा०] इत्यस्य निवृत्त्यर्थ. । वातेरव्विकरणादग्रहणम्. पाग्रहणे "पै ओवै शोषणे" [धा०] इत्यस्यापि ग्रहणम । आकारान्तवर्गात् पृथक् पाठो लाक्षणिकत्यागार्थः इत्यन्ये । पातेर्लुक वक्ष्यति । युकः पूर्वान्तत्व निशाययतेर्लुङि न्यशीशयदिति प्रादेशार्थम् ।

वो विधूनने जुक् ॥५।२।४३॥ वा इत्येतस्य विधूननेऽर्थे जुग्भवति णौ परतः । पक्षकेणोपवाजयति । "वज व्रज गतौ" [धा०] इत्यस्य ण्यन्तस्य किन्न रूपम् । नैव वातेर्युक् स्यात् । विधूनन इति किम् ? आवापयति केशान् । "ओवै शोषणे" [धा०] इत्यस्येद रूपम् । "धून्प्रीञोर्णौ नुगिष्यते" इति विधूननवचन ज्ञापकम् ।

पातेर्लुक् ॥५।२।४४॥ पातेर्लुगागमो भवति णौ परतः । पालयति शील गुरुः । तिपा निर्देशोऽनुविकरणनिवृत्त्यर्थः । यङ्लुङ्निवृत्त्यर्थश्च । ननु पाल रक्षण इति चौरादिकस्य रूप भविष्यति । नात्रापि दृश्यते ।

लो वा स्नेहद्रवे ॥५।२।४५॥ ला इत्येतस्य णौ परतः वा लुगागमो भवति स्नेहद्रवेऽर्थे। घृत विलालयति विलापयति। विलाययति। ला इति लिनातेः द्रवीकरणार्थस्य "विभाषा लियोः" [४।३।४४] इति कृतात्वस्य धूनामनेकार्थत्वाल्लातेश्च स्नेहद्रवे वृत्तिरित्युभयोर्ग्रहणम्। स्नेहद्रव इति किम्? अयो विलापयति। जटाभिगलापयते। लीयतेः कृतात्वात् "लियोऽधाष्ट्र्यसन्मानने च" [१।२।६६] इति दः।

लियो नुक् ॥५।२।४६॥ ली इत्येतस्य णौ परतः स्नेहद्रवेऽर्थे वा नुग्भवति। घृत विलीनयति। घृत विलापयति। लियोऽनात्वपक्षे स्नेहद्रवार्थस्य ग्रहणम्। स्नेहद्रव इत्येव। अयो विलाययति। णौ ऐत्वादेशो। अथ "विभाषा लियो." [४।३।४४] इत्यात्वपक्षे एकदेशविकृतस्यानन्यत्वान्नुक् कस्मान्न भवति? लिय इत्यत्र ली ई इतीकारप्रश्लेषादीकारान्तस्य नुक्।

रुहः पः ॥५।२।४७॥ रुहः णौ परतः पकारादेशो भवति वा। आरोपयति। आरोहयति स्वर्गं जिन धर्मः। अथ "रुप रुप लुप विमोहने" [धा०] इति रुप्यतेः रोपयति, रुहेः रोहयतीति भविष्यति। न शक्यमेवम्, आरोपयतीति भविष्यति न शक्यमेवम्। आरोपयतीत्यत्र रुहेरर्थः प्रतीयते न रुप्यतेः। अनेकार्था वा इति पादप्रसारिकैषा।

स्फायो वः ॥५।२।४८॥ वेति निवृत्तम्। स्फायी इत्येतस्य वकारादेशो भवति णौ परतः। स्फावयति। स्फावयतः। स्फावयन्ति। "अन्तेऽलः" [१।१।४९] इत्यन्तस्य।

शदोऽगतौ तः ॥५।२।४९॥ शदेर्णौ परतः अगतावर्थे तकारादेशो भवति। पुष्पाणि शातयति। फलानि शातयति। अगताविति किम्? गाः शादयति यष्ट्या। "शद्लृ शातने" [धा०] इति निपातनात् सिद्धमिति चेत्, निपातनमबाधकमितरस्य शक्येत। यथा "पूर्वकालैक" [१।३।४४] इत्यत्र पुराणशब्दः पुरातनशब्दस्य।

त्यस्थे क्यापीदतोऽसुपोऽयत्तदो ॥५।२।५०॥ त्यस्थे ककारे परतः पूर्वस्य अकारस्येकारादेशो भवति असुपो य आप् तस्मिन् यत्तदित्येतौ वर्जयित्वा। कुत्सिता जटा जटिका। मुण्डिका। त्य इति किम्? शक्नोतीति शका। तका। धोरय कः। स्थग्रहणं किम्? कारिका। हारिका। असति त्य ग्रहणे त्ये कीत्युच्यमाने "येनाल्विधि." [१।१।६७] इति ककारादावेव स्यात्। स्थग्रहणे सर्वत्र सिद्धम्। कीति किम्? नन्दना। रमणा। कीतीपूर्निर्देशः किम्? "ईप्स्केत्यव्यवाये पूर्वपरयो" [१।१।६०] इति परस्य मा भूत्। पटुका। मृदुका। आपीति किम्? कारको हारकः। अत इति किम्? गोका। नौका। तपरकरणं किम्? बहुखट्वाका। बहुमालाका। "वाऽपः" [५।२।१२७] इत्यप्रादेशपक्षे। प्रपक्षे असुप कपः परोऽयमाप्। असुप इति किम्? बहवः परिव्राजका अस्या बहुपरिव्राजका मथुरा। "त्यग्रे त्याश्रयम्" [१।१।६३] इति सुबन्तात्परिव्राजकशब्दादयमाप्। ननु च यमे समुदायादसुबन्तादाविनीत्व प्राप्नोति, तन्मत्, असुप इति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम्। न चाप्सुबन्तादवयवात्परो भवति। पर्युदासे हि दोषः। सुपोऽन्यः असुप् समुदायस्तस्मादाविनीत्व स्यात्। बहूनि चर्माणि अस्या बहुचर्मिकेत्यत्र असुबन्तात्कप. परोऽयमाविनीत्वम्। अयत्तदाविति किम्? यका। सका। यका यका पश्यति तका तका वृणीते। इह कथ प्रतिषेध, यातीति स्यतीति विचि या सा इति स्थिते के प्रादेशे च कृते यका सका। क्षिपकादावेतौ द्रष्टव्यौ। ननु कीति वर्णनिर्देशः तस्यापीति परत्वेन विशेषणं नोपपद्यते आकारेण व्यवधानात्। एकादेशे भविष्यति। एकादेशः पूर्वविधौ स्थानिवद्भवतीति व्यवधानमेव। एव तर्हि वर्णेनैकेन व्यवधानेऽपि वचनप्रामाण्याद्भवति। सङ्घातेन पुनर्व्यवधानमिति। रथाना समूहो रथकट्या पुत्रकाम्यान पुत्रकाम्या इत्यादौ न भवति।

वाऽतोऽधोर्यकात् ॥५।२।५१॥ अधोर्यो यकारः ककारश्च ताभ्यामुत्तरस्यान स्थाने यो अकार. तस्यास्मिनुः वा इद्भवति। कुत्सिता इभ्या इभ्यका। इभमर्हतीति "दण्डादे." [३।३।६४] य.। प।

त्रियका। त्रात्रियिका। अर्यका। अर्यिका। चटक्का। चटकिका। मूषिक्का। मूषिकिका। ग्रात इति किम्? साङ्काश्ये भवा साङ्काशियका। अधोरिति किम्? सुनयिका। सुशयिका। सुशोभिका। सुपाकिका। शोभनो नयोऽस्या सुनया। "केऽणः" [५।२।१२५] इति प्राटेशे कृते धोरन्तौ यकारक-कारावम् ताभ्या परस्य न विकल्पः। यकादिति किम्? अश्वी। अश्विका। वेति योगविभागः। सा च व्यवस्थितविभाषा। तेन "तारका ज्योतिषि"। तारिकान्या। "आशिषि" जीवतादिति जीवका। नन्दका। जीविका नन्दिकाऽन्यत्र। अनुकम्पिता देवदत्ता। के कृते "अनजादौ वा गुरवम्" [वा०] उक्तम्—"देवका" देवदत्तिकान्यत्र। "वर्णका तन्तुविकारे"। वर्णिकान्या। "वर्तका शकुनौ प्राचाम्"। वर्तिकाऽन्यत्र। "अष्टका कर्मविशेषे"। अष्टिका तुलान्यत्र। अष्टौ परिमाणमस्या इति। सूतका। सूतिका। पुत्रका। पुत्रिका। वृन्दारका। वृन्दारिका। "क्षिपकादौ न भवत्येव" "क्षिप प्रेरणे" [धा०]। ध्रु स्थैर्ये। क्षिपतीति क्षिपा, के क्षिपका। ध्रुवा, ध्रुवका। यका। सका। इत्येवमादिः क्षिपकादिः दक्षिणात्यिका। इहत्यिका इत्यादावित्वमेव।

भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वानां नञ्सेऽपि ॥५।२।५२॥ भस्त्रा एषा अजा ज्ञा द्वा स्वा इत्येतेषां नञ्पूर्वाणामपि अत्येऽपि आतः स्थाने यो अकारः तस्य वा इद् भवति। भस्त्राशब्दस्य "अनुक्तपुंस्कादाच्च" [५।२।५३] तृतीयं विधिं वक्ष्यति। इह नञ्सादन्यत्रापि प्रतिपादयिष्यते। अभस्त्रका। अभस्त्रिका। अविद्यमाना भस्त्रा अस्या इति नभस्त्रा। कुत्सार्थे कः। एषका। एषिका। एतदः सर्वनाम्नोऽकमाविनि सौ "त्यदादेः" [५।१।६६] इत्यत्वम्। प्राक् सुप. टाप्। एषेति विकृतनिर्देशाद्यत्र षत्व तत्र विकल्पः। एतिकास्तिष्ठन्ति इत्यत्र नित्यमित्वम्। अजका। अजिका। अनजका। अनजिका। नञ्से कृते कः। जानातीति ज्ञा। ज्ञका। ज्ञिका। अज्ञिका। द्वके। द्विके। स्वका। स्विका। अस्वका। अस्विका। एषा द्वे नञ्पूर्वे अनुदाहरणे। सुबन्तादापो विहितत्वात्। नञ्सात् पूर्वम्पश्चाद्वा अकि कृते "त्यखे त्याश्रयम्" [१।१।६२] इति अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य सुबन्तादाविति न प्राप्तिरित्वस्य। अनेषका। अद्वके इति भवति। स्वशब्दस्य तु ज्ञातिधनाख्याया सर्वनामसंज्ञाविरहादस्मात्ति। अकि हि सति तस्य टे. प्राग्भावात्सुबन्तग्रहणेन ग्रहणम्। सुबन्तादाप्स्यात्। ज्ञातिविवक्षाया तु न स्वा अस्या कुत्सार्थे कः। अस्वका। अस्विका। अपिग्रहणं किम्? नञ्से च्य इत्येवास्तु। अन्त्यमिमनपि से क्वचिद्भावार्थम्। बह्व्यो भस्त्रा अस्या इति के बहुभस्त्रका। बहुभस्त्रिका। निर्भस्त्रका। निर्भस्त्रिका।

अनुक्तपुंस्कादाच्च ॥५।२।५३॥ अनुक्तपुंस्काद्विहितस्यातः स्थाने योऽकारस्तस्य आच्च भवति इच्च वा। नञ्से अपेऽपीति वर्तते। खट्वाका। खट्विका। खट्वका। मालाका। मालिका। मालका। भस्त्राका। भस्त्रिका। भस्त्रका। खट्वादिशब्दा नित्य स्त्रियामेव वर्तन्ते इत्यनुक्तपुंस्काः। नञ्सेऽपि। अभस्त्राका। अभस्त्रिका। अभस्त्रका। अखट्वाका। अखट्विका। अखट्वका। परमखट्वाका। परमखट्विका। परमखट्वका। नञ्सेऽपि यदा कपि परत "वाऽपः" [५।२।१२७] इति प्राटेशस्तदानुक्तपुंस्काद्विहितस्यात स्थाने नकार इत्यनेन विधि। अविद्यमाना खट्वाऽस्या अखट्वाका। अखट्विका। यदा न कप् तदा "र्गोर्नीच" [१।१।८] इति प्राटेशादुक्तपुंस्कत्वम्। अखट्विका। अतिक्रान्ता खट्वाम् अतिखट्विका।

इसुसुक्तः कः ॥५।२।५५॥ इस् उस् उक् इत्येवमन्तात्तकारान्ताच्च गोः परस्य ठस्य क इत्ययमादेशो भवति । सर्पिः पण्यमस्य सार्पिष्कः । बार्हिष्कः "कुप्वोस्प्ये" [५।४।२६] इति षेफस्य सः । "इणः षः" [५।४।२७] इति षत्वम् । धनुः प्रहरणमस्य यजुः पण्यमस्य "प्राग्घ्याट्टण्" [३।३।१२६] धानुष्कः । याजुष्कः । उक्—निषादकर्ष्वा जातः नैषादकर्षुकः । शाबरजम्बुकः । "ओर्देशे ठञ्" [३।२।६६] । "केऽणः" [५।२।१२५] इति प्राप्ते शः । मातुरागत मातृकम । "ऋतष्ठञ्" [३।२।५०] । तान्तात्—उदश्वित् पण्यमस्य औदश्वित्कः । भवतोऽयं भावत्कः । ननु मथित पण्यमस्य माथितिक इत्यत्र "यस्य इया च" [४।४।१२६] इति खे कृते तान्तादिकस्य स्थानिवद्भावेन कादेशः प्राप्नोति । अजादिति निमित्तत्वकारो नाजादिं हन्ति । "सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" [प०] "अर्चिशुचिहुसृपिच्छदिच्छर्दिभ्य इत्" [उ० सू०] इत्येवमादिना प्रतिपदोक्तयोरिसुसोर्ग्रहणादिह न भवति । आशिषा तरति आशिषिकः । उषा चरति औषिकः । "आङः शासु इच्छायाम्" [धा०] "वस निवासे" [धा०] इत्येताभ्या क्विपि "लिङाशिषि" [२।४।६६] इति निपातनादित्वम् । "वसोर्जिः" [४।४।१२०] "शासिवसिघसाम्" [५।४।४०] इति षत्व नन्सेऽपीष्यतोऽपिशब्दवृत्तेः "दोषोऽपीष्यते" [वा०] । दोर्भ्यां तरति दौष्कः ।

चजोः कुघिण्ण्यतोस्तेऽनिटः ॥५।२।५६॥ चकारजकारयोः कुत्व भवति घिति ण्ये च परतः । पाकः । त्यागः । रागः । पाक्यम् । योग्यम् । भोग्यम् । न त्वत्र चकारस्य घिति जकारस्य णे साम्यात्यथासङ्ख्यं प्राप्नोति "तेन रक्तं रागात्" [३।२।१] इति ज्ञापकात् स्वरितलिङ्गाभावाद्वा न भवति । तेऽनिटः इति किम् ? कूजः । खर्जः । गर्जः । समाजः । परिव्राज्यम् । याच्यम् । अर्च्यम् । नन्वजेस्तेऽनिट इति कुत्व प्राप्नोति । नेष दोषः । तेऽनिट इति विद्यमानस्य विशेषणम् । अजेस्तु वीभाविनासत्त्वादविशेषण तस्मात् समाज इति भवति ।

शुच्युब्ज्योर्घञि ॥५।२।५७॥ शुचि उब्जि इत्येतयोर्घञि परतः कुत्व भवति । ते सेटाविमौ । शोकः । समुद्गः । उब्जेर्दकारोऽप्युक्तं कुत्वे कृते "उदग" इति । चुना योगे बत्वमुक्त चुत्वाभावे न भवति । अथ समुद्गतः । समुद्ग इति । गमेर्डेन सिद्धम । एव तर्हि घञि उद्गोः जकारान्ततानिवृत्त्यर्थम् ।

न्यङ्क्वादेः ॥५।२।५८॥ पूर्वेणाप्राप्ते विधिः । न्यङ्कु इत्येवमादीना च कुत्व भवति । "नावञ्चेः" [उ० सू०] न्यङ्कुः । मद्गुः । मस्जेः "भृमृशीतृचरितसिमिमस्जिभ्य उ" [उ० सू०] जश्त्वम् । मस्य द । भृगुः । भ्रस्जेः "प्रथिमृदिभ्रस्जां जिः सखं च" [उ० सू०] इति कुः । तक्रम् । चक्रम् । "स्फायितञ्चिवञ्चि" [उ० सू०] आदिसूत्रेण रक् । मेहतीति मेघः । इगन्तलक्षणः कः गणपाठादेष । शुन पचतीति श्वपाकः । पचादिषु श्वपचशब्दोऽस्ति सोऽपि साधुः । अर्घअवदाघनिदाघाः बनन्ताः सञ्ज्ञाशब्दाः । अविहित लक्षण कुत्वमिह ज्ञेयम् ।

हो हन्तेर्ञ्णिन्नि ॥५।२।५९॥ हन्तेर्हकारस्य कुत्व भवति ञ्णिति त्ये नकारे घञि भावकरणे सपरत । घातयति । घातकः । सर्वघाती । देशघाती । घातघातम । घातो वर्तते । नकारे—घ्नन्ति । घ्नन्तु । अघ्नन । ह इति किम् ? अलोऽन्त्यस्य मा भूत् । हन्तेरिति किम् ? विहारः । ञ्णितीति किम ? हतः । कथ यद्रुघ्नन जङ्घनीति । अत्र "चान" [५।२।६०] इति कुत्वमिष्यते । धुनिर्देशार्थस्तिप् । ञ्णिद्ग्रहण हन्तेर्विशेषण जितस्य हन्तेर्यो हकारस्तस्य । नकारो हकारस्य विशेषणम् । नकारे परतोऽनन्तरस्य हकारस्य स चेद्धन्तेरिति अंत चान न्तर्य घ्नन्तीत्यावविष्ट स्थानिवद्भावादेकेन व्यवधान नाश्रितम । वचनप्रामाण्यात् । सद्धातेन पुनर्व्यंतानम्, हननमिच्छति हननीयति । तस्य ण्वौ हननीयकः ।

चात् ॥५।२।६०॥ चादुत्तरस्य हन्तेर्हकारस्य कुत्व भवति । अह जघन । अभिजघ्ने मानि । जङ्घन्यते । जिघांसति । हन्तेर्यश्च तस्मादुत्तरस्य कुत्व च निमित्तत्वे तेनेह न भवति । हननीयितुमिच्छति जिहननीयिषति ।

हेरकचि ॥५।२।६१॥ हिनोतेर्हकारस्य चात्परस्य अकचि कुत्वं भवति। प्रजिघाय। प्रजेघीयते। प्रजिघीषति। अकचीति किम्? प्राजीहयत्। हेर्ण्यन्ताल्लुङि "णिश्रिद्रुस्रु" [२।१।४३] इत्यादिना कच्। णिग्रहम् "णौ कच्युट" [५।२।११५] इति प्रादेशः। णौ कृत स्थानिवद्भवतीति कचि हिशब्दस्य द्वित्वम्। ननु हेः स्वनिमित्ते त्ये चादुत्तरस्य कुत्वमुक्तम्। एयन्त च प्रकृत्यन्तर कथं कचि प्राप्तिः। अयमेव प्रतिषेधो ज्ञापको एयधिकस्यापि भवति। प्रहाययितुमिच्छति प्रजिघाययिषति।

सन्लिटोर्जेः ॥५।२।६२॥ सनि लिटि च यश्चस्तस्मात्परस्य जेः कुत्वं भवति। जिगीषति। जिगाय। सन्लिटोरिति किम्? जेजीयते। जिनातेर्लिटि जित्वे कृते "हलः" [४।४।२] इति दीर्घे कृते एकदेशपरिभाषया जिग्रहणेन ग्रहणं नेष्यते लाक्षणिकत्वात्। "एर्गिवाक्चादुडोऽसुधियः" [४।४।७८] इति यत्वम्। जिज्यतुः। जिज्युः।

वा चेः ॥५।२।६३॥ चिनोतेः सन्लिटोः परतः चात्परस्य वा कुत्वं भवति। धर्मं चिकीषति। धर्मं चिचीषति। चिकाय। चिचाय। सन्लिटोरित्येव। चेचीयते। अप्राप्ते विकल्पोऽयम्।

न वञ्चेर्गतौ ॥५।२।६४॥ वञ्चेर्गत्यर्थस्य कुत्वं न भवति। वञ्च्य वञ्चति वाणिजाः। गतौ किम्? वङ्क्य काष्ठम्। "यस्य वा" [५।१।१२१] इति "तेऽनिटः" [५।२।५६] कुत्वं प्राप्तम्। ननु गतावेव वञ्चिः पठ्यते। सत्यम्। अनेकार्था धव इत्यन्यत्र मा भूत्।

एय आवश्यके ॥५।२।६५॥ आवश्यकेऽर्थे ण्ये परतः कुत्वं न भवति। अवश्यपाच्यम्। अवश्यसेच्यम्। "आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिन्" [२।३।१४६] इत्यधिकृत्य "ण्याः" [२।३।१४७] इति ण्यः। मयूरव्यंसकादित्वात्सविधिः। "ल्यान्ते ह्यवश्यमो नाशः" इति मखम्। आवश्यक इति किम्? पाक्यम्। सेक्यम्।

यजित्यजिप्रवचाम् ॥५।२।६६॥ यजि त्यजि प्रवच इत्येतेषां ण्ये परतः कुत्वं न भवति। याज्यम्। त्याज्यम्। प्रवाच्यम्। अनावश्यकार्थमिदम्। प्रवचिग्रहणं शब्दखावपि प्रतिषेधार्थम्। प्रवाच्यो नाम पाठविशेषः। अन्ये तु पुनराहु—प्रपूर्वस्यैव वचेः अशब्दखे कुत्वप्रतिषेधो यथा स्यात्। [illegible]पूर्वस्य मा भूत्। अधिवाक्यम्।

वचोऽशब्दखौ ॥५।२।६७॥ वचोऽशब्दखौ ण्ये परतः कुत्वं न भवति। वाच्यमाह। अशब्दखाविति किम्? अवद्यपितं वाक्यमाह। शब्दस्यैव सञ्ज्ञावाक्यमिति। तदुक्तम्—आख्यातं सविशेषणमित्याहि वाक्यम्।

भुजप्रयाजानुयाजोक्प्रयोज्यनियोज्यभोज्यानि ॥५।२।६८॥ भुज प्रयाज अनुयाज न्योक प्रयोज्य नियोज्य भोज्य इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते। भुज इति पाणौ। भुज्यतेऽनेनेति भुजः। "हलः" [२।३।१०२] इति करणे घञ्। एप्कुत्वयोरभावो निपात्यते। भोगोऽन्यः। अथ "भुजो कौटिल्ये" [धा०] इत्यस्य इगुपधलक्षणे के रूपम्। न तस्याभ्यवहारार्था प्रतीतिः। रूढिशब्देऽप्यनुगमोऽस्ति। यथा [illegible]। प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे। "अकर्तरि" [२।३।१८] इति घञ्। प्रयागः। अनुयागः। इत्येवा[illegible]। उच के। उच्यतीन्योकः। इगुपधलक्षणः कः। न्युच्यत्यस्मिन्निति न्योकः। "घार्थे कविधानम्" [वा०] इति कः। एप् कुत्वं च निपात्यते। उचिस्ते सेट् तदर्थम्। के उच इत्यस्य [illegible]। प्रयोक्तुं शक्यः प्रयोज्यः। नियोक्तुं शक्यो नियोज्यः। "शकि लिङ् च" [२।३।१४८] इति ण्यः। [illegible]। प्रयोगो नियोग इत्येवान्यत्र। भोज्यमिति भुज पालनाभ्यवहारयोरित्यस्य [illegible]। भोज्य ओदनः। भोज्या यवागूः। ननु भक्षिरयं खरविशदे वर्तते न तु द्रवद्रव्ये तत्कथ

भोज्या यवागूरिति ? भक्षिरभ्यवहार्येऽपि वर्तते न खरविशद एव । अब्भक्षः । वायुभक्ष इति । अभ्यवहरणादन्यत्र न भवति । भोग्या अङ्घ्रिपाः पालनीयाः इत्यर्थः । भोग्य कम्बलः । दृष्टार्थमङ्ग्रहो निपातनात् । न्युब्ज इति कथ मित्यति ? न्युब्जिताः शेरतेऽस्मिन्निति न्युब्जो रोग । "घञर्थे कविधानम्" [वा०] इति धयन्तस्य वाऽचि रूपम् ।

क्सस्याचि खम् ॥५।२।६९॥ क्सस्याजादौ परतः ख भवति । "अन्तेऽल" [१।१।४६] इत्यन्तस्य । अधुक्षि । अधुक्षाताम् । अधिक्षि । अधिक्षातम् । दुहिदिही स्वरितेतौ । "इगुड. शलोऽनिटोऽदृश क्स" [२।१।४०] । अचि किम् ? अधुक्षत् । अधिक्षत् । अधुक्षन्तेत्यत्र क्सस्य खे कृते "ट्रेऽनत." [५।१।७] इत्यन्तादेशस्य स्थानिवद्भावेन झस्यादादेशः प्राप्नोति । "परेऽच पूर्वविधौ" [१।१।५७] इत्यस्यास्य स्थानिवद्भावान्न भवति । पूर्वस्मादपि विधिः पूर्वविधिरित्युक्तम् । क्सस्य कितो ग्रहण किम् ? इह मा भूत् । वत्सौ । वत्साः "वृतृवदिहनिकमिकषिमुचिमाभ्यः सः" [उ० सू०] ।

वोब्दुहदिहलिहगुहो दे दन्त्ये ॥५।२।७०॥ दुह दिह लिह गुह इत्येतेभ्यः क्सस्य वा उब् भवति दे दन्त्यादौ परत. । अदुग्ध । अदुग्धाः । अधुक्षत । अधुक्षथाः । अधुग्ध्वम् । अधुक्षध्वम् । अदुह्वहि । अधुक्षावहि । दिह । अदिग्ध । अधिक्षत । अलीढ । अलिक्षत । न्यगूढ । न्यघुक्षत । दुहादिभ्य इति किम् ? व्यत्यरुक्षत । द इति किम् ? अधुक्षत् । दन्त्य इति किम् ? अधुक्षामहि । ग्वमिति वर्तमाने उब्ग्रहणं सर्वापहारार्थम् ।

ओतः श्ये ॥५।२।७१॥ ओकारान्तस्य गोः श्ये परतः ख भवति । निश्यति । अपछ्यति । अवद्यति । अवस्यति । वोब्ग्रहणमस्वरितत्वान्नाधिकृतम् । श्य इति शित्करणं किम् ? गव्यम् ।

शमित्यामदो दीः ॥५।२।७२॥ शमादीनामामदो दीर्भवति श्ये परत. । शाम्यति । ताम्यति । दाम्यति । श्राम्यति । भ्राम्यति । क्षाम्यति । क्लाम्यति । माद्यति । "अचश्च" [१।१।१२] इत्यच. स्थाने दीः । श्याम इति किम् ? असयति । श्य इत्येव । भ्रमति । "वा भ्राशभ्लाश" [२।१।८८] इत्यादिना वा शप् ।

ष्ठिवुक्लम्वाचमां शिति ॥५।२।७३॥ ष्ठिवु क्लमु आचम इत्येतेषा दीर्भवति शिति परत. । ष्ठीवति । ष्ठीवेत् । क्लामति । क्लामेत् । आचामति । आचामेत् । क्लमः शितीति दीत्ववचन शबर्थम् । चमेराङ्पूर्वस्यैव । केवलस्यान्यपूर्वस्य च मा भूत् । चमति । विचमति ।

क्रमो मे ॥५।२।७४॥ क्रमो मपरे शिति दीर्भवति । क्रामति । क्रामेत् । म इति किम् ? क्रमतो आदित्यः । "ज्योतिरुद्गतावाङः" [१।२।३६] इति दः । शितीत्येव । क्रमिष्यति । ननु सर्वत्र ग्रहणमात्रेण शमादिना अविशेष्यते । तेनादोऽपि दीत्व स्यात् । अशाम्यत् । "अन्त्याभावेऽन्त्यसदेशस्य कार्यम्" [प०] इत्यदोपः । इह सङ्क्रामेति हेऽपि कृते "नोमता गो." [१।१।६४] इति त्याश्रयकार्यप्रतिषेधात् दीत्व न प्राप्नोति । न दोषोऽयम् । उमता वचनेन लुप्ते यो गुम्तस्य कार्ये स प्रतिषेधः । तत्राप वर्ति द्विवचने गुः । किं तर्हि शिति ।

गमिषुयमां छः ॥५।२।७५॥ गम इषु यम इत्येतेषा छो भवति शिति परत । गच्छति । इच्छति । यच्छति । म इति नाधिकृतम् । सगच्छते । इषेरुदित ग्रहणमन्यस्य ग्रहणम् । "इष गतौ" [धा०] इत्यस्य इष्यति । "इष आभीक्ष्ण्ये" [धा०] इष्णातीति ।

पाघ्राध्मास्थाम्नादाणदृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः ॥५।२।७६॥ पा घ्रा ध्मा स्था म्ना दाण दृशि अर्ति सर्ति शद सद इत्येतेषा पिब जिघ्र धम तिष्ठ मन यच्छ पश्य ऋच्छ धौ शीय सीद इत्येते आदेशा शिति यथासङ्ख्य भवन्ति । पान्पिबति । जिघ्र ।

पिबन्ति । अत्र "घ्युङ." [५।२।८३] इति एप्प्राप्नोति । अकारान्तोऽयमादेशो अथवा गुकार्य निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तमिति न भवति । घ्रा–जिघ्रति । ध्मा–धमति । स्था–तिष्ठति । म्ना–मनति । दाण् । प्रयच्छति । दृष्टि इति दृशेरितिपि "शपोऽदादिभ्यः" [१।४।१४३] इत्यत्र शप इति योगविभागाच्छप उपि कृते "ऋल्यकिति सृजिदृशोऽम्" [४।३।५१] इत्यमा निर्देशः । एवमर्तिसर्त्योरपि ज्ञेयम् । पश्यति । पश्यतः । पश्यन्ति । अर्ति–ऋच्छति । अनुब्विकरणस्य ग्रहणम् । सर्ति । धावति । सर्तेर्व्याख्यानात् शेग्रे धावादेशो नान्यत्र । ससरति । प्रसरतीत्यादि । शद्–शीयते । शीयेते । "सदेर्गात्" [१।२।५५] इति द । सद् । सीदति । दृष्ट्यादीनां तिपा निर्देशो यङ्लुगन्तनिवृत्त्यर्थः । शतरि शिति प्राप्तिः । दर्दर्शत् । अरियत् । सर्सत् । अतेश्च रिक् । इतरयो रुक् ।

ज्ञाजनोर्जा ॥५।२।७७॥ ज्ञा जन इत्येतयोः जा इत्ययमादेशो भवति शिति । जानाति । जायते । जा इति दीर्घोच्चारणं किम् ? "यन्यतो दीः" [५।२।१६] इत्यत्र मिडीत्यनुवर्तनाद् दीत्वं न स्यात् ।

प्वादेः प्रः ॥५।२।७८॥ पू इत्येवमादीनां प्रादेशो भवति शिति परतः । पुनाति । लुनाति । प्वादयो रीलीवृदिति यावत् । ल्वादीनां समाप्त्यर्थं वृत्करणमेतदिति केचित् । आगणान्ताः प्वादयः । तद्युक्तम् । उभयगणपरिसमाप्त्यर्थता वृत्करणस्य न विरुद्ध्यते । किञ्चागणान्तपक्षे म्रीणाति, भ्रीणाति जानातीत्यत्र प्रः स्यात् ।

मिदेरेप् ॥५।२।७९॥ मिदेर्गोरेब्भवति शिति । मेद्यति । मेद्यतः । मेद्यन्ति । मिदेर्वे इक् तस्याय मेप् । मिदेरिति किम् ? क्लिद्यति । शितीत्येव । मिद्यते ।

जुसि ॥५।२।८०॥ जुसि परतः इगन्तस्य गोरेप् भवति । कामचारेण विशेषणम् । इका सन्निहितेन गुर्विशेष्यते । तेन तदन्तविधिः । अजुहवुः । अबिभयुः । अबिभरुः । लटो भिः । शप उप् । "थविस्से." [२।४।८१] इति जुस् । भृजश्चस्येत्वम् । इगन्तस्येति विशेषणं किम् ? अनेनिजुः । जुसीति जकारग्रहणं किम् ? लुलुवुः । अथ चिनुयुः सुनुयुरित्यत्र उसीति पररूपे कृते "तदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते" [प०] इति श्नोः कस्मान्न भवति । अत्र द्वे ङित्वे गाश्रयं यासुडाश्रयं च । तत्र नाप्राप्ते गाश्रये ङित्वनिमित्ते प्रतिषेधे एब्विहितस्तमेव बाधते । यासुडाश्रये ङित्वनिमित्ते तु प्रतिषेधे प्राप्ते चाप्राप्ते च । अनन्तरं न बाधते ।

गागयोः ॥५।२।८१॥ गे चागे च परतः इगन्तस्य गोरेब्भवति । तरति । नयति । करोति । अगे–कर्ता । भविता । चेता । स्तोता । गागयोरिति किम् ? अग्नित्वम् । अथ सङीति कर्तव्यम् । सनः सकारादारभ्य आ आङो ङकारात्प्रत्याहारः । यदि सङीत्युच्येत अग्निकाम्यतीत्यत्रापि स्यात् । अथ यङीत्युच्येत । शिशयिषत इत्यत्र न स्यात् ।

जागुरविजिणल्ङिति ॥५।२।८२॥ जागृ इत्येतस्य गोरेब् भवति अविजिणल्ङिति परतः । जागरयति । जागरकः । साधु जागरी । जागर जागरम् । जागरो वर्तते । किति–जागरितः । जागरितवान् । ऐब्विषये प्रतिषेधविषये च प्रापणार्थो जागुरेब्विहितोऽन्यत्र पूर्वेणैव सिद्धः । नायमेप् सार्वैपमन्तरङ्गं बाधते । तेन "स्पर्शयक्षणश्वस्" [५।१।८१] इत्यादिना जागुरैप्प्रतिषेधः । जागरयतीत्यादौ "उङोऽत." [५।२।४] इति पुनरैप् कस्मान्न भवति ? यदि स्यादृवचनमनर्थकं भवेत् । जागरित इत्यत्र सार्थकमिति चेत्, एवं तर्हि जिणलोः प्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् । कृते एपि "उङोऽतः" [५।२।४] ऐपा सिद्धत्वात् । अविजिणल्ङितीति किम् ? जागृविः । "जृशस्तृजागृभ्यो क्विन्" [उ० सू०] इति वि । अजागरि । जजागार । ङिति–जागृतः । जागृथः । अविजिणल्ङितीति पर्युदासोऽयम् । विजिणल्ङिद्भ्योऽन्यत्रायमेब् विधीयते तेन विजिणल्ङितीति प्रतिषिध्यते । यदि प्रसज्यप्रतिषेधः स्यात् । अजागर । अहं जजागार । प्रसज्यप्रतिषेधे हि दोषः । विजिणल्ङिति न भव-

तीति ततश्च अजागरुरित्यत्र "जुसि" [५।२।८०] इत्यस्य अह जजागर। अणित्पक्षे "गागयो." [५।२।८१] इत्यस्य च प्रतिषेधः स्यात्। अथवा जागुरित्यनेनानन्तराप्राप्तिः प्रतिषिध्यते न "जुसि" [५।२।८०] इत्यादि प्राप्तिः। अथ नञर्थः पर्युदासो नोपपद्यते अभावमात्रस्य वृत्त्यर्थत्वात्। न चोत्तरपदार्थाभावेन विधेर्निमित्तत्वमाश्रयितु शक्यम्। तदयुक्तम्, यत्रभाव एव वृत्त्या गम्यते कथमब्राह्मणादिवाक्ये क्षत्रियादेरानयनम्। अथापि स्यात्। कथमुत्तरपद सादृश्ये न विपरीते वर्तते। वृत्तौ वा वर्त्तिपदार्थव्यतिरेकेणान्यपदार्थसम्प्रत्ययादुपसर्जनीभूतस्वार्थत्वे सत्यवर्षाहेमन्त इत्यत्र "स्त्रीगोर्नीच." [१।१।८] इति प्रादेशः प्राप्नोति। अनेकमित्यत्र च द्विवहू स्याताभित्येदस्यगारम्। यथोत्तरपद स्वार्थे वर्तते। स्वभावतः तथानञ्वृत्तौ परार्थे न वर्त्तिपदार्थकत्वे वर्तिष्यते। यथा च स्वार्थे वर्तमान नोपसर्जनमेव परार्थेऽपि सादृश्येन स्वार्थ एवेति कथमुपसर्जनत्वात् प्रादेशप्राप्ति.। अनेकमित्यत्र च एकशब्दः प्रधानभूत उपात्तस्वलिङ्गसंख्य एव परार्थ वर्तते इति द्वित्वबहुत्वयोरभाव.। एव तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधो नञर्थो न युक्तो वृत्त्यभावप्रसङ्गात्। तथाहि क्रियामपेक्षमाणस्य नञः उत्तरपदेन सामर्थ्याभावाद्वृत्तिर्न प्राप्नोति। नैष दोषः, वचनाद् भविष्यति। देवदत्तस्य गौर्नास्तीत्यनभिधानान्न भवति। ततो द्वावपि नञर्थौ युक्तौ। यदोत्तरपद स्वार्थविपरीते वस्तुनि वर्तते तदा निवृत्तपदार्थकत्व ओनयन्न वृत्ति लभते। यदा तूत्तरपद स्वार्थ एव वर्तते तदा नञ् क्रियाप्रतिषेधद्वारेण सामर्थ्यमनुभवन् वृत्तिमाप्नोति।

घ्युङः ॥५।२।८३॥ घिसञ्ज्ञस्योङः एव् भवति गागयोः। ओतते। वर्षति। छेदनम्। भेदनम्। ननु च भेत्ता छेत्ता इत्यत्र त्यादेर्गोरवयवस्य च हलोरानन्तर्ये "स्फेरुः" [१।२।१००] इति रुसञ्ज्ञया षिसञ्ज्ञा बाधिता कथमेप्। उच्यते "त्रसिगृधिधृषिक्षिप. क्नुः" [२।२।११६] इति "हलन्तात् [१।१।८४] इति च क्नुसनोः कित्करण ज्ञापकम्। त्यादेर्गोरन्तस्य च हलोरानन्तर्ये "घ्युङ" एव् न व्यावर्तते। घि चासावुङ् च घ्युङिति यमः किम्? भिनत्तीत्यत्र मा भूत्। इको घ्युङ एब्भवतीति सम्बन्धात् प्रसज्येत।

नेटः ॥५।२।८४॥ इट एव् न भवति। अकणिषम्। अरणिषम्। कणिता। रणिता। अम उद्देशे टित्व चाश्रित्य पूर्वस्य गुसञ्ज्ञाया "घ्युङः" [५।२।८३] इति एप्प्रातः।

थस्य गे पित्यचि ॥५।२।८५॥ थसञ्ज्ञस्य गोर्यो घ्युङ् तस्याजादौ गे पित्येव् न भवति। नेनिजानि। अनेनिजम्। वेविचानि। अवेविचम्। वेविषाणि। अवेविषम्। लोटि लङि च चस्य "निजामुन्येप्" [५।२।१७४]। एव बोबुधीति। बोभुजीति। बेभिदीति। थस्येति किम्? वेदानि। ग इति किम्? निनेज। अचीति किम्? नेनेक्ति। विद्ग्रहणमुत्तरार्थम्। अपिति गे ङ्तीति प्रतिषेधः सिद्धः। घ्युङ इत्येव। जुहवानि।

सूभवत्योर्मिङि ॥५।२।८६॥ सू भवति इत्येतयोर्मिङि पिति गे एव् न भवति। सुवै। सुवावहै। सुवामहै। अभूवम्। अभूत्। सूग्रहणेन सूतिर्गृह्यते। सूयतिसुवत्योर्विकरणेन व्यवधानम्। विकरणस्य ङित्वाद प्रतिषेधः सिद्धः। मिङीति किम्? भवति। शवयम्। भवतेस्तिपा निर्देशो यङ्लुगन्तनिवृत्त्यर्थः। बोभवीति। सूत्रोपलक्षण चेद तिपा निर्देशेन सूतेरपि यङ्लुगन्तस्य निवृत्तिः। सोषवीति।

हल्यैवुप्युतः ॥५।२।८७॥ हलादौ पिति गे परतः उपि सति उकारान्तस्य गोरैप् भवति। एपोऽपवादोऽयम्। यौमि। यौषि। यौति। रौमि। रौषि। रौति। इदमेव ज्ञापकम्—पूर्व विकरणः पश्चाद गुणादिम्। अन्यथा पूर्वमेपि सति उकारान्तता न भवेत्। तरत.। तरन्तीत्यत्र ऋत इत्य च स्यात्। अथवा नित्य गम्। हलीति किम्? यवानि। उपीति किम्? जुहोमि। सुनोमि। उत इति किम्? एमि। एषि। एति। तपर करण किम्? लोलोमि। पिपीत्येव। युतः। रुत.। हलि पितीति निर्देशादव्यवहितग्रहणम्। इह मा भूत्। अपि स्तुयाद्राजानम्। थस्य नेत्येनदिहानुवर्तमिति केचित्। योयोति। रोरवीत्यादिसिद्धये।

वोऽर्णो. ॥५।२।८८॥ उर्णोतेर्वा एब्भवति हलादौ पिति गे। प्रोर्णौमि। प्रोर्णोमि। प्रोर्णौषि। प्रोर्णोषि। प्रोर्णौति। प्रोर्णोति। हलीत्येव। प्रोर्णवानि। पितीत्येव। प्रोर्णुत.। पूर्वेण प्राप्ते विकल्प।

हल्येप् ॥५।२।८९॥ उर्णोतेर्हलि पिति गे एब्भवति। प्रौर्णोः। प्रौर्णोत्। पुनर्हल्ग्रहणं केवलार्थम्। हलादौ मा भूत्। वेति नाधिकृतम्।

तृणह इम् ॥५।२।९०॥ तृणह इत्येतस्य गोरिमागमो भवति हलादौ पिति गे परतः तृहिरागतश्नम्को गृह्यते। श्नमि कृते इमागमो यथा स्यादिति। तृणेक्षि। तृणेढि। हलीत्येव। तृणहानि। पितीत्येव। तृण्ढः। अतृणेडित्यत्र तिस्योः "हल्ङ्यापः" [४।३।५६] इत्यादिना खे कृते हलाद्यभावादिम् न प्राप्नोति। "त्यखे त्याश्रयम्" [१।१।६२] अपि न सम्भवति। वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयमिति। यथा गवे हितम् गोहितमित्यत्र अचीति वर्णाश्रये नास्त्यवादेशस्त्याश्रयः। नेद वर्णाश्रयं कार्यम्। किं तर्हि मिङाश्रयम्। मेङि हलादौ परतः। तस्य च त्यखे त्याश्रयमित्यत्रस्थानादिम्।

ब्रुव ईट् ॥५।२।९१॥ ब्रुव ईडागमो भवति हलि पिति गे। ब्रुव इति कानिर्देशात्परादिरीट्। ब्रवीति। ब्रवीतु। अब्रवीदित्यत्र व्यपदेशिवद्भावेन हलादित्वम्। हलीत्येव। ब्रवाणि। पितीत्येव। ब्रूतः। ग इत्येव। उवचिथ। इट बाधित्वा परत्वादीट् स्यात्। आत्थ इत्यत्र स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति "ब्रुव आहश्च" [२।४।७०] इति आहादेशः। सिपश्च थादेशः। "आहस्थः" [५।३।५२] इति हस्य थत्वम्। चर्त्वम्। नाथ लोपः। अलि विधिरयम्। "अनल्विधौ" [१।१।५६] इति प्रतिषेधः।

यङो वा ॥५।२।९२॥ यङन्ताद्वा ईट् भवति हलि पिति गे। अत्रापि यङ इति कानिर्देशात् परस्य तथा योगः। लालपीति। वावदीति। शाश्वसीति। चोक्रुशीति। "थस्य गे पित्यचि" [५।२।८५] इत्युङः छप्प्रतिषेधः। पक्षे लालप्ति। वावत्ति। शाश्वस्ति। चोक्रोष्टि। यङन्तात्परस्य हलादेः पितो गस्याभावाद्वचनाद्यङ्-अन्तस्य ग्रहणम्। इदमेव ज्ञापकं "यङोऽचि" [१।४।१४४] इत्यत्राविशेषेण यङ उब् भवति। "चर्करीतम्" इत्यादिषु पठितम्। तस्यादादिकार्यम्। "मम्" [१।२।७५] इति मविधिः। "चर्करीतम्" इति यङन्तस्य सञ्ज्ञा।

हल्यस्तेः ॥५।२।९३॥ हलि परतः अस्तेः स्यन्ताच्च ईड्भवति। अस्तिग्रहणं लङर्थम्। आसीत्। आसीः। स्यन्तात्। अकार्षीः। अलावीत्। अलावीः। पुनर्हल्ग्रहणं केवलार्थम्। इह मा भूत्। अस्ति। वेति नाधिकृतम्। नन्वभूदित्यत्र अस्तेः स्थानिवद्भावात्प्राप्नोति। अस्सेरिति विसकारको निर्देशः। तेन अस्तेः सकारान्तादीट्।

रुद्भ्योऽड्वाऽजक्षेः ॥५।२।९४॥ रुदादिभ्यो जक्षिपर्यन्तेभ्यः अट्वागमो भवति ईट्च हलि पिति गे। आजक्षेरित्याङभिविधौ द्रष्टव्यः। केवलहल्ग्रहणमनुवर्तते। अरोदत्। अरोदीत्। अस्वपत्। अस्वपीत्। अश्वसत्। अश्वसीत्। प्राणत्। प्राणीत्। अजक्षत्। अजक्षीत्। सर्वत्र लङ्। "णोऽनिते" [५।४।१०४] इति णत्वम्। आजक्षेरिति किम्? अजागर्भवान्। एपि रुत्वे च कृते "हल्ङ्या" [४।३।५६] आदिना खम्। "रुदादेर्गे" [५।१।१२५] इतीटि प्राप्ते तदपवादोऽयम्।

अदोऽट् ॥५।२।९५॥ अदः अट् भवति हलि पिति गे। आदः। आदत्। केवलहलीति किम्? आर्ति। पुनरट्ग्रहणमीसिनवृत्त्यर्थम्।

यज्यतो दीः ॥५।२।९६॥ यजादौ मिङि अकारान्तस्य गोर्दीर्भवति। "सूभवत्योर्मिङि" [५।२।८६] इत्यनुवर्तते। पचामि। पचाव। पचामि। पच्यावः। पच्याम। मिङीति किम्? धनवान्। केशवः। केशा अस्य सन्ति "केशाद्वो वा" [४।१।३५] इति वः। यजीति किम्? पचति। अत इति किम्? चिनुवः। गोरिति किम्? क्रीणीवः इत्यत्र मा भूत्। नन्वीत्वेनात्र भवितव्यम्। नैवम्। क्रीणीथः। ईत्वेन दीर्घत्वसमानीत्व दीत्वेन बाध्येत। यञीतीम्निर्देशादव्यवहितस्य गोरन्तस्य दीत्वम्।

सुपि ॥५।२।९७॥ अकारान्तस्य गोः यत्रादौ सुपि दीर्घो भवति। देवाय। देवाभ्याम्। यत्रीत्येव। देवस्य। इत्यतः प्रभृति आ सुपः पकारेण।

बहौ झल्येत् ॥५।२।९८॥ झलादौ बहौ सुपि परतः अकारान्तस्य गोरेकारादेशो भवति। देवेभ्यः। हाविति किम्? देवाभ्याम्। झलीति किम्? देवानाम्। "नामि" [४।४।३] इति दीत्वम् अग्नीयूनामित्यत्र सावकाशम्, इहापति झल्ग्रहणे परत्वादेत्वं स्यात्। यत्रीत्यस्य निवृत्त्यर्थं च झल्ग्रहणम्। देवेष्विति न स्यात्। अत इत्येव। अग्निभ्यः। तपरकरणं किम्? खट्वाभ्यः। सुपीत्येव। पचध्वम्।

ओसि ॥५।२।९९॥ ओसि च परतः अकारान्तस्य गोरेकारादेशो भवति। देवयोः स्वम्। देवयोर्निधेहि।

आङि चापः ॥५।२।१००॥ आङि ओसि च परतः आबन्तस्य गोरेकारादेशो भवति। आङिति टाप्। म्। विद्यया। विद्ययोः। बहुराजया। बहुराजयोः। "अनश्च वात्" [३।१।१०]। "वोट् से"] इति डाप्। आङिति टारूपस्य ग्रहणं पूर्वाचार्यसञ्ज्ञानिर्देशेन। आप इति पिद्ग्रहणं किम्? नरेण। कीलालपोः। विच्यामतनिवृत्ते "आतो धो" [४।४।१२७] इति खम। अयातिखट्वेनेत्यत्र चः" [१।१।८] इति प्रादेशे कृते स्थानिवद्भावादेत्वं कस्मान्न भवति? उच्यते "हल्ङ्याप" [४।३।५६] हल्ङ्यापो य इति योगविभागस्तस्यार्थो ङ्यापोर्यत्कार्यं तद्दीत्वभाजोरेव। ननु दीत्वमपि स्थानिवद्भावा। "ङ्यापोर्दीत्वं न स्थानिवत्" [वा०] इति प्रतिषेधः।

कौ ॥५।२।१०१॥ कौ च परतः आप एत्वं भवति। हे कन्ये। हे बहुराजे। "केरेङः" [४।३।५७] त्वम्।

ोऽम्वार्थस्वोः ॥५।२।१०२॥ अम्बार्थवाचकानां मुसञ्ज्ञस्य च प्रो भवति कौ परतः। अम्बार्थाः र्यायाः। हे अम्ब। हे अक्क। हे अल्ल। हे अत्त। मुसञ्ज्ञकस्य। हे गोरि। हे वामोरु। "यडो वा" इत्यतः मण्डूकप्लुत्या बहुलार्थो वाशब्दोऽत्र वर्तते। तेन बह्वचोऽम्बार्थस्य प्रो न भवति। हे हे अम्बिके। हे अम्बाटे। "तलन्तस्य ङिक्योरुभयम्" [वा०]। देवते भक्तिः। देवतायां भक्तिः। हे देवते। छान्दसमेतदिति केचित्। "वसे कौ मातुरदन्तत्वं पुत्रश्लाघायाम्" [वा०]। गार्गी माता ाघते। हे गार्गीमात। श्लाघाया अन्यत्र। हे गार्गीमातृक। "जातिश्च" [४।३।१५२] इति ः।

ास्येप् ॥५।२।१०३॥ प्रान्तस्य गोरैप् भवति कौ परतः। हे मुने। हे साधो। "अन्तेऽल" इति न्यायादनन्त्यस्य न भवति। हे बुध (बुध)। हे नदि। हे वधु। इत्यत्र प्रादेशवचनसामर्थ्या ति।

सि ॥५।२।१०४॥ जसि परतः प्रान्तस्य गोरैप् भवति। मुनयः। साधवः। "अन्तेऽल" [१।१।४९] स्या अनन्तस्यैप् न भवति बुधा इति।

ृतो ङिघे ॥५।२।१०५॥ ऋकारान्तस्य गोः ङौ घसञ्ज्ञके च परतः एप् भवति। मातरि। पितरि। । मातरौ। मातरः। मातरम्। मातरौ। पितरः। तपरकरणमसन्देहार्थम्। कृरिति ॠकारान्त न्निवृत्त्यर्थम्।

र्ङिति ॥५।२।१०६॥ स्यन्तस्य गोर्ङिति एप् भवति। मुनये। साधवे। मुने। साधोः। सोर्ङिति ये। पत्ये। असखीति पर्युदासात् 'पति से" [१।२।९८] इति नियमाच्च मुसञ्ज्ञा नास्ति। ङित्वाभ्याम। सुपीत्येव। पट्वी। कुरुत। दीतमोर्ङितोरपि मा भूत्। इकारश्चासाविच्च ङित् तस्मिन् इदं कार्यम्। तेन बुद्ध्यै धेन्वै। इत्येप् (न) व्यवधाने। आटि औटि च न भवति। मता। ।

अण् मोः ॥५।२।१०७॥ म्वन्तादोः परस्य ङितोऽडागमो भवति। मोरित्यकृतार्थः कानिर्देशो ङितीत्यस्य ता प्रकल्पयति। कुमार्यै। वामोर्वै। कुमार्याः। वामोर्वाः। परेण सह "अटश्च" [४।३।७८] इत्यैत्वम्। वचनात् "एप्यतोऽपदे" [४।३।८४] इति पररूपं न भवति।

याडापः ॥५।२।१०८॥ आबन्तादुत्तरस्य ङितो याडागमो भवति। विद्यायै। बहुराजायै। विद्यायाः। "एच्यैप्" [४।३।७६] "स्वेको दी." [४।३।८८] इति दीत्वं वा। ङ्याम्ग्रहणेन दीत्वं न स्थानिवद्दिति। अतिखट्वाय। पुनर्दीत्वे लाक्षणिकत्वम्।

सर्वनाम्नः स्याट् प्रश्च ॥५।२।१०९॥ आबन्तात् सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याडागमो भवति प्रश्च भवत्यापः। सर्वस्यै। यस्यै। तस्यै। कस्यै। सर्वस्याः। यस्याः। तस्याः। एच्यैप् स्वेको दीत्वे। आप इत्येव। भवत्यै। भवत्याः।

ङेराम् म्वाम्नीभ्यः ॥५।२।११०॥ "ग्रे लिप्सायाम्" [२।३।४२] इति निर्देशात् ङेरिति ङिवचनस्य ग्रहणम्। ङेरामादेशो भवति म्वन्तादाबन्तान्नी इत्येतस्माच्च परस्य। कुमार्याम्। वामोर्वाम्। विद्यायाम। बहुराजायाम्। ग्रामण्याम। सेनान्याम्। "सत्सूद्विष" [२।२।५६] इत्यादिना क्विप्। "अग्रग्रामाभ्यां नियो णत्वम्" [वा०]। "एगिवाक्चादुङोऽसुधियः" [४।४।७८] इति यत्वम्। अथ ङेरामः नुट् कस्मान्न भवति। पररूपाडाटा-दिभिरागमैर्भवितव्यम्। कृतेष्वपि "सकृद्गते परनिर्णये बाधितो बाधित एव" [प०]। ङ्याप्योर्दीत्वभाजोः कार्यमुक्तम्" (ङ्याप) "ग्रहणे दीत्वं न स्थानिवत्" इति च। तेन निष्कौशाम्बौ। अतिखट्वे निर्वेहि।

इदुद्भ्याम् ॥५।२।१११॥ इकारोकाराभ्यां मुसञ्ज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम् भवति। बुद्ध्याम्। धेन्वाम्। ननु पूर्वेणैवाम् सिद्धोऽपार्थकमिदम्। "औदच्च सो." [५।२।११२] इत्यौत्वं स्यात् तच्चाविशेषेण वक्ष्यति। मुग्रहणमिहानुवर्तते तेनेदुतौ विशेष्येते।

औदच्च सोः ॥५।२।११२॥ अमुसञ्ज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेरौकारादेशो भवति सोश्चाकारादेशः। सख्यौ। पत्यौ। सो मुनौ। साधौ। प्रधानशिष्टमिदुद्भ्यामौत्वम्। अन्वाचयशिष्टं सोरत्वम्। यथा भिक्षां चर गां चानय। गोनयनम्। शास्त्रेऽपि "कर्तुः क्यङ् सखं विभाषा" [२।१।६] इति अन्वाचयशिष्टं सखम्। तपरकरणं मुखसुखार्थम्। अत्वे कृते स्त्रिया टापो निवृत्त्यर्थमित्यन्ये। टापि को दोष इति चेत्, औकारस्य [illegible] आटो ग्रहणादामादेशयाडागमौ स्याताम्। तदसत्। प्रागेव सुबुत्पत्तेः स्त्रीत्येन भाव्यम् अन्यथा मातेत्यत्र [illegible] टीविधिः स्यात्।

आङो नाऽस्त्रियाम् ॥५।२।११३॥ सोरिति वर्तमानमर्थात् काविभक्त्यन्तं सम्पद्यते। सोरुत्तरस्याङः [illegible] भवत्यस्त्रियाम्। मुनिना। साधुना। सोरित्येव। सख्या। पत्या। अस्त्रियामिति किम्? बुद्ध्या। धेन्वा। आङो ना पुंसीति कर्तव्यम्। त्रपुणा। जानुनेत्यादि। "सुपीकोऽचि" [५।१।५२] इति नुमैव [illegible]। नपुंसके अमुना कुलेनेति न सिद्ध्येत्। मुभावस्यासिद्धत्वान्नुम्न स्यात्। अस्त्रियामित्युच्यमाने नपुंसकेऽपि नाभावो भवति। ततश्च "न मु टाविधौ" [५।२।२६] इति नाभावे मुभावस्य नासिद्धत्वम्।

सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्टः ॥५।२।११४॥ सूत्रेऽस्मिन् जैनेन्द्रेषु यो विधिः सुपि च विधिरिष्टो [illegible] शब्दो द्रष्टव्यः। उदाहरणम्—"स्त्रीगोर्नीचः" [१।१।८] स्त्रीगूनामिति प्राप्त सुविधिरयम्। "[illegible]" [१।४।७४]। हलङ्यादिना सुप् प्राप्तम्। सुपो विधिरयम्। अथ वितिं हलन्तात् कथं टाप्। [illegible] पकारेण सुपो ग्रहणात्।

णो [illegible] प्रोऽशास्वकस्यादितः ॥५।२।११५॥ णो परतः कस्परे गोरुङ् भवति शासु [illegible] वर्जयित्वा। अनीकरत्। अजीहरत्। अत्र "णिश्रिद्रुस्रु" [२।१।४३] इत्यादिना कचि [illegible] प्रादेशः। तत्र कृते "ओः पुयण्ज्ये" [५।२।१७८] इति

ज्ञापकात् णौ कृत स्थानिवद्भवति। अथ वा "द्विर्वेऽचि" [१।१।५९] इति स्थानिवद्भावः। कुहृशब्दयोर्द्वित्वम्। "घौ कच्यनङ्खे सन्वत्" [५।२।१६०] इति सन्वद्भावेनेत्वम्। "वेदीः" [५।२।१५१] इति दीर्घमेव–अलीलवत्। अपीपवत्। "ओः पुयण्ज्ये" [५।२।१७८] इति उकारस्येत्वम्। अथवा ओणृ अपनयने इत्यस्य प्रतिषेधार्थम्। ऋदित्करण ज्ञापक द्वित्वात्पूर्वं प्रादेश इति। अन्यथा मा ओणिणदित्यत्र द्वित्वे कृते परेण रूपेण व्यवधानात् प्रादेशस्याप्राप्तिः। अत एव मा भवानटिटत् अत्र प्रादेशे सति "अचः" [४।३।२] इति द्वित्वम्। णाविति किम्? कच्युङः प्र इत्युच्यमाने अलीलवदित्यत्र प्रादेशो वचनसामर्थ्यादन्तरङ्गमैपमावादेश बाधित्वा नित्यत्वेन णेः ख च बाधित्वा वकारस्य स्यात। इह चापीपचदपीपठदिति अनुङ्भूतत्वात् प्रो न स्यात्। किम्? कारयति। हारयति। ननु मिता णौ प्रादेशवचन ज्ञापकमन्यत्र प्रादेशाभावस्य। यद्येवमचीकरदित्यादावपि न स्यात्। अथ प्रवचनाद् भवति। कारयतीत्यादावपि स्यात्तद्विशेषहेत्वभावात्। उङः इति किम्? अचकाङ्क्षत्। अनुङ आकारस्य मा भूत्। अग्लास्वरव्यृदित इति किम्? अशशासत्। परस्य येरभावान्न सन्वद्भाव। अक्षः खम् अक्षखम् अक्षखमस्यास्तीति अक्खी तस्य नेति। राजानमत्याख्यत् अत्यरराजत्। "तत्करोति तदाचष्टे" इति णिच्। यत्र केवलस्याचः ख तत्र "परेऽचः पूर्वविधौ" [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावः। हलचोश्चायमादेशः। तदर्थमक्लिवप्रतिषेधः। ननु च अनकोरिट ख कथमनक खम्। यदनाकः ख तदाश्रयः प्रतिषेधः। स्थानिवद्भावस्तु नास्याश्रयः। ताविकारस्तत्रानुवर्तते। तानिर्दिष्टस्याचः स्थानिवद्भावो न समुदायरूपेण टिखस्य। ऋदित्। अडुढौकत्। अतुत्रौकत्। इह कथ एयन्तािण्णचि प्रादेशः। वादितवन्त प्रयोजितवान् अवीवदद्वीणा परिवादकेन। णौ णिखस्य स्थानिवद्भावादनुङो न स्यात्। णावित्यत्र जातिग्रहणाददोषः।

भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडो वा ॥५।२।११६॥ भ्राज भास भाष दीप जीव मील पीड इत्येतेषां कच्परे णौ उङः वा प्रो भवति। अबभ्राजत्। अविभ्रजत्। अबभासत्। अबीभसत्। अबभाषत्। अबीभषत्। अदिदीपत्। अदीदिपत्। अजिजीवत्। अजीजिवत्। अमीमिलत्। अमिमीलत्। अपिपीडत्। अपीपिडत्। पूर्वसूत्रेण प्रादेशे प्राप्ते विकल्पः। यदा प्रः तदा पूर्ववत्सन्वद्भावेनेत्व वेदीत्वम्। वेति योगविभागात् कणादीनां विकल्पः। अचकाणत्। अचीकणत्। अबभाणत्। अबीभणत् इत्यादि। भ्राजग्रहण किम्? यावता फणादिषु भ्राज इत्यनृकारेऽस्ति तस्य सिद्धः प्रः। एजृ भेजृ भ्राजृ दीप्तावस्य ऋदितो नेति सिद्धमुभयम्। एव तर्हि ज्ञापकार्थम्। अन्यत्र "यजराजभ्राजच्छ्रस्जः षः" [५।३।५२] इत्यादौ भ्राजग्रहणेन राजिसहचरितस्य अनृदितो ग्रहणम्। ऋदितो भ्राशिति भवति। भास ऋदित्करणमनर्थकम्

खं पिबश्चस्येत् ॥५।२।११७॥ पिबतेरुङः णौ कच्परे ख भवति चस्य च ईकारादेशः। अपीप्यत्। अपीप्यताम्। अपीप्यन्। उङः खे कृते "द्विर्वेऽचि" [१।१।५९] इति स्थानिवद्भावाद्द्वित्वम्। पिब इति शब्विकरणान्तो विकृतनिर्देशः। पिबतेरेकदेशो यङ्बन्तनिवृत्त्यर्थ। अपपायत्। येरभावात्सन्वद्भावो न भवति। पातेरुविकरणत्वात् "पै ओवै शोषणे" इत्यस्य च लाक्षणिकत्वादेव निवृत्तिः।

स्थ इत् ॥५।२।११८॥ तिष्ठतेः कच्परे णावुङ इकारादेशो भवति। अतिष्ठिपत्। अतिष्ठिपताम्। अतिष्ठिपन्। "लुङ्लिटो प्रतिपदोक्तानि" इत्यादि वचनायङ्बन्तस्य न भवति। अततास्थपत्। ता स्था इति स्थिते णिचि पुक् कचि द्वित्व येरभावात् सन्वद्भावो नास्ति।

घ्रो वा ॥५।२।११९॥ जिघ्रतेः कच्परे णावुङ इकारादेशो भवति वा। अजिघ्रिपत्। अजिघ्रिपताम्। अजिघ्रिपन्। अजिघ्रपत्। अजिघ्रपताम्। अजिघ्रपन्। चस्य सन्वद्भावेनेत्वम्। अत्रापि यङ्बन्तस्य न भवति। अजाघ्रपत्। उभयोर्विकल्पयोर्म ये योगा नित्या इति पूर्वा प्राप्ताविदौ नित्यौ।

उर्ऋत् ॥५।२।१२०॥ कच्यरे णौ ऋवर्णस्य उङः स्थाने ऋकारादेशो भवति वा। अनवकाशत्वादन्तरङ्गाणाम् इरगरामपवादः। न्यचीकृतत्। अवीवृतत्। अमीमृजत्। पक्षे इर्। अचकीर्तत्। अर्। अववर्तत्। आर्। अममार्जत्। "उङः" [५।१।७५] इति ऋकारस्येत्वम्। "ध्युङः" [५।२।८३] एप्। "मृजेरैप्" [५।२।१]। ऋकारादेशस्य "रन्तोऽणुः" [१।१।४८] इति रन्तत्वं भवति। "अणुदित्स्वस्या-" [१।१।७२] इतीम माहकारा मुक्त्वा सर्वमण्ग्रहणं पूर्वेण णकारेणेति व्याख्यानात्।

देङो दिगि लिटि ॥५।२।१२१॥ देङो दिग्यादेशो भवति लिटि परतः। वेति निवृत्तम्। अवदिग्ये। अवदिग्याते। अवदिग्यिरे। चस्येत्यनुवर्तते। वचनाद्द्वित्वे कृते चस्य देङश्च यथासङ्ख्यं दिगी आदेशौ भवत.। "णेर्गिवाक्चादुङोऽनुधिय" [४।४।७८] इति यणादेशः सिद्धोऽन्यथा हीयादेशः स्यात्।

ऋतः स्फादेरेप् ॥५।२।१२२॥ ऋकारान्तस्य गोः स्फादेरेप् भवति लिटि परतः। सस्मरतुः। सस्मरुः। दध्वरतु। दध्वरुः। वचनात्प्राग्द्वित्वात्स्फादेरिति विशेषणम्। अन्यथा स्फादित्वासम्भवः। प्रतिषेधविषये लिटीदमारभ्यते। सस्मरेत्यादौ ऐप् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन। ऋत इति किम्? चिक्षिपतुः। चिक्षिपुः। तपरकरणमन्त्यार्थम्। ऋकारस्याप्युत्तरसूत्रेण विधानात्। स्फादेरिति किम्? चक्रतुः। चक्रुः। लिटीत्येव। स्मृत.। स्मृतवान्। ननु सचस्करतु.। सचस्करुरित्यत्र द्विपदाश्रयत्व सुटो बहिरङ्गलक्षणस्यासिद्धत्वात्कथमेप्। नैष दोषः। "पूर्वं धुगिना युज्यते परचात्साधनवाचिना त्येन" [प०] इत्यस्मिन् दर्शनेऽन्तरङ्गे सुटि कृते पश्चादेप्। अतएव "स्फात्तोऽसुट. [५।१।६१]। "स्फाद्यर्त्योरस्कुरेप्" [५।२।१३८] इति प्रतिषेध उपपन्नो भवति।

ऋच्छत्यॄताम् ॥५।२।१२३॥ ऋच्छत ऋ इत्येतस्य ॠकारान्ताना च लिटि एप् भवति। आनर्च्छ। आनर्च्छतु। आनर्च्छुः। एप् द्वित्वम्। "आयतः" [५।२।१७०] इति दीत्वम्। "ततो नुट्" [५।२।१७१] इति नुट्। ऋ। आरतु.। आरुः। "अश्नोतेः" [५।२।१७२] इति नियमान्नुण् न भवति। ॠत्। विचकरतु विचकरु। निजगरतु। निजगरु। वितस्तरतु। वितस्तरुः। ऋच्छेरन्तरङ्गत्वात् "क्ङे" [४।३।६१] इति गुणे कृते सर्वानाप्तः ॠता तु लिटि क्ङिति प्रतिषिद्ध एब्विधीयते। निजगारेत्यादावैप् पूर्वनिर्णयेन।

शृदृप्रां प्रो वा ॥५।२।१२४॥ शृ दृ पृ इत्येषा लिटि वा प्रो भवति। विशश्रतुः। विशश्रुः। पक्षे पूर्वेणैप्। विशशरतुः। विशशरुः। विदद्रतुः। विदद्रुः। विददरतुः। विददरुः। निपप्रतुः। निपप्रुः। निपपरतु। निपपर.। प्रादेशवचनादित्वोत्वे न भवतः। ये तु श्रा पाके, द्रा कुत्साया गतौ, द्रा पूरणे इत्येतेषामनेकार्थत्वात् पक्षे प्रयोगादनर्थकमिदमिति मन्यन्ते तेषा प्रतिपत्तिगौरव स्यात्।

केऽण. ॥५।२।१२५॥ के परतोऽण' प्रो भवति। नदिका। कुमारिका। वामोरुका। कुत्साद्यर्थविवक्षायाम् "कुत्सने" [४।१।१२६] इति क। "स्वार्थिकाः प्रकृतिलिङ्गसङ्ख्ये अनुवर्तन्ते" [प०] इति टाप्। क इति ना निर्देशस्य कारणम्। वर्णग्रहणे तदादिविधिः स्यात्। ततश्च नदीकल्पः परीवाहः। कुमारी काम्यतीत्यत्रापि स्यात्। नया इति विन्। गोका। नौका। पूर्वेण णकारेणाण् व्याख्यातः। राका काक इत्यादिषु "उणादयो बहुलम्" [२।२।१६७] इति न भवति "कृदाधारार्चिकलिभ्यः क·" [उ० सू०] "इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्य. क" [उ० सू०] इति वचने क। "न कपि" [५।२।१२६] इति प्रतिषेधादिहानुबन्धकपरिभाषा नाश्रीयते। तेन शिवकः। तथा "सोऽर्हति ट्य्" [३।२।६५] तदादेशे के सानुबन्धकेऽपि प्रादेश. सिद्धो भवति। नैयाद्यकृतो।

न कपि ॥५।२।१२६॥ कपि परतोऽण प्रो न भवति। बहुकुमारीक.। बहुवामोरूक.। "ऋन्मोः" [४।२।१५२] इति बहुव्रीहौ कप्। स्पर्शं प्रीत स्पारीकम्। कार्ष्णीकम्। "खारीकार्कणीभ्या कप्" [३।४।३०]।

दाऽऽप ॥५।२।१२७॥ कपि परत आबन्तस्य वा प्रो भवति। बहुखट्वकः। बहुखट्वाकः। बहुदा बहुदाकः। "शेषाद्वा" [४।२।१५४] इति कप्।

श्व्यस्पद्वचोऽयुक्पुमुमोऽङि ॥५।२।१२८॥ श्वि असि पति वचि इत्येषामङि परतः अकार थुक् पुम् उम् इत्येते यथासङ्ख्यं भवन्ति । अकार आदेशः थुगादय आगमाः । अश्वत् । "जूश्वि" [२।१।५०] इत्यादिनाङ् । "अन्तेऽलः" [१।१।४९] स्थाने अकारस्तस्य पररूपम् । आस्थत् । आस्थताम् । आस्थन् । "वक्त्यसुख्यातेरङ्" [२।१।४५] । "अदश्च" [४।३।७८] इत्यैप् । अपप्तत् । अपप्तताम् । अपप्तन् । "द्युत्पुषा" [२।१।४८] आदिनाऽङ् । अवोचत् । अवोचताम् । अवोचन् । "आदैप्" [४।३।७५] ।

दृशुरेप् ॥५।२।१२९॥ दृशि इत्येतस्य गोः ऋवर्णान्तानां च अङि परतः एप् भवति । अदर्शत् । अदर्शताम् । अदर्शन् । "वेरितः" [२।१।४९] इत्यङ् । आरत् । असरत् । "द्युत्पुषा" [२।१।४८] आदिना अङ् । अजरत् । अजरताम् । अजरन् । "जूश्वि" [२।१।५०] इत्यादिनाङ् । जॄ· पित्करणमर्थम् । "जराया वा" [५।१।१६०] इति वचनं ज्ञापकमुरिति ऋवर्णनिर्देशस्य ।

शीङो गे ॥५।२।१३०॥ शीङो गे परतः एप् भवति । शेते । शयाते । शेरते । टिति गे विधानमिदम् । शयावहै । शयामहै इत्यत्र सिद्धत्वात् । ग इति किम् ? शिश्ये । सानुबन्धकनिर्देशो यङ्लुगन्तनिवृत्त्यर्थः । शेशीतः । शेश्यति ।

यि क्ङित्यय‌ङ् ॥५।२।१३१॥ यकारादौ क्ङिति त्ये परतः शीङः अयङादेशो भवति । शय्यते । शाशय्यते । यङि परत्वेन च द्वित्वात्प्रागयङादेशः । ङकारो "ङित्" [१।१।५०] इत्यन्तादेशार्थं । अकार· उच्चारणार्थः । शय्या । "समजनिषद" [२।३।८१] इत्यादिना क्यप् । प्रशय्य । क्त्वान्तम् । यीति किम् ? शिश्ये । क्ङितीति किम् ? शेयम् ।

गेरूहः प्रः ॥५।२।१३२॥ गेः परस्य ऊहतेः प्रो भवति यकारादौ क्ङिति परत· । अभ्युह्यते । समुह्यते । "अचश्च" [१।१।१२] इत्युपस्थानादूहेरच· प्रादेशः । गेरिति किम् ? ऊह्यते । ऊह इति किम् ? समीह्यते । यीत्येव । समूहितम् । क्ङित्येव । अभ्यूह्यः श्लोकः । "केऽणः" [५।२।१२५] इत्यतोऽण्ग्रहणमनुवर्तते । तेन आ ऊह्यते ओह्यते । समोह्यते इत्यत्र न भवति । प्रोह्यत इत्येकादेशे कृते व्यपवर्गाभावान्न भवति । तद्वद्भावेन व्यपवर्ग इति चेत् "उभयत आश्रये न तद्वद्भावः" [प०] इति गेः परत्व नास्ति ।

लिग्यङ्तेः ॥५।२।१३३॥ एतेर्गेरुत्तरस्य लिङि यकारादौ क्ङिति प्रो भवति । उदियात् । समियात् । आशिषि लिङ् । यासुट् । "स्फादेः स्कोऽन्ते च" [५।३।४६] इति सखम् । "दीरक्रुद्गे" [५।२।१३४] इति दीत्वम् । तस्यानेन प्रः । कृति गे च दीत्वं न सम्भवति । न गे उदाहरणम् । अभियादित्यत्र स्वेको दीत्वे कृते प्रादेशः । गेरित्येव । ईयात् । अण इत्येव । आ ईयात् एयात् । समेयात् । निपा निर्देशो असन्देहार्थं ।

दीरक्रुद्गे ॥५।२।१३४॥ अकृद्यकारे अगयकारे च क्ङिति गोर्दीर्भवति । "अचश्च" [१।१।१२] इत्युपस्थानादचा विशेषणेन तदन्तविधि· । परिदत्तायते । चीयते । चेचीयते । स्तूयते । तोष्टूयते । चीयात् । स्तूयात् । आशिषि लिङ् । अकृदिति किम् ? प्रकृत्य । प्रस्तुत्य । परत्वाद्दीत्वे तुग्न स्यात् । अग इति किम् ? चिनुयात् । स्तुयात् ।

च्वौ ॥५।२।१३५॥ च्वौ च त्ये परतः गोर्दीर्भवति । शुचीभवति । पटूभवति । "कृभ्वस्तियोगेऽभूततद्भावे सम्पत्तरि च्वि·" [४।२।५५] इति च्विः । अव्ययवनिवृत्तिः । "त्यग्ये त्याश्रयम्" [१।१।६३] इत्यनन्तरं दीत्वम् ।

रीङ्तः ॥५।२।१३६॥ ऋकारान्तस्य गोः च्वौ अकृद्यकारे अगयकारे च परत· रीङादेशो भवति । मात्रीभवति । पित्रीभवति । मात्रीयति । पित्रीयति । "स्वेप क्यच्" [२।१।६] । मात्रीयते । [illegible] । "कर्तुः क्यङ् सस्य विभाषा" [२।१।९] इति क्यङ् । चेक्रीयते । जेह्रीयते । [illegible] । तेन [illegible] । पितुरागतम् "पितुर्यश्च" [३।३।५३] ये रीङादेशः सन्निपातलक्षणत्वादनित्यत्वात् "यस्य ङ्यां च" [४।४।१३४]

इति रम्। उत्तरसूत्रे रिङिहैव कर्त्तव्यः। तस्य दीत्वेन सिद्धमिति चेत्, "गुकार्ये निवृत्ते पुनर्न तन्निमित्तम्" [प०] इति दीत्व न स्यात्। ऋत इति तपरकरणं किम्? कीर्यते। अन्यथा कीर्णमित्यादौ सावकाशम् ऋत इत्व दीत्व बाध्येत। उत्तरार्थमकृद्गे यि इत्येतदनुवर्तत इति ज्ञापनार्थं तपरकरणम्। अन्यथा अनन्तरे च्वाविवाय विधिः स्यात्। न च मृदन्त ऋकारो निवर्त्योऽस्तीत्यनर्थक भवेत्।

रिङ्यग्लिङ्क्षे ॥५।२।१२७॥ ऋकारान्तस्य गोर्यक् लिङ् श इत्येतेषु परतः रिङादेशो भवति। यीति अकृद्गे इति चानुवर्तमान सम्भवाद्व्यभिचाराच्च लिङ एव विशेषणम्। यकारादावगे द्रष्टव्यम्। यक्—क्रियते। ह्रियते। लिङ्—क्रियात्। ह्रियात्। यीत्येव। कृषीष्ट। हृषीष्ट। अग इत्येव। चिभ्रृयात्। विध्यादिलिङ्यम्। शे—आद्रियते। "श्नुधुभ्रुवाम्" [४।४।७२] इति यादेशः। ऋत इति तपरकरणं किम्? किरति। गिरति। दीङिति वर्तमाने रिङ्ग्रहणं पुनर्दीत्वनिवृत्त्यर्थम्।

स्फाद्यर्त्योरस्कुरेप् ॥५।२।१२८॥ स्फादेरर्तेश्च ऋतो यकि लिङि यकारादावगे च परतः एप् भवति स्कुशब्द वर्जयित्वा। श इत्यसम्भवान्नोक्तम्। स्मर्यते। स्मर्यात्। ध्वर्यते। ध्वर्यात्। अर्यते। अर्यात्। यासुटः "स्फादेः स्कोऽन्ते च" [५।३।४६] इति सत्वम्। यीत्येव। स्मृषीष्ट। अग इत्येव। इयृयात्। विध्यादिलिङ्। नाप उप्। द्वित्वम्। "उरः" [५।२।१६६] इत्यत्वम्। "प्रोः" [५।२।१७६] इति चस्येत्वम्। "चस्यास्वे" [४।४।७३] इतीय्। अस्कुरिति किम्? सस्क्रियते। "पूर्वं धुगिना युज्यते पश्चात् साधनवाचिना त्येन" [प०] इति पूर्वं सुटि सति प्राप्नोति। अर्तिरिति ऋच्छतीयर्त्योर्ग्रहणम्।

यङि ॥५।२।१२९॥ यङि च परतः स्फादेरर्तेश्च ऋत एप् भवति। सास्मर्यते। दाध्वर्यते। अरार्यते। अर्तेर्यङ् एप्। "अच" [४।३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वम्। "हलोऽनादेः" [५।२।१६१] इति खम्। "दीरकृद् गे" [५।२।१२४] इति दीत्वम्। "हन्तेर्हिंसायां घ्नीभावो वक्तव्यः" [वा०]। जेघ्नीयते। हिंसाया-मिति किम्? गतो जङ्घन्यते।

ई घ्राध्मोः ॥५।२।१४०॥ घ्रा ध्मा इत्येतयोर्यङि परतः ईकारादेशो भवति। जेघ्रीयते। देध्मीयते। नित्यत्वेन परत्वेन च प्राग् द्वित्वादीकारः। ईकारस्य दीत्व किम्? गुकार्यत्वात्पुनर्न स्यात्। उत्तरार्थञ्च।

अस्य च्वौ ॥५।२।१४१॥ अवर्णान्तस्य गोः च्वौ परत ईकारादेशो भवति। शुक्लीभवति। माली-भवति। "च्वौ" [५।२।१२५] इति दीत्वस्यायमपवादः।

क्यचि ॥५।२।१४२॥ क्यचि परतः अवर्णान्तस्य गोरीकारादेशो भवति। पटीयति। मालीयति। "दीरकृद्गे" [५।२।१२४] इति दीत्व प्राप्तम्। पृथक् सूत्रमुत्तरार्थम्।

क्षुत्तृड्गर्धेऽशनायोदन्यधनायाः ॥५।२।१४३॥ क्षुत् तृड् गर्ध इत्येतेष्वर्थेषु अशनाय उदन्य धनाय इत्येते शब्दा निपात्यन्ते। अशनायतीत्यात्व क्यचि निपात्यते क्षुच्चेद्गम्यते। अशनीयत्यन्यत्र। उदन्यतीत्यत्र उदकस्योदभावो निपात्यते तृट् चेत्। उदकीयतीत्यन्यत्र। धनायतीत्यात्व निपात्यते गर्द्धश्चेत्। धनीयतीत्यन्यत्र।

द्यतिस्यतिमास्थां ति कितीत् ॥५।२।१४४॥ द्यति स्यति मा स्था इत्येतेषां तकारादौ किति परत इकारादेशो भवति। निर्दितः। निर्दितवान्। अवसितः। अवसितवान्। मितः। मितवान्। "गामादाग्रहणे-ष्वविशेष" [प०] इति मामाङ्मेङां ग्रहणम्। स्थितः। स्थितवान्। आन्त्यस्य "दो दद्घोः" [५।२।१४८] इति प्राप्ते "सुमास्था" [४।४।६५] आदिना सूत्रेणान्येषामीत्वे च प्राप्ते इत्ववचनम्। तीति किम्? दीयते। [illegible]। कितीति किम्? अवदाता। अवसाता। द्यतिस्यत्योस्तिपा निर्देशो यङ्लुगन्तनिवृत्त्यर्थः। निर्दादत्तः। [illegible]। [illegible]। [illegible]। दद्भाव ईत्व च भवति। तपरकरणं सुखार्थम्।

शाच्छोर्विभाषा ॥५।२।१४५॥ शा छा इत्येतयोर्विभाषया इकारादेशो भवति तकारादौ किति परतः। [illegible]। [illegible]। निशातः। निशातवान्। अवच्छितः। अवच्छितवान्। अवच्छातः। अवच्छातवान्।

व्यवस्थितविभाषेयम्। तेन श्यतेरित्व व्रतविषये नित्यमिष्यते। संशितव्रतः साधुः। संशितं यत्नेन सम्यक्सम्पादितं व्रतं यस्य येन वा स एवमुक्तः। संशितः साधुरित्यपि भवति। यः प्रकरणादिना व्रते यत्नवान् गम्यते।

धाञो हि ॥५।२।१४६॥ धाञः हिरित्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः। हितः। हितवान्। अनेकाल्त्वात् सर्वस्य स्थाने "घुमास्था" [४।४।६५] आदिनेत्वे प्राप्ते हिरादेशः। अनुबन्धनिर्देशो यङ्लुगन्त-निवृत्त्यर्थः। देधीतः। देधीतवान्। धेटो लाक्षणिकत्वान्निवृत्तिः।

हाकः क्त्वि ॥५।२।१४७॥ हाकः क्त्वाप्रत्यये परतः हिरादेशो भवति। हित्वा गतः। हित्वा गच्छति कर्माणि। मोक्षम्। पूर्ववदीत्वे प्राप्ते हिरादेशः। अनुबन्धनिर्देशस्तु हाङो निवृत्त्यर्थः। यङ्लुगन्तनिवृत्त्यर्थश्च। ईत्वमपि यङ्लुगन्तस्य नेष्यते। क्त्वीति सौत्रो निर्देशः।

दो दद्घोः ॥५।२।१४८॥ दा इत्येतस्य घुसञ्ज्ञकस्य दद् इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः। दत्तः। दत्तवान्। दत्त्वा। दत्तिः। द इति किम्? धीतः। धीतवान्। धेट इदं रूपम्। धाञो हिरादेश उक्तः। घोरिति किम्? दातम् बर्हिः। ते आदेशे सुदत्तमित्यत्र "दस्ति" [४।३।२२५] इत्यनेन इगन्तस्य गेर्दीत्वं स्यात्। दान्तो "द्रान्तस्य तो नः" [५।३।५६] इति नत्वम्। धान्ते "तथोर्धोऽधः" [५।३।७६] इति झपः परस्य धत्वम्। थान्ते नास्ति दोषः। तान्तो वास्तु। "दस्ति" [४।३।२२५] इत्यत्र द्वौ पक्षौ। दा इत्येतस्मिन्तकारादौ तकारान्ते वा दीत्वम्। तत्र तकारादौ नास्ति दोषः। थान्तपक्षे "खरि" [५।४।१३०] इति चर्त्वम्।

गेस्तोऽचः ॥५।२।१४९॥ अजन्ताद्गेरुत्तरस्य दा इत्येतस्य घुसञ्ज्ञकस्य त इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति परतः। नीत्तम्। वीत्तम्। परीत्तम्। प्रत्तम्। अवत्तम्। "अन्तेऽल." [१।१।४६] इत्याकारस्य तकारः। अकार उच्चारणः। दकारस्य चर्त्वम्। गेरिति कानिर्देशात् "परस्यादे" [१।१।५१] इति चेददोषोऽयम्। "अस्य च्वौ" [५।२।१४१] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या अवर्णस्येति वर्तते। तेनाकारस्य भविष्यति। द्वितकारको वा निर्देशोऽनेकाल्त्वात् सर्वस्य स्थाने भवति। गेरिति किम्? दधि दत्तम्। अच इति किम्? संदत्तम्। द इत्येव। निधीता गौर्वत्सेन। घोरित्येव। अवदात्तं मुखम्। द्यतेरित्वात्तो भवति परत्वात्। अवत्तः। अवत्तवान्। ननु च—

अवदत्तं विदत्तञ्च प्रदत्तं चादिकर्मणि।
सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेष्यते॥

तत्कथं सिद्ध्यति। अवादीनां गम्यमानक्रियान्तरविषयत्वेन दधाति प्रत्यगित्वात् सिद्धम्। "यत्क्रिया युक्तस्तं प्रति गीतिसञ्ज्ञको भवति" इति वचनात्। अवहीनमवगतं वा दत्तमवदत्तमिति क्रियान्तरविषया योऽयम्। अथ वा "शाच्छोर्विभाषा" [५।२।१४५] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या व्यवस्थितविभाषानुवृत्तेः।

झ्यपः ॥५।२।१५०॥ भकारादौ परतः अप् इत्यस्य गोः तकारादेशो भवति। अद्भिः। अद्भ्यः। भीति किम्? आपः। द्वितकारकनिर्देशपक्षे तु पूर्वस्यापि तकारस्य जश्त्वम्। अनेकाल्त्वात् सर्वादेश इति चेन्न। अच इति वर्तते। अचः परस्य भवति। गोरिति विशेषणात्तदादौ सम्प्रत्ययः। तेन पदे न भवति। अब्भारः। अब्भक्षः।

स्यगे सः ॥५।२।१५१॥ सकारादावगे परतः सकारान्तस्य गोस्त इत्ययमादेशो भवति। वत्स्यति। अवात्सीत्। विवत्सति। "अन्तेऽल" [१।१।४६] इति वा। "निर्दिश्यमानस्यादेशा" [प०] इति वा सकारस्य तत्वम्। द्वितकारपक्षे अच इति कार्यमनुवर्त्यम्? सीति किम्? प्रवासः। अगे इति

किम् ? आस्से। वस्से। स इति किम् ? पद्यति। अशिष्यत इत्यत्र इटः सकारं प्रति भक्त त्वेऽपि गीति वचनान्न भवति। द्विसकारको वास्सीति निर्देशः।

तासस्त्योः खम् ॥५।२।१५२॥ तासेः अस्तेश्च सकारस्य सकारादौ ख भवति। कर्तासि। कर्तासे। अस्तेः—असि। अग इति निवृत्तमसम्भवात्। तासिगे विहितः। अस्तेरग्गे भूभावेन भवितव्यमिति। व्यतिसे इत्यत्र परत्वात्सखमेकदेशविकृतस्यानन्यात् "श्नसः खम्" [४।४।१०१] इत्यखम्। त्यमात्रमेव पदम्। षत्व प्राप्तम् "नाद्यन्ते" [५।४।७६] इति प्रतिपिद्धम्। "गिप्रादुर्भ्यां यच्यस्तेः" [५।४।६८] इति। तत्र पदस्येति वर्तते। गिपूर्वस्यास्तेः पदस्य यकाराच्परस्य इति षत्वम्।

रि ॥५।२।१५३॥ रेफादौ त्ये परतः तासस्त्योः सख भवति। कर्त्तारौ। कर्त्तारः। अस्ते रेफादिर्नास्ति।

एति हः ॥५।२।१५४॥ एकारे परतः तासस्त्योः सकारस्य हकारादेशो भवति। कर्त्ताहे। लविताहे। अस्तेः। व्यतिहे। तपरत्वमसन्देहार्थम् "इटि ह" इति सूत्रे व्यत्यासीति न स्यात्।

स्सनि मीमाघुरभलभशकपतपदोऽच इस् ॥५।२।१५५॥ सनि सकारादौ परतः मी मा घु रभ लभ शक पत पद इत्येतेषामचः स्थाने इस् भवति। मी इति मीनातिमिनोत्योर्ग्रहणम्। "हनिङ्गम्यचां सनि" [४।४।१४] इति दीर्घे कृते विशेषाभावात्। मिनाति। प्रमित्सति। मा इति "गामादाग्रहणेष्वविशेषः" [प०] इति प्रतिपदोक्तपरिभाषा नापेक्षिता। मित्सति। मेङ्। अपमित्सते। माङ्-मित्सते। घु-दित्सति। धित्सति। आरिप्सते। आलिप्सते। शिक्षति। पित्सति। प्रपित्सते। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशो मा भूदच इस् विधीयते। द्वित्वम्। "चस्यात्र खम्" [५।२।१६०] इति चखम्। "स्यगे सः" [५।२।१५१] इति सकारस्य तत्वम्। रभादिषु "स्फादेः स्कोन्ते च" [५।३।४६] इति इसः सखम्। सकारादाविति किम् ? पिपतिषति। "तनिपतिदरिद्रां वेट्" [वा०]। सनीति किम् ? दास्यति। सीत्येतद्व्यवहितम्। सनीति द्विसकारको निर्देशः।

राधोः वधे ॥५।२।१५६॥ राधेः वधेऽर्थे वर्तमानस्य अच इस् भवति सनि सकारादौ। प्रतिरित्सति त्वानम्। वध इति किम् ? आरिरात्सति।

आप्ज्ञप्यृधामीत् ॥५।२।१५७॥ आप् ज्ञपि ऋध इत्येतेषामच ईकारादेशो भवति सनि सकारादौ। ईप्सति। ज्ञीप्सति। ईर्त्सति। ज्ञपेः पूर्वनिर्णयेन णित्वे आपश्च ईत्वम्। सकारादावित्येव। जिज्ञपयिषति। अर्दिधिषति। "सनीवन्त" [५।१।६७] इतीड्विकल्पः।

दम्भ इच्च ॥५।२।१५८॥ दम्भेरच इकारादेशो भवति ईच्च सनि सकारादौ। धिप्सति। धीप्सति। दम्भरनिष्पत्ते इकारादेशे कृते "हलन्तात्" [१।१।८४] इत्यत्र हल्ग्रहणस्य जातिवचनत्वात् सनः कित्वे "इगुट बिटत्यनिदित." [४।४।२३] इति नख भष्भावः। सकारादावित्येव। दिदम्भिषति।

वा मुचो धेरेप् ॥५।२।१५९॥ मुचेर्धिसञ्ज्ञकस्य वा एप् भवति सनि सकारादौ। मोक्षते वत्सः स्वयमेव। मुमुक्षते वत्सः स्वयमेव। आत्मनो मोक्तुमिच्छतीति सन्। वत्सो हि मोक्तुमिष्यमाणो मुक्तिक्रिया प्रत्यनुकूलः यदा प्रतिपद्यते तदा सुमोचत्वात् कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितमिति बाह्यकर्माभावात्मुचिरकर्मकः। [illegible] एप् [illegible]। अच इत्येतन्निवृत्तम्। अन्यथा "चस्यात्र खम्" [५।२।१६०] इत्यत्र चस्याचः ख स्यात्। धेरिति किम् ? मुमुक्षति कर्माणि मुनिः।

चस्यात्र खम् ॥५।२।१६०॥ यदेतदनुक्रान्तं सनि सकारादौ मुचेरेप्पर्यन्तम् एतस्मिन् चस्य ख भवति। तथा चैवोदाहृतम्। यच्चेन ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आपादपरिसमाप्तेश्चस्येत्येतद्वेदितव्यम्। ननु सनि [illegible] सिद्धम् अत्रग्रहणं किम् ? सर्वस्य चस्य ख यथा स्यादित्येवमर्थम्।

हलोऽनादेः ॥५।२।१६१॥ अनादेर्हलः ख भवति चस्य। डुढौके। तुत्रौके। पपाच। आटतुः। आटुः। अनादेर्हलः अच उत्तरस्य चत्वम्।

शरः खयि ॥५।२।१६२॥ शरः खं भवति खयि परतश्चस्य। चुश्च्योतिषति। तिष्ठासति। पिस्पंदिषते। शर इति किम्? पपाच। एकारो पकारेऽकारस्य मा भूत्। खयीति किम्? सस्नौ। उचिच्छिषति। उच्छेरन्तरङ्गत्वात्तुकि चुत्वे च कृते चुत्वस्यासिद्धत्वात् सतकारस्य छस्य द्वित्वे उचिच्छिषतीति प्राप्तम्। "पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे" इति वक्ष्यत्यतो द्वित्वे चुत्व सिद्धम्।

प्रः ॥५।२।१६३॥ प्रो भवति चस्य। पिपासति। निनीषति। डुढौके। डुढौकिषते। "अचश्च" [१।१।१२] इत्यचः प्रादेशः।

कुहोश्चुः ॥५।२।१६४॥ चस्य कवर्गहकारयोः चवर्ग आदेशो भवति। चिकीर्षति। चखान। जगाम। जिघत्सति। जुहुवे। जहास। जहार। नादवतो महाप्राणस्य हस्य चुत्वे तादृश एव झकारः। जश्च जकारः।

वा कोर्यङि ॥५।२।१६५॥ कोश्चस्य यङि वा चुर्भवति। कोरिति यस्य कस्यचिच्छब्दक्रियस्य ग्रहणे रूपद्वय सिद्धयति। उष्ट्रश्चोकूयते। उष्ट्रः कोकूयते। यङीति किम्? चुकुवे।

उरः ॥५।२।१६६॥ ऋवर्णान्तस्य चस्य अकारादेशो भवति। ववृते। ववृधे। चक्रे। जह्रे। अथ नर्नर्त्यादौ परत्वाद्रुगादिषु कृतेषु ऋकारान्तत्वाभावाच्चस्यात्व न प्राप्नोति। नैव शङ्क्यम्, "चविकारे प्वपवादा अ उत्सर्गान्न बाधन्ते" [प०] इति उरत्वे कृते रुगादयः।

द्युतिस्वाप्योर्जिः ॥५।२।१६७॥ द्युति स्वापीत्येतयोश्चस्य जिर्भवति। दिद्युते। अदिद्युतत्। देद्युत्यते। दिद्योतिषते। सनि "व्युडोऽवो हलः संश्च" [१।१।१७] इति विकल्पेन कित्वम्। यदा नास्ति तदा "व्युङः" [५।२।८३] इत्येप्। स्वापि—सुष्वापयिषति। सुष्वापयिषतः। सुष्वापयिषन्ति। स्वापेर्ण्यन्तस्य ग्रहणं किम्? हेतुमति ण्यन्तस्यैव यथा स्यादिह मा भूत्। स्वाप करोतीति णिच्। स्वापयितुमिच्छति। सिष्वापयिषति।

व्यथो लिटि ॥५।२।१६८॥ व्यथः लिटि परतश्चस्य जिर्भवति। विव्यथे। विव्यथाते। विव्यथिरे। ननु वकारस्यापि प्राप्नोति। अनादेरित्यनुवर्तनान्न भवति।

कितीणो दीः ॥५।१।१६९॥ लिटि किति परतः इणश्चस्य दीर्भवति। ईयतुः। ईयुः। परत्वात् "यणेत्योः" [४।४।७७] इति यणादेशः। तत्र "द्वित्वेऽचि" [१।१।५६] इति स्थानिवद्भावादिकारस्य द्वित्वम्। द्वित्वे एव स्थानिवद्भावो न तु स्वेऽको दीत्वे। कितीति किम्? इयाय। इययिथ। ऐनेपो। कृतयोः स्थानिवद्भावाद्द्वित्वम्। "चस्यास्वे" [४।४।७३] इति यादेशः।

आद्यतः ॥५।२।१७०॥ आदेरतश्चस्य दीर्भवति लिटि परतः। लिटीति वर्तते। कितीति निवृत्तम्। आटतुः। आटुः। आटिथ। "एप्यतोऽपदे" [४।३।८४] इति पररूपत्वे प्राप्ते चस्य दीत्वम्। आदेरिति किम्? ददटे। ददटाते। चान्तस्य न भवति। अत इति किम्? इयेप। उवोप। तपरकरणं किम्? य उपदेश अकारान्तस्य प्रादेशे कृते अनेन दीत्व मा भूत्। "आङ्छि आयामे" [वा०] आञ्छतुः। आञ्छुरिति। यदनेन दीत्व स्यात् 'ततो नुट्" [५।२।१७१] इति नुट् प्रसज्येत।

ततो नुट् ॥५।२।१७१॥ तस्मात् कृतदीत्वान्नुडागमो भवति। आनङ्ग। आनङ्गतुः। आनङ्गुः। आनञ्ज। आनञ्जतुः। आनञ्जुः। नुगिति पूर्वान्तः कर्तव्य। चस्येति वर्तते। चस्य कृतदीत्वस्य भविष्यति। एवं लघुना निर्देशेन सिद्धे परादिवचन ज्ञापकम् "अस्मिन्प्रकरणे पूर्वान्त आगमः स्वनिमित्तमन्तरेणापि नियते" तेनानञ्जादानञ्जुन्वार। समञ्जते। रञ्जते।

अश्नोतेः ॥५।२।१७२॥ अश्नोतेश्च कृतदीर्घात्नुड् भवति। व्यानशे। व्यानशाते। व्यानशिरे। नियमार्थोऽयमारम्भः। अश्नोतेरेवाकारोऽतो नुड् भवति नान्यस्य। आटतुः। आटुः। तुल्यजातीयस्य नियमादिह भवत्येव। आनृचतुः। आनृचुः। अश्नोतेरिति विकरणनिर्देशादश्नातेर्न भवति। आशतुः। आशुः।

भवतेरः ॥५।२।१७३॥ भवतेश्चस्य अकारादेशो भवति लिटि परतः। बभूव। बभूवतुः। बभूवुः। व्यतिबभूवे। "लुङ्लिटोवुक्" [४।४।८१] इति वुगागमः। लिटीत्येव। बुभूषति। बोभूयते। तिपा निर्देशो यङ्लुगन्तनिवृत्त्यर्थः। बोभवाञ्चकार। नैतदस्ति "कास्यनेकाच्याल्लिट्याम्" [२।१।३१] इति आमाव्यवहिते लिटि कथं प्राप्तिः। "इकस्तिपौ धुनिर्देशे" इत्यस्य सूचनार्थस्तर्हि।

निजामुच्येप् ॥५।२।१७४॥ निजादीनामुचि चस्यैप् भवति। बहुत्वनिर्देशादाद्यर्थो गम्यते। नेनेक्ति। वेवेक्ति। वेवेष्टि। नेनिक्त इत्यत्र चस्य "क्ङिति" [१।१।१६] इत्येप्रतिषेधो न भवति। धुरूपेण व्यवहितत्वात्। उचीति किम्? निनेज। निजादयस्त्रयो वृत्पर्यन्ताः।

भृञां त्रयाणामिः ॥५।२।१७५॥ भृञादीनां त्रयाणामुचि चस्य इकारादेशो भवति। बिभर्ति। मिमीते। जिहीते। "अन्तेऽलः" [१।१।४६] इति अच इत्वम्। त्रयाणामिति किम्? जहाति। उचीत्येव। बभार।

प्रोः ॥५।२।१७६॥ पिपर्ति इयर्ति इत्येतयोः उचि चस्येत्वं भवति। पिपर्ति। पिपृयात्। अपिपः। इयर्ति। इयृयात्। ऐयः। ऋतेर्लट् शप्। उच् एप्। द्वित्वमित्वं "चस्यास्वे" [४।४।७२] इतीय्। "हल्ङ्याप [४।३।५६] इति तिपः खम्। आडागमः। "आटश्च" [४।३।७८] इत्यैप्। उचीत्यनुवर्तनम्। जुहोत्यादेः प्रोरिट ग्रहणम्। अर्तेर्भौवादिकस्यापि प्रयोगः।

सन्यतः ॥५।२।१७७॥ सनि परतश्चस्यात इत्वं भवति। पिपक्षति। पिपासति। सनीति किम्? पपाच। अत इति किम्? लुलूषति। सनि यश्चस्तस्येत्वम्। पापच्यतेः सन् पिपापच्चिषते। तपरकरणं सुखार्थम्।

ओः पुयण्ज्ये ॥५।२।१७८॥ उवर्णान्तस्य पवर्गयण्जकारेषु अवर्णपरेषु सनि परतः इत्वं भवति। पिपावयिषति। बिभावयिषति। यण्। यियावयिषति। रिरावयिषति। लिलावयिषति। जु इति सौत्रो धुः। जिजावयिषति। ण्यादिभ्यो ण्यन्तेभ्यः सन्। ओरिति वचनं ज्ञापकम् "द्वित्वे कर्तव्ये णौ कृतं स्थानिवद्भवति" न तु वचनस्यैः प्रयोजनम्। पिपविषते यियविषतीति। "स्मिङ्पूङ्रंज्वशः सनि" [५।१।१२३]। "सनीवन्त-र्धभ्रस्ज" [५।१।६७] इत्यादिना वेट्। एकवादेशौ। "द्विर्वेऽचि" [१।१।५७] इति स्थानिवद्भावाद्द्वित्वमनेनेत्वम्। एतावदेव प्रयोजनं स्यात्। पवर्गयकारग्रहणमेव क्रियेत। पवर्गयण्जग्रहणमनर्थकं स्यात्। पुयण्जीति किम्? नुनावयिषति। अवर्णपर इति किम्? लुलूषति।

दीरकितः ॥५।२।१८१॥ अकितश्चस्य युङुपोर्दीर्भवति । पापच्यते । पापचीति । पापठ्यते । पापठीति । "यङो वा" [५।२।१६२] वचनं ज्ञापकमविशेषेण यङुपः । अकित इति किम् ? यंयम्यते । यंयमीति । ननु दीत्वापवादे परत्वान्नुकि कृते अनजन्तत्वात् कथं दीत्वप्राप्तिः । इदमेवाकित इति वचनं ज्ञापयति—"चविकारेष्वपवादा नोत्सर्गान् बाधन्ते"[प०] इति । तेन किं सिद्धम् ? मीमांसत इत्यादौ ईत्वं दीत्वेन न बाध्यते । डोढौक्यत इति दीत्वेन प्रादेशस्य न बाधा । अचीकरदित्यत्र "वेर्दी." [५।२।१६१] इत्यनेन "सन्यतः" [५।२।१७७] इत्वं न बाध्यते । अजीगणदिति "ईच्च गणः" [५।२।१६४] इत्यनेन "हलोऽनादेः" [५।१।१६१] खत्त्व न बाधा ।

नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ॥५।२।१८२॥ वञ्चु स्रंसु ध्वंसु भ्रंसु कस पत पद स्कन्द इत्येतेषां यङुपोश्चस्य नीगागमो भवति । वनीवच्यते । वनीवञ्चीति । सनीस्रस्यते । सनीस्रंसीति । दनीध्वस्यते । दनीध्वंसीति । बनीभ्रश्यते । बनीभ्रंशीति । चनीकस्यते । चनीकसीति । पनीपत्यते । पनीपतीति । आपनीपद्यते । आपनीपदीति । चनीस्कद्यते । चनीस्कन्दीति । यङुपि "नोमता गो." [१।१।६४] इति प्रतिषेधात् "हलुङः" [४।४।२३] इति नख न भवति । नीगिति दीत्वोच्चारणसामर्थ्यान्न प्रादेशः । अकित इति दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तकरणम् ।

ङस्यातो नुक् ॥५।२।१८३॥ ङसञ्ज्ञान्तस्य गोर्यश्चेऽकारान्तस्तस्य नुगागमो भवति यङुपोः परत. । बम्भण्यते । बम्भणीति । तन्तन्यते । तन्तनीति । जङ्गम्यते । जङ्गमीति । नुको "नश्चापदान्तस्य झलि" [५।४।८] इत्यनुस्वारस्य परस्वत्वम् । असत्यपि स्वनिमित्ते झलादौ अनुस्वारो भवतीत्युक्तम् । तेन यंयम्यते । रंरम्यते इत्यनुस्वारः । अत्रापि दीत्वप्रतिषेधार्थं पूर्वान्तत्वम् । ङस्येति किम ? पापच्यते । अत इति किम् ? तेतिम्यते । तपरकरणं किम् ? आकारभूतपूर्वस्य मा भूत् । बाभाम्यते ।

जपजभदहदशभञ्जपशाम् ॥५।२।१८४॥ जप जभ दह दश भञ्ज पश इत्येतेषां चस्य नुगागमो भवति यङुपो. परतः । जञ्जप्यते । जञ्जपीति । जञ्जभ्यते । जञ्जभीति । दन्दह्यते । दन्दहीति । दंदश्यते । दंदशीति । बम्भज्यते । बम्भजीति । पम्पश्यते । पम्पशीति । पश इति सौत्रो धुः । जपादिषु दशिपर्यन्तेषु "लुपसदचर" [२।१।२१] इत्यादिना यङ् । अन्यत्र क्रियासमभिहारे । दश इति सूत्रनिर्देशाद्यङ्यपि नख भवतीति केचित् । तदयुक्तम् । विकरणानिर्देशोऽयम् । यथा "पतदशनहः करणे त्रट्" [२।२।१६०] इति ।

चरफलोरुच्चोदः ॥५।२।१८५॥ चर फल इत्येतयोश्चस्य नुग्भवति यङुपो उदश्च उकारादेशश्चरफलोः । चञ्चूर्यते । "हत्यभकुच्छुर." [५।२।८६] इति दीत्वम् । चञ्चुरीति । पम्फुल्यते । पम्फुलीति । उदिति तपरकरणं किम् ? चञ्चूर्ति । पम्फुल्तीत्यत्र "घ्युङः" [५।२।८३] एस्निवृत्त्यर्थं दीत्वस्यासिद्धत्वादेत् प्राप्नोति । नन्वेष इव दीत्वस्यापि तपरकरणात् किन्न निवृत्ति. । अत्रोच्यते—यथा "गेऽन उत्" [४।४।१००] इति तपरकरणे न दीत्वमशक्यं निवर्तयितुम् अभकुच्छुर इति प्रतिषेधारम्भात्तथाऽत्रापि ।

ति ॥५।२।१८६॥ तकारादौ चपरत. चरफलोरुद. ऊकारादेशो भवति । देवचूर्ति. । "क्तिच्क्तौ." [२।३।१५०] इति क्तिच् । एवं चरणं चूर्ति. । फलनं फुल्ति. । प्रफुल्ता लता । यङुपोश्चस्येति चानुवर्तमानमिह वचनसामर्थ्यात् नाभिसम्बध्यते ।

रीगृत्वतः ॥५।२।१८७॥ ऋत्वतो गोश्चस्य रीगागमो भवति यङि । वरीवृत्यते । नरीनृत्यते । यदि ऋदुद इति क्रियेत । मरीमृज्यते इति न स्यात् । ऋमत इति तर्हि कर्तव्यम् । चिकीर्षत इत्यत्र तु कृताकृतप्रसङ्गित्वादृत ईर्भविष्यति । एवं सिद्धे तपरकरणं लाक्षणिकस्यापि रीगर्थम् । तेन वरीवृश्च्यते । वरीभृज्ज्यते । परीपृच्छ्यते ? चेक्रीयते जेह्रीयते इत्यत्र कस्मान्न रीगिति चेत् द्वित्वात् । परत्वेन रीगादेशे कृते ऋकाराभावान्न भवति ।

नीत। नरीनीत।

ॠतः ॥५।२।१८६॥ ॠकारान्तस्य गोर्यश्चस्तस्य यङुपि रुगुरिकौ भवतः रीश्च। तपरकरणसामर्थ्यादृता गुणविशेष्यते। चर्कर्ति। चरिकर्ति। चरीकर्ति। जर्हर्ति। जरिहर्ति। जरीहर्ति। "अदोऽट्" [५।२।६५] इत्यत्रोक्त चानुकृष्टमपि क्वचिदुत्तरत्रानुवर्तते तेन रीक्। तपरकरणं किम्? कॄ गॄ। चाकर्त्ति। जागर्ति। ननु च "रुग्रिकौ चोपि" [५।२।१८७] इत्यनेनैव तृतय सिद्धम्। तत्रापि "ऋत्वतः" [५।२।१८६] इति तपरकरणमस्ति तेन चाकर्तादौ न भविष्यतीति चेत्, तत्र तपरकरणं लाक्षणिकार्थमुक्तमिति किरत्यादेर्निवृत्तिर्न स्यात्।

घौ कच्यनक्खे सन्वत् ॥५।२।१९०॥ कच्परे घिसञ्ज्ञके वर्णे यश्चस्तस्य सनीव कार्यं भवति अनक्खे। "सन्यतः" [५।२।१७७] इतीत्वमुक्तम्। कच्यपि तथा अचीकरत्। अपीपचत्। "ओः पुयण्ज्ये" [५।२।१७८] कच्यपि तथा। अपीपठत्। अलीलवत्। अजीजवत्। वा स्रवत्यादीनां कच्यपि तथा। असिस्रवत्। असुस्रवत्। अदिद्रवत्। अदुद्रवत्। ननु हला व्यवधानात् कथं कच्परो पवर्णः? वचनप्रामाण्यादेकेन व्यवधानमाश्रितम्। घाविति किम्? अततक्षत्। अबभासत्। कचीति किम्? अट पपच। अनक्ख इति किम्? स्तनमाख्यत् अतस्तनत्। वनमाख्यत्। अववनत्। "णाविष्ठन्मृदः" [४।४।१४६] इति इष्ठवद्भाव "तुरिष्ठेमेयस्सु" [४।४।१४४] "टेः" [४।४।१४५] इति टिखम्। इह कस्मान् न भवति। अचकमतेति कच्चिपये। "वाऽमे" [२।१।२७] इति णिङोऽनुत्पत्तिपक्षे कचि कृते। अत्रोच्यते—नैव ज्ञातव्यम्। अक्खम् अनक्खम्। अक्खेनेति। किं तर्हि? अक् ख यस्मिन्निमित्तभूते सोऽयमक्खो न अक्खो अनक्ख तस्मिन्। पर्युदासवृत्त्या अनक्खनिमित्ते णौ मध्यगते सन्वद्भाव इत्यदोषः। तथा अकः ख यस्मिण्णिसामान्ये अनक्खे। न तु णौ णिसमकः खम्। तेन वादितवन्त प्रयोजितवान् अवीवदत्। ननु अजजागरदित्यत्र गकारपरे घिसञ्ज्ञामाश्रित्य प्राप्नोति सन्वद्भावः। वचनप्रामाण्याद् व्यवधानेऽपि सन्वद्भावेन भवितव्यम्। सर्वत्रापीपचदित्यादावपि कच्यानान्तर्यं विना नास्ति। नाय दोषः। वचनप्रामाण्यादिहैकवर्णेन व्यवधानमिष्टम्। तेन पुनर्व्यवधाने भवति न भवति च। तत्र "त्वर" [५।२।१६२] आदीनामित्वापवादार्थमत्ववचनं ज्ञापकम्। एकव्यवधाने भवति। अचिकणत्। अविभजत् इति। अज्झल्सङ्घातेन व्यवधाने तु न भवति। अमीमपत् इत्यादौ "स्सनि मीमा" [५।२।१५५] इत्येष विधिः कस्मान्न भवति? णिजन्तस्य प्रकृत्यन्तरत्वात्।

[सर्वस्य द्वे ॥५।३।१॥ परो त्रिः ॥५।३।२॥ नित्यवीप्सयोः ॥५।३।३॥ परेर्वर्जने ॥५।३।४॥ उपर्यध्यधसः सामीप्ये ॥५।३।५॥ वाक्यादेर्वोध्यस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ॥५।३।६॥ एको ववत् ॥५।३।७॥ आबाधे च ॥५।३।८॥]

..... कश्चिदेव प्रयुङ्क्ते इत्याबाधः । प्रयोक्तव्या । (?)

यवदुत्तरे ॥५।३।९॥ उत्तरे द्वित्वे यस्येव कार्यं भवति । वक्ष्यति "प्रकारे गुणोक्तेः" [५।३।१०] इति । पटुपटुः । पटुपट्वी । कालककालिका । वसातिदेशे "न वुहक्कोड." [४।३।१४६] इति पुंवद्भाव-प्रतिषेधः स्यात् । यसे तु "पुंवद्यजातीयदेशीये" [४।३।१५४] इति भवति । अधिकारेणाऽप्येवमिदम् । उत्तरग्रहणं ज्ञापकार्थम् । अयमधिकारः । "एको ववत्" [५।३।७] इत्यादिलक्षणं चाधिकारश्च । तेन एष तवाञ्जलिरेष तवाञ्जलिः । अहो दर्शनीया अहो दर्शनीया । आधिक्येऽपि द्वित्वमुक्तम् । "स्वार्थेऽवधार्यमाणेऽनेकस्मिन् द्वे भवतः" [वा०] अस्मात्सुवर्णादिह भवद्भ्यां माषं माषं देहि । अत्र द्वावेव माषौ देते न सर्वे माषाः । तेन वीप्सा नास्ति । अवधार्यमाणे इति किम् ? इह भवद्भ्यां माषमेकं देहि । 'पूर्वप्रथमयोरतिशये द्वे भवतः" [वा०] पूर्वं पूर्वं पुष्यन्ति । प्रथमं प्रथमं पच्यन्ते । वेत्यधिकाराद्वा न द्वित्वं तदाऽतिशायिकः । पूर्वतरं पुष्यन्ति । प्रथमतरं पच्यन्ते । "समसम्प्रधारणायां किम आक्षेपे द्वे भवतः" [वा०] । उभाविमावाढ्यौ कतराकतराऽनयोस्तयोराढ्यता । कतमा कतमाऽनयोराढ्यता । कीदृशी कीदृशी अनयोराढ्यता । कतरः कतरोऽनयोर्विभवः । "कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वित्वं सवच्च बहुलम्" [वा०] तत्र वेत्यधिकाराल्लभ्यते । असवत्पक्षे पूर्वपदस्यान्यशब्दस्य सुरेव । सवद्भावे च मिभूतस्यादेरुत्वं परशब्दस्य सुट् । अन्योन्यमिमे ग्रामा भोजयन्ति । अन्योन्यस्य भोजयन्ति । पुत्रादीनि गम्यते । एवमितरेतरेषाम् । इतरेतरस्य । परस्परं परस्परस्य भोजयन्ति । "स्त्रीनपुंसकयोर्विभक्त्या वाऽम्भावो द्योस्तु" [वा०] अन्योन्यं नार्यौ भोजयतः । अन्योन्या वा । अन्योन्यं कुले भोजयतः । अन्योन्यं वा । अन्योन्यं नार्यो भोजयन्ति । अन्योन्या वा । अन्योन्यं वा कुलानि भोजयन्ति । अन्योन्यं वा । इत्यादि सिद्धम् ।

प्रकारे गुणोक्तेः ॥५।३।१०॥ प्रकारे वर्तमानस्य गुणोक्तेर्द्वे भवतः । प्रकारः सादृश्यमिह गृह्यते । उच्यते इत्युक्तिरभिधेयं वस्तु । गुण उक्तिरभिधेयोऽस्येति गुणोक्तिः, तस्य द्वित्वम् । पटुपटुः । पण्डितपण्डितः । पटुपट्वी । पण्डितपण्डिता । उत्तरसूत्रे वाग्रहणमिह सिंहावलोकनेन सम्बध्यते । तेन जातीयोऽपि भवति । पटुजातीयः । मृदुजातीयः । द्वित्वजातीययोर्विधेयाभेदे मृदुमृदुजातीय इत्यनिष्टं स्यात् । प्रकार इति किम् ? शुक्लो गुणः । अग्निर्माणवकः । गौर्वाहीकः । सदा गुणवचनो यः प्रकारे वर्तते तस्य द्वित्वम् । अयं तूपमानात्सर्वद्रव्यवचनः ।

प्रियसुखयोर्वाऽकृच्छ्रे ॥५।३।११॥ प्रिय सुख इत्येतयोरकृच्छ्रे वा द्वे भवतः । प्रियप्रियेण ददाति । प्रियेण ददाति । सुखसुखेनाधीते । सुखेनाधीते जैनेन्द्रम् । अप्रयासेनेत्यर्थः । अकृच्छ्र इति किम् ? प्रियः पुत्रः । सुखो रथः । प्रीणातीति प्रियः । सुखयतीति सुखः ।

यथास्वे यथायथम् ॥५।३।१२॥ यथायथमिति निपात्यते यथास्वेऽर्थे । सर्वे ज्ञाता यथायथम् । यथास्वभावं यथाऽऽत्मीयं चेत्यर्थः । यथाशब्दस्य द्वित्वमसभावश्चान्ते निपात्यते । यो य आत्मा यो य आत्मीयो वा यथास्वम् । "यावद्यथा" [१।३।६] इति वीप्सायां हसः । शिष्टं वा यथायथमिति शब्दान्तरमभिन्नार्थं साधुत्वेनान्वाख्यातम् ।

---

१ प्रतिषु [ ] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्त्रुटिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्याय्याः सूत्राणि निर्दिष्टानि ।

द्वन्द्वं रहस्यादौ ॥५।३।१३॥ द्वन्द्वमिति निपात्यते रहस्यादावर्थे। द्वि अो इत्यस्य द्वित्वे सुबुपि पूर्वोत्तरपदयोरिकारस्याम्भावोऽत्व च निपात्यते रहस्यप्रकारेऽर्थे रहस्याभिधाने। द्वन्द्व मन्त्रयते। द्वन्द्व मन्त्रयेते। द्वौ द्वौ रहसि मन्त्रयेते इत्यर्थः। मर्यादावचनादयो विषयत्वेनाश्रीयन्ते। मर्यादायाम् आसप्तमनरकादधोऽधो द्वन्द्व नरकपटलानि हीनानि व्युत्क्रमण भेदः पृथक्स्थानम्। तत्र द्वन्द्व व्युत्क्रान्ताः। द्विवर्गसम्बन्धेन भिन्ना इत्यर्थः। यज्ञपात्रप्रयोगे, द्वन्द्व यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति। अभिव्यक्तौ, द्वन्द्व नारदपर्वतौ। द्वन्द्व सूर्याचन्द्रमसौ। विधिग्राहणौ द्वन्द्वम्। "वा वीप्सायां द्वन्द्वः" वीप्साया द्वन्द्व द्वौ द्वौ। वृत्तिविशेषे "चार्थे द्वन्द्व" [१।३।९२] अन्यत्रापि दृश्यते। द्वन्द्वानि सहते। द्वन्द्व युद्ध कृतम्। अतएव च रहस्य-मर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिरूप परिगणन न कृतम्।

पदस्य ॥५।३।१४॥ पदस्येत्ययमधिकारो वेदितव्य आ शास्त्रपरिसमाप्तेः। वक्ष्यति "नखं मृदन्त-स्याकौ" [५।३।२०] इति। राजभ्याम्। राजभिः। तथा "स्फान्तस्य खम्" [५।३।४१] इति पतन्। यजन्। अत्रार्थवशात्पदस्येत्यवयवे ता द्रष्टव्या। पदस्येति किम्? राजे। राज्ञः। भसंज्ञया नपुंसकलिङ्गा पदसंज्ञा नाध्यते

पदाद्पादादौ ॥५।३।१५॥ पदादिति अपादादाविति च एतद्द्वितयमधिकृत वेदितव्य प्रागसिद्धाधि-कारात्। वक्ष्यति "बहोर्वस्नसौ" [५।३।१७] इति। ग्रामो वो दीयते। नगर नो दीयते। पदादिति किम्? युष्मभ्य ग्रामो दीयते। अपादादाविति किम्?

शान्तिनाथो जिनः सोऽस्तु युष्माकमघशान्तये।
येन ससारताभीतिरस्माकमिह नाशिता ॥

युष्मदस्मदोऽविप्तास्थस्य घांनावौ ॥५।३।१६॥ पदात्परयोरपादादौ वर्तमानयोर्युष्मदस्मदित्येत-योरविप्तास्थयोर्वाम्नौ इत्येतावादेशौ भवतः। युष्मदस्मदिति इतरेतरयोगलक्षणो द्वन्द्वः। ओसः स्थाने ... सौत्रत्वान्निर्देशस्य। पदस्य सर्वस्येति च वर्तते। यदि वा पदस्येति स्थानलक्षणाऽत्र ता सम्पद्यते, सर्वस्य पदस्य स्थाने आदेशः। एकबह्वोरादेशान्तर वक्ष्यति। अतो द्विविषये विधिः। ज्ञानं वा दीयते। शील नौ दीयते। ज्ञान वा रक्षतु। शील नौ रक्षतु। ज्ञान वा स्वम्। शील नौ स्वम्। अविप्तास्थस्येति किम्? दान युवाभ्या कृतम्। स्थग्रहण किम्? श्रूयमाणविभक्त्या यथा स्यात्। इह मा भूत्। इति युष्मदुपाध्यायः। पदविधिरयम्। असामर्थ्ये न भवति। आवाभ्या भाव्यते ज्ञानम्। युवाभ्या दीयते दानमिति। अथेह सामर्थ्येऽपि कस्मान्न भवति? ओदन पच तव भविष्यति मम भविष्यतीति। "समाने वाक्ये युष्मदस्मदादेशविधिरिष्यते"। इह तु ओदन पचेत्येव वाक्य तव भविष्यतीति द्वितीय वाक्यम्। अवश्य समानवाक्याधिकार एष्टव्यः। शालीना ते ओदन दास्यामीत्यत्रापि तथा स्यात्। अन्यथा शालीनामित्यस्य ते इत्यनेन सामर्थ्याभावान्न स्यात्।

बहोर्वस्नसौ ॥५।३।१७॥ बहन्तयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नस् इत्येतावादेशौ भवतस्तास्वेव विभक्तीषु। ज्ञान वो दीयते। शील नो दीयते। ज्ञान वो रक्षतु। शीलं नो रक्षतु। ज्ञान वः स्वम्। शील नः स्वम्।

एकस्य ते मे ॥५।३।१८॥ एकान्तयोर्युष्मदस्मदोस्ते मे इत्येतावादेशौ भवतः। एक इति त्यः। "स्वनहणे यत्नात्त तदादेर्ग्रहणम्" [प०]। ज्ञान ते दीयते। शील मे दीयते। ङपो वक्ष्यति। ज्ञान ते स्वम्। शील मे स्वम्।

युवां आवां च रक्षतु । युष्मान् अस्मांश्च रक्षतु । ज्ञानं तव च स्वम् । ज्ञानं मम च स्वम् । युवयोः आवयोश्च स्वम् । युष्माकं अस्माकं च स्वम् । ज्ञानं तुभ्यं मह्यं वा दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यं ह दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यमह दीयते । ज्ञानं तुभ्यं मह्यमेव दीयते । इत्यादि योज्यम् । योग इति किम् ? ज्ञानं च मे स्वम् । नात्र चादिभिर्युष्मदस्मदोर्योगः । किन्तर्हि ? ज्ञानस्य ।

दृश्यर्थैश्चिन्तायाम् ॥५।३।२१॥ चिन्तायां वर्त्तमानैर्दृश्यर्थैर्धुभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वाम्नावादयो न भवन्ति । अत्र साक्षाद्योगे तद्युक्तयोगे च प्रतिषेधः । ज्ञानं तुभ्यं दीयमानं समीक्ष्यागतो जनः । ज्ञानं मह्यं दीयमानं समीक्ष्यागतः । साक्षाद्योगे ग्रामस्त्वां समीक्ष्यागतः । ग्रामो मां समीक्ष्यागतः । ज्ञानं तव स्वं समीक्ष्यागतः । शीलं मम स्वं समीक्ष्यागतः । सन्दृश्य संचिन्त्य निरूप्येति यावत् । दृश्यर्थैरिति किम् ? ग्रामस्त्वा मन्यते । अस्ति चिन्तार्थो मन् धुर्न तु दृश्यर्थः । चिन्तायामिति किम् ? ग्रामस्त्वा पश्यति । अत्र चक्षुर्दर्शने दृशिर्वर्त्तते । तेन न प्रतिषेधः ।

वाऽनन्वादेशे ॥५।३।२२॥ युष्मदस्मदोर्वाम्नावादयो वा भवन्ति अनन्वादेशे । आदेशः कथनम् । अन्वादेशोऽनुकथनम् । नान्वादेशोऽनन्वादेशः । तत्र विकल्पोऽन्वादेशे नित्यो विधिः । ज्ञानं ते दीयते । ज्ञानं तुभ्यं दीयते । ज्ञानं मे दीयते । ज्ञानं मह्यं दीयते । इत्यादि योज्यम् । अनन्वादेश इति किम् ? अथो ज्ञानं ते दीयते । अथो ज्ञानं मे दीयते । पूर्वं किञ्चिदादिश्य इदमादिश्यते इत्यन्वादेशोऽयम् ।

सपूर्वाया वायाः ॥५।२।२३॥ विद्यमानपूर्वाद् वान्तात्परयोर्युष्मदस्मदोर्वा वाम्नावादयो भवन्ति । अनन्वादेशे सामान्येन सिद्धम् । अन्वादेशार्थमिदम् । अथो आचार्येण ज्ञानं ते दीयते । अथो आचार्येण ज्ञानं तुभ्यं दीयते । इत्यादि ।

वोऽध्यमसद्वत् ॥५।३।२४॥ वोऽध्यान्तं पदमसद्वद् भवति । वोऽध्यमिति सम्बोधनलक्षणाया वाया ग्रहणम् । असद्वद्भावे प्रयोजनम् । वोऽध्यान्तात्परयोर्युष्मदस्मदोरादेशनिवृत्तिः । देवदत्त तुभ्यं दीयते । देवदत्त मह्यं दीयते । इत्यादि नेयम् । इह च देवदत्त ज्ञानं ते । देवदत्त ज्ञानं मे । "सपूर्वाया वायाः" [५।३।२३] इत्यन्वादेशे विकल्पो न भवति । वत्करणं स्वाश्रयनिवृत्त्यर्थं कार्यं प्रत्यसद् भवति ।

नैकार्थे वोऽध्ये सामान्यवचनम् ॥५।३।२५॥ एकार्थे वोऽध्यान्ते परतः सामान्यवचनं वोऽध्यान्तं नासद् भवति किन्तु सद्वदेव भवति एकार्थः विशेषलक्षणो यस्य तदिदमेकार्थं विशेषवचनमित्यर्थः । कथं ज्ञायते ? सामान्यवचनम् इति निर्देशात् । परस्य विशेषवचनत्वमपेक्ष्य सामान्यवचनत्वं भवति । क्षत्रिय श्रेणिक ते धर्मो दीयते । क्षत्रिय श्रेणिक त्वाऽर्हन्नक्षतु । क्षत्रिय श्रेणिक ते धर्मो वर्त्तताम् । एकार्थ इति किम् ? क्षत्रिय ब्राह्मण युवाभ्यां धर्मो दीयते । वोऽध्य इति किम् ? क्षत्रिय धनवान् मे त्वं देहि । पूर्वस्य सत्वे "सपूर्वाया वायाः" [५।३।२३] इत्येष विधिः प्रसज्येत । सामान्यवचनमिति किम् ? श्रेणिक क्षत्रिय तुभ्यं धर्मो दीयते ।

वा विशेषवचने बह्वौ ॥५।३।२६॥ विशेषवचने वोऽध्ये बह्वन्ते परतः सामान्यवचनं वा वोऽध्यमसद् भवति । देवाः शरण्या वो दीयते । देवाः शरण्या युष्मभ्यं दीयते । "नैकार्थे वोऽध्ये सामान्यवचनम्" [५।३।२५] इत्यस्यायं विकल्पः । सामान्यवचनमित्यनुवृत्तेः परस्य विशेषवचनमनुक्तं सिद्धम् । तदुक्तं स्पष्टार्थमुत्तरार्थं च ।

पूर्वत्रासिद्धम् ॥५।३।२७॥ पूर्वत्र इति असिद्धमिति च एतदधिकृतं वेदितव्यम् आ शास्त्रपरिसमाप्तेः । येन चतुरध्यायी सार्धद्विपादाऽनितान्ता तस्यामत्र सार्धद्विपादोऽसिद्धो भवति । इत उत्तरं च उत्तरोत्तरो योगः पूर्वत्र पूर्वत्रासिद्धो भवति । असिद्धवद्भवति । शास्त्रासिद्धत्वेन तदाश्रयं कार्यं न भवतीत्यर्थः । अस्मा उद्धरति सिद्धा अत्र । अमा आदित्य । "य्वो नम्" [५।१।५] इत्यत्र यत्वस्यासिद्धत्वात् 'आदेप"

[४।३।७५] "स्वेऽको टी [४।३।८८] इति च न भवति। अमुष्मै। अमुष्मात्। अमुष्मिन्। उत्वशाम्त्वस्या-सिद्धत्वात्स्मायादयो भवन्ति।

शुष्किका यन् सुशर्माण क्षामिमानौजिढत् सुगीः।
पक्वमाशीःषु गोलिरमान् कुर्वन्ति पिपठीः सुभुत्॥

शुष्किकेति "शुषि पचे क्वौ" [५।३।६७] इति कादेशः। टाप्। कुत्सार्थे कः। पुनष्टाप्। "केऽण" [५।२।१२५] प्र.। कत्वस्यासिद्धत्वात् "वातोऽधोर्यकात्" [५।२।५१] इति विकल्पो न भवति। "त्यस्थे क्यार्पी" [५।२।५०] इति नित्यमित्वम्। यन्निति स्फान्तखस्यासिद्धत्वान्मृदन्तनख न भवति। सुशर्माण इति णत्वासिद्धत्वात् नोङ. "धेऽकौ" [४।४।६] इति दीत्वम्। द्यै जै सै क्षये क्त। "क्षे म" [५।३।६८] इति मत्वम्। क्षामोऽस्यास्तीति क्षामी। सोऽस्यास्तीति क्षामिमान्। मत्वस्यासिद्धत्वात् "ममोङ्झयो मतोर्वोऽयवादे" [५।३।३१] इति मनोर्वत्व न भवति। ऊढमाख्यत् णिचि लुङि कचि च कृते "अच." [४।३।२] इति द्वितीयस्यैकाचो द्वित्वे कर्त्तव्ये ढत्वादेरसिद्धत्वात् हतिकारयोर्द्वित्वम्। "हलोऽनादे."[५।२।१६१] इति तलम्। हकारस्य चुत्वम्। औजिढत्। ननु णौ च यद्दिख तस्य स्थानिवद्भावादृद्विरुच्यते। अनक्ख इति प्रतिषेधात् सनीत्व नास्ति। तत औजढत् इति भवितव्यमिति केचित्। तदयुक्तम्। णौ कृत स्थानिवद् भवति। न च टिल णौ कृतम्। किन्तर्हीष्टे। ततो "द्वित्वेऽचि" [१।१।५६] इति स्थानिवद्भावात् सयोर्द्वित्वम्। ननु च "पूर्वत्रासिद्धीयम-द्वित्वे" इति वक्ष्यति। तत्कथमसिद्धत्व ढत्वादेः। न। "सर्वस्य द्वे" [५।३।१] इत्येतद्द्वित्व तत्र गृह्यते। तेन गलो गल इति लत्व सिद्धम्। सुगीरिति विसर्जनीयस्यासिद्धत्वात् "इको दी वोंरुङ." [५।३।८५] इति दीत्वम्। पक्वमिति वत्वस्यासिद्धत्वात् झलि चो कुत्वम्। आशीःष्विति "रेश्च सुपि" [५।२।२४] इति सत्वस्यासिद्धत्वात् "इको दी वोंरुङ" [५।३।८५] इति दीत्वम्। गोलिरमान् इति टत्वस्यासिद्धत्वात् "झयः" [५।३।३१] इति वत्व न भवति। कुर्वन्ति इत्यनुस्वारपरस्वस्यासिद्धत्वाण्णत्व नास्ति। पिपठीरिति षत्वस्यासिद्धत्वाद्रित्वम्। "परेऽच. पूर्वविधौ" [१।१।५७] इति अत खल्व स्थानिवद्भाव इति चेत्, न, पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" इति। सुभुदिति धत्वस्यासिद्धत्वात् झयन्तस्य बशो भष्भावः। वृक्णो हसतीति रेरसिद्धत्वेऽप्युत्व वचनाद् भवति। [illegible] परस्यापि वचनप्रामाण्यानासिद्धत्वम्। वृक्णा इति जश्त्वापवादो रित्वम्। दोग्धा इति ढत्वापवादो घत्वम्। वाहलदिति स्वान्तजापवादः स्कादित्वम्। येऽत्र कानिर्देशास्तानिर्देशा ईम्निर्देशाश्च "रात्स." [५।३।४२]। "स्फान्तस्य खम्" [५।३।४१] "झलो झलि" [५।३।४४] इत्यादयस्तेषाम् "ईप्केत्यव्यवाये पूर्वपरयो" [१।१।६०] "तास्थाने" [१।१।४६] इति च नियमे कर्तव्ये नासिद्धत्वम्। "कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्" [प०] इति पूर्वत्व नास्ति। इह विस्फोर्यम् अवगोर्यम् इत्येप बाधित्वा परत्वेन "हल्यभकुर्र." [५।२।८६] इति दीत्व नास्ति। "पूर्वत्रासिद्धे नास्ति स्पर्द्धोऽसत्त्वादुत्तरस्य"। विशेषवचन इति [illegible] विषये इदमसिद्धम्। तेन क्वचिदिष्टे विषये सिद्धत्व भवति। तादेशः पत्वत्येड्विधिषु सिद्धेः। अन्यथा [illegible] वृक्णवान् इति भणीति पत्व स्यात्। क्षीवेण तरति क्षैविकः। द्वयज्लक्षणाट्ठो न स्यात्। [illegible] इति दलादित्वादिट् स्यात्। छे तुकि पविधि. सिद्ध. अग्नाइ इ छत्रम्। पटाइ [illegible]। ह इति किम्? अग्निचीइत्। चन्य जश्त्वचर्त्वमेत्वतुक्तो सिद्धम्। भभणतु.। भभणु.। [illegible] प्राप्नोति। उचैश्छिपतीति चादेशस्यासिद्धत्वाच्छे तुक् प्राप्नोति। यद्वित्वे परस्वत्वं [illegible]। [illegible]। [illegible]। देल्लोकम्। तेल्लोकम्। यर इति द्वित्व न स्यात्। "सर्वस्य द्वे" [५।३।१] इति [illegible] द्वित्वे [illegible] स्यात्। द्रोग्धा द्रोधा। द्रोढा द्रोढा। गरोगर। गलोगल इत्यादि। घत्वादीनामसिद्धत्वात्। [illegible] स्यात्। गरोगल इति।

नसं सुब्विधिकृत्तुकि ॥५।३।२८॥ सुप स्थाने विधिं सुपि च विधिं कृति विहित च तुक प्रति [illegible]। [illegible] इति विधिं वार्यत। ऐन्भावदीवादि। सुपो विधिः सुब्विधिः एको विग्रहः सुवा-

श्रयो विधिरित्यर्थः। कृतस्तुक् कृत्तुक्। कृदाश्रयो हि तुक् कृतस्तुगुच्यते। राजभ्याम्। राजभिः। "सुपि" [५।२।६७] इति दीत्वम्। "भिसोऽत ऐस्" [५।१।८] इति च न भवति। वृत्रहभ्याम्। वृत्रहभिः। "पिति कृति तुक्" [४।३।५६] इति तुङ् न भवति। कृतीति किम्? वृत्रहच्छत्रम्। छे तुगयम्। "सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः" [प०]। एतयोरेव नखमसिद्धं नान्यत्र। हस्त्यश्वम्। राजीयति। राजायते। कृत्तुकीति न कर्त्तव्यम्। "सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" [प०] इति तुग्न भविष्यति। तत् क्रियते ज्ञापकार्थम्। "अवयवनाशिनामतः खं न भवति" इति। अन्यथा तुकः प्राप्तिरत्र नास्ति। नखेऽतः खे च कृते प्रान्तत्वाभावात्। एव च सुपमेति सिद्धम्। अय वय पय गतौ। पयतेर्मनि कृते "वशि" [५।१।११४] इतीटि प्रतिषिद्धे "वलि व्योः खम्" [४।३।५५] इति यखे कृतेऽतः खं न भवति। किं च सन्निपातपरिभाषाश्रयणे वृत्रहच्छत्रमिति तुग्न स्यात्। अथ "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" [प०] इत्येव सिद्धं कृत्तुकीति व्यर्थम्। अनित्यैषा परिभाषा। तेन एषा द्रे इति सिद्धम्। अत्राऽन्तरङ्गे टापि कर्त्तव्ये बहिरङ्गं त्यदाद्यत्वं सिद्धम्। पञ्च नार्य इत्यत्र मृदवस्थायामिल्संज्ञा। एकया च संज्ञया अनेकं कार्यं क्रियते इति ङीप्रतिषेधो जश्शसोः "उविल:" [५।१।१६] उपि कृते टापः प्राप्ति र्नास्त्यलिङ्गत्वात्पदार्थस्य। तेनेल्संज्ञाविधौ नखमसिद्धं न कर्तव्यम्।

न मु टाविधौ ॥५।३।२९॥ मुभावो नासिद्धः सिद्ध एव टाविधौ कर्तव्ये। टा इत्येतस्य स्थाने टा इत्येतस्मिंश्च यो विधिः स टाविधिरुच्यते। अमुना। अदस् टा इति स्थिते त्यदाद्यत्वे "दादुर्दो मोऽदसोऽसे" [५।३।८८] इति उत्वे मत्वे च कृते मुभावस्याऽसिद्धत्वात् "आङो नाऽस्त्रियाम्" [५।२।११३] इति सुलक्षणो नाभावो न स्यात्। सिद्धत्वाद् भवति। नाभावेऽपि कृते मुभावस्यासिद्धत्वात्। "यस्यतो दी:" [५।२।६६] "सुपि" [५।२।८७] इति दीत्वं प्राप्नोति। तच्च न भवति। टाविधाविति किम्? इह अमुना नपि "सुपींकोऽचि" [५।१।५२] इगभावान्नुम्न भवति। नेति योगविभागादिष्टसिद्धिः। तेन "हलुङ" [४।४।२३] इति नखे कर्तव्ये द्वयोः स्फसंज्ञामाश्रित्य स्फादिसखं सिद्धम्। मग्नः। मग्नवानिति। "धुट् प्राप्तौ श्चुत्वं सिद्धम्"। अट् श्च्योतति। अटतीत्यट्। जश्त्वं डकारः। सकारश्चुत्वस्यासिद्धत्वात्। "ङ्णाद् धुट् सोऽश्च" [५।४।१२] इति धुड् स्याम्। श्च्योततिः सकारादिः पठ्यते। तथा "अह्नो नखे कर्त्तव्ये रिरेफौ सिद्धौ"। अहोभ्याम्। अहोभिः। अहर्गच्छति। मृदन्तनखं स्यात्। नख इति विशेषणादन्यत्रासिद्धत्वम्। दीर्घाहास्त्रेति "नोङः" [४।४।५] "वेऽङौ" [४।४।६] इति दीत्वम्। अहन्। 'रोऽसुपि" [५।३।७८] इति वचनं किंविषये सावकाशम्। हे दीर्घाहोऽत्रेति। हे अहः।

नखं मृदन्तस्याकौ ॥५।३।३०॥ मृदन्तस्य नस्य खं भवत्यकौ परतः। पदस्येति वर्तते। किवर्जिते स्यादौ पदस्य योऽवयवो मृदन्तस्तस्य नस्य खं भवतीत्यर्थः। राजभ्याम्। राजभिः। राजत्वम्। राजता। राजतरः। राजतमः। मृद्ग्रहणं किम्? जिनेन्द्रान् वन्देरन्। अस्ति पदस्य नकारोऽन्तश्च न तु मृदः। किन्तु विभक्त्याः। अन्तस्येति किम्? नद्याम्याम। वनाभ्याम। अय पदस्यावयवो नकारो न तु मृदन्तः। पदस्येति किम्? राजानौ। राजानः। राज्ञे। अस्ति मृदन्तो नकारो न तु पदसंज्ञकस्य। अकाविति किम्? हे राजन्। अकावितीपदर्गे नन्। तेन "नपुंसके वा प्रतिषेध । हे चर्मन्। हे चर्मेति। अकाविति नखप्रतिषेधवचनं ज्ञापकम। त्यखे त्याश्रयत्वात् न कृद्गृहणनियमात् मृत्संज्ञा न निवर्तते। भसंज्ञा च न भवति। तेन राजेयत्र राजः पुरुषो राजपुरुष इत्यत्र च नखं सिद्धम्। "अनोऽस्ममम्वस्फात्" [४।४।१२०] इति भकार्यं च न भवति। हे राजवृन्दारक इत्यादौ क्यन्तयोरनभिधानात्समासमुदायात्कि। तत उत्तरपदे नखं न वक्तव्यम्।

ममोट् भयो मतोर्वोऽयवादेः ॥५।३।३१॥ मकारान्तात् अवर्णान्तात् मकारोटः अवर्णाद्यो भयन्ताच्च यवादिवर्जिताद् उत्तरस्य मतोर्वकारादेशो भवति। मृदो हि मतुर्विहितस्तत 'परस्यादेः" [१।१।५१] इति वचनम्। तुम्वान्। गुणवान्। विद्यावान्। सोदः। शमीवान्। दाडिमीवान्। यशस्वान्। भास्वान्। ...। मरु

त्वान्। तडित्वान्। उदश्वित्वान्। "मत्वर्थे स्तौ" [१।२।१०८] इति भसञ्ज्ञा। मयोऽमय इति किम्? अग्निमान्। अयवादेरिति किम्? यवमान्। ऊर्मिमान्। भूमिमान्। कृमिमान्। मोड इति। ककुद्मान्। गरुत्मान्। हरिमान्। भय इति। शिखिमान्। इक्षुमती। द्रुमती। मधुमान्नाम गिरिः। "खौ" [५।३।२२] इति प्राप्तेः प्रतिषेधः। आकृतिगणोऽयम्। नृमत इह नार्मतमिति बहिरङ्ग आकारः। तेन वत्वाभावः। पदावयवस्य वत्वम्। ततः शीलवतः शीलवद्भ्य इति च सिद्धम्।

खौ ॥५।३।३२॥ खुविषये च मतोर्वो भवति। कपीवती। ऋषीवती। मुनीवती। "नद्यां मतु." [३।२।६५] इति चातुरर्थिको मतुः। "मतौ बह्वच्छरादेरनजिरादे." [४।३।२२२] इति दीत्वम्। आसन्दीवान्नाम ग्रामः। आसन्दीवदहिस्थलम्। आसनपर्याय आसन्दीशब्दोऽस्ति। तदुक्तम्—औदुम्बरी राज्ञ आसन्दी भवति।

चर्मण्वदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वत् ॥५।३।३३॥ चर्मण्वत् अष्ठीवत् चक्रीवत् कक्षीवत् रुमण्वत् इत्येते शब्दा निपात्यन्ते खुविषये। चर्मणः परस्य मतोर्नुडागमो निपात्यते मृदन्तनखम्। "अट्कुप्वाङ्व्यवाये" [५।४।८६] इति णत्वम्। चर्मण्वती नदी। चर्मवतीत्यन्यत्र। अस्थ्नोऽष्ठीभावो वत्वं च निपात्यते। अष्ठीवानिति कायैकदेशसञ्ज्ञा। अस्थिमानित्यन्यत्र। चक्रस्य ईत्वम्। चक्रीवान्। चक्रवानित्यन्यत्र। कक्ष्याया जिनिपात्य.। "हल" [४।४।२] इति दीत्वम्। कक्षीवान्। कक्ष्यावानित्यन्यत्र। लवणस्य रुमण्भावो निपात्यते। रुमण्वान्नाम पर्वत। लवणवानित्यन्यत्र। रुमन् इति शब्दान्तरं वा मतोर्नुडयं निपातनम्।

उदन्वानुदधौ ॥५।३।३४॥ उदन्वानीति निपात्यते। उदकस्य उदन्भावो मतौ निपात्यते। यत्र प्रयोगो दृश्यते। उदन्वानुदधिः। उदन्वानाश्रमः। अयं तु विशेषः। यदा उदकमस्यास्तीति उदकसम्बन्धमात्रविवक्षा तदा उदकवान् घट.। यदा तु उदकं धेयमस्मिन्नस्ति तदा उदन्वान् घट इति।

राजन्वान् सौराज्ये ॥५।३।३५॥ राजन्वानिति निपात्यते सौराज्ये गम्ये। राजाऽस्मिन्नस्ति प्रशंसायाम् मतुस्तस्येदन्निपात्यते। राजन्वान्देशः। राजन्वती पृथिवी। सुराज्ञो भावः सौराज्यम्। शोभनेन राजा सम्बन्धस्तदभावे राजवान् इति भवति।

कृपो रो लोऽकृपादेः ॥५।३।३६॥ कृपेर्धो रेफस्य लकारादेशो भवति कृपादीन् वर्जयित्वा। र इति अपि कृते यः केवलो रेफः वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते इति यश्च ऋकारस्थः तयोरिह सामान्येन ग्रहणम्। कल्प्ता। कल्पिष्यते। कल्प्स्यति। क्लृप्तः। क्लृप्तवान्। "लुटि च क्लृपः" [१।२।८९] इत्यादि च ज्ञापकम् ऋकारस्थस्यापि रेफस्य लप्तिर्भवतीति। अकृपादेरिति किम्? कृपा। भिदादित्वादङ्। कृपणः। कपूरादय औणादिका। ये तु प्रतिषेधं नारभन्ते कृपे. कृतजित्वस्य लाक्षणिकत्वादग्रहणमिति तेषां यत्नगौरवं स्यात्।

णेरयतौ ॥५।३।३७॥ णेर्यो रेफस्तस्यायतिपरस्य लत्वम्। प्लायते। पलायते। ननु चायतिपरत्वं रेफस्य न सम्भवति। "परेऽच पूर्वविधौ" [१।१।५७] इत्येकादेशस्य स्थानिवद्भावात्। वचनप्रामाण्यादेकेन व्यवधानमाश्रितम्। एवं च पल्ययते इत्यत्राऽप्यदोषः। सङ्घातेन पुनर्व्यवधानमेव प्रत्ययते इति। ननु [illegible] निलयनं दुलयनमिति भविष्यति। न शक्यमेवम् "पूर्वत्रासिद्धम्" [५।३।२७] इति रेफस्या[illegible]। निरयणम्। दुरयणमिति। यदि लत्वं दृश्यते कपिलकादिषु द्रष्टव्यम्।

ग्रो यङि ॥५।३।३८॥ गिरते रेफस्य लत्वं भवति। निजेगिल्यते। निजेगिल्येते। निजेगिल्यन्ते। "[illegible]" [१।१।२१] इत्यादिना यङ्। नित्यत्वाच्च। "इको दीर्घो योऽरङ्." [५।२।८५] इति दीत्वम्। [illegible] निजेगीर्यते। यङीति किम्? निगीर्यते।

विभाषाऽचि ॥५।३।३९॥ गिरते रेफस्य विभाषया लत्वं भवति अजादौ परतः। गिरति। गिलति। [illegible]। "प्रत्यये नित्यं लत्वम्" [वा०]। गलः कण्ठ.। "त्रिपे न

भवत्येव" [वा०]। गरः। निगार्यते। निगाल्यते इत्यत्र "परेऽच. पूर्वविधौ" [१।१।५७] इति णेः स्थानिवद्भावादजादित्वम्। ननु "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" [प०] इति प्रतिषेधः प्राप्नोति। "नेयं परिभाषास्फाटिखलत्वणत्वेषु व्याप्रियते"। अथवा वर्णाश्रयमन्तरङ्गलत्वमनाश्रित्य बहिरङ्गं णिलुक्। इयमप्राप्ते विभाषा। प्राप्ते नित्यो विधिः। निजेगिलः। "धोः स्वरूपग्रहणे तस्यविज्ञानम्" [प०] इति यङन्तस्ये न भवति। गिरो गिर इति। विभाषेति योगविभागादिष्टे कपिलकादौ विकल्पः। कपिरक.। कपिलकः। तिर्यिगीकम्। तिर्यिलीकम्। रोमाणि। लोमानि। "संज्ञाछन्दसोः पूर्वो विधिः" [प०]। "डलयोः समानविषयत्वं स्मर्यते" [प०]। व्याडः। व्यालः। वारः। वालः। मूरम्। मूलम्। रघुः। लघुः। अरे। अले। असुर.। असुल.। अङ्गुरिः। अङ्गुलिः।

परेर्घाङ्कयोगे ॥५।३।४०॥ परे रेफस्य विभाषया लत्वं भवति घशब्दे अङ्क योगे च परतः। परिघ.। पलिघ.। "घनान्तर्घण" [२।३।६६] इत्यादौ परिघशब्दो निपातितः। पर्यङ्क.। पल्यङ्क.। परियोग। पलियोगः।

स्फान्तस्य खम् ॥५।३।४१॥ स्फान्तस्य पदस्य ख भवति। गोमान्। कृतवान्। इह श्रेयान् भूयान् इति रित्वस्यासिद्धत्वात्स्फान्तस्य ख भवति। इहापि तर्हि पय. शिर इति रित्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्व प्राप्नोति। "येन नाप्राप्ते तस्य बाधनम्" [प०] इति रित्व जश्त्वस्य बाधकमेव। स्फान्तखे पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च रित्वमारभ्यते। इत्यत्र। मध्वत्रेति बहिरङ्गस्य- यणादेशस्यासिद्धत्वात्स्फान्तत्व न भवति। स्फ इति किम्? वाक्। अन्तग्रहण किमर्थम्? आदौ मध्ये च पदावयवस्य स्फस्य ख मा भूत्। "येनालि विधिस्तदन्तान्त्यो" [१।१।६७] इति सिद्धे स्पष्टार्थं चान्तग्रहणम्। पदस्येति किम्? गोमन्तौ। गोमन्त।

रात्सः ॥५।३।४२॥ स्फान्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्मादुत्तरस्य सकारस्य ख भवति। "अन्तेऽल" [१।१।४६] इत्यन्तस्य। चिकीः। जिहीः। क्विपि अतः खे च कृते पत्वस्यासिद्धत्वात् सखम्। "पूर्वत्रासिद्धे च न स्थानिवत्" [प०] इत्यजादेशस्य न स्थानिवद्भावः। एव मातु.। पितुः। "ऋत उत्" [४।३।६८] इत्युत्वम्। द्वयोरेकत्वम। रन्तत्वम्। "सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः" [प०] रेफनियमोऽयम्। रादुत्तरस्य सकारस्यैव ख नान्यस्य। न्यमार्ट्। ऊर्क्। लटि क्विपि च रूपम्। रादेव सकारस्येति कस्मान्न नियम.। व्याख्यानात्। उरःप्रभृतिषु पुमानित्यस्य कृतसखस्य निर्देशाद्वा।

धि ॥५।३।४३॥ धकारादौ च परत. सस्य ख भवति। अचकास्त्वम्। आशाध्वम्। सकारस्य जश्त्वेना प्येतत्सिध्येत्। श्रुतिकृतविशेषाभावादिति चेत्? इह दोषः स्यात्। अलविध्वम्। आलविढ्वम्। "ढ" [५।४।६१] इति वा धस्य ढत्वम। यद्यत्र सख न स्यात्, तदा से. षत्वे जश्त्वे च डकारे धस्य च ढ। ढत्वाभावपक्षेऽपि धकारो न श्रूयेत। चक्राधिपल्ति शिरः इत्यत्रापि अविशेषेण सख भवति। "दादेर्धोः" [५।३।४६] इत्यतो धुग्रहण सिंहावलोकनेन सम्बध्यते। तेन धोर्विहिते धीत्यभिसम्बन्धादिह न भवति। पयो धावति।

झलो झलि ॥५।३।४४॥ झल उत्तरस्य सकारस्य झलि परत. ख भवति। अभित्त। अभित्था। "मिलिङ्दे" [१।१।८५] इति कित्वादिट्प्रतिषेध.। अवात्तामिति वसेर्लङस्ताम्। सखस्यासिद्धत्वात् "स्यो स" [५।२।१५१] इति तत्वम। झल इति किम्? अमस्त। झलीति किम्? अमंस्मह।

प्रादुगोः ॥५।३।४५॥ प्रान्तादगोरुत्तरस्य सकारस्य ख भवति झलि परत। अकृत। अकृथा। अहृत। अहृथा। प्रादिति किम्? अच्योष्ट। अप्लोष्ट। गोरिति किम्? अगासिष्टाम्। अगासिष्म। अस्ति प्रादिह पर सकारो न तु गो। झलीति किम्? अकृषाताम्। अकृषत। "उ" [१।१।८२] इ'

क्त्वादिप्रतिषेधः। सिंहावलोकनेन धोरिति किम् ? द्विष्टराम्। द्विष्टमाम्। "द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" [४।२।२५] तदन्तात् अतिशयिते तरतमो "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" [४।२।२०] इत्यादिनाऽम्। "प्रादुर्घत्यमिडस्ति" [५।४।७२] षत्वम्।

स्फादेः स्कोऽन्ते च ॥५।३।४६॥ सकारस्य ककारस्य च स्फादेः झलि परतः पदान्ते च ख भवति। झलि पदस्यावयवः पदान्ते च यः स्फस्तदाद्योः स्कोः ख भवतीत्यर्थः। लग्नः। लग्नवान्। साधुलक्। तष्टः। तष्टवान्। काष्टतट्। आचष्टे मुनिर्धर्म्मम्। वास्यर्थः। शक्यर्थः। इत्यत्राजादेशस्य स्थानिवद्भावान्न स्फादिखम्। "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" [प०] इतीह "स्फादिखलत्वणत्वेषु नास्ति" [प०] इत्युक्तम्। अथवा बहिरङ्गस्य यणादेशस्यासिद्धत्वान्न स्फादिखम्। काष्ठशक्स्थातेत्यत्र गोरधिकारात् सिंहावलोकनेन धोरिति वा न भवति। स्फादेरिति किम् ? न्यस्तः। शक्तः। झलीह द्रष्टव्यम्। स्क इति किम् ? नर्नर्त्ति। अन्ते चेति किम् ? तक्षिता।

चोः कुः ॥५।३।४७॥ चवर्गस्य कवर्ग आदेशो भवति झलि पदान्ते च। वक्ता। वक्तुम्। वक्तव्यम्। वाक्। "क्विपि वचि [२।२।१५७ वा०] इत्यादिना क्विपि दीत्वमजित्वं च। पक्ता। पक्तुम्। पक्तव्यम्। साधुपक्। क्रुञ्चेत्यत्र अनुस्वारस्य परस्वत्वस्य चासिद्धत्वात् ञकार एव नास्ति। चकारे झलि कुत्व न भवति। "युजिक्रुञ्चः" [२।२।५७] इति निपातनान्नख न भवति। रेफरहितस्य धोः क्रुञ्चिसमानार्थस्य नख भवत्येव। निकुञ्चितिरिति।

हो ढः ॥५।३।४८॥ हकारस्य ढकारादेशो भवति झलि पदान्ते च। सोढा। सोढुम्। सोढव्यम्। ढत्वे कृते परस्य "तथोर्धोऽधः" [५।३।५६] इति धत्वम्। ढत्वम्। "ढो ढे खम्" [५।४।१७] "सहिवहोऽस्यौः" [४।३।२१७] इत्योत्वम। अन्ते। परिषट्। सट् क्विचीदं रूपम्। अन्यथा "नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिपु क्वौ" [४।३।२१६] इति दीत्व स्यात्। एव वोढा। वोढुम्। गुणवट्। विचीह क्विपि जित्व स्यात्। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम्।

दादेर्धोर्घः ॥५।३।४९॥ दकारादेर्धोर्हकारस्य घकारादेशो भवति झलि पदान्ते च। दग्धा। दग्धुम्। दग्धव्यम कर्मेन्धनम्। दोग्धा। दोग्धुम्। दोग्धव्यम्। गोधुक्। पदान्ते घत्वे कृते "एकाचो बशो" [५।३।५४] इत्यादिना भषन्तस्य बशो भष्त्वम्। धोरिति किम् ? दामलिट्। धुपाठे यो दादिः स दादेरित्यनेन गृह्यते। तेन अधोक् इत्यत्र अडागमेऽपि सति दादित्व सिद्धम्। इह च दामलिह्यतेः क्विपि घत्व न भवति। दामलिडिति।

वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ॥५।३।५०॥ द्रुह् मुह् ष्णुह् ष्णिह इत्येतेषा हकारस्य वा घत्व भवति झलि पदान्ते च। द्रोग्धा। मित्रध्रुक्। द्रोढा। मित्रध्रुट्। उन्मोग्धा। उन्मुक्। उन्मोढा। उन्मुट्। स्नोग्धा। उत्स्नुक्। स्नोढा। उत्स्नुट्। स्नेग्धा। चेलस्निक्। स्नेढा। चेलस्निट्। द्रुहेः पूर्वेण प्राप्ते इतरेषामप्राप्ते विकल्पः।

नहो धः ॥५।३।५१॥ नहेर्हकारस्य धकारादेशो भवति झलि पदान्ते च। नद्धम्। नद्धव्यम्। उपानत्। "नहिवृति" [४।३।२१६] इत्यादिना दीत्वम्। "तथोर्धोऽधः" [५।३।५६] परस्य धत्व यथा स्यादिति धत्वं कृतम्।

आहस्थः ॥५।३।५२॥ आहो हकारस्य थकारादेशो भवति झलि परतः। धर्ममात्थ। सुखमात्थ। "ब्रुव आहः" [२।४।८०] इति ब्रुव आहादेशो लडादेशस्य च सिपस्थादेशः। अनेन हस्य थत्वम्। "खरि" [५।४।१३०] इति चर्त्वम्। आहस्थकारादेशेनैव सिद्धे थकारस्य "खरि" इति चर्त्वं ज्ञापकम्।

आहो ब्रूञ्ग्रहणेन ग्रहणात् ब्रुव ईण्मा भूत्। झलादिवचनाद् वा न भवति। पदान्तत्वं नास्ति। झलीत्येव। आहतुः। आहुः।

व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ॥५।३।५३॥ व्रश्च भ्रस्ज सृज मृज यज राज भ्राज इत्येतेषां चकारशकारयोश्च षो भवति झलि पदान्ते च। व्रष्टा। मूलवृट्। स्कादिसखम्। "ग्रहिज्यावयि" [४।३।१२] इत्यादिना जित्वम्। भ्रष्टा। धानाभृट्। स्रष्टा। तीर्थसृट्। मार्ष्टा। कर्मपरिमृट्। यष्टा। देवट्। विचीट रूपम्। राजिभ्राजोः क्विरेव झलादिः। राष्टिः। भ्राष्टिः। मुराट्। सुभ्राट्। विभ्राट्। प्रष्टा। धर्मप्राट्। "क्विपि वचिप्रच्छ्यायतस्तु कटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसंप्रसारणं च" [२।२।१५७ वा०] इति क्विपि दीर्घत्वाजिवे। "छ्वोः शूड् ङे च" [४।४।१७] इत्यस्य विधिरुक्तः। लिशि। लेष्टा। धर्मलिट्। विश। वेष्टा। स्वर्गविट्।

एकाचो वशो भष् झषः स्ध्वोः ॥५।३।५४॥ धोरेकाचो झषन्तस्य योऽवयवस्तस्य यथासङ्ख्यं भष्भावो भवति झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः पदान्ते च। भोत्स्यते। अभुद्ध्वम्। "सिलिट् ङे" [१।१।८५] इति कित्वम्। धर्मभुत्। धोक्ष्यते। अधुग्धम्। गोधुक्। निघ्रोक्ष्यते। न्यघुद्ध्वम्। मन्त्रघुट्। एकाच इति किम्? दामलिहमिच्छति दामलिह्यतेः क्विप्। दामलिट्। असत्येकाज्ग्रहणे झषन्तस्य धोरवयवस्य वशो भष् अत्रापि स्यात्। वश इति किम्? क्रोत्स्यति। झषन्तस्येति किम्? दास्यति। स्ध्वोरिति किम्? बोद्धा। बोद्धुम्। धकारस्य वकारपरस्य ग्रहणं किम्? दादद्धि। दध धारणे इत्यस्य यङ्लुपि लोटि "हुझल्भ्यो हेर्धिः" [४।४।८४] इति धिभावे रूपम्। अबुद्ध। अबुद्धाः इत्यत्र "झलो झलि" [५।३।४४] इति सखे कृते "त्यखे त्याश्रयम्" [१।१।६३] इति कस्मान्न भवति। "वर्णाश्रये नास्ति त्याश्रयम्" [प०] इत्यदोष।

धः ॥५।३।५५॥ धो धातोर्झषन्तस्य वशो भष् भवति झलि परतः। धत्से। धत्स्व। धद्ध्वे। धद्ध्वम्। धत्तः। धत्थः। "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" [प०] इति अजादेशस्य न स्थानिवद्भावः। वचनसामर्थ्याद्वा श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति झषन्तता। धस्यापि जश्त्वमाश्रयात्सिद्धम्। "प्रकृतिग्रहणे यङ्लुबन्तस्यापि ग्रहणम्" [प०]। धात्तः। धात्थः। झषन्तस्येत्येव। दधाति। दधासि। झलीत्येव। दधे। दधते।

तथोर्धोऽधः ॥५।३।५६॥ झषन्तादुत्तरयोः तकारथकारयोर्धकारादेशो भवत्यदधातेः। दोग्धा। दोग्धुम्। अदुग्ध। अदुग्धाः। बोद्धा। बोद्धुम्। अबुद्ध। अबुद्धाः। अधः इति किम्? धत्त। धत्थ।

झलो जश् ॥५।३।५७॥ झलो जश् भवति पदान्ते वर्तमानस्य। पदमध्ये "झलां जश् झशि" [५।४।१२८] इति वक्ष्यति। झलीति निवृत्तम्। वागत्र। मधुलिडत्र। अग्निचिदत्र। झलीत्यस्य निवृत्तिः किम्? वस्ता। वेष्टव्यम्।

षढोः कः सि ॥५।३।५८॥ षकारढकारयोः ककारादेशो भवति सकारादौ परतः। वेक्ष्यति। तोक्ष्यति। टक्ष। लेक्ष्यति। वक्ष्यति। सीति किम्? पिनष्टि।

द्रात्तस्य तो नः पूर्वस्य दोऽपुमूर्च्छिमदाम् ॥५।३।५९॥ दकाररेफाभ्यां परस्य तमन्तजस्य तकारस्य नकारादेशो भवति पूर्वस्य च दकारस्य पुमूर्च्छिमदो वर्जयित्वा। भिन्नः। भिन्नवान्। छिन्नः। छिन्नवान्। आस्तीर्णम्। अवगूर्णम्। द्रादिति किम्? शक्तः। शक्तवान्। तमन्तजस्येति किम्? कर्ता। हर्ता। न [illegible] किम्? मुदितम्। चरितम्। द्रादित्यनेन तकारो विशेष्यते। स चेत्तमन्तज इति। तेनेड्व्यवधाने न भवति। [illegible]स्येति किम्? परस्य मा भूत्। भिन्नवद्भ्याम्। भिन्नवद्भिः। "अविकृत्य कृते ग्रन्थे" [३।३।६१] इत्यादि निर्देशात् "इह वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते"। तेन हूतम् कृतमित्यादि सिद्धम्। [illegible] वर्जितो रेफ। अपुमूर्च्छिमदामिति किम्? प्रपूर्त्तः। मूर्त्तः। मत्त।

स्फादेरातो धोर्यण्वतोऽध्यायस्य ॥५।३।६०॥ स्फादिर्यो धुः आकारान्तः [illegible] कारस्य नो भवति [illegible] वर्जयित्वा। प्रद्राणः। प्रद्राणवान्। ग्लानः। म्लानः। [illegible]

प्रतिषेधात् प्रतिपदोक्तपरिभाषा नाश्रिता। स्फादेरिति किम्? यातः। यातवान्। आत इति किम्? च्युतः। प्लुतः। धोरिति किम्? निर्यातः। दुर्यातः। यण्वत इति किम्? स्नातः। स्नातः। अन्यानस्य इति किम? ख्यातः। ख्यातः।

ल्वादेः ॥५।३।६१॥ लू इत्येवमादिभ्य उत्तरस्य ततकारस्य नो भवति। लूनः। लूनवान्। लीनः। लीनवान्। लू इत्यतः प्रभृति वृदिति वृत्पर्यन्ता ल्वादयः। तत्र स्तृजित्येवमादिभ्यो नत्वं पूर्वेणैव सिद्धम्।

ऋतश्च क्तेः ॥५।३।६२॥ ऋकारान्तेभ्यो ल्वादिभ्यश्च परस्य क्तेस्तकारस्य नो भवति। ल्वादिभ्यो अन्ये ऋद्ग्रहणं प्रयोजयन्ति। कीर्णिः। गीर्णिः। शीर्णिः। ल्वादिभ्यः। लूनिः। लीनिः। गूर्णिः। चूर्णिः। घूर्णिः। इति अत्र चिन्त्यम्।

ओदितः ॥५।३।६३॥ ओकारेतश्च धोः परस्य ततकारस्य नो भवति। लग्नः। लग्नवान्। उद्विग्नः। उद्विग्नवान्। आपीनः। आपीनवान् "प्यायः पी" [४।३।२३] "आङः" [४।३।२४] इति पीभावः। आतिदेशिकाः स्वादय ओदितः। षूङ् प्राणिप्रसव इत्यादयो व्रीङ् वृणोत्यर्थे इत्येवमन्ता दैवादिकाः। सूनः। सूनवान्। दूनः। दीनः। उड्डीनः इत्यादि।

क्षीणः ॥५।३।६४॥ क्षी इत्येतस्मात् कृतदीत्वात्परस्य ततकारस्य नो भवति। तपरकरणममन्दोर्थम्। प्रक्षीणः। प्रक्षीणवान्। "तेऽण्ये" [४।४।५६] इति दीत्वम्। यदा दीत्वं तदाऽनेन नत्वम्। क्षीणोऽसि जाल्म। "वा दैन्याक्रोशे" [४।४।६०] इति दीत्वम्। दीत्वनिर्देशः किमर्थः? क्षितोऽसि जाल्म।

श्याञ्चिदिवोऽस्पर्शानपादानाजये ॥५।३।६५॥ श्या अञ्चि दिव इत्येतेभ्यः परस्य ततकारस्य नो भवत्यस्पर्शे अनपादाने अजये यथासङ्ख्यम्। शीनं घृतम्। शीनं मेदः। "द्रवघनस्पर्शयोः श्यः" [४।३।१६] इति जित्वम्। "हलः" [४।४।२] इति दीत्वम्। अजित्वपक्षे "स्फादेरातो" [५।३।६०] इति नत्वं सिद्धम्। अस्पर्श इति किम्? शीतं वर्तते। शीतो वातः। शीतमुदकमित्यत्र स्पर्शाभिधानद्वारेणैव द्रव्ये वृत्तिः। तेन नत्वाभावो जित्वं च सिद्धम्। स्पर्शो गुणो गृह्यते। ननु "स्पृश उपतापे" इत्येतस्य स्पर्शो रोगः। तत्र प्रतिशीनः। न भवति "द्रवघनस्पर्शयोः" [४।३।१६] इति जित्वे सिद्धे "प्रतेः" [४।३।२०] इति वचनात्। अञ्च्। समक्नो शकुने पक्षौ। अनपादान इति किम्? उदक्तमुदकं कूपात्। व्यक्त इत्यञ्जेः प्रयोगः। दिव। आद्यूनः। आद्यूनवान्। "च्छ्वोः शूडूटौ च" [४।४।१७] इत्यूठ्। अजय इति किम्? द्यूतं वर्तते। क्रीडायामभ्युपमानाद्विजिगीषा गम्यते।

निर्वाणोऽवाते ॥५।३।६६॥ निर्वाण इति निपात्यते अवातेऽर्थे। यदि त्वर्थो वाताधारो न भवतीत्यर्थः। निःपूर्वाद्वाते परस्य ततकारस्य नत्वं निपात्यते। निर्वाणो मुनिः। निर्वाणो दीपः। "धिगत्यर्थाच्च" [२।४।५८] इति कर्तरि क्तः। अवात इति किम्? निर्वातो वातः। निर्वातं वातेन। वातोऽत्र निर्वातिक्रियायाः आधारः। निर्वाणो दीपो वातेनेत्यत्र दीपाधारो व्यर्थो वातस्तु करणं तेन नत्वम्।

शुषिपचेः क्वौ ॥५।३।६७॥ शुषि पचि इत्येताभ्यां परस्य ततकारस्य ककारवकारादेशौ भवतः। शुष्कः। शुष्कवान्। पक्वः। पक्ववान्।

क्षो मः ॥५।३।६८॥ क्षै इत्येतस्मात्परस्य ततकारस्य मकारादेशो भवति। क्षामः। क्षामवान्।

प्रस्त्यो वा ॥५।३।६९॥ प्रपूर्वात्स्त्यायतेः परस्य ततकारस्य मकारादेशो वा भवति। प्रस्तीमः। प्रस्तीमवान्। प्रस्तीतः। प्रस्तीतवान्। "प्रपूर्वस्य स्त्यः" [४।३।१८] इति जिः। "हलः" [४।४।२] इति दीत्वम्। [illegible] "स्फादेरातो धोर्यण्वतः" [५।३।६०] इत्यस्यासिद्धत्वात् पूर्वं म। कृते विहतनिमित्तत्वा-

नत्वं न भवति। प्रग्रहण किम्? केवलादन्यगिपूर्वाच्च न भवति। स्त्यानः। मस्त्यानः। स्त्यै स्त्यै इत्यनयोः परस्य ग्रहण पूर्वस्य सत्त्वाभावात्।

फुल्लः ॥५।३।७०॥ फुल्ल इति निपात्यते। फुल्लः। फुल्लवान्। जिफला विशरण इत्यस्मात्परस्य ततकारस्य लत्व निपात्यते। "ति" [५।२।१८६] इति उड उत्त्वम्। कथ फलित.। फलान्यस्य सञ्जातानीति द्रष्टव्यम्। अथवा फल निष्पत्तावित्यस्य इडभाव उट उत्व लत्व च निपात्यते। फुल्ल विकसन इत्यस्य पचाद्यचि रूपमिति चेत्, नैव फलेस्ते लत्वमन्तरेण प्रयोगः स्यात्।

समुदः ॥५।३।७१॥ सम् उद् इत्येताभ्या परः फुल्लो निपात्यते। सम्फुल्लः। सम्फुल्लवान्। उत्फुल्लः। उत्फुल्लवान्। "सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ." [प०]। समुद्भ्यामेव गेः। इह मा भूत्। प्रफुल्ला लता।

क्षीवकृशोल्लाघाः ॥५।३।७२॥ क्षीव कृशः उल्लाघ इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते। क्षीवादिभ्यः क्ते कृते तकारस्य ख निपात्यते। इटि वा कृते इत्शब्दस्य। क्षीवः। कृशः। उल्लाघ.। अचि इगुपधलक्षणे के च कृ रूप सिद्ध्येत्। कि तु कृते क्ते अनिष्ट स्यात्। लाघेर्गिपूर्वस्य ग्रहण किम्? अस्यैव गिपूर्वस्य निपातनमन्यस्य मा भूत्। प्रक्षीवितः। परिकृशितः। उदिति विशेषनिर्देशात् अन्यगिपूर्वस्य न भवति। प्रोल्लाघितः। परिकृशः इत्यादिषु निपातितस्य शब्दस्य पश्चात् प्रादिसविधिः। परिगत. कृशः परिकृशः। प्रगत' क्षीवः प्रक्षीवः। नात्र गिसञ्ज्ञा। यत्क्रियायुक्तास्त प्रति गिसञ्ज्ञा भवन्ति।

त्राघ्राह्रीनुदोन्दविन्तेर्विभाषा ॥५।३।७३॥ त्रा घ्रा ह्री नुद उन्द विन्ति इत्येतेभ्य' परस्य ततकारस्य विभाषया नत्व भवति। त्रातः। त्राणः। घ्रातः। घ्राणः। ह्रीतः। ह्रीणः। नुत्तः। नुन्न.। समुत्त.। समुन्न.। वित्तः। विन्नः। ह्री इत्येतस्याप्राप्ते इतरेषा प्राप्ते नत्व विकल्प्यते। विन्तेरिति श्नम्विकरणनिर्देशात् "विद विचारणे" [धा०] इत्यस्य ग्रहणम्। तदुक्तम्—

वेत्तेस्तु विदितो ज्ञेयो विद्यतेर्वित्त इष्यते।
विन्तेर्विन्नश्च वित्तश्च वित्त'भोगे तु विन्दते'॥

विभाषेति व्यवस्थितविभाषाविज्ञानम्। तेन—

देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः।
मिथस्तेन विभाष्यन्ते गवाक्ष. संशितव्रत ॥

इति सिद्धम्। देवैस्त्रातः देवत्रातः। सञ्ज्ञायामपि त्रातेति भवति। प्राण्यङ्गे गल। विषे गर एव। नक्र ग्राह.। "विभाषा ग्रह." [२।१।११७] इति णः। आदित्यादिषु पचाद्यजेव ग्रह.। इतियोगे च सद्विधिर्न भवति। वर्षतीति धावति। हन्तीति पलायते। "लक्षणहेत्वोः क्रियाया" [२।२।१०४] इति शतृशानौ न भवतः। "न वा माकाङ्क्षे' [२।२।६४] इत्यतो मण्डूकप्लुत्या विभाषाऽनुवर्तते। अनितियोगे नित्य भवत। अधीयान वसति। अधीयानो वसतीति। ननु चेतिशब्देनैव हेत्वर्थस्य द्योतितत्वात् वर्षतीत्यादौ कथ सद्विधि? इह तद्ग्रहणम् "विभाषा लृट सत्" [२।३।१२] इत्यनेन करिष्यामीति व्रजति क्रियाया तदर्थायामितियोगे लृट सद्विधिर्न भवति। अप्रान्तसमानाधिकरणे अनितियोगे च सद्विधि। करिष्यन्त पश्येति। प्रान्तसमानाधिकरणेऽपि विकल्प इति केचित्। करिष्यन् पुरुष.। करिष्यति पुरुष। वातायने नित्यम्। गवाक्ष.। प्रागग्र गोऽक्षम्। अन्यत्रोभयम्। गोग्रम्। गवाग्रम। व्रतविषये नित्यमित्वम्। शंसितव्रत.। विधिप्रतिषेधयोरभयत्वेन विधिरेव व्यवस्थितया विभाषया सर्व लभ्यते। आकृतौ पदार्थे सर्व लक्ष्यराशिमेव प्रत्युपस्थाप्य विधि प्रतिषेधश्चेति द्वयमुपदिश्यते। व्यक्तौ पदार्थे उभयमेव भवतीति प्रतिपाद्यते।

वित्तभित्तदूनगूनपूनस्मितर्णानि ॥५।३।७४॥ वित्त भित्त दून गून पून स्मित ऋण इत्येते शब्दा निपात्यन्ते। वित्तमिति 'विद्लृ लाभे" इत्यस्य भोगे प्रतीतौ च निपात्यते। भोगे वित्तमस्य। प्रतीतः।

भुज्यत इति भोगो धनादिप्रतीतो वित्तोऽस्य पुरुषः। विन्नमन्यत्। भित्तमिति निपात्यते शकलं चेत्। भिन्नखण्डमित्यर्थः। उक्तञ्च--

तत्त्वमभिधायकं चेच्छकलस्यानर्थकः प्रयोगः स्यात्।
सकलेनाप्यभिहिते न भवति तत्त्वं निगमयामः॥

भिदि क्रिया शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तम्। प्रवृत्तिनिमित्तं तु शकलत्वजातिः। क्रियाभिधाने भिन्नं शकलमित्यपि भवति। दूनः। गूनः। दुग्वोर्दीर्घत्वं नत्वं च निपात्यते। पूञो विनाशे नत्वम्। पूना यवाः। विनाश इति किम्? पूता यवाः। पूतं धान्यम्। सित इति सिनोतेर्ग्रासकर्मकर्तृकस्य भवति। सितो ग्रासः स्वयमेव। ग्रास इति किम्? सिता पाशेन शूकरी। कर्मकर्तृकस्येति किम्? सितो ग्रासो देवदत्तेन। ऋण इति ऋ इत्येतस्मात् उत्तमर्णाधमर्णयोर्नत्वम्। ऋणं ददाति। ऋणं धारयति। ऋतमन्यत्।

क्वित्यस्य कुः॥५।३।७५॥ क्विन्प्रत्ययो यस्य तस्य धोः कवर्गोऽन्तादेशः पदान्ते। घृतस्पृक्। "स्पृशोऽनुदके क्विः" [२।२।५६] इति क्विः। एवं यादृक्। तादृक्। युङ्। नस्य कुत्वम्। त्यग्रहणपरिभाषया "क्वेः कु" इति सिद्धे क्वित्यो यस्येति बसनिर्देशात् असत्यपि क्वौ क्विविधानेनोपलक्षितस्य क्विन्नन्तस्यापि भवति। सहस्रदृगिति। इहापि तर्हि स्यात्। रज्जुसृड्भ्याम्। रज्जुसृड्भिः। स्रगिति निपातनात् क्यन्तोपलक्षणं नास्तीत्यदोषः। "नशेर्वा" [वा०]। जीवनक्। जीवनट्। क्विपि विचि वा। अथवा जीवस्य नाशो जीवनडिति सम्पदादित्वात्क्विप्।

ससजुषो रिः॥५।३।७६॥ सकारान्तस्य पदस्य सजुष् इत्येतस्य च रिर्भवति। "अन्तेऽलः" [१।१।४६] इत्यन्तस्य। जश्त्वापवादोऽयम्। सर्वज्ञः साधुभिरासेव्यते। सजूः। सह जुषा वर्तते "सहेति तुल्ययोगे" [१।३।६१] बसः। "वा नीचः" [४।३।१६०] इति सहस्य सो भवति। यदि वा सह जुषते इति सजूः।

अहन्॥५।३।७७॥ अहन्नित्यस्य पदस्य रिर्भवति। अहोभ्याम्। अहोभिः। दीर्घाहा कालः। हे दीर्घाहोऽत्र। अहन्निति विकृतनिर्देशात् रेरसिद्धत्वेन नस्य न भवति। वचनं तु हे दीर्घाहोऽत्रेति सावकाशम्। हन्तेर्लङि अहन्नित्यस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति। "अह्नो रिविधौ रूपरात्रिरथन्तरेषूपसङ्ख्यानम्" [वा०] इति। रोऽसुपीत्यस्य बाधनार्थम् अहोरूपम्। अहोरात्रिः। एकदेशविकृतत्वादिहापि भवति। अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः। अह्नो रथन्तरम् अहोरथन्तरम्।

रोऽसुपि॥५।३।७८॥ अहन्नित्येतस्य रेफादेशो भवत्यसुपि परतः। अहर्गच्छति। अहर्ददाति। असुपीति किम्? अहोभ्याम्। अहोभिः। ननु अहर्ददातीत्यत्रापि "त्यखे त्याश्रयम्" [१।१।६७] इति सुबस्ति। अस्त तर्हि रेफविधानसामर्थ्यात् अह्नो रविधौ उपि त्यलक्षणं न भवति। यत्र तु खं तत्र त्याश्रयेण रित्वम्। दीर्घाहा निदाघः। हे दीर्घाहोऽत्रेति।

वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः॥५।३।७९॥ वस्वन्तस्य पदस्य स्रंसु ध्वंसु अनडुह् इत्येतेषां च दकारादेशो भवति। विद्वत्कुलम्। विद्वद्भ्याम्। विद्वद्भिः। उखाया स्रंसते उखास्रत्। उखास्रद्भ्याम्। उखास्रद्भिः। पर्णध्वत्। पर्णध्वद्भिः। अनडुत्कुलम्। अनडुद्भ्याम्। अनडुद्भिः। पदस्येति किम्? अनडुहा। वस्वादीनामिति किम्? पयोभ्याम्। अनडुहो दत्वप्रतिरितरेषां रित्वम्। "ससजुषो रिः" [५।३।७६] इत्यतः सकारान्तग्रहणमनुवर्तते। तेन विद्वानिति नकारस्य न भवति। "येन नाप्राप्ते" इति न्यायेन रित्वस्य दत्वं बाधकम्। रुत्वं प्राप्ते चाप्राप्ते च दत्वमतो विद्वानित्यत्र स्रान्तत्वस्य न बाधकम्। अनडुहो वचनसामर्थ्याद् दत्वं भवति। पदाधिकारादिहापि भवति। विद्वत्काम्यति। "नः क्ये" [१।२।१०४] इति नियमात् विद्वस्तीत्यत्र न संज्ञा।

तिपि धोः ॥५।३।८०॥ तिपि परतः धोः सकारान्तस्य पदस्य दकारादेशो भवति। अचकाद्भवान्। अन्वशाद्भवान्। लङ्। "हल्ङ्याप." [४।३।५६] इति तिपः खम्। तिपीति किम्? क्विपि चका.। णित्वापवादो योगः।

सिपि रिर्वा ॥५।३।८१॥ सिपि परतो धोः सकारान्तस्य पदस्य रिर्भवति दकारो वा। अचकास्त्वम्। अचकात्त्वम्। अन्वशास्त्वम्। अन्वशात्त्वम्। दकारस्य विकल्पपक्षे रित्वं सिद्धमेव। रिग्रहणमुत्तरार्थम्। "द." [५।३।८२] इत्यत्र पक्षे रिर्यथा स्यात्। तिपि सिपि च परतो धुरेव सम्भवति। धुग्रहणमप्युत्तरार्थम्।

दः ॥५।३।८२॥ धोर्दकारान्तस्य पदस्य सिपि परतो रिर्भवति दकारो वा। अभिनस्त्वम्। अभिनत्त्वम्। अजर्घास्त्वम्। अजर्घत्त्व। गृध इत्येतस्मात् यङ्लुप्। द्वित्वादिकार्यम्। लङ् सिप् उट एप् "एकाच." [५।३।५४] इत्यादिना भष्भावः। हल्ङ्यापः खम्। जश्त्व दकारः।

मो नः ॥५।३।८३॥ धोर्मकारान्तस्य पदस्य नकारादेशो भवति। प्रताम्यतीति प्रतान्। प्रशान्। प्रदान्। नत्वस्यासिद्धत्वान्न मृदन्तनखम्। न इति किम्? विद्। भिद्। धोरित्येव। इदम्। किम्। अनयोर्मत्वगे च्चारणस्यावकाशः इदामतीत्यादौ "न. क्ये" [१।२।१०४] इति पदत्वाभावः। पदस्येत्येव। प्रशामो। प्रशाम'।

म्वोः ॥५।३।८४॥ धोर्मकारस्य मकारवकारयोश्च परत. नकारादेशो भवति। जङ्गन्व.। जङ्गन्म.। अपदान्तार्थ आरम्भः।

इको दी र्वोरुङः ॥५।३।८५॥ रेफवकारान्तस्य धोः पदस्य उङः इको दीर्भवति। गीः। आशी। आङ्पूर्वस्य शासोऽनुदात्तेतो ग्रहणादप्राप्तमित्वम्। "आशिषि" [२।४।१४६] इति निपातनाद्भवति। धुर्वी। धूः। धुर्वः पदान्तस्य वकारस्य ऊठा भवितव्यमिति वग्रहणमुत्तरार्थम्। इक इति किम्? अबिभर्भवान्। मकारे अकारस्य मा भूत्। र्वोरिति किम्? भिद्। छिद्। उङ् इति किम्? अबिभर्भवान्। चस्य वेर्मा भूत्। धोरिति किम्? साधुः। मुनिः। पदस्येत्येव। गिरः। गिर.।

हल्यभकुर्छुरः ॥५।३।८६॥ हल्परौ यौ रेफवकारो तदन्तस्य धोरुङ इको दीर्भवति भमजक कुर्छुरो च वर्जयित्वा। आस्तीर्णम्। अवगूर्णम्। दीव्यति। सीव्यति। अभकुर्छुर इति किम्? भस्य धुर वहतीति धुर्य.। दिवि भवो दिव्य.। क्विबन्तस्येद ग्रहणम्। कुर्। कुर्यात्। कृञो विकृतनिर्देशात् चिकीर्षतीत्यत्र दीत्व भवत्येव। छुर्। छुर्यात्। आशिषि लिङ्। धोरित्येव। चतुर इच्छति चतुर्यति। दिवमिच्छति दिव्यति। त्स्येमौ रेफवकारौ। इक इत्येव। गव्यति। "यि त्ये" [४।३।६७] इत्यवादेशः। हल्पराविति विशेषण किम्? मुर्मुरीयतीत्ता मा भृत्। अपदान्तार्थं वचनम्।

उङि ॥५।३।८७॥ धोरुङ्भूतौ यो रेफवकारौ तयोरुङ इकः दीर्भवति। कीर्तयति। हूर्छिता। मूर्छिता। तूर्विता। धूर्विता। "अचो रहाद् द्वे" [५।४।१२६] इत्यस्यासिद्धत्वादुङ्भूतत्वम्। प्रतिदीव्ना। प्रतिदीव्ने "कन्युवृषितक्षि" [उ० सू०] इत्यादिना कन्। "अनोऽखमम्वस्फात" [४।४।१२७] इत्यखम। "न पदान्त' [१।१।५८] इत्यादिना स्थानिवद्भावप्रतिषेधः। "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" [प०] इत्यस्यानित्यत्वाच्च दीत्वम्। अथ वाऽत्र 'हलि" [४।३।१२६] इति दीत्वम। तस्य नेति प्रतिषेध कस्मान्न भवति। रेफवकारान्तस्य सन्त [ऊन्त] म प्रतिषेध। इह कस्मान्न भवति। री गतिरेषणयो। वी गतिप्रजनकान्त्यशनेषु। रिर्यतु। [रिर्युः। विव्यतु। विव्युः। यणादेशस्य] स्थानिवद्भावात् बहिरङ्गलक्षणत्वाद्वा असिद्धत्वमिति न भवति। चतुर्यिते यत्र अत्र [illegible] बहिरङ्गत्वात धोरुङ्भूतो रेफो नास्तीति न दीत्वम्। गुणादीनामव्युत्पन्नत्वात्। जित्रि.। त्रियो। गिर्योगिर्याणि "हलि दीत्व न भवति। त्वुमृदौ बहुलवचनात। "जीर्यते किच्च व" [उ०]। इति [illegible]। "मन इतो" [५।१।५८] इति [illegible]। [illegible]। रेतस्य वकार। (कृगृभ्या) "कृ गृ पृ कुटिभिदिच्छिद्भ्यश्च" [उ०] [illegible]। उदोविति प्राप्ते उदीति दीर्घो निर्देश।

दादुर्दो मोऽदसोऽसेः ॥५।३।८८॥ अदसः असकारस्य दात्परस्य वर्णमात्रस्य उवर्णादेशो भवति दकारस्य च मकारः। अमुम्। अमू। अमून्। अमुना। अमूभ्याम्। उत्वस्यासिद्धत्वात्प्राक् सन्धिकार्यम्। भाव्योपि क्वचित्त्व गृह्णात्युक्तम्। ततः "स्थानेऽन्तरतमः" [१।१।४७] इति मात्रिकार्धमात्रिकयोर्मात्रिको द्विमात्रिकस्य द्विमात्रिक उकारो भवति। असेरिति किम्? अदस्यति। "स्वेपः क्यच्" [२।१।६]। असेरिति यत्राविद्यमानसकारस्येत्युच्यते। अदः कुलम्। अदोऽत्र इत्यत्रापि स्यात्। एव तर्हि अः सिर्यस्मिन् सोऽयमसिः। अकारीभूतः सिर्यस्मिन्नित्यर्थः। तस्यासेरुत्वम्। तेन त्यदाद्यत्वविषये विधिः। "विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चौ क्वौ" [३।४।१६८] इति अद्र्यादेशे कृते दर्शनभेदः। "अन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य" [प०] इति परिभाषा नाश्रिता तेषाम् "पदे सोऽद्रौ" परतः उत्व भवति। अमुद्र्यङ्। "पृथङ् मत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत्"। चलीक्लृप्यते। कलृतः। कल्पकः। इत्यत्र लाक्षणिकस्य रेफस्य ऋकारस्य च लत्वम्। एवमन्यत्रापि। अमुमुयङ्। परिभाषाश्रयणे तु "केचिदन्त्यसदेशस्य" अदमुयङ्। त्यदाद्यत्र विषय एव मुत्वम्। "नेत्येकेऽसेर्हि दृश्यते"। अदद्र्यङिति चत्वारो भेदाः। दादिति किम्? अमुया। अमुयोः। स्त्रिया टौसोः परतः त्यदाद्यत्वे टापि "आङि चापः" [५।२।१००] इति एत्वे अयादेशे च कृते "अन्तेऽलः" [१।१।४९] इति यकारस्योत्व मा भूत्।

बहावीरेतः ॥५।३।८९॥ बहौ निमित्ते निष्पन्नस्य अदसः दात्परस्यः एतः ईकारादेशो भवति। अमी। अमीभिः। अमीभ्यः। अमीषाम्। अमीषु। अथवा बहावित्यर्थनिर्देशः। बहावर्थे वर्तमानस्य अदसः इति ज्ञेयम्। पारिभाषिके हि अमी इत्यत्र परत्वासम्भवान्न स्यात्।

वाक्यस्य टेः पः ॥५।३।९०॥ वाक्यस्य टेः पो भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः। वक्ष्यति "दूराद्धूते" [५।३।९२] आगच्छ भो देवदत्ता३। वाक्यग्रहणं किम्? अन्त्यस्य यथा स्यात्। पदाधिकारात् सर्वेषां पदानां मा भूत्। टेरिति किम्? "अचश्च" [१।१।१२] इति अनन्तस्याप्यचो यथा स्यात्। अन्यथा अचा वाक्ये विशेष्यमाणे हलन्तस्य न स्यात्। अचो विशेष्यत्वे सर्वेषामचां स्यात्।

प्रत्यभिवादेऽशूद्रस्त्र्यसूयके ॥५।३।९१॥ शूद्र स्त्री असूयक विषयवर्जिते प्रत्यभिवादे यद्वाक्यं वर्तते तस्य टेः पो भवति। अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः। आयुष्मानेधि देवदत्ता३। अत्राभिवाद्यमाने गुरुणा प्रयुक्त-मार्गी पूर्वक प्रियरतियुक्त प्रतिवचनम् इत्यभिवादः। अशूद्रस्त्र्यसूयक इति किम्? अभिवादये तुषजकोऽहम्। भो आयुष्मानेधि तुषजक। शूद्रे पो न विहितः। अभिवादये गार्ग्यहं भो। आयुष्मती भव गार्गि। स्त्रिया पो न भवति। अभिवादये स्थाल्यहं भो। आयुष्मानेधि स्थालिन्। अत्र दण्डिवदसञ्ज्ञाशब्दे पो न भवति। सञ्ज्ञा-शब्दे भवत्येव। यदा तु विहेठयितुकामः सञ्ज्ञामसञ्ज्ञां च तस्य कथयति तदा असूयकोऽयमिति ज्ञाते भिन्नस्य [illegible] स्थालिन् न त्व प्रत्यभिवादमर्हसीत्युच्यते। लोकव्यवहारात्प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाद्वा नामान्तस्य गोत्रान्तस्य न पविधि। [illegible] न भवति देवदत्त कुशल्यसि। देवदत्त आयुष्मानेधि। इन्द्रधर्मन् कुशल्यसि। सर्वः पवि[illegible] भवतीति वक्ष्यति। सा च व्यवस्थितविभाषा। तेन "भोराजन्यविशां वा भवति"। अभिवादये देवदत्तोऽहं भो। आयुष्मानेधि देवदत्त भो३। आयुष्मानेधि देवदत्त भो। राजन्यः। अभिवादये इन्द्रवर्माऽहं भोः। आयुष्मानेधि इन्द्रवर्म[illegible]न्। आयुष्मानेधि इन्द्रवर्मन्। विश। अभिवादये इन्द्रपालितोऽहं भोः। आयुष्मानेधि इन्द्रपालि[illegible]। आयुष्मानेधि इन्द्रपालित। भोशब्दस्याप्राप्ते राजन्यविशोर्गोत्रत्वात्प्राप्ते विकल्पः।

दूराद्धूते ॥५।३।९२॥ दूराद्धूते आह्वाने वर्तमानस्य वाक्यस्य टेः पो भवति। आगच्छ भो देवदत्ता३। [illegible] इति किम्? आगच्छ भो जिनदत्त। प्रयत्नविशेषेण आह्वाने यत्र शब्दः श्रूयते तद्दूरमिह नास्ति। [illegible] तेनेहापि पः सिद्धः। सक्तून् पिब देवदत्ता३ इति। सूत्रे दूरादिति "तेभ्य [illegible] [१।४।४३] इति वा।

हैहेप्रयोगे हैहयोः ॥५।३।९३॥ है हे इत्येतयोः प्रयोगे हैहयोः पो भवति दूराद्धूते। है३ जिनदत्त। जिनदत्त है३। हे३ जिनदत्त। जिनदत्त हे३। पुनर्हैहयोर्ग्रहणं किम्? अन्यस्य मा भूत्। हैहयोरेव यथा स्यात्। प्रथम हैहेग्रहणम् अनन्तयोरपि यथा स्यात्। अन्यथा वाक्यस्य टेः प्राप्नोति। सूत्रारम्भस्तु अनृतोऽनन्तस्येत्यादिबाधकः सम्भाव्येत। प्रयोगग्रहणादनर्थकयोरपि भवति। आगच्छ भो माणव हे३ देवदत्त इति।

अनृतोऽनन्तस्याप्येकैकस्य रोः ॥५।३।९४॥ ऋकारवर्जितस्य गेरनन्त्यस्यापि अन्त्यस्यापि टेः एकैकस्य पो भवति। दे३वदत्त। हे३देवद३त्त। हे देवदत्त३। अनृत इति किम? कृष्णमित्रा३। गेरिति किम्? देवदत्तस्य वकारात्परत्र माभूत्। एकैकग्रहणं पर्यायार्थम्।

ओमभ्यादाने ॥५।३।९५॥ अभ्यादानं प्रारम्भः। ओमित्येष शब्दः अभ्यादाने पो भवति। ओ३मृषभं पवित्रम्। ओ३मृषभमृषभगामिनं प्रणमत। अभ्यादान इति किम्? ओ भो ददाति। अयमोंशब्दः प्रतिश्रवणे वर्तते।

वा हेः पृष्टप्रत्युक्तौ ॥५।३।९६॥ पृष्टप्रत्युक्तौ हेः पो भवति वा। अकार्षीः कटं देवदत्त! इति पृष्ट अकार्षं ही३। अकार्षं हि। अलावीः केदारं देवदत्त! अलाविषं ही३। अलाविषं हि। हेरिति किम्? करोमि ननु। पृष्टप्रत्युक्ताविति किम्? देवदत्तः कटं करिष्यति। प्रत्युक्ताविति किम्? देवदत्त कटमकार्षीर्हि। वेति योगविभागः। तेन सर्व एव पविधिः साहसमनिच्छता वा प्रयोक्तव्यः।

विचार्यं पूर्वम् ॥५।३।९७॥ विचार्यं पूर्वं पविधिमापद्यते। अहिर्नु३ रज्जुर्नु। स्थाणुर्नु३ पुरुषो नु। द्वयोर्बहूनां वा वाक्यानां पूर्वस्य टेः पो भवति।

प्रतिश्रवणे ॥५।३।९८॥ प्रतिश्रवणे च वाक्यस्य टेः पो भवति। प्रतिश्रवणं श्रवणाभिमुख्यं प्रतिज्ञानम् अभ्युपगमश्चाविशेषेण गृह्यते। श्रवणाभिमुख्ये देवदत्त भो किमात्थ३ इति। प्रतिज्ञाने कृतकः शब्दो भोः। एवं भवितुमर्हती३। अभ्युपगमे भोज्यं मे देहि भोः। हन्त ते दास्यामी३।

पूजिते ॥५।३।९९॥ पूजिते च वाक्यस्य टेः पो भवति। शोभनः खल्वसि अग्निभूता३इ। पटा३उ। कार्येऽपि च कृते "एचोऽटेः" [५।३।१०४] इत्यादिना आकार इदुतौ च। अथवा शोभनः खल्वसि देवदत्ता३ इत्युदाहरणम्।

चिदित्युपमार्थे ॥५।३।१००॥ चिदित्येतस्मिन्नुपमार्थे प्रयुज्यमाने वाक्यस्य टेः पो भवति। अग्निश्चि द्भाया३त्। राजाचिद्ब्रूया३त्। चिदिति किम्? राजेव ब्रूयात्। अग्निर्माणवको भायात्। इवशब्द प्रयोगाप्रयोगयोरुपमार्थोऽस्ति। न तु चिच्छब्दः। उपमार्थ इति किम? कथञ्चिद्ब्रवीषि। कुल्केऽत्र चिच्छ... इतिकरणं किम्? चिच्छब्दस्य मा भूत्। वाक्यस्य टेर्यथा स्यात्।

कोपाऽसूयासम्मतौ श्रौ वा ॥५।३।१०१॥ कोपा असूया सम्मति इत्येतेष्वर्थेषु आ... पो भवति वा। कोपे–माणवका३। माणवक। अविनीतका३। अविनीतक। इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म...। असूयायाम्–माणवका३। माणवक। अभिरूपका३। अभिरूपक। शोभन खल्वसि माणवक। ... मसूयान्तर्गत तत्कार्यत्वात्। शाक्तीका३। शाक्तीक। याष्टीका३। याष्टीक रिक्ता ते शक्तिः। "वाक्यादेरा-म्रेडस्य" [५।२।६] इत्यादिना द्वित्वम्। वेति व्यवस्थितविभाषा विज्ञानात् कोपकार्यं भर्त्सने च ... चौर। चौरा३। वृषल। वृषला३। चौरा३। चौर। वृषला३। वृषल। घातयिष्यामि त्वाम्। ... पिष्यामि त्वाम्। भर्त्सने च नित्यं साकाङ्क्षत्वाद्वाक्यस्य टेः पविधिर्द्वित्वं च। अङ्ग कूजसि अङ्ग ... इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। नित्यं इति किम्? अङ्ग देवदत्त। साकाङ्क्षत्वेऽपि किम्? ... पचा... साकाङ्क्षति। भर्त्सन इत्येव। अङ्ग पठ पुस्तकं ते दास्यामि।

क्रियाशीःप्रैषेषु मिङाकाङ्क्षम् ॥५।३।१०२॥ क्रिया लोपः। इष्टाशंसनमाशीः। अनत्कार-पूर्विका व्यापारणा प्रैषः। क्रियादिषु मिङन्तमाकाङ्क्ष पविधिं लभते। क्रियायाम्—स्वयं ह रथेन याती३ उपाध्याय पदाति गमयति। स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते३ उपाध्याय सक्तून् पाययति। भुङ्क्ता इति मिङन्तमा-काङ्क्षकम्। आकाङ्क्ष्यमपि मिङन्तमाकाङ्क्षग्रहणसामर्थ्यात्। सुबन्ते सिद्धेवाकाङ्क्षा। आशिषि—पुत्राश्च लप्सीष्टा.३ धनं च। अत्र लप्सीष्ठा इत्यस्य गम्यमानमिङन्तापेक्षस्य पविधिः। तात तर्कं चाध्ये-षीष्टाः३ जैनेन्द्रं च। प्रैषे—त्वं ह पूर्वग्रामं गच्छा३ देवदत्तो दक्षिणं व्रजतु। आकाङ्क्षमिति किम्? दीर्घमायु-रस्तु। प्रैष इत्या "प्रादूहोढोढ्यैषैष्येषु" [४।२।७६ वा०] इत्यनेन एङि पररूपापवादः ऐप्।

अनन्तस्यापि प्रश्नाख्यानयोः ॥५।३।१०३॥ प्रश्ने आख्याने च अनन्तस्यापि मिङन्तस्य अन्त्यस्यापि यस्य कस्यचित् पदस्य टे. पो भवति। प्रश्ने—आगमः३ पूर्वात् ग्रामान् अग्निभूता३ इ। पटा३ उ। आख्याने—आगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् भो३ः। अत्र सर्वेषामपि पदाना पदान्ते केचित् पमिच्छन्ति।

एचोऽद्वेः पूर्वस्यात्परस्येदुतौ ॥५।३।१०४॥ एचः अदिसञ्ज्ञकस्य पप्रसङ्गे पूर्वस्यार्धस्य आकारः पो भवति परस्य चार्द्धस्य इदुतौ भवतः। "एचोऽद्वेरदिदुत्परः" इति सिद्धे गुरुसूत्रकरणं किम्? इदुतोः पो न भवति। प्रश्नान्तपूजितप्रत्यभिवादेषु पदान्तस्य च एचः पो भवतीति ज्ञापनार्थम्। प्रश्नान्ते अगमः३ पूर्वान्ग्रामान् अग्निभूता३इ। पटा३ उ। पूजिते—शोभनः खल्वसि अग्निभूता३इ। पटा३उ। प्रत्यभिवादे—आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ। पटा३उ। परिगणनं किम्? दस्यो३ दस्यो घातयिष्यामि त्वाम्। आगच्छ भो अग्निभूते३। पदान्तस्येति वचनादिह न भवति। भद्रं करोमि गौ३रिति। पूजिते पः। अद्वेरिति किम्? अपाक्ता३मोदनं कन्ये३। प्रश्ने पविधिः।

स्वावचि सन्धौ ॥५।३।१०५॥ अर्थवशाद्विभक्तीपरिणामः। इदुतोरचि परतः यकारवकारादेशौ भवत सन्धौ विवक्षिते। आ अध्यायपरिसमाप्तेः सन्धावित्यधिकारः। अग्ना३यिन्द्रम्। पटा३वुदकम्। सिद्धः पविधिं सन्धाविति ज्ञापितं पुरस्तात्। तेन "अचीको यण्" [४।३।६५] इति यत्र यणादेशो नास्ति तदर्थमिदम्। अचीति किम्? अग्ना३इ गतम्। पटा३उ गतम्। सन्धाविति किम्? अग्ना३इ इन्द्रम्। पटा३उ उदकम्।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रमहावृत्तौ पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।

पुमः खय्यम्परे सोऽनुस्वारपूर्वः ॥५।४।१॥ पुमित्येतस्याम्परे खयि परतः सो भवत्यनुस्वारपूर्वः। पुमिति पुंस् स्यान्तस्ये कृतेऽनुकरणम्। खयीति प्रत्याहारसाहचर्यात् अमोऽपि प्रत्याहारग्रहणम्। पुंस्कामा। पुंस्पुत्री। पुंस्पुत्रा। पुंस्कोकिलः। पुंसि कामोऽस्या.। पुमास्चलयतीत्यादि ज्ञेयम्। सकारस्यासिद्धत्वाद्वित्वं न। खयीति किम्? पुंदास। पुंगव। अम्पर इति किम्? पुंक्षीर.। अनुस्वार इति बिन्दोः सञ्ज्ञा पूर्वैः कृता। पुमः इत्या पुंशब्दस्यानर्थकत्वादग्रहणम्।

नश्छव्यप्रशान् ॥५।४।२॥ नकारान्तस्य पदस्य अम्परे छवि परत. सो भवत्यनुस्वारपूर्वः प्रशान्शब्द वर्जिता। भवांश्छादयति। भवांष्टकारीयति। भवांस्थुडति। भवांश्चरति। भवांष्टीकते। भवांस्तरति। छवीति किम्? भवान् करोति। अप्रशानिति किम्? प्रशान् चिनोति। "मो न." [५।३।८३] इति नत्वस्यासिद्धत्वा-त्प्रशानत। अम्पर इत्येव। भवान् त्सरुकः। त्सरौ कुशल। "आकर्षादे. क." [३।२।१७] इति कः।

भवद्भगवदघवतो वा रिं कावकस्यौ ॥५।४।३॥ भवत् भगवत् अघवत् इत्येतेषा कौ परतः वा [illegible]। [illegible] निपात्यते [illegible] इति प्रति भवदादीना स्यानार्थन्तानिर्देशः सोऽर्थादवशब्दापेक्षयाऽव-

यथार्थः सम्पद्यते । अवस्येति निर्देशात् "नानर्थकेऽन्तेऽलो विधि·" [प०] इति वा सर्वस्य स्थाने ओकार· । हे भो· । हे भवन् । हे भगोः । हे भगवन् । हे अघोः । हे अघवन् । भवच्छब्दो "भातेर्डवतु" [उ० सू०] इति डवत्वन्तः । तेन विशेषवाचित्वात्सम्बोधनम् । "मृदग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्" [प०] इतीय परिभाषा विभक्तीविषये नेष्यत इति स्त्रिया विधिर्न भवति । हे भवति । हे भगवति । हे अघवति । भो इति भि·सञ्ज्ञक शब्दान्तरमस्ति तस्याय प्रयोगः । भो सुन्दरि । भो भो नरेन्द्राः सुखमाध्वम् ।

ओदपूर्वस्य योऽशि ॥५।४।४॥ रिरिति वर्तमानो विपरिणम्यते । ओकारपूर्वस्यावर्णपूर्वस्य च रे यकारादेशो भवति अशि परतः । भोयत्र । भगोयत्र । अघोयत्र । भोयाहि । भगोयाहि । अघोयाहि । अवर्णपूर्वस्य—सर्वजयास्ते । देवायासते । नरा गच्छन्ति । अनन्तरसूत्रेण निवर्तितस्य ओकारस्य ग्रहणादिह न भवति । गोरत्र । पटोरत्र । ओदपूर्वस्येति किम् ? मुनिरत्र । अशीति किम् ? वृक्षस्तत्र । छ्वीति मत्वा सिद्धत्वाद्यत्व प्रसज्येत । रेरित्येव । पुनरत्र ।

व्योः खं वा ॥५।४।५॥ वकारयकारयोरशि परतः ख भवति वा । पदस्येत्यनेन विशेषणात्पदान्तयोर्व्योः सञ्ज्ञातव्यम् । पट इह । पटविह । वृक्षा अत्र । वृक्षावत्र । वकारसाहचर्याद्यकारस्याविशेषेण खम् । भो अत्र । भोयत्र । सर्वज आस्ते । सर्वजयास्ते । देवा आसते । देवायासते । ते आसते । तयासते ।

हलि ॥५।४।६॥ अशीति वर्तते । व्योः ख भवति अशि हलि परतः । नित्यार्थ आरम्भः । देवा यान्ति । वाता वान्ति । वकारादौ "वलि व्यो· खम्" [४।३।५५] इत्यनेन यख नाशङ्कनीयम् । तस्मिन् यत्वस्यासिद्धत्वात् । अशीति हलो विशेषणं किम् ? वृक्षव् करोतीत्यत्र मा भूत् । वृक्ष वनतीति वृक्षवन् । वृक्षवन्तमाचष्टे णिच् । वृक्षवयतेः पुन· क्विप् । "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" [प०] इति णे स्थानिवद्भावो नास्ति । अशि तु हलि ख भवत्येव । वृक्ष हसति ।

मोऽनुस्वारः ॥५।४।७॥ अशीति निवृत्तम् । मकारान्तस्य पदस्य अनुस्वारो भवति हलि परतः । यत रक्षति । धर्मं शृणोति । अय पण्डितः । स्वर्गं साधयति । पाद हन्ति । हलीत्येव । इदमत्र । पदान्तस्येत्येव । रम्यते ।

नश्चापदान्तस्य झलि ॥५।४।८॥ नकारस्य मकारस्य चापदान्तस्यानुस्वारो भवति झलि परत । यशांसि । तितासति । अनुस्वारस्यासिद्धत्वात् "सन्तस्फमहतोः" [४।४।७] इति दीत्वम् । मकारस्य—रम्यते । अधिजिगांसते । "सनि" [१।४।११६] "इङः" [१।४।१२०] इति गमादेशः । अपदान्तस्येति किम् ? राजन् भवान् स्थास्यति । झलीति किम ? राजन्य· । गम्यः ।

सम्राट् ॥५।४।९॥ सम्राडिति निपात्यते क्व्यन्ते राजतौ परतः । समो मकारस्य मकार एव निपात्यते । "सत्सूद्विष" [२।२।५६] आदि सूत्रेण क्विप् । सम्राट् सगर· ।

हि म्परे वा ॥५।४।१०॥ म इति वर्तते । हकारे मकारपरे परत मकारस्य वानुस्वारो भवति । किं ह्मलयति । किम्ह्मलयति । कथ ह्मलयति । कथम्ह्मलयति । ज्वल ह्वल ह्मल चलन इत्यस्य णिनि "ज्वल ह्वल ह्मलनमामगे वा" [ग० सू०] इति मित्सञ्ज्ञा । हीति किम ? कथ म्मरसि । म्पर इति किम ? किं [illegible]यति ? प्राप्ते विकल्पोऽयम् । वाग्रहण बहुलार्थम । तेन "यवलपरे हकारे मकारस्य वा यवला भवन्ति" । किय्ँ ह्य । किं ह्य । किव्ँ ह्वलयति । किं ह्वलयति । किल्ँह्लादयति । किं ह्लादयति ।

नपरे न· ॥५।४।११॥ नकारपरे हकारे परत मकारस्य वा नकारादेशो भवति । किन् ह्नुते । किं ह्नुते । कथन्ह्नुते । कथ ह्नुते ।

ङ्णोः कुक्टुक्छरि ॥५।४।१२॥ ङकारणकारयो पदान्ते वर्तमानयो वा कुक् टुक् [illegible] भवत शरि परत । प्राङ्क् शेते । प्राङ् शेते । पदान्तात्परस्य [illegible] [illegible] । [illegible]

षण्डे। प्राङ्क्साये। प्राङ्साये। कुकः पूर्वान्तत्वात् परस्य "नाद्यन्ते" [५।४।७६] इति षत्वप्रतिषेधः। टुक्—सुपण्ट् शेते। सुपण् शेते। सुपण्ट् षण्डे। सुपण् षण्डे। सुपण्ट् साये। सुपण्साये। टुकः पूर्वान्तत्वे परस्य "पदस्य टोः" [५।४।१२१] इत्यादिनियमात् ष्टुत्वाभावः।

[ङ्नां धुट् सोक्षः ॥५।४।१३॥]

नश्शि तुक् ॥५।४।१४॥ नकारस्य पदान्तस्य शकारे परतो वा तुगागमो भवति। अत्रापि छ्त्वार्थं पूर्वान्तत्वम्। भवाञ्छेते। भवाञ्च्शेते। भवाञ्शेते।

[मयो वोऽच्युञः ॥५।४।१५॥]

ङमो नित्यं ङमुट् प्रात् ॥५।४।१६॥ प्रात्परो यो ङम् तदन्तात्परस्याचो नित्यं ङमुड् भवति। कुङ्ङास्ते। सुगण्णिह। कुर्वन्नास्ते। प्रादिति किम्? प्राङास्ते। अचीत्येव। कुङ् शेते। ननु परमदण्डिना-वित्यत्र कस्मान्न भवति। अत्र हि "स्वखे स्वाश्रयम्" [१।१।६३] इत्यवयवविभक्तीमाश्रित्य पदान्तत्वमस्तीति चेत्, नाय दोष—स्वाश्रयलक्षणेन पदत्वमुत्तरपदे एव भवति नान्यत्र। कथमिति चेत्, "भवद्भगवदघवत." [५।४।३] इति निर्देशात्। अन्यथा अघवत्तकारस्यापि जश्त्वं स्यात्। एवं च पीतपयसौ सुराजानावित्यत्र रित्वनत्वे न भवतः।

ढो ढे खम् ॥५।४।१७॥ ढकारस्य ढकारे परतः खं भवति। ऊढिः। गूढम्। लीढम्। पदान्ते ढकारस्यासम्भवात् वचनात्पदमध्ये विधिः। नन्विह सम्भवति मधुलिड्ढौकत इति। ढत्वस्यासिद्धत्वात् जश्त्वमत्र भविष्यति। ननु मध्येऽपि ष्टुत्वस्यासिद्धत्वात्परो ढकारो नास्ति तत्र यदि वचनाड्ढखम्। पदान्तेऽपि स्यात्। पदमध्ये श्रुतिकृतमानन्तर्यमस्तीति भवति। पदान्ते न श्रुतिकृतं नापि शास्त्रकृतमानन्तर्यम्। जश्त्वस्य सिद्धत्वात्।

रो रि ॥५।४।१८॥ रेफस्य रेफे परतः खं भवति। नीरक्तम्। दूरक्तम्। अग्नीरथः। इन्दूरथः। पुना रक्तः वासः। "निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य" [प०] इतीयं परिभाषा नेहाश्रीयते "रेश्च सुपि" [५।४।२४] इति ज्ञापकात्। तत्र रेरेव सुपीति नियमो वक्ष्यते। इह यदि निरनुबन्धकस्य रेफस्य ग्रहणं स्यात् इदमेव तत्रानुवर्तते। इति रे प्राप्त्यभावान्नियमोऽनर्थकः स्यात्। इह पदस्यावयवो यो रेफः तस्य खं भवतीत्या-श्रयणादपदान्तस्यापि रेफस्य न भवति। अजर्घा इति जर्गृध् इत्यस्माद्यङ्लुवन्ताल्लङः सिप्। "हल्ङ्याप" [४।३।५६] इति सिपः खम्। "घ्युङ" [५।२।८३] एप्। रन्तत्वम्। "झलो जश्" [५।३।५७] इति धकारस्य दत्वम्। "सिपि रिर्वा" [५।३।८१] "दः" [५।३।८२] इति दकारस्य रित्वादेशः। अत्र रो रीति पूर्वस्य न परस्य विसर्जनीयः। एवं स्पर्द्धेर्यङ्लुवन्तस्य अपास्पाः। रो रीति निर्देशात् "रादिफ." [उ० सू०] इति विधानमनित्यम्। "ढो ढे खम्" [५।४।१७] इति निर्देशात् "वर्णात्कारः" [उ० सू०] अप्यनित्यः।

विरामे विसर्जनीयः ॥५।४।१९॥ विरामविषये रेफान्तस्य पदस्य विसर्जनीयादेशो भवति। देवः। [illegible]। [illegible]। स्वः। अन्तः। विराम इति किम्? अग्निरत्र। प्रातरत्र। वायुर्वाति। विरतिः वर्णस्यानुच्चारणं विरामः। विसर्जनीय इति अयोगवाहेषु बिन्दुद्वयस्य सञ्ज्ञा।

शर्परे खरि ॥५।४।२०॥ शर्परे खरि परतः रेफान्तस्य विसर्जनीय आदेशो भवति। पुरुषःत्सरुकः। [illegible]। "छवि" [५।४।२७] सत्वस्यायमपवादः।

कुप्वोः ॥५।४।२१॥ शर्परे खरीति वर्तते। खरि यौ कुपू तयोः शर्परयोः परतः रेफस्य विसर्जनीय आदेशो भवति। [illegible] क्षौमम्। [illegible] प्सातम्। ननु पूर्वेण सिद्धे किमर्थमिदम्। अस्मिन्ननुच्यमाने स [illegible] स्यात् न छवि सत्वस्य। कुप्वोरित्यनेनारम्भेण ≍क ≍पयोर्बाधा। [illegible] इति [illegible]।

ᳵकᳶपौ ॥५।४।२२॥ शर्परे इति निवृत्तम् । खरीति वर्तते । इष्टत्वात् । खरि यो कुप् तयो. परत. रेफस्य ᳵ क ᳶ प इत्येतावादेशौ भवतः विसर्जनीयश्च । कᳵ करोति । कः करोति । कᳶ खनति । क खनति । कᳶ पचति । कः पचति । कᳶ फलति । कः फलति । केवलौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयावुच्चारयितुमशक्यौ ककारपकारा उच्चारणार्थौ । इह नृकुत्स्या भवः नार्कुत्स्यः । नृपतेरपत्यं नार्पत्य इति रेफस्य बहिरङ्गत्वान्नायं विधिः । ननु सति विसर्जनीये अन्तरङ्गेऽस्य प्रतिद्वन्द्वित्वाद्बहिरङ्गत्वम् । विसर्जनीयश्चासिद्ध. । कथं तन्मूलपरिभाषाव्यापारः । नैषः दोष. । ईषत्सिद्धमसिद्धं क्वचित् सिद्धमित्याश्रयणाद्विसर्जनीयः सिद्धः ।

शरि सश्च ॥५।४।२३॥ शरि परतः रेफस्य सकारादेशो भवति विसर्जनीयश्च । कश्शेते । क. शेते । कष्षण्डके । कः ष्वष्कते । कस्सरति । कः सरति ।

रेश्च सुपि ॥५।४।२४॥ सुपि परतः रेश्च सकारादेशो भवति विसर्जनीयश्च । चकारो विसर्जनीयानुकर्षणार्थः । शरीत्यनुवर्तते । सुपीति ईपो बहोर्ग्रहणम् । पयस्सु । पयःसु । सर्पिष्षु । सर्पिःषु इत्यत्र सत्वपक्षे "नुम्शर्व्यवाये" [५।४।२८] इति परस्य षत्वे कृते पूर्वस्य पदान्तत्वात् "नाद्यन्ते" [५।४।७६] प्रतिषेधे सति ष्टुत्वम् । विसर्जनीयपक्षे परस्य षत्वम् अयोगवाहस्य शर्ग्रहणेन ग्रहणात् पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम् । रेरेव सुपि सत्वविसर्जनीयौ नान्यस्य । गीर्षु । धूर्षु । सुप्येव रेरिति कस्मान्न नियमः । "सस्येऽयुम्थस्य" [५।४।३३] इति सकारद्वयनिर्देशात् ।

छवि ॥५।४।२५॥ रोरीत्यतो रेफमात्रमनुवर्तते । विसर्जनीय इति निवृत्तम् । छवि परत रेफस्य सकारादेशो भवति । कश्छिनत्ति । कश्ठकारीयति । कस्थुडति । कश्चरति । कष्टीकते । कस्तरति । पुनश्चरति ।

कुप्वोस्त्ये ॥५।४।२६॥ स इति वर्तते । पदान्तरेफस्य सकारादेशो भवति कवर्गपवर्गादौ त्ये परतः । "पाशकल्पकाम्या. प्रयोजयन्ति" [वा०] । याप्य पयः । पयस्पाशम् । अयस्पाशम् । "याप्ये पाश " [४।१।११०] इति पाशः । ईषदसिद्धं पय. पयस्कल्पम् । अयस्कल्पम् । "असिद्धौ देश्यदेशीयकल्पा." [४।१।१२६] इति कल्पः । महोरस्कः । पयस्कम् । पयस्काम्यति । कुप्वोरिति किम् ? पयोम्याम । नन्वत्रापि पवर्गत्वात् प्राप्नोति । खरीत्यनुवर्तनान्न भवति । त्य इति किम् ? अय. करोति । पयः पिबति । "उब्ज आर्जवे" इत्यस्योपध्मानीयोपध्मानीये कृतत्वविषये "उपध्मानीयस्य सत्वं वक्तव्यम्, द्वित्वप्रतिषेधश्च" [वा०] अम्भःउद्ग. । समुद्गः । उब्जिजिषतीति । दकारोपपक्षे तु कुत्वादन्यत्र । असिद्धकाण्डे "व उद्गे." [वा०] इति वचनात् बत्वस्यासिद्धत्वात् "न न्द्राः संयोगादयोऽचि" [४।२।२] इति द्वित्वप्रतिषेध. । उब्जिजिषति । "अग्राह्मिमञ्जरस्येति वक्तव्यम्" [वा०] इह मा भू । प्रात.कल्पम् । मुहु. काम्यति । "रेरेव काम्ये वक्तव्यम्" [वा०] इह मा भूत् । गी. काम्यति । धू. काम्यति ।

इणः षः ॥५।४।२७॥ इण उत्तरस्य सकारस्य षकारादेशो भवति कवर्गपवर्गादौ त्ये परतः । सर्पिष्कम् । सर्पिष्कः । सर्पिष्काम्यति । "कुप्वोस्त्ये" [५।४।२६] इत्यनेन निर्वृत्तस्य सकारस्य षत्वमनेन विधीयते लक्षणमिदमधिकारश्च । इत ऊर्ध्वं यस्सत्वं विधीयते तस्य इण उत्तरस्य षत्वं भवतीत्येतदधिक्रियते ।

इदुदुडोऽत्यपु मुहुसः ॥५।४।२८॥ त्ये हि पूर्वेण सिद्धमत्यार्थोऽयमारम्भः । इकारोकारोपधस्य रेफस्य सकारादेशो भवति कुप्वो परत. त्यपुम्मुहुसो वर्जयित्वा । "निर्दुर्बहिराविश्चतुःप्रादुस् प्राय प्रयोजयन्ति" निष्कृतम् । निष्पीतम् । बहिष्कृतम् । बहिष्पीतम् । आविष्कृतम् । आविष्पीतम् । चतुष्कुण्डिका । चतुष्कपाल । चतुर्षु कपालेषु भवः इत्यण् । इदमर्थे गमे कृते "रम्योवनपत्ये" [३।१।७४] इत्यण् उप् । प्रादुष्कृतम् । प्रादुष्पीतम् । सर्वत्र "इणः ष" [५।४।२७] इत्यनुवर्तनात् षत्वम् । इदुदुपधग्रहणं किम् ? गीः करोति । अत्यपुम्मुहुस इति किम् ? [illegible] करोति [illegible] । पटु पठति । पुन्काम । मुहु.काम । ननु [illegible] [illegible]

"इणः षः" [५।४।२७] इति षत्वं विधीयते इति प्राप्तिरस्ति। इह मातुः करोति। पितुः करोतीति "रात्सः" [५।३।४२] इति सकारस्य खे कृते नाय त्यस्य रेफ इति कस्मान्न षत्वम्। कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रग्रहणं ज्ञापकमेकादेशनिमित्तकस्य न भवति। नैष्कुल्यम्। दौष्पुरुष्यम्। अहीरेफकृतम् इत्यत्र बहिरङ्गत्वादेषविप्रयोगसिद्धत्वात्षत्वम्।

नमःपुरसोस्त्योः ॥५।४।२९॥ त्य इति निवृत्तम्। नमस् पुरस् इत्येतयोस्तिसञ्ज्ञकयोः रेफस्य सकारादेशो भवति कुप्वोः परतः। नमस्कर्ता। नमस्कर्तुम्। नमस्कर्तव्यम्। पुरस्कर्त्ता। पुरस्कर्तुम्। पुरस्कर्तव्यम्। नमःशब्दस्य "साक्षादादि." [१।२।१४३] इति तिसञ्ज्ञा वर्तते।

तिरसो वा ॥५।४।३०॥ तिरसो रेफस्य वा सकारादेशो भवति कुप्वोः परतः। तिरस्कर्ता। तिरस्कृत्य। तिरः कृत्य। "तिरोऽन्तर्द्धौ" [१।२।१४०], "वा कृञि" [१।२।१४१] इति तिसञ्ज्ञा। इह तिरस्तिसञ्ज्ञकस्येति विशेषणं विषयद्वारकम्। तेनान्तर्द्धौ विषये "वा कृञि" इति सञ्ज्ञाविरहेऽपि सत्वम्। तिरस्कृत्वा। तिरः कृत्वा। तिसञ्ज्ञकस्येति किम्? तिरः कृत्वा काण्डं गतः। नात्रान्तर्द्धिः प्रतीयते। अन्तरेण कृत्वा गत इत्यर्थः। षत्वमौदासीन्येन गच्छति।

सुचः ५।४।३१॥ सुजन्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्य वा सकारादेशो भवति कुप्वोः परतः। द्विष्करोति। द्विष्पचति। त्रिष्करोति। त्रिष्पचति। चतुष्करोति। चतुष्पचति। अन्यस्मिन् पक्षे "ᳵकᳶपौ च" [५।४।२२] इत्येष विधिः। द्विᳵकरोति। द्विःकरोतीत्यादि योज्यम्। द्वौ वारौ करोतीति विगृह्य "द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" [४।२।२५] इति सुच्। द्वित्रिभ्यां परस्य अल्पपुम्मुहसः इति प्रतिषेधादप्राप्ते चतुःशब्दस्य तु "इदुदुङः" [५।४।२८] इति प्राप्ते नत्वं विकल्प्यते। "इणः षः" [५।४।२७] इत्यधिकारात्षत्वम्।

इसुसोः सामर्थ्ये ॥५।४।३२॥ इस् उस् इत्येतयो रेफस्य सकारादेशो भवति सामर्थ्ये सति कुप्वादिना। सर्पिष्करोति। सर्पिः करोति। सर्पिष्पिबति। सर्पिः पिबति। धनुष्करोति। धनुःकरोति। धनुष्पतति। धनुः पतति। सर्पिर्धनु प्रभृतयः शब्दा इसुसन्ता व्युत्पाद्यन्ते इति दर्शने त्यस्य नेत्यप्राप्ते अव्युत्पत्तौ "इदुदुङः" [५।४।२८] इति प्राप्ते विकल्पः। सामर्थ्ये इति किम्? तिष्ठतु सर्पिः पिबतु पयः। ननु पदाधिकारे समर्थपरिभाषाव्यापारात् सामर्थ्यग्रहणं किम्? कवर्गपवर्गादिना धुना व्यपेक्षालक्षण एव सामर्थ्ये यथा स्यादित्येवमर्थम्। इह मा भूत्। सर्पिः कालकम्। यजुः पीतकमिति। सापेक्षमसमर्थमिति नाय पक्षस्तत्र स्थितः। तेनेहापि गमकत्वात्सत्वम्। देवदत्तस्य सर्पिष्करोति।

सस्सेऽद्युस्थस्य ॥५।४।३३॥ इसुसो रेफस्याद्युस्थस्य सकारादेशो भवति। सर्पिष्कुण्डिका। सर्पिष्पानम्। धनुष्काण्डः। धनुष्पाति। पुन सग्रहणं नित्यार्थम्। अद्युस्थस्येति किम्? परमसर्पिःकुण्डिका। पूर्वेणाप्यनेषाभावे विकल्पो न भवति। यदा तु व्यपेक्षा सामर्थ्यम्, तदा द्युस्थस्यापि पूर्वेण विकल्पः। परमसर्पिष्करोति। परमसर्पिः करोति। इदमेवाद्युस्थस्येति प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् "इसुसोः" [५।४।३२] इत्यत्र "त्यग्रहणे यस्मात्स तदादे" [प०] इति नियमाभावादधिकस्यापि ग्रहणम्।

कृकमिकंसकुम्भकुशाकर्णीपात्रेऽतोऽभेः ॥५।४।३४॥ कृ कमि कंस कुम्भ कुशा कर्णी पात्र इत्येतेषु परतः अकारान्त उत्तरस्य रेफस्याद्युस्थस्य सकारादेशो भवति। कृकम्योः सर्वत्यान्तयोर्ग्रहणम्। अयस्कारः। पयस्कारः। पयस्कामः। यशस्कामः। अयस्कान्तः। अयस्कंसः। पयस्कंसः। कंस इति कमेरव्युत्पत्तिपक्षे पृथग्ग्रहणम्। "नद्ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि" [प०] अयस्कुम्भी। पयस्कुम्भी। गौरादित्वान्ङी। अयस्कुशा। पयस्कुशा। अय इव कर्णावस्याः "नासिकोदरौष्ठ" [३।१।४८] आदिना ङी। अयस्कर्णी। पयस्कर्णी। अभेरिति "कस्कादौ" [५।४।२६]। अयस्पात्रम्। पयस्पात्रम्। अयस्पात्री। पयस्पात्री।

कुकम्यादिग्रहणं किम् ? पयःपानम्। अत इति किम् ? गीःकारः। धूःकारः। तपरकरणं किम् ? भाःकामः। भास्कर इति "कस्कादौ"। अभेरिति किम्? प्रातःकारः। स इत्येव। यशः करोति। अनुत्तरस्येत्येव। परमयशःकारः। कमेरणिङन्तस्य सूत्रे निर्देशः किम्? अयस्कान्तः।

शिरोऽधसोः पदे ॥५।४।३५॥ शिरस् अधस् इत्येतयो रेफस्य सकारादेशो भवति पदशब्दे परतः। शिरस्पदम्। अधस्पदम्। मयूरव्यंसकादित्वात्स.। से इत्येव। शिरसः पदम्। अनुत्तरस्येत्येव। परमशिरःपदम्।

कस्कादौ ॥५।४।३६॥ कस्क इत्येवमादिषु रेफस्य सकारादेशो भवति। यथा ते तत्र पठ्यन्ते तथैव तेषां साधुत्वम्। कस्कः। किमः तमन्तस्य वीप्सायां द्वित्वम्। कौतस्कुतः। समुदायस्यामृत्त्वेऽपि वचनात् तत आगतेऽर्थेऽण्। भ्रातुष्पुत्रः। सेऽपि "ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धात्" [४।३।१२६] इत्युप्। "इणः षः" [५।४।२७] इति षत्वम्। शुनस्कर्णः। असञ्ज्ञायां "ताया आक्रोशे" [४।३।१३४] इत्युप्। सञ्ज्ञायां तु श्वकर्ण इति। सद्यस्कालः। सद्यस्क्रीः। सम्पदादित्वात् क्विप्। तत्र भवः साद्यस्कः। तमस्काण्डम्। अयस्काण्डम्। तपस्काण्डम्। मेदस्पिण्डः। आकृतिगणोऽयमविहितलक्षणं सत्वमिति द्रष्टव्यम्।

इण्कोः सः षः ॥५।४।३७॥ इणः कवर्गाच्चोत्तरस्य सकारस्य षत्वं भवतीत्येषोऽधिकारो वेदितव्यः। वक्ष्यति "त्यादेशयोः" [५।४।३९]। मुनिषु। देवेषु। गीर्षु। वाक्षु। प्राङ्क्षु। उदङ्क्षु। सिषेव। सुष्वाप। इण्कोरिति किम्? यास्यति। "क्षियाशीःप्रैषेषु" [५।३।१०२] इति निर्देशादिण्परेण णकारेण गृह्यते। स इति स्थानिनिर्देशो रेफस्य स्थानित्वनिवृत्त्यर्थः। पुनः षग्रहणं कुप्वोरित्यस्य निवृत्त्यर्थम्। उत्तरत्र "नाग्नन्ते" [५।४।७६] इति प्रतिषेधात् पदस्येत्येतदनुवर्तमानमिह विशेषणरूपेण सम्बध्यते।

नुम्शर्व्यवायेऽपि ॥५।४।३८॥ नुम्व्यवाये शर्व्यवाये अव्यवायेऽपि इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य षकारादेशो भवति। सर्पींषि। धनूंषि। अत्र नुमादेशो नुम्। तेनेह न भवति। पुंसु। शर्व्यवाये। सर्पिष्षु। धनुष्षु। रेः सत्वे कृते वरस्य षत्वम्।

[त्यादेशयोः ॥५।४।३९॥ शास्वसघसाम् ॥५।४।४०॥ पणि चाण्णिस्तोरेव ॥५।४।४१॥ सञ्खिदिस्विदिसहेः ॥५।४।४२॥ प्राक् सितादट्यपि ॥५।४।४३॥ स्यादेश्चेन चस्य ॥५।४।४४॥ गेः सुञ्सूसोस्तुस्तुभः ॥५।४।४५॥][1]

.................म इति षत्वे य ....माश्रीयते। अभितष्ठावित्यत्र चस्य टवर्गः स्यात्। चस्य च गेः परस्य सत्त्व भवतीदमपि नियमार्थवचनम्। अभिषिषिक्षति। परिषिषिक्षति। अत्र द्विः प्रयोगो द्वित्व गो सिच इत्येव षत्व सिद्धम्। "सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय।" स्यादीनामेव वक्ष्यमाणाना चस्य षत्वम्। चेन च व्यवा नान्येषा सुनोत्यादीनाम्। अभिसुसूषति। अभिसिसासति। स्यादीना चस्येवेति न शङ्क्यम्......येतिशान मनर्थ स्यात्।

स्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ॥५।४।४६॥ गेरिति वर्तते। गेः परेषा स्था से नय सेध सिच् सञ्ज स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य षत्वं भवति। अभिष्ठास्यति। परिष्ठास्यति। अटा व्यवाये—अभ्यष्ठात्। पर्यष्ठात्। चेन च व्यवाये—अभितष्ठौ। अभिषेणयति। अभ्यषेणयत्। अतिषिषेणयिषति। अत्रादेशमात्र भावादप्राप्ते विधिः। सेध इति भौवादिकस्य ग्रहणम्। अभिषेधति। निषेधति। अभ्यषेधत्। न्यषेधत्। चस्य च। अभिषिषेध। निषिषेध। अभिषिञ्चति। अभ्यषिञ्चत्। चेन च व्यवाये—अभिषिषिक्षति। अभिषिषि।

---

1. प्रतिषु [ ] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिस्त्रुटिता। सूत्राणि तु जैनेन्द्र पञ्चाध्यायीमनुसृत्यात्र निर्दिष्टानि।

अभ्यषजत्। चेन च व्यवाये-अभिषिषङ्क्षति । अभिष्वजते। अभ्यष्वजत्। चेन च व्यवाये। अभिषिष्वङ्क्षते। गेरित्येव। दधि सिञ्चति।

सदोऽप्रतेः ॥५।४।४७॥ अप्रतेर्गेः परस्य सदेः सकारस्य षत्वं भवति। अभिषीदति। निषीदति। अभ्यषीदत्। न्यषीदत्। चस्य। अभिषिषत्सति। अभिषसादेत्यत्र "सदिस्वञ्ज्योः परस्य लिटि" [५।४।८४] इति धो. षत्वप्रतिषेधः। अप्रतेरिति किम्? प्रतिसीदति।

स्तम्भेः ॥५।४।४८॥ गेरिणः परस्य स्तम्भेः सकारस्य षत्वं भवति। अभिष्टभ्नाति। प्रतिष्टभ्नाति। अभ्यष्टभ्नात्। पर्यष्टभ्नात्। चेन च व्यवाये-अभितष्टम्भ। प्रतितष्टम्भ्यते। स्तम्भिः सौत्रो धुः। तस्य अषोपदेशत्वादप्राप्ते प्रतिषिद्धे वा षत्वे सूत्रं प्रतिसङ्ग्रहार्थम्। उत्तरार्थं च पृथक्करणम्।

आलम्बनाविदूरेऽवात् ॥५।४।४९॥ अनिणर्थ आरम्भः। अवाद्गेरुत्तरस्य स्तम्भेः सकारस्य षत्वं भवति आलम्बने अविदूरे चार्थे। अवष्टभ्य आस्ते। अवष्टभ्नाति। अवाष्टभ्नात्। अवतष्टम्भ। अविदूरे-अवष्टब्धे सेने। अवष्टब्धा शरत्। आलम्बनाविदूरे किम्? अवस्तब्धो वृषभः। विदूरप्रतिषेधान्नातिदूरमासन्नं च गृह्यते।

वेश्च स्वनोऽशने ॥५।४।५०॥ वेरवाच्चोत्तरस्य स्वनः सकारस्य षत्वं भवत्यशनेऽर्थे। विष्वणति। सशब्दमश्नातीत्यर्थः। अवष्वणति। व्यष्वणत्। अवाष्वणत्। चेन च व्यवाये-विषष्वाण। अवषष्वाण। विषिष्वणिषति। अशन इति किम्? विस्वनति। अवस्वनति मृदङ्गः। नानाभ्यवहारविशेषः।

परिनिविभ्यः सेवसितसयाम् ॥५।४।५१॥ परि नि वि इत्येतेभ्यः परेषां सेव सित सय इत्येतेषां सकारस्य षो भवति। सेव इति भौवादिकः सेवार्थो धुर्गृह्यते। परिषेवते। निषेवते। विषेवते। पर्यषेवत। न्यषेवत। व्यषेवत। चेन व्यवाये-परिषिषेविषते। परिषितः। निषितः। विषितः। परिषयः। निषयः। विषयः। षिञ् बन्धन इत्यस्य क्तान्तस्याजन्तस्य च ग्रहणम्। केचित्तु-सह (योगाकरणान्नियमार्थमेषां) ग्रहणमिच्छन्ति। एतेभ्य एव परस्य षत्वमिति। तेषामेना स्वरितत्वाभावाद्यथासङ्ख्यं न भवति।

सिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् ॥५।४।५२॥ परिनिविभ्यः परेषां सिवु सह सुट् स्तु स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य षो भवति। परिषीव्यति। निषीव्यति। विषीव्यति। परिषहते। विषहते। निषहते। सुट् परिमेव प्रयोजयति। परिष्कर्ता। परिष्करोति। "संपर्युपात्कृञ सुट् भूषे" [४।३।११०] इति सुट्। तस्यानादेशत्वादप्राप्ते ... प्रतिषिद्धे षत्वे वचनम्। गेः परस्य षत्वसिद्धेः स्तुस्वञ्जोर्ग्रहणमुत्तरार्थम्। अटो व्यवाये विकल्पो यथा स्यात्।

वाऽटा ॥५।४।५३॥ सिवादीनामटा व्यवाये वा षो भवति। परिनिवेरिति वर्तते। पर्यषीव्यत्। न्यषीव्यत्। व्यषीव्यत्। पर्यसीव्यत्। न्यसीव्यत्। व्यसीव्यत्। पर्यषहत। न्यषहत। व्यषहत। पर्यसहत। न्यसहत। व्यसहत। पर्यष्टौत्। न्यष्टौत्। व्यष्टौत्। पर्यस्तौत्। न्यस्तौत्। व्यस्तौत्। पर्यष्वजत। न्यष्वजत। व्यष्वजत। पर्यस्वजत। न्यस्वजत। व्यस्वजत। सिवुसहस्तुषु नित्ये प्राप्ते स्वञ्जेः प्राप्ते विभाषा।

परेः ॥५।४।५६॥ परेरुत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा षत्वं भवति। परिष्कन्ता। परिस्कन्ता। तसञ्ज्ञकेऽपि यथा स्यादिति योगविभागः। परिष्कण्णः। परिस्कन्नः।

परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु ॥५।४।५७॥ प्राच्यभरतेषु परिस्कन्द इति निपात्यते। पचाद्यचि पूर्वेण पक्षे प्राप्तस्य षत्वस्याभावो निपात्यते। परिस्कन्दो वहति। प्राच्यभरतेष्विति किम्? परिष्कन्दः। परिस्कन्दः।

स्फुरिस्फुल्योर्निर्निविः ॥५।४।५८॥ निस् नि वि इत्येतेभ्यः परयोः स्फुरि स्फुलि इत्येतयोः सकारस्य वा षकारो भवति। शर्व्यवायेऽपि षत्वम्। निःष्फुरति। निःस्फुरति। निष्फुरति। निस्फुरति। विष्फुरति। विस्फुरति। निःष्फुलति। निःस्फुलति। निष्फुलति। निस्फुलति। विष्फुलति। विस्फुलति।

वेः स्कभ्नेः षः ॥५।४।५९॥ वेरुत्तरस्य स्कभ्नातेः सकारस्य षकारो भवति। विष्कभ्नाति। विष्कम्भः। पुनः षग्रहणं नित्यार्थम्। स्कम्भिः सौत्रो धुः षोपदेशः।

इणः षीध्वंलुङ्लिटां धो गोर्ढः ॥५।४।६०॥ इणन्ताद्गोरुत्तरेषां षीध्वंलुङ्लिटां धकारस्य ढकारादेशो भवति। च्योषीढ्वम्। प्लोषीढ्वम्। अच्योढ्वम्। अप्लोढ्वम्। "धि" [५।३।४३] इति सलम्। चकृढ्वे। ववृढ्वे। "क्रु" [५।१।११४] आदिनेट्प्रतिषेधः। इण इति किम्? कवर्गान्मा भूत्। पक्षीध्वम्। यक्षीध्वम्। षीध्वंलुङ्लिटामिति किम्? स्तुध्वे। स्तुध्वम्। लिटीति कर्तव्ये षीध्वमिति किम्? अधीयीध्वम्। स्तुवीध्वम् इत्यत्र मा भूत्। ध इति किम्? च्योषीढ्वमित्यत्र परस्यादेर्मा भूत्। गोरिति किम्? परिवेविषीध्वम्। अत्र नो षकारस्य ईध्वशब्दस्य च समुदायः षीध्वशब्दो न तु गोः परः। अर्थवद्ग्रहणपरिभाषा चानित्या। तेन "अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन" [प०] इति सिद्धम्।

वेटः ॥५।४।६१॥ इणन्तात्गोरुत्तरो य इट् ततः परेषां षीध्वंलुङ्लिटां धकारस्य ढकारादेशो वा भवति। इट् पक्षे परत्वं श्रुतिकृतमाश्रीयते। लविषीढ्वम्। लविषीध्वम्। इट इण्ग्रहणेन ग्रहणात्। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते। अलविढ्वम्। अलविध्वम्। सेरिटागमो न लुङ इति तद्ग्रहणाभावाद् व्यवधानमस्तीत्यप्राप्ते लुलुविढ्वे। लुलुविध्वे। अत्र लिट एवेडागम इति प्राप्ते विकल्पः। इणन्ताद्गोरित्येव। आसिषीध्वम्। उपदिदीयिध्वे इत्यत्र "दीङोऽचि क्ङिति युट्" [४।४।६२] इति युटि कृते इणन्ताद्गोरानन्तर्यमिटस्समुदायभक्तेन युटा विहतमिति ढत्वं न भवति। तस्मान्न नित्यो विधिः। अस्ति ह्यत्रेणन्ताद्गोरुत्तरो लिट् तत्सम्बन्धी च धकारः। एवं तर्हि नित्य व्यवस्थितविभाषा पूर्वमवलोक्यते। ततोऽत्रापि विकल्पः।

सेऽङ्गुलेः सङ्गः ॥५।४।६२॥ अङ्गुलेरुत्तरस्य सङ्गसकारस्य षत्वं भवति से। सङ्ग इत्यत्र "सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्टः" [५।२।११४] इति ङसः स्थाने सुः। अङ्गुलिषङ्गो दृढः। अङ्गुलिषङ्गा यवागूः। भावे कर्मणि च घञ्। इत्येव अङ्गुलेः सङ्गः। अङ्गुलिपदात्परस्य पदस्य षत्वारम्भाद्विभक्त्या व्यवधानेऽपि प्रसज्यते।

भीरोः स्थानम् ॥५।४।६३॥ भीरोरुत्तरस्य स्थानसकारस्य षत्वं भवति से। भीरुष्ठानम्। से इत्येव। भीरोः स्थानम्। अधिकारे युट्। पृथग्योगकरणं स्पष्टार्थम्।

ज्योतिरायुषः स्तोमः ॥५।४।६४॥ ज्योतिष् आयुष् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्तोमसकारस्य षो भवति। ज्योतिष्टोमः। आयुष्टोमः। "शरि सश्च" [५।४।२२] इति विसर्जनीयः सत्वं वा। तस्य ष्टुत्वम्। [illegible] स्तोमस्य दाढर्यम्।

स्तुत्सोमौ चाग्नेः ॥५।४।६५॥ अग्नेरुत्तरयोः स्तुत सोम इत्येतयोः स्तोमस्य च सकारस्य षो भवति। अग्निष्टुत्। क्विबन्तेन वाक्यम्। अग्नीषोमौ। "गौणमुख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययात्" [प०] इह न भवति। अग्निगुणसोमगुणौ अग्निसोमौ मनुष्यौ। अत एवाग्नेरीत्वाभावः। अग्निष्टोमः। [illegible] "[illegible]" [५।४।१६] इति प्रतिषेधे प्राप्ते।

मातृपितृभ्यां स्वसुः ॥५।४।६६॥ मातृपितृभ्यां परस्य स्वसृसकारस्य षो भवति। मातृष्वसा। पितृष्वसा। अनादेशसकारोऽयम्। स इत्येव। वाक्ये न भवति। मातुः स्वसा। पितुः स्वसा।

वाऽनुपि ॥५।४।६७॥ अनुपि से मातृपितृभ्यामुत्तरस्य स्वसृसकारस्य वा षो भवति। मातुःष्वसा। मातुः स्वसा। पितुःष्वसा। पितुः स्वसा। ताया अनुप्।

णिप्रादुर्भ्यां यच्यस्तेः ॥५।४।६८॥ स इति निवृत्तम्। णेरिणः प्रादुःशब्दाच्चोत्तरस्य अस्ते. सकारस्य यकारादौ अजादौ च षत्वं भवति। अभिष्यात्। निष्यात्। प्रादुःष्यात्। अभिषन्ति। निषन्ति। प्रादुःषन्ति। णिप्रादुर्भ्यामिति किम्? दधि स्यात्। मधु स्यात्। यचीति किम्? अनुस्वः। अनुस्म.। अस्तेरिति किम्? केवल सकार क्रियावाचिन प्रति णिसञ्ज्ञाया षत्वमत्र स्यात्। अनुसूते इति अनुसूः। अनुस्व. अपत्यम् आनुसेयः। "चतुष्पाद्भ्यो ढञ्" [३।१।१२३] इति ढञ्। "ढेः खम्" [४।४।१२५] इति ऊकारस्य खम्। प्रादु.शब्दस्य तु कृभ्वस्तिष्वेव प्रयोगात् प्रत्युदाहरणं नास्ति।

निर्दुस्सुवेः सुपिसूतिसमाः ॥५।४।६९॥ निस् दुस् सु वि इत्येतेभ्यो णिभ्य उत्तरेषां सुपिसूतिसमानां सकारस्य षो भवति। निष्षुप्तः। दुष्षुप्तः। सुषुप्तः। विषुप्तः। निःषूतिः। दुःषूतिः। सुषूतिः। विषूतिः। निःषमः। दुःषमः। सुषमः। विषमः। "णिप्रकरणे सर्वत्र सुदुर्भ्यां योगे षत्वं नेष्यते" इति वचनम्। "सुदुसोः प्रतिषेधो नुविधिनत्वषत्वणत्वेषु" इति वचनात्। सम इति सर्वादिषु पठ्यते। तस्य "सम ष्टम अवैक्लव्ये" [धा०] इत्यनेन व्युत्पत्तिपक्षेऽपि ग्रहणम्। सूतिरिति सूतेः सूयतेः सुवतेश्च क्त्यन्तमेव रूपं समशब्दसाहचर्याद्गृह्यते। तेन विसृतमित्यादौ षत्वं न। सुपीति विकृतनिर्देशादिह मा भूत्–विस्वप्न इति। [illegible] तर्हि कस्मान्न भवति। "हलोऽनादेः" [५।२।१६१] इति स्वे कृते पश्चाज्जिरिति सुपिरत्र नास्ति। [illegible] सुषुपुः समाधिः। हलोऽनादेः स्वात्प्राग्जिर्भवतीत्युक्तम्। एकदेशविकृतस्य चानन्यत्वात् सुपिरेवायमिति प्राप्नोति। स्वादीनामेव षत्वं नान्येषामित्यपि नास्ति। सुनोत्यादिषु स नियमो निवर्तकः। एवमप्यनर्थकोऽयं सुपि। द्विःप्रयोगेऽपि द्वित्वे समुदायस्यैवार्थवत्ता न केवलस्य धोर्नापि षत्वं। विषुषुपतुर्विषुषुपुरित्यत्र "पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे" [प०] इति सुपि. षत्वभूतो द्विरुच्यते। णेरित्येव। निर्गता सूतिः निःसूतिः।

विकुशमीपरेः स्थलम् ॥५।४।७०॥ वि कु शमी परि इत्येतेभ्यः परस्य स्थलसकारस्य षत्वं भवति। विष्ठलम्। कुष्ठलम्। विकु यदि तिसञ्ज्ञौ तदा स्थलशब्देनाजन्तेन "तिकुप्रादयः" [१।३।८१] इति सः। [illegible] नेतान। शमिष्ठलमिति सञ्ज्ञाया "त्वे ङ्यापो क्वचित् खौ च" [४।३।१७३] इति परिष्ठलम्।

अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्क्वङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमेबर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ॥५।४।७१॥ अम्बा अम्ब गो भूमि सव्य अप द्वि त्रि कु शेकु शङ्कु अङ्गु मञ्जि पुञ्जि परमे बर्हिष् दिवि [illegible] उत्तरस्य स्थासकारस्य षो भवति। अम्बाष्ठ.। सञ्ज्ञाया तु "त्वे ङ्यापोः क्वचित्खौ च" [४।३।१७३] इति प्राप्ते [illegible]। अम्बष्ठ। गोष्ठ.। गावस्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति घञर्थे कविधानम्। भूमिष्ठः। [illegible]। अपष्ठ। द्विष्ठः। त्रिष्ठ। कौ कुत्सित तिष्ठतीति कुष्ठ.। शेकुष्ठः। शङ्कुष्ठः। अङ्गुष्ठः। [illegible]। पुञ्जिष्ठ। परमेष्ठ। बर्हिष्ठ। दिविष्ठः। अग्निष्ठ.। सर्वत्र "सुपि" [२।२।७] "स्थ." [illegible]। स्थ [illegible] निर्देश किम्? गोस्थानम्। गोस्थितिः। अथ सव्येष्ठा सारथिः। [illegible]। "परमे क्वित्" [उ० सू०] इति इनि च कथं षत्वम्? सुषामादिष्वेतौ द्रष्टव्यौ। "षे कृति [illegible]" [४।३।१३८] इति [illegible]।

सुषामादिषु च ॥५।४।७२॥ सकारस्य षो भवति। स्यतेर्मनि साम। शोभन सामाऽस्य सुषामा। [illegible]। [illegible]। [illegible]। निःषेध.। दुःषेधः। "सु. पूजाया न णिति" [१।४।७] इति सोः [illegible] णिसञ्ज्ञा षत्व नास्ति। णित्वेऽपि सेधते. "सेधो गतौ" [५।४।७६]

इति प्रतिषेधो मा भूत् । सुषन्धिः । निःषन्धिः । दुःषन्धिः । अयमनादेशसकारः । सुष्ठु । दुष्ठु । तिष्ठते रौणादिकः कुः । अत्र "नाद्यन्ते" [५।४।७६] इति प्रतिषेधः प्राप्तः । गौरिसक्थः । "असिमञ्जिभ्या क्थिः" [उ० सू०] इति क्थिः । गोर्या सक्थीव सक्थि यस्येति बसे "स्वाङ्गाट्टेऽचि सक्थ्नः" [४।२।११२] इति टः सान्तः । अनङ् । "नोऽपुंसो हृति" [४।४।१२०] इति टित्वम् "त्वे ट्यापो" [४।३।१७२] इत्यादिना प्रादेशः । प्रतिष्णिका । प्रतिपूर्वात् स्नातेः "आतो गौ" [२।३।८८] इति कः । टाप् । तदन्तात् स्वार्थे कः । पुनष्टाप् "केऽणः" [५।२।१२५] इति । प्रत्ययस्थेत्यादिनेत्वम् । नौषेचिका । दुन्दुभिषेवनम् । सञ्जौषा । "एति सञ्ज्ञायामगकारात्" [ग० सू०] । हरिषेणः । साधुषेणः । एतीति किमर्थः ? हरिसक्तिः । सञ्ज्ञायामिति किम् ? पृथ्वी सेनाऽस्य पृथुसेनः । अगकारादिति किम् ? विष्वक्सेनः । इणकोरित्येवाम्बसेनः । "नक्षत्राद्वा एतिसञ्ज्ञायामगकारात्" [वा० सू०] । रोहिणिषेणः । रोहिणिसेनः । भरणिषेणः । भरणिसेनः । अगकारादित्येव । शतभिषक्सेनः । अविहितलक्षणं षत्वमिह द्रष्टव्यम् ।

प्रादुर्भूत्यसिङस्ति ॥५।४।७३॥ प्रादुत्तरस्य असिङः सकारस्य षो भवति तकारादौ हृति परतः । सर्पिष्टरम् । सर्पिष्टमम् । चतुष्टयम् । सर्पिष्ठा । सर्पिष्ट्वम् । सर्पिष्ठो बिभेति । पदान्तेऽपि षत्वार्थमिदम् । प्रादिति किम् ? गौस्तरा । धूस्तरा । हृतीति किम् ? सर्पिस्तत्र । असिङ इति किम् ? भिन्द्युस्तराम् । छिन्द्युस्तराम् । तकारादाविति किम् ? सर्पिस्साद् भवति । पूर्वस्य मा भूत् । परस्य "सात्" [५।४।७७] इत्येव प्रतिषेधः सिद्धः ।

निसस्तपतावनासेवने ॥५।४।७४॥ निसः सकारस्य तपतौ परतः षो भवत्यनासेवनेऽर्थे । मुहुर्मुहुः क्रियायाः सेवनमासेवनम् । निष्टप्तं सुवर्णम् । निष्टप्ता अरातयः । सकृत्तप्ता इत्यर्थः । अनासेवन इति किम् ? निस्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः । मुहुर्मुहुस्तपतीत्यर्थः । इदमप्यन्ते विधानार्थम् । कुनिर्देशादन्तिपा निर्देशः ।

निष्णातनदीष्णातप्रतिष्णाताभिनिष्टानकपिष्ठलप्रष्ठविष्टरविष्टारगविष्ठिरयुधिष्ठिराः ॥५।४।७५॥ निष्णात नदीष्णात प्रतिष्णात अभिनिष्टान कपिष्ठल प्रष्ठ विष्टर विष्टार गविष्ठिर युधिष्ठिर इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । "निनदीभ्यां स्नातस्य कौशले षत्वम्" । निष्णातः काव्यकरणे । नदीष्णातः । नदीस्नाने कुशल इत्यर्थः । निस्नातनदीस्नातावन्यत्र । योपि "सुपि" [२।२।७] "स्थ" [२।२।८] इति योगविभागात् कृते नदीष्ण इति । तस्य सुषामादिषु षत्वम् । प्रतिष्णात भवति सूत्रं चेत् । प्रतिस्नातमन्यत् । अभिनिष्टानो भवति वर्णश्चेत् । अभिनिर्भ्यां परस्य स्तन ध्वन इत्यस्य कर्तरि घञि रूपम् । अभिनिःस्तन्यत इति अभिनिष्टानो विसर्जनीयः । अभिनिःस्तानोऽन्यः । कपिष्ठलो भवति गोत्रशब्दश्चेत् । कपिष्ठलोऽपत्य यस्य कापिष्ठलिः । आद्यः पुमानपत्यसन्ततेः प्रवर्तयिता लोके गोत्रम् । ततोऽन्यः कपिस्थलम् । प्रष्ठ इति प्राक् स्थस्य षत्वम् ग्रामिणि प्रतिष्ठते इति प्रष्ठो देवदत्तः । प्रष्ठो गौः । प्रस्थ इत्यन्यत्र । अग्रेग्रामिणीत्यत्र "कुमति" [५।४।८६] इति णत्वम् । "न भाभूपूकमिगमि" [५।४।११२] इति णे कृत्यस्य प्रतिषेधः । "वेः स्तरस्य वृत्तार्थतया षत्वम्" । विष्टरो वृत्तः । विष्टरमासनम् । विस्तर इत्यन्यत्र । "वेः स्तारस्य छन्दोनाम्नि षत्वम्" । विष्टार पङ्क्तिश्छन्दः । विष्टार बृहती छन्दः । "छन्द नौ" [२।३।२२] इति घञ् । परस्य विस्तार इत्यन्यत्र । "गवियुधिपूर्वस्य स्थिरस्य सञ्ज्ञायां षत्वम्" । गविष्ठिरो युधिष्ठिरो गोशब्दादहलन्तादपि निपातनादेवालुक् । गविस्थिरो युधिस्थिर इत्यन्यत्र ।

नाद्यन्ते ॥५।४।७६॥ पदस्य आदावन्ते च षत्वं न भवति । दधि सिञ्चति । मधु सिञ्चति । अग्निः । वायुस्तत्र । "इणः" [५।४।३७] "स्यादेशयोः" [५।४।३८] इति षत्वे प्राप्ते प्रतिषेधः ।

सात् ॥५।४।७७॥ सादित्येतस्य च षत्वं न भवति । अग्निसात् । मधुसात् ।

सिचो यङि ॥५।४।७८॥ सिचो यङि परतः षत्वं न भवति । सेसिच्यते । "स्यादेशयोः" [५।४।३८] इति प्राप्तिः । अभ्यासनिमित्तकत्वे ... इति सिचः षत्वं न भवति । "पूर्व

नाप्राप्तन्यायेन" [प०] "नाद्यन्ते" [५।४।७६] इत्यत्रैव प्रतिषेधस्य बाधकं णिलक्षणं न सिचो यङीत्यस्य। अथवा "पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्" [प०] इति यङि सर्वत्र प्रतिषेधः। यङीति किम् ? परिषिषिक्षति।

सेधो गतौ ॥५।४।७९॥ सेधतेर्गत्यर्थस्य षत्वं न भवति। अभिसेधति। प्रतिसेधति गाः। "स्थासेनयसेध" [५।४।४६] इत्यादिना प्राप्तस्य प्रतिषेधः। गताविति किम् ? प्रतिषेधति पापम्। निवारयतीत्यर्थः।

निस्तब्धप्रतिस्तब्धौ ॥५।४।८०॥ निस्तब्ध प्रतिस्तब्ध इतीमौ शब्दौ निपात्येते। निस्तब्धः। प्रतिस्तब्धः। क्ते परतः "स्तम्भेः" [५।४।४८] इति प्राप्ते प्रतिषेधः।

सोढः ॥५।४।८१॥ सहेः सोढभूतस्य षत्वं न भवति। परिसोढा। परिसोढुम्। एवं निसोढा। विसोढा। परिनिविभ्यः "सिवुसहसुट्स्तुस्वञाम्" [५।४।५२] इत्यनेन प्राप्तिः। सोढभूतस्य ग्रहणं किम् ? परिषहते। निषहते। सोढ इति सहेः सोढभूतस्यानुकरणं ङसा निर्दिष्टः।

स्तम्भुसिवुसहां कचि ॥५।४।८२॥ स्तम्भु सिवु सह इत्येतेषां कचि परतः षत्वं न भवति। अभ्यतस्तम्भत्। पर्यतस्तम्भत्। "स्तम्भेः" [५।४।४८] इत्यटा चेन च व्यवाये णिनिमित्तं प्रतिषिध्यते। सिवुसहोस्तु परिनिविभ्यः परयोः "वाड्व्या" [५।४।५३] इति विकल्पः प्राप्तः। पर्यसीषिवत्। न्यसीषिवत्। पर्यसीषहत्। न्यसीषहत्। सर्वत्र णियुक्ताण्णिच् क्रियते। णिलक्षणस्य षत्वस्याय प्रतिषेधो न तु "स्यादेशयोः" [५।४।३६] इत्यनेन चाडुत्तरस्य व्यवहितत्वात्।

सुञः स्यसनोः ॥५।४।८३॥ सुनोतेः सकारस्य स्य सन् इत्येतयोः परतः षत्वं न भवति। अभिसोष्यते। परिसोष्यते। अभ्यसोष्यत। पर्यसोष्यत। सनि। सुसूषति। नैतद्युक्तम्। "षणि चाण्णिस्तोरेव" [५।४।४१] इति नियमादत्राप्राप्तिः। इदं तर्हि अभिसुसूषति। अत्रापि "स्थादेशेनेन चस्य" [५।४।४४] इति नियमादप्राप्तिः। तत्रोक्तम्। णिनिमित्त स्थादीनामेव षत्वं नान्यस्येति। क्विपि तदुदाहरणम्। अभिसुसूः। रित्वे विसर्जनीये च कृते "षणि" [५।४।४१] इति नियमाभावाच्चात्परस्य प्राप्तं षत्वं प्रतिषिध्यते। स्यसनोरिति किम् ? सुषाव।

सदिस्वञ्ज्योः परस्य लिटि ॥५।४।८४॥ सदि स्वञ्जि इत्येतयोर्लिटि परस्य षत्वं न भवति। अभिषसाद। निषसाद। अभिषस्वञ्जे। निषस्वञ्जे। "लिटि स्वञ्जेर्वा न खं भवतीत्युपसंख्यातव्यम्" [वा०] नाभिषष्वजे। विषष्वजे। सदेश्चेन व्यवाये "सदोऽप्रतेः" [५।४।४७] इति स्वञ्जेस्तु "स्थासेनय" [५।४।४६] इत्यादिना षत्वे प्राप्ते प्रतिषेधः।

षो नो णः समाने ॥५।४।८५॥ पदस्येति वर्तमानं समानं इत्यनेन समानधिकरणं जायते। षकाररेफाभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति समाने पदे चेन्निमित्तनिमित्तिनौ भवतः। कुष्णाति। मुष्णाति। आस्तीर्णम्। विस्तीर्णम्। समान इति किम् ? मुनिर्नयति। साधुर्नयति स्वर्गम्। "धिन्विकृण्व्योर च" [२।१।७५] इत्यत्र णत्वनिर्देशात् ऋवर्णादपि परस्य णत्वं भवति। तिसृणाम्। मातृणाम्। षकारग्रहणमुत्तरार्थम्। अव्यवाये एतेनापि सिद्धमेतत्।

अट्कुप्वाङ्व्यवायेऽपि ॥५।४।८६॥ अट् कु पु आङ् इत्येतैर्व्यवाये अव्यवायेऽप्यनेन षकाररेफाभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णो भवति। अट्। वर्षेण। वृषेण। गिरिणा। मेरुणा। कु। निष्केण। शुष्केण। अर्केण। मूर्खेण। दर्गेण। दीर्घेण। पु। पुष्पेण। सर्पेण। दर्पेण। रेफेण। गर्भेण। दर्भेण। धर्मेण। आङ्। पर्याणद्धम् निराणद्धम्। अट्ग्रहणेनैव सिद्धे आङ्ग्रहणं "पदव्यवायेऽपि" [५।४।११६] अस्य बाधनार्थम्। अडादिष्वेकेन च व्यवाये णत्वमिष्यते इत्यर्थम्। अन्यथा वाक्यपरिसमाप्तेराश्रयणात्। यथा गर्गैः सह न भोक्तव्यमेकेनाकेनापि न भुज्यते। इह कथं णत्वम् बृंहणम्। बृंहणीयम्। "तृह स्तृह तृंह हिंसार्थाः"। तृंहणम्। अनुस्वारस्याप्ययोगवाहत्वादट्ग्रहणेन ग्रहणमिति णत्वम्। तदुक्तम्—"अयोगवाहो यत्रेष्टस्तत्र तत्र

तदा भवेत्" इति । "रिवि रवि गतौ" इत्यस्य । रिण्वनम् । रिण्वनीयम् । अत्यरत्वाभावादनुस्वारो नास्तीति णत्वाभावः । तृम्फणम् । तृम्फणीयमित्यत्र परस्वत्वस्यासिद्धत्वादनुस्वारोऽस्तीति णत्वं भवति ।

पूर्वपदात् खावगः ॥५।४।८७॥ खु इति वर्तते । षकाररेफवतः पूर्वपदात् अगकारान्तात् उत्तरस्य नकारस्य णो भवति खुविषये । पुष्पणन्दी । श्रीणन्दी । श्रीनन्दिशब्दस्य क्षुभ्नादिषु णत्वं निषिद्धम् । खरणस. । वार्ध्रीणसः । खाविति किम् ? शुष्कनासिकः । दीर्घनासिकः । अग इति किम् ? ऋगयनम् । क्षुभ्नादिषु नृनमन तृप्नोतिशब्दयोः प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम् ऋकारस्याट्टेफादजगेन व्यवहितत्वात् पदस्य णत्वं भवतीति णत्वप्राप्ति । नियमार्थोऽयं योगः । पूर्वपदात्खावेव नान्यत्र । अथ पूर्वपदादेव खाविति कस्मान्न नियमो भवति । एवं सति गु नियमः स्यात् । अखुविषये पूर्वेण णत्वसिद्धेः "वाह्याद्वाहनम्" [५।४।९२] इत्याद्यारम्भोऽनर्थकः स्यात् । ग से कृते समुदायाद्या विभक्ती तया समुदायस्यैकपदत्वे पूर्वेण प्राप्तिरस्तीति नियमो घटते । पूर्वपदस्य तु नस्यैमागार यथापेक्षम् । पूर्वपदशब्दश्च सम्बन्धिशब्दः । तेनोत्तरपदस्थस्य नकारस्य णत्वं नियमो निवर्तयति न पूर्वपदस्थस्य नापि त्यस्थस्य । करणप्रियः । खारपायणः । करणे प्रियमस्य । खरपस्यापत्यमिति विग्रहः । अग इत्यनन्तरस्य प्रतिषे. प्राप्नोतीति चेत्, तत्र को दोषः ? खौ चाखौ च पूर्वेण णत्वं स्यात् । एवं तर्हि अग इति योगविभाग. । तेन विधिनियमयोः प्रतिषेधः ।

वनं पुरगामिश्रकासिध्रकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः ॥५।४।८८॥ खाविति वर्तते । पुरगा मिश्रका सिध्रका शारिका कोटरा अग्र इत्येतेभ्यः परं वनं विनम्यते । विनाम इति पत्वणत्वयोः संज्ञा । पुरगावणम् । मिश्रकावणम् । सिध्रकावणम् । शारिकावणम् । कोटरावणम् । तासे कृते पूर्वपदस्य "गिरिवने किंशुलुक कोटराद्यो. खौ" [४।३।२२०] इति दीत्वम् । वनस्याग्रे अग्रेवणम् । "राजदन्त" [१।३।९३] आदित्वात्पूर्वनिपातः । "ङ्पोऽह्वल." [४।३।१२७] इत्यनुप् । "सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ." । एतेभ्य एव वनं विनम्यते नान्येभ्यः । मनोहरवनम् । अथ पुरगादिभ्यो वनमेव विनम्यते नान्यदिति कस्मान्न नियमः । एवं सति पुरगादिनियम स्यात् । वनं त्वनियतं तस्य खौ पूर्वेणैव णत्वं सिद्धमित्युत्तरसूत्रे ख्यावपि प्रादिभ्यः परं वनं विनम्यत इत्यपि गत्वोऽनर्थ. स्यात् । ज्ञायते पुरगादिभ्य एव वनं विनम्यते इति नियमः । पुरगादीनां कृतदीत्वानामुच्चारणं किम ? यत्रैव दीत्वं तत्रैव णत्वं यथा स्यात् । इदमेव ज्ञापकमनित्यं खौ दीत्वमिति तेन लम्बकर्ण. । विद्धकर्ण । अलिन्द्र । कमठरकु इत्येवमादि सिद्धम् ।

प्रान्तर्निःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽखावपि ॥५।४।८९॥ प्र अन्तर् निस् शर इक्षु प्लक्ष आम्र कार्श्य खदिर पीयूक्षा इत्येतेभ्यः परं वनं विनम्यते अखावपि ख्यावपि च । प्रवणम् । अन्तर्वणम् । निर्वणम् । शरवणम् । इक्षुवणम् । प्लक्षवणम् । कार्ष्यवणम् । खदिरवणम् । पीयूक्षावणम् । प्रगतं वनम्, अन्तर्गतं वनम्, निर्गतं वनमिति विग्रहः । शरवणादिषु तास. । ये ओषधिवनस्पतिशब्दा न भवन्ति तेभ्यः अखौ ख्यौ च पूर्वाभ्यामप्राप्ते विधि. । ओषधिवनस्पतिशब्देभ्यस्तु ख्यावप्राप्ते विधिः । अखौ तूत्तरसूत्रेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् । अपिशब्दस्य पूर्वसूत्रे प्रयोजनमुक्तम् ।

विभाषौषधिवनस्पतिभ्य. ॥५।४।९०॥ ओषधिवनस्पतिशब्दस्य परं वनं विभाषा विनाम्यते । ओषधिभ्य.—दूर्वावणम् । दूर्वावनम् । व्रीहिवणम् । व्रीहिवनम् । वनस्पतिभ्यः—शिरीषवणम् । शिरीषवनम् । आरकवणम् । आरकवनम् । व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणात् द्व्यक्षरत्र्यक्षरेभ्य एव । तेनेह न भवति । अरण्य वनम् । "इरिकादिभ्यश्च न भवति" [वा०] । इरिकावनम् । तिमिरवनम् । नर्मीरवनम् । एवं पुरगादिभ्य एव वनं विनम्यते इत्यत्रापि विभाषा । स्वौ त्वसिद्धत्वादिष्यमेव वा वने । यदि नियतेन प्रयोजनं तेन ... तेषामिष्टत्वादिदमत्र द्रष्टव्यं । बहुवचननिर्देश. पर्यायार्थ । इह वनस्पतिग्रहणे वृक्षाणामपि ग्रहणम् । तत्र —

'फली वनस्पतिर्ज्ञेयो वृक्षाः पुष्पफलोपगाः ।"

पुष्पफले अन्यतरच्चोपगच्छन्ति ये ते वृक्षाः। तत्र यो वनस्पतिः स वृक्षो भवत्येव। वृक्षन्तु नावश्य वनस्पतिरिति वनस्पतिग्रहणं कृतम्। एतेभ्य इति किम्? शिरीषवनम्। शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः तस्य वनम्। "वरणादे." [३।२।६२] इत्युप्। उपि कृते "युक्तवदुसि लिङ्गसङ्ख्ये" [१।१।६८] इत्यनेन लिङ्ग-सङ्ख्ययोरेवातिदेशो न वनस्पतित्वस्येति णत्वाभावः।

अतोऽह्नः ॥५।४।६१॥ अकारान्तात्पूर्वपदादुत्तरस्य अह्नो नकारस्य णत्व भवति। पूर्वाह्णः। अप-राह्णः। "पूर्वापरप्रथम" [१।३।५३] आदि सूत्रेण षस.। "राजाहःसखिभ्यष्टः" [४।२।६३] इति ट.। "ष्णयोऽह्नोऽह्न" [४।२।६०] इत्यह्नादेशः। अत इति किम्? निरह्नः। दुरह्नः। निर्गतमहः। दुष्टमहः। तपरकरणं किम्? परावृत्तमहः पराह्न.। अह्न इति सूत्रे वृत्तिप्रटितैकदेशो वान्तः। "सूत्रेऽस्मिन् सुब्विधिरिष्ट" [५।२।११४] इति तात्स्थाने वानिर्देशाद् व्याख्येयः। अह्न इति अकारान्तनिर्देशाद्दीर्घाह्ना शरदित्यत्र न भवति। दीर्घाण्यहान्यस्यामिति वसे "वोङ्खे" [३।१।११] इति वा ङीविधिः।

वाह्याद्वाहनम् ॥५।४।६२॥ कालसामान्ये वोढव्य वाह्यम्। वाह्यादुत्तरस्य वाहनस्य णत्व भवति। उह्यतेऽनेनेति वहनम्। प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्। अतो वा निपातनाद्वृडो दीत्वम्। इक्षुवाहणम्। शरवाह-णम्। कर्मणि ताস.। वाह्यादिति किम्? सुखवाहनम्। सुखस्वामिकमित्यर्थः। एव नरवाहनः। नात्र वाह्यात्परं वाहनम्, किन्तु वाहनात्। वाह्यवाहकसम्बन्धे णत्व भवत्येव। सुखवाहणम्। नरवाहणम्। सौ पूर्वेण सिद्ध णत्व नरवाहण इति।

पानं देशे ॥५।४।६३॥ पाननकारस्य णत्व भवति देशे गम्ये। सर्वत्र पूर्वपदस्थान्निमित्तादिति वर्तते। कषायपाणा. गान्धारयः। क्षीरपाणाः आन्ध्रा.। सौवीरपाणाः द्रमिणाः। सुरापाणाः प्राच्याः। अतिशयोऽत्र गम्यते। तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमिति मनुष्याभिधाने देशाभिधानम्। पीयते इति पानम्। "युङ्व्या बहुलम्" [२।३।६४] इति कर्मणि युट्। कषाय पानमेषामिति कर्तरि ता। देश इति किम्? दाक्षिपानम्। क्षीरपाना गोपालका।

वा भावकरणे ॥५।४।६४॥ भावे करणे च यः पानशब्दस्तन्नकारस्य वा णत्वं भवति। भावे—क्षीर-पाणम्। क्षीरपान वर्तते। करणे पीयतेऽनेनेति पान.। वारिपाणः। वारिपानः कसः। वेति योगविभागाद्गिरि-नद्यादिषु वा णत्वम्। चक्रणदी। चक्रनदी। चक्रणितम्बा। चक्रनितम्बा।

मृदन्तनुम्षिभक्त्याम् ॥५।४।६५॥ मृदन्ते नुमि विभक्त्या च यो नकारः तस्य पूर्वपदस्थान्निमित्ताद् वा णत्व भवति। मृदन्ते—माषवापिणौ। माषवापिनौ। व्रीहिवापिणौ। व्रीहिवापिनौ। "प्रायोऽभीक्ष्ण्ये" [२।२।६६] इति णिन्। नुमि। माषवापाणि। माषवापानि। "लक्षणप्रतिपदोक्तयो. प्रतिपदोक्तस्यैव" [प०] इति नुमो [illegible]ग्रहणेनाग्रहणम्। विभक्त्याम्—माषवापेण। माषवापेन। व्रीहिवापेण। व्रीहिवापेन। नियमाद-[illegible] विकल्प। पूर्वपदादिति वर्तते तेन सम्बन्धादुत्तरपद यन्मृत्सञ्ज्ञ तदन्तस्य विकल्पः। तेनेह न भवति। गर्गाणा [illegible]गिनी गर्गभगिनीति। यदा तु गर्गभगशब्दान्मत्वर्थीय इन् तदा णत्व भवत्येव। गर्गभगिणीति। "पूर्वपदात्स्वा-[illegible] [५।४।८७] इत्यनेनोत्तरपदस्यान्य नकारस्य णत्व निवर्त्यते। न त्यस्थस्येत्युक्तम्। यथा मातृभोगीण इत्यत्र [illegible]समानपदस्थे। एतत्वाभिरा [illegible] विकल्पस्य बहिरङ्गत्वादसिद्धत्वाच्चादिसूत्रेण नत्वम्। माषवापिणा [illegible] पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य विधिरिति। मृदन्तत्वाद्विकल्पः। वेति व्यवस्थितविभाषाऽनुवर्तनादिह [illegible]। [illegible]। प्रपक्वानि। परिपक्वानि। दीर्घाह्नी शरदिति।

[illegible] ॥५।४।६६॥ [illegible] यौ पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य मृदन्तनुम्विभक्तीनकारस्य [illegible]। [illegible]। क्षीरपाणि। सुरापाणि। क्षीरपेण। सुरापेण। "आतः कः"

[२।२।३] इति कः। सुराया वाचि पिबतेः "सुरासीध्वोः पिबः" [२।२।१०] इति टक्। पुनर्णग्रहणं नित्यार्थम्।

कुमति ॥५।४।९७॥ कवर्गवति च थौ मृदन्तनुम्विभक्तीनकारस्य णत्वं भवति। इक्षुयुगिणौ। करयुगिणौ। इक्षुयुगेण। अनेकाज्व्यर्थं वचनम्। काविति सिद्धे कुमतीति मत्वर्थीयः किम्? अकवर्गादावपि थौ प्रापणार्थम्। अन्यथा "येनालि विधि" न्यायेन कवर्गादावेव स्यात्।

गेरसेऽपि विकृतेः ॥५।४।९८॥ गेरुत्तरस्य सामर्थ्याद्धोर्विकारस्यासेऽपि णो भवति। असे। प्रणमति। परिणमति। से—प्रणायकः। परिणायकः। विक्रियते इति विकृतिः नकारः। अवयवविकारे समुदायस्य धोर्विकारो यथैकदेशाऽलङ्कारेऽलङ्कृतो देवदत्त इति। ततो विकृतिं प्रति क्रियायोगित्वात् प्रादीनां गित्वम्। गेरिति किम्? मुनिर्नयति स्वर्गम्। प्रगता नायका अस्माद्ग्रामात् प्रनायको ग्रामः। अपिग्रहणं किम्? से पूर्वपदात् खाविति नियमात् णत्वं न स्यात्। ननु णत्वस्यासिद्धत्वान्न नियमप्राप्तिः। इदमेवापिग्रहणं ज्ञापकम्। "न योगे योगोऽसिद्धोऽपि तु प्रकरणे प्रकरणमसिद्धं भवति"। तेन निष्कृतं दुष्कृतमित्यत्र "इणः ष" [५।४।२७] इति षत्वे क्रियमाणे "इड्डुडः" [५।४।२८] इति सत्वं नासिद्धम्। विकृतेरिति किम्? प्रनृत्यति। प्रनर्तकः। अयमौपदेशिको नकारो न तु "णो नः" [४।३।५४] इत्यनेन विकृतः। "नृतिनन्दिनर्दिनाटनाथवर्ज्जम्" इति वचनात्।

नशेः शः ॥५।४।९९॥ नशेः शकारान्तस्य णत्वं भवति। प्रणश्यति। परिणश्यति। प्रणाशकः। परिणाशकः। श इति किम्? प्रनष्टः। प्रनङ्क्ष्यति। शकारस्यैवेति नियमात् णत्वाभावः। नशेरेव शकारान्तस्येति कस्मान्न नियमः। अन्यस्य शकारान्तस्यासम्भवात्। सम्भवे वा णत्वोपदेशादेव व्यावृत्तिः। णत्वोपदेशो हि "णो नः" [४।३।५४] इति विकृतिद्वारेण णत्वार्थः।

नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु ॥५।४।१००॥ गिस्थान्निमित्तात् परस्य गेर्नेर्नकारस्य णत्वं भवत्यसेऽपि गदादिषु परतः। प्रणिगदति। परिणिगदति। सेऽपि। प्रणिगदिता। परिणिगदिता। प्रणिनदति। परिणिनदति। प्रणिनदिता। परिणिनदिता। प्रणिपतति। प्रणिपतिता। प्रणिपद्यते। प्रणिपत्ता। घुसञ्ज्ञे—प्रणिददाति। प्रणिदाता। प्रणिदधाति। प्रणिधाता। मा इति माङ्मेङोर्ग्रहणम्। प्रणिमिमीते। प्रणिमाता। मेङः कृतात्वस्यैव ग्रहणम्। प्रणिमायते। प्रणिमाता। "मीञ् हिंसायाम्"। "डुमिञ् प्रक्षेपणे" इत्यनयोः "मिञ्मीङ्दीङां प्ये च" [४।३।४३] इति कृतात्वयोः "मा माने" इत्यस्य च न ग्रहणम्। अस्य गेपत्वेनोत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषा[illegible] सर्वमिदं लभ्यते। प्रणिस्यति। प्रणिसाता। प्रणिहन्ति। प्रणिहन्ता। प्रणियाति। प्रणियाता। प्रणिवाति। प्रणिवाता। प्रणिद्राति। प्रणिद्राता। प्रणिप्साति। प्रणिप्साता। प्रणिवपति। प्रणिवप्ता। प्रणिवहति। प्रणिवोढा। प्रणिशाम्यति। प्रणिशमिता। प्रणिचिनोति। प्रणिचेता। प्रणिदेग्धि। प्रणिदेग्धा। गदादिष्विति निर्देशादनन्तरस्य कार्यमित्यटा व्यवाये कथं णत्वम्। प्रण्यगदत्। परिण्यगददिति। अडागमस्य गोर्विहितो निकरणान्तश्च गुणयुक्तो गदग्रहणेन ग्रहीतुमिति। नैष दोषः। अद्व्यवाये इति सामर्थ्याल्लभ्यते। तिपा निर्देशा यङ्लुब्निवृत्त्यर्थाः।

वाऽषान्तेऽकखादौ ॥५।४।१०१॥ गेरिति वर्त्तते। अककारादावखकारादावषान्ते थौ परतः गिस्थानिमित्ताद्वा नेर्णो भवति। प्रणिपचति। प्रनिपचति। परिणिभिनत्ति। परिनिभिनत्ति। अषान्त इति किम्? प्रनिवेष्टा। [illegible] न भवति। प्रनिवेक्ष्यति। [illegible] भवति। [illegible]। अकखादाविति किम्? प्रनिकरोति। प्रनिखादति। [illegible] सिद्धे [illegible]। [illegible]। [illegible]।

हिम्योर्नुनोः ॥५।४।१०२॥ हि मी इत्येतयोर्या नुनौ तयोर्णत्वं भवति णिस्थानिमित्तात्। प्रहिणोति। प्रहिणुतः। प्रमीणाति। प्रमीणीतः। एत्वीत्वयोः कृतयोः एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाण्णत्वम्।

आनि ॥५।४।१०३॥ आनीत्येतस्य धोः परस्य णो भवति। आनिं प्रति णित्वाभावादिह णिग्रहणं आदिमात्रोपलक्षणम्। प्रवपाणि। प्रापयाणि। अर्थवद्ग्रहणपरिभाषयाऽर्थवत एव नेर्ग्रहणादिह न भवति। प्रवृद्धा वपा येषा तानि प्रवपानि मासानि। आनीत्यविभक्तीको निर्देशः।

णोऽनितेः ॥५।४।१०४॥ णेः परस्यानितेर्नकारस्य णो भवति। प्राणिति। पर्यणिति। अड्व्यवायेऽपि। पर्याणीत्। पुनर्णग्रहणमपवादविषयेऽपि णत्वार्थम्। हे प्राण् ! इति। क्वयन्तस्य क्विः। "अन्तस्य" [५।४।११५] इति प्रतिषेधः प्राप्तः। तिपा निर्देशो यङ्लुगन्तनिवृत्त्यर्थः।

सचस्योभौ ॥५।४।१०५॥ सचस्यानितेरुभौ नकारौ विनम्येते। गेरिति वर्तते। प्राणिणिषति। पराणिणिषति ! पराणिणत्। अत्र द्वित्वे कृते चरूपेण व्यवधानाद्धोर्नकारस्य न प्राप्नोतीत्येवमर्थं सूत्रम्। उभोग्रहणं किमर्थम् ? यावता पूर्वनकारस्य पूर्वसूत्रेण णत्वं सिद्धम्। धोरित्वारम्भसामर्थ्यान्नकारस्य व्यवधानेऽपि भविष्यति। नापि द्वितीयस्य णत्वमुच्यमानं पूर्वस्यापवादः। सचस्येति ग्रसनिर्देशात्। अन्यथा चादित्येवोच्येत। नियमार्थं तर्हि उभौग्रहणम्—णेरनन्तरमुभयोरेव णत्वं न तृतीयस्य। प्राणिणिषयतेः लुङि कचि च कृते पुनः कचि द्वित्वे सति प्राणिणिनिषत्। ननु च "पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे" इति वचनात् कृतणत्वस्य द्वित्वे सति उभयोर्णत्वं लभ्यत इति नार्थोऽनेनेति उभौग्रहणार्थं तर्हि सूत्रं कर्तव्यम्। न च "पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे" इतीदं सर्वविषयम्, अन्यथा ओजिढदित्यत्र ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपानामसिद्धत्वाभावात् ढूति इत्येतस्य द्वित्वं न स्यात्।

हन्तेरघः ॥५।४।१०६॥ घवर्जितस्य हन्तेर्नकारस्य णो भवति। गेरिति वर्तते। प्रहण्यते। परिहणनम्। अन्तःशब्दस्य णिसञ्ज्ञोक्ता। अन्तर्हण्यते। अन्तर्हणनम्। उत्तरत्र वेति व्यवस्थितविभाषावलोकनात् देशविषये न भवति। अन्तर्हननो देशः। अघ इति किम् ? प्रघ्नन्ति। प्राघानि। "घनान्तर्घण" [२।३।६६] आदि सूत्रे अन्तर्घणादीनां निपातनाण्णत्वम्। अघ इति योगविभागात्। हन्तेर्घपूर्वस्यैव णत्वम्। तेनेह न भवति। वृत्रघ्न इति। सञ्ज्ञायां "पूर्वपदात्खावगः" [५।४।८७] इति णत्वं प्राप्तम्। असञ्ज्ञात्वे "एकाज् द्यौ णः" [५।४।६६] इति।

वा म्वोः ॥५।४।१०७॥ मकारवकारयोः परतः हन्तेर्नकारस्य वा णत्वं भवति। प्रहण्मः। प्रहन्मः। वाग्रहणं पूर्वविधीनां नित्यार्थम्। प्रहण्वः। प्रहन्वः।

कृत्यचः ॥५।४।१०८॥ कृत्स्थो यो नकारः तस्याच उत्तरस्य णो भवति स चेन्नकारपरो भवति णिस्थानिमित्तात्। कृतीति नकारस्य विशेषणं नाचः। कृत्सञ्ज्ञकाच्चाचः परस्य नकारस्य णत्वं भवतीत्यर्थः। प्रयाणम्। प्रयाणम्। प्रयायमाणम्। प्रयाणीयम्। अप्रयाणिर्हन्त ते वृषल। प्रयायिणः। प्रहीणः। प्रहीणवान्। अन्तःशब्दस्य णित्वं अन्तर्याणम्। अन्तरयणम्। वेति व्यवस्थितविभाषाभिसम्बन्धादिह न भवति। अन्तरयनो देश इति। इहापि भवति। निर्विण्णं प्रावार्जीदिति। अच इति किम् ? प्रभुग्नः।

ऐर्वा ॥५।४।१०९॥ ण्यन्ताद्यो विहितः कृत्तत्स्थस्याच उत्तरस्य नकारस्य वा णत्वं भवति। गेरिति वर्तते। प्रयापणम्। प्रयापनम्। ननु प्रयाप्यमाण इत्यत्र यका व्यवहितत्वात् कथं कृतो णत्वम् ? अड्व्यवाय इति वर्तते। [illegible] अड्व्यवायेऽपि णत्वं भविष्यति। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम्।

हलश्चेजुपः ॥५।४।११०॥ इजुपः सर्वस्य हलन्तत्वात् हल्ग्रहणमादिविशेषणम्। हलादेरिजुपो धोः [illegible] इति नकारस्य वा णत्वं भवति गेर्निमित्तात्। प्रकोपणम्। प्रकोपनम्। प्रमोहणम्। प्रमोहनम्। "कृत्यचः" [५।४।१०८] इति नित्ये प्राप्ते विकल्पः।

[संनुम इजादेः ॥५।४।१११॥ निंसनिक्षनिन्दो वा ॥५।४।११२॥ न भाभूपूकमिगमिप्याय्यीवेपाम् ॥५।४।११३॥ पात् पदान्तात् ॥५।४।११४॥ अन्तस्य ॥५।४।११५॥ पदव्यवायेऽपि ॥५।४।११६॥][1]

क्षुम्नादिषु ॥५।४।११७॥ क्षुम्ना इत्येवमादिषु शब्देषु नकारस्य णकारादेशो न भवति । क्षुभ । क्षुभ्नाति । तृप । तृप्नोति । इदमेव ज्ञापकम् । तृपिः स्वादावप्यस्ति । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् क्षुभ्नीत । क्षुभ्नन्ति । तृप्नुतः । तृप्नुवन्ति । विकरणान्तनिर्देशः किम ? क्षोभणम् । तर्पणम् । नन्दिन् । नन्दन नगर इत्येतेषा "पूर्वपदात्स्वाख्यग:" [५।४।८७] इति णत्वं प्राप्तम् । हरिनन्दी । हरिनन्दनः । गिरिनगरम् । नर्त्तन नदन गहन निवेश निवास अग्नि अनूप एतान्युत्तरपदानि संज्ञायामेव । परिनर्तनम । परिनन्दनम । भेरीनदनः । परिगहनम । शरनिवेशः । शरनिवासः । शराग्निः । दर्भानूपम । आचार्यभोगीनः । "आचार्यादणत्वं च" [ग० सू०] । आचार्यानी । "चतुर्हायनी वयसि द्रष्टव्या" [वा०] । "ईरिकादीनि च वनोत्तरपदानि संज्ञायाम्" [वा०] । ईरिका । तिमिर । समीर । कुबेर । हरि । कर्मार । इति ईरिकादिः । आचार्ययूना । क्षत्रिययूना । दीर्घाह्नी शरदिति । अविहितलक्षणो णत्वप्रतिषेधः क्षुम्नादिषु द्रष्टव्यः ।

न नृतेर्यङि ॥५।४।११८॥ नृतेर्यङि णत्वं न भवति । नरीनृत्यते । नरीनृत्येते । नरीनृत्यन्ते । यङि । त्याश्रयात् । नर्नर्ति । नरिनर्ति । नरीनर्ति ।

स्तोः श्चुना श्चुः ॥५।४।११९॥ सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ भवतः । अत्र स्थान्यादेशयोर्यथासङ्ख्यम्, स्थानिनिमित्तयोस्तु नेष्यते । "शात्" [५।४।१२३] इति तवर्गस्य चत्व प्रतिषेधाज्ज्ञायते । सकारस्य शकारेण । जिनालयश्शोभते । तस्यैव चवर्गेण । धन्यश्चिनोति पुण्यम् । ओव्रश्चू । वृश्चति पापम । मुनिश्छिनन्ति कर्मबन्धम् । तवर्गस्य शकारेण । अग्निचिच्छेते । छत्वमसिद्धमिति शे चुत्वम । पूर्वेण शकारेण । "शात" [५।४।१२३] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति । तवर्गस्य चवर्गेण । तत्त्वविच्चिनोति । तत्त्वविच्छादयति । तत्त्वविज्जयति । सञ्ज्ञपः । भवाञ्झकारीयति । श्चाविति सिद्धे श्चुनेति निर्देशः शादिति प्रतिषेधश्च ज्ञापकः । परेण पूर्वेण च चुना योगे चुत्वमिति । तेन राज्ञः । याच्ञा । "मस्जिनशोर्झलि" [५।१।३६] इति निर्देशात मज्जति । मृज्जतीत्यत्र चुत्वे कर्तव्ये जश्त्वं नासिद्धम ।

ष्टुना ष्टुः ॥५।४।१२०॥ सकारतवर्गयोः षकारटवर्गाभ्यां योगे षकारटवर्गौ भवतः । अत्रापि "न तोः षि" [५।४।१२२] इति प्रतिषेधात् स्थानिनिमित्तयोर्यथासङ्ख्याभावः । सकारस्य षकारेण । कष्पण्डे । तस्यैव टवर्गेण । अश्वष्टीकते । पुरुषष्टक्कयति । तवर्गस्य षकारेण परेण प्रतिषेधं वक्ष्यति । पूर्वेण पेष्टा । पेष्टुम् । तवर्गस्य टवर्गेण । बृहट्टङ्क । अट्ट अट्टते । तकारोपदेशः क्विपि स्वाश्रये च कृते श्रवणार्थं । मरुट्टक्कयति । अड्डु । अड्ढि । चाविड्ढौकते । भवाण्णकारीयति ।

पदस्य टोर्नाम्नवतिनगरी ॥५।४।१२१॥ पदस्य टोः परेषां नाम्नवति नगरी इत्येतेषां ष्टुत्वं भवति । षण्णाम् । षण्णवति । षण्णगर्यः । नियमार्थमिदम । पदान्तात् टोः परस्य नाम्नवतिनगरीत्येतेषामेव नान्यस्य । तत्त्वामृतलिट् तरति तु त्वम् । पदान्तस्यैव नियमादिह प्रतिषेध । ईड स्तुतौ । ईट्टे । पदस्येति वर्तमाने पुनः पदस्येति ग्रहणमन्तार्थम् । ननु तथापि नाम्नवतिनगरीषु परतः पूर्वस्य पदान्तत्वमिद्धं पदस्येति किमर्थम् ? अनुवर्तमानादन्यस्य सकारान्तस्यापि परस्य ष्टुत्वनिवृत्तिर्यथा स्यात् । मधुलिट् सीदति ।

न तो षि ॥५।४।१२२॥ तवर्गस्य षकारे परतः ष्टुत्वं न भवति । [illegible] । तीर्थकृत् षोडश । [illegible] ।

---

१ प्रतिषु [ ] कोष्ठकान्तर्गतानां सूत्राणां वृत्तिः खण्डिता । सूत्राणि तु जैनेन्द्रपञ्चाध्यायीमनुसृत्य निर्दिष्टानि ।

शात् ॥५।४।१२३॥ शकारात् परस्य तवर्गस्य यदुक्तं तन्न भवति । किमुक्तम् ? चुत्वम् । प्रश्नः । विश्नः । पदान्तस्य शकारस्याभावात् अपदान्ते प्रतिषेधः ।

ख्शः शी यो वा ॥५।४।१२४॥ ख्श इत्येतस्य शकारस्य यकारो भवति वा । आख्याता । आख्शाता । पर्याख्यानमिति यत्वस्यासिद्धत्वात् "कृत्यच." [५।४।१०८] इति णत्वं नास्ति । वेति योगविभागः । तेन त्रुना योगे "च उब्जे." इति लब्धम् । उब्जिता । उब्जितुम् । उब्जितव्यम् ।

यरो ङो विभाषा ङे ॥५।४।१२५॥ पुनः पदस्येति सामर्थ्यात् पदान्त इति लभ्यते । यरः पदान्तस्य विभाषया ङादेशो भवति ङे परतः । सुवाङ्नयति । सुवाग् नयति । षण्मुखः । षड्मुखः । सन्नयनम् । सद्नयनम् । ककुम्मण्डलम् । ककुब्मण्डलम् । पदान्तस्येति किम् ? सद्म । स्तभ्नाति । वेत्यनुवृत्तौ विभाषाग्रहणं व्यवस्थार्थम् । तेन त्ये नित्यं भवति । वाङ्मयम् । त्वङ्मयम् । षण्णाम् । वाचो विकारः । "नित्यं वृद्धशरादेः" [३।३।१०६] इति मयड् । त्वचः आगतं "हेतुमनुष्याद्वा रूप्य." [३।३।५५] । "मयट्" [३।३।५६] इति मयट् ।

अचो रहाद् द्वे ॥५।४।१२६॥ अच उत्तरौ यौ रेफहकारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो विभाषया द्वे रूपे भवतः । अर्कः । अर्क्कः । तर्कः । तर्क्कः । ब्रह्मन् । ब्रह्ह्मन् । सह्यम् । सह्ह्यम् । अच इति किम् ? ह्नुते । विभाषेत्यनुवृत्तेर्व्यवस्था । शरोऽचि द्वित्वन्न भवत्येव । आदर्शः । वर्षति । तर्षम् । "रहौ निमित्तभूतौ द्वित्वस्य न च निमित्तिकार्यं निमित्तस्य" । तेनेह न भवति । भद्रह्रदः ।

अनचि ॥५।४।१२७॥ रहादिति निवृत्तम् । अच इति वर्तते यर इति च । अच उत्तरस्य यरो विभाषया द्वे भवतः अनचि । दद्ध्यत्र । दध्यत्र । मद्ध्वत्र । मध्वत्र । अत्र यकारवकारौ निमित्तम् । अनचीति यदि पर्युदासः हलग्रहणं कर्तव्यम् । एवं तर्हि प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । अचि नेति । तेन हल्यवसाने च द्वित्वम् । वाक्क् । वाक् । त्वक्क् । त्वक् । अच इत्येव । स्मातम् । प्सातम् । व्यवस्थितविभाषाधिकारात् "त्रिप्रभृतिषु न भवति" [वा०] । इन्द्रः । राष्ट्रम् । "यणः परस्य मयोऽचि विकल्पः" [वा०] । उल्क्का । उल्का । वल्म्मीकः । वल्मीकः । "शर उत्तरस्य खयः" [वा०] । स्थ्थाली । स्थाली । "खय उत्तरस्य शरोऽपि" [वा०] । अप्स्सरः । अप्सरः । "पुत्रादिनी त्वमसि पापे इत्याक्रोशे नेष्यते" [वा०] । "द्विमात्रात्परस्यापि" [वा०] । पात्रम् । सूत्रम् ।

झलां जश् झशि ॥५।४।१२८॥ झलां वर्णानां जशादेशो भवति झशि परतः । लब्धा । दोग्धा । अद्धा । अपदान्तार्थ आरम्भः । झशीति किम् ? दध्महे ।

चे चर्त्वम् ॥५।४।१२९॥ चे वर्तमानानां झलां चर्त्वं भवति जश्त्वं च । चिखनिषति । चिच्छेद । टिठकारयिषति । तिष्ठासति । पम्फुल्यते । जिघत्सति । बुभुत्सते । डुढौके । दधौ । प्रकृतिचरा प्रकृतिचरः प्रकृतिजशो भवन्ति । अभिनिरूपा इत्यर्थः । चिचीषति । टिटीके । ततार । पपौ । जिजनिषते । डुडुपे । डिड्ये । ददौ । सर्वत्र "स्थानेऽन्तरतमः" [१।१।४७] इति व्यवस्था ।

खरि ॥५।४।१३०॥ झलां खरि परतः चर्भवति । भेत्ता । भेत्तुम् । बिभित्सति ।

विरामे वा ॥५।४।१३१॥ विरामे वर्तमानानां झलां वा चर्त्वं भवति । वाक् । वाग् । मधुलिट् ।

तोर्लि ॥५।४।१३४॥ तवर्गस्य लकारे परतः परस्वत्वं भवति। तडिल्लोला। भवाँल्लोकेशः। नकारस्य नासिक्यो लकारः। वेति नाधिकृतम्।

स्थास्तम्भोः पूर्वस्योदः ॥५।४।१३५॥ स्था स्तम्भ इत्येतयोरुदः परयोः पूर्वस्य स्वं भवति। उत्थाता उत्थातुम्। उत्थातव्यम्। उत्तम्भिता। उत्तम्भितुम्। उत्तम्भितव्यम्। उद इति कानिर्देशात् परस्यादेः अघोषस्य सकारस्य तकारः। स्थास्तम्भोरिति किम्? उत्स्विन्नः। पूर्वस्येति किम्? परस्वनिवृत्त्यर्थम्। उद इति किम्? सस्थितिः! उद इति योगविभागः कल्पनीयः। तेन स्कन्देरपि रोगे पूर्वस्वम्। उत्कन्दको नाम रोगः।

झयो हः ॥५।४।१३६॥ झयः पदान्तादुत्तरस्य हकारस्य पूर्वस्वं भवति। सुवाग्घसति। मधुलिड्ढसति। धर्मविद्धितम्। ककुब्भसति। महाप्राणस्योष्मणः स्थाने तादृश एव पूर्वचतुर्थो भवति। "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" [५।४।१४०] इति वक्ष्यति तेन विकल्पः। सुवाग् हसति। मधुलिड् हसति। धर्मविद् हितम्। ककुब् हसति। झय इति किम्। प्राङ् हसति।

शश्छोऽटि ॥५।४।१३७॥ झयः पदान्तादुत्तरस्य शकारस्य अटि परतश्छकारो भवति। वाक्छोभो। धर्मविच्छेते। ककुप्छोभते। पक्षे न भवति। वाक् शोभते। धर्मवित् शेते। ककुप् शोभते। केचित् शश्छोऽमीति पठन्ति। तेन तच्छ्लोकः। तच्छ्वसनमिति।

हलो यमां यमि खम् ॥५।४।१३८॥ हल उत्तरेषां यमां यमि परतः खं भवति। शय्या इत्यत्र "समज" [२।३।८१] आदिसूत्रेण क्यपि अयङि च कृते द्वौ यकारौ। क्रमजस्तृतीयः। मध्यमस्यानेन खम्। पक्षे न भवति। शय्य्या। आदित्य्य इत्यत्र अपत्यार्थे द्वौ यकारौ। "सास्य देवता" [३।२।१६] इति तृतीयः। क्रमजश्चतुर्थः। मध्यमस्य मध्यमयोर्वा खम्। हल इति किम्? अन्नम्। यमामिति किम्? अर्घ्यं मा। अर्घमर्हति। अर्घार्थे वा। "पाद्यार्घ्ये" [४।२।२२] इति निपातनम्। यमीति किम्? शार्ङ्गम्। यथासंख्यविज्ञानादिह न भवति। पित्र्यम्।

झरो झरि स्वे ॥५।४।१३९॥ हल उत्तरस्य झरो झरि स्वे परतः खं भवति। प्रत्तमवत्तमित्यत्र "गे स्तोऽचः" [५।२।१४६] इत्याकारस्य तकारे कृते त्रयस्तकाराः। क्रमजश्चतुर्थः। मध्यमस्य मध्यमयोर्वा विकल्पावलोकनात्। मरुत्त इत्यत्र मरुच्छब्दस्य गित्वोपसंख्यानसामर्थ्यादनजन्तादपि तकारे कृते त्रयस्तकाराः। क्रमजः पञ्चमः। मध्यमस्य मध्यमयोर्मध्यमानां वा खम्। झर इति किम्? शार्ङ्गम। झरीति किम्? प्राङ्नोति। स्वे इति किम्? तर्प्ता। यथासंख्यमिद्धमिति चेत्। उज्झिता। शिण्ढि। पिण्ढि इत्यत्र चतुर्थस्य स्वे तृतीयस्य खं यथा स्यात्।

चतुष्टयं समन्तभद्रस्य ॥५।४।१४०॥ झयो ह इत्यादि चतुष्टयं समन्तभद्राचार्यस्य मतेन भवति नान्येषां मते। तथा चैवोदाहृतम्।

इत्यभयनन्दिविरचितायां जैनेन्द्रव्याकरणमहावृत्तौ पञ्चमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः। समाप्तश्च पञ्चमोऽध्यायः।

अथ प्रशस्तिः

जिनमत जयताज्जितदुर्मतं सकलसत्त्वहितं सुमतिप्रदम् ।
नयचयाङ्कितमिष्टविशिष्टवाग्भवभयातपवारणवारिदम् ॥१॥

पाणिनिना यदयुक्तं लपितं कृत्वाष्टक मोहात् ।
तदिह निरस्तं निखिलं श्रीगुरुभिः पूज्यपादाख्यैः ॥२॥

जगन्नाथनाम्ना द्वितीयाभिधानात्सतां वादिराजार्यमोपाख्यसाधोः ।
जनन्याः सुतेनापि वीराभिधायाः दयादानपूजादिसंशुद्धमूर्तेः ॥३॥

जैनेन्द्रशब्दशास्त्रं स्वोपक्रमतो नरेन्द्रकीर्तिसुगुरोः ।
अन्ते लिखितं पठित पाठितमपि भारतीभक्त्या ॥४॥

जीवोऽस्वप्नगुरुत्वमेवमुशनाः काव्याह्वय भास्करो
मित्रत्वं च विचक्षणत्वमगमन्निन्दुः सुधाधामताम् ।
गीर्वाणत्वमनन्ततां सुरगणाः शेषो वृषा जिष्णुतां
जैनेन्द्रं समधीत्य शब्दविलयं श्रीपूज्यपादोदितम् ॥५॥

पूज्यपादापराख्याय नमः श्रीदेवनन्दिने ।
व्यधायि पञ्चकं येन सूत्रं जैनेन्द्रमूलकम् ॥६॥

महावृत्तिकृते तस्मै नमोऽस्त्वभयनन्दिने ।
यद्वाक्यादभया धीराः शब्दविद्यासु सन्ततम् ॥७॥

स्रष्टा दृष्ट्वा सुसृष्टिं स्तुतिमकृत मुखैश्चाथ जैनेन्द्रशाब्दी
जिह्वाभूयस्त्वभावादुरगपतिरतोऽध्येति नात्येति पारम् ।
रीढां दुःखावलीढां निजमदवशगाः प्रापुरिन्द्रादयोऽपि
कृत्वेमां देवनन्दी विविधसुरगणैः पूज्यपादाह्वयोऽभूत् ॥८॥

प्रमाणमकलङ्कीयं पूज्यपादीयलक्षणम् ।
धानञ्जयं च सत्काव्यं रत्नत्रयमुदाहृतम् ॥९॥

इति प्रशस्तिः सम्पूर्णा शुभम्भवतु

जैनेन्द्रसूत्राणामकारादिक्रमः

जैनेन्द्रवार्तिकानामकारादिक्रमः

ह

जैनेन्द्रपरिभाषाणामकारादिक्रमः

जैनेन्द्र-गणपाठसूची

अ

अक्षद्यूतादिः ३।३।१४८
अङ्गुल्यादिः ४।१।१६२
अजादिः ३।१।४
अपूपादिः ३।४।३
अरीहणादिः ३।२।६०
अर्धर्चादि १।४।१०८
अर्शआदिः ४।१।५०
अश्मादिः ३।२।६०
अश्वपत्यादिः ३।१।६६
अश्वादिः ३।१।९९

आ

आहिताग्न्यादिः १।३।१०३

इ

इन्द्रजननादिः ३।३।६२
इष्टादिः ४।१।२२

उ

उगवादिः ३।४।२
उणादिः २।२।१६७
उत्करादिः ३।२।७०
उत्सङ्गादिः ३।३।१३८
उत्सादिः ३।१।७१
उद्गात्रादिः ३।४।११६
उपकादिः १।४।१३०
उरः प्रभृति ४।२।१५१

ऊ

ऊर्णादिः १।२।१३२

ऋ

ऋश्यादिः ३।२।६०

क

[illegible] ३।२।१११
[illegible] १।३।१०४
[illegible] ३।२।७५
[illegible] ३।३।२०६
कर्णादिः ३।२।६०
कल्याण्यादिः ३।१।११५
कस्कादिः ५।४।२६
काशादिः ३।२।६०
काश्यादिः ३।२।९२
किसरादिः ३।३।१७२
कुञ्जादिः ३।१।८७
कुमुदादिः ३।२।६०
कुम्भपद्यादिः ३।२।८७
कुर्वादिः ३।१।१३९
कुलालादिः ३।३।८७
कृशाश्वादिः ३।२।६०
कौशल्यादिः ३।१।१४२
क्रोडादिः ३।१।१४९
क्रौड्यादिः ३।१।६५
क्षुभ्नादिः ५।४।११७

ग

गर्गादिः ३।१।९३
गवाश्वादिः १।४।८७
गहादिः ३।२।११४
गृष्ट्यादिः ३।१।१२४
गोपवनादिः १।४।१३१
गोपालकादिः ३।१।१३८
गौरादिः ३।१।२३

घ

घोषदादिः ४।१।६६

च

चादिः १।२।१२८

छ

छेदादिः ३।४।६२

त

तारकादिः ३।४।१५७
तालादिः ३।३।१०५
तिककितवादिः १।४।१४०
तिकादिः ३।१।१४१
तुन्दादिः ४।१।४३
तृणादिः ३।२।६०
तौल्वल्यादिः १।४।१३२
त्यदादिः १।१।६९, ५।१।१६१

द

दण्डादिः ३।४।६४
दधिपयआदिः १।४।९०
दामन्यादिः ३।३।२९
दृढादिः ३।४।११३
देवपथादिः ४।१।१५४
द्वारादिः ५।२।९
द्विदण्ड्यादिः ४।२।१२९

ध

धूमादिः ३।२।१०५

न

नडादिः ३।१।८८, ३।२।७१
नद्यादिः ३।२।७६

प

पक्षादिः ३।२।६०
पर्पादिः ३।३।१३३
पर्श्वादिः ४।२।६
पलद्यादिः ३।२।८६
पात्रेसमितादिः १।३।४३
पामादिः ४।१।२७
पारस्करादिः ४।३।११६
पाशादिः ३।२।४१
पुरोहितादिः ३।४।११८
पुष्करादिः ४।१।५६
पूर्वादिः १।१।४२
पृथ्वादिः ३।४।११२
पैलादिः १।४।१३१
प्रज्ञादिः ४।२।४४
प्रादिः १।३।८१

प्रेक्षादिः ३।२।६०
रक्षादि. ३।३।१२२

ब

वहादिः ३।१।३१
वाह्वादिः ३।१।८५
ब्राह्मणादिः ३।४।११४
व्रीह्यादिः ४।१।४२

भ

भर्गादि. ३।१।१५८
भस्त्रादिः ३।३।१३६
भिक्षादिः ३।२।३३
भीमादि. २।४।६१

म

मनोज्ञादिः ३।४।१२३
मनुष्यमकादिः १।३।६६
महिष्यादिः ३।३।१६९

य

यवादिः ५।३।३१
यस्कादि ४।४।१३४
याजकादि १।३।७२
यावादिः ४।२।३५
युवादि. ३।४।१२०

र

राजदन्तादिः १।३।९६
राजन्यादिः ३।२।८६

रेवत्यादि. ३।१।१३४
रैवतिकादिः ३।३।९९

ल

लोमादिः ४।१।२७
लोहितादिः ३।१।२१

व

वरणादिः ३।२।६२
वराहादिः ३।२।६०
वलादि. ३।२।६९, ४।२।५७
वाकिनादिः ३।१।१४५
विदादिः ३।१।९३
विनयादि. ४।२।४०
विमुक्तादि. ४।१।६५
वेतनादिः ३।३।१३५
व्युष्टादि. १।३।५१

श

शकन्ध्वादिः ३।२।८७
शण्डिकादिः ३।३।६६
शरदादि ४।२।१०९
शरादि ३।३।१०९
शर्करादि ४।१।१६१
शाख्यादिः ४।१।१५७
शिवादि ३।१।१०१
शुण्डिकादि ३।३।५८
शुभ्रादिः ३।१।१
शौण्डादिः १।३।
शौनकादिः ३।३।
श्वादिः ५।२।१
श्रेण्यादिः १।३।५

स

सख्यादिः ३।२।६०
सङ्काशादिः ३।२।६०
सन्तापादिः ३।४।९५
सपत्न्यादिः ३।१।३४
सब्रह्मचार्यादि ४।४।१३१
सर्वादिः १।१।३५
साक्षादादिः १।२।१४२
सिध्मादि. ४।१।२५
सिन्ध्वादिः ३।३।६७
सुखादिः ४।१।५४
सुतङ्गमादि. ३।२।६०
सुषामादिः ५।४।७२
स्थूलादि ४।२।११
स्नात्यादि. ३।१।८
स्वागतादि. ५।१।१२

ह

हस्त्यादि ३।१।—
हरीतक्यादि
हस्त्यादि.

जैनेन्द्र-संज्ञासूची

अ

जैनेन्द्रसञ्ज्ञा	पाणिनिसंज्ञा
अधिकरणः [१।२।११६]	अधिकरणम्
अनुदात्त [१।१।११३]	अनुदात्तः
अन्यः [१।२।१५२]	प्रथमपुरुषः
अप् [१।२।१५८]	चतुर्थी
अपादानम् [१।२।११०]	अपादानम्
अस्मद् [१।२।१५२]	उत्तमपुरुषः

इ

इत् [१।२।३]	इत्
इप् [१।२।१५८]	द्वितीया
इल् [१।१।३४]	षट्

ई

ईप् [१।२।१५८]	सप्तमी

उ

उद् [१।१।६६]	उपधा
उश् [१।१।६२]	श्लुः
उदात्त [१।१।११३]	उदात्तः
उप् [१।१।६२]	लुक्
उस् [१।१।६२]	लुप्

ए

एक [१।१।१५५]	एकवचनम्
एप् [१।१।१६]	गुणः

ऐ

ऐप् [१।१।१५]	वृद्धिः

क

जैनेन्द्रसञ्ज्ञा	पाणिनिसंज्ञा
करणम् [१।२।११४]	करणम्
कर्त्ता [१।२।१२४]	कर्त्ता
कर्म [१।२।१२०]	कर्म
का [१।२।१५८]	पञ्चमी
किः [१।४।५६]	सम्बुद्धिः

ख

खम् [१।१।६१]	लोपः
खुः [१।१।२६]	सञ्ज्ञा

ग

गि [१।२।१३०]	उपसर्गः
गुः [१।२।१०२]	अङ्गम्

घ

घि [१।२।९९]	लघु

ङ

ङ. [१।१।४]	अनुनासिकः
ङि. [१।१।३०]	भावकर्म

च

चः [४।३।६]	अभ्यासः

ज

जिः [१।१।४५]	सम्प्रसारणम्

झ

झि [१।१।७४]	अव्ययम्

ट

टिः [१।१।६५]	टिः

त

जैनेन्द्रसंज्ञा	पाणिनिसंज्ञा
तः [१।१।२८]	निष्ठा
ता [१।२।१५८]	षष्ठी
ति [१।२।१३१]	गतिः
त्यः [२।१।१]	प्रत्ययः

थ

थः [४।३।३]	अभ्यस्तम्

द

दः [१।२।१५१]	आत्मनेपदम्
दिः [१।२।२०]	प्रगृह्यम्
दीः [१।१।११]	दीर्घः
दुः [१।१।६८]	वृद्धम्
द्यु [१।३।१०५]	उत्तरपदम्
द्रिः [४।२।६]	तद्राजः
द्वन्द्वः [१।२।९२]	द्वन्द्वः
द्विः [१।२।१५५]	द्विवचनम्

ध

धम् [१।१।३१]	सर्वनामस्थानम्
धिः [१।२।२]	अकर्मकः
धुः [१।२।१]	धातुः

न

नप् [नपुंसकलिङ्गस्य सञ्ज्ञा प्राचाम्]	
निः [१।१।२२]	निपातः
न्यक् [१।३।९२]	उपसर्जनम्

प

पः [१।१।११]	प्लुतः
पदम् [१।२।१०३]	पदम्
प्र. [१।१।११]	ह्रस्वः

ब

बम् [१।३।८६] बहुव्रीहिः
बहुः [१।२।१५५] बहुवचनम्
बोन्त्यम [१।४।५५] सम्बोधनम्

भ

भः [१।२।१०७] भम्
भा [१।२।१५८] तृतीया
भु [१।१।२७] घु

म

मम् [१।२।१५०] परस्मैपदम्
मु. [१।२।९२] नदी
मृत् [१।१।५] प्रातिपदिकम्

य

यः [१।३।४४] कर्मधारयः
युष्मद् [१।२।१५२] मध्यमपुरुषः

र

रः [१।३।४७] द्विगु.
रुः [१।२।१००] गुरु

व

वा [१।२।१५८] प्रथमा
वाक् [२।१।७९] उपपदम्
विभक्ती [१।२।१५७] विभक्तिः

ष

षम् [१।३।१९] तत्पुरुषः

स

सङ्ख्या [१।१।३३] सङ्ख्या
सः [१।३।२] समासः
सत् [२।२।१०५] सत्
सम्प्रदानम् [१।२।१११] सम्प्रदानम्
सर्वनाम [१।१।३५] सर्वनाम
सु. [१।२।९७] टि
स्फः [१।१।३] संयोगः
स्वम् [१।१।२] सवर्णम्
स्वरितः [१।१।१४] स्वरित.

ह

ह. [१।३।४] अव्ययीभावः
हृत् [३।१।६१] तद्धितम्

जैनेन्द्र और पाणिनि-व्याकरणकी तुलनात्मक सूत्र-सूची

जैनेन्द्र-सूत्र-संख्या	पाणिनि-सूत्र-संख्या
१।१।१	×
१।१।२	१।१।९
१।१।३	१।१।७
१।१।४	१।१।८
१।१।५	१।२।४५
१।१।६	१।२।४६
१।१।७	१।२।४७
१।१।८	१।२।४८
१।१।९	१।२।४९
१।१।१०	१।२।५०
१।१।११	१।२।२७
१।१।१२	१।२।२८
१।१।१३	१।२।२९,३०
१।१।१४	१।२।३१
१।१।१५	१।१।१
१।१।१६	१।१।२
१।१।१७	१।१।३
१।१।१८	१।१।४
१।१।१९	१।१।५
१।१।२०	१।१।११
१।१।२१	१।१।१२
१।१।२२	१।१।१४
१।१।२३	१।१।१५
१।१।२४	१।१।१६
१।१।२५	१।१।१७
१।१।२६	१।१।१८
१।१।२७	१।१।२०
१।१।२८	१।१।२६
१।१।२९	×
१।१।३०	×
१।१।३१	१।१।४२
१।१।३२	१।१।४३

जैनेन्द्र-सूत्र-संख्या	पाणिनि-सूत्र-संख्या
१।१।३३	१।१।२३
१।१।३४	१।१।२४
१।१।३५	१।१।२७
१।१।३६	१।१।२८
१।१।३७	१।१।२९
१।१।३८	१।१।३०
१।१।३९	१।१।३१
१।१।४०	१।१।३२
१।१।४१	१।१।३३
१।१।४२	१।१।३४-३६
१।१।४३	७।१।१९
१।१।४४	×
१।१।४५	१।१।४५
१।१।४६	१।१।४९
१।१।४७	१।१।५०
१।१।४८	१।१।५१
१।१।४९	१।१।५२
१।१।५०	१।१।५३
१।१।५१	१।१।५४
१।१।५२	१।१।५५
१।१।५३ १।१।५४	१।१।४६
१।१।५५	१।१।४७
१।१।५६	१।१।५६
१।१।५७	१।१।५७
१।१।५८	१।१।५८
१।१।५९	१।१।५९
१।१।६०	१।१।६६,६७
१।१।६१	१।१।६०
१।१।६२	१।१।६१
१।१।६३	१।१।६२
१।१।६४	१।१।६३

जैनेन्द्र-सूत्र-संख्या	पाणिनि-सूत्र-संख्या
१।१।६५	१।१।६४
१।१।६६	१।१।६५
१।१।६७	१।१।५२ १।१।७२
१।१।६८	१।१।७३
१।१।६९	१।१।७४
१।१।७०	१।१।७५
१।१।७१	×
१।१।७२	१।१।६९ १।१।७०
१।१।७३	१।१।७१
१।१।७४	१।१।३७
१।१।७५	१।२।१
१।१।७६	१।२।२
१।१।७७	१।२।३
१।१।७८	१।२।४
१।१।७९	१।२।५
१।१।८० १।१।८१	१।२।७
१।१।८२	१।२।८
१।१।८३	१।२।९
१।१।८४	१।२।१०
१।१।८५	१।२।११
१।१।८६	१।२।१२
१।१।८७	१।२।१३
१।१।८८	१।२।१४
१।१।८९	१।२।१५
१।१।९०	१।२।१६
१।१।९१	१।२।१७
१।१।९२	१।२।१८,१९
१।१।९३	१।२।२०
१।१।९४	१।२।२१
१।१।९५	१।२।२२, २३

१।१।९६	१।२।२४, २६
१।१।९७	१।२।२५
१।१।९८	१।२।५१
१।१।९९	१।२।६३
१।१।१००	×

अध्याय १ पाद २

१।२।१	१।३।१
१।२।२	×
१।२।३	१।२।२
१।२।४	१।३।१०
१।२।५	१।३।११
१।२।६	१।३।१२
१।२।७	१।३।१३
१।२।८	१।३।१४
१।२।९	१।३।१५
१।२।१०	१।३।१६
१।२।११	१।३।१७
१।२।१२	१।३।१८
१।२।१३	१।३।१९
१।२।१४	१।३।२०
१।२।१५	१।३।२१
१।२।१६ } १।२।१७ }	१।३।२२
१।२।१८	१।३।२३
१।२।१९	१।३।२४
१।२।२०	१।३।२५
१।२।२१	१।३।२६
१।२।२२	१।३।२७
१।२।२३	१।३।२८
१।२।२४	१।३।२९
१।२।२५	१।३।३०
१।२।२६	१।३।३१
१।२।२७	१।३।३२
१।२।२८	१।३।३३
१।२।२९	१।३।३४
१।२।३०	१।३।३५
१।२।३१	१।३।३६
१।२।३२	१।३।३७
१।२।३३	×
१।२।३४	१।३।३८
१।२।३५	१।३।३९
१।२।३६	१।३।४०
१।२।३७	१।३।४१
१।२।३८	१।३।४२
१।२।३९	१।३।४३
१।२।४०	१।३।४४
१।२।४१	१।३।४५
१।२।४२	१।३।४६
१।२।४३	१।३।४७
१।२।४४	१।३।४८
१।२।४५	१।३।४९
१।२।४६	१।३।५०
१।२।४७	१।३।५१
१।२।४८	१।३।५२
१।२।४९	१।३।५३
१।२।५०	१।३।५४
१।२।५१	१।३।५६
१।२।५२	१।३।५७
१।२।५३ } १।२।५४ }	१।३।५८
१।२।५५	१।३।५९
१।२।५६	१।३।६०
१।२।५७	१।३।६१
१।२।५८	१।३।६२
१।२।५९	१।३।६३
१।२।६०	१।३।६४
१।२।६१	×
१।२।६२	१।३।६५
१।२।६३	१।३।६६
१।२।६४	१।३।६८
१।२।६५	१।३।६९
१।२।६६	१।३।७०
१।२।६७	१।३।७१
१।२।६८	१।३।७२
१।२।६९	१।३।७३
१।२।७०	१।३।७५
१।२।७१	१।२।७६
१।२।७२	१।३।७४
१।२।७३	१।३।८१
१।२।७४	१।३।७७
१।२।७५	१।३।७८
१।२।७६	१।३।७९
१।२।७७	१।३।८०
१।२।७८	१।३।८१
१।२।७९	१।३।८२
१।२।८०	१।३।८३
१।२।८१	१।३।८४
१।२।८२	१।३।८५
१।२।८३	१।३।८६
१।२।८४	१।३।८७
१।२।८५	१।३।८८
१।२।८६	१।३।९०
१।२।८७	१।३।९१
१।२।८८	१।३।९२
१।२।८९	१।३।९३
१।२।९०	१।४।२
१।२।९१	×
१।२।९२	१।४।३
१।२।९३	१।४।४
१।२।९४ } १।२।९५ }	१।४।५
१।२।९६	१।४।६
१।२।९७	१।४।७
१।२।९८	१।४।८
१।२।९९	१।४।१०
१।२।१००	१।४।११
१।२।१०१	१।४।१२
१।२।१०२	१।४।१३
१।२।१०३	१।४।१४
१।२।१०४	१।४।१५
१।२।१०५	१।४।१६
१।२।१०६	१।४।१७
१।२।१०७	१।४।१८
१।२।१०८	१।४।१९

१|२|१०९	१|४|२३
१|२|११०	१|४|२४
१|२|१११	१|२|३२
१|२|११२	१|४|३५
१|२|११३	१|४|४४
१|२|११४	१|४|४२
१|२|११५	१|४|४३
१|२|११६	१|४|४५
१|२|११७	१|४|४६
१|२|११८	१|४|४८
१|२|११९	१|४|४७
१|२|१२०	१|४|४९
१|२|१२१	१|४|५१
१|२|१२२ } १|२|१२३ }	१|४|५२
१|२|१२४	१|४|५३
१|२|१२५	१|४|५४
१|२|१२६	१|४|५५
१|२|१२७	१|४|५६
१|२|१२८	१|४|५७
१|२|१२९	१|४|५८
१|२|१३०	१|४|५९
१|२|१३१	१|४|६०
१|२|१३२	१|४|६१
१|२|१३३	१|४|६२
१|२|१३४	१|४|६३
१|२|१३५	१|४|६४, ६५
१|२|१३६	१|४|६६
१|२|१३७	१|४|६७, ६८
१|२|१३८	१|४|६९
१|२|१३९	१|४|७०
१|२|१४०	१|४|७१
१|२|१४१	१|४|७२
१|२|१४२	१|४|७३
१|२|१४३	१|४|७४
१|२|१४४	१|४|७५
१|२|१४५	१|४|७६
१|२|१४६	१|४|७७

१|२|१४७	१|४|७८
१|२|१४८	१|४|७९
१|२|१४९	१|४|८०
१|२|१५०	१|४|९९
१|२|१५१	१|४|१००
१|२|१५२	१|४|१०१
१|२|१५३	१|४|१०५, १०७, १०८
१|२|१५४	१|४|१०६
१|२|१५५	१|४|१०२
१|२|१५६	१|४|१०३
१|२|१५७	१|४|१०४
१|२|१५८	×

अध्याय १ पाद ३

१|३|१	२|१|१
१|३|२	२|१|३
१|३|३	२|१|४
१|३|४	२|१|५
१|३|५	२|१|६
१|३|६	२|१|७,८
१|३|७	२|१|९
१|३|८	२|१|१०
१|३|९	२|१|११
१|३|१०	२|१|१२
१|३|११	२|१|१४
१|३|१२	२|१|१५
१|३|१३	२|१|१६
१|३|१४	२|१|१७
१|३|१५	२|१|१८
१|३|१६	२|१|१९
१|३|१७	२|१|२०
१|३|१८	२|१|२१
१|३|१९	२|१|२२
१|३|२० } १|३|२१ }	२|१|२४
१|३|२२	२|१|२५
१|३|२३	२|१|२६
१|३|२४	२|१|२७

१|३|२५	२|१|२८
१|३|२६	२|१|२९
१|३|२७	२|१|३०
१|३|२८	२|१|३१
१|३|२९	२|१|३२
१|३|३०	२|१|३४, ३५
१|३|३१	२|१|३६
१|३|३२	२|१|३७
१|३|३३	२|१|३८
१|३|३४	२|१|३९
१|३|३५	२|१|४०
१|३|३६	२|१|४१
१|३|३७	२|१|४३
१|३|३८	२|१|४४
१|३|३९	२|१|४५
१|३|४०	२|१|४६
१|३|४१	२|१|४७
१|३|४२	२|१|४२
१|३|४३	२|१|४८
१|३|४४	२|१|४९
१|३|४५	२|१|५०
१|३|४६	२|१|५१
१|३|४७	२|१|५२
१|३|४८	२|१|५३
१|३|४९	२|१|५४
१|३|५०	२|१|५५
१|३|५१	२|१|५६
१|३|५२	२|१|५७
१|३|५३	२|१|५८
१|३|५४	२|१|५९
१|३|५५	२|१|६०
१|३|५६	२|१|६१
१|३|५७	२|१|६२
१|३|५८	२|१|६३
१|३|५९	२|१|६४
१|३|६०	२|१|६५
१|३|६१	२|१|७१
१|३|६२	२|१|६६

१।३।६३	२।१।६७
१।३।६४	२।१।६८
१।३।६५	२।१।७०
१।३।६६	२।१।७२
१।३।६७	२।२।५
१।३।६८	२।२।६
१।३।६९	२।२।७
१।३।७०	२।२।८
१।३।७१	×
१।३।७२	२।२।९
१।३।७३	×
१।३।७४	२।२।१०
१।३।७५	२।२।११
१।३।७६	२।२।१४
१।३।७७ } १।३।७८ }	२।२।१५
१।३।७९	२।२।१६
१।३।८०	२।२।१७
१।३।८१	२।२।१८
१।३।८२	२।२।१९
१।३।८३	२।२।२०
१।३।८४	२।२।२१
१।३।८५	२।२।२२
१।३।८६	२।२।२४
१।३।८७	२।२।२५

१।३।१०१	२।२।३५
१।३।१०२	२।२।३६
१।३।१०३	२।२।३७
१।३।१०४	२।३।३८
१।३।१०५	×

अध्याय १ पाद ४

१।४।१	२।३।१
१।४।२	२।३।२
१।४।३	२।३।४
१।४।४	२।३।५
१।४।५	२।३।६
१।४।६	२।३।७
१।४।७	१।४।९४
१।४।८	१।४।९५
१।४।९	१।४।९६
१।४।१०	१।४।९३
१।४।११	×
१।४।१२	×
१।४।१३	×
१।४।१४	×
१।४।१५	×
१।४।१६	×
१।४।१७ } १।४।१८ }	२।३।९
१।४।१९ }	

१।४।३३	२।३।२४
१।४।३४	२।३।२५
१।४।३५	२।३।२६
१।४।३६	२।३।२७
१।४।३७	२।३।२८
१।४।३८	२।३।२९
१।४।३९	२।३।३०
१।४।४०	२।३।३१
१।४।४१	२।३।३२
१।४।४२	२।३।३४
१।४।४३	२।३।३५
१।४।४४	२।३।३६
१।४।४५	२।३।३७
१।४।४६	२।३।३८
१।४।४७	२।३।३९
१।४।४८	२।३।४०
१।४।४९	२।३।४१
१।४।५०	२।३।४२
१।४।५१	२।३।४३
१।४।५२	२।३।४४
१।४।५३	२।३।४५
१।४।५४	२।३।४६
१।४।५५	२।३।४८
१।४।५६	२।३।४९
१।४।५७	२।३।५०
१।४।५८	२।३।५१

१।४।७२	२।३।६९
१।४।७३ १।४।७४	२।३।७०
१।४।७५	२।३।७१
१।४।७६	२।३।७२
१।४।७७	२।३।७३
१।४।७८	२।४।२
१।४।७९	२।४।३
१।४।८०	२।४।४
१।४।८१	२।४।५
१।४।८२	२।४।६
१।४।८३	२।४।७
१।४।८४	२।४।८
१।४।८५	२।४।९
१।४।८६	२।४।१०
१।४।८७	२।४।११
१।४।८८	२।४।१२
१।४।८९	२।४।१३
१।४।९०	२।४।१४
१।४।९१	२।४।१५
१।४।९२	२।४।१६
१।४।९३	२।४।१७
१।४।९४	२।४।१८
१।४।९५	२।४।१९
१।४।९६	२।४।२०
१।४।९७	२।४।२१
१।४।९८	२।४।२२
१।४।९९	२।४।२३
१।४।१००	२।४।२४
१।४।१०१	२।४।२५
१।४।१०२	२।४।२६
१।४।१०३	२।४।२७
१।४।१०४ १।४।१०५	२।४।२९
१।४।१०६	×
१।४।१०७	२।४।३०
१।४।१०८	२।४।३१
१।४।१०९	२।४।३५

१।४।११०	२।४।३६
१।४।१११	२।४।३७ २।४।३८
१।४।११२	२।४।४०
१।४।११३	२।४।४१
१।४।११४	२।४।४२
१।४।११५	२।४।४३
१।४।११६	२।४।४४
१।४।११७	२।४।४५
१।४।११८	२।४।४६
१।४।११९	२।४।४७
१।४।१२०	२।४।४८
१।४।१२१	२।४।४९
१।४।१२२	२।४।५०
१।४।१२३	२।४।५१
१।४।१२४	२।४।५२, ५३
१।४।१२५	२।४।५४
१।४।१२६	×
१।४।१२७	२।४।५५
१।४।१२८	२।४।५६
१।४।१२९	२।४।५७
१।४।१३०	२।४।५८
१।४।१३१	२।४।५९
१।४।१३२	२।४।६०, ६१
१।४।१३३	२।४।६२
१।४।१३४	२।४।६३
१।४।१३५	२।४।६४
१।४।१३६	२।४।६५
१।४।१३७	२।४।६६
१।४।१३८	२।४।६७
१।४।१३९	२।४।६९
१।४।१४०	२।४।६८
१।४।१४१	२।४।७०
१।४।१४२	२।४।७१
१।४।१४३	२।४।७२
१।४।१४४	२।४।७४
१।४।१४५	२।४।७५
१।४।१४६	२।४।७७

१।४।१४७	२।४।७८
१।४।१४८	२।४।७९
१।४।१४९	२।४।८०
१।४।१५० १।४।१५१	२।४।८२
१।४।१५२	२।४।८३
१।४।१५३	२।४।८४
१।४।१५४	२।४।८५

अध्याय २ पाद १

२।१।१	३।१।१
२।१।२	३।१।२
२।१।३	३।१।५
२।१।४	३।१।६
२।१।५	३।१।७
२।१।६	३।१।८
२।१।७	३।१।९
२।१।८	३।१।१०
२।१।९	३।१।११
२।१।१०	३।१।१२
२।१।११	३।१।१३
२।१।१२	३।१।१४
२।१।१३	३।१।१६
२।१।१४	३।१।१५ ३।१।१७
२।१।१५	३।१।१८
२।१।१६	३।१।१९
२।१।१७	३।१।२०
२।१।१८	३।१।२१
२।१।१९	३।१।२२
२।१।२०	३।१।२३
२।१।२१	३।१।२४
२।१।२२ २।१।२३	३।१।२५
२।१।२४	३।१।२६
२।१।२५	३।१।२७
२।१।२६	३।१।२८
२।१।२७	३।१।३१
२।१।२८	३।१।२९, ३।१।३०

२।१।२९	३।१।३२
२।१।३०	३।१।३३
२।१।३१	३।१।३५
२।१।३२	३।१।३६
२।१।३३	३।१।३७
२।१।३४	३।१।३८
२।१।३५	३।१।३९
२।१।३६	३।१।४०
२।१।३७	३।१।४१
२।१।३८	३।१।४३, ४४
२।१।३९	×
२।१।४०	३।१।४५
२।१।४१, २।१।४२	३।१।४६
२।१।४३	३।१।४८
२।१।४४	३।१।४९
२।१।४५	३।१।५२
२।१।४६	३।१।५३
२।१।४७	३।१।५४
२।१।४८	३।१।५५, ३।१।५६
२।१।४९	३।१।५७
२।१।५०	३।१।५८
२।१।५१	३।१।६०
२।१।५२	३।१।६१
२।१।५३	३।१।६२

२।१।६७	३।१।७१
२।१।६८	३।१।७२
२।१।६९	३।१।७३
२।१।७०	३।१।७४
२।१।७१	३।१।७५
२।१।७२	३।१।७६
२।१।७३	३।१।७७, ७८
२।१।७४	३।१।७९
२।१।७५	३।१।८०
२।१।७६	३।१।८१
२।१।७७	३।१।८२
२।१।७८	३।१।८३
२।१।७९	३।१।९२
२।१।८०	३।१।९३
२।१।८१	३।१।९४
२।१।८२	३।१।९५
२।१।८३	३।१।९६
२।१।८४	३।१।९७, ३।१।१२६
२।१।८५	३।१।९८, ३।१।१२६
२।१।८६	३।१।९९
२।१।८७	३।१।१००
२।१।८८	३।१।१०१
२।१।८९	३।१।१०६
[illegible]	[illegible]

२।१।१०१	×
२।१।१०२	३।१।१२५
२।१।१०३	३।१।१२२
२।१।१०४	३।१।१२९
२।१।१०५	३।१।१३०, १३१, १३२
२।१।१०६	३।१।१३३
२।१।१०७	३।१।१३४
२।१।१०८	३।१।१३५
२।१।१०९	३।१।१३६
२।१।११०	३।१।१३७
२।१।१११	३।१।१३८
२।१।११२	३।१।१३९
२।१।११३	३।१।१४०
२।१।११४, २।१।११५	३।१।१४१
२।१।११६	३।१।१४२
२।१।११७	३।१।१४३
२।१।११८	३।१।१४४
२।१।११९	३।१।१४५
२।१।१२०	३।१।१४६, १४७
२।१।१२१	३।१।१४८
२।१।१२२	३।१।१४९
२।१।१२३	३।१।१५०

अध्याय २ पाद २

२।२।१३	३।२।९ [वा०]
२।२।१४	३।२।९
२।२।१५	३।२।१०
२।२।१६	३।२।११
२।२।१७	३।२।१२
२।२।१८	३।२।१३
२।२।१९	३।२।१४
२।२।२०	३।२।१५
२।२।२१	३।२।१६
२।२।२२	३।२।१७
२।२।२३	३।२।१८
२।२।२४	३।२।१९
२।२।२५	३।२।२०
२।२।२६	३।२।२१
२।२।२७	३।२।२२
२।२।२८	×
२।२।२९	३।२।२४
२।२।३०	३।२।२५
२।२।३१	३।२।२६
२।२।३२	३।२।२८
२।२।३३	३।२।२९ ; ३।२।३०
२।२।३४	३।२।३१
२।२।३५	३।२।३२
२।२।३६	३।२।३३,३४
२।२।३७	३।२।३५
२।२।३८	३।२।३६, ३७
२।२।३९	३।२।३८
२।२।४०	३।२।४२
२।२।४१	३।२।४३
२।२।४२	३।२।४४
२।२।४३	३।२।४५
२।२।४४	३।२।४६
२।२।४५	३।२।४७
२।२।४६	३।२।४८
२।२।४७	३।२।४९
२।२।४८	३।२।५०

२।२।४९	३।२।५१
२।२।५० ; २।२।५१	३।२।५२, ५३
२।२।५२	३।२।५४
२।२।५३	३।२।५५
२।२।५४ ; २।२।५५	३।२।५६ ; ३।२।५७
२।२।५६	३।२।५८
२।२।५७	३।२।५९
२।२।५८	३।२।६०
२।२।५९	३।२।६१
२।२।६०	३।२।६८
२।२।६१	३।२।६९
२।२।६२	३।२।७४
२।२।६३	३।२।७५
२।२।६४	३।२।७६
२।२।६५	३।२।६२
२।२।६६	३।२।७८
२।२।६७	३।२।७९
२।२।६८	३।२।८०
२।२।६९	३।२।८१
२।२।७०	३।२।८२
२।२।७१	३।२।८३
२।२।७२	३।२।८४
२।२।७३	३।२।८५
२।२।७४	३।२।८६
२।२।७५	३।२।८७
२।२।७६	३।२।८९
२।२।७७	३।२।९०
२।२।७८	३।२।९१
२।२।७९	३।२।९२
२।२।८०	३।२।९३
२।२।८१	३।२।९४
२।२।८२	३।२।९५
२।२।८३	३।२।९६
२।२।८४	३।२।९७
२।२।८५	३।२।१०२
२।२।८६	३।२।१०३

२।२।८७	
२।२।८८ ; २।२।८९	
२।२।९०	
२।२।९१	
२।२।९२	
२।२।९३	
२।२।९४	
२।२।९५	
२।२।९६	
२।२।९७	
२।२।९८	
२।२।९९ ; २।२।१००	
२।२।१०१	
२।२।१०२	[illegible]
२।२।१०३	[illegible]
२।२।१०४	[illegible]
२।२।१०५	[illegible]
२।२।१०६	[illegible]
२।२।१०७	[illegible]
२।२।१०८	[illegible]
२।२।१०९	[illegible]
२।२।११०	३।२।१३२
२।२।१११	३।२।१३३
२।२।११२	३।२।१३४
२।२।११३	३।२।१३५
२।२।११४	३।२।१३६
२।२।११५	३।२।१३८, १३९
२।२।११६	३।२।१४०
२।२।११७	३।२।१४१
२।२।११८ ; २।२।११९	३।२।१४२
२।२।१२०	३।२।१४३
२।२।१२१	३।२।१४४
२।२।१२२	३।२।१४२

२।२।१२३	३।२।१४२
२।२।१२४	३।२।१४२
२।२।१२५	३।२।१४२
२।२।१२६	३।२।१४५
२।२।१२७, २।२।१२८	३।२।१४६
२।२।१२९	३।२।१४७
२।२।१३०	३।२।१४८
२।२।१३१	३।२।१४९
२।२।१३२	३।२।१५०
२।२।१३३	३।२।१५१
२।२।१३४	३।२।१५०
२।२।१३५	३।२।१६६
२।२।१३६	३।२।१६५
२।२।१३७	३।२।१५४
२।२।१३८	३।२।१५५
२।२।१३९, २।२।१४०	३।२।१५६, ३।२।१५७
२।२।१४१	३।२।१५८
२।२।१४२	३।२।१५९
२।२।१४३	३।२।१६०
२।२।१४४	३।२।१६१
२।२।१४५	३।२।१६२
२।२।१६१	३।२।१८१, १८३
२।२।१६२	३।२।१८४
२।२।१६३	३।२।१८५
२।२।१६४	३।२।१८६
२।२।१६५	३।२।१८७
२।२।१६६	३।२।१८८
२।२।१६७	३।३।१

अध्याय २ पाद ३

२।३।१	३।३।३
२।३।२	३।३।४
२।३।३	३।३।५
२।३।४	३।३।६
२।३।५	३।३।७
२।३।६	३।३।८
२।३।७	३।३।९
२।३।८	३।३।१०
२।३।९	३।३।११
२।३।१०	३।३।१२
२।३।११, २।३।१२	३।३।१३
२।३।१३	३।३।१४
२।३।१४	३।३।१५
२।३।१५	३।२।१६
२।३।३१	३।३।३३
२।३।३२	३।३।३४
२।३।३३	३।३।३५
२।३।३४	३।३।३५
२।३।३५	३।३।३६
२।३।३६	३।३।३७, ३८
२।३।३७	३।३।३९
२।३।३८	३।३।४०
२।३।३९	३।३।४१
२।३।४०	३।३।४२
२।३।४१	३।३।४५
२।३।४२	३।३।४६
२।३।४३	३।३।४७
२।३।४४	३।३।४८
२।३।४५	३।३।४९
२।२।४६	३।३।५०
२।३।४७	३।३।५१
२।३।४८	३।३।५२
२।३।४९	३।३।५३
२।३।५०	३।३।५४
२।३।५१	३।३।५५
२।३।५२	३।३।५६, ५७, ५८

२।३।६८	३।३।६५
२।३।६९	३।३।६८, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७
२।३।७०	३।३।८८
२।३।७१	३।३।८९
२।३।७२	३।३।९०, ९१
२।३।७३	३।३।९२
२।३।७४	३।३।९३
२।३।७५	३।३।९४
२।३।७६ २।३।७७	३।३।४२
२।३।७८	३।३।९७
२।३।७९	३।३।९५
२।३।८०	३।३।९८
२।३।८१	३।३।९९
२।३।८२	३।३।१००
२।३।८३	३।३।१०१
२।३।८४	३।३।१०२
२।३।८५	३।३।१०३
२।३।८६	३।३।१०४
२।३।८७	३।३।१०५
२।३।८८	३।३।१०६
२।३।८९	३।३।१०७
२।३।९०	३।३।१०९
२।३।९१	३।३।११०
२।३।९२	३।३।१११
२।३।९३	३।३।११२
२।३।९४	३।३।११३
२।३।९५	३।३।११४
२।३।९६	\
२।३।९७	३।३।११५
२।३।९८	३।३।११६
२।३।९९	३।३।११७
२।३।१००	३।३।११८
२।३।१०१	३।३।१२०
२।३।१०२	३।३।१२१
२।३।१०३	३।३।१२२
२।३।१०४	३।३।१२६
२।३।१०५	३।३।१२७
२।३।१०६	३।३।१२८
२।३।१०७	३।३।१३१
२।३।१०८	३।३।१३२
२।३।१०९	३।३।१३३
२।३।११०	३।३।१३४
२।३।१११	३।३।१३५
२।३।११२	३।३।१३६
२।३।११३	३।३।१३७
२।३।११४	३।३।१३८
२।३।११५	३।३।१३९
२।३।११६	३।३।१४०
२।३।११७	३।३।१४१
२।३।११८	३।३।१४२
२।३।११९	३।३।१४३
२।३।१२०	३।३।१४४
२।३।१२१	३।३।१४५
२।३।१२२	३।३।१४६
२।३।१२३	३।३।१४७
२।३।१२४	३।२।१४८
२।३।१२५	३।३।१४९
२।३।१२६	३।३।१५०
२।३।१२७	३।३।१५१
२।३।१२८	३।३।१५२
२।३।१२९	३।३।१५३
२।३।१३०	३।३।१५४
२।३।१३१	३।३।१५५
२।३।१३२	३।३।१५६
२।३।१३३	३।३।१५७
२।३।१३४	३।३।१५८
२।३।१३५	३।३।१५९
२।३।१३६	३।३।१६०
२।३।१३७	३।३।१६१
२।३।१३८	३।३।१६२
२।३।१३९	३।३।१६३
२।३।१४०	३।३।१६४
२।३।१४१	३।३।१६५
२।३।१४२	३।३।१६६
२।३।१४३	३।३।१६७
२।३।१४४	३।३।१६८
२।३।१४५	३।३।१६९
२।३।१४६	३।३।१७०
२।३।१४७	३।३।१७१
२।३।१४८	३।३।१७२
२।३।१४९	३।३।१७३
२।३।१५०	३।३।१७४
२।३।१५१	३।३।१७५
२।३।१५२	३।३।१७६

अध्याय २ पाद ४

२।४।१	३।४।१
२।४।२	३।४।२
२।४।३	३।४।३
२।४।४	३।४।१८
२।४।५	३।४।१९
२।४।६	३।४।२०
२।४।७	३।४।२१
२।४।८	३।४।२२
२।४।९	३।४।२३
२।४।१०	३।४।२४
२।४।११	३।४।२५
२।४।१२	३।४।२६
२।४।१३	३।४।२७
२।४।१४	३।४।२८
२।४।१५	३।४।२९
२।४।१६	३।४।३०
२।४।१७	३।४।३१
२।४।१८	३।४।३२
२।४।१९	३।४।३३
२।४।२०	३।४।३५
२।४।२१	३।४।३६
२।४।२२	३।४।३४
२।४।२३	३।४।३६
२।४।२४	३।४।३७

२।४।२५	३।४।३९	२।४।६३	३।४।७७	३।१।३	४।१।३
२।४।२६	३।४।४०	२।४।६४	३।४।७८	३।१।४	४।१।४
२।४।२७	३।४।३८	२।४।६५	३।४।७९	३।१।५	४।१।७५
२।४।२८	३।४।४१	२।४।६६	३।४।८०	३।१।६	४।१।५,६
२।४।२९	३।४।४२	२।४।६७	३।४।८१	३।१।७	४।१।७
२।४।३०	३।४।४३	२।४।६८	३।४।८२	३।१।८	४।१।१०
२।४।३१	३।४।४४	२।४।६९	३।४।८३	३।१।९	४।१।११
२।४।३२	३।४।४५	२।४।७०	३।४।८४	३।१।१०	४।१।१२
२।४।३३	३।४।४६	२।४।७१		३।१।११	४।१।१३
२।४।३४	३।४।४८	२।४।७२	३।४।८५	३।१।१२	४।१।२१
२।४।३५	३।४।४९	२।४।७३	३।४।८६	३।१।१३	४।१।२५
२।४।३६	३।४।५०,५१	२।४।७४	३।४।८७	३।१।१४	४।१।२६,२७
२।४।३७	३।४।५२	२।४।७५	३।४।८९	३।१।१५	४।१।८
२।४।३८	३।४।५३	२।४।७६	३।४।९०	३।१।१६	४।१।९
२।४।३९	३।४।५४	२।४।७७	३।४।९१	३।१।१७	४।१।१४
२।४।४०	३।४।५५	२।४।७८	३।४।९२	३।१।१८	४।१।१५
२।४।४१	३।४।५६	२।४।७९	३।४।९३	३।१।१९	४।१।१६
२।४।४२	३।४।५७	२।४।८०	३।४।९९	३।१।२०	४।१।१७
२।४।४३	३।४।५८	२।४।८१	३।४।१००	३।१।२१	४।१।१८
२।४।४४	३।४।५९	२।४।८२	३।४।१०१	३।१।२२	४।१।१९
२।४।४५	३।४।६०	२।४।८३	३।४।१०२	३।१।२३	४।१।१४
२।४।४६	३।४।६१	२।४।८४	३।४।१०३	३।१।२४	४।१।२०
२।४।४७	३।४।६२	२।४।८५	३।४।१०४	३।१।२५	४।१।२१

३।१।४१	४।१।३८
३।१।४२	४।१।४९
३।१।४३	४।१।५०
३।१।४४	४।१।५१
३।१।४५	४।१।५२
३।१।४६	४।१।५३
३।१।४७	४।१।५४
३।१।४८	४।१।५५
३।१।४९	४।१।५६
३।१।५०	४।१।५७
३।१।५१	४।१।५८
३।१।५२	४।१।६२
३।१।५३	४।१।६३
३।१।५४	४।१।६४
३।१।५५	४।१।६५
३।१।५६	४।१।६६
३।१।५७	४।१।६८
३।१।५८	४।१।६९
३।१।५९	४।१।७०
३।१।६०	४।१।६७,७१
३।१।६१	४।१।७६
३।१।६२	४।१।७७
३।१।६३	४।१।७८
३।१।६४	४।१।७९
३।१।६५	४।१।८०
३।१।६६	४।१।८१
३।१।६७	४।१।८२
३।१।६८	४।१।८३
३।१।६९	४।१।८४
३।१।७०	४।१।८५
३।१।७१	४।१।८६
३।१।७२	४।१।८७
३।१।७३	४।१।८९
३।१।७४	४।१।८८
३।१।७५	४।१।९०
३।१।७६	४।१।९१
३।१।७७	४।१।९२
३।१।७८	४।१।६२

३।१।७९	४।१।९३
३।१।८०	४।१।९४
३।१।८१	४।१।१६३
३।१।८२	४।१।१६४
३।१।८३	४।१।१६५
३।१।८४	४।१।१६६, १६७
३।१।८५	४।१।९५,९६
३।१।८६	४।१।९७
३।१।८७	४।१।९८
३।१।८८	४।१।९९
३।१।८९	४।१।१००
३।१।९०	४।१।१०१
३।१।९१	४।१।१०२
३।१।९२	४।१।१०३
३।१।९३	४।१।१०४
३।१।९४	४।१।१०५
३।१।९५	४।१।१०६
३।१।९६	४।१।१०७
३।१।९७	४।१।१०८
३।१।९८	४।१।१०९
३।१।९९	४।१।११०
३।१।१००	४।१।१११
३।१।१०१	४।१।११२
३।१।१०२	४।१।११३
३।१।१०३	४।१।११४
३।१।१०४	४।१।११५
३।१।१०५	४।१।११६
३।१।१०६	४।१।११७
३।१।१०७	४।१।११८
३।१।१०८	४।१।११९
३।१।१०९	४।१।१२०
३।१।११०	४।१।१२१
३।१।१११	४।१।१२२
३।१।११२	४।१।१२३
३।१।११३	४।१।१२४
३।१।११४	४।१।१२५
३।१।११५	४।१।१२६

३।१।११६	४।१।१२७
३।१।११७	४।१।१२८
३।१।११८	४।१।१३०
३।१।११९	४।१।१२९
३।१।१२०	४।१।१३१
३।१।१२१	४।१।१३२, १३४
३।१।१२२	४।१।१३३
३।१।१२३	४।१।१३५
३।१।१२४	४।१।१३६
३।१।१२५	४।१।१३८
३।१।१२६	४।१।१३७
३।१।१२७	४।१।१४०
३।१।१२८ } ३।१।१२९ }	४।१।१३९
३।१।१३०	४।१।१४१
३।१।१३१	४।१।१४२
३।१।१३२	४।१।१४३
३।१।१३३	४।१।१४४
३।१।१३४	४।१।१४६
३।१।१३५	४।१।१४७
३।१।१३६	४।१।१४८
३।१।१३७	४।१।१४९
३।१।१३८	४।१।१५०
३।१।१३९	४।१।१५१
३।१।१४०	४।१।१५२, १५३
३।१।१४१	४।१।१५४
३।१।१४२	४।१।१५५
३।१।१४३	४।१।१५६
३।१।१४४	४।१।१५७
३।१।१४५	४।१।१५८
३।१।१४६	४।१।१५९
३।१।१४७	४।१।१६०
३।१।१४८	४।१।१६१
३।१।१४९	४।१।१७४
३।१।१५०	४।१।१६८
३।१।१५१	४।१।१६९

३।१।१५२	४।१।१७०
३।१।१५३	४।१।१७१, १७२
३।१।१५४	४।१।१७३
३।१।१५५	×
३।१।१५६	४।१।१७५
३।१।१५७	४।१।१७६
३।१।१५८	४।१।१७७, १७८

अध्याय ३ पाद २

३।२।१	४।२।१
३।२।२	×
३।२।३	४।२।२
३।२।४	४।२।३
३।२।५	४।२।४
३।२।६	४।२।५
३।२।७	४।२।६
३।२।८	४।२।१०
३।२।९	४।२।१४
३।२।१०	४।२।१५
३।२।२९	४।२।३४
३।२।३०	४।२।३५
३।२।३१	४।२।३६
३।२।३२	४।२।३७
३।२।३३	४।२।३८
३।२।३४	४।२।३९
३।२।३५	४।२।४०
३।२।३६	४।२।४१
३।२।३७	४।२।४३
३।२।३८	४।२।४६
३।२।३९	४।२।४७
३।२।४०	४।२।४८
३।२।४१	४।२।४९
३।२।४२	४।२।४२
३।२।४३	४।२।५०
३।२।४४	४।२।५१
३।२।४५	४।२।५२
३।२।४६	४।२।५३
३।२।४७	४।२।५४
३।२।४८	४।२।५६
३।२।६७	४।२।८७
३।२।६८	४।२।८९
३।२।६९	४।२।८८
३।२।७०	४।२।९०
३।२।७१	४।२।९१
३।२।७२	४।२।९२
३।२।७३	४।२।९३
३।२।७४	४।२।९४
३।२।७५	४।२।९५
३।२।७६	४।२।९७
३।२।७७	४।२।९८
३।२।७८	४।२।९९
३।२।७९	४।२।१००
३।२।८०	४।२।१०१
३।२।८१	४।२।१०४
३।२।८२	४।२।१०५
३।२।८३	४।२।१०६
३।२।८४	४।२।१०७
३।२।८५	४।२।१०८
३।२।८६	४।२।११०

३।२।१०५	४।२।१२७
३।२।१०६	४।२।१२८
३।२।१०७	४।२।१२९
३।२।१०८	४।२।१३०
३।२।१०९	४।२।१३१
३।२।११०	४।२।१३२
३।२।१११	४।२।१३३
३।२।११२	४।२।१३४
३।२।११३	४।२।१३५, १३६
३।२।११४	४।२।१३७, १३८
३।२।११५	४।२।१३९
३।२।११६	४।२।१४०
३।२।११७	४।२।१४१
३।२।११८	४।२।१४२
३।२।११९	४।२।१४३
३।२।१२०	४।२।१४४
३।२।१२१	४।३।१
३।२।१२२	४।३।२
३।२।१२३	४।३।३
३।२।१२४	४।३।४
३।२।१२५	४।३।५
३।२।१२६	४।३।६
३।२।१२७	४।३।७
३।२।१२८	४।३।८
३।२।१२९	४।३।९
३।२।१३०	४।३।१०
३।२।१३१	४।३।११
३।२।१३२	४।३।१२
३।२।१३३	४।३।१३
३।२।१३४	४।३।१४
३।२।१३५	४।३।१५
३।२।१३६	४।३।१७
३।२।१३७	४।३।१६
३।२।१३८	४।३।२१
३।२।१३९	४।२।२३
३।२।१४०	४।२।२४

अध्याय ३ पाद ३

३।३।१	४।३।२५
३।३।२	४।३।२६
३।३।३	४।३।२७
३।३।४, ३।३।५	४।३।२८
३।३।६	४।३।२९
३।३।७	४।३।३०
३।३।८, ३।३।९	४।३।३४
३।३।१०, ३।३।११	४।३।३५
३।३।१२	४।३।३६
३।३।१३	४।३।३७
३।३।१४, ३।३।१५	४।३।३८
३।३।१६	४।३।३९
३।३।१७	×
३।३।१८	४।३।४३
३।३।१९	४।३।४४
३।३।२०	४।३।४५
३।३।२१	४।३।४६
३।३।२२	४।३।४७
३।३।२३	४।३।४८
३।३।२४	४।३।४९
३।३।२५	४।३।५०
३।३।२६	४।३।५१
३।३।२७	४।३।५२
३।३।२८	४।३।५३
३।३।२९	४।३।५४
३।३।३०	४।३।५५
३।३।३१	४।३।५६
३।३।३२	४।३।५७
३।३।३३	४।३।५८
३।३।३४	४।३।५९
३।३।३५	४।३।६०
३।३।३६	×
३।३।३७	४।३।६१
३।३।३८	४।३।६२

३।३।३९	४।३।६३
३।३।४०	४।३।६४
३।३।४१	४।३।६५
३।३।४२	४।३।६६
३।३।४३	४।३।६७
३।३।४४	४।३।७२
३।३।४५	४।३।७०
३।३।४६	४।३।७१
३।३।४७	४।३।७३
३।३।४८	४।३।७४
३।३।४९	४।३।७५
३।३।५०	४।३।७६
३।३।५१	४।३।७७
३।३।५२	४।३।७८
३।३।५३	४।३।७९
३।३।५४	४।३।८०
३।३।५५	४।३।८१
३।३।५६	४।३।८२
३।३।५७	४।३।८३
३।३।५८	४।३।८४
३।३।५९	४।३।८५
३।३।६०	४।३।८६
३।३।६१	४।३।८७
३।३।६२	४।३।८८
३।३।६३	४।३।८९
३।३।६४	४।३।९०
३।३।६५	४।३।९१
३।३।६६	४।३।९२
३।३।६७	४।३।९३
३।३।६८, ३।३।६९	४।३।९४
३।३।७०	४।३।९५
३।३।७१	४।३।९६
३।३।७२	४।३।९७
३।३।७३	४।३।९८
३।३।७४	४।३।९९
३।३।७५	४।३।१००
३।३।७६	४।३।१०१

३।३।७७	४।३।१०६	३।३।११४	४।३।१५५	३।३।१५२	४।४।२९
३।३।७८	४।३।१०२	३।३।११५	४।३।१५६	३।३।१५३	४।४।३०
३।३।७९	४।३।१०८	३।३।११६	४।३।१५७	३।३।१५४	४।४।३१
३।३।८०	४।३।१०९	३।३।११७	४।३।१५८	३।३।१५५	४।४।३२, ३३
३।३।८१	४।३।११२	३।३।११८	४।३।१६०	३।३।१५६	४।४।३४
३।३।८२	४।३।११३	३।३।११९	४।३।१६१	३।३।१५७	४।४।३५
३।३।८३	४।३।११४	३।३।१२०	४।३।१६२	३।३।१५८	४।४।३६
३।३।८४	४।३।११५	३।३।१२१	४।३।१६३	३।३।१५९	४।४।३७, ३८
३।३।८५	४।३।११६	३।३।१२२	४।३।१६४	३।३।१६०	४।४।३९
३।३।८६	४।३।११७	३।३।१२३	४।३।१६५	३।३।१६१	४।४।४०
३।३।८७	४।३।११८	३।३।१२४	४।३।१६७	३।३।१६२	४।४।४१
३।३।८८	४।३।१२०	३।३।१२५	४।३।१६८	३।३।१६३	४।४।४२
३।३।८९	४।३।१२१	३।३।१२६	४।४।१	३।३।१६४	४।४।४३
३।३।९०	४।३।१२२	३।३।१२७	४।४।२	३।३।१६५	४।४।४४
३।३।९१	४।३।१२३	३।३।१२८	४।४।३	३।३।१६६	४।४।४५
३।३।९२	४।३।१२४	३।३।१२९	४।४।४	३।३।१६७	४।४।४६
३।३।९३	४।३।१२५	३।३।१३०	४।४।५	३।३।१६८	४।४।४७
३।३।९४	४।३।१२६	३।३।१३१	४।४।७	३।३।१६९	४।४।४८, ४९
३।३।९५	४।३।१२७	३।३।१३२	४।४।८	३।३।१७०	४।४।५०

३।३।१९०	४।४।७३,७४
३।३।१९१	४।४।७६
३।३।१९२	४।२।७७
३।३।१९३	४।४।७८,७९
३।३।१९४	४।४।८३
३।३।१९५	४।४।८२,८४
	८५,८६,८७
	८८, ८९, ९०
३।३।१९६ } ३।३।१९७ }	४।४।९१
३।३।१९८	४।४।९२
३।३।१९९	४।४।९३
३।३।२००	४।४।९४
३।३।२०१	४।४।९७
३।३।२०२	४।४।९८
३।३।२०३	४।४।९९
३।३।२०४	४।४।१००
३।३।२०५	४।४।१०१
३।३।२०६	४।४।१०२
३।३।२०७	४।४।१०४
३।३।२०८	४।४।१०५

अध्याय ३ पाद ४

३।४।१	५।१।१
३।४।२	५।१।२
३।४।३	५।१।४
३।४।४	५।१।५
३।४।५	५।१।६,७
३।४।६	५।१।८
३।४।७	५।१।९
३।४।८ } ३।४।९ }	५।१।१०
३।४।१०	५।२।११
३।४।११	५।१।१२
३।४।१२	५।१।१३
३।४।१३	५।१।१४
३।४।१४	५।१।१५
३।४।१५	५।१।१६
३।४।१६	५।१।१७

३।४।१७	५।१।१८
३।४।१८	५।१।२१
३।४।१९	५।१।२२
३।४।२०	५।१।२३
३।४।२१	५।१।२४
३।४।२२	५।१।२५
३।४।२३	×
३।४।२४	५।१।२७
३।४।२५	५।१।२६
३।४।२६	५।१।२८
३।४।२७	५।१।२९,
३।४।२८	५।१।३०,३१
३।४।२९	५।१।३२
३।४।३०	५।१।३३
३।४।३१ } ३।४।३२ }	५।१।३४
३।४।३३	५।१।३५
३।४।३४	५।१।३६
३।४।३५	५।१।३७
३।४।३६	५।१।४५
३।४।३७	५।१।३८
३।४।३८ } ३।४।३९ }	५।१।३९
३।४।४०	५।१।४०
३।४।४१	५।१।४१
३।४।४२	५।१।४२
३।४।४३	५।१।४३
३।४।४४ } ३।४।४५ }	५।१।४४
३।४।४६	५।१।४७
३।४।४७	५।१।४८
३।४।४८	५।१।४९
३।४।४९	५।१।५०
३।४।५०	५।१।५१
३।४।५१	५।१।५२
३।४।५२	५।१।५३
३।४।५३	५।१।५४
३।४।५४	५।१।५५

३।४।५५	५।१।५६
३।४।५६	५।१।५७,५८
३।४।५७	×
३।४।५८	५।१।५९
३।४।५९	५।१।६०
३।४।६०	५।१।६१
३।४।६१	×
३।४।६२	५।१।६४
३।४।६३	५।१।६५
३।३।६४	५।१।६६
३।४।६५	५।१।६८
३।४।६६	५।१।६९,७०
३।४।६७	५।१।७१
३।४।६८	५।१।७२
३।४।६९	५।१।७३
३।४।७०	५।१।७४
३।४।७१	५।१।७५
३।४।७२	५।१।७६
३।४।७३	५।१।७७
३।४।७४	५।१।७८
३।४।७५	५।१।७९
३।४।७६	५।१।८०
३।४।७७	५।१।८१
३।४।७८ } ३।४।७९ }	५।१।८२
३।४।८०	५।१।८३
३।४।८१	५।१।८४
३।४।८२	५।१।८५
३।४।८३	५।१।८६
३।४।८४	५।१।८७
३।४।८५	५।१।८८
३।४।८६	५।१।८९
३।४।८७	५।१।९४
३।४।८८	५।१।९५
३।४।८९	५।१।९६
३।४।९०	५।१।९७
३।४।९१	५।१।९८
३।४।९२	५।१।९३

४।१।१४५	५।३।९०
४।१।१४६	५।३।९१
४।१।१४७	५।३।९२
४।१।१४८	५।३।९३
४।१।१४९	५।३।९४
४।१।१५०	५।३।९६
४।१।१५१	५।३।९७
४।१।१५२	५।३।९८
४।१।१५३	५।३।९९
४।१।१५४	५।३।१००
४।१।१५५	५।३।१०१
४।१।१५६	५।३।१०२
४।१।१५७	५।३।१०३
४।१।१५८	५।३।१०४
४।१।१५९	५।३।१०५
४।१।१६०	५।३।१०६
४।१।१६१	५।३।१०७
४।१।१६२	५।३।१०८
४।१।१६३	५।३।१०९
४।१।१६४	५।३।११०

अध्याय ४ पाद २

४।२।१	५।३।११२
४।२।२	५।३।११३
४।२।३	५।३।११४
४।२।४	५।३।११५
४।२।५	५।३।११६
४।२।६	५।३।११७
४।२।७, ४।२।८	५।३।११८
४।२।९	५।३।११९
४।२।१०	५।४।१, २
४।२।११	५।४।३
४।२।१२	५।४।४
४।२।१३	५।४।५
४।२।१४	५।४।६
४।२।१५, ४।२।१६	५।४।७
४।२।१७	५।४।८
४।२।१८	५।४।९
४।२।१९	५।४।१०
४।२।२०	५।४।११
४।२।२१	५।४।१५
४।२।२२	५।४।१४
४।२।२३	५।४।१६
४।२।२४	५।४।१७
४।२।२५	५।४।१८
४।२।२६	५।४।१९
४।२।२७	५।४।२०
४।२।२८	५।४।२१
४।२।२९	५।४।२२
४।२।३०	५।४।२३
४।२।३१	५।४।२४
४।२।३२	५।४।२५
४।२।३३	५।४।२६
४।२।३४	५।४।२७
४।२।३५	५।४।२८, २९
४।२।३६	५।४।३०
४।२।३७	५।४।३१
४।२।३८	५।४।३२
४।२।३९	५।४।३३
४।२।४०	५।४।३४
४।२।४१	५।४।३५
४।२।४२	५।४।३६
४।२।४३	५।४।३७
४।२।४४	५।४।३८
४।२।४५	५।४।३९
४।२।४६	५।४।४०
४।२।४७	५।४।४२
४।२।४८	५।४।४३
४।२।४९	५।४।४४
४।२।५०	५।४।४५
४।२।५१	५।४।४६
४।२।५२	५।४।४७
४।२।५३	५।४।४८
४।२।५४	५।४।४९
४।२।५५	५।४।५०
४।२।५६	५।४।५१
४।२।५७	५।४।५२
४।२।५८	५।४।५३
४।२।५९	५।४।५४
४।२।६०	५।४।५५
४।२।६१	५।४।५७
४।२।६२	५।४।५८
४।२।६३	५।४।५९
४।२।६४	५।४।६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६६, ६७,
४।२।६५	५।४।६८
४।२।६६	५।४।६९, ७०
४।२।६७	५।४।७१
४।२।६८	५।४।७२
४।२।६९	५।४।७३
४।२।७०	५।४।७४
४।२।७१	५।४।७५
४।२।७२	५।४।७६
४।२।७३, ४।२।७४, ४।२।७५, ४।२।७६, ४।२।७७, ४।२।७८, ४।२।७९	५।४।७७
४।२।८०	५।४।७८
४।२।८१	५।४।७९
४।२।८२, ४।२।८३	५।४।८०
४।२।८४	५।४।८१
४।२।८५	५।४।८२
४।२।८६	५।४।८३, ८४
४।२।८७	५।४।८५
४।२।८८	५।४।८६
४।२।८९	५।४।८७
४।२।९०	५।२।८८
४।२।९१	५।४।८९
४।२।९२	५।४।९०

४।२।९३	५।४।९१
४।२।९४	५।४।९२
४।२।९५	५।४।९३
४।२।९६	५।४।९४
४।२।९७	५।४।९५
४।२।९८	५।४।९६
४।२।९९, ४।२।१००	५।४।९७
४।२।१०१	५।४।९८
४।२।१०२	५।४।९९
४।२।१०३	५।४।१००
४।२।१०४	५।४।१०१
४।२।१०५	५।४।१०२
४।२।१०६	५।४।१०४
४।२।१०७	५।४।१०५
४।२।१०८	५।४।१०६
४।२।१०९	५।४।१०७
४।२।११०	५।४।१०८
४।२।१११	५।४।१०९
४।२।११२	५।४।११०, १११, ११२
४।२।११३	५।४।११३
४।२।११४	५।४।११४
४।२।११५	५।४।११५
४।२।११६	५।४।११६
४।२।११७	५।४।११७
४।२।११८	५।४।११८
४।२।११७	५।४।११९
४।२।१२०, ४।२।१२१, ४।२।१२२	५।४।१२०
४।२।१२३	५।४।१२१
४।२।१२४	५।४।१२२
४।२।१२५	५।४।१२४
४।२।१२६	५।४।१२५
४।२।१२७	५।४।१२६
४।२।१२८	५।४।१२७
४।२।१२९	५।४।१२८

४।२।१३०	५।४।१२९
४।२।१३१	५।४।१३०
४।२।१३२	५।४।१३१
४।२।१३३	५।४।१३२
४।२।१३४	५।४।१३३
४।२।१३५	५।४।१३४
५।२।१३६	५।४।१३५
४।२।१३७	५।४।१३६
४।२।१३८	५।४।१३७
४।२।१३९	५।४।१३८
४।२।१४०	५।४।१४०
४।२।१४१	५।४।१३९
४।२।१४२	५।४।१४१
४।२।१४३	५।४।१४३
४।२।१४४	५।४।१४४
४।२।१४५	५।४।१४५
३।२।१४६	५।३।१४६
४।२।१४७	५।४।१४७
४।२।१४८	५।४।१४८
४।२।१४९	५।४।१४९
४।२।१५०	५।४।१५०
४।२।१५१	५।४।१५१
४।२।१५२	५।४।१५२
४।२।१५३	५।४।१५३
४।२।१५४	५।४।१५४
४।२।१५५	५।४।१५५
४।२।१५६	५।४।१५६
४।२।१५७	५।४।१५७
४।२।१५८	५।४।१५९
४।२।१५९	५।४।१६०

अध्याय ४ पाद ३

४।३।१	६।१।१
४।३।२	६।१।२
४।३।३	६।१।३
४।३।४	६।१।५
४।३।५	६।१।६
४।३।६	६।१।४
४।३।७	६।१।८
४।३।८	६।१।९
४।३।९	६।१।१३
४।३।१०	६।१।१४
४।३।११	६।१।१५
४।३।१२	६।१।१६
४।३।१३	६।१।१७
४।३।१४	६।१।१८
४।३।१५	६।१।१९
४।३।१६	६।१।२१
४।३।१७	६।१।२२
४।३।१८	६।१।२३
४।३।१९	६।१।२४
४।३।२०	६।१।२५
४।३।२१	६।१।२६
४।३।२२	६।१।२७
४।३।२३, ४।३।२४, ४।३।२५	६।१।२८
४।३।२६	६।१।२९
४।३।२७	६।१।३०
४।३।२८	६।१।३१
४।३।२९	६।१।३२
४।३।३०	६।१।३३
४।३।३१	६।१।३७
४।३।३२	६।१।३८
४।३।३३	६।१।३९
४।३।३४	६।१।४१
४।३।३५	६।१।४२
४।३।३६	६।१।४३
४।३।३७	६।१।४४
४।३।३८	६।१।४५
४।३।३९	६।१।४६
४।३।४०	६।१।४७
४।३।४१	६।१।४८
४।३।४२	६।१।४९
४।३।४३	६।१।५०
४।३।४४	६।१।५१
४।३।४५	६।१।५३

४।३।४६	६।१।५४
४।३।४७	६।१।५५
४।३।४८	६।१।५६
४।३।४९	७।३।४०
४।३।५०	६।१।५७
४।३।५१	६।१।५८
४।३।५२	६।१।५९
४।३।५३	६।१।६४
४।३।५४	६।१।६५
४।३।५५	६।१।६६
४।३।५६	६।१।६८
४।३।५७ ४।३।५८	६।१।६९
४।३।५९	६।१।७१
४।३।६०	६।१।७२
४।३।६१	६।१।७३
४।३।६२	६।१।७४
४।३।६३	६।१।७५
४।३।६४	६।१।७६
४।३।६५	६।१।७७
४।३।६६	६।१।७८
४।३।६७	६।१।७९
४।३।६८ ४।३।६९	६।१।८१
४।३।७०	६।१।८०
४।३।७१	६।१।८२
४।३।७२	६।१।८४
४।३।७३	६।१।८५
४।३।७४	६।१।८६
४।३।७५	६।१।८७
४।३।७६	६।१।८८
४।३।७७	६।१।८९
४।३।७८	६।१।९०
४।३।७९	६।१।९१
४।३।८०	६।१।९२
४।३।८१	६।१।९४
४।३।८२	६।१।९५
४।३।८३	६।१।९६
४।३।८४	६।१।९७
४।३।८५	६।१।९८
४।३।८६	६।१।९९
४।३।८७	६।१।१००
४।३।८८	६।१।१०१
४।३।८९ ४।३।९०	६।१।१०२
४।३।९१	६।१।१०३
४।३।९२	६।१।१०४
४।३।९३	६।१।१०५
४।३।९४	६।१।१०७
४।३।९५	६।१।१०८
४।३।९६	६।१।१०९
४।३।९७	६।१।११०
४।३।९८	६।१।१११
४।३।९९	६।१।११२
४।३।१००	६।१।११३,११४
४।३।१०१	६।१।१२४
४।३।१०२	६।१।१२३
४।३।१०३	६।१।१२५
४।३।१०४	६।१।१२७
४।३।१०५	६।१।१२८
४।३।१०६	६।१।१२९
४।३।१०७	६।१।१३०
४।३।१०८	६।१।१३१
४।३।१०९	६।१।१३२
४।३।११०	६।१।१३७
४।३।१११	६।१।१३८
४।३।११२	६।१।१३९
४।३।११३	६।१।१४०
४।३।११४	६।१।१४१
४।३।११५	६।१।१४२
४।३।११६	६।१।१४३, १४४,१४५, १४६,१४७, १४८,१४९, १५०,१५२, १५३,१५४, १५६,१५७
४।३।११७	×
४।३।११८	२।४।३२
४।३।११९	२।४।३४
४।३।१२०	६।३।१
४।३।१२१	६।३।२
४।३।१२२	६।३।३
४।३।१२३	६।३।४
४।३।१२४	६।३।५
४।३।१२५	६।३।६
४।३।१२६	६।३।७,८
४।३।१२७	६।३।९
४।३।१२८ ४।३।१२९	६।३।१०
४।३।१३०	६।३।११
४।३।१३१	६।३।१२
४।३।१३२	६।३।१४
४।३।१३३	६।३।१७
४।३।१३४	६।३।२१
४।३।१३५	६।३।२२
४।३।१३६	६।३।२३
४।३।१३७	६।३।२४
४।३।१३८	६।३।२५
४।३।१३९	६।३।२६
४।३।१४०	६।३।२७
४।३।१४१	६।३।२८
४।३।१४२	६।३।२९
४।३।१४३	६।३।३०
४।३।१४४	६।३।३१
४।३।१४५	६।३।३२
४।३।१४६	६।३।३४
४।३।१४७	६।३।३५
४।३।१४८	६।३।३६
४।३।१४९	६।३।३७
४।३।१५०	६।३।३८
४।३।१५१	६।३।३९
४।३।१५२	६।३।४०
४।३।१५३	६।३।४१

४।३।१५४	६।३।४२	४।३।१९२	६।३।८४, ८५	४।३।२२९	६।३।१२८
४।३।१५५	६।३।४३	४।३।१९३	६।३।८६	४।३।२३०	६।३।१२९
४।३।१५६	६।३।४४	४।३।१९४	६।३।८८	४।३।२३१	६।३।१३०
४।३।१५७	६।३।४५	४।३।१९५	६।३।८९	४।३।२३२	६।३।१३७
४।३।१५८	६।३।४६	४।३।१९६	६।३।९०	४।३।२३३	६।३।१३८
४।३।१५९	६।३।४७, ४८	४।३।१९७	६।३।९१	४।३।२३४	६।३।१३९
४।३।१६०	६।३।४९	४।३।१९८	६।३।९२	**अध्याय ४ पाद ४**	
४।३।१६१	६।३।५०	४।३।१९९	६।३।९३	४।४।१	६।४।१
४।३।१६२	६।३।५१	४।३।२००	६।३।९४	४।४।२	६।४।२
४।३।१६३	६।३।५२	४।३।२०१	६।३।९५	४।४।३	६।४।३, ४
४।३।१६४	६।३।५३	४।३।२०२	६।३।९७	४।४।४	६।४।६
४।३।१६५	६।३।५४	४।३।२०३	६।२।९८	४।४।५	६।४।७
४।३।१६६	६।३।५५	४।३।२०४, ४।३।२०५	६।३।९९	४।४।६	६।४।८
४।३।१६७	६।३।५६	४।३।२०६	६।३।१००	४।४।७	६।४।१०
४।३।१६८	६।३।५७	४।३।२०७	६।३।१०१	४।४।८	६।४।११
४।३।१६९	६।३।५८	४।३।२०८	६।३।१०२	४।४।९, ४।४।१०	६।४।१२
४।३।१७०	६।३।५९	४।३।२०९	६।३।१०३	४।४।११	६।४।१३
४।३।१७१	६।३।६०	४।३।२१०	६।३।१०४	४।४।१२	६।४।१४
४।३।१७२	६।३।६१	४।३।२११	६।३।१०५	४।४।१३	६।४।१५
४।३।१७३	६।३।६३, ६४	४।३।२१२	६।३।१०६	४।४।१४	६।४।१६
४।३।१७४	६।३।६२	४।३।२१३	६।३।१०७	४।४।१५	६।४।१७
४।३।१७५	६।३।६५	४।३।२१४	६।३।१०९	४।४।१६	६।४।१८
४।३।१७६	६।३।६६	४।३।२१५	६।३।११०	४।४।१७	६।४।१९
४।३।१७७	६।३।६७	४।३।२१६	६।३।१११	४।४।१८	६।४।२०
४।३।१७८	६।३।६८	४।३।२१७	६।३।११२	४।४।१९	६।४।२१
४।३।१७९	६।३।७०	४।३।२१८	६।३।११५	४।४।२०	८।२।२८
४।३।१८०	६।३।७२	४।३।२१९	६।३।११६	४।४।२१	६।४।२२
४।३।१८१, ४।३।१८२	६।३।७३, ७४	४।३।२२०	६।३।११७	४।४।२२	६।४।२३
४।३।१८३	६।३।७५	४।३।२२१	६।३।११८	४।४।२३	६।४।२४
४।३।१८४	६।३।७६	४।३।२२२	६।३।११९, १२०	४।४।२४	६।४।२५
४।३।१८५	६।३।७७			४।४।२५	६।४।२६
४।३।१८६	६।३।७८	४।३।२२३	६।३।१२१	४।४।२६	×
४।३।१८७	६।३।७९	४।३।२२४	६।३।१२३	४।४।२७	६।४।२७
४।३।१८८	६।३।८०	४।३।२२५	६।३।१२४	४।४।२८	६।४।२८, २९
४।३।१८९	६।३।८१	४।३।२२६	६।३।१२२	४।४।२९	६।४।३०
४।३।१९०	६।३।८२	४।३।२२७	६।३।१२५	४।४।३०	६।४।३१
४।३।१९१	६।३।८३	४।३।२२८	६।३।१२७	४।४।३१	६।४।३२

४।४।३२	६।४।३३	४।४।७०	६।४।७१	४।४।१०७	६।४।११७
४।४।३३ ४।४।३४	६।४।३४	४।४।७१	६।४।७४	४।४।१०८	६।४।११८
४।४।३५	६।४।३५	४।४।७२	६।४।७७	४।४।१०९	६।४।११९
४।४।३६	६।४।३६	४।४।७३	६।४।७८	४।४।११०	६।४।१२०
४।४।३७	६।४।३७	४।४।७४	६।४।७९	४।४।१११	६।४।१२१
४।४।३८ ४।४।३९	६।४।३८	४।४।७५	६।४।८०	४।४।११२ ४।४।११३	६।४।१२२
४।४।४०	६।४।३९	४।४।७६	×	४।४।११४	६।४'१२३
४।४।४१	६।४।४०	४।४।७७	६।४।८१	४।४।११५	६।४।१२४
४।४।४२	६।४।४१	४।४।७८	६।४।८२	४।४।११६	६।४।१२५
४।४।४३ ४।४।४४	६।४।४२	४।४।७९	६।४।८३	४।४।११७	६।४।१२६
४।४।४५	६।४।४३	४।४।८०	६।४।८४	४।४।११८	६।४।१२९
४।४।४६	६।४।४४	४।४।८१	६।४।८८	४।४।११९	६।४।१३०
४।४।४७	६।४।४५	४।४।८२	६।४।८७	४।४।१२०	६।४।१३१
४।४।४८	६।४।४६	४।४।८३	६।४।८९	४।४।१२१	६।४।१३३
४।४।४९	६।४।४७	४।४।८४	६।४।९०	४।४।१२२	६।४।१३४, १३७
४।४।५०	६।४।४८	४।४।८५	६।४।९१	४।४।१२३	६।४।१३५
४।४।५१	६।४।४९	४।४।८६	६।४।९२, ९३	४।४।१२४	६।४।१३६
४।४।५२	६।४।५०	४।४।८७ ४।४।८८	६।४।९४	४।४।१२५	६।४।१३८
४।४।५३	६।४।५१	४।४।८९	६।४।९५	४।४।१२६	६।४।१३९
४।४।५४	६।४।५२	४।४।९० ४।४।९१	६।४।९६	४।४।१२७	६।४।१४०
४।४।५५	६।४।५५	४।४।९२	६।४।९७	४।४।१२८	६।४।१४२
४।४।५६	६।४।५६	४।४।९३	६।४।९८	४।४।१२९	६।४।१४३
४।४।५७	६।४।५७	४।४।९४	६।४।१०१	४।४।१३०	६।४।१४४
४।४।५८	६।४।५९	४।४।९५	६।४।१०४	४।४।१३१	६।४।१४४ वा०
४।४।५९	६।४।६०	४।४।९६	६।४।१०५	४।४।१३२	६।४।१४४ वा०
४।४।६०	६।४।६१	४।४।९७	६।४।१०६	४।४।१३३	६।४।१४५
४।४।६१	६।४।६२	४।४।९८	६।४।१०७	४।४।१३४ ४।४।१३५	६।४।१४७
४।४।६२	६।४।६३	४।४।९९	६।४।१०८, १०९	४।४।१३६	६।४।१४८
४।४।६३	६।४।६४	४।४।१००	६।४।११०	४।४।१३७ ४।४।१३८ ४।४।१३९	६।४।१४९
४।४।६४	६।४।६५	४।४।१०१	६।४।१११	४।४।१४०	६।४।१५०
४।४।६५	६।४।६६	४।४।१०२	६।४।११२	४।४।१४१	६।४।१५१, १५२
४।४।६६	६।४।६७	४।४।१०३	६।४।११३	४।४।१४२	६।४।१५२ वा०
४।४।६७	६।४।६८	४।४।१०४	६।४।११४	४।४।१४३	६।४।१५३
४।४।६८	६।४।६९	४।४।१०५	६।४।११५		
४।४।६९	६।४।७०	४।४।१०६	६।४।११६		

तुलनात्मक सूत्र-सूची

४।४।१४४	६।४।१५४
४।४।१४५	६।४।१५५
४।४।१४६	६।४।१५५ वा०
४।४।१४७	६।४।१५६
४।४।१४८ } ४।४।१४९ }	६।४।१५७
४।४।१५०	६।४।१५८
४।४।१५१	६।४।१५९
४।४।१५२	६।४।१६०
४।४।१५३	६।४।१६१
४।४।१५४	६।४।१६३
४।४।१५५	६।५।१६४
४।४।१५६	६।४।१७३
४।४।१५७	६।४।१६५, १६६
४।४।१५८	६।४।१६७
४।४।१५९	६।४।१६८
४।४।१६०	६।४।१६९
४।४।१६१	६।४।१७०
४।४।१६२	६।४।१७१
४।४।१६३	६।४।१७२
४।४।१६४ } ४।४।१६५ } ४।४।१६६ }	६।४।१७४

अध्याय ५ पाद १

५।१।१	७।१।१
५।१।२	७।१।२
५।१।३	७।१।३
५।१।४	७।१।४
५।१।५	७।१।५
५।१।६	७।१।६
५।१।७	७।१।७
५।१।८	७।१।९
५।१।९	७।१।११
५।१।१०	७।१।१२
५।१।११	७।१।१३
५।१।१२	७।१।१४
५।१।१३	७।१।१५
५।१।१४	७।१।१७
५।१।१५	७।१।१८
५।१।१६	७।१।१९
५।१।१७	७।१।२०
५।१।१८	७।१।२१
५।१।१९	७।१।२२
५।१।२०	७।१।२३
५।१।२१	७।१।२४
५।१।२२	७।१।२५
५।१।२३	७।१।२७
५।१।२४	७।१।२८
५।१।२५	७।१।२९
५।१।२६	७।१।३०
५।१।२७	७।१।३१
५।२।२८	७।१।३२
५।१।२९	७।१।३३
५।१।३०	७।१।३५
५।१।३१	७।१।३७
५।१।३२ } ५।१।३३ }	७।१।५१
५।१।३४	७।१।५२
५।१।३५	७।१।५३
५।१।३६	७।१।५४, ५५
५।१।३७	७।१।५८
५।१।३८	७।१।५९
५।१।३९	७।१।६०
५।१।४०	७।१।६१
५।१।४१	७।१।६२
५।१।४२	७।१।६३
५।१।४३	७।१।६४
५।१।४४	७।१।६५
५।१।४५	७।१।६६
५।१।४६	७।१।६७
५।१।४७	७।१।६८
५।१।४८	७।१।६९
५।१।४९	७।१।७०
५।१।५०	७।१।७१
५।१।५१	७।१।७२
५।१।५२	७।१।७३
५।१।५३	७।१।७४
५।१।५४	७।१।७५
५।१।५५	७।१।७६
५।१।५६	७।१।७८
५।१।५७	७।१।७९
५।१।५८	७।१।८०
५।१।५९	७।१।८१
५।१।६०	७।१।८२
५।१।६१	७।१।८४
५।१।६२	७।१।८५
५।१।६३	७।१।८६
५।१।६४	७।१।८७
५।१।६५	७।१।८८
५।१।६६	७।१।८९
५।१।६७	७।१।९०
५।१।६८	७।१।९१
५।१।६९	७।१।९२
५।१।७०	७।१।९३
५।१।७१	७।१।९४
५।१।७२	७।१।९८
५।१।७३	७।१।९९
५।१।७४	७।१।१००
५।१।७५	७।१।१०१
५।१।७६	७।१।१०२
५।१।७७	७।२।१
५।१।७८ } ५।१।७९ }	७।२।२, ३
५।१।८०	७।२।४
५।१।८१	७।२।५
५।१।८२	७।२।६
५।१।८३	७।२।७
५।१।८४	७।२।३५
५।१।८५	७।२।३७
५।१।८६	७।२।३८
५।१।८७	७।२।३९
५।१।८८	७।२।४०
५।१।८९	७।२।४१

५।१।९०	७।२।४२
५।१।९१	७।२।४३
५।१।९२	७।२।४४
५।१।९३	७।२।४५
५।१।९४	७।२।४६
५।१।९५	७।२।४७
५।१।९६	७।२।४८
५।१।९७	७।२।४९
५।१।९८	७।२।५०
५।१।९९	७।२।५१
५।१।१००	७।२।५२
५।१।१०१	७।२।५३
५।१।१०२	७।२।५४
५।१।१०३	७।२।५५
५।१।१०४	७।२।५६
५।१।१०५	७।२।५७
५।१।१०६	७।२।५८
५।१।१०७	७।२।५९
५।१।१०८	८।२।६०, ६१, ६२
५।१।१०९	७।२।६३
५।१।११०	७।२।६६
५।१।१११	७।२।३६
५।१।११२	×
५।१।११३ } ५।१।११४	७।२।८
५।१।११५	७।२।१०
५।१।११६	७।२।९
५।१।११७	७।२।११
५।१।११८	७।२।१२
५।१।११९	७।२।१३
५।१।१२०	७।२।१४
५।१।१२१	७।२।१५
५।१।१२२	७।२।१६
५।१।१२३	७।२।१७
५।१।१२४	७।२।२७
५।१।१२५	७।२।२९,३०
५।१।१२६	७।२।१८,१९, २०,२१, २२, २३, २५, २६
५।१।१२७	७।२।२४
५।१।१२८	७।२।२७
५।१।१२९	७।२।७०
५।१।१३०	७।२।७१
५।१।१३१	७।२।७२
५।१।१३२	७।२।७३
५।१।१३३	७।२।७४
५।१।१३४	७।२।७५
५।१।१३५	७।२।७६
५।१।१३६	७।२।७८
५।१।१३७	७।२।७७
५।१।१३८	७।२।७९
५।१।१३९	७।२।८०
५।१।१४०	७।२।८१
५।१।१४१	७।२।८२
५।१।१४२	७।२।८३
५।१।१४३	७।२।८४
५।१।१४४	७।२।८५
५।१।१४५	७।२।८६
५।१।१४६	७।२।८७
५।१।१४७	७।२।८८
५।१।१४८	७।२।८९
५।१।१४९	७।२।९०
५।१।१५०	७।२।९१
५।१।१५१	७।२।९२
५।१।१५२	७।२।९३
५।१।१५३	७।२।९४
५।१।१५४	७।२।९५
५।१।१५५	७।२।९६
५।१।१५६	७।२।९७
५।१।१५७	७।२।९८
५।१।१५८	७।२।९९
५।१।१५९	७।२।१००
५।१।१६०	७।२।१०१
५।१।१६१	७।२।१०२
५।१।१६२	७।२।१०३
५।१।१६३	७।२।१०४,१०५
५।१।१६४	७।२।१०६
५।१।१६५	७।२।१०७
५।१।१६६	७।२।१०८
५।१।१६७	७।२।१०९
५।१।१६८	७।२।११०
५।१।१६९	७।२।१११
५।१।१७०	७।२।११२
५।१।१७१	७।२।११३

अध्याय ५ पाद २

५।२।१	७।२।११४
५।२।२	×
५।२।३	७।२।११५
५।२।४	७।२।११६
५।२।५	७।२।११७
५।२।६	७।३।१
५।२।७	७।३।२
५।२।८	७।३।३
५।२।९	७।३।४
५।२।१०	७।३।५
५।२।११	७।३।६
५।२।१२	७।३।७
५।२।१३	७।३।८
५।२।१४	७।३।९
५।२।१५	७।३।१०
५।२।१६	७।३।११
५।२।१७	७।३।१२
५।२।१८	७।३।१३
५।२।१९	७।३।१४
५।२।२०	७।३।१५
५।२।२१	७।३।१६
५।२।२२	७।३।१७
५।२।२३	७।३।१८
५।२।२४	७।३।१९
५।२।२५	७।३।२०
५।२।२६	७।३।२१
५।२।२७	७।३।२२
५।२।२८	७।३।२३

५।२।२९	७।३।२४	५।२।६७	७।३।६७	५।२।१०४	७।३।१०९
५।२।३०, ५।२।३१	७।३।२५	५।२।६८	७।३।६१, ६२, ६४, ६८	५।२।१०५	७।३।११०
५।२।३२	७।३।२६, २७	५।२।६९	७।३।७२	५।२।१०६	७।३।१११
५।२।३३	७।३।२८, २९	५।२।७०	७।३।७३	५।२।१०७	७।३।११२
५।२।३४	७।३।३०	५।२।७१	७।३।७१	५।२।१०८	७।३।११३
५।२।३५	७।३।३१	५।२।७२	७।३।७४	५।२।१०९	७।३।११४
५।२।३६	७।३।३२	५।२।७३	७।३।७५	५।२।११०	७।३।११६
५।२।३७	७।३।३४	५।२।७४	७।३।७६	५।२।१११	७।३।११७
५।२।३८	७।३।३३	५।२।७५	७।३।७७	५।२।११२	७।३।११८, ११९
५।२।३९	७।३।३४	५।२।७६	७।३।७८	५।२।११३	७।३।१२०
५।२।४०	७।३।३५	५।२।७७	७।३।७९	५।२।११४	×
५।२।४१	७।३।३६	५।२।७८	७।३।८०	५।२।११५	७।४।१
५।२।४२	७।३।३७	५।२।७९	७।३।८२	५।२।११६	७।४।३
५।२।४३	७।३।३८	५।२।८०	७।३।८३	५।२।११७	७।४।४
५।२।४४	७।३।३८ वा०	५।२।८१	७।३।८४	५।२।११८	७।४।५
५।२।४५, ५।२।४६	७।३।३९	५।२।८२	७।३।८५	५।२।११९	७।४।६
		५।२।८३	७।३।८६	५।२।१२०	७।४।७
५।२।४७	७।३।४३	५।२।८४	×	५।२।१२१	७।४।९
५।२।४८	७।३।४१	५।२।८५	७।३।८७	५।२।१२२	७।४।१०
५।२।४९	७।३।४२	५।२।८६	७।३।८८	५।२।१२३	७।४।११
५।२।५०	७।३।४३	५।२।८७	७।३।८९	५।२।१२४	७।४।१२
५।२।५१	७।३।४६	५।२।८८	७।३।९०	५।२।१२५	७।४।१३
५।२।५२	७।३।४७	५।२।८९	७।३।९१	५।२।१२६	७।४।१४
५।२।५३	७।३।४८, ४९	५।२।९०	७।३।९२	५।२।१२७	७।४।१५
५।२।५४	७।३।५०	५।२।९१	७।३।९३	५।२।१२८	७।४।१७, १८, १९, २०
५।२।५५	७।३।५१	५।२।९२	७।३।९४		
५।२।५६	७।३।५२	५।२।९३	७।३।९६	५।२।१२९	७।४।१६
५।२।५७	×	५।२।९४	७।३।९८, ९९	५।२।१३०	७।४।२१
५।२।५८	७।३।५३	५।२।९५	७।३।१००	५।२।१३१	७।४।२२
५।२।५९	७।३।५४	५।२।९६	७।३।१०१	५।२।१३२	७।४।२३
५।२।६०	७।३।५५	५।२।९७	७।३।१०२	५।२।१३३	७।४।२४
५।२।६१	७।३।५६	५।२।९८	७।३।१०३	५।२।१३४	७।४।२५
५।२।६२	७।३।५७	५।२।९९	७।३।१०४	५।२।१३५	७।४।२६
५।२।६३	७।३।५८	५।२।१००	७।३।१०५	५।२।१३६	७।४।२७
५।२।६४	७।३।६३	५।२।१०१	७।३।१०६	५।२।१३७	७।४।२८
५।२।६५	७।३।६५	५।२।१०२	७।३।१०७	५।२।१३८	७।४।२९
५।२।६६	७।३।६६	५।२।१०३	७।३।१०८	५।२।१३९	७।४।३०

५।२।१४०	७।४।३१	५।२।१७८	७।४।८०	५।३।२१	८।१।२५
५।२।१४१	७।४।३२	५।२।१७९	७।४।८१	५।३।२२	×
५।२।१४२	७।४।३३	५।२।१८०	७।४।८२	५।३।२३	८।१।२६
५।२।१४३	७।४।३४	५।२।१८१	७।४।८३	५।३।२४	८।१।७२
५।२।१४४	७।४।४०	५।२।१८२	७।४।८४	५।३।२५	८।१।७३
५।२।१४५	७।४।४१	५।२।१८३	७।४।८५	५।३।२६	८।१।७४
५।२।१४६	७।४।४२	५।२।१८४	७।४।८६	५।३।२७	८।२।१
५।२।१४७	७।४।४३	५।२।१८५	७।४।८७, ८८	५।३।२८	८।२।२
५।२।१४८	७।४।४६	५।२।१८६	७।४।८९	५।३।२९	८।२।३
५।२।१४९	७।४।४७	५।२।१८७	७।४।९०	५।३।३०	८।२।७, ८
५।२।१५०	७।४।४८	५।२।१८८	७।४।९१	५।३।३१	८।२।९, १०
५।२।१५१	७।४।४९	५।२।१८९	७।४।९२	५।३।३२	८।२।११
५।२।१५२	७।४।५०	५।२।१९०	७।४।९३	५।३।३३	८।२।१२
५।२।१५३	७।४।५१	५।२।१९१	७।४।९४	५।३।३४	८।२।१३
५।२।१५४	७।४।५२	५।२।१९२	७।४।९५	५।३।३५	८।२।१४
५।२।१५५	७।४।५४	५।२।१९३	७।४।९६	५।३।३६	८।२।१८
५।२।१५६	७।४।५४ वा०	५।२।१९४	७।४।९७	५।३।३७	८।२।१९
५।२।१५७	७।४।५५	**अध्याय ५ पाद ३**		५।३।३८	८।२।२०
५।२।१५८	७।४।५६	५।३।१	८।१।१	५।३।३९	८।२।२१
५।२।१५९	७।४।५७	५।३।२	८।१।२	५।३।४०	८।२।२२
५।२।१६०	७।४।५८	५।३।३	८।१।४	५।३।४१	८।२।२३
५।२।१६१	७।४।६०	५।३।४	८।१।५	५।३।४२	८।२।२४
५।२।१६२	७।४।६१	५।३।५	८।१।७	५।३।४३	८।२।२५
५।२।१६३	७।४।५९	५।३।६	८।१।८	५।३।४४	८।२।२६
५।२।१६४	७।४।६२	५।३।७	८।१।९	५।३।४५	८।२।२७
५।२।१६५	७।४।६३	५।३।८	८।१।१०	५।३।४६	८।२।२८
५।२।१६६	७।४।६६	५।३।९	८।१।११	५।३।४७	८।२।३०
५।२।१६७	७।४।६७	५।३।१०	८।१।१२	५।३।४८	८।२।३१
५।२।१६८	७।४।६८	५।३।११	८।१।१३	५।३।४९	८।२।३२
५।२।१६९	७।४।६९	५।३।१२	८।१।१४	५।३।५०	८।२।३३
५।२।१७०	७।४।७०	५।३।१३	८।१।१५	५।३।५१	८।२।३४
५।२।१७१	७।४।७१	५।३।१४	८।१।१६	५।३।५२	८।२।३५
५।२।१७२	७।४।७२	५।३।१५	८।१।१७	५।३।५३	८।२।३६
५।२।१७३	७।४।७३	५।३।१६	८।१।२०	५।३।५४	८।२।३७
५।२।१७४	७।४।७५	५।३।१७	८।१।२१	५।३।५५	८।२।३८
५।२।१७५	७।४।७६	५।३।१८	८।१।२२	५।३।५६	८।२।४०
५।२।१७६	७।४।७७	५।३।१९	८।१।२३	५।३।५७	८।२।३९
५।२।१७७	७।४।७९	५।३।२०	८।१।२४	५।३।५८	८।२।४१

५।३।५९	८।२।४२
५।३।६०	८।२।४३
५।३।६१	८।२।४४
५।३।६२	८।२।४४ वा०
५।३।६३	८।२।४५
५।३।६४	८।२।४६
५।३।६५	८।२।४७, ४८, ४९
५।३।६६	८।२।५०
५।३।६७	८।२।५१, ५२
३।३।६८	८।२।५३
५।३।६९	८।२।५४
५।३।७०, ५।३।७१, ५।३।७२	८।२।५५
५।३।७३	८।२।५६
५।३।७४	८।२।५७, ५८, ५९, ६०
५।३।७५	८।२।६२
५।३।७६	८।२।६६
५।३।७७	८।२।६८
५।३।७८	८।२।६९
५।३।७९	८।२।७२
५।३।८०	८।२।७३
५।३।८१	८।२।७४
५।३।८२	८।२।७५
५।३।८३	८।२।६४
५।३।८४	८।२।६५
५।३।८५	८।२।७६
५।३।८६	८।२।७७, ७९
५।३।८७	८।२।७८
५।३।८८	८।२।८०
५।३।८९	८।२।८१
५।३।९०	८।२।८२
५।३।९१	८।२।८३
५।३।९२	८।२।८४
५।३।९३	८।२।८५
५।३।९४	८।२।८६

५।३।९५	८।२।८७
५।३।९६	८।२।९३
५।३।९७	८।२।९८
५।३।९८	८।२।९९
५।३।९९	८।२।१००
५।३।१००	८।२।१०१
५।३।१०१	८।२।१०३
५।३।१०२	८।२।१०४
५।३।१०३	८।२।१०५
५।३।१०४	८।२।१०७
५।३।१०५	८।२।१०८

अध्याय ५ पाद ४

५।४।१	८।३।४, ६
५।४।२	८।३।७
५।४।३	×
५।४।४	८।३।१७
५।४।५	८।३।२०
५।४।६	८।३।२२
५।४।७	८।३।२३
५।४।८	८।३।२४
५।४।९	८।३।२५
५।४।१०	८।३।२६
५।४।११	६।३।२७
५।४।१२	८।३।२८
५।४।१३	८।३।२९
५।४।१४	८।३।३०, ३१
५।४।१५	८।३।३३
५।४।१६	८।३।३२
७।४।१७	८।३।१३
५।४।१८	८।३।१४
५।४।१९	८।३।१५
५।४।२०	८।३।३५
५।४।२१, ५।४।२२	८।३।३७
५।४।२३	८।३।३६
५।४।२४	८।३।१६
५।४।२५	×
५।४।२६	८।३।३८

५।४।२७	८।३।३९
५।४।२८	८।३।४१
५।४।२९	८।३।४०
५।४।३०	८।३।४२
५।४।३१	८।३।४३
५।४।३२	८।३।४४
५।४।३३	८।३।४५
५।४।३४	८।३।४६
५।४।३५	८।३।४७
५।४।३६	८।३।४८
५।४।३७	८।३।५७
५।४।३८	८।३।५८
५।४।३९	८।३।५९
५।४।४०	८।३।६०
५।४।४१	८।३।६१
५।४।४२	८।३।६२
५।४।४३	८।३।६३
५।४।४४	८।३।६४
५।४।४५, ५।४।४६	८।३।६५
५।४।४७	८।३।६६
५।४।४८	८।३।६७
५।४।४९	८।३।६८
५।४।५०	८।३।६९
५।४।५१, ५।४।५२	८।३।७०
५।४।५३	८।३।७१
५।४।५४	५।४,७२
५।४।५५	८।३।७३
५।४।५६	८।३।७४
५।४।५७	८।३।७५
५।४।५८	८।३।७६
५।४।५९	८।३।७७
५।४।६०	८।३।७८
५।४।६१	८।३।७९
५।४।६२	८।३।८०
५।४।६३	८।३।८१
५।४।६४	८।३।८३

५।४।६५	८।३।८२
५।४।६६	८।३।८४
५।४।६७	८।३।८५
५।४।६८	८।३।८७
५।४।६९	८।३।८८
५।४।७०	८।३।९६
५।४।७१	८।३।९७
५।४।७२	८।३।९८
५।४।७३	८।३।१०१
५।४।७४	८।३।१०२
५।४।७५	८।३।८६,८९, ९०,९१,९२, ९३, ९४,९५
५।४।७६ } ५।४।७७ }	८।३।१११
५।४।७८	८।३।११२
५।४।७९	८।३।११३
५।४।८०	८।३।११४
५।४।८१	८।३।११५
५।४।८२	८।३।११६
५।४।८३	८।३।११७
५।४।८४	८।३।११८
५।४।८५	८।४।१
५।४।८६	८।४।२
५।४।८७	८।४।३
५।४।८८	८।४।४

५।४।८९	८।४।५
५।४।९०	८।४।६
५।४।९१	८।४।७
५।४।९२	८।४।८
५।४।९३	८।३।९
५।४।९४	८।४।१०
५।४।९५	८।४।११
५।४।९६	८।४।१२
५।४।९७	८।४।१३
५।४।९८	८।४।१४
५।४।९९	८।४।३६
५।४।१००	८।४।१७
५।४।१०१	८।४।१८
५।४।१०२	८।४।१५
५।४।१०३	८।४।१६
५।४।१०४	८।४।१९
५।४।१०५	८।४।२१
५।४।१०६	८।४।२२
५।४।१०७	८।४।२३
५।४।१०८	८।४।२९
५।४।१०९	८।४।३०
५।४।११०	८।४।३१
५।४।१११	८।४।३२
५।४।११२	८।४।३३
५।४।११३	८।४।३४
५।४।११४	८।४।३५

५।४।११५	८।४।३७
५।४।११६	८।४।३८
५।४।११७ } ५।४।११८ }	८।४।३९
५।४।११९	८।४।४०
५।४।१२०	८।४।४१
५।४।१२१	८।४।४२
५।४।१२२	८।४।४३
५।४।१२३	८।४।४४
५।४।१२४	×
५।४।१२५	८।४।४५
५।४।१२६	८।४।४६
५।४।१२७	८।४।४७
५।४।१२८	८।४।५३
५।४।१२९	८।४।५४
५।४।१३०	८।४।५५
५।४।१३१	८।४।५६
५।४।१३२	८।४।५८
५।४।१३३	८।४।५९
५।४।१३४	८।४।६०
५।४।१३५	८।४।६१
५।४।१३६	८।४।६२
५।४।१३७	८।४।६३
५।४।१३८	८।४।६४
५।४।१३९	८।४।६५
५।४।१४०	×

अथ जैनेन्द्रधातुपाठः

प्रणम्य जिनं भक्त्या संसंश्रित्याभिधागमम् ।
उपोपपाद्यते धूनामुदुत्कृष्टा मया स्थितिः ॥ १ ॥

धु.	अर्थ
भू	सत्तायाम्
एधै	वृद्धौ
स्पर्द्धै	संघर्षे
गाधै	प्रतिष्ठालिप्सा-
गाध	ग्रन्थेषु
बाधृङ्	प्रतीघाते
नाथृङ्	याञ्चाशीरुप-
नाधृङ्	तापैश्वर्येषु
दधै	धारणे
बधै	बन्धने
स्कुदिङ्	आप्रवणे
श्विदिङ्	श्वैत्ये
वदिङ्	स्तुत्यभिवादनयोः
भदिङ्	श्रियहर्षणयोः
मदिङ्	स्तुतिमोदमदस्वप्नगतिषु
स्पदिङ्	किञ्चिच्चलने
क्लिदिङ्	परिदेवने

धुः	अर्थः
पर्दै	कुत्सिते शब्दे
यतीङ्	प्रयत्ने
युतृङ्, जुतृङ्	दीप्तौ
विथृङ्, वेथृङ्	याचने
श्रथिङ्	शैथिल्ये
ग्रथिङ्	कौटिल्ये
कत्थै	श्लाघायाम्
शीकृङ्	सेचने
लोकृङ्	लोचने
श्लोकृङ्	संघाते
द्रेकृङ्, ध्रेकृङ्	शब्दोत्साहे
रेकृङ्, शकिङ्	शङ्कायाम्
अकिङ्	लक्षणे
वकिङ्	कौटिल्ये

धुः	अर्थः
ढौकृङ्, त्रौकृङ्, ष्वष्कै, वस्कै, मस्कै, तिकै, टिकै, टीकृङ्, रघिङ्, लघिङ्	गतौ
अघिङ्, वघिङ्	गत्याक्षेपे
मघिङ्	कैतवे च
राघृङ्, लाघृङ्	सामर्थ्ये
द्राघृङ्	आयासे च
श्लाघृङ्	कत्थने

ऋजिङ्, भृजीङ् — भर्जने
एजृङ्, भ्रेजृङ्, भ्राजै, वर्चँ — दीप्तौ
अट्टँ — हिंसातिक्रमयोः
घट्टँ — चलने
स्फुटँ — विकसने
चेष्टँ — चेष्टायाम्
गोष्टँ, लोष्टँ, हुडिङ्, पिडिङ् — सङ्घाते
शडिङ् — रुजायां च
हिडिङ् — गत्यनादरयोः
कुडिङ् — दाहे
वडिङ्, मडिङ्, वेष्टँ — वेष्टने
भडिङ् — परिभाषायाम्
मडिङ् — शुद्धौ
तुडिङ् — तोडने
भुडिङ् — भृतौ
चडिङ् — कोपे
तडिङ् — ताडने
कडिङ् — मदे
खडिङ् — मथे
हेडृङ् — अनादरे
वाडृङ् — आप्लाव्ये
द्राडृङ्, धाडृङ् — विशरणे
श्लाडृङ् — श्लाघायाम्
पटिङ्, अठिङ् — गतौ
वटिङ् — एकचर्यायाम्

मठिङ्, कठिङ् — शोके
मुठिङ् — पलायने (पालने)
एठँ, हेठँ — विबाधायाम्
गुपीङ् — गुप्तौ
तिपृङ्, ष्टेपृङ् — स्तुतौ
तेपृङ् — कम्पे च
ग्लेपृङ् — दैन्ये
डुवेपृङ्, केपृङ्, खेपृङ्, गेपृङ्, ग्लेपृङ्, कपिङ् — चलने
मेपृङ्, रेपृङ् — गतौ
त्रपूषँ — लज्जायाम्
रेभृङ्, रभिङ्, अभिङ्, अबिङ् — शब्दे
लबिङ् — अवस्रंसे
कबृङ् — वर्णे
क्लीबृङ् — अधार्ष्ट्ये च
क्षीबृङ् — मदे
शीभृङ्, चीभृङ्, शल्भँ — कथने
वल्भँ — भोजने
गल्भँ — धार्ष्ट्ये
जभिङ्, जृभिङ् — गात्रविनामे
ष्टभिङ्, स्कभिङ्, ष्टुभुङ् — स्तम्भे

मानँ — पूजायाम्
पनँ — स्तुतौ
पणँ — व्यवहारे च
घुणँ, घूर्णँ — भ्रमणे
घिणिङ्, घुणिङ्, घृणिङ् — ग्रहणे
भामँ — क्रोधे
क्षमूषँ — सहने
कमुङ् — कान्तौ
अयँ, वयँ, बयँ, मयँ, पयँ, नयँ, रयँ, पवँ, रेवृङ् — गतौ
तयँ — रक्षायां च
दयँ — गतिदानदहन-हिंसासु च
उयीङ् — तन्तुसन्ताने
पूयीङ् — दुर्गन्धिविशरणयोः
क्ष्मायीङ् — विधूनने
स्फायीङ्, ओप्यायीङ् — वृद्धौ
तायृङ् — सन्तानपालनयोः
क्नूयीङ्, कलँ, कल्लँ, वल्ल, वल्लँ — मन्नता
गल्ल — [illegible]
मलँ, मल्लँ — धारणे

भले	दानहिंसापरिभाषणेषु	कासृङ्	शब्दकुत्सायाम्	गुङ्	अव्यक्ते शब्दे
भल्लै		णासृङ्	शब्दे	गाङ्	गतौ
फल्लैं	सख्याशब्दयोः	भासै	दीप्तौ	च्युङ्	
तेवृङ्	देवने	रासृङ्		ड्युङ्	
देवृङ्		काशृङ्		प्रुङ्	
देवृङ्		णसै	कौटिल्ये	प्लुङ्	
पेवृङ्	सेवने	भ्यसै	भये	श्यैङ्	
सेवृङ्		आङःशसुङ्	इच्छायाम्	रुङ्	रोषे च
केवृङ्		भसुङ्	प्रमादे	धृङ्	अविध्वंसने
खेवृङ्		ग्रसुङ्	अदने	मिङ्	प्रतिदाने
गेवृङ्		ग्लसुङ्		दङे	रक्षणे
ग्लेवृङ्		ईहै	चेष्टायाम्	त्रैङ्	पालने
पेवृङ्		वहिङ्	वृद्धौ	पूङ्	पवने
प्लेवृङ्	सेवने	महिङ्		प्यैङ्	वृद्धौ
मेवृङ्		दक्षै	शैघ्र्ये च	मृङ्	बन्धने
म्लेवृङ्		गर्हैं	कुत्सायाम्	डीङ्	विहायसा गतौ
धुक्षैं	सन्दीपनजीवनक्लेशेषु	गल्हैं		द्युतै	दीप्तौ
घिक्षैं		बर्हैं	प्राधान्ये	लुटै	
वृक्षैं	वृत्तौ	बल्हैं		शुभै	
शिक्षैं	विद्योपादाने	वर्हैं	परिभाषणाच्छादनहिंसासु	रुचै	अभिप्रीतौ च
भिक्षैं	याच्ञायाम्	वल्हैं		श्वितादृ	वर्णे
दीक्षैं	मौण्ड्योपनयननियमव्रतादेशेज्यासु	वेहृङ्		ञिमिदृ	स्नेहे
		जेहृङ्		ञिष्विदादृ	मोचने च
				घुटै	परिवृतौ च

घटैष् चेष्टायाम्
व्यथैष् चलभीत्योः
प्रथैष् प्रख्यातौ
प्रसैष् विस्तारे
मुदैष् मदे
स्खदैष् खनने
ञित्वरापै सम्भ्रमे
क्रदैष्, क्लदैष्, क्रदिङ् वैक्लव्ये
ञजिङ् गतिदानयोः
दक्षै गतिहिंसायाम्
कृपै कृपायाम्

ङैदितोऽमी

ज्वर रोगे
गड सेचने
हेड वेष्टने
वट, भट परिभाषणे
नट नृत्तौ
ष्टक लोटने
चक तृप्तौ च
कखे हसने
रगे शङ्कने
लगे सजने
ह्मगे, ह्लगे, षगे, ष्टगे संवरणे
अक, अग कुटिलायां गतौ
कण, रण, चण गतौ
शण, श्रण दाने

मथ, क्नथ, क्रथ, क्लथ, चण हिंसायाम्
ह्वल, ह्मल चलने
ज्वल दीप्तौ
स्मृ आध्याने
दृ भये
नृ नये
श्रा पाके
चलि कम्पने
छदिर् ऊर्जने
लडि जिह्वोन्मथने
मदी हर्षग्लेपनयोः
स्वनिर् अवतंसने
ध्वन शब्दे
फल गतौ

वृत् घटादिः

स्यमु, स्वन शब्दे
राजृङ्, टुभ्राजृङ्, टुभ्राशृङ्, भ्राजै दीप्तौ

वृत् पुणादिः

ज्वल दीप्तौ
चल कम्पने
जल धान्ये
टल, ट्वल वैक्लव्ये
ष्ठल स्थाने
हल विलेखने
बल प्राणधान्यावरोधयोः
पुल महत्त्वे
कुल सन्तानबन्धनयोः

फल, शल, हुल, पत्लृ, पथे गमने
हुल हिंसासंवरणयोश्च
क्वथे निष्पचने
टुवमु उद्गिरणे
क्षर सञ्चलने
षहै मर्षणे
रमुङ् क्रीडायाम्
शद्लृ शातने
षद्लृ गतिविशरणयोश्च
क्रुशौ रोदनाह्वानयोः
कुच संवर्चनकौटिल्यप्रतिस्तम्भविलेखनेषु
रुहौ जनने
कस गमने
भू भुवि
बुधञ् बोधने

वृत् ज्वलादिः

अत सातत्यगमने
चिती सज्ञाने
कितौ निवासे
कृत गतितृणास्पद्धेषु
ज्युतिर् विभासे
च्युतिर्, श्च्युतिर्, ल्युतिर् क्षरणे
कुथि, पुथि, लुथि, मथि, मथ हिंसासंक्लेशयोः
षिधू शास्त्रमाङ्गल्ययोः
षिधु गतौ
स्यदू स्रवणे

वद स्थैर्ये
खद हिंसायां च
गद व्यक्तायां वाचि
रद विलेखने
ञिक्ष्विदा, णद — अव्यक्ते शब्दे
मर्द गतियाचनयोः
नर्द, गर्द — शब्दे
तर्द हिंसायाम्
कर्द कुत्सिते शब्दे
खर्द दशने
अदि बन्धने
इदि परमैश्वर्ये
विदि अवयवे
णिदि कुत्सने
टुनदि समृद्धौ
चदि दीप्तिह्लादनयोः
त्रदि चेष्टायाम्
कदि, क्रदि, क्लदि — आह्वानरोदनयोः
क्लिदि परिदेवने
स्कदिरो गतिशोषणयोः

लगि, अगि, तगि, वगि, मगि, स्वगि, इगि, रिगि, लिगि — गतौ
त्वगि कम्पने च
युगि, जुगि, बुगि — वर्जने
दीघ पालने
लीघ शोषणे
शिघि आघ्राणे
ओखृ, राखृ, लाखृ, द्राखृ, ध्राखृ — शोषणालमर्थयोः
शाखृ, श्लाखृ — व्याप्तौ

तुज हिंसने
तुजि, पिजि — पालने च
गज, गुजि, गृज, गृजि, मृज, मृजि, रुज, क्षीज, गर्ज — शब्दे
गज मदने च
त्यजौ त्यागे
शुच पाके
कुच उच्चैः शब्दे
क्रुच कौटिल्याल्पीभावयोः
लुच अपनयने
अच गतिपूजनयोः
वंचु, चचु, तचु, त्वचु — गतौ

ग्रुचु ग्लुचु कुञ्चु खुञ्जु	स्तेयकरणे
अर्च	पूजायाम्
म्लेच्छ	अव्यक्तायां वाचि
लछ लाछि	लक्षणे
वाछि	इच्छायाम्
	आयामे च
ह्रीच्छ	लज्जायाम्
हुर्छा	कौटिल्ये
मुर्च्छा	मोहसमुच्छ्राययोः
स्फूर्च्छा	विस्तृतौ
युच्छ	प्रमोदे
उछि	उञ्छने
गुज गुजि कूज	अव्यक्ते शब्दे
अर्ज सर्ज	सर्जने
कर्ज	व्यथने
खर्ज	मार्जने च
अज	गतिक्षेपणयोः
तेज	पालने
खज	मथने
खजि	गतिवैकल्ये
एजृ	कम्पने
टुओस्फूर्जा	वज्रनिर्घोषे
षस्जौ	सङ्गे
शौटृ	गर्वे
यौटृ	बन्धे
मेटृ म्रेटृ लोटृ	उन्मादे
[illegible]	वर्णबन्धने

रट रठ	परिभाषणे
लट	बाल्ये च
शट	रुजाविशरणगत्यवसादनेषु
वट	वेष्टने
खिट	उत्रासने
पिट शिट रौडृ	अनादरे
जट झट	सघाते
पिट	शब्दे च
भट	भृतौ
तट	उच्छ्राये
नट	नृत्तौ
खट	काङ्क्षायाम्
हट	दीप्तौ
षट	अवयवे
लुट	विलोडने
चिट	परप्रैष्ये
स्फुटिर्	विशरणे
हेट	विबाधायाम्
कुटि	वैकल्ये
अट पट इट किट किटी रुठि लुठि अठ हुडृ	गतौ
पठ	व्यक्तायां वाचि
वठ	स्थौल्ये
मठ [illegible]	मदनिवासयोः

कठ	कृच्छ्रजीवे
हठ	स्तुतिशठत्वयोः
उठ	उपघाते
पिठि	हिंसासंक्लेशयोः
शठ	कैतवे
शुठ श्रुठ	गतिप्रतिघाते
लुठि	आलस्ये
शुठि	शोषणे
विड	आक्रोशे
अड	उद्यमे
लड	विलासे
कड	मदे
कड्ड	कार्कश्ये
चुड्ड	भावकरणे
अड्ड	अभियोगे
मडि	भूषायाम्
बुडि	प्रमर्दने
चुडि	अल्पीभावे
मुडि	खण्डने
वडि	विभाजने
रुटि लुटि	स्तेये
गडि	मुखैकदेशे
क्रीडृ	विहारे
तुडृ	तोडने
गुपू	रक्षणे
धूप	तपःसन्तापे
जल्प रप लप	व्यक्तायां वाचि
जप	मानसे च
चप	सान्त्वने
षप	समवाये
चुप	मन्दायां गतौ

तुप, तुम्प, तुफ, तुम्फ, तुप, तुम्प, तुफ, तुम्फ, पिभु, पिम्भु — हिंसायाम्
शुभ — भाषणे च
यभौ, जभ — मैथुने
पर्व, रफ, रफि, मर्व, वर्व, कर्व, खर्व, गर्व, शर्व, षर्व — गतौ

क्षण, धण, ध्वण, ध्रण, व्रण, स्तन, वन — शब्दे
वन, षण — संभक्तौ
श्रोणृ — अपनयने
शोणृ — वर्णगत्योः
श्रोणृ, श्लोणृ — संघाते
पैणृ — गीतप्रेरणश्लेषणेषु
कनी — दीप्तिकान्तिगतिषु
अम — गीतभक्तिशब्देषु
णमौ — प्रह्वत्वे
क्रमु — पादविक्षेपे
मठ, कील, मञ्च — बन्धने
सूर्क्ष्य, ईर्क्ष्य, ईर्ष्य — ईर्ष्यार्थाः
हय

शूल — रुजायाम्
तूल — निष्कर्षे
पूल — संघाते
मूल — प्रतिष्ठायाम्
फल — निष्पत्तौ
फुल्ल — विकसने
चुल्ल — भावकरणे
चिल्ल — शैथिल्ये
वेल्ल, वेलृ, केलृ, खेलृ, क्वेलृ, क्ष्वेलृ, स्खल — चलने
स्खल — संचये
गल, चर्व — अदने
श्वल, श्वल्ल — आशुगमने
खोलृ — गतिप्रतिघाते
धोर्ऋ — गतिचातुर्ये
त्सर — छद्मगतौ
क्मर — हूर्छने
पेलृ

चर भक्षणे
ष्ठिवु क्षिवु निरसने
जीव प्राणधारणे
पीव मीव णीव तीव स्थौल्ये
तुर्वी थुर्वी धुर्वी जुर्वी भर्वी शर्व अर्व हिंसने
गुर्वी उद्यमने
हिवि दिवि धिवि प्रीणने
कृवि हिंसाकरणयोः
अव गतिप्रीतितृप्तिदीतिवृद्धिकात्यवस्यवगमन-प्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थ-याचनक्रियेच्छालिंग-नहिंसादनभावरक्षणेषु
मक्ष संघाते
अक्ष् व्याप्तौ च
तक्ष् त्वक्ष् तनूकरणे
रक्ष पालने
णिक्ष चुम्बने
तृक्ष स्तृक्ष णक्ष शच वहि मिन्व सेव्र गतौ
वक्ष रोषे
तक्ष त्वचने
सूर्क्ष अनादरे
काक्षि वाक्षि माक्षि काक्षायाम्
द्राक्षि ध्राक्षि घोरवासिते च
चूष पाने
तूष तुष्टौ
लूष मूष स्तेये
शूष प्रसवे
भूष अलंकारे
ऊष रुजायाम्
ईष उञ्छे
कष खिष धष झष वष मष रुष रिष जूष शष शसु हिंसायाम्
यूष भृषु संघाते च
भष भर्त्सने
जिषु विषु मिषु पृषु वृषु मृषु सेचने
मृषु सहने च
पुष पुष्टौ च
तुषु श्रिषु श्लिषु प्रुषु प्लुषु दाहे
घृषु संघर्षे
हृषु अलीके
कृषौ विलिखितौ
लस श्लेषक्रीडनयोः
जर्ज चर्च झर्झ परिभाषणहिंसातर्जनेषु
हसे हसने
त्रुस ह्रस ह्लस रस पुषिर् शब्दे
मिश मश रोषकृते च
णिस समाधौ
शश प्लुतिगतौ
दृशिर् प्रेक्षणे
दंशौ दशने
शासु स्तुतौ
दहौ भस्मीकरणे
मिहौ सेचने
चह परिकल्कने
रह त्यागे
दृह दृहि बृह बृह वृद्धौ
बृहि शब्दे च

तुहिर् } अर्दने
उहिर् }
अर्ह पूजने
षु प्रसवैश्वर्ययोः
श्रु }
दु } गतौ
द्रु }
प्रु }
ध्रु स्थैर्ये च
जि } अभिभावे
ज्रि }
पा } पाने
धेट् }
घ्रा गन्धोपादाने
ध्मा शब्दाग्निसंयोगयो
ष्ठा गतिनिवृत्तौ
म्ना अभ्यासे
दाण् दाने
दैप् शोधने
ग्लै हर्षक्षये
म्लै गात्रविनामे
द्यै न्यक्करणे
द्रै स्वप्ने
ध्रै तृप्तौ
ष्टै वेष्टने
ध्यै } चिंतायाम्
स्मृ }
टुवृ वरणे
धृ } कौटिल्ये
ह्वृ }
स्वृ शब्दोपतापयोः
सृ गतौ
ऋ प्रापणे च
गृ } सेचने
घृ }
तॄ प्लवनतरणयोः
ट्वोश्वि गतिवृद्ध्योः
वसो निवासे
वद व्यक्तायां वाचि

एते मवंतः

यजीञ् दानदेवपूजा-
संगतकरणेषु
टुवपीञ् बीजसंताने
वहीञ् प्रापणे
वेञ् तंतुसंताने
व्येञ् पाके
भजीञ् सेवायाम्
रञ्जीञ् रागे
[illegible]
खनुञ् अवदारणे
दानञ् खंडने
शानञ् तेजने
शपीञ् आक्रोशे
भेषृञ् दीप्तौ
अव पूर्वोपादाननि-
रसनयोश्च
छषञ् हिंसायाम्
चषञ् } भुक्तौ
चुपञ् }
घासृञ् } दाने
दासृञ् }
माहृञ् माने
गुहूञ् संवरणे
भ्रषञ् } आदाने च
जीषञ् }
श्रिञ् सेवायाम्
हृञ् हरणे
भृञ् भरणे
धृञ् धारणे
डुकृञ् करणे
णीञ् प्रापणे

एते मवंतः

इति ६४६ भूवादयो न्याय

विजिर्यो पृथक्भावे
विविर्यो व्याप्तौ
इति १४ ह्वादयः उञ्चिकरणा धवः
अदो भक्षणे
विद ज्ञाने
हनौ हिंसागत्योः
अस भुवि
मृजू शुद्धौ
वचो परिभाषणे
रुदिर् अश्रुविमोचने
ञिष्वपो शये
अन, श्वस प्राणने
जक्ष भक्षहसनयोः

वृत्

जागृ निन्द्राक्षये
दरिद्रा दुर्गतौ
चकासृ दीप्तौ
शासु अनुशिष्टौ

वृत्

सस्ति, षस स्वप्ने
वश कान्तौ
यु अभिगमने
षु ऐश्वर्यप्रसवयोः
तु वृत्तिहिंसापूरणेषु
कु, रु, टुक्षु शब्दे
क्ष्णु तेजने
स्नु क्षरणे
णु स्तुतौ
यु मिश्रणे
द्यु गतौ
टुक्षु रसणे
वी गतिप्रजननकान्त्यसनेषु
[illegible] प्रापणे
वा गतिगन्धनयोः
भा दीप्तौ
ष्णा शौचे
श्रा पाके
द्रा कुत्सायां गतौ
प्सा भक्षणे
पा रक्षणे
रा दाने
ला आदाने
दाप् लवने
ख्या प्रकथने
प्रा पूरणे
मा माने

चर्करीतं च

चक्षीङ् व्यक्तायां वाचि
ईरे गतौ
ईडे स्तुतौ
ईशे ऐश्वर्ये
आसे उपवेशने
वसे आच्छादने
आङः शासुट् इच्छायाम्
कासिङ् गतिसतानयोः
णिसिङ् चुम्बने
णिजिङ् शुद्धौ
शिजिङ् अव्यक्ते शब्दे
पिजिङ्, पृजिङ्, पृचीङ् सम्पर्चने
ऊपृङ् प्राणिगर्भविमोचने
शीङ् स्वप्ने
इङ् अध्ययने
ह्नुङ् अपनयने
द्विषौञ् अप्रीतौ
दुहौञ् क्षरणे
दिहौञ् लेपे
लिहौञ् आस्वादने
ऊर्णुञ् आच्छादने
ष्टुञ् स्तुतौ
ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि
इत्यदादयः ७० उञ्चिकरणा धवः

दिवु क्रीडाजयेच्छापणि-द्युतिगतिषु
षिवु तंतुसताने
गुध परिवेष्टने
क्षिप प्रेरणे
पुष्प विकसने
तिम, ष्टिम, ष्टीम आर्द्रभावे
व्रीड लज्जायाम्
इष गत्याम्
षुह शकने
राधो वृद्धावेव
व्यधो ताडने
पुषो पुष्टौ
शुषो शोषणे
तुषो तोषणे
दुषो वितत्ये
श्लिषो आलिंगने
शको मर्षणे
ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे
क्रुध्ये कोपे
क्षुधै बुभुक्षणे
शुधै शोचने
षिधु संराध्ये
रधू हिंसने च
णश अदर्शने
तृप् प्रीणने
दृप् मोहने च
द्रुह जिघांसायाम्
मुह वैचित्ये
ष्णुह उद्गिरणे
ष्णिह प्रीतौ

असु	क्षेपणे
यसु	प्रयत्ने
जसु	मोक्षणे
तसु }	स्तभे
दसु }	
प्रुष }	दाहे
प्लुष }	
व्युष	विभागे
बिस	प्रेरणे
कुस	श्लेषणे
बुस	उत्सर्गे
मुस	खण्डने
मसी	परिमाणे
लुठ	विलोडने
उच	समवाये
भ्रशु }	अधःपतने
भृशु }	
वृश	वरणे
कृश	तनूकरणे
ञितृष	पिपासायाम्
हृष	तुष्टौ
रुष	रोषे
डिप	क्षेपे
कुप	क्रोधे
गुप	व्याकुले च
युप }	विमोहने
रुप }	
लुप }	
[illegible]	गार्ध्ये

शमु }	उपशमने
दमु }	
तमु	काङ्क्षायाम्
श्रमु	क्लेशने
भ्रमु	चलने
क्षमु	सहने
क्लमु	ग्लाने
मदी	हर्षे
	वृत्
जृषु }	वयोहानौ
झृषु }	
शो	तनूकरणे
छो }	छेदे
दो }	
षो	अन्तकर्मणि

एते मवंतः

जनीङ्	प्रादुर्भावे
काशृ }	दीप्तौ
दीपीङ् }	
पूरीङ्	आप्यायने
तूरीङ्	हिंसागतित्वरणयोः
धूरीङ् }	हिंसावयोहान्योः
जूरीङ् }	
घूरीङ् }	गतिहिंसयोः
गूरीङ् }	
शूरीङ्	हिंसास्तम्भयोः
चूरीङ्	दाहे
तपै	ऐश्वर्ये वा
वृतङ्	वरणे

अनै	प्राणने
अनो रुधौङ्	कामे
युजौङ्	समाधौ
सृजौङ्	विसर्गे
लिशौङ्	अल्पे च
उषूङौ	प्राणिप्रसवे
दूङौ	परितापे
दीङौ	क्षये
डीङौ	गतौ
धीङौ	अनादरे
मीङौ	हिंसायाम्
रीङौ	श्रवणे
लीङौ	श्लेषणे
व्रीङौ	वृणोत्यर्थे
पीङ्	पाने
ईङ्	गतौ
प्रीङ्	प्रीतौ
माङ्	माने

एते ङैदितः

मृषौञ्	तितिक्षायाम्
शुचिरीञ्	पूतिभावे
णहौञ्	बधने
रञ्जौञ्	रागे
शपौञ्	आक्रोशे

एते ञितः

इति १२८ दिवादयः श्यविकरण

धवः

षुञ्	अभिषवे
षिञ्	बधने

टुदु　उपतापे
श्रु　श्रवणे
हि　गतिवृद्ध्योः
पृ　प्रीतौ
स्पृ　चलने च
आप्लृ　व्याप्तौ
शक्लृ　शक्तौ
राधै
साधै　} संसिद्धौ
तिक
तिग
षघ　} हिंसायाम्
ञिधृषा　प्रागल्भ्ये
दभु　दभे
ऋधु　वर्द्धने

एते भवंतः

अशूङ्　व्याप्तौ
ष्टिघट्　आस्कंदने

ङितावेतौ

इति २७ श्नुविकरणाः धवः ।

तुदौञ्　व्यथने
दिशौञ्　अतिसर्जने
भ्रस्जौञ्　पाके
क्षिपौञ्　प्रेरणे

एते ञितः

कृती　छेदने
खिदौ　परितापे
पिश　अवयवे

वृत्

रि
पि　} गतौ
धि　धारणे
क्षि　निवासगत्योः
षू　प्रेरणे
मृ　प्राणत्यागे
कॄ　विक्षेपे
गॄ　निगरणे

एते भवंतः

दृङ्　अनादरे
धृङ्　स्थाने

ङितावेतौ

प्रच्छी　ज्ञीप्सने

वृत्

सृजौ　विसर्गे
टौमस्जौ　शुद्धौ
रुजौ　भंगे
भुजौ　कौटिल्ये
रुशौ
रिशौ　} हिंसने
छुपौ
स्पृशौ　} स्पर्शे
लिशौ
विच्छौ　} गतौ
मृशौ　आमर्शे
विशौ　प्रवेशे
णुदौ　नोदे
षद्लृ　अवसादने
ओव्रश्चू　छेदने
उच्छी　विवासे
ऋच्छ　इंद्रियप्रलयमूर्तिभावयोः
मिच्छ　उत्क्लेशे
चर्च्च
जर्ज
झर्झ　} परिभाषणे
त्वच　संवरणे
ऋच　स्तुतौ
उब्ज　आर्जवे
उज्झ　उत्सर्गे
लुभ　विमोहने
रिफ　कत्थनयुद्धनिंदाहिंसादानेषु
ऋफ
ऋम्फ　} हिंसायाम्
तृफ
तृम्फ　} तृप्तौ
दृफ
दृम्फ　} उत्क्लेशे
गुफ
गुम्फ　} ग्रथने
उभ
उम्भ　} पूरणे
शुभ
शुम्भ　} शोभार्थे
दभी　ग्रथे
चृती　हिंसायां च
झषी
जुन
शुन　} गतौ
विध　विधाने
पृड
मृड　} सुखने
पृण　प्रीणने
मृण　हिंसायाम्
तुण　कौटिल्ये
पुण　कर्मणि शुभे
मुण　प्रतिज्ञाने
कुण　शब्दोपकरणयोः
द्रुण　हिंसागतिकौटिल्येषु
घुण
घूर्ण　} भ्रमणे
षुर　दीप्त्यैश्वर्ययोः
कुर　शब्दे
क्षुर　विलेखने
खुर　छेदने च
मुर　संवेष्टने
घुर　भीमार्थशब्दयोः
पुर　उद्यमने
वृह　उद्यमने
तृह
तृन्ह
स्तृह　} हिंसायाम्

इषु	इच्छायाम्
मिष	स्पर्धायाम्
किल	श्वैत्यक्रीडनयोः
तिल	स्नेहने
चल	विलसने
इल	स्वप्नक्षेपणयोः
बिल	भेदने
निल	गहने
हिल	भावकरणे
सिल, शिल, उञ्छि	उञ्छे
लिख	अक्षरविन्यासे
कुट	कौटिल्ये
पुट	संश्लेषणे
कुच	संकोचने
व्यच	व्याजीकरणे
गुज	शब्दे
गुड	रक्षणे
डिप	क्षेपणे
छुर, त्रुट, तुट, [illegible]	छेदने
[illegible]	विकसने
[illegible]	आक्षेपप्रमर्दनयोः
[illegible]	कलहकर्मणि
[illegible]	शब्दे
[illegible]	मर्दे
[illegible]	संश्लेषणे
[illegible]	दहने
[illegible]	शब्दे च
[illegible]	[illegible]
[illegible]	तोडने
[illegible], [illegible]	[illegible]

स्फर, स्फुर	स्फुरणे
ब्रुड	उत्सर्गे
वृड, मृड, हुड	संघाते
तृड	निमज्जने
स्फल	चलने
स्तुल	सचये च
णू	स्तवने
धू	विधूनने
गु	पुरीषोत्सर्गे
ध्रु	गतिस्थैर्ययोः

एते मवंतः

कुङ्, कूङ्	शब्दे
गुरीङ्	उद्यमने

वृत्

पृङ्	व्यायामे
जुषीङ्	प्रीतिसेवनयोः
विजीङो	भयचलनयोः
लजीङो, लसजीङो	व्रीडे
ष्वञ्जीङ्	सगे
रमीङ्	रामस्ये
उप्लतीङ्	प्रीतौ

ङितः

इति १४६ तुदादयः शविकरणा.

धव

रुधिर्ञो	आवरणे
भिदिर्ञो	विदारणे
छिदिर्ञो	द्वैधीकरणे
रिचिर्ञो	विरचने
विचिर्ञो	पृथग्भावे
क्षुदिर्ञो	सम्प्रेक्षणे
युजिर्ञो	योगे
छृदिर्	[illegible]
तृदिर्	[illegible]

एते ञित

ञिइन्धीङ्	दीप्तौ
खिदीङ्	दैन्ये
विदीङ्	विचारे

ङित

कृती	वेष्टने
शिष्लृ	विशेषणे
पिष्लृ	संचूर्णने
भञ्जो	आमर्दने
भुजो	[illegible]
तृह, हिसि	हिंसने
उन्दी	क्लेदने
अञ्जू	[illegible]
तञ्चू	संकोचने
ओविजी	भये
वृजी	वर्जने
पृची	सम्पर्चने

एते मवंतः

इति २५ रुधादयः श्नम्विकरणा

धवः

तनुञ्	विस्तारे
षणुञ्	दाने
क्षणुञ्, क्षिणुञ्	हिंसायाम्
ऋणुञ्	गतौ
तृणुञ्	अदने
घृणुञ्	दीप्तौ

ञितः

वनुङ्	याचने
मनुङ्	बोधने

ङितः

इति ९ तनादय उविकरणाः

धवः

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये
प्रीञ् तृप्तिदीप्त्योः
श्रीञ् पाके
मीञ् हिंसायाम्
षिञ् बन्धने
स्कुञ् आप्रवणे
क्नूञ् शब्दे
द्रुञ् गतौ
ग्रहञ् उपादाने
पूञ् पवने
स्तृञ् आच्छादने
कृञ् हिंसायाम्
वृञ् वरणे

ञितः

शॄ, कॄ, मॄ — हिंसायाम्
पॄ पालनपूरणयोः
वॄ वरणे
भॄ भर्त्सने
दॄ भये
नॄ नये
जॄ वयोहानौ
ॠ, दॄ — गतौ
गॄ शब्दे

एते सर्वन्ताः

[illegible] [illegible]
[illegible] [illegible]

ञितौ

ज्या हानौ
[illegible] [illegible]
प्ली गतौ
री रेषणे
ली श्लेषणे

[illegible]

व्री वरणे
भ्री भये

क्षीषु हिंसायाम्
ज्ञा अवबोधने
बन्ध बन्धने
श्रन्थ प्रतिहर्षविमोचनयोः
मन्थ विलोडने
ग्रन्थ सन्दर्भे
कुन्थ संक्लेशे
मृद क्षोदे
मृड सुखने
गुध रोषे
कुष निष्कर्षे
क्षुभ सञ्चलने
णभ, तुभ — हिंसायाम्
क्लिशू विबाधने
अश भोजने
उध्रस उञ्छे
इषु आभीक्ष्ण्ये
विष विप्रयोगे
प्रुष, प्लुष — स्नेहनसेचनसेवनपूरणेषु
मुष स्तेये
पुष पुष्टौ
खच भूतप्रादुर्भावे

एते सर्वतः

वृङ् सम्भक्तौ

ङित्

इति ५ः क्र्यादयः श्नाविकरणाः

धवः

चुर, लुठ — स्तेये
चिति स्मरणे
यत्रि चूर्णसंकोचने
स्फुट परिहासे
कुद्रि अनृतभाषणे
लड उपसेवायाम्
मिदि, [illegible], [illegible] — स्नेहने

ओलडि, डुल — उत्क्षेपे
जल अपवारणे
पीड गहने
नट अवस्यन्दने
श्रथ प्रीतिहर्षे
बध संयमने
पॄ पूरणे
वर्द्ध छेदने च
ऊर्ज बलप्राणनयोः
इल, जुड, चूर्ण — प्रेरणे
पृथ प्रक्षेपे
सम्ब सबवे
भक्ष अदने
चुटि, चुट, छुट — छेदने
कुट्ट कुत्सने च
चुट्ट अल्पीभावे
अट्ट, पुट्ट — अनादरे
शठ, श्वठि — गतिसंस्कारयोः
तुजि, पिजि, पिश — हिंसाबलादान-निकेतनेषु
सान्त्व सामप्रयोगे
श्वल्क, वल्क — भाषणे
ष्णिह स्नेहने
पथि गतौ
पिच्छ कुट्टने
छद संवरणे
श्रण दाने
तड आघाते

जैनेन्द्रधातुपाठः

लड, लाडि, कडि	भेदे
वडि	विभाजने
मडि	भूषायाम्
भडि	कल्याणे
छर्द	वमने
पुस्त	आदरानादरयोः
चुद	सञ्चोदने
नक्क, धक्क, लगि	नाशने
चक्क, चुक्क	व्यथने
क्षल	शौचकर्मणि
तल	प्रतिष्ठाकरणे
तुल	उन्माने
पुल, चुल	समुच्छ्राये
मूल	रोहणे
डिप, कल, विल	क्षेपे
टलि, वटि, पल	रक्षणे
घट्ट	चलने
खट्ट	संवरणे
व्यय	क्षये
मुस्त, डपि, डिपि, पिडि, पूण	सङ्घाते
पुस	अभिवर्द्धने
टकि	बधने
धूस	कान्तिकरणे
कीट	वर्णने
पूज	पूजने
शुठ	आलस्ये
शुठि	शोषणे
मार्ज, गर्ज	शब्दे
घृ	स्रवणे
पचि	विस्तारे
तिज	निशाने
कृत	आख्याने
कुबि	छादने
लुबि, तुबि	अर्दने
ह्रप	व्यक्तायां वाचि
म्रक्ष	म्लेच्छने
अर्क, ईड	स्तुतौ
रुष	रोषणे
चर्च	अध्ययने
बुक्क	भाषणे
शब्द	सङ्गिराविष्करणे
कण	निमीलने
जभि	नाशने
सूद	आस्रवणे
जस	ताडने
पश	बधने
अम	रोगे
चट, स्फुट, घट	हत्यर्थाः
दिवु	मर्दने
अर्ज	प्रतियत्ने
घुष	विशब्दे
आङः	क्रन्दे
लस	शिल्पयोगे
भूष	अलङ्कारे
मोक्ष	असने
अर्ह	पूजने
ज्ञा	नियोगे
यत	निकारोपस्कारयोः
निसक्ष, धृष	प्रसहने

मुद संसर्गे
त्रस वारणे
मुच प्रमोचने

(आस्वदः सकर्मकात्)

पुष धारणे
दल विदारणे

पट
पुट
लुट
लुजि
तुजि
पिजि
भजि
पिसि
कुसि
दसि
लसि
त्रसि
कुशि
घटि
वृंहि
गुप
धूप
विच्छ
चीव
वर्ह
वल्ह
पुथ
लोकृ
लोचृ
मद
तुप
तर्क
वृतु — भाषार्थाः

[illegible]र आ[illegible]नने
नद [illegible]

सूत्र अवमोचने
मूत्र प्रस्रवणे
रूक्ष पारुष्ये
वष्क दर्शने
कच्छ शैथिल्ये
चित्र चित्रकरणे कदाचिद्दर्शने च
अस समाघाते
मिश्र सम्पर्चने
छिद्र कर्णभेदे
अध दृष्ट्युपसंहारे
दड दण्डनिपाते
अक लक्षणे
अग पदलक्षणे च
पर्ण हरितभावे
वर्ण वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु
कथ वदने
वर ईप्सायाम्
गण सङ्ख्याने

शठ
श्वठ — सम्यगवभाषणे

पट
वट — ग्रन्थे

मृष तितिक्षायाम्
रह त्यागे

स्तन
गदी — देवशब्दे

पत गतौ वा
पष (अगिः) ,,
स्वर आक्षेपे
रच प्रतियत्ने
कल गतौ
चह परिकल्कने
मह पूजायाम्

सार
कृप
श्रथ — दौर्बल्ये

स्पृह ईप्सायाम्
भाम क्रोधे
सूच पैशुन्ये
खेट भक्षणे
खोट क्षेपे
गोम उपक्षेपे
कुमार क्रीडने
शील उपधारणे
साम सान्त्वने
वेल कालोपदेशे
पल्यूल लवनपवनयोः
वात गतिसुखसेवनयोः
गवेष मार्गणे
वास उपसेवायाम्
निवास आच्छादने
भाज पृथक्करणे
सभाज प्रीतिदर्शनयोः
ऊन परिहाने
कूट दाहे

केत
ग्राम
कुण — आमन्त्रणे

स्तेन चौर्ये
वत्रि विभाजने
लजि प्रकाशने

पार
तीर — कर्मसमाप्तौ

स्तोम श्लाघायाम्

सुख
दुःख — तत्क्रियायाम्

रस आस्वादनस्नेहनयोः
व्यय वित्तसमुत्सर्गे
रूप रूपक्रियायाम्
छेद द्वैधीकरणे
लाभ प्रेरणे
व्रण गात्रविचूर्णने

एते सर्वत

पटै गतौ
गदै गदणे
मृगै अन्वेषणे
कुटै विस्मापने
शूरै } विक्रान्तौ
वीरै }
स्थूल परिवृंहणे

वृत्

अर्थ उपयाच्ञायाम्
सत्रै सदानक्रियायाम्
गर्व माने
सग्रामै युद्धे
चित्रै सवित्तौ
छद्रै संवरणे
दशै दशने
दशै दर्शने च
[illegible] } सघाते
[illegible] }
तजै कुट्टमधारणे
मन्त्रै गुप्तभाषणे
स्पशै गहणश्लेषणयोः
भर्त्स } सतर्जने
तर्ज }
वस्तै } अर्दने
[illegible] }
[illegible] [illegible]यायाम्
[illegible] परिमाणे
[illegible] ईप्सायाम्
[illegible] स्वोचने
[illegible] पूरणे
[illegible] [illegible]यायाम्
[illegible] [illegible]यायाम्
[illegible] [illegible]

स्यमै वितर्कणे
गूरै उद्यमने
कुस्मै कुस्मृतौ
समै } आलोचने
लक्षै }
कुत्सै अवक्षेपे
कुटै प्रतापने
भलै आभण्डने
वचै प्रलम्भने
वृषै शक्तिर्बंधने
मदै तृप्तियोगे
मदै परिकूजे
दिवै ख्याननिवासेषु
मनै स्तम्भे
युङ् जुगुप्सायाम्
गृङ् विज्ञापने

ङेदितः

लक्षङ् दर्शनाङ्कनयः

ञित्

युजौ } सयमने
पिच }
षह मर्षणे
ईर क्षेपणे
ली द्रवीकरणे
वृजी वर्जने
जॄ वयोहानौ
रिच वियोजनसपर्चनयोः
शिष असर्वोपयोगे
विपूर्वो (वि–शिष) ऽतिशये
तृप प्रीणने
छृद सदीपने
छृद अपवारणे
दभी भये
मी गतौ

श्रथ } हिंसायाम्
क्रथ }
हिसि }
ग्रथ बंधने च
चीक } आमर्षणे
शीक }
आङः सद गतौ
जुष परितर्पणे
श्रंथ } संदर्भे
ग्रंथ }
आप्लृ लभने
तनु श्रद्धोपहिंसायाम्
गेः (गिपूर्वस्तनुः) दैर्घ्ये
वच सदेशवचने
मान पूजायाम्
गर्ह विनिन्दने
मार्ग अन्वेषणे
कठि शोके
मृजू शौचालकारयोः
धृष प्रसहने

एते मवंतः

मृषै तितिक्षायाम्
तपै दाहे
वदै भाषणे
अर्चै पूजायाम्
अर्दै हिंसायाम्
शुद्धै शोधने

पेदितः

वृञ् वरणे
धूञ् कपने
प्रीञ् तर्पणे

ञितः

इति २५१ चुरादयो धव[illegible]
समाप्ताः ।

[illegible]निष्टिवि[illegible]पे हेत्वङ्मन्भृत्तिरव्योनिटचागनैश्च ।
[illegible] च यथाक्रमेण धूना सुधीभिरधिगम्यमितां स्वराणाम् (?) ॥
[illegible]मागि[illegible]तारानीकामसंदितापपुविललितनखानीकशीतांशुविम्बः ।
[illegible] शब्दमला स जीयाद् गुणनिधिगुणनन्दिव्रतीशस्सुर[illegible]

ज्ञानपीठके महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

[हिन्दी ग्रन्थ]

१ मुक्तिदूत [पौराणिकरोमास] ५)
२ शेर-ओ-शायरी ८)
३ मिलन यामिनी [गीत] ४)
४ वैदिक साहित्य ६)
५. मेरे बापू २॥)
६. पच-प्रदीप [गीत] २)
७. भारतीय विचारधारा २)
८ ज्ञानगगा [सूक्तियाँ] ६)
९ गहरे पानी पैठ २॥)
१० वर्द्धमान [महाकाव्य] ६)
११. शेर-ओ-सुखन [भाग १] ८)
१२. जैन जागरणके अग्रदूत ५)
१३. हमारे आराध्य [संस्मरण] ३)
१४ भारतीय ज्योतिष ६)
१५. रत्नरश्मि [एकाकी] २॥)
१६ संस्मरण ३)
१७. आकाशके तारे : धरतीके फूल २)
१८ रेखाचित्र ४)
१९. खण्डहरोंका वैभव ६)
२०. खोजकी पगडंडियाँ ४)
२१ संघर्षके बाद ३)
२२ जिन्दगी मुसकराई ४)
२३ हिन्दू विवाहमें कन्यादानका स्थान १)
२४. खेल-खिलौने २)
२५ अध्यात्म-पदावली ४॥)
२६ द्विवेदी पत्रावली २॥)
२७ शेरो-सुखन [भाग २] ३)
२८ शेरो-सुखन [भाग ३] ३)
२९ शेरो-सुखन [भाग ४] ३)
३० शेरो-सुखन [भाग ५] ३)
३१ [illegible] कुमारपाल ४)
३२ कालिदासका भारत [भाग १-२] ८)
३३ शरत्के नारीपात्र ४॥)
३४ रेडियो नाट्य शिल्प २॥)
३५ जिन खोजा तिन पाइयाँ २॥)
३६. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन [भाग १-२] ५)
३७. धूपके धान ३)
३८. ध्वनि और सगीत ४)
३९ क्या मै अन्दर आ सकता हूँ ? २॥)
४० और खाई बढती गई २॥)
४१ सस्कृत साहित्य मे आयुर्वेद ३)

[सांस्कृतिक ग्रन्थ]

४२ महाबन्ध [भाग १] १२)
४३. महाबन्ध [भाग २] ११)
४४. महाबन्ध [भाग ३] ११)
४५. महाबन्ध [भाग ४] ११)
४६. महाबन्ध [भाग ५] ११)
४७. करलक्खण ॥)
४८. मदनपराजय ८)
४९ कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ-सूची १३)
५०. तत्त्वार्थवृत्ति १६)
५१. न्यायविनिश्चयविवरण [भाग १] १५)
५२ न्यायविनिश्चयविवरण [भाग २] १५)
५३. सभाष्य रत्नमजूषा २)
५४. नाममाला सभाष्य ३॥)
५५. केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि ४)
५६. आदिपुराण [भाग १-२] २०)
५७ समयसार [अग्रेजी] ८)
५८. जातकट्ठकथा [पाली] ९)
५९. वसुनन्दि-श्रावकाचार ५)
६० तत्त्वार्थवार्तिक [भाग १-२] २४)
६१ थिरुकुरल [तामिल लिपि] ५)
६२ जिनसहस्रनाम ४)
६३ सर्वार्थसिद्धि १२)
६४. उत्तरपुराण १०)
६५. पुराणसारसंग्रह [भाग १-२] ४)

[हिन्दी जैन ग्रन्थ]

६६. आधुनिक जैन कवि ३॥।)
६७. हिन्दी-जैन साहित्यका सक्षिप्त इतिहास २॥।=)
६८ कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न २)
६९. जैन-शासन ३)
७०. धर्मशर्माभ्युदय ३)